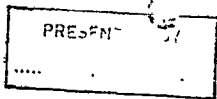


हिन्दी
नाट्यदर्पण

मुद्रकस्य कराघातः खिन्ना चेन्मम भारती ।
कराम्बुजामृतस्पर्शे सन्तः ! सञ्जीवयन्तु ताम् ॥



हिन्दी नाट्यदर्पण

श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र-विरचित
नाट्यदर्पण का हिन्दी व्याख्या

प्रधान सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र

सम्पादक

डॉ० दशरथ श्रोभा

डॉ० सत्यदेव चौधरी



भूमिका-लेखक तथा व्याख्याकार
वृन्दावनस्थ गुरुकुल विश्वविद्यालयके अनुसन्धान-सञ्चालक
दिल्ली विश्वविद्यालय हिन्दी अनुसन्धान परिषद्के
सम्मान्य सदस्य
आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

प्रकाशक

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

विषयानुक्रम

विषय

भूमिका	[प्राचार्य विश्वेश्वर]	...
सम्पादकीय—		
(क) नाट्यदर्पण में रूपकेतर काव्यशास्त्रीय प्रसंग	[डॉ० सत्यदेव चौधरी]	...
(ख) नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्यदर्पण का स्थान	[डॉ० वत्सरथ श्रोभा]	...



प्रथम विवेक

• वृत्तिभाग का मङ्गलाचरण	...
वृत्तिभाग की अवतरणिका	...
नाट्य-रचना की दुष्करता	...
रस-कवियों की प्रशंसा	...
शब्द-कवियों की निन्दा	...
नीरसवाणी की निन्दा	...
कवियों के लिए व्यवहार-ज्ञान की उपयोगिता	...
विद्वत्ता के साथ कवित्व आवश्यक	...
काव्यापहरण की निन्दा	...
त्रिविध काव्य-सवाद
मूलग्रन्थ का मङ्गलाचरण	...
मङ्गल-श्लोक की दूसरी व्याख्या	...
प्रतिपाद्य विषय	...
रूपकों के भेद	...
(१) नाटक का लक्षण	...
वर्तमान चरित्रों के अभिनय का निषेध	...
नाटको में देवताओं के नायकत्व का खण्डन	...
नायिका दिव्य भी हो सकती है
नायक के चार भेद	...
स्वभाव-भयवस्था	...
चरित के दो भेद	...
भावाभिव्यक्ति के नाटकीय प्रकार	...
नाट्यरचना-विषयक विशेष बातें	...

द्वितीय विधेक

विवेक सङ्गति	२०२
• २. प्रकरणा का लक्षण	२०२
प्रकरण भेद	...	२०६
अवल्प्य स्वरूप	२११
उत्सर्ग का अतिदेश	...	२११
• ३. नाटिका का लक्षण	२१२
नाटिका में कर्त्तव्य का उपदेश	२१५
नाटिका में करने योग्य अन्य बात	...	२१६
• ४. प्रकरणी का लक्षण	...	२१७
• ५. व्यायोग का निरूपण	२१८
सन्धि तथा भवस्थापो की न्यूनता का उपपादन	२१९
• ६. समवकार का निरूपण	२२१
समवकार में किये जाने वाले अन्य कार्यों का उपदेश	...	२२३
शृङ्गारदि की व्याख्या	२२५
• ७. भाण का लक्षण	२२९
कर्त्तव्य के प्रदर्शन द्वारा नायक का वर्णन	२३०
• ८. प्रहसन का लक्षण	२३०
शुद्ध प्रहसन	२३१
सङ्कीर्ण	२३२
• ९. हिम का लक्षण	२३३
रसों की सुख-दुःखात्मकता	...	२३४
हिम में करने योग्य अन्य बातों का तथा नायक का निर्देश	...	२३५
• १०. उत्सृष्टिकाङ्क का निरूपण	२३६
उत्सृष्टिकाङ्क में करने योग्य अन्य बातों का निर्देश	२३८
• ११. ईहाभूषण का लक्षण	...	२३८
ईहाभूषण में करने योग्य अन्य बातों	२४०
• १२. वीथी का लक्षण	२४०
वीथी के तेरह भङ्ग	२४२
(१) व्यवहार	२४२
(२) अपिबन्ध	२४६
(३) गण्ड	...	२४९
(४) प्रपञ्च	२५२
(५) त्रिगण	२५४
(६) छन्द	...	२५७
(७) भगवत्प्रताप	२६८

विषय	पृष्ठ
रसादिकों में पारस्परिक कार्य-कारणभाव	३४७
अनुभाव	३४८
(१) वेपथु	३४९
(२) स्तम्भ	३४९
(३) रोमाञ्च	३४९
(४) स्वरभेद	३५०
(५) भ्रम	३५०
(६) भ्रूच्छा	३५०
(७) स्वेद	३५१
(८) विवर्णता	३५१
अभिनय	३५१
(१) वाचिक	३५१
(२) आङ्गिक	३५४
(३) सात्त्विक	३५८
(४) आहार्य	३५९
चतुर्थ विवेक	
नान्दी	३६४
ध्रुवा का लक्षण	३६५
(१) प्रावेशिकी ध्रुवा	३६५
(२) नैष्कामिकी ध्रुवा	३६६
(३) आक्षेपिकी ध्रुवा	३६७
(४) प्रासादिकी ध्रुवा	३६७
(५) शान्तरी ध्रुवा	३६७
नाट्य के पात्रों की प्रकृति के भेद	३६९
(१) उत्तम प्रकृति-पुरुष	३७०
(२) मध्यम प्रकृति-पुरुष	३७०
(३) नीच प्रकृति-पुरुष	३७०
(४) उत्तमा-स्त्री	३७१
(५) मध्यमा-स्त्री	३७१
(६) नीच-स्त्री	३७१
नीच प्रकृति वाले नायक	३७२
मुख्य नायक का लक्षण	३७२
मुख्य नायक के गुण	३७२
(१) तेज	३७३
(२) विलास	३७३
(३) भाधुर्य	३७३

विषय	पृष्ठ
(४) सोमा	३७३
(५) स्वयं	३७४
(६) गाम्भीर्य	३७४
(७) शौदार्य	३७४
(८) ललित	३७५
गौण नायक	३७५
प्रतिनायक	३७५
विदूषक आदि की प्रकृति	३७६
धीरोद्धत आदि नायकों में से प्रत्येक के अलग अलग विदूषक	३७६
धीरोद्धत आदि के सहायक	३७७
अन्तःपुर के उपयोगी परिचारक-वर्ग का वर्णन	३७८
नायिका का लक्षण	३७८
नायिकाओं के विशेष भेद	३७९
नायिकाओं के तीन भेद	३८०
(१) सुगंधा	३८०
(२) मध्या	३८०
(३) प्रगल्भा	३८१
नायिकाओं के प्रसिद्ध भेद	३८१
(१) प्रोषितपत्निका	३८१
(२) विप्रलब्धा	३८१
(३) खण्डिता	३८२
(४) कलहान्तरिता	३८२
(५) विरहोत्कण्ठिता	३८२
(६) वासकसज्जा	३८३
(७) स्वाधीनमर्तुका	३८३
(८) अभिसारिका	३८४
स्त्रियों के जीवन में होने वाले धर्म	३८४
तीन आंगिक अलंकार	३८४
(१) भाव	३८५
(२) हाव	३८६
(३) हेला	३८६
दस स्वाभाविक धर्म	३८७
(१) विभ्रम	३८७
(२) विलास	३८७
(३) विच्छिन्ति	३८७
(४) लीला	३८८

विषय		पृष्ठ
(८) घाषकेली	...	२६१
(९) नालिका	२६२
(१०) मुदव	...	२६३
(११) उदघात्यक	...	२६६
(१२) अबलमित	२६७
(१३) अयस्पन्दित	२६८
व्यायोग आदि अन्य रूपको के सामान्य, नाटक-लक्षण	२७०

तृतीय विवेक

वृत्ति-निरूपण	२७३
भारती वृत्ति का निरूपण	२७५
ग्रामुल का लक्षण	...	२७७
ग्रामुल के अङ्गभूत पाद्यप्रवेश के नियम	...	२८१
प्ररोचना-निरूपण	...	२८३
सात्वती वृत्ति का निरूपण	...	२८५
कैशिकी वृत्ति का निरूपण	...	२८७
आरुमटी वृत्ति का निरूपण	२८८
रस-निरूपण	...	२९०
रस का आशय	२९३
अनुमितिवाद	२९५
नट में अनुभावो की स्थिति	२९५
अनुभाव आदि सजाओ का विषय	...	३०३
रसभेदो का वर्णन	३०५
(१) भेदो सहित शृङ्गार रस का निरूपण	...	३०६
(२) शृङ्गार के विभाव तथा अनुभावो का वर्णन	...	३०६
(३) हास्य-रस	...	३११
(४) हास्य के भेद	३१२
(५) करुण रस	...	३१३
(६) रौद्ररस	३१३
(७) वीर रस	३१४
(८) भयानक रस	..	३१५
(९) बीभत्स रस	...	३१६
(१०) अद्भुत रस	३१६
(११) घान्त रस	...	३१७
काव्य में रस का समावेश करने में विशेष सावधानी	३१८
विरुद्ध रसो का विरोध और रसका परिहार	...	३२०

विषय	पृष्ठ
रस-दोष	३२४
रसो के स्थायी भाव	३२८
व्यभिचारिभाव	३३०
(१) निर्वेद	३३१
(२) ग्लानि	३३२
(३) अपस्मार	३३३
(४) हाड्डा	३३३
(५) असूया	३३४
(६) मद	३३५
(७) श्रम	३३५
(८) चिन्ता	३३५
(९) चपलता	३३५
(१०) आवेग	३३६
(११) मति	३३६
(१२) व्याधि	३३७
(१३) स्मृति	३३७
(१४) धृति	३३८
(१५) समर्प	३३८
(१६) मरण	३३८
(१७) मोह	३३८
(१८) निद्रा	३४०
(१९) सुप्त	३४०
(२०) उग्रता	३४१
(२१) हर्ष	३४१
(२२) विपाद	३४१
(२३) जन्माद	३४२
(२४) दैव	३४२
(२५) बीडा	३४३
(२६) प्राप्त	३४३
(२७) तर्क	३४४
(२८) गर्व	३४४
(२९) शीत्सुवध	३४४
(३०) शत्रुहिंसा	३४५
(३१) जाडघ	३४५
(३२) मालस्य	३४६
(३३) विबोध	३४७

विषय	पृष्ठ
• (५) विद्योक्त	३८८
(६) विद्वत्	३८८
(७) ललित	३८९
(८) कुट्टुमित	३८९
(९) मोट्टायित	३८९
• (१०) किलकिचित	३९०
अयत्नज अलकार	३९०
(१) शोभा	३९०
(२) कान्ति	३९०
(३) दीप्ति	३९०
(४) माधुर्य	३९१
(५) मोदार्य	३९१
(६) धैर्य	३९१
(७) प्रगल्भता	३९१
नायिकाओं का नायको के साथ सम्बन्ध	३९१
नायिकाओं की सहायिकाएँ	३९२
भाषा-विधान	३९२
प्राकृत-पाठ्य	३९३
चोलने के विषय में अन्व्य प्रकार	३९४
भाषा-विषय के अन्व्य प्रकार	३९४
रूपकों में नाम आदि का व्यवहार	३९५
इसी विषय में कुछ अन्य ज्ञातव्य	३९७
कल्पित किये जाने वाले नामों की कल्पना करने के प्रकार	४०२
अन्व्य रूपक	४०३
(१) सट्टक	४०४
(२) श्रीगदित	४०४
(३) दुर्मिलिता	४०५
(४) प्रस्थान	४०५
(५) गोष्ठी	४०६
(६) हल्लोसक	४०६
(७) शम्भ्या	४०६
(८) प्रेक्षणक	४०६
(९) रासक	४०७
(१०) नाट्य रासक	४०७
(११) कान्व	४०८
(१२) भाण	४०८
(१३) भाणिका	४०८

भूमिका

ग्रन्थकार का देश—

प्रस्तुत ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' के रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र पश्चिम भारत में स्थित गुजरात देश के निवासी थे। सस्कृत साहित्य के विशाल भण्डार को इतना गौरवमय एवं समृद्ध बनाने में [गारदा देश] काश्मीर के बाद गुजरात का विशेष महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। गुजरात में अणहिल-पट्टन का प्रसिद्ध राज्य विद्वानों का प्रमुख आश्रय स्थान और भारतीय वाङ्मय की सेवा एवं समृद्धि में सबसे अग्रगण्य राज्य था। इस राज्य की स्थापना विक्रम सं० ८०२ [ई० सन् ७४६] में हुई थी। 'अणहिल-गोपाल' नामक कुशल शिल्पी ने इस स्थान की परीक्षा करके चानकण्ड' वंश के तत्कालीन राजा 'मोती सम वणराय' को इस स्थान पर उत्तम पत्तन' बसाने का परामर्श दिया था। तदनुसार 'मोती सम वणराय' ने इस स्थान पर अपनी राजधानी का निर्माण कराया और 'अणहिल गोपाल' के नाम पर उसका नाम अणहिल पट्टण' रखा। यह 'अणहिल-पट्टण' प्राये चलकर भारत का एक प्रमुख राज्य बना और उसने सस्कृत साहित्य को समृद्ध बनाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

काश्मीर के समान 'अणहिल-पट्टन' का राज्य भी शैव-राज्य था। उसके राजा प्रायः शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे। किन्तु साहित्य समृद्धि के क्षेत्र में वहाँ जैनो का विशेष महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। ११वीं शताब्दी से लेकर १३वीं शताब्दी तक प्रायः दो सौ वर्ष पर्यन्त 'अणहिल पट्टन' का प्रभुत्व अपने चरमोत्कर्ष पर रहा। इस बीच में (१) भीमदेव [१०२१-६४ ई०] (२) बणदेव [१०६४ से १४ ई०], राजा के समय 'अणहिल पट्टन' शैव' विद्वानों का अत्यन्त प्रिय केन्द्र बन गया था। शैवाचार्य ज्ञानदेव, सोमेश्वर पुरोहित, सुराचार्य, और मध्यदेश के श्रीधर तथा श्रीपति आदि शैव-धर्म के अनेक प्रसिद्ध विद्वान् 'अणहिल पट्टन' की राजसभा के रत्नों के रूप में उसे सुशोभित कर रहे थे। राजा भीमदेव के सन्धि विग्रहिक' दामोदर पण्डित उस समय अपनी विद्वता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध थे। उनके प्रभाव से ही उस समय 'अणहिल-पट्टन' विद्वानों के आकर्षण का केन्द्र बन गया था। यो ही 'अणहिल-पट्टन' का राज्य शैव राज्य था। उसके राजा और 'साम्नि विग्रहिक' दामोदर पण्डित दोनों शैव सम्प्रदाय के अनुयायी थे, किन्तु उनके यहाँ सभी धार्मिक विद्वानों का समान रूप से स्वागत होता था। एक और जहाँ शैवाचार्य ज्ञानदेव सरीखे शैव विद्वान् उनकी सभा को सुशोभित करते थे उन्हीं के साथ भट्टोज [भृगुकण्ठ] के कौलकवि 'धर्म तत्वो पल्लव' की श्रुक्तियों के बल पर सभा में वाद-विवाद करते थे। उसी सभा में जैनाचार्य पान्त-सूरि इनकी सभा के पण्डित थे जो 'बौद्ध तर्क' से उत्पन्न दुरूह प्रमेयों की शिक्षा एवं तर्क बुद्धि के लिए अत्यन्त प्रख्यात थे। पट्टन का राजद्वार जैसे सभी धर्मों और सम्प्रदायों के विद्वानों के लिए समान रूप से आकर्षण का केन्द्र था इसी प्रकार सभी देशों एवं राज्यों के विद्वानों के लिए भी वह आकर्षण का केन्द्र था। 'बण्णमुन्दरी नाटिका' के कर्ता काश्मीरी पण्डित बिल्हण और नवाञ्जी टोकानार अजयदेव सूरि ने बण्णदेव के दासन काल में 'अणहिल-पट्टन' की राजसभा को सुशोभित किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ 'नाट्य-दर्पण' के रचयिता श्री रामचन्द्र गुणचन्द्र भी इसी विद्वग्जन सेवित एवं प्रगतिशील राज्य की विभूति थे।

इस प्रथम राजपरिचय के समय आचार्य हेमचन्द्र की आयु ४६ वर्ष के लगभग थी। किसी अन्य भ्रवसर पर राजा जयसिंह सिद्धराज 'अणहिन-पट्टन' के राजमार्ग पर हाथी पर चढ़े हुए जा रहे थे। दूसरी ओर से आचार्य हेमचन्द्र सूरि पैदल आ रहे थे। मार्ग सकरा था। राजा जयसिंह सिद्धराज ने हाथी रुकवा दिया। इस पर आचार्य हेमचन्द्र ने उनको एक ओर से निःशक्त हाथी निकाल ले जाने का सुझाव देते हुए तत्काल बना कर निम्न श्लोक पढ़ा—

“कारय प्रसरं सिद्ध ! हस्तिराजमसङ्कृतम् ।

प्रस्यन्तु दिग्गजाः किन्तैर्भूम्यस्त्वयैवोद्धृता यतः ॥”

हेमचन्द्राचार्य की साहित्यसेवा—

उपयुक्त विवरण के अनुसार सन् ११३६ में मालव-विजयोत्सव के समारोह के भ्रवसर पर आचार्य हेमचन्द्र का 'अणहिन-पट्टन' के अधीश्वर जयसिंह सिद्धराज के साथ प्रथम परिचय हुआ। उसके बाद सन् ११४६ में जयसिंह की समाप्ति हो गई। इस प्रकार सात वर्ष तक इन दोनों का साथ रहा। इन सात वर्षों के पीछे से काल में राजा जयसिंह के प्रोत्साहन और प्रेरणा से, इन्होंने बहुत बड़े और बहुत महत्त्वपूर्ण साहित्य की रचना की है। व्याकरण, न्याय, साहित्य, छन्द शास्त्र आदि सभी विषयों पर उनके प्रौढ़ एवं अत्यन्त उच्च कोटि के ग्रन्थ पाए जाते हैं : १ सिद्ध-हेमशब्दानुशासन, २ काव्यानुशासन, ३ छन्दोऽनुशासन, ४ वादानुशासन, ५ धातुपारामण, ६ द्वयाश्रय महाकाव्य, ७ देशीनाममालामिधान चिन्तामणि, ८ धनेकार्य सप्रह निघण्टु, ९ सन्त सन्धान महाकाव्य, १० त्रिपट्टिशलाका पुरुष चरित, ११ परिशिष्ट पर्व, १२ योगशास्त्र, १३ वीतराग स्तोत्र, १४ द्वात्रिंशिका द्वयस्तीति, १५ प्रमाणमीमांसा आदि उनके लिखे हुए ग्रन्थों की सूची बहुत लम्बी है। और इनके प्रतिपाद्य विषयों का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। इतने व्यापक और विविध विषयों पर इतनी उच्चकोटि के ग्रन्थ लिख कर उन्होंने सचमुच अपने आचार्यत्व को चरितार्थ किया और संस्कृत साहित्य की महती सेवा की है।

आचार्य हेमचन्द्र के ये सभी ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु इनमें 'सिद्ध-हेमशब्दानुशासनम्' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह व्याकरण-शास्त्र का ग्रन्थ है यह बात उसके 'शब्दानुशासन' नाम से ही प्रतीत होती है, किन्तु उसके नामकरण में सिद्धहेम पद जोड़ कर आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी और राजा जयसिंह सिद्धराज की मित्रता को धमर कर दिया है। इस नामकरण में 'सिद्ध' पद राजा 'जयसिंह सिद्धराज' का बोधक है और 'हेम' पद आचार्य हेमचन्द्र के नाम का सूचक है। सिद्धराज जयसिंह की प्रेरणा से आचार्य हेमचन्द्र ने इस शब्दानुशासन की रचना की है इस बात को आचार्य हेमचन्द्र ने इस नामकरण द्वारा सूचित किया है। उनका 'त्रिपट्टिशलाकापुरुषचरित' एक विशाल पुराण ग्रन्थ है। और उनका 'परिशिष्ट पर्व' भारत के प्राचीन इतिहास के अनुसन्धान-कार्य में उपयोगी हो सकता है। संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में लिखा गया 'द्वयाश्रय महाकाव्य' एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। 'प्रमाण मीमांसा' उनका दर्शन ग्रन्थ है। इसमें जैन दर्शन के अनुसार प्रमाणों का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ अपूर्ण ही उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ सूत्र रूप में लिखा गया है। सूत्रों के ऊपर उनकी अपनी ही बनाई हुई श्लोक वृत्ति भी पाई जाती है। 'योगशास्त्र' में जैन दर्शन के साथ योग-प्रक्रिया का समन्वय करने का यत्न किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने सभी विषयों पर ग्रन्थ लिख कर अपने अनुयायियों के संस्कृत अध्ययन के लिए एक स्वतंत्र ग्रन्थ-माला की रचना कर दी है। उनके अनुयायी विद्यार्थियों को पढ़ने पढ़ाने के लिए सभी प्रमुख विषयों पर अपने स्वतंत्र ग्रन्थ मिल

सकते हैं। इस प्रकार उन्होंने संस्कृत विद्या के अध्ययन के निमित्त जैन धर्म एवं गुजरात प्रदेश दोनों को स्थावलम्बी बना दिया है।

अन्तिम भागी—

प्राचार्य हेमचन्द्र एक महान् साधुपुरुष और संस्कृत के प्रौढ विद्वान् थे। उनका अधिकांश समय अध्ययन, अध्यापन एवं साहित्यिक कार्य में व्यतीत होता था। राजा जयसिंह के साथ और उनके बाद जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल के साथ यद्यपि उनका घनिष्ट सम्बन्ध था, किन्तु वे श्रमणों की नाईं झगड़ झपटने विहार में रहते थे। आवश्यकता होने पर सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल उनके स्थान पर जाकर ही उनसे आवश्यक परामर्श प्राप्त करते थे। फिर भी राज सम्पर्क बड़ी दुरी बला है। प्राचार्य हेमचन्द्र को इस राज-सम्पर्क का बड़ा बुरा फल भोगना पड़ा।

राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ प्राचार्य हेमचन्द्र का प्रथम परिचय ११३६ में मालव-विजयोत्सव के समारोह के अवसर पर हुआ था। उस समय उनकी भवस्था ४६ वर्ष की थी। उसके बाद ७ वर्ष तक राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ उनका सम्बन्ध रहा। उसके बाद उनके उत्तराधिकारी 'अणहिल पट्टन' के राजा कुमारपाल के साथ ३० वर्ष तक उनका सम्बन्ध रहा। इस प्रकार ४६ वर्ष की आयु में राज सम्पर्क में आकर ३७ वर्ष तक वे निरन्तर राज-सम्पर्क में रहे, और ८३ वर्ष की आयु में उनका देहावसान हुआ। उनके देहावसान की घटना बड़ी वरुण है।

'अणहिल पट्टन' के राजा और प्राचार्य हेमचन्द्र के शिष्य कुमारपाल के कोई पुत्र नहीं था। एक पुत्री थी और उसका लडका प्रतापमल्ल था। ३० वर्ष राज्य करने के बाद राजा कुमारपाल वृद्ध हो गए थे, और उन्हें राज्य के उत्तराधिकारी का निर्णय करने की चिन्ता हुई। उनके निकट सम्बन्धियों में एक तो यही उनका दोहित्र प्रतापमल्ल था और दूसरा उनका भाई अजयपाल था। इन्हीं दो में से किसी को 'अणहिल पट्टन' की राजगद्दी का उत्तराधिकारी बनाया जा सकता था। इन दोनों में किसी राज सिंहासन देना उचित होगा इस विषय में परामर्श करने के लिए वृद्ध राजा कुमारपाल प्राचार्य हेमचन्द्र से परामर्श करने के लिए उनके स्थान पर गए। राजा के साथ उनका प्रिय एक जैन ध्यापारी 'वणाह-भामठ' भी था। राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ प्राचार्य हेमचन्द्र का सम्पर्क केवल सात वर्ष ही रहा था। इसलिए जयसिंह सब धर्म के ही अनुयायी बने रहे, किन्तु कुमारपाल प्राचार्य हेमचन्द्र के उपदेशों की सुन कर जैन बन गए थे। उनका दोहित्र प्रतापमल्ल भी जैन था। इसलिए प्राचार्य हेमचन्द्र ने राजा कुमारपाल को यह परामर्श दिया कि धर्म के स्वयं के लिए प्रतापमल्ल को गद्दी देना अच्छा रहेगा। किन्तु राजा के जैन मित्र 'वणाह भामठ' को यह सम्मति थी कि—'बुद्ध भी हो, पर अना काम का' इस कहावत के अनुसार अजयपाल को गद्दी देना ठीक होगा। प्रथम में परिस्थितियों से विवश होकर अजयपाल को ही राज्य का उत्तराधिकारी बनाया गया।

प्राचार्य हेमचन्द्र के यहाँ जिस समय राजा कुमारपाल राज्य के उत्तराधिकारी के विषय में परामर्श कर रहे थे उस समय प्राचार्य का एक विद्यार्थी वाजचन्द्र भी वहाँ उपस्थित था। उस वाजचन्द्र के द्वारा अजयपाल को किसी तरह यह बात मालूम हो गई कि प्राचार्य हेमचन्द्र ने उनकी गद्दी दिए जाने का विरोध किया है। इस बात की सुन कर उसे बड़ा शोक हुआ और वह प्राचार्य हेमचन्द्र तथा उनके शिष्याण एव शिष्यों का शत्रु बन गया। प्राचार्य

हेमचन्द्र की प्रवस्था उस समय ८३ वर्ष की हो चुकी थी और उसके बाद बहुत दीर्घ ही उनका देहावसान हो गया । पता नहीं यह उसके किसी पद्यग्रन्थ का परिणाम था या यह स्वामाविक मृत्यु थी । यद्यपि ग्रन्थों में तो इसका उल्लेख नहीं मिलता है फिर भी भजयपाल की प्रकृति को देखते हुए यह आश्चर्य नहीं है कि उसने किसी पद्यग्रन्थ द्वारा आचार्य हेमचन्द्र को समाप्त करा दिया हो । क्योंकि आचार्य के निधन के बाद ३२वें दिन ही भजयपाल ने विष देकर कुमारपाल को समाप्त कर दिया और स्वयं राज्यसिंहासन पर अधिकार कर लिया । इस घटना का उल्लेख अनेक जैन ग्रन्थों में पाया जाता है । सन् १३४८ में लिखे गए राजशेखर सूरि के 'प्रवन्धकोष' में इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

"एवं व्रजति काले राजा कुमारपालदेवः श्री हेमच च वृद्धो जातो । श्री हेमसूरिगच्छे-
विरोधः । रामचन्द्र-गुणचन्द्रादिवृन्दमेकतः । एकतो बालचन्द्रः । तस्य च बालचन्द्रस्य राजभ्रातृव्येन
भजयपालेन सह मैत्री । एकदा प्रस्तावे राज्ञो गुरूणां आभट्टस्य च राज्ञो मन्त्रारम्भः । राजा
पृच्छति—भगवन् ! अहमपुत्रः, कमहं स्वपदे रोपयामि ? गुरवो ब्रुवन्ति प्रतापमल्लं दीहिर्षं
राजानं कुरु धर्मस्यैर्ययि, भजयपालास्तु त्वत्स्पापितधर्मक्षयो भावो । अनन्तरे आभट्टः प्राह—
भगवन् ! यादृशस्तादृशः, आत्मीयो भव्यः । पुनः श्रीहेमः—भजयपालं राजं मा कृयाः सर्वैष्व । एवं
मन्त्रं कृत्वा उस्थितास्त्रयः । स च मंत्रो बालचन्द्रेण श्रुतः, भजयपालाय च कथितः । अतो हेमचच्छीय-
रामचन्द्रादिषु द्वेषः, आभट्टे तु प्रीतिः । हेमसूरेः स्वयंमनं जातम् । ततो दिनद्वात्रिंशता राजा
कुमारपालोऽजयपालदात्तविषेण परलोकमगमत् । भजयपालो राज्ये निषण्णः । श्री हेम-द्वेषाद्
रामचन्द्रादिशिष्याणां तप्तलोहविष्टरासनपातनया मारणं कृतम् । राजविहारार्थां बहूनां पातनम् ।
लघुशूलकानाह्लाद्य प्रातः प्रातमृगयां कर्तुं मम्यासपति । पूर्वमेते चैत्यपरिपाटीमकापुंरित्युपाहसता
बालचन्द्रोऽपि स्वगोत्रहृत्पाकारक इति ब्रुवन्निर्ग्राह्यैर्मनस उत्तारितः । श्रीमालवान् पत्वा
मृतः । पापं पच्यते हि सव्यः ।"

आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य—

प्रस्तुत ग्रन्थ नाट्यदर्पण के निर्माता रामचन्द्र उक्त गुजरात की महाविभूति आचार्य हेमचन्द्र के प्रमुख शिष्य थे । राजा जयसिंह सिद्धराज के समय में ही आचार्य हेमचन्द्र ने उन्हें अपना पट्ट शिष्य घोषित कर दिया था । सन् १२७७ (सं० १३३४) में लिखे गए प्रभाचन्द्रसूरि के 'प्रभावक चरित' में रामचन्द्र के पट्टधर शिष्य होने का उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है ।

"राज्ञा श्रीसिद्धराजेन, अग्यदानुयुयुजे प्रभुः ।
भवतां कोऽस्ति पट्टस्य योग्यः शिष्यो गुणाधिकः ॥
तमस्माकं दर्शयत चित्तीत्कर्षाय, मामिव ।
अपुत्रमनुकम्पाहं पूर्वं त्वां मा स्म शोचयन् ॥
आह श्रीहेमचन्द्रश्च न कोऽप्येवं हि चिन्तकः ।
आद्योऽप्यभूदिलापालः सत्यान्नाम्नोधिचन्द्रमाः ॥
सज्जानमहिमस्यैर्यं भुनितां किं न जायते ।
कल्पद्रुमसमे राज्ञि त्वयीदृशि कृतस्थितौ ॥
अस्त्यमुष्यायाणो रामचन्द्राख्यः कृतिशेखरः ।
प्राप्तरैः प्राप्तरूपः सङ्घे विश्वकलानिधिः ॥
अग्यदाऽदशसंश्लेषुं, क्षितिपस्य स्थितिं च सः ।
अनुक्तामाद्यविद्वद्भिर्हृल्लेखाघायिनी व्यधात् ॥

इन दलोको में राजा जयसिंह सिद्धराज और आचार्य हेमचन्द्र का संवाद वर्णित है। एक बार राजा सिद्धराज जयसिंह ने आचार्य हेमचन्द्र से पूछा कि—हे भगवन् ! आपका उत्तराधिकारी योग्य शिष्य कौन है हमें भी उसका दर्शन कराने की कृपा करें। राजा जयसिंह के कोई पुत्र नहीं था। इसलिए उसने कहा कि हे आचार्य कहीं ऐसा न हो कि मेरी तरह आपके विषय में भी शोक का भवसर आए कि आपका कोई योग्य शिष्य नहीं था। इसलिए अपने पट्टघर उत्तराधिकारी का निश्चय कर लीजिए। और इस पर आचार्य हेमचन्द्र ने रामचन्द्र को अपना उत्तराधिकारी पट्टशिष्य बतलाया और कहा इसे किसी समय आपको दिखला भी चुका हूँ। उस समय उसने अर्थात् रामचन्द्र ने आपको अपूर्व ढंग से स्तुति भी की थी। इस स्तुति का वर्णन उसी 'प्रभावक चरित' में निम्न प्रकार किया गया है—

तथाहि—

॥ मात्रयाप्यधिक कश्चिन् संहते जिगीषवः ।
इतीव त्व धरानाय ! धाराधिपप्रप्राकृषाः ॥

अर्थात् हे राजन् ! विजयेच्छु लोग (मात्रयाप्यधिक) अपने से तनिक भी बड़े को सहन नहीं करते हैं, इसलिए धरानाय ! आप उस धरानाय अर्थात् मालवाराज का नाश कर डालें। इस श्लोक में धरानाय तथा धारानाय शब्दों के प्रयोग में चमत्कार है। इस शब्दों की मात्राओं की गणना की जाय तो 'धरानाय' की अपेक्षा 'धारानाय' में एव मात्रा अधिक है। कवि ने धरानाय सम्बोधन गुर्जराधीश जयसिंह सिद्धराज के लिए किया है और 'धारानाय' पद से मालवाराज की ओर संकेत किया है। वह मात्रया अधिक है। इसलिए इसको मट्ट करने की बात कवि ने कही है। इस उक्ति में कुछ कविजनोंचित अपूर्व चमत्कार है। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने उसे 'मनुक्तार्माद्यविद्विद्धि' एकदम अपूर्व कहा है। और इसीलिए उसको सुन कर राजा का सिर झूमने लगा। जैसा कि भगले दलोक में कहा है—

धरोधूननपूर्वं च भूपालोज्ज हसं दधौ ।
रामे, वामेतराचारो विदुषा महिमस्फुलाम् ॥

इस प्रकार के वर्णनों से विदित होता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने राजा जयसिंह सिद्धराज के सामने ही अर्थात् अपनी मृत्यु से लगभग ४०-४२ वर्ष पूर्व ही रामचन्द्र की अपना पट्टघर उत्तराधिकारी एव प्रमुख शिष्य घोषित कर दिया था। रामचन्द्र के प्रतिरिक्त १ महेंद्रसूरि, २ गुणचन्द्र सूरि, ३ वर्षमानगणि, ४ देवचन्द्र मुनि, ५ यशचन्द्र ६ उदयचन्द्र तथा ७ वासुचन्द्र ये ७ उनके साहाय्यी तथा आचार्य हेमचन्द्र के विशेष कृपापात्र शिष्य थे।

१. महेंद्रसूरि—इन में से महेंद्रसूरि ने आचार्य हेमचन्द्र के 'मनेकार्य सग्रह' नामक ग्रन्थ के ऊपर 'हेमानेकार्य सग्रह टीका' लिखी थी। जैसा कि उनके निम्न द्योक्त से प्रतीत होता है—

धी हेमसूरिगिष्येण धीमग्महेन्द्रमूरिणा ।
भक्तिनिष्ठेन टीकेय तप्रार्म्नैव प्रतिष्ठिता ॥

२-३ ग्रन्थकार के साहाय्याधी गुणचन्द्रगणि तथा वर्षमानगणि—वि०स० १२८१ (मन् १२८४ ई०) में सोमप्रसाचार्य ने 'कृमाराम प्रतिबोध' नाम्य-ग्रन्थ की रचना की थी। सोमप्रस

ने अपना यह काव्य हेमचन्द्र के शिष्य गुणचन्द्रगण तथा वर्धमानगण को सुनाया था, इस प्रकार का उल्लेख उन्होने स्वयं इस प्रकार किया है—

शशिञ्जलिषसूर्यवर्षे शुचिमासे रविदिने सिताष्टम्याम् ।
जिनघर्मप्रतिबोधः क्लृप्तोऽयं गुर्जरैन्द्रपुरे ॥
हेमसूरिपदपंकजहंसैः महेन्द्रमुनिपैः युतमेतत् ।
वर्धमान-गुणचन्द्रगणभ्यां साकमाकलितशास्त्ररहस्यैः ॥

इन श्लोकों में वर्धमान तथा गुणचन्द्र दोनों के नामों का उल्लेख साथ-साथ किया है और उन्हें आचार्य हेमचन्द्र का शिष्य बतलाया है। इससे ये दोनों भी नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र के सहपाठी सिद्ध होते हैं। इनमें से गुणचन्द्र तो वे हैं जिन्होंने रामचन्द्र के साथ मिलकर इस प्रस्तुत ग्रन्थ 'नाट्यदर्पण' और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति की रचना की है। वर्धमानगण ने भी 'कुमार विहार-प्रशस्ति' नामक ग्रन्थ की व्याख्या की है। उसका परिचय निम्न लेख से मिलता है—

श्रीहेमचन्द्रमूरिशिष्येण वर्धमानगणिना कुमारविहारप्रशस्तौ, काव्येऽमुष्मिन् पद्यैर्
कृतेऽपि कौतुकात् पौडसीतरं शतं व्याख्यानं चक्रे ।

४-५. देवचन्द्रमुनि तथा यशश्चन्द्रगण—ये दोनों भी आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य और नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र के सहपाठी थे। इनमें से देवचन्द्रमुनि ने 'चन्द्रलेख विजय' नामक 'प्रकरण' (रूपक भेद) की रचना की है, और यशश्चन्द्रगण का नाम मेरुतुङ्ग सूरि द्वारा विरचित 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य रूप में पाया जाता है।

६. उदयचन्द्र—इनके नाम का उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र-विरचित शब्दानुशासन की न्यास टीका के लेखक कनकप्रभ ने निम्न प्रकार किया है—

भूपालमौलिमाणिक्य-मालालालितशासनः ।
दर्शनपट्कनिस्तन्द्रोहेमचन्द्रो मुनीश्वरः ॥
तेषामुदयचन्द्रोऽस्ति शिष्यः संख्यावतां वरः ।
यावज्जीवमभूद् यस्य, व्याख्या ज्ञानामृतप्रपा ॥
तस्योपदेशाद् देवेन्द्रसूरि शिष्यलवो व्यधात् ।
न्याससारसमुद्धारं मनीषी कनकप्रभः ॥

७. बालचन्द्र—रामचन्द्र के सहपाठियों में बालचन्द्र जी का भी विशेष स्थान है। इसके नाम की चर्चा हम अभी आचार्य हेमचन्द्र की अन्तिम भांकी के प्रसङ्ग में कर चुके हैं। राजा कुमारपाल की मृत्यु का कारण यही था, और भावचर्य नहीं कि आचार्य हेमचन्द्र की मृत्यु भी इसी कारण हुई हो।

कवि कटारमत्स्य की उपाधि—

कवि रामचन्द्र का जन्म कब और कहाँ हुआ इसका ठीक निर्णय करने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। सन् ११३६ में आचार्य हेमचन्द्र को, जयसिंह सिद्धराज के साथ परिचय होने के समय वे आचार्य हेमचन्द्र के विद्यार्थियों में थे। यह बात पूर्वोद्धृत श्लोको के आधार पर कही जा सकती है, और उससे यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि उनका जन्म गुजरात में 'अणहिल-पट्टन' के भास-पास ही कही हुआ होगा। तभी उन्हें आचार्य हेमचन्द्र के शिष्यत्व की सौभाग्य का अवसर सरलता से मिल गया।

'आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा रामचन्द्र का परिचय राजा जयसिंह सिद्धराज के साथ भी हो गया था। एक बार श्रीष्म ऋतु की प्रचण्डता की चर्चा के प्रसङ्ग में राजा जयसिंह सिद्धराज ने अपने परिपत्नों से पूछा कि गर्मी में दिन लम्बे क्यों हो जाते हैं? कथं श्रीष्मे दिवसा शुक्ष्तराः?' सौगों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के उत्तर दिए। उस समय रामचन्द्र भी सभा में उपस्थित थे। राजा ने उनका भी अभिप्राय जानना चाहा। रामचन्द्र ने उनके प्रश्न का उत्तर दिया। वह उत्तर उस समय की सामन्ती परम्परा के अनुसार और कवि रामचन्द्र की कवित्व-प्रतिभा के अनुरूप था। रामचन्द्र ने राजा के प्रश्न का उत्तर निम्न श्लोक द्वारा प्रस्तुत किया।

देव ! श्रीगिरिदुर्गमल्ल ! भवतो दिग्जेत्रयात्रोत्सवे,
धावद्वीरतुरङ्गनिष्ठुरक्षुरक्षुण्णदमामण्डलात् ।
वातोद्धूतरजोमिलत्सुरसरित्सजातपद्मस्थली—
दूर्वाचुम्बनचञ्चुरारविहयास्तेनातिवृद्धं दिनम् ॥

श्लोक में राजा के प्रताप का वर्णन है। राजा जयसिंह सिद्धराज जब दिग्विजय करने निकलते हैं तब उनके सैनिकों के घोड़ों के छुरों से उड़ाई गई धूलि आकाश-गंगा पर जाती है और उस पर दूध उग आती है। सूर्य का रथ जब आकाश-गंगा पर पहुँचता है तो सूर्य के घोड़े उस हरी-हरी दूध को देख कर उसे खाने के लिए रुक जाते हैं। इसलिए उनकी अपने सद्य स्थान पर पहुँचने में विलम्ब हो जाता है। इसी कारण दिन बड़ा हो जाता है। उत्तर को सुन कर राजा बहुत प्रसन्न हुए। विशेषकर इसलिए कि यह श्लोक कवि का तुरन्त बनाया हुआ श्लोक था और उससे कवि की कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता था।

इसी प्रकार किसी अन्य अवसर पर राजा जयसिंह सिद्धराज ने रामचन्द्र से कहा कि—
'सव्योनगरं वर्णय पट्टनाभिपानम्' 'अणहिल-पट्टन' नगर का वर्णन अभी करो। रामचन्द्र ने तनिक सी देर में ही 'अणहिल-पट्टन' नगर के वर्णन में निम्न श्लोक बना कर राजा के सामने प्रस्तुत कर दिया—

एतस्यास्य पुरस्य पौरवनिताषातुयंतानिजिता
मन्ये नाथ ! सरस्वती जडतया नीरं वहन्ती स्थिता ।
कीनिस्तम्ममियोञ्चदृष्टरश्चिरामृत्सृज्य दाहावली—
तंत्रीका पुरसिद्धभूपतिमरस्तुम्बी निजां वच्छतीम् ॥

इस श्लोक का भाव यह है कि इस 'अणहिल-पट्टन' की निवासिनी स्त्रियों की चतुराई से पराजित होकर सरस्वती विन्दुमूर्त्ति बन कर उनके सामने 'पानी भरने लगी।' इसीलिए अपनी बीणा की कच्छती [नीचे वाले भाग] को सिद्धराज भूगाल के तासाव की वच्छती के रूप में नीचे छोड़ दिया और बीणादण्ड को राजा के कीनिस्तम्म के रूप में धारण किए और मेघावली की तंत्री बनाए हुए घूम रही है।

यों तो दोनों श्लोकों में कुछ गडबड है किन्तु गद्य-निमित्त श्लोक होने के कारण वे काफी अच्छे श्लोक हैं। रामचन्द्र की इस प्रकार की प्रतिभा का परिचय राजा जयसिंह सिद्धराज को अनेक बार प्राप्त हो चुका था। इसलिए राजा ने प्रसन्न होकर 'वदि-कटारमल्ल' की उपाधि रामचन्द्र को प्रदान की।

एक बार काशी से विश्वेश्वर नामक कवि पण्डित अणहिल-पट्टन आए। यह राजा कुमारपाल के समय की बात है। वे कविवर आचार्य हेमचन्द्र की सभा में पहुँचे। उस समय राजा कुमारपाल भी आचार्य हेमचन्द्र के पास बैठे हुए थे। विश्वेश्वर पण्डित ने सभा में पहुँचते ही आचार्य हेमचन्द्र को आशीर्वाद देते हुए निम्न श्लोकादं को पढ़ा—

‘पातु वो हेम ! गोपालः कम्बलं दण्डमुद्रहन् ।

श्लोकादं का अर्थ था कि हे हेमचन्द्र ! दण्ड और कम्बल धारण किए हुए गोपाल कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें। कवि विश्वेश्वर ने अपनी धार्मिक भावना के अनुसार कृष्ण के द्वारा उनकी रक्षा की बात कही थी। पर आचार्य हेमचन्द्र और उनके आस-पास की सारी मण्डली तो जैन मतावलम्बिनी थी। उसे तो ‘कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें, यह बात कुछ सचिकर नहीं मालूम पटो। उसके स्थान पर यदि ‘जिन तुम्हारी रक्षा करें’ यह बात कही जाती तो उन्हें अच्छा लगता। उस समय कवि रामचन्द्र भी वही बैठे थे। उन्हें कृष्ण का यह ‘रक्षा करने का गौरव’ पसन्द नहीं आया। इसलिए उन्होंने तुरन्त ही शेष आधे श्लोक की पूर्ति निम्न प्रकार करके सुना दी—

‘पद्दर्शनं पशुग्रामं चारयन् जैनगोचरे ॥

पहिले श्लोकादं में दण्ड और कम्बलधारी गोपाल के रूप में कृष्ण को उपरिष्ठ किया था। रामचन्द्र के श्लोकादं में यह कहा गया है कि हाथ में साठी लिए हुए और कंधे पर कमरिया टांसे हुए वह गोपाल ‘जैन गोचरे’ जैनो के यहाँ पद्दर्शन रूप पशुग्रामो को चरा रहा है। विश्वेश्वर कवि के हृदय में आशीर्वाद देते समय कृष्ण के प्रति जितना अभिमान व्यक्त हो रहा था, रामचन्द्र के श्लोकादं ने उतनी बुरी तरह कृष्ण की हीनता को प्रकाशित किया है। इस प्रकार यह श्लोक धार्मिक सपथ का सुन्दर उदाहरण बन गया है। सहृदय लोगों ने उस समय भी इस का रसास्वादन किया होगा। और आजके सहृदयों को भी उसमें एक तीखा ही सही पर विशेष रसास्वादन मिलेगा—

‘पातु वो हेम ! गोपालः कम्बल दण्डमुद्रहन् ।

पद्दर्शनपशुग्राम चारयन् जैनगोचरे ॥”

इस घटना का यह विवरण मेघनुक्त रचित प्रबन्ध चिन्तामणि [पृ० २२६-२७] के आधार पर दिया गया है। चरित्रसुन्दरगणि ने ‘कुमारपालचरित महाकाव्य’ में इसी प्रकार की घटना का उत्तेल निम्न प्रकार किया है।

पञ्चसशाणि द्रव्याणां ददा चोच्चैस्तुरङ्गमान् ।

विश्वेश्वराय कथये तुष्टः श्री कुमारो ददौ ॥

सार्धं नृपतिना सोऽप्य विश्वेश्वरजविर्ययो ।

श्री हेममूरिसालायां विद्वद्गोष्ठीरक्षेतिरः ॥

भालोषय संसद शूरेभूरिसूरिजनावृतान् ।

स ब्रह्मपरिषत्सुत्यामेतां मेने कवीश्वर ॥

सुरि-सिष्यपरीक्षार्थं द्वे समस्ये समापयत् ।

‘व्यापिद्वेति’ प्रसिद्धाऽऽद्या ‘शृङ्गाशेषेति’ चापत् ॥

तामाद्यां निरवद्यपचरपनाहृद्य. कपयो महा—

ऽमात्यः पूर्वमपूरयत् सुरनरप्रनाशकपौद्धरः ।

कुर्वन्तन्मनसीति विस्मयमर्त्तं श्रीसूरिदिष्य क्षणात् ।

अन्या मान्यतमोऽनिश मतिमता श्रीरामचन्द्रोऽभ्यधात् ॥

यह वर्णन, पूर्व वर्णन से निम्न प्रकार का है । इसके अनुसार विश्वेश्वर कवि का पहिले राजा कुमारपाल ने अपनी सभा में सत्कार किया । उसके बाद कवि राजा कुमारपाल के साथ आचार्य हेमचन्द्र की शाला में गए हैं । वहा उन्होंने आचार्य के शिष्यों की परीक्षा के लिए दो समस्याएँ पूरति करने के लिए रखीं । इनमें से एक समस्या 'व्यापिद्धा' थी और दूसरी 'शृङ्गाश्रेण' थी । इनमें पहिली समस्या की पूरति पहिले राजा के महामात्य 'वपदी' ने की । उसके बाद दूसरी समस्या की पूरति हेमचन्द्र सूरि के शिष्य रामचन्द्र ने की । इन दोनों के समस्या-पूरति श्लोकों को ग्रन्थकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

नैतस्या प्रसूतिद्वयेन सरले ! शक्ये विधातु द्वौ
सर्वत्रापि च लक्ष्यते मुखशशिज्योस्त्नावितानैरियम् ।
इत्य मध्यगता सखीभिरभितो हृग्मीलनात् केलिपु,
व्यापिद्धा, नयने मुख च रुदती स्वे गह्वरे वन्यका ॥

यह महामात्य द्वारा की गई 'व्यापिद्धा' समस्या की पूरति है । रामचन्द्र द्वारा की गई दूसरी समस्या की पूरति निम्न प्रकार है—

त्व नो गोत्रगुरुस्तवेन्दुरधिपस्तस्यामृत तत्करे
तेन व्याघशरातुरां मम प्रियामेता समुज्जीवय ।
इत्युक्ते मृगलाञ्छनस्य हरिणे काष्ण्यमाजल्पत.
शृङ्गाश्रेण मृगस्य पश्य पतित नेत्राम्बु भ्रूमण्डले ॥

इनमें से प्रथम श्लोक में कन्याओं की छालमिचोनी की झीडा का वर्णन है । छाल-मिचोनी खेलने वाली लडकियों में एक लडकी की छाले बहुत बड़ी बड़ी हैं । इतनी बड़ी कि 'प्रसूतिद्वयेन' दोनों हाथों से 'विधातु न शक्ये' ठकने में नहीं आती है । उससे छाल मिचोनी कैसे खेती जाय । उस लडकी में दूसरा दोष यह भी था कि वह जहाँ भी जाकर छिपे, पर उससे सौन्दर्य की कांति पारों और फैल जाने से वह छिपी नहीं रह सकती है । इन दोनों कारणों से उस कन्या को 'हृग्मीलन केलि' से निवाल दिया गया—'व्यापिद्धा' । पीरवह बेचारी अपने मुख तथा नेत्रों को कोस-कोस कर रोने लगी ।

दूसरे श्लोक में कोई मृग शृङ्गाश्रेण से चन्द्रमा में बँटे हुए मृग को स्पर्श करते हुए उससे प्रार्थना कर रहा है कि तुम हमारे वध के बड़े-बूढ़े गुरु हो, चन्द्रमा तुम्हारा स्वामी है । उससे अमृत भरे हाथ के द्वारा व्याप के बाण से मृतकल्प मेरी प्रिया हरनी को पुनर्जीवित कराओ । इस प्रकार कहते हुए करणामयी प्रार्थना करने वाले मृग की आँसों से धीमू टपकने लगे । इस प्रकार अपनी दी हुई दोनों समस्याओं की तुरन्त प्रस्तुत की गई इन दोनों सुन्दर पूरतियों को सुन कर विश्वेश्वर पण्डित अत्यन्त प्रमन्न हुए ।

स यद्दयं निजापन से निषीयाणु पूरिते ।

अहो ! जानाति विश्वेश्वरिणश्च कविरेव इवे धमम् ॥

कवि रामचन्द्र का आत्मपरिचय—

नाट्य दर्पणकार रामचन्द्र का यह परिचय हमने ग्रन्थों के ग्रन्थों में वर्णित सामग्री के आधार पर दिया था। अब आगे उनकी स्वयं दी हुई सामग्री के आधार पर उनका कुछ परिचय प्रस्तुत किया जाता है। नाट्यरचना के नियमों के अनुसार नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से प्रत्येक नाटककार अपने सम्बन्ध में कुछ परिचय देता है :

रङ्गं प्रसाद्य मधुरं श्लोकं काव्यार्थसूचकं ।

रूपकस्य कयेराख्या गोत्राद्यपि स कीर्तयेत् ॥ साहित्यदर्पण ६-२८ ।

इस नियम के अनुसार प्रत्येक नाटक के आरम्भ में कवि रामचन्द्र ने अपना परिचय दिया है, परन्तु परिचय में उन्होंने अपने गोत्रस्थान आदि का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया है। अपने सभी नाटकों में उन्होंने केवल आचार्य हेमचन्द्र सूरि के शिष्य-रूप में ही अपना परिचय कराया है। इस लिए उनके ठीक जन्म स्थान, पितृनाम और कुल गोत्रादि का कोई परिचय हमको नहीं मिलता है। फिर भी उनके अपने व्यक्तित्व के परिचय कराने के लिए उनकी स्वलिखित पर्याप्त सामग्री मिलती है। अपने विषय में सबसे लम्बा परिचय उन्होंने कदाचित् 'रघुविलास' की प्रस्तावना में दिया है। वह परिचय निम्न प्रकार है—

"मारिय ! सिद्धहेमचन्द्राभिधानशब्दानुशासनविधानवेधसः श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्यं रामचन्द्रमभिजानासि ?

चन्द्र०—[साक्षेपम्]—

पञ्चप्रबन्धमिषपञ्जमुलानकेन

विद्वग्मन सदसि नृत्यति यस्य कीर्तिः ।

विद्याप्रयीचरणमचुम्बितकाव्यतन्द्रं

कस्त न वेद मुकृती किं रामचन्द्रम् ?

किन्तु द्रव्यालङ्कारनामा प्रबन्धोऽनभिनेयत्वेन तावदास्ताम्। अपरेषा राघवाभ्युदय यादवाभ्युदय-मनविलास-रघुविलासानां चतुर्णां रमणीयतम-सन्दर्भ-ज्ञानविधानां विशदप्रकृतीनां पुनर्मध्ये कुत्र प्रजानामनुरागः ? [रघुविलास-प्रस्तावनायाम्]

यह उद्धरण 'रघुविलास' की प्रस्तावना से लिया गया है। इसमें कवि रामचन्द्र ने अपने पाँच ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम 'द्रव्यालङ्कार' ग्रन्थ ग्यायशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ है और दोष धारो उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। पाँच ग्रन्थों के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि 'रघुविलास' की रचनाकाल तक वे इसकी मिसा कर पाच ग्रन्थों की रचना कर चुके थे। और उनके कारण उनकी पर्याप्त क्वायति हो गई थी। इस परिचय में उन्होंने अपने को 'विद्याप्रयी चरणम्' कहा है। साधारण 'प्रयीविद्या' पद से वेदविद्या का ग्रहण होता है। किन्तु रामचन्द्र जैन विद्वान् थे इसलिए वेद विद्या से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। उन्होंने जो 'विद्याप्रयी' का प्रयोग किया है उससे ग्याय, व्याकरण तथा साहित्य विद्या का ग्रहण होता है। रामचन्द्र का इन तीनों शास्त्रों के उद्धरण पूर्ण अधिकार था, इसी लिए उन्होंने यहाँ अपने को 'विद्याप्रयीचरणम्' हीना विद्याओं में निपुण कह कर अपना परिचय दिया है। 'नाट्यदर्पण विभूति' के अन्त में—

"साङ्गलक्ष्य प्रमालक्ष्य-वाङ्मयलक्ष्य-वृत्तप्रम. ।

वाङ्मिलासस्त्रिमासो नो, प्रवाह इव जाह्न. ॥"

लिख कर उन्होंने फिर अपने को इन तीनों विद्याओं का पण्डित सूचित किया है। अपना ही नहीं अपने भाचायं हेमचन्द्र का भी इन तीन शास्त्रों का ही पाण्डित्य 'नाट्यदर्पण-विवृति' के ग्रन्थ में उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है—

‘शब्द-प्रमाण-साहित्य-छन्दो-लक्ष्म विधायिनाम् ।

श्रीहेमचन्द्रपादाना, प्रसादाय नमो नमः ॥”

‘नाट्यदर्पण विवृति’ के प्रारम्भ में भी—

‘प्राणा कवित्व विद्याना लावण्यमिव योपिताम् ।

श्रीविद्यवेदिनोऽप्यस्मै, ततो नित्य कृतस्त्वहा ॥”

[ना० २० १-६]

इस श्लोक से उन्होंने अपने को ‘श्रीविद्यवेदिन’ कह कर अपना परिचय दिया है। ‘सिद्धहेम-शब्दानुशासन’ के ऊपर ‘न्यास’ टीका लिख कर उन्होंने अपने व्याकरणशास्त्र के पाण्डित्य को चरितार्थ कर दिया है। अपने द्रव्यालकार विवृति ग्रन्थ द्वारा भ्यायशास्त्र के पारङ्गतत्व को, और नाट्यदर्पण एवं अनेक नाटकों की रचना द्वारा अपने साहित्यशास्त्र निष्णातत्व को चरितार्थ कर दिलाया। उनके ग्रन्थों के पढ़ने से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि वे इन सब शास्त्रों के अपूर्व विद्वान् थे। इसलिए उनका ‘श्रीविद्य-वेदित्व’ का अभियान यथार्थ ही था।

२ नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र ने अपने नाटकों में अपनी स्वतन्त्र-प्रियता पर बड़ा बल दिया है। उनकी काव्यरचना बिल्कुल स्वतन्त्र है। किसी अन्य कवि की कविता मादि का उन्होंने तनिक भी आश्रय नहीं लिया है। इस बात को प्रदर्शित करते हुए नलबिलास की प्रस्तावना में लिखा है कि—

“नटः [विमृश्य] भाव ! अय कवि स्वयमुत्पादक उताहो परोपजीवकः ?

सूत्रधार — मन्त्रार्थ तेनैव कविना दत्तमुत्तरम्—

जनः प्रज्ञाप्राप्त पदमथ पदार्थं घटयतः

पराध्वाध्वन्यान् न कथयतु गिरां वक्तंतिरियम् ।

धमादास्यायामप्यविकल्बिकासीनि कुमुदा—

न्यय लोकाश्चन्द्रव्यतिकरविक्रासीनि वदति ॥

[नलबिलास १-७]

ऐसा प्रतीत होता है कि किसी मालोचक ने रामचन्द्र को गतानुगतिक अर्थात् पुरानी बातों का ही वर्णन एवं अनुगमन करने वाला कह दिया था। उसका विरोध करते हुए इस श्लोक में उन्होंने यह दिखलाया है कि ‘हम तो सदा अपनी बुद्धि में प्रस्तुतित नवीन पदार्थों की रचना करते हैं, फिर भी यदि हमें सोच दूसरों का अनुगमन करने वाला कहते हैं तो कहने दो। ऐसा तो ससार में कहा ही जाता है। देखो न ! समार कुमदों को चन्द्रमा के सम्पर्क से ही खिलने वाला कहता है। पर वे कुमुद तो अमावस्या के दिन चन्द्रमा के न होने पर भी खिलते हैं। इसलिए लोगों की बात विद्वान् के योग्य नहीं है।

“अपि च शतप्रत्येकपदार्थसम्बन्धेषु प्रीतिमादधानं जनमवलोकय जातसेदेन तेनेद चाभिहितम्—

स्पृहां लोकाः बाभ्ये वहति जरठं कुञ्जितमैः

वचोभिर्वाभ्येन प्रहृतिकुटितेन स्पृष्टिते ।

वयं वीथी गाढुं कथमपि न घत्ताः पुनरिमा—
मियं चिन्ता चेतस्तरलयति नित्यं किमपि नः ।

पुरानी शैली के जिन यमकादि प्रधान और चित्रकाव्यों का अर्थ भी समझाना कठिन होता है, इस प्रकार के काव्यों में लोगों की विशेष अभिरुचि से खिन्न होकर रामचन्द्र ने यह श्लोक लिखा है। उसका भाव यह है कि हम इस प्रकार के स्वभावतः दुर्ज्ञेय और निकृष्ट रचनाशैली का अवलम्बन करने में असमर्थ हैं। तो शोग हमारे काव्य को पसन्द करेंगे या कि नहीं यही चिन्ता हमें सता रही है। अर्थात् रामचन्द्र ने पुरानी शैली का अवलम्बन करके ही अपने नाटकों की रचना नहीं की है। इसलिए गतानुगतिक केवल पुरानी लकीर के फकीर नहीं हैं—

लोक लोक गाड़ी चलै लोकहि चलै कपूत ।
तीन लोक पर ना चलै शायर शेर सपूत ॥

कवि रामचन्द्र तो शायर भी हैं और सपूत भी, इसलिए पुरानी लोक पर चलने वाले कैसे हो सकते हैं। उनकी रचनाशैली चित्रकाव्य की कठिन शैली से सर्वथा निर्र सरल और सुबोध शैली है। इसीलिए उनकी रचना विशेष रूप से रसवती बन पड़ी है। इसी बात को उन्होंने निम्न श्लोक में दिखलाया है—

प्रबन्धानाघातुं नवभणितिवैदग्ध्यमधुरान्
कवीन्द्रा निस्तन्द्राः कति नहि मुरारिप्रभृतयः ।
श्रुते रामान्गान्यः किमुत परकोटी घटयितुं
रसान् नाट्यप्राणान् पटुरिति वितर्को मनसि नः ।

अर्थात् नवीन कल्पना और उक्तियों से भृश काव्यों की रचना करने वाले मुरारि आदि सब जाने कितने कवि हुए हैं। किन्तु नाट्य के प्राणभूत रसों का चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने में समर्थ, रचना को प्रस्तुत करने वाला तो रामचन्द्र के अतिरिक्त कोई दूसरा कवि दिखलाई नहीं देता है।

यह तो रामचन्द्र ने अपनी स्वतंत्र रचनाशैली का प्रतिपादन किया है। किन्तु दूसरे कवियों के पद-पदार्थ का अपहरण करने वाले कवियों की उन्होंने बड़ी कटु आलोचना की है। उनकी अनेक कृतियों में इस अपहरण-प्रवृत्ति की निन्दा पायी जाती है। उनमें से कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

अकवित्वं परस्तावत् कलङ्कः पाठयालिनाम् ।
अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलङ्कस्यापि घूलिका ॥

[नाट्यदर्पण-विवृति १-११]

यह श्लोक नाट्यदर्पण विवृति के आदि में लिखा है। इसी प्रकार इस विवृति के अन्त में भी उन्होंने लिखा है—

परोपनीतशब्दार्थाः, स्वनाम्ना कृतकीर्तयः ।
निबद्धारोऽप्युना सेन, को नो बलेशमवेप्यति ?

आजकल तो शोग दूसरों के शब्द अर्थों को लेकर अपने नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। तब हम दोनों अर्थात् नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र और गुराचन्द्र के उस कटु को, जो उन्होंने इस ग्रन्थ तथा अन्य ग्रन्थों की रचना में उठाया है कौन समझ सकेगा ?

‘कौमुदी मित्राणन्द’ की प्रस्तावना में भी उन्होंने इसी भाव को निम्न प्रकार लिखा है—

परिपनीतशब्दार्था स्वनाम्ना कृतकीर्तय ।
निबद्धारीशुना तेन विश्रम्भस्तेषु व सताम् ॥

कवि रामचन्द्र न केवल काव्य-रचना के क्षेत्र में अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता के उपासक हैं। अपनी इस स्वातन्त्र्यप्रियता का परिचय अनेक स्थानों पर दिया है। कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

नाम्य चेत् सरस किमर्थममृत, वक्त्र कुरगोदयां
चेत् कन्दर्पविपाण्डुमण्डफलक राकाशराक्ष्णेन किम् ?
स्वातन्त्र्य यदि जीवितावधि मुषा स्वभूर्भुवो वैभवे
वेदमी यदि बद्धयौवनभरा प्रीत्या सरस्याऽपि किम् ? ॥

[नलविलास २-२]

इसके तीसरे चरण में उन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता के सामने स्वर्ग और सीनों लोगों के वैभव को तुच्छ बतलाया है। नलविलास के छठे अङ्क में उन्होंने फिर इस स्वातन्त्र्य की चर्चा की है—

अनुभूत न यद् येन रूपं नावेति तस्य सः ।
न स्वतन्त्रो व्यथा वेत्ति परतन्त्रस्य देहिनः ॥

[नलविमास ६-७]

‘अिनस्तोत्र’ के अन्त में उन्होंने स्वातन्त्र्य-महिमा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है—

‘स्वतन्त्रो देव । भूयास सारभेयोऽपि वरमेति ।
मा स्म भूव परायत्तस्त्रिलोकस्यापि नायकः ॥

हे देव ! मैं चाहता हूँ कि मैं स्वतन्त्र रहूँ। मत्से ही गलौ का कृता बन कर रहूँ। पराधीन हो कर मैं तीनों लोकों का राजा भी बनना नहीं चाहता हूँ। यह स्वातन्त्र्य-प्रियता का चरम रूप है। सत्यहरिश्चन्द्र की प्रस्तावना में भी उन्होंने लिखा है—

१ सूक्तयो रामचन्द्रस्य, वसन्त, कृतगीतयः ।
२ स्वातन्त्र्य, इष्टयोगश्च पक्षेते ह्यमृष्टय ॥

१ रामचन्द्र की सूक्तियाँ, २ वसन्त, ३ सुन्दर गान, ४ स्वतन्त्रता और ५ इष्ट का योग ये पाँचों वस्तुएँ आनन्द एवं सुख की सृष्टि करने वाली हैं।

“प्राप्य स्वातन्त्र्यलक्ष्मीं मुदमय बहूषां दादवती यादवेन्द्राः”

[यादवाम्मुदय]

“प्राप्य स्वातन्त्र्यलक्ष्मीं मनुमवतु मुद दादवती भीमतेन ।”

[निर्भय भीमशायोग]

“अजातगणना समा. परमता स्वतन्त्रो भव ।”

[नलविलास, तथा सत्यहरिश्चन्द्र]

“भासाद्य यनोत्तमो परा स्वतन्त्रदिश्वर मुषा.”

[कौमुदीमित्राणन्द]

‘स्वातन्त्र्यप्रसवां यदीच्छन् विर सर्वायं सिद्धिं हृदि’

[द्वय्यासञ्चारान्ते]

कवि रामचन्द्र के ग्रन्थ—

प्रस्तुत नाट्यदर्पण ग्रन्थ के लेखक रामचन्द्र की 'प्रबन्धशतकर्ता' के रूप में विधेय १ से प्रसिद्धि है। उन्होने स्वयं अनेक ग्रन्थों में अपने को तो ग्रन्थों का निर्माता 'प्रबन्धशतकर्ता' बतलाया है। 'कौमुदीमित्राणन्द' की प्रस्तावना में 'प्रबन्धशतविधाननिर्यातवृद्धिना' इत्यादि द्वारा स्पष्ट रूप से अपने को १०० ग्रन्थों का निर्माता बतलाया है। इसी प्रकार 'निर्भयभीम-व्यायोग' की प्रस्तावना में 'प्रबन्धशतकर्तृमहाकवे रामचन्द्रस्य' इन शब्दों में अपने को प्रबन्ध-शतकर्ता घोषित किया है। किन्तु दुर्भाग्य से उनके सब ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। छोटे-छोटे 'स्तव' आदि तक को मिलाकर इस समय तक उनकी केवल ३९ कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं। उनमें से हमारे ज्ञान में केवल छः ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—

१. नाट्यदर्पण [बड़ोदा से प्रकाशित]
२. नलविलास नाटक [बड़ोदा से प्रकाशित]
३. कौमुदीमित्राणन्द [घाटमानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित]
४. निर्भयभीमव्यायोग [यशो जैन ग्रन्थभाला से प्रकाशित]
५. सत्यश्रीहरिश्चन्द्रनाटक [निरांय सागर बम्बई से प्रकाशित]
६. कुमारविहारशतक [भा० आ० सभा से प्रकाशित]

हमारे ज्ञान में इन छः प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त रामचन्द्र के नाम से निम्न सात अप्रकाशित ग्रन्थ और मिलते हैं जिनका उल्लेख नाट्यदर्पण में पाया जाता है—

७. मल्लिकामकरन्दप्रकरणम् [ना० ६० में उद्धृत]
८. यादवाभ्युदय नाटकम् [ना० ६० में उद्धृत]
९. रघुविलास-नाटकम् [ना० ६० में उद्धृत]
१०. राघवाभ्युदय-नाटकम् [ना० ६० में उद्धृत]
११. रोहिणीमृगाङ्क-प्रकरणम् [ना० ६ में उद्धृत]
१२. वनमालानाटिका [ना० ६० में उद्धृत]
१३. सुषाकलशः [ना० ६० में उद्धृत]
१४. द्रव्यालङ्कार [रघुविलास प्रस्तावना में उद्धृत]
१५. यदुविलास [रघुविलास प्रस्तावना में उद्धृत]

इनके अतिरिक्त कवि रामचन्द्र के निम्न ग्रन्थ और उपलब्ध होते हैं। वे सब छोटे-छोटे स्तव रूप हैं—

१६. युगादिदेवदात्रिशिका
१७. व्यतिरेकदात्रिशिका
१८. प्रसाददात्रिशिका
१९. आदिदेवस्तवः
२०. मुनिमुन्नतदेवस्तवः
२१. नेमिस्तवः
२२. जिनस्तोत्राणि
२३. हैमवृहद्वृत्तिन्मासः

२४-३६ तक सोलह साधारण जिन स्तव

मत्ता का अभिजाप —

रामचन्द्र के जीवन का अन्तिम भाग दुःखमय ही रहा । इसका कारण उनका अन्धा हो जाना था । 'प्रभावक-चरित' के अनुसार तो अणुहिल-मृदुल के राजा जयसिंह सिद्धराज के समय में ही उनकी दाहिनी आंख नष्ट हो गई थी । इस बात का वर्णन प्रभावक चरित में निम्न प्रकार किया गया है—

“अपाश्रयाश्रितस्यास्य महावीर्यापुरःसरम् ।
 व्यनशद् दक्षिणं चक्षुः ॥ ॥
 कर्मप्रायाप्यमालोच्य ते शीतीभूतचेतसः ।
 स्थितास्तथ चतुर्मासीनास्तीनास्तपसि स्थिरे ॥”

मर्णात् कभी चतुर्मास के अवसर पर कवि रामचन्द्र की आंख दुखने आई और अत्यन्त पीडा देने के बाद उनकी दाहिनी आंख जाती रही । रामचन्द्र ने उसे अपने कर्मों का दोष कह कर सन्तोष किया । और पूर्ववत् तपोज्जुष्टान करते हुए चातुर्मास्य को गहो पूर्ण किया । ऐसा प्रतीत होता है कि यह घटना उनके मुख्य १५-१६ ग्रन्थों के रचना-काल के बाद हुई है । और उसने उनकी कार्य-पद्धति एवं प्रवृत्ति को ही बदल दिया है । इस दुर्घटना के बाद वे अन्य ग्रन्थों को छोड़ कर केवल स्तवों की रचना में लग गए । हमारे इस अनुमान का कारण यह है कि उनके स्तवों में अनेक जगह दृष्टि-दान की प्रार्थना पाई जाती है । 'निमित्तव' के अन्त में उन्होंने लिखा है—

नेमे ! निर्घेहि निधितासिलताभिराम !
 चन्द्रावदातमहसं मयि देव ! दृष्टिम् ।
 अद्यन्तमासि विततान्यपि यान्त्सु नाश—
 मुञ्जुम्भता सद्यदि सादवतिकः प्रकाशः ॥

इसमें स्पष्टतः दृष्टिदान की प्रार्थना की गई है । 'पोरुष पोठसिका' के अन्त में भी कुछ इसी प्रकार की प्रार्थना निम्न श्लोक में की गई है ।

स्वामिन्नन्तफलकल्पतरोजितराम !
 चन्द्रावदात चरिताञ्चितविरबचक्र !
 शक्रन्तुताञ्चिसरसीरुह ! दु स्थतापे,
 देव ! प्रसीद कदर्या क्रूर देहि दृष्टिम् ॥

अगर हमने 'प्रभावक चरित' के जो श्लोक उद्धृत किए थे मद्यपि 'व्यनशद् दक्षिणं चक्षुः' केवल दक्षिण चक्षु के नाश की बात कही गई थी किन्तु मद्युतः उनकी एक ही चक्षु नष्ट नहीं हुई थी मद्युतु वे दोनों नेत्रों से विहीन ग्रन्थ हो गए थे । इसीलिए इन सब श्लोकों में उन्होंने दृष्टिदान की प्रार्थना की है । 'व्यतिरेकदृष्टिसिका' के अन्त में तो उन्होंने अपने 'विधिवत्ताप्य' पद्यों द्वारा प्राप्त हुई अन्धता का उल्लेख किया है । और इसके साथ ही 'मसत्तुता' पद्यों द्वारा कार्यय का भी संकेत करते हुए लिखा है—

पयति पूर्वविषेविनिमोगं
 विधिवत्ताप्य-मसत्तुताऽऽदिषम् ।
 सखसमेव विस्तुम्पति यः शरणम्
 मभिनवः शिवसृष्टिकरः उवाच ॥

इत्यंकारमकारणैकमुद्दं विश्वस्य पार्श्वं जिनं
 तं स्तोतुस्त्रिजगद्विलक्षणगुणप्रामाभिरामाकृतिम् ।
 यः कश्चिद् विकचीभवतु बत मे भाग्यातिरेकस्ततः
 तल्लोकव्यतिरिक्तमुक्तियुवतिप्रेमप्रमोदोत्सवः ॥

इन दोनों श्लोकों में से प्रथम श्लोक में ग्रन्थकार ने पार्श्वदेव की स्तुति की है और उनके अनुग्रह से 'विघ्नतान्घ्न्य' और 'गलत्तनुता' के नाश की प्राप्ति प्रकट की है। दूसरे श्लोक में भी उन्हीं पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए इसीप्रकार अपने 'भाग्यातिरेक' के 'विकचीभवन' की चर्चा की है। यों ग्रन्थता जीवन का अभिशाप है। किन्तु उसमें बाह्य वृत्तियों का निरोध होकर मनुष्य की वृत्तियाँ स्वयं पतनमुखी बन जाती हैं और उसके भीतर भगवान् के प्रति प्रेम का उदय हो जाता है यह अच्छी बात है। इस दूसरे श्लोक में रामचन्द्र ने अपने उसी 'भाग्यातिरेक' के 'विकचीभवन' को 'प्रमोदोत्सव' कह कर अपना सन्तोष व्यक्त किया है।

ग्रन्थकार के जीवन की अन्तिम भांकी—

भाचार्य हेमचन्द्र के जीवन की अन्तिम भांकी हम देख चुके हैं। जिस समय 'अणहिल-पट्टन' के राजा कुमारपाल अपने उत्तराधिकारी के निर्णय के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिए भाचार्य हेमचन्द्र के श्रावण-स्थान पर परामर्श कर रहे थे, उस समय भाचार्य के ग्रन्थान्य शिष्यों के साथ रामचन्द्र भी उपस्थित थे। उस समय अजयपाल को राज्य का उत्तराधिकारी न बनाने का जो परामर्श भाचार्य हेमचन्द्र की ओर से दिया गया था उसमें रामचन्द्र का विशेष हाथ था। भाचार्य हेमचन्द्र के शिष्यों में रामचन्द्र का प्रतिद्वन्दी और मन ही मन उनसे द्वेष रखने वाला उसका सहपाठी बालचन्द्र भी था। उसने ही अजयपाल के पास जाकर रामचन्द्र की चुगली करके अजयपाल को रामचन्द्र का शत्रु बना दिया था। इसलिए जैसा कि हम पहिले पढ़ चुके हैं अब अजयपाल राजा बना तो उसने रामचन्द्र को बुला कर गर्म लोहे की चादर के ऊपर बिठा कर उनको मरवा डाला। रामचन्द्र की इस नृवास हत्या के पूर्व अजयपाल ने कहा था कि—

महिबीरह सचराचरह जिण सिरि दिग्धा पाय ।

तसु मत्त्वमणु दिणोसरह होउत होइ चिराय ॥'

[महीपीठस्य सचराचरस्य येन शिरसि दत्ताः पादाः ।

तस्यास्तमनं दिनेश्वरस्य भवितव्यं भवति चिराय ॥]

अर्थात् जो सारे चराचर जगत् के सिर पर पैर रखकर चलता है उस दिनेश्वर सूर्य का अन्त में चिरकाल के लिए अन्त हो जाता है। इसी प्रकार आज हमारे सिर पर पैर रखने का यत्न करने वाले इस रामचन्द्र का अन्त हो रहा है।

रामचन्द्र के सहकारी गुणचन्द्र—

प्रस्तुत 'नाट्यदर्शन' ग्रन्थ की रचना में रामचन्द्र के साथ गुणचन्द्र का भी नाम आता है। अर्थात् इस ग्रन्थ की रचना रामचन्द्र गुणचन्द्र दोनों ने मिल कर की है। इनमें से रामचन्द्र के जीवन का घुत्तान्त ऊपर दिया गया है। किन्तु गुणचन्द्र के विषय में कुछ अधिक परिचय नहीं मिलता है। केवल इतना विदित होता है कि ये रामचन्द्र के सहपाठी घनिष्ट मित्र और भाचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने अपने तीसरे साथी वर्धमानगण्ड के साथ सोमप्रभाचार्य रचित 'कुमारपाल प्रतिबोध' का श्रवण किया था। इस बात का उल्लेख करने वाले दो श्लोक हम पृष्ठ ८

पर उद्धृत कर चुके हैं। उनमें 'वर्धमान-गुणचन्द्रगणिका' पद में गुणचन्द्रगणिका पद से इन्हीं नाट्यदर्पण विवृत्तिकार गुणचन्द्र का ही संकेत किया गया है। इन गुणचन्द्र ने रामचन्द्र के साथ मिलकर दो ग्रन्थों की रचना की है। एक तो यही प्रस्तुत 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ और दूसरा इसी प्रकार का 'द्रव्यालङ्कारवृत्ति' ग्रन्थ है। ये दोनों ग्रन्थ रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र की सम्मिलित कृतियाँ हैं। इन सम्मिलित दो कृतियों के प्रतिरिक्त रामचन्द्र की तो ३७ स्वतन्त्र कृतियाँ और पाई जाती हैं किन्तु गुणचन्द्र की और कोई कृति नहीं पाई जाती है। गुणचन्द्र के विषय में इतना ही वर्णन उपलब्ध होता है।

दो नाट्यदर्पण—

प्रस्तुत नाट्यदर्पण ग्रन्थ रामचन्द्र-गुणचन्द्र का बनाया हुआ है। यह चार 'विवेकों' में विभक्त है। मूल ग्रन्थ कारिका रूप में लिखा गया है। उसके ऊपर ग्रन्थकारों ने स्वयं ही विवृत्ति लिखी है। ग्रन्थ में कुल २०७ कारिकाएँ हैं। 'रघुनाथ' ने 'विक्रमोर्वशीय' की टीकाओं और 'भर्तृ-मलिक' ने 'मट्टिकाव्य' की टीका में 'नाट्यदर्पण' का उल्लेख किया है। किन्तु वह नाट्यदर्पण प्रकृत ग्रन्थ से बिल्कुल भिन्न ग्रन्थ प्रतीत होता है। इस अनुमान का कारण यह है कि भर्तृमलिक ने 'मट्टिकाव्य' [१४-२] की टीका में नाट्यदर्पण से 'शुद्धताग्रमयी मध्यनुपिवा काहला मतेति नाट्यदर्पण' लिखकर नाट्यदर्पण का श्लोक उद्धृत किया है किन्तु यह श्लोक प्रस्तुत नाट्यदर्पण में नहीं पाया जाता है। यही नहीं अपितु प्रस्तुत नाट्यदर्पण में ऐसा कोई प्रकरण नहीं है जिसमें इस श्लोक की खपत हो सकती हो। इस श्लोक में 'काहला' नामक वाद्य का उल्लेख किया गया है किन्तु प्रस्तुत नाट्यदर्पण में वाद्य की खर्चा करने वाला कोई भी प्रकरण नहीं आया है। तब यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मट्टिकाव्य [सर्ग १४-२] में उद्धृत श्लोक रामचन्द्र-गुणचन्द्र कृत नाट्यदर्पण से भिन्न किसी ग्रन्थ ही नाट्यदर्पण से उद्धृत किया गया है।

इसी प्रकार रघुनाथ ने विक्रमोर्वशीय टीका में नाट्यदर्पण का एक उद्धरण निम्न प्रकार दिया है—

अथ च समासोक्तया पूर्वोक्तप्रकारेण बाध्यायंप्रकाशनात् पत्रावली समाख्येयं नान्दी ।
तथाचोक्तं नाट्यदर्पणशुद्धता—

तस्यां बीजस्य विन्द्यासौ ह्यभिनेयस्य वस्तुतः ।

इनेपेण वा समासोक्तया नाम्ना पत्रावली तु सा ॥

[विक्रमोर्वशीय पृ० ७ नि० सागर]

इस श्लोक में नान्दी के 'पत्रावली' नामक विशेष भेद का उल्लेख दिया गया है किन्तु प्रस्तुत नाट्यदर्पण में यह नहीं पाया जाता है। इससे यह प्रतीत होता है कि रामचन्द्र गुणचन्द्र कृत प्रस्तुत नाट्य दर्पण के प्रतिरिक्त कोई और भी नाट्य दर्पण रहा होगा जिससे कि उक्त श्लोक उद्धृत किए गए होंगे।

नाट्यशास्त्र और नाट्य दर्पण—

प्रस्तुत नाट्य दर्पण ग्रन्थ का मूल आधार भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र है। पर नाट्य-शास्त्र एक बड़ा विस्तारपूर्ण ग्रन्थ है। उसे समस्त मानित कलाओं का विश्वकोश कहा जा सकता है। नाट्य दर्पण का क्षेत्र उसकी अपेक्षा बहुत छोटा है। नाट्यशास्त्र के १८वें अध्याय में दशरूपकों का वर्णन किया गया है। मुख्यतः उसी के आधार पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ की

रचना की है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के पहिले इसी प्रकार के 'दशरूपक' नामक एक ग्रन्थ की रचना 'धनञ्जय' कर चुके थे। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी की प्रतिद्वन्द्विता में लिखा गया प्रतीत होता है। इसकी पृष्ठभूमि में राजनीति की प्रतिस्पर्धा की प्रेरणा रही हो तो भी कुछ आश्चर्य नहीं है। दशरूपककार धनञ्जय मालव नरेश मुञ्ज के समान पण्डित थे। रामचन्द्र-गुणचन्द्र गुजरेन्द्र के पण्डित थे। गुजरात और मालवा राज्यों का सदा संपर्क रहता था। उनमें दीर्घकाल तक युद्ध भी चलते रहे थे। इसलिए गौरव-प्राप्ति के हर क्षेत्र में दोनों राज्यों की प्रतिस्पर्धा चलती रहती थी। इसी प्रतिस्पर्धा के कारण मालवाधीन के आश्रय में निमित्त 'दशरूपक' की प्रतिस्पर्धा में इस नाट्य-दर्पण की रचना हुई हो, यह सर्वथा सम्भावित है। हम आगे यह देखेंगे कि नाट्यदर्पणकार ने प्रायः १३ स्थलों पर दशरूपककार के मत का उल्लेख किया है किन्तु एक भी स्थान पर उनका नामतः निर्देश नहीं किया है। 'ग्रन्थे', 'केचित्' आदि सर्वनाम-शब्दों से पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर उसका खण्डन किया है। पर उस दशरूपक वाले प्रकरण को प्रारम्भ करने के पहिले हम भरत के नाट्यशास्त्र और नाट्यदर्पण के विषय में कुछ विचार कर लेना चाहते हैं। नाट्यदर्पण की रचना यद्यपि भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर की गई है किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अनेक स्थलों पर भरतमुनि से अपनी मत भेद प्रकट किया है। इस प्रकार के दो उदाहरण हम नीचे देते हैं—

१. तृतीय विवेक में 'प्ररोचना' का वर्णन करते हुए नाट्यदर्पणकार ने लिखा है कि—

“प्रस्य च पूर्वैरङ्गस्य प्रत्याहारादीन्याहारितान्तानि नवान्तज्वनिकं, गीतकादीनि प्ररोचनान्तानि च दश बहुज्वनिकमङ्गानि प्रयोज्यानि 'पूर्वाचार्यैः' लक्षितानि। अस्माभिस्तु स्वतो लोकप्रसिद्धत्वात्, तन्त्यासक्रमस्य निष्फलत्वात्, विविधदेवतापरितोषरूपस्य तत्फलस्य च श्रद्धानुप्रतारणमात्रत्वादुपेक्षितानि। प्ररोचना तु पूर्वैरङ्गाङ्गमूलाऽपि नाट्ये प्रवृत्तौ प्रधान-मङ्गमिति लक्ष्यते।”

इसमें 'पूर्वाचार्यैः' शब्द से भरत मुनि का संकेत किया गया है। भरत मुनि ने पूर्वैरङ्ग के १६ अङ्गों का विधान किया है। जिनमें से ६ ज्वनिका के भीतर और दश ज्वनिका के बाहर किए जाते हैं। नाट्यदर्पणकार ने इनमें से केवल एक अङ्ग 'प्ररोचना' को लिया है, शेष १५ अङ्गों को छोड़ दिया है। उनके छोड़ देने के तीन कारण यहाँ दिखनाएँ हैं :

१. स्वतो लोकप्रसिद्धत्वात्, २. तन्त्यासक्रमस्य निष्फलत्वात् और ३. विविधदेवता परितोषरूपस्य तत्फलस्य च श्रद्धानुप्रतारणमात्रत्वात्।

२. इस स्थल पर नाट्यदर्पणकार ने भरत मुनि से अपनी मतभेद प्रकट किया है। इसी प्रकार का एक और स्थल भारतीय वृत्ति के विवेचन में आया है। वृत्तियों के निरूपण के प्रसङ्ग में नाट्यशास्त्र के २० वें अध्याय में निम्न श्लोक आया है—

रोद्रे भयानके चैव विन्नेयारभटी बुधैः।

बीभत्से कण्ठे चैव मारती सम्प्रकीर्तितौ।।

[नाट्यशास्त्र २०-६४]

इसके अनुसार केपथ और भयान तथा कण्ठ रसों में 'मारती-वृत्ति' का प्रयोग भरतमुनि को अभिप्रेत प्रतीत होता है। किन्तु उसी २०वें अध्याय में इसके पूर्व ४७वाँ श्लोक निम्न प्रकार आया है—

नेदास्तस्यास्तु विशेषाश्चत्वारोऽङ्गत्वमात्रतः ।

प्ररोचनामुखं चैव वीथी प्रहसनं तथा ॥

[नाट्यशास्त्र ४-४७]

इस श्लोक में प्ररोचना, भ्रामुख आदि को उस भारती वृत्ति का भेद बतलाया गया है । प्ररोचना, भ्रामुख आदि का तो बीभत्स तथा कदण के अतिरिक्त अन्य रसों से भी सम्बन्ध है । इसलिए भरतमुनि के इन वचनों में विरोध प्रतीत होता है । इसकी भ्रालोचना करते हुए नाट्यदर्पणकार ने लिखा है कि—

‘ये तु भारत्यां बीभत्स-कदणो प्रपन्नाः, तैः सर्वैरसवीथी-प्रधानशृङ्गारवीरभाण-प्रधानहास्यप्रहसनानि स्वयमेव भारत्यामेव वृत्ती नियंत्रितानि नावेक्षितानि ।’

‘ये तु’ से यहां भरतमुनि का ग्रहण है । जिन भरतमुनि ने भारती वृत्ति में बीभत्स तथा कदण रस का समावेश माना है, उन्होंने स्वयं ही सर्वैरसवीथी, और शृङ्गार या वीर रस जिसमें मुख्य है इस प्रकार के भाण तथा हास्यरस जिसमें प्रधान रहता है उन प्रहसनों की भारती वृत्ति में रचना का जो निश्चय पहिले किया है, उसकी उपेक्षा कर दी है । अतः उनके इस कथन में ‘वदतो-व्यापात’ दोष आता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां भावस्पर्शता पड़ी है वहां नाट्यदर्पणकार ने भरतमुनि की भ्रालोचना भी की है ।

नाट्यदर्पण और दशरूपक—

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ में प्रायः १३ बार ‘अन्ये’ ‘केचित्’ आदि शब्दों से अपने पूर्ववर्ती नाट्यलक्षणकार धनञ्जय के दशरूपक का उल्लेख किया है । इनमें से दो स्थानों पर तो उनके मत की भ्रालोचना करते हुए उन्हें ‘न मुनिसमयाप्यवसायिनः’ और ‘शुद्धसम्प्रदायवन्ध्यः’ अर्थात् भरतमुनि के प्रतिप्राय को न समझ सकने वाला कहा है । दोष ११ स्थलों पर मुखसन्धि आदि के अङ्गों के विविध लक्षणों में अपने लक्षणों से दशरूपक में दिष्टाए गए लक्षणों में जो भेद पाया जाता है उसका प्रदर्शन कराया है । जिन दो स्थलों पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने धनञ्जय को ‘न मुनिसमयाप्यवसायिनः’ भरत मुनि के मत को न समझने वाला बतलाया है उनमें से एक स्थल नाटक-लक्षण के अक्षर पर और दूसरा प्रकरण-लक्षण के अक्षर पर आया है ।

१. नाटक के लक्षण में नाट्यदर्पणकार ने ‘स्यात्ताडराजचरितं’ [कारिका ५] यह एक विशेषण दिया है । इसके अनुसार किसी इतिहास-प्रसिद्ध पूर्ववर्ती राजा के चरित का अक्षयम्बन करके ही नाटक की रचना करनी चाहिए । अर्थात् इतिहास-प्रसिद्ध पूर्वजालीन राजा ही नाटक का नायक हो सकता है । इसके बाद अगली छठी कारिका में धीरोदात्त, धीरोदत्त, धीरललित तथा धीरप्रसांत ये चार प्रकार के नायक-स्वभाव बतला कर प्रत्येक के उत्तम, मध्यम दो भेद किए हैं । इन प्रकार स्वभावभेद के आधार पर नायक के ६ भेद हो जाते हैं । इससे अगली सातवीं कारिका में यह दिसलाया है कि ‘देवा धीरोदताः’ देवता लोग धीरोदत्त स्वभाव के होते हैं । ‘धीरोदात्ताः सन्धेयमन्त्रिणः’ सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त स्वभाव के होते हैं । ‘धीरदान्ता वणिक्विप्राः’ बणिक और विप्र धीरप्रसांत स्वभाव के होते हैं । और अन्त में ‘राजास्तु चतुर्विधाः’ राजा चारों प्रकार के स्वभाव वाले होते हैं, यह कहा है । इसके अनुसार नाटक का नायक चारों प्रकार के स्वभाव वाला हो सकता है ।

दशरूपककार ने जो नाटक का लक्षण किया है उसमें 'धीरोदात्तः प्रतापवान्' [३-२२] नायक का धीरोदात्त होना आवश्यक बतलाया है। अर्थात् दशरूपककार के अनुसार नाटक का नायक केवल धीरोदात्त ही हो सकता है अन्य नहीं। इस विषय पर नाट्यदर्पणकार का दशरूपककार से मत भेद है। नाट्यदर्पणकार धीरललित आदि को भी नाटक का नायक मानते हैं। दशरूपककार केवल धीरोदात्त को ही मानते हैं। धीरललित आदि को नहीं मानते। इसी कारण रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने दशरूपक का खण्डन करते हुए लिखा है—

‘[‘राजान’ इति] बहुवचनात् व्यक्तिभेदेन चतुःस्वभावो नाटकस्य नेता । न पुनरेकस्यां व्यक्ति, एकत्र प्राधान्येन स्वभावचतुष्कस्य वर्णयितुमशक्यत्वादिति । प्रधाननायकस्य चार्थं नियमः । गौणैतूणां तु स्वमादान्तरमपि पूर्वस्वभाववर्णनेन निवर्धयते ।

ये तु नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव प्रतिजानते, न ते मुनिसमपाध्यवगाहिनः । नाटकेषु धीरललितादीनामपि नायकानां दर्शनात्, कविसमयबाह्यारथ ।”

[नाट्यदर्पण १-७]

इस उद्धरण में नाट्यदर्पणकार ने केवल धीरोदात्त को नाटक का नायक मानने से भरतमुनि के मत को न समझने वाला कहा है। भरत मुनि ने जो नाटक का लक्षण किया है वह निम्न प्रकार है—

प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्तनायकं चैव ।

राजविदेश्यचरितं सर्वैव दिव्याश्रयोपेतम् ॥

नानाविधमिति संगृह्यतुद्धिल्लासादिभिर्गुणैश्चैव ।

अङ्गप्रवेशकाढ्यं भवति हि तन्नाटकं नाम ।

[नाट्यशास्त्र प्र० १८, १०-११]

भरतमुनि के इस नाटक लक्षण में स्पष्ट रूपसे 'प्रख्यातोदात्तनायकं' पद से नाटक में उदात्त नायक का प्रतिपादन किया है। इसी के आधार पर धनञ्जय ने 'दशरूपक' में 'धीरोदात्ता, प्रतापवान्' आदि लिखा है। किन्तु रामचन्द्र उसे भरतमुनि के मत को न समझने वाली बात कहते हैं। यह बात कुछ अटपटी सी प्रतीत होती है। नाट्यशास्त्र के वर्तमान संस्करणों में उपलब्ध पाठ के अनुसार तो दशरूपक का मत भरत का अनुगामी ही है विरोधी नहीं। सम्भव है रामचन्द्र-गुणचन्द्र के पास नाट्यशास्त्र का जौ संस्करण रहा हो उसमें कुछ अन्य प्रकार का पाठ पाया जाता हो। यदि उस पाठ को जिसके आधार पर वे दशरूपककार को भरतमुनि के मतको न समझने वाला कह रहे हैं, यहाँ दे दिया होता तो बात अधिक स्पष्ट हो जाती, उसके बिना नाट्यदर्पणकार की बात प्रस्पष्ट रह जाती है। परन्तु इस विषय में नाट्यदर्पणकार ने दूसरी बात यह भी लिखी है कि—'नाटकेषु धीरललितादीनामपि नायकानां दर्शनात् कविसमयबाह्यारथ'। अर्थात् नाटकों में धीर ललित आदि नायक भी पाए जाते हैं, अतः दशरूपककार का मत कवि सम्प्रदाय के विपरीत भी है। यह बात कुछ अधिक स्पष्ट है।

(२) नाट्यदर्पणकार द्वारा की गई दशरूपक की प्रालोचना का दूसरा प्रसङ्ग 'प्रकरण' के लक्षण में आया है। 'प्रकरण' का लक्षण 'दशरूपक' में निम्न प्रकार किया गया है—

‘अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकशंभयम् ।

भ्रमात्य-विप्र-वणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥

धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थं तत्परम् ।

शेषं नाटकवत्, सन्धि-प्रवेशकरसादिकम् ॥

[दशरूपक ३-२६, ४०]

इस लक्षण के अनुसार 'प्रकरण' में धीरप्रशान्त स्वभाव वाले भ्रमात्य, विप्र या वणिक में से किसी एक को नायक बनाया चाहिए यह भ्रयं निकलता है। किन्तु नाट्यदर्पणकार इस बात से सहमत नहीं है। उनके मत में भ्रमात्य के साथ धीरप्रशान्त विशेषण संगत नहीं होता है। प्रथम विवेक की सातवीं कारिका में वे पहिले ही लिख चुके हैं कि 'धीरोदात्तः सैन्येश-मन्त्रिणः' सेनापति धीर भ्रमात्य धीरोदात्त ही होते हैं। अर्थात् भ्रमात्य सदा धीरोदात्त होना चाहिए। 'धीरशान्ता वणिक्विप्राः' वणिक् धीर विप्र तो धीरशान्त होते हैं, किन्तु भ्रमात्य धीरप्रशान्त नहीं धीरोदात्त होता है। इसलिए दशरूपककार ने जो भ्रमात्य को 'प्रकरण' का नायक मान कर 'धीरशान्त' उसका विशेषण दिया है वह उचित नहीं है। इसी बात को नाट्य-दर्पण कार ने निम्न प्रकार लिखा है—

"सचिवो राज्यचिन्तकः । भ्रयं वणिग्-विप्रयोर्मध्यपात्यपि धीरोदात्त-धीरप्रशान्तौ प्रकरणे नेतारो भवतः इति प्रतिपादनार्थं पृथगुक्ततः । यस्त्वमात्यं नेतारमभ्युपगम्य धीरप्रशान्त-नायकमिति प्रकरणं विशेषयति, स शुद्धसम्प्रदायवन्ध्यः ।"

[नाट्यदर्पण २-१]

सचिव अर्थात् भ्रमात्य राज्य का चिन्तक अर्थात् प्रबन्ध करने वाला होता है। यद्यपि विप्र तथा वणिक् के भीतर ही इस भ्रमात्य का भी अन्तर्भाव हो सकता है अर्थात् विप्र या वणिक् में से ही कोई भ्रमात्य होता है। इसलिए यदि उसका अलग ग्रहण न किया जाता तो भी काम चल सकता था। फिर भी उसका अलग ग्रहण इसलिए किया गया है कि भ्रमात्य धीरोदात्त होता है धीर वणिक् विप्र दोनों धीरप्रशान्त होते हैं। इसलिए भ्रमात्य के पृथग् ग्रहण से यह धमिप्राम निकला कि प्रकरण में धीरोदात्त तथा धीरप्रशान्त दोनों प्रकार के नायक हो सकते हैं। इस दशा में दशरूपककार ने 'प्रकरण' में भ्रमात्य को नायक मानते हुए भी जो 'धीरप्रशान्त' विशेषण द्वारा 'प्रकरण' में 'धीरप्रशान्त' के ही नायक होने का प्रतिपादन किया है, वह उचित नहीं है।

इन दो स्थलों पर तो नाट्यदर्पणकार ने दशरूपककार के मत की आलोचना की है। किन्तु इनके प्रतिरिक्त प्रायः ११ स्थल ऐसे हैं जिनमें मुख सन्धि आदि के अङ्गों के सङ्गणों में नाट्यदर्पण तथा दशरूपक-में भेद पाया जाता है। नाट्यदर्पणकार ने ऐसे स्थलों पर अपना सङ्गण देने के बाद 'अग्ये' आदि पदों से दशरूपक के सङ्गण भी दिखा दिए हैं। इन ११ स्थलों को हम नीचे दे रहे हैं।

१. मुख सन्धि के पञ्चम अङ्ग 'उद्भेद' का सङ्गण नाट्यदर्पण में 'स्वल्पप्ररोह-उद्भेदः' किया गया है [का० १-४३]। दशरूपक में उसके स्थान पर 'उद्भेदो मूढभेदनम्' [दश० १-२९] किया गया है। नाट्यदर्पण की विवृति में इसी का उल्लेख 'अग्ये तु मूढभेदन-मुद्भेदमामनन्ति' इस प्रकार किया गया है।

२. नाट्यदर्पण में मुख सन्धि का आठवां अङ्ग भेदन माना गया है। उसका सङ्गण 'भेदनं पात्रनिर्गमः' [का० १-४४] किया गया है। दशरूपक में उसका सङ्गण 'भेदः प्रोत्साहना मता' [का० १-२६] इस प्रकार किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने 'अग्ये तु भेदं प्रोत्साहनाहः'

लिख कर इसी भेद को दर्शाया है। इसी प्रसङ्ग में नाट्यदर्पणकार ने 'अन्ये तु संहताना प्रतिपकाराणा बीजफलोत्पत्तिनिरोधकाना विस्तेपक भेदरूपमुपाय भेदनं मन्यन्ते' इस रूप में भेद के तृतीय लक्षण का भी उल्लेख किया है।

मुख्य सन्धि के इन दो अङ्गों के लक्षणों के विषय में रामचन्द्र तथा घनशुभ्र का मत-भेद है। आगे 'प्रतिमुख सन्धि' के अङ्गों के विषय में दोनों का मतभेद दिखलाते हैं।

३. 'प्रतिमुख सन्धि' का पाँचवा अङ्ग 'वर्णसंहति' है। उसका लक्षण नाट्यदर्पण में 'पात्रौघो वर्णसंहति,' [का० १४८] किया गया है। दशरूपक में उसके स्थान पर 'वातु-वर्णोपगमन वर्णसंहार इष्यते' [१-३५] यह लक्षण किया है। नाट्यदर्पणकार ने इसी भेद को 'अन्ये तु वर्णाना ब्राह्मणादीना द्वयोस्त्रयाणा चतुर्णा वा एकत्र मीलन वर्णसंहारमाचक्षते' इस प्रकार दिखलाया है।

४. 'प्रतिमुख सन्धि' का सातवाँ अङ्ग 'नर्मद्युति' है। इसका लक्षण नाट्यदर्पण में 'दोषावृत्तौ तु सद्युति,' [का० ४९] किया है। दशरूपक में उसके स्थान पर 'परिहासवचो नर्म, धृतिस्तञ्जा द्युतिर्मता' [का० १-३३] यह लक्षण किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने अन्ये तु नर्मजा द्युति द्युतिमाहुः' इन शब्दों में इस भेद को दिखलाया है।

५. 'गर्भ सन्धि' का तीसरा अङ्ग 'रूप' है। उसका लक्षण 'नाट्यदर्पणकार ने 'रूप नानार्थसंशय,' किया है। दशरूपक में 'रूप वितर्कवद् वाक्यम्' यह 'रूप' का लक्षण किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने 'अन्ये त्वधीयते रूप वितर्कवद् वाक्यम् इति' [पृष्ठ १४७] इस रूप में इस भेद को प्रदर्शित किया है। इसी प्रसङ्ग में 'अन्ये तु चित्रार्थ रूपक वच' [पृष्ठ १४८] इन शब्दों में किसी तीसरे लक्षण का भी उल्लेख किया है।

६. 'गर्भ सन्धि' का छठा अङ्ग 'क्रम' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'क्रमो भावस्य निर्णय' [का० १-५४] किया गया है। दशरूपक में 'क्रम. सचिन्त्यमानान्ति' [१-३६] यह क्रम का लक्षण किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने 'क्रमः सचिन्त्यमानान्तिः इत्याहुः' लिखकर इस भेद को दिखलाया है। 'अन्ये तु भविष्यदर्थतत्त्वोपलक्षण्य क्रममिच्छन्ति' इन शब्दों में 'क्रम' का तीसरा लक्षण भी नाट्यदर्पणकार ने दिखलाया है।

७. 'अवमर्श सन्धि' का पाँचवाँ अङ्ग 'छादन' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'छादन मन्युमार्जनम्' [का० १-५८] किया गया है। दशरूपक में 'छादन' के स्थान 'छलन' अङ्ग पाया गया है। नाट्यदर्पणकार ने इसका उल्लेख 'अन्ये त्वस्य स्थाने छलन अवमाननरूपमाहुः' इन शब्दों में किया है। इसके धृतिरिक्त (१) 'अन्ये तु कार्यार्थसंज्ञास्वाप्यर्थस्य सहन छादनमिच्छन्ति।' (२) 'अपरे तु छलन सम्मोहमिच्छन्ति' इस रूप में छादन अङ्ग के विषय में दो मतों का उल्लेख [पृ० १६६] भी किया है।

८. 'अवमर्श सन्धि' का छठा अङ्ग 'द्युति' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'तिरस्कारो द्युति,' [का० ५९] किया गया है। दशरूपक में 'तर्जनीद्वेजेने द्युति,' [१-५६] इस प्रकार 'द्युति' का लक्षण किया है। इस अक्षर का उल्लेख करते हुए नाट्यदर्पण में लिखा है— 'तर्जनीद्वेजेने द्युति केचिदिच्छन्ति' इसके साथ ही 'अपरे तु तर्जनाधरणे द्युति मन्यन्ते' इस रूप में 'द्युति' के तीसरे लक्षण का भी उल्लेख नाट्यदर्पणकार ने किया है।

९. 'भवमर्श सन्धि' का दशम अङ्ग 'शक्ति' है। उसका लक्षण नाट्य दर्पण में 'क्रुद्ध-प्रसादनं शक्ति' [का० ६०] और दशरूपक में 'विरोधशमन शक्ति.' [१-४६] किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने 'एके तु विरोध शमन शक्तिमिच्छन्ति' लिख कर इस भेद का उल्लेख किया है।

१०. भवमर्श सन्धि का १३वाँ अङ्ग 'व्यवसाय' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'व्यवसायोऽप्यंहेतुयुक्' [का० ६०] और दशरूपक में 'व्यवसाय. स्वशक्त्युक्ति.' [का० १-५७] किया है। नाट्यदर्पणकार ने 'अग्ये तु व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः इति पठन्ति' लिख कर इस भेद का प्रदर्शन किया है।

११. 'निर्वहण सन्धि' का पाँचवाँ अङ्ग 'परिभाषण' है। नाट्यदर्पण में उसका लक्षण 'परिभाषास्वनिन्दनम्' [का० १-६३] और दशरूपक में 'परिभाषा मियोजल्प' [१-५२] किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने इस भेद को 'एके तु परिभाषा मियोजल्पः इति पठन्ति' लिख कर इस भेद का उल्लेख किया है।

रामचन्द्र और सागरान्दी—

रामचन्द्र गुणचन्द्र के पूर्ववर्ती नाट्यलक्षणकारों में दशरूपककार घनञ्जय [सन् ९७४-९९५] के बाद दूसरा नाम 'नाटकलक्षणरत्नकोश' के निर्माता 'सागरान्दी' का आता है। ये दोनों मम्मट के उत्तरवर्ती आचार्य हैं। सागरान्दी ने घनञ्जय से लगभग १०० वर्ष बाद अपने 'नाटकलक्षणरत्नकोश' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है। इनका असली नाम तो केवल 'सागर' या किन्तु नन्दवत्स में उत्पन्न होने के कारण वे 'सागरान्दी' नाम से ही प्रसिद्ध हैं। इनका 'नाटकलक्षणरत्नकोश' ग्रन्थ, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र को सम्भवतः इस ग्रन्थ का भी पूर्ण परिचय प्राप्त था। घनञ्जय के समान सागरान्दी से भी रामचन्द्र गुणचन्द्र का अनेक स्थलों पर मत भेद पाया जाता है। नाट्यदर्पण में जिस प्रकार नाटक की पाँचो सन्धियों के विविध अङ्गों के लक्षण करते समय जहाँ-जहाँ दशरूपक के लक्षण से भेद आया है वहाँ 'अग्ये' आदि शब्दों से दशरूपक के लक्षण को भी उद्धृत कर दिया है। इसी प्रकार १२वें रूपक भेद 'वीथी' के अङ्गों का विवेचन करते हुए जहाँ उनके लक्षण से भिन्न अन्य लक्षण भी पाए जाते हैं, वहाँ 'अग्ये' आदि शब्दों में उन लक्षणों का उल्लेख कर दिया है। यह उल्लेख दशरूपक से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि दशरूपक में 'वीथी' के अङ्गों का विवेचन ही नहीं किया गया है। दशरूपककार ने श्रुतीय प्रकाश के अंग में केवल ६८, ६९ दो कारिकाओं में 'वीथी' का लक्षण प्राप्त कर दिया है। उसके अङ्गों का विवेचन नहीं किया गया है। नाट्यदर्पणकार ने 'वीथी' के लक्षण के अतिरिक्त उसके ११ अङ्गों का उदाहरणों सहित विस्तृत विवेचन किया है। और उनमें अपने से भिन्न अन्य लक्षणों का भी उल्लेख किया है। ये लक्षण दशरूपक के नहीं हैं इसलिए ऐसा अनुमान है कि सम्भवतः ये 'नाटकलक्षणरत्नकोश' से लिए गए हैं।

रामचन्द्र और मम्मट—

१. वाक्यप्रकाशकार मम्मट रामचन्द्र गुणचन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्य हैं। पर उन्होंने न तो नाट्यलक्षण सम्बन्धी कोई ग्रन्थ लिखा है और न वाक्यप्रकाश में ही नाटक-सम्बन्धी किसी विषय की विवेचना की है इसलिए नाट्यदर्पण का मम्मट के साथ कोई विशेष सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है। किन्तु रसदोषों का विवेचन दोनों ने किया है। इसलिए इस अंग में दोनों का

सम्बन्ध है। इस प्रसङ्ग में एक स्थल पर नाट्यदर्पणकार ने काव्यप्रकाशकार के मत का सङ्केत किया है। रस-दोषों में भ्रङ्ग भ्रष्टात् भ्रष्टप्रधान रस का अधिक विस्तार करना दोष माना गया है। काव्यप्रकाश में इसे 'भ्रङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः' [सप्तम उल्लास सूत्र ८२, का० ६१ से] नाम से और नाट्यदर्पण में इसे 'भ्रङ्गीयम्' [का० ३-२३] नाम से कहा गया है। काव्यप्रकाशकार ने 'भ्रङ्गस्य भ्रष्टप्रधानस्य, अति विस्तरेण वर्णने यथा ह्यप्रीववधे ह्यप्रीवस्य'। [पृ० ३६२ ज्ञानमण्डल से प्रकाशित संस्करण] लिख कर प्रतिनायक रूप ह्यप्रीव के अति विस्तृत वर्णन को इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु नाट्यदर्पणकार इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है। उन्होंने इसका सङ्केत करते हुए इसे 'वृत्त-दोष' अर्थात् कथा-भाग का दोष मात्र कहा है, रसदोष नहीं। रस की दृष्टि से तो उनके मत में यह दोष न होकर गुण है। प्रतिपक्षी का अत्यन्त उत्कर्ष दिखाना कर नायक द्वारा उसका वध कराने में तो नायक का उत्कर्ष बढ़ता ही है, इसलिए उस दृष्टि से यह दोष नहीं प्रेषितुं गुण ही है, यह नाट्यदर्पणकार का अभिप्राय है। अपने इस मत का प्रतिपादन उन्होंने इस प्रकार किया है—

"केचिदत्र ह्यप्रीववधे ह्यप्रीववर्णनमुदाहरन्ति । स पुनर्वृत्तदोषो वृत्तनायकस्याल्प-
वर्णनात् । तत्र हि वीरो रसः, स विद्योपतो वध्यस्य शीर्ष-विभ्रूत्यतिशयवर्णनेन सुष्यत इति ।"

[ना० ४० ३-२३]

इसके स्थान पर उन्होंने कृत्यारावण का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"भ्रयाङ्गीयम् । भ्रङ्गस्य मुख्यरसपीपकतया भ्रवयवभूतस्यौग्यं विस्तरेणोत्कटत्वं
दोषः । यथा कृत्यारावणे जटामुवध-लदनणशक्तिभेद-सीताविपत्तिश्रवणेषु रामस्य मुहुर्मुहुः
करुणाधिक्यम् ।"

[ना० ४० ३-२३]

२. 'प्रतिकूल-विभावादिग्रह' नाम का दूसरा रस-दोष है। काव्यप्रकाश में इसका उदाहरण निम्न प्रकार दिया गया है—

"प्रसादे वर्तस्व, प्रकटयमुदं, संत्यज रुपं
प्रिये शुद्धन्त्यङ्गान्यमुतमिव ते सिञ्चतु वचः ।
निधानं शौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येकुं प्रभवति पठः काव्यहरिणः ॥

अत्र शृङ्गारे प्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यताप्रकाशनरूपो विभावस्तत्प्रकाशितो निर्वेदश्च
व्यभिचारी उपात्तः ॥"

[का० पृ० ३६०]

अर्थात् इस श्लोक में शृङ्गार रस के प्रतिकूल शान्त रस का तथा उसके अनित्यता-
स्थापनात्मक निर्वेदरूप व्यभिचारिभाव का ग्रहण होने से यहाँ 'प्रतिकूलविभावादि परिग्रह रूप'
रस दोष होता है। नाट्यदर्पणकारने इस उदाहरण की किसी प्रकार की आलोचना न करते हुए
भी इसका दूसरा उदाहरण निम्न प्रकार दिया है—

त्यजत मानमल व्रत विग्रहैर्न पुनरेति गर्तं चतुर वधः ।

परभृताभिरितीव निवेदिते, स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥

अत्र शृङ्गारप्रतिकूलस्य शान्तस्यानित्यता प्रकाशनरूपो विभावो निबद्धः ।

[ना० ४० ३-२३]

इन दोनों में केवल श्लोक का अन्तर है, भाव दोनों उदाहरणों का बिल्कुल एक ही है। इसके अतिरिक्त 'अक्राण्डे प्रथमं, अक्राण्डे द्वेदः दीप्तिः पुनःपुनः तथा अङ्गिनोऽनुमन्यान्म, इन चारों रस-दोषों के उदाहरण काव्यप्रकाश तथा, नाट्यदर्पण में बिल्कुल एक ही दिए हैं।

३. रस-दोषों के निरूपण के प्रसङ्ग में काव्यप्रकाश में 'व्यभिचारि-रस-स्थायिभावानां शब्दवाच्यता' को सबसे पहिला रस-दोष कहा गया है। अर्थात् मम्मट के अनुसार व्यभिचारि-भाव अथवा रस अथवा स्थायिभावों को अपने वाचक शब्द द्वारा कथन नहीं करना चाहिये। उनका स्वशब्द से कथन करने पर रसानुभूति का अपकर्षक होने से दोषाघायक होता है। किन्तु नाट्यदर्पणकार इस बात से सहमत नहीं हैं। इसलिए इस विषय में मम्मट का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—

“केचित्तु 'व्यभिचारि-रस-स्थायिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः। तदप्युक्तम्। व्यभिचार्यादीनां स्ववाचकप्रयोगेऽपि विभावपुष्टेः—

दूराद्भुक्तुमागते विवर्लितं सम्भाषिणि स्फारितं,
संश्लिष्यत्यरणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चित्तमूलतम्।
मानिन्यास्वरणानतिव्यतिकरे वाप्याम्बुपूर्णेतरणं,
चक्षुर्जातमहो ! प्रपंचचतुरं जातागति प्रेयसि ॥

इसमें उत्सुक, विवर्लित आदि व्यभिचारिभावों का स्वशब्द से कथन होने पर भी रस की परिपुष्टि हो रही है, इस लिए विभावादि का स्वशब्द से ग्रहण दोष नहीं है। यह नाट्यदर्पण-कार का अभिप्राय है।

४. इसी प्रकार 'कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयो.' [का० प्र० कारिका ६०, पृ० ३५७] को दूसरा रसदोष माना गया है। पर नाट्यदर्पणकार का मत इस विषय में भी मम्मट से भिन्न है। अपने मत को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है—

“एवमुच्यते साधारणविभावपदानां कष्टेन नियतविभावामिषायित्वाधिगमोऽपि सन्दिग्धस्वलक्षणो वाच्यदोष एव। यथा—

परिहरति मति रति धुनीते, स्खलतितरां परिवर्तते च मूयः।

इति वत विषमा दद्या स्वदेहं, परिभयति प्रसभं किमत्र कुर्मः॥

अत्र रतिपरिहारादीनां विभावानां कष्टादावपि सम्भवात् शृङ्गारं प्रति भावत्व-सन्देह इति।”

[ना० द० ३-२३]

इस प्रकार मम्मट ने काव्य प्रकाश में जिन आठ प्रकार के रसदोषों का वर्णन किया था, नाट्यदर्पणकार ने उनमें से तीन का बिल्कुल खण्डन कर दिया, और चार को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है, और एक को उदाहरण में परिवर्तन करते हुए स्वीकार कर लिया है।

रामचन्द्र और अभिनवगुप्त—

नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नामक विद्वत् के निर्माता अभिनवगुप्त भी नाट्य-दर्पणकार के पूर्ववर्ती आचार्य हैं। रस-निरूपण के प्रसङ्ग में नाट्यदर्पणकार ने उनके मत के आधारे पर अपने मत की स्थापना की है। किन्तु उसमें भी उन्होंने अभिनवगुप्त की अपेक्षा कुछ सुवनता उत्पन्न कर दी है।

१. उत्तरवर्ती सभी भाषायों ने रस को प्रायः ब्रह्मानन्दसहोदर और परमानन्द-स्वरूप माना है । कश्च एव भी भयानक तथा बीभत्स जैसे रसों को भी सुखात्मक रस माना गया है । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने सभी रसों की ऐकान्तिक सुखात्मकता का प्रतिपादन करते हुए लिखा है—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम् ।

सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥

किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि-स्यात् तदनुमुखः ।

तथा रामायणादीनां भविता दुःख हेतुता ॥

[साहित्यदर्पण परि० ३, ४-५]

विश्वनाथ आदि के इस सुखात्मकतावाद के विपरीत अभिनवगुप्त ने प्रत्येक रस को सुखदुःखोभात्मक रस माना है । अर्थात् उनके मत में प्रत्येक रस में सुख की प्रधानता होती है और भी दुःख का स्पर्श रहता है । उन्होने लिखा है—

इत्वानन्दरूपता सर्वरसानाम् । किन्तुपरञ्जकविषयवशात् तेषामपि कटुवितास्पर्शोऽस्ति वीरस्येव । स हि क्लेशसहिष्णुतादिप्राण एव ।” [हिन्दी अभिनवभारती पृ० ४७८]

इनमें भी शृङ्गार, हास्य, वीर तथा भद्रमुत् इन चार रसों में सुख की प्रधानता के साथ दुःख का अनुवेष रहता है । इसके विपरीत रौद्र, भयानक, कश्च तथा बीभत्स इन चार रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुख का अनुवेष माना है । केवल शांत रस को ही उन्होंने नितान्त सुख रूप माना है । अभिनवभारती के प्रथम अध्याय में इस विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है—

“स च सुख-दुःखरूपेण विचित्रेण समनुगतो न तु तदैकात्मा । तथाहि—रति-हास-वत्साह-विस्मयानां सुखस्वभावात् । तत्र तु चिरकालव्यापिसुखानुसन्धिरूपत्वेन विषयो-मुह्य-प्राणतया तद्विषयाशसावाहृत्येन प्रपायभीरत्वाद् दुःखादानुवेषो रते । हासस्य सानुसन्धानस्य विद्वत्स-दृशस्तत्कालिकोऽप्यदुःखानुवेषः सुखानुगतः । वत्साहस्य तात्कालिक-दुःखायास-निमज्जनरूपानु-सन्धिना भाविबहुजनोपकारिचिरतरकालभाविसुखसमाचिकीर्षात्मना सुखरूपता । विस्मयस्य निरनुसन्धानतद्वित्तुल्यसुखरूपता ।

क्रोध-भय-शोक-खुणुप्तानां तु दुःखस्वरूपता । तत्र चिरकालदुःखानुसन्धिप्राणो विषयगता-ऽऽत्यन्तिकनाशभावना तदाकाशाप्राणतया सुखदुःखानुवेषवान् क्रोधः । निरनुसन्धितत्कालिकदुःख-प्राणतया तदपगमाकाशोत्प्रेक्षितसुखानुसन्धिर्न भयम् । ईकालिकस्त्वभीष्टविषयनाशजः प्राक्तन-सुखस्मरणानुविद्धः सर्वयैव दुःखरूपः शोकः ।” उताद्यमानदुःखानुसन्धानजीवितविषयात् पलायनपराशरणरूपा निपिच्यमानसकितसुखानुविद्धा खुणुप्ता ।

समस्तपूर्वदुःख-सञ्चय स्मरणप्राणितः सम्भाविततदुपरमबहुलसुखमयो निर्वेदः ।

[हिन्दी अभिनवभारती पृ० २१६-२२४]

इन तीनों अनुच्छेदों में अभिनवगुप्त ने शृङ्गार, हास्य, वीर तथा भद्रमुत् रसों में सुख की प्रधानता के साथ-साथ दुःखानुवेष को, तथा रौद्र, भयानक, कश्च तथा बीभत्स रसों में दुःख की प्रधानता के साथ सुखानुवेष की चर्चा करते हुए अन्त में निर्वेद की नितान्त सुखमय ठहराया है ।

रसों के विषय में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मत पूर्वोक्त दोनों मतों से भिन्न प्रकार का है। उसे हम विभज्यवादी मत कह सकते हैं। विद्वनाथ भादि ने सभी रसों को सुखात्मक रस माना है। अमिनवगुप्त ने सभी रसों को उभयात्मक रस माना है। किन्तु नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने न सभी रसों को सुखात्मक रस माना है, और न सभी रसों में सुख-दुःख दोनों का समावेश माना है। उन्होंने रसों को अलग-अलग दो भागों में विभक्त कर दिया है। जिनमें से शृङ्गार, हास्य वीर, अद्भुत तथा शान्त इन पाँच को सर्वथा सुखात्मक और कदण, रोद्र, भयानक तथा बीभत्स इन चार को सर्वथा दुःखात्मक रस बतलाया। अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नाट्यदर्पण में उन्होंने निम्न प्रकार से किया है—

“तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गार-हास्यवीर अद्भुत-शान्ताः पञ्च सुखात्मानः ।

अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः कदण-रोद्र-बीभत्स-भयानकाः चत्वारो दुःखात्मानः ।

यत् पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते, तत्प्रतीतिवाचितम् । आस्तां नाम मुख्य-विभावोपचितः, काव्याभिनयोपनीत-विभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सः, कदणो रोद्रो वा रमा-स्वादवतामनाक्षयेयां कामादि क्लेशादद्याद्युपनयति । अतएव भयानकादिभिर्द्विजते समाजः । न नाम सुखास्वादाद्दुःखो घटते । [नाट्यदर्पण ३-७]

३. इस उद्धरण में रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने स्पष्ट रूप से पाँच रसों को सुखात्मक तथा चार रसों को दुःखात्मक कह कर रसों को दो भागों में विभक्त कर दिया है। अतः उनका मत विभज्यवादी मत कहा जा सकता है।

१. दूसरा प्रसङ्ग जहाँ रामचन्द्र-गुणचन्द्र अमिनवगुप्त के साथ हैं, शान्तरस का प्रकरण है।

शृङ्गार-हास्य-कदण-रोद्र-वीर-भयानकाः ।

बीभत्साद्भुतशंती चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ [नाट्यशास्त्र - १५]

इस भरतवचन के आधार पर अनेक विद्वान् नाटक में केवल आठ रसों की स्थिति मानते हैं। किन्तु अमिनवगुप्त भादि अनेक विद्वान् शान्तरस को भी नवम रस मानते हैं। उनके अनुसार इस भरत-वचन के उत्तरार्ध का पाठ ‘बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसाः स्मृताः’ इस प्रकार का है। अमिनवगुप्त के नाट्यशास्त्र ने छठे अध्याय पर ‘अमिनवमारती’ व्याख्या लिखते हुए उसके अन्त में बहुत विस्तार के साथ शान्तरस का विवेचन किया है। उनके पूर्व नाट्यशास्त्र के दूसरे व्याख्याता उद्भट ने भी शान्तरस को नाट्यरस माना है और उक्त भरत वचन के पाठान्तर के अनुसार नवरसों का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—

शृङ्गार-हास्य-कदण-रोद्र-वीर-भयानकाः ।

बीभत्साद्भुत-शान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

[उद्भट काव्यायं० ४-४]

उद्भट ने भी शान्त रस को माना है। बल्कि उन्होंने एक प्रेयान् रस को और जोड़ कर रसों की संख्या दस कर दी है। उनका एकोक निम्न प्रकार है—

शृङ्गार-वीर-कषण-बीभत्सा-भयानकादभ्युता हास्यः ।

रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्याः रसाः सर्वे ॥

[छट्ट काव्यालङ्कार १२-९]

भाष्य रसों को मान कर शान्तरस का स्रष्टन करने वालों में दशरूपककार धनञ्जय और उनके टीकाकार धनिक का नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य है । धनञ्जय ने लिखा है—

शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ।

निर्वेदादिरताद्रप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।

वैरस्यायैव तत्पोषतेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥" [दशरूपक ४, ३-३६]

इसकी व्याख्या करते हुए धनिक ने लिखा है—

“इह शान्तरस प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः । केचिदाहुः नास्त्येव शान्तो रसः । तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभाव वर्ययन्ति । भनादिकालप्रवाहायातरामद्वेषोरुच्छेत्सुमाशयत्वात् । अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भाव वर्ययन्ति । एव वदन्तः शममपि नेच्छन्ति । यथा तथा भस्तु । सर्वथा नाटकादी भ्रमिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते । तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्य भ्रमिनयायोगात् ।

[दशरूपक ४, ३५-३६]

दशरूपककार के शान्तरस के विरोधी होने पर भी नाट्यशास्त्र के प्रमुख व्याख्याता उद्भट्ट, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि ने शान्तरस की सत्ता स्वीकार की है और उसे नाट्यरस माना है इसलिए उसका निषेध करना उचित नहीं है । नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र भी इस विषय में अभिनवगुप्त के साथ हैं । रस के भेद करते हुए उन्होंने लिखा है—

शृङ्गार-हास्य-कषणाः, रौद्र-वीर-भयानकाः ।

बीभत्साद्भूत-शान्ताश्च, रसाः सद्भिर्नैव स्मृताः ॥

[नाट्यदर्पण ३, ६]

(३) शान्तरस की स्थिति के बाद तीसरा प्रश्न शान्तरस के स्थायिभाव का है । शान्तरस का स्थायिभाव क्या है ? इस विषय में अनेक मत पाए जाते हैं । मम्मट ने 'निर्वेद' को शान्तरस का स्थायिभाव बतलाते हुए 'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः [का० प्र० सूत्र ४०, का० ३५] । भरतमुनि ने व्यभिचारीभावों की गणना करते समय 'निर्वेद' को सबसे पहिला व्यभिचारी भाव गिनाया है । तब उसे शान्तरस का स्थायिभाव कैसे कहा जा सकता है ? यह शंका हो सकती है इस बात को मन में रख कर काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उसका समाधान करने का यत्न किया है । उनका कहना है कि 'निर्वेद' स्वरूपतः अमञ्जल रूप है । उसको व्यभिचारि-भावों की गणना में सबसे पहिले नहीं गिनना चाहिए था । किन्तु भरत मुनि ने उस भ्रमाङ्गलिक 'निर्वेद' का जो सबसे पहिले प्रहण किया है, वह इसलिए किया है कि 'निर्वेद' एक ऐसा भाव है जो व्यभिचारिभावों में परिगणित होने पर शान्तरस का स्थायिभाव है । उसकी स्थायिता की सूचना के लिए ही भरत मुनि ने 'निर्वेद' का प्रहण सबसे पहिले किया है । मम्मट ने अपने इस अभिप्राय को निम्न प्रकार से प्रकट किया—

"निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽपि उपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिता-
ऽभिधानार्थम् ।"

[काव्य प्रकाश ज्ञानमण्डल पृ० १३८]

सङ्गीतरत्नाकर में भी इसी युक्तिक्रम से निर्वेद को शान्त रस का स्थायिभाव सिद्ध करते हुए लिखा है—

उद्दिश्य स्थायिनः, प्राप्ते समये व्यभिचारिणाम् ।
अमङ्गलमपि ब्रूते पूर्वं निर्वेदमेव यत् ॥
मुनिर्मेनेऽस्य सन्नूनं स्थायिता-व्यभिचारिते ।
पूर्वापरान्वयो ह्यस्य मध्यस्थस्यानुपङ्गतः ॥

[सङ्गीतरत्नाकर १३१५-१३१६]

नाट्यदर्पणकार इस बात को नहीं मानते हैं। उनके मत में 'निर्वेद' केवल व्यभिचारि-
भाव है, स्थायिभाव नहीं है। इसलिए उसे शान्तरस का स्थायिभाव नहीं कहा जा सकता है।
उन्होंने लिखा है—

"अथ च [निर्वेदः] रसेष्वनियतत्वात् कादाचित्कत्वाच्च व्यभिचारी, न स्थायी ।"

[नाट्यदर्पण ३-२८]

अभिनवगुप्त ने भी निर्वेद को शान्तरस का स्थायिभाव नहीं माना है। उन्होंने
विस्तार पूर्वक इसका खण्डन करते हुए अभिनवभारती में पृ० ६१३-६१७ तक इसका विवेचन
किया है। उसके अन्त में लिखा है कि—

"तत्रत्य तत्त्वज्ञानमेवेदं तत्रज्ञानमालया परिषोष्यमाणमिति न निर्वेद-स्थायी, किन्तु
तत्रज्ञानमेव स्थायीति भवेत् ।"

[अभिनवभारती पृ० ६१७]

इससे यह स्पष्ट है कि युक्तिक्रम के भिन्न होने पर भी निर्वेद शान्तरस का स्थायिभाव
नहीं है इस विषय में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र अभिनव गुप्त के साथ हैं।

नाट्य दर्पण का विषय—

रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ की रचना यद्यपि भरत मुनि के नाट्य-
शास्त्र के आधार पर की है किन्तु इन दोनों में बहुत अन्तर है। नाट्य शास्त्र ३६ अध्यायों का
एक दिग्गल विश्वकोष है जिसमें प्रायः सभी खलित कलाओं का उल्लेख पाया जाता है। उसके
सामने 'नाट्यदर्पण' बहुत छोटा सा ग्रन्थ है। इनमें नाट्यशास्त्र के केवल १८वें अध्याय में
वर्णित विषय का ही प्रतिपादन किया गया है। नाट्य शास्त्र के १८वें अध्याय का 'दशरूपक-
निरूपणाध्याय' है। इसमें १ नाटक, २ प्रकरण, ३ व्यायोग, ४ समवकार, ५ भाण, ६ प्रहसन,
७ टिम, ८ अङ्क ९ ईहामृग और १० वीथी इन दस प्रकार के रूपकों का वर्णन किया गया है।
इसीलिए इस अध्याय को 'दशरूपक-निरूपणाध्याय' कहते हैं। इसी अध्याय के आधार पर धनञ्जय
ने 'दशरूपक' की रचना की थी और उसी के आधार पर रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण'
की रचना की है।

नाट्यशास्त्र के १८वें अध्याय का नाम 'दशरूपकाध्याय' है, किन्तु उसमें पूर्वोक्त दस
मुद्र रूपकों के निरूपण के साथ उनके संस्कार से अन्य दो रूपकों का भी वर्णन किया है। ये

भेद नाटक तथा प्रकरण इन दोनों के मिश्रण से बनते हैं। भरत मुनि ने इनका विधान भिन्न श्लोक में किया है—

भनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः ।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसज्ञाश्रिते काव्ये ॥

[नाट्यशास्त्र १८, ५७]

श्लोक का अर्थ कुछ स्पष्ट सा है किन्तु इसका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि नाटक तथा प्रकरण इन दोनों के योग से एक नाटिका या नाटी नाम से प्रसिद्ध भेद समझना चाहिए। अथवा दूसरा प्रकरण नामक अप्रसिद्ध भेद समझना चाहिए। ये दोनों 'नाटी' नाम से कहे जाते हैं।

इस श्लोक की अस्पष्टता के कारण कुछ लोग 'नाटिका' तथा 'प्रकरणों' दो सही भेद मानते हैं और कुछ लोग दोनों के सङ्कर से बना हुआ केवल एक सङ्कीर्ण भेद मानते हैं और उसे 'नाटी' या 'नाटिका' नाम से कहते हैं। दशरथकरकार धनञ्जय 'नाटिका' रूप केवल एक सङ्कीर्ण भेद मानते हैं और 'नाट्यदर्शणकार' 'नाटिका' तथा 'प्रकरणों' रूप दो सङ्कीर्ण भेद मानते हैं। दशरथकर की व्याख्या करने वाले पत्रिक ने दो भेद मानने का खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है—

“अत्र केचित्—

भनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः ।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसज्ञाश्रिते काव्ये ॥

“इत्यमुं भरतीयं श्लोकं, 'एको भेदः प्रख्यातो नाटिका रूपः, इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिका-संज्ञो, नाटीसंज्ञा पूर्व काव्ये आश्रिते' इति व्याचक्षाणः। प्रकरणिकामपि मन्सन्ते। तदसत्। उद्देश-लक्षणयोरनभिधानात्। समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात्। वस्तु-रस-नायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकायाः। अत्रोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यन्मुनिना लक्षणं कृतं तत्रायमभिप्रायः—शुद्धलक्षण-सङ्करादेश तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं सङ्कीर्णानां नाटिकैव कर्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते।”

[दशरथकर ३-४३वीं टीका]

इसका अभिप्राय यह है कि 'भनयोश्च बन्धयोगात्' इत्यादि भरतमुनि के श्लोक के आधार पर कुछ लोग नाटिका और प्रकरणों दो सङ्करकृत भेद मानते हैं। किन्तु उनकी यह मान्यता अनुचित है। इसके चार कारण हैं। १. नाटिका तथा प्रकरणों नाम से दो अलग-अलग भेदों का उद्देश्य अर्थात् नाममात्र से कथन किया गया है और न लक्षण। २. यदि नाटिका तथा प्रकरणों दोनों का लक्षण एक सा ही माना जाय तो उनमें भेद नहीं रहता है। ३. प्रकरणों का अलग भेद मानने वाले उसका जो लक्षण करते हैं उसके अनुसार 'प्रकरणों' की वस्तु, रस और नायक सब 'प्रकरण' के समान होते हैं इसलिए उसे 'प्रकरण' से अलग मानना असंजत हो जाता है। इसलिये प्रारम्भ में कथित 'उद्दिष्ट' न होने पर भी भरतमुनि ने 'नाटिका' का जो लक्षण किया है उसका यह अभिप्राय है कि सङ्करभेदों में से केवल एक 'नाटिका' की रचना करनी चाहिए।

धनिक द्वारा किए इस उत्कट विरोध के बाद भी रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'प्रकरणों' की 'नाटिका' भिन्न रूपक भेद मान कर उसका लक्षण किया है—

'एव प्रकरणं किन्तु नेता प्रकरणोदितः।'

अर्थात् नाटिका के समान चतुरङ्गत्व प्रादि धर्मों से युक्त 'प्रकरणों' होती है। किन्तु इसमें भेद यह है कि नाटकोक्त राजादि नायक के स्थान पर प्रकृतोक्त यणित् प्रादि नायक होता

है। इस नायक-भेद के कारण ही इसके नाम का भेद हो जाता है। 'नायकानुमारित्वात् सर्व-व्यवहागणाम्' क्योंकि सारे व्यवहार नायक के अनुसार ही होते हैं इसलिए प्रकरणीय नायक होने के कारण चतुरङ्गत्व आदि धर्मों से युक्त रूपक भेद को 'प्रकरणी' कहते हैं यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है। इस प्रकार नाट्यदर्पण में १० मुख्य रूपक तथा नाटिका एव प्रकरणी रूप दो सङ्कीर्ण भेदों को मिलाकर कुल १२ प्रकार के रूपकों का वर्णन किया गया है।

दशरूपककार धनञ्जय ने दस प्रकार के मुख्य रूपकों के साथ 'नाटिका' रूप एक सङ्कीर्ण भेद को मिला कर ११ रूपको का निरूपण किया है। फिर भी उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' ही रखा है। इसका कारण कुछ तो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में १०वें अध्याय के लिए प्रयुक्त होने वाला 'दशरूपकनिरूपणाध्याय' नाम है। उसमें भी नाटिका सहित ११ भेदों का निरूपण होने पर भी उसका नाम 'दशरूपकनिरूपणाध्याय' रखा गया है। उसीके अनुकरण पर धनञ्जय ने भी अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' रखा है। इसके साथ धार्मिक भावना के अनुसार विष्णु के दस अवतारों के साथ भरतमुनि के दशरूपकों का सम्बन्ध जोड़ना भी इसका एक कारण है। अपने मञ्जुलाचरण में इस सम्बन्ध को दिसलाते हुए निम्न श्लोक लिखा है—

“दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावनाः।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥”

[दशरूपक १, २]

जिस प्रकार यहाँ धनञ्जय ने रूपकों की दश संख्या का अपने दृष्ट देव विष्णु [धनञ्जय के पिता का नाम भी विष्णु ही था] के दस अवतारों के साथ सम्बन्ध जोड़ कर अपनी धार्मिक भावुकता का परिचय दिया है, इसी प्रकार नाट्यदर्पणकार रामचन्द्रगुणचन्द्र ने रूपकों की द्वादश संख्या का अपने धर्म में प्रतिपादित आचार से लेकर दृष्टिवाद-पर्यन्त द्वादश मञ्जी के साथ सम्बन्ध जोड़ कर ही अपना मञ्जुलाचरण श्लोक लिखा है—

“सर्ववैगंफलो नित्यं, जैनीं वाचमुपास्महे।
रूपैर्द्वादशभिर्विधैः यथा न्याय्ये धृतं पथि ॥”

[नाट्यदर्पण १-१]

इस प्रकार दस के स्थान पर १२ रूपक भेदों का निरूपण नाट्यदर्पण का प्रतिपाद्य विषय है। इस विषय का प्रतिपादन करने के लिए ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ को चार भागों में विभक्त किया है। उन्हें 'विवेक' नाम से निर्दिष्ट किया है। प्रथम विवेक में उन्होंने केवल नाटक का निरूपण किया है। द्वितीय विवेक में 'प्रकरणी' आदि छेप ११ रूपक भेदों का निरूपण किया है। इस प्रकार अपने मुख्य प्रतिपाद्य विषय अर्थात् द्वादश रूपकों के सहायकों का प्रतिपादन उन्होंने दो विवेकों में ही कर दिया है। उसके बाद तृतीय विवेक में नाटक से सम्बद्ध वृत्ति, रस, भाव और अस्मिन्नादि का विवेचन किया है, और चतुर्थ विवेक में कुछ ऐसी बातों को वर्णन किया है जो सारे रूपकों में समान रूप से उपयोग में आने वाली हैं। इसलिए इस विवेक का नाम 'सर्वरूपकसाधारणसहाय-निरूपण' रखा गया है। दशरूपककार धनञ्जय ने नाटक के अतिरिक्त अन्य रूपक भेदों के निरूपण में बहुत सधेय से काम लिया है। अधिकांश रूपकों का निरूपण उन्होंने दो चार श्लोकों में ही समाप्त कर दिया है। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्रगुणचन्द्र ने नाटक के समान अन्य रूपक भेदों का निरूपण भी अर्थात् विस्तार के साथ किया है। इसलिए उनका निरूपण धनञ्जय की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और उपयोगी बन पड़ा है।

नाट्यदर्पण के उदाहरण—

नाट्यदर्पण का विषय-प्रतिपादन जैसे दशरूपक की अपेक्षा अधिक विस्तृत और विस्तृत है, इसी प्रकार उसके उदाहरणों का क्षेत्र भी दशरूपक की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपने प्रतिपाद्य विषय के स्पष्टीकरण के लिए इस ग्रन्थ में जो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं वे प्रायः ६३ नाटकों से लिए गए हैं। इन ६३ नाटकों की सूची बहुत लम्बी है। दशरूपक में यह बात कहां है ? इन ६३ नाटकों में ११ नाटक तो स्वयं रामचन्द्र के अपने बनाए हुए नाटक हैं। भवभूति के (१२) उत्तर रामचरित (१३) महावीर चरित और (१४) मानती माधव तीनों नाटक इस सूची में उपस्थित हैं। इसी प्रकार कालिदास के (१५) अभिज्ञान शाकुन्तल, (१६) विक्रमोर्वशीय तथा (१७) मालविकाग्निमित्र इन तीनों नाटकों के उदाहरण इसमें प्रस्तुत किए गए हैं। यह बात विशेष रूप से उल्लेख योग्य है कि इसमें 'मालविकाग्निमित्र' का नाम सर्वत्र 'मालतिकाग्निमित्र' दिया गया है। विशाखदेव कुन (१८) मुद्राराक्षस नाटक के साथ उनके (१९) देवीचन्द्र युत नाटक के उदाहरण भी इसमें दिए गए हैं। मुरारिकविक के (२०) अनघंराघय, श्रीहर्ष के (२१) नागानन्द, और (२२) रत्नावली, (२३) पृथ्वी के मृच्छकटिक, (२४) मट्ट नारायण के वेशीसहार के उदाहरण भी दिए गए हैं। (२५) भास के स्वप्नवासवदत्तम् तथा (२६) दरिद्रवाहदत्तम् नाटकों का उल्लेख इसमें आया है। इसमें विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि भास के स्वप्नवासवदत्तम् से 'पादाक्रान्तानि पुष्पाणि' इत्यादि एक ही श्लोक [वा० ५३ में अनुमान के उदाहरण रूप में] दिया गया है किन्तु यह श्लोक 'स्वप्नवासवदत्तम्' के वर्तमान मुद्रित संस्करणों में नहीं पाया जाता है। और भास के 'वहदत्त' वा यहाँ 'दरिद्रवाहदत्त' नाम से उल्लेख किया गया है। (२७) कुन्दमाला नाटक के उदाहरण भी आए हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने उसे 'वीरमार्ग' की रचना बतलाया है जब कि वर्तमान उपनव्य 'कुन्दमाला' नाटक दिङ्नाग की कृति है। सम्भव है दिङ्नाग वा ही दूसरा नाम 'वीरनाग' ही। अमात्य शकुन के (२८) 'चित्रोत्पलानलम्बितम्' नाटक के उदाहरण भी इसमें दिए हैं। पता नहीं यह शकुन भरत के व्याख्याकार शकुन हैं या कोई दूसरे। बाणभट्ट की (२९) कादम्बरी, (३०) कालिदास के कुमारसम्भव, गुणादय की (३१) दूहकथा, व्यास के (३२) महाभारत और भर्तृहरेण के (३३) हयग्रीवध्वज के उदाहरण भी दिए गए हैं। ये ३३ ग्रन्थ तो प्रायः प्रतिष्ठित ग्रन्थ हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त प्रायः ३० ऐसे ग्रन्थों के उदाहरण भी रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अपने इस नाट्यदर्पण में प्रस्तुत किए हैं जो अत्यन्त अप्रसिद्ध हैं और अब तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। उनका कुछ थोड़ा सा परिचय देना आवश्यक है। अतः हम इनका सामान्य परिचय नीचे दे रहे हैं।

नाट्यदर्पण में उद्धृत ३५ अल्पग्रन्थ—

१. अनङ्गवती नाटिका—नाट्यदर्पण के तृतीय अनुच्छेद के आरम्भ में सीसरी कारिका की व्याख्या में पूर्वर्ज के अन्त में 'स्थापक' द्वारा 'आमुख' के अनुष्ठान के उदाहरण के लिए "तथा च 'अनङ्गवती' नाटिकाया दृश्यते 'पूर्वरङ्गान्ते स्थापक' इति" इस रूप में अनङ्गवती 'नाटिका' का उल्लेख केवल एक बार किया गया है। और कहीं भी इसका उल्लेख नहीं मिलता है। इसका निर्माण किसने और कब किया इसका परिचय प्राप्त होना सम्भव नहीं है। ग्रन्थ के अल्पग्रन्थ होने से उसकी कथावस्तु का भी पता नहीं चल सकता है।

भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' [११-१४७] हेमचन्द्र के 'काम्यानुशासन' [८, ३३९] तथा चारदातनय के 'भावप्रकाशन' [पृ० २६७ अधि ९] में 'अनङ्गवती' का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

“सुद्रकथा मन्थुली येह महाराष्ट्रभाषया भवति ।
गोरोचनेव कार्या सानङ्गवतीव वा कविभिः ॥”

[शृंगारप्रकाश ११-१४७]

“प्रेतमहाराष्ट्रभाषया सुद्रकथा गोरोचनानङ्गवत्यादिवत् मन्थुलिका ।

सुद्रकथा मन्थुली प्रेत महाराष्ट्रभाषया भवति ।

गोरोचनेव कार्या सानङ्गवतीव वाकंघेटी [कवि] भिः ॥”

[काव्यानुशासन सविवेक नि० सा० पृष्ठ ३३६]

‘सुद्रकथा मत्तलिका येह महाराष्ट्रभाषया भवति ।

गोरोचनेव कार्याऽनङ्गवती मावरसविषा ॥”

[भावप्रकाशन पृ० २६७, अर्थ ६]

इन तीनों ग्रन्थों में जिस ‘अनगवती’ का उल्लेख मिलता है वह नाट्यदर्पण में उद्धृत ‘अनगवती’ नाटिका से भिन्न कोई और ही चीज है । क्योंकि ‘नाट्यदर्पण’ की ‘अनगवती नाटिका’ जैसा कि उसके ‘पूवरगाग्ने स्थापक’ इस उद्धरण से प्रतीत होता है । सम्वृत भाषा में लिखी गई नाटिका है, और शृंगारप्रकाश आदि तीनों ग्रन्थों में उल्लिखित ‘गोरोचना अनगवती’ महाराष्ट्र की प्रेत भाषा में लिखी हुई कोई सुद्र कथा है जिसे महाराष्ट्र भाषा में ‘मन्थुली’ कहते हैं । इस लिए नाट्यदर्पण की अनगवती नाटिका उससे बिल्कुल भिन्न है ।

क्षेमेद्र की ‘बृहत्कथामञ्जरी’ [१५८-१६] में एक अनगवती के चरित का उल्लेख मिलता है । सम्भव है कि ‘नट्यदर्पण’ वाली ‘अनगवती नाटिका’ की रचना इसी कथा के आधार पर की गई हो, और जैसे उदयन-वासवदत्ता की कथा के आधार पर अनेक नाटकों की रचना हुई है इसी प्रकार ‘अनगवती’ की यह कथा भी महाराष्ट्र की प्रेत भाषा में सुद्र कथा के रूप में प्रसिद्ध हुई हो । इन सबके होने पर भी ‘नाट्यदर्पण’ की ‘अनगवती नाटिका’ के कर्ता आदि का विषय बिल्कुल अन्वयकार में रहता है ।

२ अनङ्गसेनाहरिनिदिप्रकरणम्—‘नाट्यदर्पण’ के प्रथम विवेक में ‘अमरं सन्धि’ के पाँचवें अंग ‘छादन’ के निरूपण में ग्रन्थकार ने—

“यथा श्री सुक्तिवासकुमारविरचिते अनङ्गसेनाहरिनिदिनि प्रकरणे नवमेऽङ्के राजपुत्र चन्द्रकेतुना दत्त वर्णानन्द्यायुगल नायिकाया माधव्या नायकस्य प्रेषितम् ।”

इत्यादि रूप में ‘अनङ्गसेना-हरिनिदिप्रकरणम्’ का उल्लेख किया है, और उसे ‘सुक्तिवास कुमार’ की कृति बतलाया है । किन्तु ये ‘सुक्तिवासकुमार’ कौन हैं ? इसका कुछ पता नहीं चलता है । इसलिये उनके बाल आदि का निश्चय नहीं किया जा सकता है ।

३. अभिनवराषयम्—नाट्यदर्पण के सुतीव विवेक में ‘प्ररोचना’ के अष्टाण के प्रसंग में ग्रन्थकार ने निम्न प्रकार से केवल एक बार इस नाटक का उल्लेख किया है—

‘यथा दीरस्वामिविरचितेऽभिनवराषये—

स्यावकः—(सहर्षम्) धार्ये ! विरस्य स्मृतम् ।

धरयेव राषयमहीनकथा पवित्र,

नाम्यप्रबन्धघटना प्रदितप्रविमनः ।

मट्टेन्दुगत्र परलाङ्गमपुत्रस्य,

सीरस्य नाटकमन्यमानसारम् ।”

यह नाटक तो नहीं मिलता है, किन्तु इस श्लोक में उसके कर्ता प्रादि का पद्यांश परिचय दे दिया गया है। इसके अनुसार 'भग्निवराधव' के निर्माता क्षीरस्वामी, भट्टेन्दुराज के शिष्य हैं। ये भट्टेन्दुराज भग्निवपुत्र के भी गुरु हैं। ध्वन्यालोक की 'लोचन' टीका में भग्निवपुत्र ने इनका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

भट्टेन्दुराजवरगान्जहताधिवास,
हृद्यश्रुतीभग्निवपुत्रपदाभिषोऽहम् ।
यत् किञ्चिदभ्यनुरागान् स्फुटयामि वाग्या—
लोकं सुलोचन-नियोजनया जनस्य ॥

यथाऽम्भुदुराग्यायभट्टेन्दुराजस्य ।" [ध्वन्यालोकलोचन पृ० ४३, ११६]

इससे प्रतीत होता है कि भग्निवराधव के निर्माता क्षीर स्वामी वदाचित् भग्निवपुत्र के सहपाठी हैं। 'नाट्यदर्पण' के प्रतिरिक्त (१) कहलए कृत राजतरंगिणी, [तरंग ४, श्लोक ४६९], (२) अमरकोश के व्याख्याता क्षीरस्वामी, (३) हेमचन्द्राचार्यकृत सिद्धहेमशब्दानुशासन [शं० १, पृ० ४४] तथा हेमचन्द्र की ही 'भग्निघानचिन्तामणि' की श्लोपज्ञानामालाविवृति [पृ० ३६०, ४६१] में भी क्षीरस्वामी के नाम का उल्लेख पाया जाता है। ये सब क्षीरस्वामी वदाचित् एक ही व्यक्ति रहे होंगे। उस दशा में क्षीरस्वामी ने भग्निवपुत्र के काल में ही रामचन्द्र के चरित को लेकर अपने इस 'भग्निवराधवम्' नाटक की रचना की होगी। पर यह इस समय उपलब्ध नहीं हो रहा है।

(४) भ्रजुंनचरितम्—नाट्यदर्पण के तृतीय विवेक में विरुद्ध रसों के विरोध या अविरोध की व्यवस्था के प्रकरण [का० १-२३] में 'भ्रजुंनचरित' का एक श्लोक केवल एक बार निम्न प्रकार उद्धृत किया गया है—

यथा भ्रजुंनचरिते—

समुत्थिते धनुर्ध्वनौ भयावहे किरीटिन ।
महानुपप्लवोऽभवत् पुरे पुरन्दरद्विषाम् ॥

अत्र नायकस्य वीरः प्रतिपक्षाणां तु भयानक ।"

'भ्रजुंनचरित' के लेखक का यहा नाट्यदर्पणकार ने कोई उल्लेख नहीं किया है किन्तु इसके निर्माता ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन हैं। यह आनन्दवर्धन का लिखा एक महाकाव्य है। आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक में दो बार इसका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

'विश्वत्रिवधे हि भयातिशयवर्णने नायकस्य भयपराक्रमादिसम्पत् सुनरामुचोतिता भवति । यथा मदीये भ्रजुंनचरिते भ्रजुंनस्य पातालान्तरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम् ।"

आनन्दवर्धन का यह भ्रजुंनचरित नाटक नहीं अपितु महाकाव्य है इस बात का उल्लेख भी उन्होंने स्वयं ही किया है—

"यथा च मदीय एव भ्रजुंनचरिते महाकाव्ये × × ×"

छट्ट के काव्यालङ्कार की टीका में 'नमि साधु' ने 'भ्रजुंनचरित आनन्दवर्धनाचार्यकृत प्राकृतकाव्यम्' लिख कर 'भ्रजुंनचरित' को प्राकृत का काव्य बतलाया है। किन्तु उनका

यह कथन ठीक नहीं है। जो श्लोक यहाँ नाट्यदर्पणकार ने उद्धृत किया है वह संस्कृत का पद्य है, इसलिए यह स्पष्ट है कि अर्जुनचरित ग्रानन्दर्वधनाचार्य का सस्कृत महाकाव्य है। नमिसाधु ने बिना देखे ही अनुमान से उसे प्राकृत काव्य कह दिया है। यह काव्य इस समय उपलब्ध नहीं है, इसलिए उसका नाम अत्रिमिद्व ग्रन्थों की सूची में दिया है।

(५) इन्दुलेखानाटिका—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में निर्वहण सन्धि के काव्य-संहार नामक अङ्ग के निरूपण के प्रसङ्ग में [कारिका ६२] ग्रन्थकार ने इन्दुलेखा नाटिका का एक प्राकृत भाग उद्धृत किया है [ना० ६० १, ६५]। किन्तु इस नाटिका का कर्ता कौन है? इसका कोई परिचय अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

(६) इन्दुलेखाश्रीयी—नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'बीधी' के पाँचवें अङ्ग त्रिगत [का० ३३] के निरूपण के प्रसङ्ग में—

< \ "यथो इन्दुलेखायो धीष्यति—
राजा—वयस्य !

किं नु कलहमनादो, मधुरो मधुराभिना नु भ्रकारः ?

हृदयगृहदेवतायास्तस्या नु सन्नपुत्रद्वरणः ॥ इति"

यह एक श्लोक उद्धृत किया है। महाराज भोज के 'शृङ्गार प्रकाश' [१२-१८८] तथा शारदातनय के 'भावप्रकाशन' [अधि ८, पृ० २३१] में भी यही पद्य इसी नाम से उद्धृत किया गया है। किन्तु 'भावप्रकाशन' में 'हृदयगतदेवताया.' के स्थान पर 'हृदयगतवेदनाया.' पाठ दिया गया है। नाट्यदर्पण तथा शृङ्गारप्रकाश का पाठ एक ही है, और अधिक अच्छा पाठ है। जैसा कि नाम से ही प्रकट है 'इन्दुलेखा नाटिका' तथा 'इन्दुलेखा बीधी' एक ही कथानक पर ऊपर लिखे हुए दो अलग ग्रन्थ हैं किन्तु दोनों में से किसी के भी कर्ता का पता नहीं मिलता है।

(७) उदयनचरितम्—नाट्यदर्पण के तृतीय विवेक में आरभटी वृत्ति के निरूपण में 'छप्' के उदाहरण रूप में उदयनचरिते किलिञ्जहृत्तिप्रयोग.' (पृ० १४०) इस रूप में 'उदयनचरित' का उल्लेख किया है। 'दशरूपक' की 'अवलोक' टीका में [२, ५७], और साहित्यदर्पण [६-१३५] में भी इसी रूप में उदयनचरित का उल्लेख किया गया है। वैसे उदयन की कथा सस्कृत साहित्य में अत्यन्त प्रसिद्ध और बड़ी ध्यापक कथा है। मूलतः उदयन का चरित बृहत्कथा से लिया गया है, और उसके आधार पर अनेक नाटकों की रचना हुई है। सम्भव है उसके आधार पर 'उदयन चरित' नामक किसी नाटक की रचना हुई हो। पर वह न उपलब्ध है और न उसके कर्ता का कोई पता चलता है। यहाँ जिस रूप में उसका उल्लेख हुआ है उससे किसी विशेष नाटक के रूप में नहीं, अपितु सामान्य रूप से उदयन-कथात्मक उदयनचरित का ग्रहण करने से भी काम चल सकता है। वैसे भास के काव्यालङ्कार में विजिगीषुमुपन्यस्य वरमेघ वृद्धदर्शनम् [४-३६], बालिदास के मेघदूत में 'प्राप्यावन्तीमुदयनकथाकोविदप्रामवृद्धान्,' आचार्य हरिभद्रमूरि के 'भावशयक सूत्रवृत्ति' में [पृ० ६६-६७, ६७३, ६७५], आचार्य हेमचन्द्र विरचित त्रिपट्टिसाक्षा-पुरुषचरिते [पर्व० १० रा ११ १८४-२६५], सीमप्रभ के 'कुमारपालप्रतिशोध' [पृ० ८०-८२] आदि जैन-ग्रन्थों में भी सामान्य रूप से उदयन की कथा का उल्लेख मिलता है। यह बात इस कथा की अत्यन्त लोकप्रियता की सूचक है।

(८) उवातराजशम्—नाट्यदर्पण में 'उवातराजशम्' नाटक का उल्लेख सीमप्रभार किया गया है। पहिली बार प्रथम विवेक की ४५ वीं कारिका की व्याख्या में, दूसरी बार

प्रथम विवेक की विलकुल समाप्ति पर और तीसरी बार चतुर्थ विवेक की द्वितीय कारिका की व्याख्या में। दशरूप' के आलोच-टीकाकार ने तृतीय प्रकाश की २५वीं कारिका की व्याख्या में 'यथा छद्मना वाञ्छितवो मायुराजेन उदात्तराघवे परित्यक्तः', इस रूप में उदात्तराघव का उल्लेख करते हुए उसे मायुराज की कृति बनलाया है। 'वक्रोक्तिजीवित-कार' कुन्तक ने भी 'यथा उदात्तराघवे कविना वैदग्ध्यवशेन मारीचमृग-मारणाय प्रयातस्य लक्ष्मणस्य परित्राणार्थं सीतया कातरत्वेन रामः प्रेरित इत्युपनिबद्धम्' इस रूप में 'उदात्तराघव' का उल्लेख किया है। इन दोनों उल्लेखों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस 'उदात्तराघव' के कवि ने रामचरित को उदात्त बनाने के लिए उसको कथावस्तु में नये संशोधन किए हैं। इसीलिए कुन्तक ने लिखा भी है कि—

"यथा (एकस्वामेव दाशरथिकथायां) रामाभ्युदय-उदात्तराघव-वीरचरित-वालरामायण-कृत्यारावण-मायापुष्पकप्रभृन्पः। ते हि प्रबन्धप्रवरास्तेनैव कथापार्शेण निरर्गलसासारगर्भ-सम्पदा प्रतिगर्दं प्रतिवाक्यं प्रतिप्रकरणं च प्रकाशमानामिनवमञ्जी - X X X
हर्षातिरेकमनेकशोभ्यास्वाद्यमानः समुत्पादयन्ति सहृदयानाम् ।"

[वक्रोक्ति जीवित पृ० ५३६]

'दशरूपकावली' में [३-५६, ३-३१, ४-२३, २८] उदात्तराघव के तीन श्लोक भी उद्धृत किए गए हैं। विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण [परि० ६, श्लोक २७, ५०, १५४] में इसके श्लोक उद्धृत किए हैं। भोजदेव के 'शृङ्गारप्रकाश' [पृ० १२], सरस्वती कण्ठाभरण [पृ० ६४५], हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन' की स्वोपेत फलङ्कारचूडामणिवृत्ति [पृ० १८०] में भी इसके उदाहरण दिए गए हैं। इससे यह नाटक अत्यन्त लोकप्रिय रहा प्रतीत होता है। राजशेखर ने 'मायुराज' को कलचुरि वत्त का कवि कहा है। ऐसा जल्हण-संश्रुहीत 'सूक्तिमुक्तावली' के निम्न लेख से प्रतीत होता है—

"राजशेखर—

मायुराजसमो जातो नान्यः कलचुरिः कविः ।

उदन्वतः समुत्तम्युः कति वा तुहिनोषवः ॥

[जल्हण-संश्रुहीत सूक्तिमुक्तावली ४५]

इस प्रकार बहुप्रशंसित, बहुचर्चित यह उदात्तराघव नाटक निश्चय ही अत्यन्त उच्चकोटि का नाटक रहा होगा, किन्तु दुर्भाग्य से इस समय यह उपलब्ध नहीं हो रहा है।

(९) कृत्यारावणम्—नाट्यदर्पणकार ने कृत्यारावण के १३ उदाहरण इस ग्रन्थ में दिए हैं। इसके 'भामुख' में से 'मवलगित' का उदाहरण [२-३६], प्रथम अङ्क से 'मघिबल' का उदाहरण [२-११] द्वितीय अङ्क से 'वष्प' का उदाहरण [१-५०], चतुर्थ अङ्क से 'प्रापिता' का उदाहरण [१-५३], षष्ठ अङ्क से 'विद्रव' का उदाहरण [१-५४], और अन्तम अङ्क से 'विरोध' और 'शक्ति' के उदाहरण में [१-५६, ६०] ७ उदाहरण तो अङ्क-निर्देश पूर्वक उद्धृत किए हैं। इनके प्रतिरिक्त रूप, छुति, छेद, भाव्य, धारभटी-वृत्ति, अङ्गीष्प इन ६ के उदाहरण अङ्कोल्लेख के बिना दिए हैं। इस प्रकार 'वेपल नाट्यदर्पण' में १३ बार 'कृत्यारावण' नाटक का उल्लेख हुआ है। इसके प्रतिरिक्त अभिनयशुप्त की अभिनयभारती [पृ० १८ पृ० ४१०, पृ० ५० पृ० १०४-१०५, पृ० २२ पृ० १७६ ख० २, पृ ४४४, ५२३, ५२४ ख० ३ पृ० १३, ४०] में ८ जगह भोजदेव के 'शृङ्गारप्रकाश' में प्र० १२, १८७, १६७, २०० तीन जगह, हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन-विवेक में एक जगह [पृ० ६, पृ० २७९] धारदातनय के 'भाव-

प्रकाशन' में [पृ० २३८, २४१] दो जगह श्रीर साहित्यदर्पण [परि० ६, श्लोक १२७] में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। कुन्तक ने भी वक्रोक्तिजीवित में इसका उल्लेख किया है। किन्तु 'दशरूपाकावलीक' में इसका एक बार भी उल्लेख नहीं मिला यह आश्चर्य की बात है। इतना प्रसिद्ध यह नाटक भी आज उपलब्ध नहीं हो रहा है, यह भी आश्चर्य की बात है।

(१०) कौशालिकानाटिका—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक की दसवीं कारिका की व्याख्या के प्रसङ्ग में केवल एक बार 'कौशालिकानाटिका' का उल्लेख आया है। इस उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि यह नाटिका वत्सराज उदयन के चरित्र को लेकर लिखी गई थी। नाट्यदर्पण में लिखा है—'यथा भद्रश्रीमवनुन (?) चूडाविरचितायां कौशालिकायां नाटिकायां कौशालिकाप्रातिमधिकृत्य प्रयत्नस्य वत्सराजस्य न प्रासङ्गिकम्।' इस नाटिका का अन्वय कोई उल्लेख नहीं मिलता है, श्रीर न यह नाटिका ही उपलब्ध होती है।

(११) चित्रोत्पलावलम्बितकं प्रकरणम्—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में गर्भसंदिग्ध के सातवें अङ्ग 'उद्वेग' के उदाहरण के प्रसङ्ग में अन्वकारने—

"यथा अमात्यशकुविरचिते चित्रोत्पलावलम्बितके प्रकरणे पञ्चमेऽङ्के नेपथ्ये सचीत्कारम्—"

इत्यादि रूप में 'चित्रोत्पलावलम्बितक' प्रकरण को अमात्य शकु की कृति घोषित किया है। शकु का नाम तो साहित्यशास्त्र के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। काव्यप्रकाशकार ने रस-निरूपण के प्रसङ्ग में चतुर्थ उल्लास में, अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में अनेक बार शकु का नाम उल्लेख किया है। किन्तु सब जगह उनके मत का खण्डन ही किया गया है। उदाहरणार्थ—

तेन शंकुकादिभिः × × × युयैव बहुतरमुपन्यस्तम् । [पृ० २ पृ० ६७]

शंकुकस्त्वाह × × × एतदप्यसत् । [पृ० ६, २७४]

यस्त्वन शकुकेनोक्तं × × × तदसत् [पृ० ६, २८२]

इति श्रीशकुकाः । एतच्च पूर्वपरविस्मरणविजृम्भितमस्य [अध्याय ६, २६३]

इसी प्रकार यहाँ नाट्यदर्पण में द्वितीय विवेक के 'बीषो' निरूपण के प्रसङ्ग में उनके मत की अनुसन्धेयता का प्रतिपादन करते हुए अन्वकार ने लिखा है—

'शकुकस्तु अथमप्रकृतेर्नायकत्वमनिच्छन् प्रहसन-भाणायो हास्यरसप्रधाने विटादे-र्नायकत्व प्रतिपादयन् कथमुदादेय स्यादिति ।'

[नाट्यदर्पण २-२८]

राजतरंगिणी [तं ४, ७०५] में—

कविदुर्घमन, सिन्धु घनांशु शकुनामिष ।

यमुद्दिवाकरोत् काव्य भुवनाम्बुदयामिषम् ॥

इत्यादि पद्य द्वारा शंकु की 'भुवनाम्बुदयम्' नामक काव्य का निर्माता बताया है। वत्सभदेव मणहीन 'गुभाषितावनि' में [४२६, ४३८, ४४१ ७५०, ८७३, ८७४, ९०८, १०३३, १२३४, ३१२७, ३३०८ मन्था के] ग्यारह पद्य शकु के नाम से उद्धृत किए गए हैं। नाट्यशास्त्र के व्याख्याता के रूप में उनकी विशेष प्रसिद्धि है। हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुमानन [पृ० २ पृ० ५७ वि०] श्रीर वत्सराजस्य के 'मावप्रकाशन' [पृ० ८ पृ० २५२], में भी शकु का उल्लेख किया

गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये शकुन ही इस 'विश्रोतपलावलम्बितक' प्रकरण के निर्माता होंगे। किन्तु वे किसके अप्रमात्य थे इसका पता नहीं चल रहा है। यह ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं है।

(१२) छलितराम—नाट्यदर्पणकार ने चार स्थानों पर 'छलितराम' नाटक के नाम का उल्लेख करते हुए उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। कुन्तक के वक्रोक्तिजीवित में भी 'छलितराम' का उल्लेख पाया जाता है। धनिक के 'दशरूपकावलोक' में [१-४१, ३-१३, १७] तीन स्थानों पर, भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' [प्र० ११, पृ० १२३] तथा सरस्वतीकण्ठाभरण [पृ० ३७७, ६४५] तथा विश्वनाथ के साहित्यदर्पण [परि० ६ पृ० २६१] में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। किन्तु न तो इसके कर्ता का पता चलता है और न यह ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है।

(१३) जामदग्न्यजय—'नाट्यदर्पण' के द्वितीय विवेक में 'व्यायोग' के लक्षण के प्रसङ्ग में 'मस्त्रीनिमित्त सग्राम' जिसमें स्त्री की प्राप्ति के लिए सग्राम न हो वह व्यायोग होता है। इसका उदाहरण दिखलाने के लिए—'मस्त्रीति भस्त्रपर्यसग्रामस्युक्तश्च। यथा—जामदग्न्यजे परशुरामेण सहस्राब्जुनस्य वैध. कृत। इस रूप में इस 'जामदग्न्यजय व्यायोग' का उल्लेख किया है। 'दशरूपक के मूल में श्री भवलोच' टीका में भी व्यायोग के लक्षण के प्रसङ्ग में 'मस्त्रीनिमित्त सग्रामो जामदग्न्यजये यथा' [३-६१], लिख कर इसका निर्देश इसी रूप में किया गया है। किन्तु इसकी रचना किसने कब की इसका कोई पता नहीं लगा है। यह ग्रन्थ भी इस समय उपलब्ध नहीं हो रहा है।

(१४) तरङ्गदत्तम्—नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'प्रकरण' के निरूपण प्रसङ्ग में का० ३ तथा ४ की व्याख्या में दो जगह 'तरङ्गदत्त' प्रकरण का उल्लेख किया गया है। धनिक के 'दशरूपकावलोक' [३-३८], सारदावनय के 'भावप्रकाशन' [अधि० ८, पृ० २४३] और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण [परि० ६ पृ० २२६] में भी इसका उल्लेख पाया जाता है किन्तु इसका कर्ता कौन है इस विषय में कोई पता नहीं चलता है, और न यह ग्रन्थ मिलता है।

(१५) देवीचन्द्रगुप्तम्—'नाट्यदर्पण' में सात बार देवीचन्द्रगुप्त नाटक का उल्लेख पाया है और उसे 'मुद्राराक्षसकार' विशालदेव या विशालदत्त की कृति बतलाया गया है। इन उदाहरणों से इस नाटक की कथावस्तु प्रायः स्पष्ट हो जाती है। राजा रामगुप्त ने प्रबल शक्त्यश्रय के शंभुने शर भयभीत रात्री ध्रुवदेवी को शकरराज को समर्पित कर देना स्वीकार कर लिया। बाद को रामगुप्त के भाई चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी के वैध में शकरराज के शिविर में गया और वहाँ पहुँच कर चन्द्रगुप्त ने शकरराज का वध कर डाला, यह इस नाटक की कथा है। इस कथा का उल्लेख 'हर्षचरित' में पाया जाता है—

'शकानामाचार्यं शकापिपतिं चन्द्रगुप्तघातुजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः, चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवैधपारिणा स्त्रीवैधजनपरिवृत्तेन रहति म्यापादित इति।'

[हर्षचरित उ० ५ पृ० २७०]

'शाम्यमोषांसा' में भी इस कथा का उल्लेख पाता है—

दरवा दृष्टपति ससापिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं

यस्माद् सन्दिग्धगहसो निवृत्ते श्रीरामगुप्तो नृपः।

[शाम्यमोषांसा प्र० १ पृ० ४०]

इस कथा को लेकर देवीचन्द्रगुप्त नाटक की रचना हुई है। उसका उल्लेख भी प्रनेक जगह पाया जाता है। किन्तु यह ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है।

मुद्राराक्षस तथा देवीचन्द्र गुप्त के अतिरिक्त 'अभिसारिकवञ्चितक' नामक एक और नाटक भी विशाखदेव ने बनाया था। इस बात का उल्लेख अभिनवभारती [प्र० २२ पृ० १६७, खण्ड ३ पृ० २८] तथा 'शृंगारप्रकाश' में मिलता है। यह नाटक वत्सराज उदयन के चरित्त को लेकर लिखा गया था, यह बात भी निम्न उद्धरणों से विदित होती है—

“यथा विशाखदेवनिबद्धे अभिसारिकवञ्चितके वत्सेशस्य पद्मावती शम्भरीवेपाद्याचरण-
रूपात् लीलाचेष्टितात् कामः प्रत्यानीतः।” [प्र० भा० प्र० २२ पृ० १६७]

“यथा श्रीविशाखदेवकृते अभिसारिकावञ्चितके वत्सराजः सम्भावितपुत्रवधायै
पद्मावत्यै क्रुद्धमथा चाम्यधात्।” [शृंगारप्रकाश प्र० २२ पृ० १६७]

१६. पयोधिमयनम्—नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'समवकार' के निरूपण प्रसंग में 'अत्र द्वादश नेतारः फलं तेषां पृथक् पृथक्' [कां० २-१२] के उदाहरण में 'यथा पयोधिम-
मयने हरि-बलि-प्रभृतीना लक्ष्म्यादिलामाः' इस रूप में 'पयोधिमयन' का उल्लेख होने से यह 'समवकार' प्रतीत होता है। 'दशरूपक' के समवकार निरूपण में भी 'बहुवीररसाः सर्वे यद्दम्भो-
धिमन्यने' [३-६४] इस रूप में 'दम्भोधिमयन' का उल्लेख किया गया है। यह 'पयोधिमयन' का ही दूसरा नामान्तर है। भोमदेव के 'शृंगारप्रकाश' में [प्र० ११ पृ० १४८] तथा हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन' में अषष्ठश भाषा में लिखे गए एक 'अधिमयन' का उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है—

“योऽत्र भ्रंशनिबद्धो मात्राछन्दोभिरभिमतोऽप्यधियाम् ।

वाच्यः स सन्धिबन्धः क्षतुमुञ्चोक्तान्धिमयनादि ॥”

[शृंगारप्रकाश पृ० २१, पृ० १४८]

अषष्ठशभाषानिबद्धसन्धिबन्धमयनादि । [काव्यानुशासन प्र० ८ पृ० ३३७]

पता नहीं इसी 'अधिमयन' को नाट्यदर्पण कार ने यहाँ 'पयोधिमयन' के नाम से निर्दिष्ट किया है, या यह कोई अलग ग्रन्थ है। न यह ग्रन्थ मिलता है और न उसके कर्ता प्रादि का पता चलता है।

१६. पाण्डवानन्दम्—नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'वीथी' के 'उद्घात्यक' नामक ११वें अंग के उदाहरण में पाण्डवानन्द का सूत्रधार तथा पारिपदिक् की उक्ति-प्रत्युक्ति रूप 'वा भूषा बलिनां क्षमा' इत्यादि एक श्लोक उद्धृत किया गया है। उसकी अवतरणिका में—'यथा पाण्डवानन्दे सूत्रधार-परिपादिवकयोर्द्विप्रत्युक्ति—' इस रूप में 'पाण्डवानन्द' का उल्लेख किया गया है। 'वीथी' के प्रसंग में निर्दिष्ट होने के कारण यह 'वीथी' ही ऐसा अनुमान होता है। 'दशरूपकावलोक' में 'उद्घात्यक' के उदाहरण रूप में तनिक से पाठ भेद के साथ यही पद्य उद्धृत किया गया है। 'अभिनवभारती' [प्र० १८ पृ० १४४] में भी 'पाण्डवानन्द' का यह पद्य उद्धृत हुआ है और वारदातनय के 'भावप्रकाशन' [पृ० २३०] में भी यह पद्य 'पाण्डवानन्द' से उद्धृत पाया जाता है। किन्तु इसका कर्ता कौन या इसका कुछ भी पता नहीं चलता है और न यह ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है।

१७. पार्यविजयम्—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में प्रतिमुख सन्धि के आठवें अंग 'ताप' तथा 'अनुमर्षण' के निरूपण के प्रसंग में 'यथा पार्यविजये' लिख कर तीन बार 'पार्यविजय' के उद्धरण दिए गए हैं। भोजराज के 'शृंगार प्रकाश' में भी [पृ० १२, प्रा० वि० पृ० १६४, १६७ १९९] साम, दून रूप सन्ध्यंगों के उदाहरण रूप में 'पार्यविजय' के कुछ अंश उद्धृत किए गये हैं।

"तत्र पुंनोऽपि ह्यीः यथा 'पार्यविजये' गन्धर्वैः पराजितस्य बद्धस्य अर्जुनेन विक्रम्य गोचित्तम्य दुर्गोधनस्य ।"

"नत्र साम यथा पार्यविजये भगवान् वासुदेवो दीत्येन गतो दुर्गोधनमाह"

[शृंगारप्रकाश प्र० १२, प्रा० वि० पृ० १९७, १९९]

'सूक्तमुक्तावली' में राजशेखर के नाम से निम्न पद्य उद्धृत हुआ है—

कर्तुं त्रिलोचनादन्यः कः पार्यविजयं क्षमः ।

तदर्थः शक्यते द्रष्टुं लोचनद्वयिभिः कथम् ॥"

[सूक्तमुक्तावली वि० रि० २, ६३]

इस श्लोक से प्रतीत होता है कि इस 'पार्यविजय' के निर्माता त्रिलोचन कवि हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक वाचस्पति मिश्र ने 'व्यापवातिक-तात्पर्यटीका' में 'त्रिलोचनशुक्लोत्तमार्गानु-गमनोऽमुखः' लिख कर त्रिलोचन अपना गुरु घोषित किया है। इन्हीं त्रिलोचन कवि का बनाया हुआ यह 'पार्यविजय' नाटक था। किन्तु इस समय तक उपलब्ध या प्रकाशित नहीं हुआ है।

१८. पुष्पदूतिकम्—'नाट्यदर्पण' के प्रथम तथा द्वितीय विवेक में कुल मिला कर आठ स्थानों पर 'पुष्पदूतिकम्' के नाम तथा उसके उद्धरण दिए गए हैं। 'वक्रोक्तिजीवित' का जो उद्धरण हम 'कृत्यारावण' के विवेचन के प्रसंग में पृष्ठ ३८ पर दे आए हैं उसमें भी 'पुष्पदूतिक' का नाम आया है। भनिनवभारती [अ० १८ पृ० ४३२] तथा 'दशरूपकावली' [प्र० ३, श्लोक ४५] में 'पुष्पदूतिक' का उल्लेख पाया जाता है। इसमें समुद्रदत्त नामक बणिक् नायक और कुलस्त्री रूप नन्दमन्ती नायिका की कथा दी गई है। विविध ग्रन्थों में इसके उद्धरण मिलने पर यह ग्रन्थ आज उपलब्ध या प्रकाशित नहीं है।

१९. प्रतिमानिरुद्धम्—'नाट्यदर्पण' के प्रथम विवेक के अन्त में—'धी भीमदेव-सूनोर्वसुनागस्य वृत्तो प्रतिमानिरुद्धे' इन शब्दों में 'प्रतिमानिरुद्ध' नाटक का निर्देश किया गया है। भनिनवभारती [अ० १६, पृ० ३] में भी भीमदेव-सूनु वसुनाग की कृति के रूप में 'प्रतिमानिरुद्ध' का निर्देश किया गया है। 'वक्रोक्तिजीवित' में केवल नाटक के नाम का उल्लेख पाया जाता है। वल्लभदेव-समूहोत्त 'सुभाषितावली' में [श्लोक १२७४, १२८३, १३६३] तीन श्लोक वसुनाग वृत्त उद्धृत किए गए हैं। वे 'प्रतिमानिरुद्ध' के निर्माता वसुनाग के ही बनाए हुए प्रतीत होते हैं। यह नाटक भी इस समय उपलब्ध नहीं है।

२०. प्रयोगाम्बुदयम्—'नाट्यदर्पण' के द्वितीय विवेक में 'धीधी' के चतुर्थ अंग 'प्रपंच' के निरूपण के प्रसंग में विदूषक और चैटी का संवाद 'प्रयोगाम्बुदय' से उद्धृत किया गया है। इसके प्रतीत होता है कि यह 'धीधी' श्रेणी का रूपक है। भोजराज के 'शृंगारप्रकाश'

में भी [प्र० १८, पृ० १६१] 'प्रयोगाम्बुदय' का ठीक यही अंश उद्धृत हुआ है। परन्तु यह ग्रन्थ भी इस समय उपलब्ध नहीं है।

२१. बालिकावञ्चितकम्—नलविलास में 'बालिकावञ्चितक' के उदाहरण दो बार दिए गए हैं। एक उदाहरण उसके आमुख से लिया गया है। उसमें 'बीथी' के नवम अक्षर 'नाली' का प्रयोग निम्न प्रकार दिखलाया है—

“यथा बालिकावञ्चितके पारिपादिवकः—

तपनीयोऽञ्जलकरकं कुवलयारवि भासमानमाशये ।

तेजोमयं दिनकराद् द्वितीयमाचक्ष्व मे भूतम् ॥

अत्र निम्नो नारदलक्षणोऽर्थः : ... इलोके 'द्वितीयमेतं 'मुनि पदय' इति चतुर्थपादान्यथाकरणेन व्याख्यात इति ।”

[नाट्यदर्पण २-३५]

इसमें आकार-मार्ग से कृष्ण के पास आते हुए नारद का वर्णन है। दूसरे स्थान पर—

“यथा वा बालिकावञ्चितके—

रिष्टस्तावदुदप्रभृञ्जविकटः शैलेन्द्रकल्पो वृषः,

सप्तद्वीपसमुद्रजस्य पयसः शोषक्षमा पूतना ।

केसी वाजितनुः सुरविषटपेदापप्रगाम्नेदिनी,

सार्धं यन्धुभिरेवभूजितबल कः कंसमास्फुन्दति ॥”

[नाट्यदर्पण २-३२]

आदि इनके इन 'बालिकावञ्चितक' से उद्धृत किए गए हैं। इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि यह रूपक कृष्ण की कथा को लेकर लिखा गया है, और उसमें 'बालिका' पद कदाचित् राधा के लिए प्रयुक्त हुआ होगा। दुर्भाग्य से यह रूपक भी उपलब्ध नहीं होता है।

२२. मनोरमावत्सराजम्—नाट्यदर्पण के द्वितीय विवेक में 'बीथी' के 'असत्प्रसाप' नामक अङ्ग के निरूपण के प्रसङ्ग में केवल एक बार इसका उल्लेख किया गया है। उसमें “यथा भीमट-विरचिते मनोरमावत्सराजे” इस रूप में इस रूपक का निर्देश किया गया है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है यह रूपक वत्सराज उदयन की कथा को लेकर लिखा गया है। उदयन के चरित को लेकर सरस्वत साहित्य में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है। (१) वासवदत्ता, (२) वीणा-वासवदत्ता, (३) स्वप्नवासवदत्ता, (४) प्रतिज्ञायोग्यरायण, (५) रत्नावली, (६) प्रियदर्पिका, (७) कीर्तिका, (८) धर्मसारिङ्गावञ्चनक, (९) सापमवत्सराज, (१०) उदयनचरित आदि सभी ग्रन्थ एक ही कथा को लेकर लिखे गए हैं। भीमट कवि का यह 'मनोरमावत्सराज' रूपक उसी श्रेणी में आता है। इसके निर्माता भीमट के विषय में अज्ञान-संकलित 'मूक्तमुक्तावली' में एक पद्य आया है—

मलिञ्जरपतिशक्रे भीमटः पञ्चनाटकीम् ।

प्रापप्रबन्धरात्रव सेषु स्वप्नदत्ताननम् ॥

[मूक्तमुक्तावली २-६३]

अर्थात् भीमट कवि कलिञ्जर के राजा थे। उन्होंने पाँच नाटक बनाए थे जिनमें 'स्वप्न-दत्तानन' नामक सर्वप्रथम था। पितृगन आदि के अनुसार 'रावलीयातुंन' नाट्य के निर्माता भीम और कलिञ्जरराज भीमट एक ही व्यक्ति हैं। लेद की बात है कि उनकी यह कृति भी अभी तक प्रकाश में नहीं आई है।

✓ २३. मल्लिकामकरन्दम्—यह रामचन्द्र का अपना बनाया 'प्रकरण' रूपक है। 'नाट्यदर्पण' के तृतीय विवेक की २१वीं कारिका की व्याख्या में 'यथा वा भस्मदुपज्ञे मल्लिकामकरन्दे प्रकरणे—

प्रास्य हास्यकर क्षणाद्भूयक्षता बिम्बाधर सोदर
पीयूषस्य, वचासि मग्मयमहाराजस्य तेजासि च।
दृष्टिविष्टपचन्द्रिका, स्तनतटी लक्ष्मोनटीनाट्यम्नूः
श्रीचित्पाचरण विनासकरण तस्या प्रशस्यावधे ॥

इस रूप में 'मल्लिकामकरन्द' का उदाहरण केवल एक बार दिया गया है। आज से २०० वर्ष पहले १७वीं शताब्दी में कान्तिविजयगणि द्वारा तैयार किए गए सूचीपत्र में 'तस्यैव [प० रामचन्द्रस्य] मल्लिकामकरन्दनाटकम्' १५००। [पुरातत्त्व पु० दे० अ० ४, ४२४-५२८] इस रूप में मल्लिकामकरन्द-को रामचन्द्र का नाटक बतलाया है। किन्तु यह ठीक नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकार ने स्वयं उसे 'नाटक' के स्थान पर 'प्रकरण' कहा है। १५०० श्लोक भर्ता प्रमुदुप् इसका परिमाण था, किन्तु यह ग्रन्थ अब तक अप्राप्य और अप्रकाशित है।

२४. मायापुष्पकम्—'नाट्यदर्पण' के प्रथम विवेक में 'बीज' का निरूपण करने वाली २६वीं कारिका की व्याख्या में—

'यथा मायापुष्पके शाप. प्रविश्य वचनक्रमेणाह—

कैकेयी बभूव पतिव्रता भगवती बवैवविध वाग्मिप,
घर्मात्मा बभूव रघूदहः बभूव ममितोऽरुण्य सजायानुज।
बभूव स्वच्छो भरत बभूव वा पितृवधान्मात्राऽधिक दह्यते
किं कृत्वेति कृतो मया दशरथेऽग्रे कुलस्य क्षय ॥”

इस रूप में मायापुष्पक का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार भागे पताका के लक्षण के प्रसंग में [का० ३३] फिर 'यथा मायापुष्पके' लिख कर एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। इन उदाहरणों से प्रतीत होता है कि यह नाटक है और रामचन्द्र की कथा को लेकर लिखा गया है। अभिनवमारती [अ० १३ पु० २१६, अ० १६ पु० १७, अ० २२ पु० १६६] में भी तीन बार इसका उल्लेख हुआ है, और कृतक के 'वक्रोक्तिजीवित' का जो उद्धरण हम अभी 'कृत्यारावण' की विवेचना (पृ० ३८) में दे आए हैं उसमें भी 'मायापुष्पक' के नाम का उल्लेख है। किन्तु इस नाटक का कर्ता कौन है इसके विषय में कोई पता नहीं चलता है, और न यह नाटक अब तक प्रकाशित ही हुआ है।

✓ २५. यादवाम्बुदयम्—यह नाटक स्वयं नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र कवि का बनाया हुआ है। 'यथा वा भस्मदुपज्ञ एव यादवाम्बुदये' लिख कर ग्रन्थकार ने अपने इस नाटक से सात स्थानों पर उदाहरण उद्धृत किए हैं। ग्रन्थकार के परिचय के प्रसङ्ग में हमने उनके 'रघुविंशति' नाटक के आशुल से जो उद्धरण लिया था उसमें उनकी सर्वश्रेष्ठ पाँच नाटकों में इस 'यादवाम्बुदय नाटक' का भी नाम है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रतीत होता है इसमें यदुवशी कृष्ण के चरित्र का वर्णन है। कस और जरासन्ध आदि को मार कर भाषे भारत पर कृष्ण के साम्राज्य का प्रदर्शन उसके काव्योपसंहार के निम्न श्लोक में दिखसाया है—

थातो धोपमुवा विधुत्य मधुजित् कस दाय लम्भित,
सम्प्रत्येव विनिमित्त मगधभूमतुं, कवध वपु ।
पादाक्रांतमजायताद्धंभरत तद् ब्रूहि न कि पर ?
श्रेयोऽस्मादपि पाण्डवेश ! पुनरप्याशास्महे यद् वयम् ॥

[नाट्यदर्पण १-६५]

यह नाटक यों तो स्वयं नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र का बनाया हुआ है, किंतु अब तक अनुपलब्ध और अप्रकाशित है। अब यहाँ उसका समावेश किया गया है।

✓ २६ रघुविलासम्—प्रथमकार के परिचय के प्रसङ्ग में 'रघुविलास' का जो उद्धरण हम ऊपर दे चुके हैं उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह 'रघुविलास' नाटक नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र की अपनी कृति है, और वह उनके सर्वश्रेष्ठ पाँच नाटकों में से एक है। नाट्यदर्पण में उल्लेख करने इस नाटक के १४ उदाहरण दिए हैं। किंतु दुर्भाग्य की बात है कि स्वयं नाट्यदर्पणकार का यह नाटक भी आज तक उपलब्ध तथा प्रकाशित नहीं हो सका है।

✓ २७ राघवाम्बुदयम्—यादवाम्बुदय' के समान यह 'राघवाम्बुदय' नाटक भी नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र का अपना बनाया हुआ नाटक है और उनके सर्वोत्तम पाँच नाटकों में गिनाया गया है। जैनसाहित्य संग्रह ख० १ प्र० २ की 'राघवाम्बुदय नाटक' प० रामचन्द्र इत १० प्र० इस टिप्पणी से प्रतीत होता है कि यह नाटक दस कठों का बड़ा नाटक है। किंतु अब कृतियों के समान अब तक अनुपलब्ध और अप्रकाशित है।

२८ राधाविप्रलम्भम्—नाट्यदर्पण' के प्रथम विवेक के अंत में यथा भेज्जल-विरचिते राधाविप्रलम्भे रासकाण्डे परिकर परिचाययोऽपक्षपेणैव गतावाप्त तन्निबन्ध । एव परस्परान्तर्भावे चतुरङ्गोऽपि क्वापि सधिभवति ।' इस रूप में प्रथमकार ने 'राधाविप्रलम्भ' को भेज्जल कवि विरचित रासकाण्ड बतलाया है। इसका उत्प्रेत अभिनवभारती में भी आया है और वहाँ इसका एक श्लोक निम्न प्रकार उद्धृत किया गया है—

'मेधाशक्तिविसिद्धि-ताण्डवविधावाचायक कल्पवन्
निर्हासो मुरजस्य मूर्च्छतितरुं वेणुस्वनापूरित ।
धीणाया बलवन् सदेन गमनानुप्राहिणीं मूर्च्छनां
कर्मत्येव च कालदृष्टितत्तयां रम्यधृति पाठवे ॥'

[अभिनवभारती दिल्ली संस्करण पृ० २१५]

इसी पद्य की अभिनवभारती के पञ्चमाध्याय में फिर भेज्जलनाम्ना निबन्धके उक्तम् [पृ० ५ पृ० २१४ प्र० ६] इन अवतरणिका के साथ उद्धृत किया है। 'गुञ्जारप्रकाश' में 'यथा रासकाण्डे' [प्र० ११, पृ० १८२] इन पद्यों में उदाचित इसी 'रासकाण्ड' का उल्लेख किया गया है।

२९ रामाम्बुदयम्—नाट्यदर्पण में प्रथमकार के नाम का उल्लेख किए बिना ६ स्थानों पर 'रामाम्बुदय नाटक' के उद्धरण दिए गए हैं। इस नाटक के द्वितीयकाण्ड से सीता के प्रति मुषीक की सादेजोक्ति, मारीच, रावण और प्रह्लनका वचन दिए गए हैं। चतुर्थ काण्ड से सीता के अग्नि प्रवेश आदि 'परिमृहन' के उदाहरण में, सीता-परित्याग का अवसान 'अन' के उदाहरण रूप में, माया चिरोऽर्चन 'भारमयी'

के लक्षण के अन्वय पर दिलाए हैं। ध्वन्यालोक [उद्योत ३, १३३] ध्वन्यालोक-लोचन [उद्योत ३, १४८] शृङ्गार प्रकाश' [प्र० १२ १८६, २०१], 'भावप्रकाशन' [प्र० ७, २०० २१२] आदि में भी इस नाटक का उल्लेख पाया जाता है। ध्वन्यालोक-लोचन [उद्योत ३, १४८] के उल्लेख से ही- यह विदित होता है कि इस नाटक के कर्ता यशोवर्मा हैं। शोमेन्द्र के 'सुवृत्तिलोक' [२, ३९; ३, २१] तथा बल्लभदेव-संगृहीत 'सुभाषितावली' [पृ० ६०४] में यशोवर्मा की कृतिरूप ये कुछ श्लोक उद्धृत किए गए हैं। वे सम्भवत इसी नाटक से लिए गए हैं। यशोवर्मा नाम के एक राजा कन्नौज में हुए हैं। उनका काश्मीरराज ललितादित्य से युद्ध हुआ था, और उस युद्ध में यशोवर्मा को पराजय का दुःख देखना पड़ा। उनके इस युद्ध का वर्णन 'राजतरंगिणी' में किया गया है—

कविवाक्पतिराजभवभूत्यादिसेवितः ।

जितो यथो यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

[राजतरंगिणी त० ४, १४४]

'अभिनवभारती' आदि के निर्माता अभिनव गुप्त से लगभग २०० वर्ष पूर्व उनके पूर्वज अग्निगुप्त इन्हीं कान्यकुब्जेश्वर यशोवर्मा के यहाँ रहते थे। इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद काश्मीर-नरेश बड़े सम्मान-पूर्वक उनको अपने यहाँ लाने से गए थे। अभिनवगुप्त ने स्वयं अपने 'तत्रालोक' ग्रन्थ में इस घटना का वर्णन निम्न श्लोकों में किया है—

नि शेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशः,

तस्मिन्प्रजायत गुणाम्यधिको द्विजन्मा ।

कोऽप्यग्निगुप्त इति नामनिरुक्तगोत्रः,

शास्त्राधिचर्चणकलोद्योगस्त्यगोत्रः ॥

तमय ललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत् ।

प्रणयरमसात् काश्मीराख्यं हिमासयमूर्धनम् ॥

[नन्त्रालोक, प्र० २७]

इन यशोवर्मा के यहाँ विद्वानों का संग्रह था। नरि वाक्पतिराज, भवभूति आदि इन्हीं की राज-भा में रहते थे। सम्भव है इन्हीं यशोवर्मा ने इस 'रामायुद्ध' नाटक की रचना की हो। यह नाटक भी अब तक उपलब्ध या प्रकाशित नहीं हुआ है।

✓ ३०. रोहिणीमृगाङ्क—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में 'मुखसन्धि' के 'परिग्यास' नामक तृतीय अङ्क के निरूपण-प्रसङ्ग में—

'यथा वा अस्मदुपसे रोहिणीमृगाङ्कामिधाने प्रकरणे मृगाङ्क' प्रति वसन्तः ।'

इस रूप में 'रोहिणीमृगाङ्क' की नाट्यदर्पणकार ने स्वयं अपनी कृति घोषित किया है। आगे फिर 'मुखसन्धि' के परिभाषना नामक १२ वें अङ्क के उदाहरण रूप में भी 'रोहिणी-मृगाङ्क' प्रकरण से एक श्लोक उद्धृत किया है। पर यह 'प्रकरण' भी इस समय उपलब्ध नहीं है।

✓ ३१. वनवासनाटिका—'रोहिणी-मृगाङ्क' प्रकरण के समान 'वनवासनाटिका' भी स्वयं नाट्यदर्पणकार की कृति है। जैसा कि उन्होंने तृतीय विवेक में २१ वीं कारिका की व्याख्या में—'यथा वा अस्मदुपसाया वनवासनाया नाटिकाया' इन शब्दों से व्यक्त किया है।

'वृहत्संहिता' और उसके आधार पर 'जैनग्रन्थावली' आदि में [पृ० ३३८] इस वनमाला नाटिका की भ्रमरचन्द्र की कृति बतलाया है। किन्तु यह ठीक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामचन्द्र के स्थान पर भूल से भ्रमरचन्द्र लिख दिया गया है। गणिका-कान्तिविजय के लिखे हुए 'प्राचीनग्रन्थ-सूचिका' में तो 'प० रामचन्द्रकृता वनमालानाटिका श्लोक २००' [पुरातत्त्व पु० २ अ० ४, ४२४-४२८] इन शब्दों में 'वनमाला नाटिका' को रामचन्द्र की कृति ही बतलाया है। इस नाटिका का केवल एक ही उदाहरण नाट्यदर्पण में दिया गया है, और वह राजा नल की दमयन्ती के प्रति उक्ति के रूप में है। इससे प्रतीत होता है कि उस नाटिका की रचना भी नल-दमयन्ती के चरित्र को लेकर की गई है। किन्तु यह नाटिका भी इस समय तक उपलब्ध या प्रकाशित नहीं हुई है।

(३२) विधिविलसितम्—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में विमर्श सन्धि के लक्षण के प्रसङ्ग [का० ३९] में विधिविलसितम् का केवल एक उद्धरण निम्न प्रकार दिया है—

देवतो यथा 'विधिविलसिते पञ्चमेऽङ्के—

“बभ्रुवती—हा धिक् कष्टम्, नैवोत्सर्ग्यः प्राक्तनः कर्मविपाकः—

वार्ताऽपि नैव यदिहासि स राजचन्द्रः

तेनोन्मिता विधिविमोहितचेतनेन ।

देवा वने त्रिदशनाथविलासिनीभिः,

वतुं यता जगति सख्यमिति प्रवादः ॥”

इस उदाहरण की लक्षण के साथ योजना करते हुए नाट्यदर्पणकार ने लिखा है—

“अत्र सूवाचारावलम्बिनि नते देवत्यक्त-दमयन्ती-राज्यप्रान्तिविभ्रमो विमर्शः ।”

इस पक्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि नल-दमयन्ती के चरित्र को लेकर इस नाटक का रचना की गई थी। किन्तु इसका निर्माता कौन या इसका कुछ पता नहीं चलता। नाटक भी अब तक उपलब्ध तथा प्रकाशित नहीं हुआ है।

३३. विलसदुद्योगनम्—नाट्यदर्पण के प्रथम विवेक में 'प्रतिमुञ्च-सन्धि के नवम अङ्ग 'पुष्प' के उदाहरण [का० ४६] के रूप में—

यथा विलसदुद्योगने-भीष्मः—

एनत्ते हृदय स्पृशामि यदि वा साक्षी तवैवात्मजः,

सम्प्रत्येव तु गोघृहे यदभवत् तत् तावदाकर्ण्यताम् ।

एकः पूर्वमुदायुर्घः स बहुभिर्दृष्टस्ततोऽनन्तरं

यावन्तो वयमाहवप्रणयिनः तावन्त एषाञ्जनाः ॥

इस एक उदाहरण के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी 'विलसदुद्योगन' का नाम नहीं मिलता है। इस लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि इसका कर्ता कौन है। यह नाटक अब तक प्रकाशित भी नहीं हुआ है।

३४. सुधाकलशः—'नाट्यदर्पण' के द्वितीय विवेक में वीपी के 'मृदवम्' नामक अङ्ग के निरूपण में 'यथा अस्मदुपज्ञे सुधाकलशे' और 'यथा सुधाकलशे' इन अवतरणिकाओं के साथ दो श्लोक उदाहरण रूप में प्रस्तुत किए हैं। ये दोनों ही श्लोक प्राकृत भाषा के हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि यह 'सुधाकलश' नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र की सुन्दर भाषामयी अथवा प्राकृत-भाषा प्रधान कृति है। यह कोई नाटक या रूपक नहीं, अपितु सुभाषित-संग्रह का ग्रन्थ है, यह बात जैन

साहित्य संशोधक [खं० १'प्र० २] के 'सुधाकलशाख्यमुभापिताकोशः पं० रामचन्द्रकृतः' इस लेख से प्रतीत होती है। पुरातरु [पु० ८ प्र० ४, ४२४, ४२८] में 'प० रामचन्द्रकृतः सुधाकलशा. १३००' इस लेख से यह भी प्रतीत होता है कि इसमें १३०० श्लोक थे। इसमें प्राकृत श्लोकों की प्रधानता थी। यह ग्रन्थ भी अब तक अनुपलब्ध तथा अप्रकाशित है।

३५. हृषीकेशधम्—'हृषीकेशधम्' संस्कृत साहित्य का अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसके रचयिता भर्तृमेष्ठ हैं। इनकी भी संस्कृत साहित्य में अत्यन्त प्रशंसा पाई जाती है। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने लिखा है—आरम्भ में जो प्रादि कवि वाल्मीकि थे वे ही अगले जन्म में भर्तृमेष्ठ बने थे। उसके बाद भर्तृमेष्ठ ने भवभूति के रूप में जन्म लिया और प्रादि वे ही भर्तृमेष्ठ राजशेखर के रूप में उपस्थित हैं। इस प्रकार राजशेखर ने भर्तृमेष्ठ के साथ-साथ अपनी भी प्रशंसा कर ली है। राजशेखर का श्लोक निम्न प्रकार है—

भवभूव वल्मीकिभवः पुरा कवि,
ततः प्रपेदे मुवि भर्तृमेष्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

[वात्सरामायण १-१६, बालभारत प्र० १२]

राजशेखर ने ही दूसरी जगह काव्यमीमांसा में यह लिखा है कि विशाला अर्थात् उज्जयिनी नगरी में आकर बड़े बड़े महाकवियों की परीक्षा होती है कि कौन कितने पानी में है। उसमें आकर ही कालिदास और भर्तृमेष्ठ की परीक्षा हुई। यही आकर अमर, रूप, सूर और भारवि का यश फैला, और हरिश्चन्द्र तथा चन्द्रगुप्त की परीक्षा भी यही आकर हुई। इन सब कवियों में कालिदास, भर्तृमेष्ठ तथा भारवि तीन तो प्रसिद्ध कवि हैं शेष अत्यन्त अप्रसिद्ध कवि हैं। फिर भी अपने समय में उज्जयिनी में उसका अपना कुछ विशेष गौरव रहा होगा। राजशेखर का यह श्लोक निम्न प्रकार है—

इह कालिदास-भर्तृमेष्ठो अनामर-रूप-सूर-भारवयः।
हरिचन्द्र-चन्द्रगुप्तो परीक्षिताविह विशालायाम्॥

[काव्य मीमांसायाम् प्र० १० पृ० ५५]

राजशेखर भर्तृमेष्ठ के बड़े भक्त और प्रशंसक थे। यह बात इन ऊपर उद्धृत किए हुए दोनों श्लोकों से स्पष्ट प्रतीत होती है। अतएव ही सगृहीत 'सूक्तमुक्तावली' में भी राजशेखर के नाम से एक पद्य मिलता है, जिसमें राजशेखर ने भर्तृमेष्ठ की सूक्तियों की तुलना 'सुणि' अर्थात् हाथी की हाँकने वाले प्रकुस से और कवियों की तुलना कुँजर से अर्थात् हाथी से की है। राजशेखर का कहना है कि जैसे 'सुणि' के समान पर हाथी वा सिर धूमने लगता है इसी प्रकार भर्तृमेष्ठ की सूक्तियों को पढ़ कर कविकुँजर अर्थात् महाकवियों के सिर धूमने लगते हैं। अपनी इस सुन्दर कल्पना को उन्होंने श्लोक में निम्न प्रकार व्यक्त किया है—

"वक्रोक्त्या मेष्ठराजस्य सहस्रत्या सुणिरूपताम्।

वाविद्धा इव ध्रुवन्ति मूर्धान कविकुजराः॥" [सूक्तमुक्तावली २-६४]

वाग्वर-पद्यति में भी भर्तृमेष्ठ के नाम का उल्लेख निम्न श्लोक में पाया जाता है—

भासो रामिल-सोमिलो वररश्मिः श्री साहसाद्भुः कविः

मेष्ठो भार्गव-कालिदास-वरसाः इन्द्रियाः सुवर्णपुत्रश्च यः।

दण्डी बाण-दिवाकरी गणपति' शान्तश्च रत्नाकरः
सिद्धा यस्य सरस्वती रमयती के तस्य सर्वेऽपि ते ॥

[शांघरपद्धति १८८]

कवि पद्मश्रुतने भी—जिनका दूसरा नाम परिमल भी था—'नवसाहस्राक्षरित' नामक अपने ग्रन्थ में भर्तृमेष्ठ का स्मरण बड़े आदर के साथ करते हुए उनकी प्रशंसा सूचक निम्न दो श्लोक लिखे हैं—

तत्त्वस्पृशस्ते कवय पुराणा
श्री भर्तृमेष्ठ प्रमुखा जयति ।
निस्त्रिंशधारासदृशेन येषा
वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ॥

[नवसाहस्राक्षरित ५]

भर्तृमेष्ठ सहस्र कवि ससार में सर्वोत्कर्षशाली हैं जिनकी वाणी तलवार की धार के समान वैदर्भी रीति का झलम्बन करके प्रवाहित होती रहती है। इस पद्य में भर्तृमेष्ठ के काव्य में वैदर्भी रीति की प्रधानता सूचित करते हुए उसकी अत्यन्त प्रशंसा और उसके प्रति आदर भाव को प्रकट किया गया है।

उन्हीं पद्मश्रुत ने भर्तृमेष्ठ की प्रशंसा में दूसरा श्लोक निम्न प्रकार लिखा है—

पूर्णन्दुषिम्बादपि सुन्दराणि,
तेषामदूरे पुरतो यशासि ।
ये भर्तृमेष्ठादिकवीन्द्रसूक्ति—
व्यक्तोपदिष्टेन पथा प्रमान्ति ॥”

[नवसाहस्राक्षरित ६]

अर्थात् जो नवीन कविगण भर्तृमेष्ठ जैसे ववीन्द्र की सूक्तियों द्वारा स्पष्ट रूप से उपदिष्ट मार्ग पर चलते हैं अर्थात् भर्तृमेष्ठ के समान वैदर्भी रीति का झलम्बन करते हैं उनको शीघ्र ही पूर्णमा के चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर यथा प्राप्त होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल राजशेखर ही भर्तृमेष्ठ के प्रशंसक है, अपितु पद्मश्रुत भी उनके वैसे ही भक्त और प्रशंसक प्रतीत होते हैं। 'सूक्तशुक्तावली' तथा 'शाङ्गधरपद्धति' भी भर्तृमेष्ठ का गुण-नाम कर रही है। इन्हीं प्रसिद्ध कविराज भर्तृमेष्ठ ने 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्य की रचना की थी।

काश्मीर के इतिहास 'राजतरंगिणी' में ऐसी कथा दी हुई है कि भर्तृमेष्ठ अपने 'हयग्रीव वध' नामक नवनिर्मित महाकाव्य को लेकर काश्मीराधिपति मातृश्रुत के यहाँ गए। वहाँ उन्होंने अपना सारा महाकाव्य राजा को सुनाया, पर वहाँ उन्हें एक बार साधुवाद प्राप्त नहीं हुआ। तब उनको राजा की अरसिकता और अपने अकविव दोनों पर बड़ी श्लानि हुई। वे अपनी पुस्तक-पत्रे बाँधने लगे तो राजा ने उठकर एक सोने का पात्र उसके नीचे लगा दिया कि कहीं इस काव्य का साधुवं नीचे न बिखर जाय। भर्तृमेष्ठ राजा के हृदय का भाव समझ कर अत्यन्त प्रसन्न हुए, और उन्होंने अनुभव किया कि मुझे मेरी रचना के अनुरूप आदर प्राप्त हो गया। इससे अपने को ऋतहृदय समझ कर बाद में राजा ने उनकी जो घनादि दिया वह सब उनकी घनावश्यकता सा प्रतीत हुआ। राजतरंगिणीकार ने इस सुन्दर घटना का उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

हयग्रीववध मेष्ठस्तदप्रे दशयन् नवम् ।

आसमाप्ति ततो नापत् साधु साध्विति वा वच' ॥

अथ अथपितु तस्मिन् पुस्तक प्रस्तुते न्यपात् ।

सावभ्यनिर्याणधिया तदधः स्वर्णभाजनम् ॥

अन्तरगतमा तरय तादृश्या कृतसत्कृतिः ।

भर्तृमेष्ठः कविर्मते पुनरुक्तं त्रियोर्षणम् ॥

[राजतरंगिणी त० ३, २६०-२६२]

काव्यप्रकाश की 'बालबोधिनी' टीका में वामनाचार्य ने [पृ० ४४१] हयग्रीववध को नाटक बतलाया है। मैसूर से 'राजकीय ग्रन्थमाला' में प्रकाशित काव्यप्रकाश में भी 'हयग्रीववध' का नाटक रूप में ही उल्लेख किया गया है। इसी कारण हमने भी अपनी काव्य प्रकाश की टीका में नाटक रूप में ही उसका निर्देश कर दिया है। किन्तु 'शृंगारप्रकाश', 'काव्यानुशासन' आदि प्राचीन ग्रन्थों से विदित होता है कि यह नाटक नहीं, अपितु 'सर्गबंध' महाकाव्य है। हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन' में [प्र० ८ पृ० ३३७] 'संस्कृतभाषानिवद्धसर्गबंधं हयग्रीववधादि' लिख कर ग्रन्थकार ने इसे स्पष्ट रूप से श्रेष्ठ काव्य ही सूचित किया है। भोजदेव के 'शृंगारप्रकाश' में भी 'हयग्रीववध' का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है। यहाँ भी इसे महाकाव्य ही माना है। 'शृंगारप्रकाश' के कुछ स्थल, जिनमें 'हयग्रीववध' की चर्चा की गई है निम्न प्रकार हैं—

“हयग्रीववधादयो महादेशादीनामतिहासिकं चरितभावेदयन्ति ।”

[शृङ्गारप्रकाश प्र० १२, पृ० १६८]

“भासीद् दैत्यो हयग्रीवः.....”

[शृं० प्र० ११, पृ० १४८]

राजिवर्णनं किरातजुं नीय-कुमारसम्भव-शिशुपालवध-हयग्रीववधादी ।”

[शृङ्गारप्रकाश प्र० ११, पृ० १५२]

यस्मिन् इतिहासार्थानपेशलान् पेशलान् कविः कुरुते ।

स हयग्रीववधादिप्रबन्ध इव सर्गबंधः स्यात् ॥”

[शृङ्गारप्रकाश प्र० पृ० १५६]

कवि क्षेमेन्द्र ने 'सुवृत्त तिलक' [३, १६] में सर्गबंध महाकाव्य के आरम्भ में अनुष्टुप के प्रयोग का उदाहरण देते हुए हयग्रीववध का 'भासीद् दैत्यो हयग्रीवः' इत्यादि पद्य उद्धृत किया है। इससे भी प्रतीत होता है कि 'हयग्रीववध' नाटक नहीं, काव्य है।

श्री महक कवि ने अपने 'श्रीकण्ठचरित' में अत्यन्त श्रद्धा के साथ भर्तृमेष्ठ कवि का उल्लेख करते हुए लिखा है—

मेष्ठे स्वाद्विरदाधिरोहिणि, वंशं याते सुवन्धो विधेः

छान्ते हन्त च भारवौ, विषट्ठिं बाणै विवाहमृशाः ।

वाग्देव्या विरमन्तु यत्र विधुरा द्राग् दृष्टयश्चेष्टे

शिष्टः कश्चन् स प्रसादयति तां यद्वाणि सदाणिनी ॥

ऐसे महाकवि वे भर्तृमेष्ठ, जिनका यशोगान संस्कृत साहित्य के अनेकानेक कवियों ने मुक्तकण्ठ से किया है। किन्तु काव्यप्रकाशकार भम्भट की दृष्टि में मेष्ठकवि जंचे नहीं। उन्होंने दो तीन जगह मेष्ठकवि का उल्लेख किया है पर वह प्रशंसा-व्यंजक नहीं है। सबसे पहिले काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में उन्होंने सबसे निष्ठुर बिच काव्य का जो उदाहरण दिया है वह हयग्रीववध में से शोज कर निकाला है—

विनिर्गंतं मानदभारममन्दिराद्

मयद्रुपथ्य्य यदृचक्ष्वापि यम् ।

स-सम्भ्रमेन्द्रदूतपातितार्गसा

निमोलितादीष मियानरावषी ॥

यह श्लोक टीकाकारों के अनुसार भक्तमेष्ठ के 'हृद्यग्रीववध' से लिया गया है। श्लोक में कवि ने यह भाव प्रस्तुत किया है कि जिस समय हृद्यग्रीव अपने प्रासाद से केवल धूमने के लिए ही निकलता था और उसका समाचार यदि इन्द्र की चता चल जाता था तो इन्द्र इतना भयभीत हो उठता था कि सैकड़ा नीकर-चाकरो के होते हुए भी भाग कर अपनी नगरी भ्रमरावती का फाटक बंद कर देता था, और उस फाटक के बन्द होने पर कवि यह उत्प्रेक्षा करता है कि मानो हृद्यग्रीव के डर के कारण भ्रमरावती नायिका ने अपनी भाँखें भीच ली हैं।

हृद्यग्रीव के प्रभावातिशय का वर्णन कवि ने कितने सुन्दर ढंग से किया है। नगरी का द्वार बन्द करने के लिए इन्द्र की उलावली, और भ्रमरावती के भय से प्राँख भीचने की उत्प्रेक्षा, इस पद्य में कुछ चमत्कार दिखता नहीं है। पर काव्यप्रकाशकार ने उसे प्रथम काव्य की कटि में रखा है।

जैसा कि ऊपर पृष्ठ ५० पर उद्धृत शृङ्गारप्रकाश के उद्धरण से विदित होता है कि 'हृद्यग्रीववध' में महादेव के ऐतिहासिक चरित का वर्णन किया गया है, हृद्यग्रीव इसमें प्रतिनायक है। 'सिन्धुपालवध' आदि के समान इस काव्य का नामकरण भी नायक नहीं अपितु प्रतिनायक के नाम पर हुआ है। इससे नायक महादेव हैं। उनके द्वारा हृद्यग्रीव का वध इसमें दिखलाया गया है। किंतु उसके वध के पूर्व हृद्यग्रीव के प्रतापातिशय का वर्णन बहुत विस्तार के साथ किया गया है। इसलिए काव्यप्रकाशकार ने रसदोषों के प्रसङ्ग में 'भङ्गस्याप्यतिविस्तृति' दोष के उदाहरण रूप में फिर 'हृद्यग्रीववध' का ही उल्लेख किया है।

"भङ्गस्याऽऽपानस्यातिविस्तरेण वर्णनं यथा हृद्यग्रीववधे हृद्यग्रीवस्य।"

[काव्यप्रकाश, ज्ञानमण्डल स० पृ० ३६२]

इन सब उल्लेखों से प्रतीत होता है कि काव्यप्रकाश मम्मट की दृष्टि में हृद्यग्रीववध एक नितांत निम्न श्रेणी की कृति है। हमारे प्रस्तुत नाट्य दर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र मम्मट के इस विचार से सहमत नहीं हैं। मम्मट ने हृद्यग्रीव के जिस अतिशय वर्णन को रस दोष माना है, रामचन्द्र गुणचन्द्र ने उसे दोष न मान कर रस का उत्कर्षायायक गुण माना है। उनके मत में हृद्यग्रीव के प्रतिशय वर्णन को यदि दोष ही कहा जाय तो वह 'वृत्त-दोष' अर्थात् कथा का दोष हो सकता है, रस का दोष नहीं। रस की दृष्टि में तो वह वर्णन शीरसरस का उत्कर्षायायक ही है अपवर्णकारक नहीं। इसी प्रसङ्ग में 'नाट्यदर्पण' में केवल एक बार हृद्यग्रीववध का उल्लेख नाट्यदर्पणकार ने किया है। मम्मट ने जिसे 'भङ्गस्याप्यतिविस्तृति' दोष कहा है उसे नाट्यदर्पणकार ने 'भङ्गीम्बू' नाम से निर्दिष्ट किया है। इसके उदाहरण रूप में उन्होंने 'यारावण' से उदाहरण, सदन-शक्तिभेद, सीताविपत्ति श्रवण आदि से उत्पन्न बार-बार कथित कथण रस का प्रतिशय को प्रस्तुत किया है, और उसके बाद काव्यप्रकाशकार के मत का स्पष्टन करते हुए उन्होंने लिखा है—

'केचिन्न हृद्यग्रीववधे हृद्यग्रीववर्णनमुदाहरति। स पुनर्वृत्तदोषो वृत्तनायकस्यात्यवर्णनात्। तत्र हि शीरो रसः, स विशेषतो बन्धस्य योगैर्विभूयतिशयवर्णनेन नूयते।'

[नाट्यदर्पण २-२३]

अर्थात् [काव्यप्रकाश कारकादि] कुछ लोग 'हृद्यग्रीववध' में हृद्यग्रीव के वर्णन को रस 'भङ्गीम्बू' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं किंतु वह वृत्त अर्थात् कथा का दोष है, क्योंकि कथा के नायक का वर्णन उसमें कम किया गया है। वह रस का दोष नहीं है। क्योंकि उक्त 'हृद्यग्रीववध' का मुख्य रस शीर रस है, शीर रस के शीर, शीर्य, विभूति आदि का प्रतिशय वर्णन से उस मुख्य शीर रस का उत्कर्षायायक हो जाता है अपवर्ण नहीं। इसलिए हृद्यग्रीव का प्रतिशय वर्णन रस दोष नहीं कहा जा सकता है। वह नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र की सम्मति है।

भर्तृमेष्ठ अपनी रसवती रचना के लिए ही तो इतने प्रसिद्ध हैं। यदि वे मम्मट के अनुसार केवल प्रथम चित्रकाव्य के निर्माता होते तो क्या उन्हें इतनी प्रसिद्धि प्राप्त हो सकती है? और क्या राजशेखर जैसे मनस्वी कवि का सिर जो कि अपने को वाल्मीकि का भवतार मानता है भर्तृमेष्ठ के सामने प्रज्ञा से झुक सकता था। और क्या उस नीरस प्रथम काव्य को सुनकर ही 'भ्राविद्धा इव ध्रुवन्ति पूर्णानि कविकुञ्जराः' की उक्ति चरितार्थ हो सकती थी? ये सब उक्तियाँ भर्तृमेष्ठ की इस महती रचना की अपूर्व रसवत्ता की परिचायिका हैं। मम्मट ऐसे भालोचक हैं, जो अपनी 'दोषदृष्टि' के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध या बदनाम हैं। अपनी इसी 'दोष दृष्टि' के कारण 'हयग्रीव वध' में उन्हें सर्वत्र दोष ही दोष दिखालाई दिए हैं। पर राजशेखर, पद्मसुन्द, बिल्हण आदि अन्य कवियों एवं भालोचको की दृष्टि में भर्तृमेष्ठ एक 'रससिद्ध कवीश्वर' है। ऊपर 'राजतरंगिणी' से मातृसुप्त तथा भर्तृमेष्ठ की जिस कथा का उल्लेख किया गया है वह भी इसी बात की पुष्टि करती है। 'लावभ्यनिर्याणधिया तदथः स्वर्णभाजनम्' की बात भी तो हयग्रीववध की श्रतिशय रसवत्ता को ही सूचित कर रही है। बडोदा से प्रकाशित 'उदय सुन्दरी कथा' में उसके निर्माता काव्यस्य कवि सोढवल ने भी तो भर्तृमेष्ठ की इस 'रससिद्धता की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

“स कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे
प्रसिद्धनामा भुवि भर्तृमेष्ठः।
रसप्लवेषि स्फुरति प्रकाम,
वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव ॥”

इस प्रकार के बहुप्रशंसित, बहुचर्चित और बड़े बड़े कवियों के श्रद्धाभाजन भर्तृमेष्ठ की एकमात्र कृति को प्रथम काव्य की श्रेणी में रखना और उससे रसदोषों का अनुसन्धान करना मम्मट की केवल दोषदृष्टि की विशेषता को ही प्रख्यापित करता है। भर्तृमेष्ठ तो अब भी 'कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे'—कविता के अपूर्व चित्रकार है। जिनके चित्र में 'रसप्लवेषि' रस का प्रवाह भरा होने पर भी, और दूसरे पक्ष में पानी पड़ जाने पर भी 'स्फुरति प्रकाम वर्णेषु यस्यो-ज्ज्वलता तथैव' वर्णों की, और दूसरे पक्ष में चित्र के रंगों की चमक बँसी ही बनी रहती है तनिक भी मलिन नहीं हो पाती है।

उपसंहार

यह ३५ नाटकों और काव्यों का परिचय हमने यहाँ उपस्थित किया है। इन ग्रन्थों का उल्लेख संस्कृत साहित्य के अनेकानेक ग्रन्थों में पाया जाता है। आज से ८०० वर्ष पूर्व १२वीं शताब्दी में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र के समय में ये ग्रन्थ उपलब्ध थे। ग्रन्थकार ने उनमें से अनेक उद्धरण स्वयं दिए हैं। परन्तु आज तक ये ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुए हैं। सम्भवतः उपलब्ध भी नहीं हुए हैं। अन्यथा उनका प्रकाशन अवश्य होता। इतने सुप्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का इस ८०० वर्ष के बीच में सर्वथा लोप हो जाना आश्चर्य की बात है, या फिर उनकी प्रवृत्ति उपलब्धि न होना हमारे प्रमाद की सूचक है। नाट्यदर्पणकार ने इन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का नाम और परिचय हमको दिया, इसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। अब इनकी खोज करना और उनके प्रकाशन की व्यवस्था करना हमारा काम है। आशा है विद्वज्जन इस दिशा में विशेष रूप से प्रयत्न करेंगे ताकि उनकी उपलब्धि सर्वसाधारण को हो सके।

विश्वेश्वर सिद्धान्तनिरोधसिंह

भाषार्थ

पुस्तक विश्वविद्यालय बुन्दालय

सम्पादकीय

(क) नाट्यदर्पण में रूपकेतर काव्यशास्त्रीय प्रसंग

नाट्यदर्पण अपने नाम के अनुरूप नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसे ग्रन्थकारों ने चार विवेकों में विभक्त किया है। इन्होंने रूपक के दस भेदों में नाटिका और प्रकरणों को जोड़कर इसके कुल चारह भेद स्वीकार किये हैं। इन जैन लेखकों ने इतनी सहजा शायद इसलिए गिनायी है कि 'जैनी' वाणी के भी १२ रूप माने गये हैं। ग्रन्थ के प्रथम विवेक में 'नाटक' नामक प्रथम रूपक भेद का स्वरूप एवं विवेचन प्रस्तुत किया है और द्वितीय विवेक में 'प्रकरण' आदि शेष चारह भेदों का। तृतीय विवेक में रसवृत्ति, रस, रस दोष तथा अभिनय का विवेचन है तथा चतुर्थ विवेक में रूपकोपयोगी ग्रन्थ सामग्री का, जिसके अन्तर्गत नायक नायिका भेद को भी स्थान मिला है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में रूपक सम्बन्धी प्रचलित सामग्रियों को एकत्र निरूपित, व्यवस्थित एवं विवेचित किया गया है। कलेवर की दृष्टि से सर्वाधिक स्थान ग्रन्थ के प्रमुख विषय रूपक को ही मिला है। इस दृष्टि से दूसरा स्थान रस का है और तीसरा स्थान नायक-नायिका भेद का। उक्त विषयों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में कतिपय अन्य विषयों पर भी आनुपंगिक रूप से प्रकाश पड़ गया है, जैसे— वाक्यप्रयोजन, काव्यहेतु, कवित्व-महिमा, अलंकार, वक्रोक्ति, अचिंत्य, अनौचित्य, दोष आदि। इस लेख में रूपक के अतिरिक्त प्रायः सभी प्रसंगों पर ग्रन्थकारों का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाएगा।

१. काव्यप्रयोजन

इस ग्रन्थ में काव्यप्रयोजन-प्रसंग को स्वतन्त्र स्थान नहीं मिला। ग्रन्थ के निम्नोक्त मंगलाचरण—

चतुर्वर्गफलान्ति जैनी वाचमुपास्महे ।

रूपैर्द्वादशभिर्विद्व यया म्याये धृत पाय ॥

—में ग्रन्थकारों ने 'जैनी वाणी की उपासना करते हुए इसे चतुर्वर्ग फल-प्रदायिनी कहा है और अपने वृत्ति में इस फल को अभिनेय वाक्य अर्थात् दृश्यकाव्य के साथ भी सम्बद्ध किया है। इस सम्बन्ध में उनका मन्तव्य इस प्रकार है .

१. दृश्य काव्य द्वारा धर्म, धर्म और काम ये तीनों फल तो प्राप्त होते ही हैं, इससे मोक्ष-प्राप्ति भी होती है ।

२. मोक्ष-प्राप्ति का एक कारण तो यह है कि इससे सहृदय की शिक्षा मिलती है कि रामादि के समान आचरण का ग्रहण करना चाहिए और रावणादि के समान आचरण का त्याग। दूसरा कारण यह है कि धर्म नामक पुरुषार्थ की स्वीकृति कर लेने पर इसके द्वारा परम्परा-रूप से मोक्ष-प्राप्ति भी सम्भव है।^१ हाँ मोक्षप्राप्ति रूप फल धर्म की अपेक्षा गौण फल होता है।^१

१. अयाभिनेयवाचपरतया इलोकोऽय म्यात्सायते । यद्यपि साक्षाद् धर्मार्थं फलान्येव नाटकादीनि तथापि 'रामवद् व्रतितम्य न रावणवद्' इति हेयोपादेयहानोपादानपरतया, धर्मस्य च मोक्षहेतुतया मोक्षोऽपि पारम्पर्येण फलम् । —हिन्दी नाट्यदर्पण पृष्ठ ११

२. मोक्षस्तु धर्मकार्यतयात् गौण फलम् । —यही, पृष्ठ २१

३. 'जैनी' वाणी के अनुरूप काव्य के द्वारा भी इन पुरुषार्थों में से रचयिता अथवा पाठक को वही फल प्रधानता से प्राप्त होता है जो उसे अभीष्ट होता है और शेष फल उसे गौण रूप से मिलते हैं ।^१

४. 'जैनी' वाणी से तात्पर्य काव्य नाटक भी लिया जा सकता है, क्योंकि यह वाणी (रचना) भी 'जिनो' अर्थात् राग आदि के विजेताओं—काव्यनाटककारों—की होती है ।^२

काव्यप्रयोजनों में पुरुषार्थचतुष्टय को सर्वप्रथम भामह ने स्थान दिया था और इनके उपरान्त रुद्रट और कुन्तक ने । अग्निपुराणकार ने मोक्ष को छोड़ कर शेष त्रिवर्ग को ही काव्य-प्रयोजन माना था । रामचन्द्र-गुणचन्द्र के उपरान्त विश्वनाथ ने भी पुरुषार्थ-चतुष्टय को काव्य-प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया । इन चारों में से अर्थप्राप्ति ऐसा प्रयोजन है, जिस पर कोई विवाद नहीं किया जा सकता । 'धर्म' से तात्पर्य यदि 'धर्मो जै इति धर्मः' अर्थात् शुभ कर्तव्य का पालन है, तो यह काव्य का साक्षात् प्रयोजन न होकर भ्रमाक्षात् प्रयोजन है । कर्तव्य वस्तुतः उस कर्म का नाम है जिसे हम दूसरों की प्रेरणा अथवा उपदेश द्वारा करते हैं तथा दूसरों के उपकार के लिए करते हैं, किन्तु काव्य-सर्जन अन्तःप्रेरणा से प्रसूत होने के कारण न तो दूसरों की प्रेरणा अथवा उपदेश की अपेक्षा रखता है और न इसके द्वारा दूसरों का उपकार करना कवि का प्रमुख उद्देश्य होता है । और यदि 'धर्म' से तात्पर्य 'पुण्यफल-प्राप्ति' लिया जाए तो इसे आज के बुद्धिवादी पुण्य का मानव स्वीकार नहीं करेगा । ठीक यही स्थिति 'मोक्ष' नाम काव्यप्रयोजन की भी माननी चाहिए, क्योंकि स्वयं अर्थकार ने धर्म और मोक्ष में कारण-कार्य सम्बन्ध स्वीकार किया है । शेष रहता है एक पुरुषार्थ—'काम' अर्थात् अभीष्ट फल की प्राप्ति । 'काम' शब्द से यदि मानवीय रागात्मक भावों की इच्छापूर्ति यह अभिप्राय लिया जाए तो इसे प्रकारान्तर से अलौकिक आनन्द-प्राप्ति का पर्याय मान सकते हैं जिसे मम्मट ने 'सद्यःपरनिवृत्ति' नाम दिया है । वस्तुतः यही फल काव्य का प्रमुख एवं अभीष्ट प्रयोजन है । किन्तु नाट्यदर्पण में इसे स्पष्ट शब्दों में स्थान नहीं मिला ।

इस शून्य के इस प्रसंग में उपर्युक्त एक विशेषता उल्लेखनीय है कि जो सहृदय जिस फल प्राप्ति के लिए काव्य-निर्माण अथवा काव्य-पठन करता है उसे वही फल तो प्रमुख रूप से मिलता है और शेष फल गौण रूप से । निस्सन्देह उनकी यह धारणा अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में देखने को नहीं मिलती । किन्तु 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इस कथन पर भी आज का बुद्धिवादी मानव पूर्ण आस्था एवं विश्वास नहीं रखता । दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इन्होंने काव्य-नाटक की रचना को भी 'जैनी' वाणी इसलिए कहा है कि यह राग आदि के विजेताओं की वाणी होती है । अर्थकारों ने यद्यपि श्लेष के बल पर ही यह सँघटान करने का प्रयास किया है, किन्तु उनकी यह धारणा निस्सन्देह मान्य है । काव्य-नाटक प्रणेतृ इनके प्रणयन के समय सातारिक राग-श्लेष, मुख-दुःख, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ चुका होता है । चित्त की एकाग्रता के बिना वह कवि-जर्म भी नहीं कर सकता । समाधि की अवस्था अथवा वेद्यांतररसपूर्णता इस कर्म के लिए निवृत्त मनोविवर्धन है । तटस्थता इस कर्म की आधारशिला है । यही कारण है कि किसी उद्देश्य को सद्य में रख कर रचित ग्रन्थ अथवा काव्य-नाटक वास्तविक 'काव्य' कहाने में अधिकांश नहीं होते । ऐसे वाक्यों से सम्प्रदायिकता अथवा 'प्रापेगण्डा' के दुर्गन्ध की लपटें उठा करती हैं ।

१. इष्टसमस्तैवास्त्रैः कलस्य धो घस्य पुरुषार्थोऽभीष्टः स तस्य प्रदानम् । —वही, पृष्ठ ६

२. जिनानां रागादिर्भङ्गानां लक्षणाप्रणयनापेक्षया 'जैनी' । —वही, पृष्ठ ११

२. काव्यहेतु

संस्कृत काव्यशास्त्रियों में से जिन्होंने काव्यहेतुओं का निरूपण किया है उनमें से दण्डी वामन, रुद्रट, कुन्तक और मम्मट का नाम उल्लेख्य है। मम्मट ने पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों का सारग्रहण करते हुए केवल तीन काव्यहेतु निर्दिष्ट किये थे—शक्ति, निपुणता और धम्यास। नाटकदर्पण के रचयिताओं ने इस और स्पष्ट संकेत नहीं किया। ग्रन्थारम्भ में काव्यनाटक-निर्माण पर चलना-सा प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि 'जो कवि निर्घन से लेकर राजा तक की 'प्रोचिती' भवति उनके सामान्य व्यवहार से भ्रवगत न होते हुए भी काव्य-निर्माण की कामना करते हैं, वे विद्वज्जनों के उपहास के पात्र बनते हैं—

आरङ्गाद् भूपति यावदोचिती न विदन्ति ये ।

स्पृहन्ति कवित्वाय, खलनं ते मुमेयसाम् ॥ १।८

तथा जो नाटककार न तो गीत, वाद्य, नृत्य आदि जानते हैं, न लोकस्थिति से परिचित हैं, और न प्रबन्धों भ्रयात् नाटकों का अभिनय ही कर सकते हैं वे भी नाटक-रचना करने के अधिकारी नहीं हैं—

न गीतवाद्यनृसत्ताः, लोकस्थितिविदो न ये ।

अभिनेतुं च कतुं च प्रबन्धास्ते बहिर्मुखाः ॥ १।५

उपर्युक्त दोनों पद्यों में दो काव्यहेतुओं की प्रकारान्तर से चर्चा हुई है : गीत, वाद्य, नृत्य (नृत्य) अभिनय आदि का क्रियात्मक ज्ञान तथा एक से राजा-पर्यन्त लोक-व्यवहार से परिचित। इन दोनों हेतुओं को रुद्रट और कुन्तक के शब्दों में अधिकांश सीमा तक 'व्युत्पत्ति' कह सकते हैं और मम्मट के शब्दों में 'निपुणता'। पूर्ण सीमा तक इसलिए नहीं कि इन आचार्यों ने 'व्युत्पत्ति' और 'निपुणता' के अन्तर्गत लोक-व्यवहारज्ञान के अतिरिक्त काव्यग्रन्थों एवं काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का पठन-पाठन भी सम्मिलित किया है। अस्तु ! रामचन्द्रगुणचन्द्र के उपर्युक्त कथन से यह न समझना चाहिए कि उन्हें केवल 'व्यवहार ज्ञान' को ही काव्यहेतु मानना प्रतीत होगा और शेष दो को, प्रतिभा और धम्यास को, नहीं। जैसे कि ऊपर कह आये हैं उनका उद्देश्य काव्यहेतुओं का निरूपण करना नहीं था, केवल कवित्व-महिमा प्रकरण में उन्होंने इस प्रसंग की चर्चामात्र कर दी है। निस्तन्देह शक्ति भयवा प्रतिभा काव्य-रचना का अनिवार्य हेतु है, और लोकज्ञान तथा इसके साथ साथ 'धम्यास' गीत हेतु हैं, किन्तु इन दोनों से शक्ति का परिष्कार एवं सत्कार होता है—यह भी असन्दिग्ध रूप से सत्य है।

प्रतिभास्य हेतु । व्युत्पत्त्वम्यासाम्पां सत्कार्या ।

—काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृष्ठ ६

३. कवित्व-महिमा

विद्वज्जनों को शास्त्रज्ञान के साथ कविकर्म में भी निपुण होना चाहिए, इस सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में इन शब्दों में चर्चा की गयी है—जिस प्रकार लावण्य नारी का प्राण है उसी प्रकार कवित्व सकल विद्याओं का प्राण है। यही कारण है कि तीनों विद्याओं भ्रयात् तीनों वेदों के ज्ञाता भी सर्वदा कवित्व निर्माण की प्रभिलापा रखते हैं। सत्य तो यह है कि कवित्व निर्माण का प्रभाव विद्वानों के लिए एक ऐसा कलक है जैसा कि नासिका के ऊपर कोढ़ का होता है, भयवा यह प्रभाव ऐसा है जैसे किसी मृगनयनी के शरीर पर कुर्चों का प्रभाव हो। [और शायद इसी कलक

इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि यदि यह स्वीकार किया जाना है कि 'मौलिकता' नाम का तत्त्व नितान्त दुर्लभ है, तो भावसाम्य के आधार पर किसी की भ सँता क्यों की जाए ? भावसाम्य का एक कारण तो मानव मन का ऐशय है । विभिन्न देश और काल में वर्तमान व्यक्तियों ने जो कि प्रत्येक दृष्टि में एक दूसरे से अप्रभावित हैं एक ही प्रकार के विचार प्रकट किये हैं । निस्सन्देह इस प्रकार का भावसाम्य उपस्थित करने वाला व्यक्ति किसी भी रूप में अपराध तथा निन्दा का पात्र नहीं है । कभी कोई बात, कोई घटना अथवा कोई विचार पढ़ा-सुना जाने पर हमारे हृदय के किसी कोने पर जा पड़ता है और फिर कभी परिस्थितिवश जागृत होकर अनायास बाहरी अथवा लेखनी द्वारा निमृत् हो जाता है और भाव साम्य का कारण बन जाता है । किन्तु इस प्रकार की साम्यता पर मानव का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि न तो वह दूसरो के विचारो को अपने मन में संस्कार रूप में प्रगुप्त होने से रोक सकता है और न ही उन्हें अनिव्यक्त होने से । कभी हम दूसरो के विचारों को पढ़ और सुनकर उन्हें नवीन एवं व्यवस्थित रूप में प्रतिपादिन करने के लिए लालायित हो उठते हैं और उन्हें निबन्ध, कविता, नाटक, कहानी उपन्यास आदि के रूप ढाल देते हैं । निस्सन्देह यह प्रक्रिया भी निन्दनीय नहीं है, क्योंकि इससे पूर्व भावों को नवीन दिशा मिलती है, हमारी, कल्पना का सयोग पा कर ये भाव वहाँ अधिक स्पष्ट, विशद, ग्राह्य एवं प्रभावशाली बन जाते हैं । इस पुनराख्यान प्रक्रिया को चाहें तो मौलिकता का नाम भी दे सकते हैं । पूर्वज्ञात भाव हमारी कल्पना का योग पाकर यदि नवीन रूप में प्रतिपादित हो जाए तो इसे 'मौलिकता' मान लेने में अघिन प्राप्ति भी नहीं होनी चाहिए । अब केवल दोष एक रूप रह जाता है जो अत्यन्त भत्सनीय है, वह है—दूसरे के भावों का बाह्य क्लेश बदल देना, दूसरे के शब्दों के स्थान पर अपने शब्दों और दूसरों की वाक्यवली के स्थान पर अपनी वाक्यवली को रखते चले जाना और इस दम्भ की आड में कवि और विचारक कहलाना । यह प्रवृत्ति पूर्णतः त्याज्य है ।

४ अलंकार

अथ के मूल भाग में निम्नोक्त स्थलों पर अलंकार की चर्चा हुई है

१. तथा आदि का मार्ग अलंकारों द्वारा कोमल होने के कारण सुम्रपूर्वक सचरणीय है किन्तु नाटक का मार्ग रस की कलनीलो से परिपूर्ण होने के कारण अत्यन्त कठिन है ।^१

२. वह बाणी जो श्लेष अलंकार से युक्त होने पर भी रसप्रवाह से रहित होने के कारण कठोर हाती है वह [भोक्ता के] मन को उस प्रकार प्रकृतिलत नहीं करती जिस प्रकार दुर्भंग [अर्थात् यौन रस न निकलने के कारण कठोर भग वाली] स्त्रियाँ [पुरुषो को आह्लादित नहीं करती] ।^१

३. नाटक नामक रूपक में अलंकारों द्वारा रस का गहन अर्थात् खलन अथवा भग नहीं होना चाहिए ।^१ अलंकारकथाङ्गरगलदूरतम् ॥ ११२५।

१ अलंकारमृदु पण्या कथावीना सुसञ्चर ।

दु सञ्चरस्तु नाट्यस्य रसकलोलतकुल ॥ ११३

२ श्लेषालंकारभाषोऽपि रसानित्यन्वकंशा ।

दुर्भंगा इय कामिय प्रीणति न मनो गिर ॥ ११७

उक्त स्थलों के प्रतिरिक्त निम्नोक्त दो अन्य स्थलों में अर्थकार की चर्चा साक्षात् न हो कर प्रसाक्षात् रूप से हुई है :

१. जो कवि (नाटककार) नानाविध शब्द तथा अर्थ के लोच्य (चमत्कार) के कारण रस रूप प्रभृत से पराङ्मुख हो जाते हैं वे विद्वान् होते हुए भी उत्तम कवियों की गणना में नहीं आते ।^१

२. काव्य (नाटक) में अर्थ और शब्द की उत्प्रेक्षा (कल्पना) इतनी दलाध्य नहीं है जितना कि रस दलाध्य है। पका हुआ और सुन्दर भी आम यदि रस-रूप्य हो तो [भोक्ता के मन में] उसके प्रति उद्वेजना (धृणा, अरुचि) उत्पन्न हो जाती है ।^२

इन दोनों स्थलों में शब्द और अर्थ के लोच्य (चमत्कार) और इनकी उत्प्रेक्षा (कल्पना) से अर्थकारों का तात्पर्य शब्दालंकार और अर्थालंकार से ही है ।

अर्थ के मूलभाग में अन्यत्र भी 'अलंकार' शब्द का प्रयोग हुआ है, पर वहाँ इस शब्द से तात्पर्य है—नायिका के यौवनस्थ भाव, हाव आदि २० धर्म जो तीन रूपों में विभक्त किये गये हैं ।^३ किन्तु प्रस्तुत प्रकरण से इन अलंकारों का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ये शब्दार्थ रूप काव्य-शरीर के शोभाकारक धर्म न होकर नायिका के व्यक्तित्व के शोभाकारक धर्म हैं ।

उपयुक्त उद्धरणों में से प्रथम उद्धरण में कथा की अपेक्षा नाटक को इस आधार पर उत्कृष्ट माना गया है कि रस के बिना भी केवल अलंकार-प्रयोग के बल पर कथा का निर्माण हो सकता है किन्तु नाटक के लिए रस एक अनिवार्य तत्त्व है। वस्तुतः यह धारणा संस्कृत के दशकुमारचरित, वासवदत्ता आदि कथा-प्राकृतिका साहित्य को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत की गयी प्रतीत होती है, जिनमें अलंकारों का अतिशय प्रयोग हुआ है। इसका एक कारण पाठक की दृष्टि से था और दूसरा कारण कवि की दृष्टि से। यह साहित्य सामान्य स्तर से उच्च वर्ग के लिए निमित्त होना था। इनसे एक ओर ये पाठक अनुप्राप्त, यमक, श्लेष, परिसरुया, विरोधाभास आदि से चमत्कृत होते नहीं आते थे, और उधर दूसरी ओर 'गद्यं कवीना निकयः बदन्ति' इस उक्ति के आधार पर गद्य-कार की सिद्धि एवं प्रशंसा का आधार अलंकार-प्रयोग द्वारा चमत्कार-प्रदर्शन समझा जाने लगा था। किन्तु उक्त धारणा वर्तमान कथा-साहित्य के लिए नितान्त उपयुक्त नहीं है। नाटक के समान इसके लिए भी रस-तत्त्व का समावेश नितान्त अनिवार्य है, और अलंकार की इसे भी विशेष अपेक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार प्रबन्धकार और मुक्तककार कवियों में भी रामचन्द्र-शुण्णचन्द्र ने इसी प्रकार का ही अन्तर निर्देश^४ किया है जो कि युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

१. नानार्थशब्दलौच्येन पराङ्गो ये रसामृतात् ।

विद्वान्स्ते कवीद्राणामर्हन्ति न पुन कथाम् ॥ ना० द० १।६

२. न तपार्थशब्दोत्प्रेक्षाः श्लाघ्याः काव्ये यथा रसः ।

विपाककर्मम्यात्रं उद्वेजयति नीरसम् ॥ ना० द० ३।२२

३. ना० द० ४।२७,२८

४. × × × × × । योग्यतां च रसनिवेशकव्यवसायिन प्रबन्धकवयो विदन्ति, न पुन शब्दार्थप्रयत्न र्थचिन्ममाशोन्मदिष्णो मुक्तकवयः ।

सक्त द्वितीय उद्धरण में रस और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए प्रकारान्तर से अलंकार को रस की अपेक्षा दो स्थितियों में अनुकूल माना गया है :

- (क) रस ही काव्य का अनिवार्य धर्म है, अलंकार नहीं,
 (ख) अलंकार का अनुचित प्रयोग रसास्वाद में बाधक बनता है ।

ये दोनों धारणाएँ रस-सिद्धान्त के ही अनुकूल प्रस्तुत की गयी हैं ।

अलंकारवादियों ने सभी काव्य-शोभाकर धर्मों को 'अलंकार' की संज्ञा देते हुए किसी विशेष काव्यांग को काव्य के अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकृत नहीं किया था । उनकी दृष्टि में न केवल अनुप्रास एवं उपमा आदि ही अलंकार थे, अपितु गुण, रीति, रस, ध्वनि, नाट्यवृत्ति आदि ये सभी काव्यशोभाकर होने के कारण 'अलंकार' नाम से अभिहित किये गये थे । अतः उनके अनुसार यदि किसी काव्यांग को काव्य का अनिवार्य तत्त्व स्वीकृत करना चाहें तो उसका नाम 'अलंकार' ही होगा । चाहे वह अनुप्रास-उपमा आदि का वाचक हो, ध्रुववा गुण, रीति, रस और ध्वनि वा । किन्तु इधर रसवादियों ने केवल रस को ही काव्य की आत्मा अर्थात् अनिवार्य तत्त्व स्वीकृत किया, तथा अलंकार को सौन्दर्य वा आभूषण धर्म मानते हुए प्रकारान्तर से इसे रस का भी उत्कर्षक मान लिया और वह भी नित्य रूप से नहीं । नित्यरूप से अलंकार को रस का उत्कर्षक धर्म न मानने का कारण यह है कि यह सौन्दर्य वा शोभावर्द्धक होते हुए भी कभी तो रस का उत्कर्ष करता है, कभी नहीं करता और कभी इसका अपकर्ष भी कर देता है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बटक-बुण्डल आदि कामिनी के शरीर के शोभावर्द्धक होते हुए उसकी मन स्थिति के अनुसार कभी उसकी आत्मा का उत्कर्ष करते हैं, कभी नहीं करते और कभी अपकर्ष भी करते हैं ।

रस और अलंकार के पारस्परिक सम्बन्ध निर्देश प्रसंग में अलंकारवादियों का यह मतव्य भी उल्लेखनीय है कि वे रस, भाव आदि को अंगभूत और अंगभूत दोनों रूपों में स्वीकार करते हुए इन्हें निम्न रूप से 'अलंकार' में अन्तर्भूत करते थे—अंगभूत रस को रसवद् अलंकार में, अङ्गीभूत भाव को प्रयत्नवद् में, अङ्गीभूत रसाभास एवं भावाभास को ऊर्जस्वी में, अङ्गीभूत भावनादि को समाहित में । इनके धातुरिक्त अङ्गीभूत भावोदय, भावसन्धि और भावसम्बलता को इन्हीं नामों के ही अलंकारों में अन्तर्भूत किया गया है । इसके धातुरिक्त उन्होंने अङ्गीभूत रस, भाव आदि सब को द्वितीय उदात्त अलंकार ही में अन्तर्भूत किया । किन्तु वस्तुतः रस, भाव आदि से जग्य चमत्कार नितान्त बाह्य न होकर नितान्त धातुरिक्त है । अलंकार की रचना अनिवार्यतः कवि के साक्षात् सन्दर्भोत्पन्न पर प्राप्य है और उसका चमत्कार नाद तथा धर्म पर । किन्तु इधर रसगुण काव्य की रचना के लिए सन्दर्भोत्पन्न अनिवार्य तत्त्व नहीं है, और इसका आस्वाद नाद एवं धर्म पर प्राप्य न होकर व्यङ्ग्यार्थ पर प्राप्य है । सन्दर्भोत्पन्न यदि अलंकार न भी हो, तो भी सरस रचना व्यङ्ग्यार्थ के बल पर सहृदय के लिए आस्वाद प्रदान की क्षमता रखती है । 'प्राधान्येन व्यपदेशात् भवन्ति' इस सिद्धान्त के अनुसार यह निष्कर्ष निष्कर्षकोच निकाला जा सकता है कि एक ओर 'अलंकार' कविनिष्ठ है तो दूसरी ओर 'रस' सहृदय निष्ठ । मूलतः इन्हीं आधारों पर रसवादी रस को अलंकार में अन्तर्भूत करने के विरुद्ध है । उन्होंने रस को काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार करते हुए अलंकार को अनिवार्य रूप में इसका उत्कर्षक धर्म मान लिया । अतः उन्होंने

अङ्गीभूत रस, भाव आदि को इन्हीं नामों से ही अभिहित किया। हाँ, अङ्गीभूत रस, और भाव को इन्होंने कथनः रसवद् और प्रेयस्वद् अलंकार नाम दिए, रसभास तथा भावाभास को ऊर्जस्वी अलंकार और भावशान्ति को समाहित अलंकार। इसके प्रतिरिक्त भावोदय आदि तीनों को अङ्गीरूप में वर्णित होने पर इन्हीं नामों के ही अलंकारों से अभिहित किया गया। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि रसवद् अलंकारों को अनुप्रास तथा उपमा आदि के समान चित्रकाव्य का अंग न मानकर गुणीभूतव्यङ्ग्य के 'अपरस्पाङ्ग' नामक भेद का अंग स्वीकार करके मग्गट ने प्रकारान्तर से यह भी संकेत किया कि ये अलंकार अनुप्रास, उपमा आदि अलंकारों की अपेक्षा उच्च भाव-भूमि पर अवस्थित हैं—क्योंकि इनमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ भले ही गौण हो, किन्तु अनुप्रास, उपमा आदि के समान इनमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की अस्पृष्टता नहीं होती। अस्तु !

रसवादी आचार्यों का अलंकार के प्रति यही दृष्टिकोण है, और इसी के ही आधार पर रामचन्द्रगुणचन्द्र की उक्त कथन में प्रकारान्तर से स्वीकृति है कि रस ही काव्य का अनिवायं धर्म है, अलंकार नहीं।

(२)

अब रामचन्द्र-गुणचन्द्र की दूसरी पारणा को लें कि अलंकार का अनुचित प्रयोग रसास्वाद में बाधक बनता है। दूसरे शब्दों में, अलंकार का औचित्यपूर्ण प्रयोग ही रस का उत्कर्ष कर सकता है, अनौचित्यपूर्ण प्रयोग नहीं। इस सम्बन्ध में वामन, भोजराज और क्षेमेन्द्र के निम्नोक्त कथन अवलोकनीय हैं :

आभूषणों के आदर्श-प्रयोग के लिए केवल ऐसा शरीर ही अधिकारी है जो हर प्रकार से सुवात हो। इस दृष्टि से न तो अचेतन सब अलंकारों का अधिकारी है, न किसी यति का शरीर और न किसी नारी का यौवनवन्धु वपुः। इधर सजीव, स्वस्थ, सुन्दर शरीर पर भी आभूषणों का प्रयोग औचित्य की अपेक्षा रखता है—अंजन की कालिमा बड़ी बड़ी आँखों में ही शोभित होती है अन्यत्र नहीं, मुक्ताहार उन्नत पीत पयोधरो पर सुशोभित होते हैं अन्यत्र नहीं—

दीर्घापांगं नयनयुगलं -भूपयत्पञ्चनश्रीः

तुङ्गाभोगी प्रभवति कुचावचितं हारयष्टिः। स०क०भ० १।१६०

किन्तु इसके विपरीत कण्ठ में मेलला का, नितम्बफलक पर सुन्दर हार का, हाथों में मूषुरों का, चरणों में केयूरों का अवधारण कितना कुरूप, भद्दा और हास्यप्रद बनेगा यह कहने की आवश्यकता नहीं है।^२

१. (क) तथा हि अचेतनं शक्यशरीरं कुण्डलाक्षयेतमपि न भाति, अलंकार्यस्वाभावात्।
यतिशरीरं फटकादिपुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकारस्य अनौचित्यात्।

(ख) वपुर्विव यौवनवन्धुमङ्गनायाः। का० सू० दृ० ३।१।२ (यति)

२. कण्ठे मेललया नितम्बफलके तारेण हारेण वा।

पाणौ मूषुरवन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा॥

शौर्येण प्रणते रिवी कक्षया, नायान्ति के हास्यतां,

औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते, नासंकृतिर्नानुणाः॥

उन तीन कथनों से स्पष्ट है कि आभूषणों का प्रयोग जहाँ सजीव एवं सुन्दर शरीर की अपेक्षा रखता है, वहाँ औचित्य भी उसके लिए अनिवार्य तत्त्व है। काव्यगत अलंकारों के शोभावह प्रयोग में भी इन्हीं दोनों तत्त्वों की अनिवार्यता अपेक्षित है—(१) अलंकारों का सरस काव्य में प्रयोग (२) सरस काव्य में भी अलंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग। एक ओर यदि शब्द, यति शरीर ध्यवा यौवनबन्धवपु पर आभूषणों का अवधारण एक कौतूहल भात्र है, तो दूसरी ओर नीरस काव्य में भी अलंकार-प्रयोग का अन्य नाम 'उक्तिवैचित्र्य-भाव' है—'यत्र तु नास्ति रसः तत्र (अलंकारा) उक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसायिनः ।' जिस प्रकार हाथों में नूपुरों का और चरणों में केयूरों का बन्धन समुचित नहीं है, उसी प्रकार विप्रलम्भ शृङ्गार में भी यमक आदि का बन्धन समुचित नहीं है। तात्पर्य यह कि शौकिक और काव्यगत दोनों प्रकार के अलंकारों का जीवन और उनकी अलंकारिता उचित स्थानविन्यास पर ही प्राथित है। फिर भी शरीर-सौन्दर्य की अपेक्षा काव्य-सौन्दर्य अधिक सर्वेदनशील है। उदाहरणार्थ रकार का अनुप्रास विप्रलम्भ शृङ्गार के एक उदाहरण में रस का उपकार करता है तो टकार का अनुप्रास उसी ही रस के दूसरे उदाहरण में रस का उपकार नहीं करता। तभी मम्मट को अलंकारों के विषय में लिखना पड़ा—'यच्चित्तु सन्तमपि नोपकुर्वन्ति। स्पष्ट है कि एक ही रस के दो उदाहरणों में कोमल वर्ण 'रकार' और कठोर वर्ण 'टकार' की सह्यता ध्यवा असह्यता का उत्तरदायित्व औचित्य के ही सद्भाव ध्यवा अभाव पर निर्भर है।

जहाँ तब शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के पारस्परिक तारतम्य का प्रदन है, संस्कृत का काव्यशास्त्री शब्दालंकारों के प्रयोग के अनौचित्य के विषय में अपेक्षाकृत अधिक आशंकित रहा है। यही कारण है कि दण्डी जैसे अलंकारवादी ने भी अनुप्रास और यमक के प्रति अपनी अवहेलना प्रकट की है, और रुद्रट जैसे अलंकारप्रिय आचार्यों ने अनुप्रास अलंकार की स्वसम्मत मधुरा, प्रीडा आदि पाँच वृत्तियों के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर विशेष बल दिया है। आनन्दवर्द्धन ने अनुप्रास-बन्ध के विषय में एक चेतावनी दी है कि 'शृङ्गार के सभी प्रभेदों में अनुप्रास का बन्ध सदा एक सा अभिव्यजक नहीं हुआ करता। अतः कवि को इस अलंकार के औचित्यपूर्ण प्रयोग के लिए विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। शृङ्गार विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गार में यमक का (शब्दश्लेष, चित्र आदि का भी) प्रयोग कवि के प्रमाद का सूचक है।' कुतक अनुप्रासमयी रचना की प्रतिनिवृद्धता

१. का० प्र०, ८ उल्लास, पृष्ठ ३०

२ (क) काव्यशास्त्रमलंकार. कि मिथ्यागणितैर्गुणैः।

यस्य जीवितौचित्य विचिन्त्यापि न दृश्यते ॥ श्री० वि० च० पृ० ४

(ख) उचितस्थानविन्यासादलंकारिरलंकृतिः। वही पृ० ६।

३. देखिए मम्मट द्वारा उद्धृत दोनों उदाहरण—

(क) अपसारय धनसारम्... ..।

(ख) चित्ते विद्वृत्तिरिण्टट्टादि (का० प्र० ८ म उल्लास)

४. का० व० १। ४३, ४४, ६१.

५. का० प्र० २। ३२.

६. (क) शृङ्गारस्यागिनो यत्नादेकरूपायुबन्धयान्।

सर्वेष्वेवप्रभेदेषु नानुप्रास. प्रकाशक. ॥ पृ० २। १४ ॥

(ख) ध्वन्यात्मभूतशृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।

शास्त्रादपि प्रमादित्वा विप्रतन्त्रे विशेषतः ॥ व० जी० २। ४.

(संकुलता-पूर्ण बद्धता) के पक्ष में नहीं है, और यदि ऐसी रचना हो भी जाए; तो उसे भ्रमुकुमार नहीं बनाना चाहिए^१। भट्टलोल्लट (?) के मत में यमक आदि शब्दालंकार रस के प्रतिविरोधी हैं। इनका प्रयोग कवि के अभिमान का सूचक है, अथवा भेड़चाल के समान है।^१

इन सब आचार्यों के अनुरूप रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भी अलंकार विशेषतः श्लेष अलंकार को अपने उक्त कथन में रस के गलन अर्थात् भंग का कारण माना है^१।

हमने देखा कि शब्दालंकारों के औचित्य को समझाते-समझाते संस्कृत का आचार्य कहीं कहीं उनका विरोध और निषेध तक कर बैठता है। पर अर्थालंकारों के प्रयोग का निषेध वह किसी अवस्था में करने को उद्यत नहीं है। वह इन्हें स्वस्थ रूप में देखना चाहता है। अलंकार का स्वस्थ रूप है—रस, भाव आदि का भंग न कर रहना।^१ उसे यह रूप देने के लिए एक प्रबुद्ध कवि को विशेष प्रकार के समीक्षण की सदा अपेक्षा रखनी चाहिए। इसके प्रतिरिक्त अर्थालंकारों का प्रयोग करते चले जाना कवि की स्वेच्छा पर भी निर्भर नहीं है। ये ध्वनि के उपकारक तभी समझे जाएंगे, जब ये रस में दत्तचित्त, प्रतिभावान् कवि के सामने हाथ जोड़े चले आएँ,^१ अर्थात् किसी प्रयत्न के बिना रचना में रसानुकूल समाविष्ट होकर स्वयं कवि को भी आश्चर्यचकित कर दें। निष्कर्ष यह कि अर्थालंकारों के औचित्यपूर्ण प्रयोग की कसौटी है—अपृथग्यत्न-रूप से रसानुकूलता की प्राप्ति—

रसाक्षिप्ततया यद्य बन्धवशव्यक्रियो भवेत् ।

अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलंकारो ध्वनौ मतः ॥ ध्वन्या २ । १६ ।

और यदि शब्दालंकारों का भी, रसोपयोगी बन कर अपृथग्यत्न-रूप से, रचना में स्वतःसमावेश सम्भव होता, तो संस्कृत के आचार्यों ने अर्थालंकारों के समान इन्हें भी निश्चित ही समान महत्त्व दे दिया होता।

अर्थालंकारों का औचित्यपूर्ण प्रयोग करने के लिए आनन्दवर्द्धन ने निम्न साधनों में से किसी एक का आश्रय लेने की सम्मति दी है^१—

(१) अंगीभूत रस के प्रति रूपक आदि अलंकारों का सदा अंगरूप से विवक्षा करना ।

(२) अंगीरूप में अलंकारों की विवक्षा कभी न करना ।

(३-४) ध्वसर पर इनका ग्रहण अथवा त्याग करना ।

१. नातिनिबन्धविहिता, नाप्यपेशलभूषिता । ष० जी० २ । ४ ।

२. यमकानुलोमतदितरचकादिभिदो तिरसविरोधिभ्यः । अभिमानमात्रमेतद् गडुरिकावि प्रवाहो वा ॥ का० अनु० (हेम) पृष्ठ

३.

४. रसभावादितात्पर्यमाधिश्य विनिवेशनम् ।

अलंकृतीनां सर्वात्तामलंकारत्वसाधनम् ॥ ध्व० पु० १२२ ।

५. अलंकारान्तराणि—रससमाहितचेततः प्रतिभावतः कथेरहम्पृथिकया परापतन्ति । (ध्वन्या० २ । १६ । युक्ति)

६. ध्वन्या० २ । १८, १९ ।

(५) आरम्भ करने उसे अन्त तक निभाने का प्रयत्न न करना ।

(६) यदि अनायास आद्यन्त निर्वाह हो भी जाए तो उसे अग्ररूप में रसपोषक बनाने का यत्न करना ।

उपयुक्त साधनों में से प्रथम दो तो एक ही हैं । पाँचवें साधन का तीसरे और चौथे में तथा छठे का पहले में अन्तर्भाव हो सकता है । इन सब का कुल मिलाकर उद्देश्य यह है कि रचना में अलंकारों को रस के अग्र रूप में ही स्थान दिया जाए, प्रधान रूप में कभी नहीं, और ऐसा करने के लिए कवि समीक्षा-बुद्धिसे काम ले, सभी अर्थालंकार अपनी यथार्थता को प्राप्त कर सकेंगे—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशतः ।

रूपकाविरलकारवर्गं एति यथार्थताम् ॥ ध्व० २ । १७ ॥

५ गुण

रस और गुण के परस्पर-सम्बन्ध का निर्देश करते हुए एक स्थान पर ग्रन्थकार लिखते हैं कि 'व्यायोग' नामक रूपक में वीर, रोद्र आदि दीप्त रसों की स्थिति होती है । अतः इस में गद्य तथा पद्य दोनों भोजगुण-युक्त होने चाहिए : वीप्ताना वीररौद्रादीना रसानामाश्रय । अतएवात्र गद्य पद्यं चोजोगुणयुक्तम् ।' (हि० ना० व० पृष्ठ० २२१)

आनन्दवर्द्धन तथा उनके अनुयायियों के अनुसार गुण का रस के साथ दोहरा सम्बन्ध होता है—एक सम्बन्ध प्रधान है और दूसरा गौण । प्रधान सम्बन्ध वा आधार सहृदय की चित्तवृत्ति है, और गौण सम्बन्ध का आधार वर्ण, पद और अर्थ हैं । अतः गुण प्रधानत रस का धर्म है और गौणत. वर्णादि का ।

(१) रस के साथ गुण का प्रधान सम्बन्ध होता है । इसका यह तात्पर्य है कि शृंगार, करुण आदि कोमल रसों में चित्त की द्रुति होने के कारण माधुर्य गुण की स्वीकृति होगी, और वीर, रोद्र आदि कठोर रसों में चित्त की दीप्ति होने के कारण अशुभ गुण की । कोमल अथवा कठोर रसों में से किसी भी रस में यदि अर्थ का अवबोध त्वरित हो जाएगा तो वहाँ चित्त की व्याप्ति होने के कारण माधुर्य अथवा अशुभ के अतिरिक्त प्रसाद गुण की भी स्वीकृति की जाएगी । दूसरे शब्दों में, किसी सरस रचना में यदि त्वरित अर्थवबोध न होगा तो वहाँ रस के अनुकूल माधुर्य अथवा अशुभ में किसी एक गुण की स्थिति मानी जाएगी, और यदि त्वरित अर्थवबोध हो जाएगा तो वहाँ रस के अनुकूल माधुर्य और प्रसाद गुण, अथवा अशुभ और प्रसाद गुण दो दो गुणों की स्थिति स्वीकृत होगी । इस प्रकार ये गुण सहृदय के चित्त की विभिन्न अवस्थाओं पर आधारित हैं । चित्त की द्रुति, दीप्ति अथवा व्याप्ति नामक अवस्थाएँ पहले होती हैं और रसाभिव्यक्ति इनके बाद होती है । ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सहृदय का मन इन अवस्थाओं में से न गुजरे और रस का अभिव्यक्ति हो जाए । निष्कर्षतः चित्तवृत्ति रूप गुण और रस में पूर्वपर सम्बन्ध है तथा यह सम्बन्ध नित्य अर्थात् अनिवार्य है ।

(२) गुण का रस के साथ गौण सम्बन्ध भी है । इसका तात्पर्य यह है कि शृंगार, करुण

१. (क) ये रसस्याङ्गिनो धर्मा. × × अचलस्थितयो गुणा ।

(ख) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्भेदात् ।

का०प्र० ८।६६,७१

आदि कोमल रसों में कोमल वरुणों का प्रयोग होना चाहिए तथा समस्त पदों का प्रयोग या तो न हो, यदि हो तो अल्प हो जिसमें समस्त पद लघु हो। इसी प्रकार वीर, रोद्र आदि कठोर रसों में कठोर वरुणों का प्रयोग करना चाहिए, तथा सधन और अधिक समासों का प्रयोग होना चाहिए। उक्त वरुणों एवं पदों का प्रयोग कोमल रसों में माधुर्य गुण का अभिव्यञ्जक कहाता है और कठोर रसों में भ्रोज गुण का। इनके अतिरिक्त यदि किसी भी सरस रचना में अर्थ वा अवबोध त्वरित हो जाएगा तो उसमें चाहे कैसे भी वरुणों और पदों का प्रयोग हो वहाँ माधुर्य अथवा भ्रोज में से किसी एक गुण के साथ प्रसाद गुण की स्वीकृति भी की जाएगी। इस प्रकार ये गुण वरुणों और पद पर आधारित हैं, रचना अर्थात् काव्य के बाह्य पक्ष पर आधारित है, पूर्वोक्त गुणों के समान सहृदय की निस्तवृत्ति अर्थात् काव्य के आन्तरिक पक्ष पर आधारित नहीं है। इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त गुणों के समान इन गुणों का रस के साथ नित्य सम्बन्ध भी नहीं है। उदाहरणार्थ, शृंगार रस के किसी पद्य में यदि कोई अप्रौढ कवि दीर्घ-समस्तवृत्ति और टवर्गादि से युक्त बठोर वरुण-योजना का प्रयोग कर लेगा, तो उस स्थिति में भी उस पद्य में रसगत माधुर्य गुण की ही स्वीकृति होगी और वरुणोद्दिगत भ्रोजगुण की। क्योंकि गुण की स्थिति रस पर आधारित है न कि वरुणयोजना पर। हाँ, इस पद्य में 'वरुण-प्रतिकूलता' नामक दोष भी अवश्य माना जाएगा। किन्तु आदर्श स्थिति यही है कि शृंगार आदि रसों में माधुर्यगुण के अभिव्यञ्जक वरुण प्रयुक्त किये जाने चाहिए और रोद्र आदि रसों में भ्रोज गुण के।

रामचन्द्र गुणनन्द की अपने उपर्युक्त कथन में यही आदर्श स्थिति अभीष्ट है कि वीर-रोद्र आदि दीप्त रसों में रसगत भ्रोज गुण तो स्वतः सिद्ध है ही, वहाँ वरुणोद्दिगत भी भ्रोज गुण ही होना चाहिए।

६. वक्रोक्ति

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग जिन प्रसंगों में हुआ है, उनमें निम्नोक्त चार प्रसंग उल्लेखनीय हैं—वीथी, शृंगार रस, आमुष्, और रसदोष। इन्हीं प्रसंगों में वक्रोक्ति को न तो कृतव सम्मत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है, तथा न शब्दालंकार रूप प्रचलित अर्थ में। इन प्रसंगों में इसका प्रयोग एक समान अर्थ में न होकर तीन भिन्न अर्थों में हुआ है :

(१) 'वीथी'-प्रसंग में वक्रोक्ति से तात्पर्य है—विविधता विविधता, अथवा शबलता। ग्रन्थकारों ने वीथी के लक्षण में इसे नाटकादि दादस रूपकों को उपकारिणी कहा है और इसका कारण यह बताया है कि वीथी के व्याहार, अधिबन्ध आदि १३ अंग नाटक आदि सभी रूपकों में उपयोगी हैं, और इन अंगों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है, कि ये अनेक वक्रोक्तियों अर्थात् विविधताओं, विविधताओं अथवा शबलताओं से युक्त हैं—

तयैर्वा रूपकानां नाटकादीनां वक्रोक्त्यावितकुला ।

प्रयोद्गशाङ्गप्रवेदेन उपयोगिनी वैविध्यकारिका ॥ हि० ना० द० पृष्ठ २४१

इसी प्रसंग में ही शृंगार और हास्य की अनेक प्रकार की वक्रोक्तियों से युक्त कहा गया है। यहाँ भी 'वक्रोक्ति' का अर्थ विविधता ही है—

वक्रोक्तिगह्यसंस्तुतत्वेन शृंगारहास्ययोः सूचनामाश्रयात् कंदिकी वृत्तिहीनत्वम् । —यही

(२) इनी प्रकार श्रु गार रस वे निम्नोक्त प्रसंग में भी वक्रोक्ति से अभिप्राय है सुन्दर वार्तालाप, न कि कुन्तक-सम्मत वक्रोक्ति—

प्रथम सम्भोगाख्यो बहु । परस्परावलोकन-चुम्बन-विचित्रशब्दोक्त्याविभेदतोऽनन्त-
प्रकार । —हि० ना० ८० पृष्ठ १०७

(३) ग्रामुल-प्रसंग में 'वक्रोक्त' (वक्रोक्ति) शब्द का प्रयोग 'स्पष्ट वचन से विपरीत' अर्थ में हुआ है : "ग्रामुल में सूत्रधार दो प्रकार के वचनों का प्रयोग करता है—स्पष्ट और वक्रोक्ति।" वक्रोक्ति से तात्पर्य है साक्षात् विवक्षित अर्थ का अप्रतिपादक कथन—'वक्रोक्ति; साक्षात् विवक्षिता-यस्याप्रतिपादकैः," अर्थात् वह वचन जो स्पष्टतया न कहा जा कर पुमा फिरा कर कहा जाए, जैसा कि संस्कृत-नाटको के 'ग्रामुल' में प्राय व्यवहृत होता है ।

(४) रसदोष प्रसंग में 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग तो नहीं हुआ, 'अवक्रोक्ति' का हुआ है । यहाँ 'वक्रोक्ति' से अभिप्राय है—युक्त, उचित, मान्य, सगत आदि । रस, स्थायिभाव, व्यभिचारिभाव, आदि की स्वशब्दवाच्यता का सर्वप्रथम संकेत उद्भूट ने किया था, तथा कुन्तक, मम्मट आदि आचार्यों ने इसे एक दोष माना था, किन्तु रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इस दोष वत्पना को अयुक्त कहा है, तथा इसे अत्युत्पन्न जनो की उक्ति के रूप में स्वीकार करते हुए इसे 'अवक्रोक्ति' अर्थात् अयुक्त, अनुचित, अमान्य, असगत धारणा माना है 'तस्माद् अत्युत्पन्नोक्तिर्यावक्रोक्तिरेवेद्यम्' (हि० ना० ८०) । उक्त धारणा अयुक्त है अथवा नहीं, यहाँ यह विचारणीय नहीं है । विचारणीय यह है कि क्या 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ 'युक्त' आदि भी हो सकता है ? शब्द के वाच्यार्थ से तो इस अर्थ का बोध नहीं होता, हाँ यदि खँवतान की जाए तो वक्रोक्ति = वाच्य का वाह्य साधन = काव्य का उपयुक्त अथवा युक्त, मान्य, उचित तत्त्व । अतः वक्रोक्ति का अर्थ हुआ युक्त और अवक्रोक्ति का अयुक्त । किन्तु इस धारणा से मनस्तुष्टि नहीं होती । सम्भवतः यह पाठ ही अशुद्ध हो । अथवा 'वक्रोक्ति' शब्द का अर्थ काव्यत्व भी लिया जा सकता है, जिसके अनु रूप 'अवक्रोक्ति' का अर्थ होगा—'काव्यत्व से बहिष्कृत' । अस्तु ! यह शब्द यहाँ 'अप्रयुक्त' दोष से दूषित है ।

(२)

इसके प्रतिरिक्त इस ग्रन्थ में निम्नोक्त स्थल पर यद्यपि 'वक्रता' अथवा 'वक्रोक्ति' शब्द का व्यवहार नहीं किया गया, तथापि जिस धारणा को वहाँ प्रस्तुत किया गया है उसका मूल आधार वचन की वक्रता ही है । 'वीथी' नामक रूपक भेद के १३ अंगों में से १० वा अंग है 'मूदवम्—जिसका लक्षण है जिसमें गुण और दोष का पारस्परिक व्यत्यय हो—'व्यत्ययो गुणदोषयो. मूदवम् ।' (हि० ना० ८० पृष्ठ २६३) । इस प्रकार 'मूदव' नामक वीथ्यङ्ग के दो रूप हैं गुणों का दोष बन जाना और दोषों का गुण बन जाना । प्रथम रूप के उदाहरण स्वरूप नाट्यदर्पण में तीन उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जिनमें गुण को दोष बताया गया है । इनमें से प्रथम दो उदाहरण लीजिए :

१. विदूषकनटो मार्गे प्रस्तुताक्षेपि भाषणम् ।
सूत्रधारस्य वक्रोक्त स्पष्टोक्तं यत् तदामुलम् ॥

२. केचित्तु व्यभिचारिरसस्यायिना स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः, तदयुक्तम् ।

हि० ना० ८० पृष्ठ ३२८

(क) द्यूत-सभा में बेचारी द्रौपदी 'गौ: गौ:' [अर्थात् मैं तुम्हारी 'गौ' हूँ, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ] चिल्लाती रही किन्तु उस समय क्या धनुर्धारी अर्जुन वहाँ नहीं था जो उम्मे बचा सकता ? 'वैष्णोसंहार' में दुर्योधन जयद्रथ की माता की चेतावनी को अवहेलना करते हुए बोले ।

(ख) [मिरे आने पर] तुम्हारे मुखचन्द्र ने मुस्करा कर मेरा स्वागत किया, नेत्रो ने प्रफुल्लित होकर, बाहुभो ने रोमाञ्चित होकर और वाणी ने गद्गद् स्वर को धारण करके, किन्तु तुम्हारे कुचद्वन्द्वों में कोई परिवर्तन नहीं आया, वे बैसे के बैसे कठोर अर्थात् जड़ बने रहे," 'नलविदास' में नल प्रायतपतिका दमपत्नी से बोले ।'

पहले पद्य में अर्जुन का 'धनुर्धरत्व' और दूसरे पद्य में कुचद्वन्द्वों की 'कठोरता'—यद्यपि ये दोनों गुण हैं तथापि इन्हे दोष रूप में स्वीकृत किया गया है । इन उदाहरणों से दो बातें स्पष्ट हैं । एक यह कि यहाँ 'गुण' शब्द काव्यगुणों का सूचक न होकर लौकिक गुणों का सूचक है, और दूसरी यह कि इस प्रकार की दोषता का आधार वचन की वक्रता है जिससे गुण दोष न बन कर और भी अधिक निखर आता है तथा काव्य-सौन्दर्य का कारण बनता है ।

इसी प्रकार दोष के गुण बन जाने के सम्बन्ध में भी जो उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं उनमें सभी दोष काव्य-दोष के सूचक न होकर लौकिक दोषों के सूचक हैं तथा वे गुण रूप में वरिष्ठ किए जाने पर भी ग्राह्य न बन कर त्याज्य बन गये हैं । इस वर्णन प्रकार का मूल आधार भी वचन की वक्रता ही है । दो उदाहरण लीजिए :^२

(क) द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि सात महारथियों द्वारा अभिमन्यु के वध का समाचार सुनकर दुर्योधन कह उठा कि दानु पर किया गया अपकार भी निःसन्देह अत्यन्त भ्रान्तदवायक होता है ।

(ख) सब की पत्नियाँ सुन्दर नहीं होती, परनारीगामी पुरुष राज्यदण्ड का भागी बनता है, × × × × × ×, यदि दूसरों के हित में संलग्न वेश्यायें न हो तो बेचारे कामाक्षी जन कहां जायें ?

प्रथम पद्य में 'लात्रघर्म का परित्याग' रूप दोष गुण माना गया है, और द्वितीय पद्य में 'वेश्यायमन' रूप दोष भी गुण रूप में स्वीकार किया गया है । किन्तु इन दोनों पद्यों के वक्रताओं के प्रति न तो कवि की सहानुभूति है और न ही उसके अनु रूप सद्बोध की । अतः वचन-वक्रता के आधार पर ये दोनों लौकिक दोष और भी अधिक त्याज्य रूप में वरिष्ठ हो गये हैं ।

७. औचित्य और अनौचित्य

(क) औचित्य—

इस ग्रन्थ में 'औचित्य' का प्रयोग निम्नोक्त चार स्थलों पर हुआ है—

(१) कवि [पीरोदास आदि मुख्य पात्र के लिए] अपभ्रंश इच्छा से किसी फल-विवरण का उल्लेख वरिष्ठ नहीं करने लग जाता, अपितु 'औचित्य' अर्थात् उचितता को देखकर ही वह ऐसा करता है : "शिविरपि न स्वेच्छया फलस्य उल्लेखं निबद्धमहंति किन्तु औचित्येन ।" (शृट १०)

(२) जो वृत्त नायक अथवा प्रकृत रस के अयुक्त अथवा विरुद्ध हो उसे या तो छोड़ देना चाहिए, अथवा उसकी अन्यथा कल्पना कर लेनी चाहिए । (१।१८) यहाँ 'अन्यथा' शब्द से स्वयं ग्रन्थकारो का अभिप्राय है औचित्य अथवा अविरोध—अन्यथेति औचित्येनाऽविरोधेन वा । उदाहरणार्थ, नलविलास में नल जैसे धीरललित नायक द्वारा निरपराध पत्नी का त्याग यद्यपि अनुचित है किन्तु कापालिक के प्रयोग से वह [उचितता-(औचित्य-) पूर्वक] निबद्ध हो गया है, अतः यह प्रसंग अनिवन्धनीय नहीं है । (पृष्ठ ३६)

(३) जिस प्रकार नाटक में अभिनेय प्रबन्ध के लिए उपयुक्त फल, अक, उपाय, × × × रस आदि का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार प्रकरण में भी इन सब का प्रयोग औचित्य (उचितता) का उल्लंघन किये बिना करना चाहिए—“अभिनेयप्रबन्धोचितं फलाङ्गोपाय” रसादिकं यथा नाटके लक्षितं तथाऽपि सर्वोचित्याऽनतिक्रमेणऽऽयोग्यम् ।” (पृ० २१२)

(४) निवेद आदि तृतीय संचारिभाव दूंगारादि रसों में यथायोग्य प्रयुक्त करने चाहिए ; “अयत्प्रसव् यथायोगं रसानां व्यभिचारिणः ।” यहाँ 'यथायोग' का तात्पर्य है—रसों के औचित्य (उचितता) का अनुल्लंघन अर्थात् इसका सम्यक् पालन—'यथायोगम्' इति रसोचित्याऽनतिक्रमेण । (हि० ना० ६० पृष्ठ ३३१)

उक्त उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'औचित्य' शब्द का प्रयोग क्षेमेन्द्र-सम्मत औचित्य-सिद्धान्त के पारिभाषिक अर्थ में न किया जाकर 'उचितता' अर्थ में किया गया है, यद्यपि यह अलग बात है कि मूलता जो कुछ क्षेमेन्द्र को अभीष्ट है लगभग वही कुछ रामचन्द्र-गुणचन्द्र को भी अभीष्ट है । क्षेमेन्द्र के शब्दों में 'उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते', किन्तु उन्होंने क्षेमेन्द्र के समान साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप में इसे 'काव्य को जीवित' स्वीकार नहीं किया ।

(ख) अनौचित्य—

इस ग्रन्थ में कतिपय स्थलों पर 'अनौचित्य' शब्द का भी प्रयोग हुआ है । एक स्थल पर यह पांच रसदोषों में से एक रसदोष है । पांच रसदोष हैं—अनौचित्य, अंग की उग्रता, अघुष्टि, अत्युक्ति और अङ्गभित् । इनमें से 'अनौचित्य' नामक रसदोष का स्वरूप है—वह कर्म जो सहृदयों के मन में विचिकित्सा अर्थात् शका अथवा सन्देह का कारण बने—सहृदयानां विचिकित्सा-हेतु कर्मानौचित्यम् । (पृष्ठ ३२४)

आगे चलकर इसी प्रसंग में अनौचित्य को 'रसदोष' का पर्याय स्वीकार करते हुए ग्रन्थकारो ने कहा है कि यद्यपि अंगों की उग्रता आदि शेष चार रसदोष भी मूलतः 'अनौचित्य' नामक दोष में ही अन्तर्भूत हो सकते हैं, [अतः इनका पृथक् निरूपण नहीं करना चाहिए], तथापि सहृदयों को अनौचित्य अर्थात् रसदोष का सम्यक् ज्ञान हो जाए, इसलिए ऐसा किया गया है—“अंगोऽप्यथावप्रश्च दोषाः परमार्थतोऽनौचित्यान्तःपातिनोऽपि सहृदयानामनौचित्यभ्युत्पादनार्थं मुदाहरणत्वेनोपात्ताः । पृष्ठ (३२८)

उक्त दोनों स्थलों से भी यही ज्ञात होता है कि 'अनौचित्य' शब्द क्षेमेन्द्र-सम्मत पारिभाषिक 'औचित्य' के अभावात्मक अर्थ में प्रयुक्त न होकर रसदोष अर्थ में ही स्वीकृत हुआ है ।

इसका कारण सम्भवतः आनन्दवर्द्धन का यह कथन प्रतीत होता है कि अनौचित्य के बिना रसमञ्ज का कोई अन्य कारण नहीं होता—“अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसमञ्जस्य कारणम् ।” (ध्वन्या० ३/१४ वृत्ति) आनन्दवर्द्धन ने रसभंग और अनौचित्य में परस्पर सम्बन्ध जोड़ा तो रामचन्द्र-गुणपन्द्र ने इसे ‘रसदोष’ का ही समानार्थक मान लिया । इसी प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि अनौचित्य शब्द का दोष के अर्थ में सम्भवतः सर्वप्रथम प्रयोग महिमभट्ट ने किया था तथा इसके अनेक भेदों का भी वर्णन की थी, किन्तु वहाँ न-तो इसे रसदोष के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है और न ही इसके भेद रसदोष ही हैं। वहाँ तो इसे काव्य-दोष के सामान्य अर्थ का ही वाचक माना गया है । (देखिए व्यक्तिविवेक २५ विमर्श)

हाँ, प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्नोक्त स्थल पर ‘अनौचित्य’ शब्द का प्रयोग क्षेमेन्द्र-सम्मत ‘अौचित्य’ के अभाववाचक रूप में भी उपरिष्ठ किया गया है—“ग्रहसन नामक रूपक केवल हास्य रस का ही विषय है । यह शृंगार रस का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि [इस रूपक के मुख्य पात्रों] निन्दनीय पाखण्डी आदि का शृंगार रस के रूप में निरूपण करना अनौचित्य (अौचित्य के अभाव) का सूचक है—निन्द्यपाखण्डिप्रभृतोनां शृंगारस्याजौचित्येनाभावात् केवलहास्यविषयत्वमेव । (पृष्ठ ३२१) उधर क्षेमेन्द्र भी रस के अौचित्य के विषय में अत्यन्त आग्रहशील हैं—

कुचंन् सर्वाशये व्याप्तिर्अौचित्यरुचिरो रस ।

मधुमास इवाशोकं करोत्यंकिरितं मनः ॥ अौचित्यविचारचर्चा-१६

तथा वे रसों के पारस्परिक संयोजन में अनौचित्य को इष्टकर नहीं मानते—

तेषां परस्पराल्लेवात् कुर्यादौचित्यरक्षणम् ।

अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्येष्टो रससंकरः ॥ —वही, १८

घ. दोष

पीछे निर्देश कर आये हैं कि इस ग्रन्थ में पाँच रस-दोषों का निरूपण किया गया है । इस प्रसंग के प्रतिरिक्त दोष पर अन्यत्र विशिष्ट प्रकाश नहीं डाला गया ।^१ इस प्रसंग में ग्रन्थकारों ने उक्त पाँच रसदोषों के भेदोपभेदों का निरूपण किया है जिन्हें इनसे पूर्व मम्मट ने भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ उल्लिखित किया था । इस प्रसंग की दो उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं—(१) रसादि को स्वशब्दोक्ति को दोष न मानना, तथा (२) ‘विभाव की कष्टकल्पना द्वारा व्यक्ति’ को मम्मट के समान रसदोष न मानकर ‘सन्दिग्ध’ नामक वाक्यदोष मानना । ये दोनों स्थल विचारणीय हैं ।

(१)

रसादि की स्वशब्दोक्ति का सर्वप्रथम उल्लेख उद्भट ने अपने ‘काव्यालंकारसारसंग्रह’ में रसवद् भलकार का सहाय प्रस्तुत करते हुए इन शब्दों में किया था—

रसवद्भूतस्वशब्दोक्त्यादिरसाद्यम् ।

स्वशब्दस्यापिसंचारिविभावाभिनयात्पदम् ॥

श्री० सा० सं० ४१३

कुन्तक के उपरान्त मम्मट ने 'रस आदि की स्वशब्दवाच्यता' को रसदोषों में परिगणित किया। उन्हें इस दोष की प्रेरणा आनन्दवर्द्धन और सम्भवतः कुन्तक के उक्त प्रसंगों से मिली होगी। मम्मट के अनुकरण पर विश्वनाथ ने भी इस दोष की स्वीकृति की और निम्नीक उदाहरण प्रस्तुत किये—

- (क) तामुद्धीक्ष्य कुरंगाक्षी रसो नः कोऽप्यजायत ।
 (ख) चन्द्रमण्डलमालोचय शृङ्गारे मग्मन्तरम् ।
 (ग) भ्रजायत रतिस्तस्याः त्वयि लोचनगोचरे ।
 (घ) जाता लज्जायती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बते ।

इधर रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने सम्भवतः मम्मट के इस प्रसंग से प्रेरणा प्राप्त कर उनसे असहमति प्रकट करते हुए उक्त रूप में इस दोष की अस्वीकृति की है। इस सम्बन्ध में हमारी विनम्र सम्मति यह है कि—

(क) जहा विभावादि-सामग्री अपूर्ण एवं अपरिपक्व रूप में प्रस्तुत की जाती है, अथवा इसका अभाव ही रहता है, वहा यदि रस, शृंगार, रति, लज्जा आदि शब्दों द्वारा कथन को सरस बनाने की चेष्टा की जाए तो निस्सन्देह ऐसे कथन न तो सरस कहाएंगे और न काव्यत्व की किसी कोटि में ही वे अन्तर्भूत होंगे। वे केवल साधारण वार्तामान ही होंगे जैसे कि विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत उक्त चार वाक्य।

(ख) जहा विभावादि की सम्पूर्ण सामग्री का उपस्थापन सम्यक् रूप से किया जाए, और यदि वहा रस आदि में से किसी एक का नाम-निर्देश भी अनायास हो जाए तो इन सरस प्रसंगों में यह दोष प्रथम तो स्वीकृत नहीं करना चाहिए, और यदि स्वीकृत किया भी जाए तो उसे क्षम्य समझना चाहिए, क्योंकि इससे रस-प्राप्ति में कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता। उदाहरणार्थ, रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रस्तुत पद्य^१ में मानिनी के नेत्रों का प्रपञ्च-चातुर्य-पूर्ण वर्णन काव्याह्लादकता का उत्पादक है, किन्तु केवल 'उत्पुकम्' नामक संचारिभाव के प्रयोग से इसमें रसदोष मानकर काव्यत्व की अस्वीकृति अथवा हीन-काव्यत्व की स्वीकृति करना समुचित नहीं है। इसी प्रकार एक और उद्भट तथा दूसरी ओर स्वयं मम्मट द्वारा प्रस्तुत दो उदाहरण^२ भी केवल वार्तामान न होकर काव्यचमत्कार के उत्पादन में समर्थ हैं, क्योंकि उस सहृदय को जो इस पारिभाषिक काव्य-दोष से नितान्त अपरिचित है, इन शब्दों के प्रयोग के कारण उसके आह्लाद में तनिक भी व्याघात नहीं पहुँचता।

(ग) काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने इस प्रसंग में यह संकेत भी किया है कि स्थायि-भाव, संचारिभाव आदि के प्रचलित नामों के स्थान पर यदि उनका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाए तो वहा दोष नहीं रहता। उदाहरणार्थ 'ऊर्णकारः श्रुतिगततस्ताहस्तस्य कोऽप्यभूत्' में 'उत्साह' नामक स्थायिभाव का प्रयोग दोष का कारण है, पर यदि यह पाठ कर दिया जाए तो यह दोष न रहेगा—'प्रमोदस्तस्य कोऽप्यभूत्' किन्तु यह धारणा भी समुचित नहीं है। इस दोष का एक

१. हिन्दी नाट्यदर्पण पृष्ठ ३२८

२. (क) सग्रीवा दयितातने.....

(ख) सायनङ्गजयमंगल..... । का० प्र० ७/३२१, ३२२

मात्र आधार है काव्यचमत्कार की अपुष्टि । मम्मट-प्रस्तुत यह पद्य^१ इस आधार पर भले ही सदीप हो, पर इस कारण कदापि सदीप नहीं मानना चाहिए कि इसमें 'उत्साह' शब्द का प्रयोग हुआ है, यद्यपि 'प्रमोद' शब्द रख देने से यह अपुष्टि दूर हो जाएगी और यह सदीप न रहेगा ।

(घ) वस्तुतः इस दोप की स्वीकृति का मूल उद्देश्य व्यङ्ग्यार्थ की महत्ता स्पष्ट करना है । अतः यदि रस, स्थायिभाव आदि का प्रयोग न किया जाए तो यह आदर्श स्थिति है, विभावान्दि की परिपक्वता में इनका प्रयोग सदीप नहीं है तथा इनकी अपरिपक्वता में दोप है ।

अतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र की उक्त धारणा भासिक रूप से ग्राह्य है—पूर्णतः नहीं ।

(२)

अब दूसरे दोप को लें—'विभाव की कष्टकल्पना द्वारा व्यक्ति (अभिव्यक्ति)'^१ इस दोप का मम्मट तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने निम्नोक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है—

परिहरति रतिं मतिं तुनीते स्तलतितरां परिपतंते च भूयः ।

इति वत विषया दशा स्वदेहं परिभवति प्रसभ किमत्र कुर्मः ॥^१

अर्थात् यह नायिका किसी प्रकार की रुचि नहीं रखती, इसकी बुद्धि क्षीण हो गयी है, यह निरन्तर गिरती पड़ती है तथा बार बार करवटें बदलती है । इस प्रकार इसके देह की अवस्था अत्यन्त विषम है, इसका क्या उपाय किया जाए ?—इस कथन से यह सन्देह बना रहता है कि इस नायिका की यह दशा वियोग (रति) के कारण है अथवा शोक के कारण । अतः यह निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते कि यह उदाहरण विप्रलम्भ शृंगार रस का है अथवा कर्ण रस का । मम्मट ने इसे 'विभावस्य कष्टकल्पनाया व्यक्ति' नामक रसदोप माना है और रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'सन्दिग्ध' नामक वाक्यदोप । नाट्यदर्पण में रसदोपों के अतिरिक्त अन्य दोपों का निरूपण नहीं किया गया । काव्यप्रकाश में वाक्यगत सन्दिग्ध का उदाहरण है—

कस्मिन् कर्मणि सामर्थ्यमस्य भोत्तपतेतराम् ।

अर्थ सायुचरस्तस्माद् अञ्जलिर्बन्धयतामिह ॥ का० प्र० ७/२०५

अर्थात्, इस पुरुष की शक्ति किस कार्य में प्रकट नहीं होती ? यह व्यक्ति तो 'सायुचर' है । अतः इसे नमस्कार कीजिए । 'सायुचर' से यह स्पष्टता प्रकट नहीं होता कि वह 'सायुधों में भ्रमता-किरता' है अथवा 'पहले साधु रहा है ।' अतः यहाँ मम्मट के मत में वाक्यगत सन्देह है । निस्सन्देह उक्त 'परिहरति रतिं.....' पद्य में इस प्रकार का सन्देह नहीं है । यहाँ रस-विषयक सन्देह है वाक्य-विषयक नहीं ।

इसी प्रसंग में अर्थगत सन्देह का उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

मातस्यमुत्सायं विचार्यं कार्यमार्या. समयादिमुदाहन्तु ।

सेव्याः नितम्बाः किमु भूषणामुत स्मरस्मेरविस्तासिनीनाम् ॥ का० प्र० ७/२६२

१. संप्रहारे प्रहरणं प्रहाराणाम्परस्परम् ।

ठण्टकारः श्रुतिपतंशसाहस्तस्य शोऽप्यभूत् ॥ का० प्र० ७/३२५

२. का० प्र० ७/३२६, ना० ३० ३/२३ श्रुति ।

अर्थात्, क्या पर्वतों के नितम्ब (प्रान्तर भाग) सेवनीय हैं अथवा विलासिनियों के नितम्ब— इस कथन में प्रकरणाभाव के कारण यह सन्देह बना रहता है कि यह उदाहरण शान्त रस का है अथवा शृंगार रस का। "परिहरति रतिं ..." पद्य तथा इस पद्य में समत्वा एक ही है कि दो रसों में से इत्ते किस रस का उदाहरण माना जाए। किन्तु साथ ही दोनों पद्यों में अन्तर है वह यह कि एक में श्लेष के कारण सन्देह है और दूसरे में इसके बिना। वस्तुतः अन्वयव्यतिरेक-सम्बन्ध के आधार पर 'सेव्याः नितम्बाः...' कथन में अर्थदोषता की अपेक्षा पददोषता अधिक है, जैसे कि स्वयं मम्मट ने पदगत सन्देह का ऐसा ही उदाहरण प्रस्तुत किया है—'आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु।' इमें 'वन्द्याम्' का अर्थ सन्दिग्ध है। क्या इसका अर्थ 'वन्दनीया अर्थात् नमस्करणीया को' है, अथवा वन्द्याम् (वन्द्याम्) का अर्थ 'वन्द्यकृत महिला में' है? किन्तु 'सेव्याः नितम्बाः...' में रस-विषयक सन्देह है जो कि 'श्लेष' पर आधारित है, और 'आशीःपरम्परां वन्द्याम्...' में श्लेष तो है किन्तु यहाँ रस-विषयक सन्देह नहीं है। अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' के अनुसार प्रथम पद्य में रसदोष है और द्वितीय पद्य में पददोष। 'श्लेष' के सम्बन्ध में आचार्यों की स्पष्ट धारणा है कि इसकी स्थिति तब माननी चाहिए जब यह स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त हो। इसकी परतन्त्र अथवा गौण स्थिति में प्रधानता उस काव्य-तत्त्व की माननी चाहिए जिसका यह पोषक हो।

उक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'सेव्याः नितम्बाः...' और 'परिहरति रतिं...' इन दोनों पद्यों में सन्दिग्ध नामक रसदोष ही है, किन्तु एक अन्तर के साथ—प्रथम में विलग्न सन्दिग्ध दोष है और दूसरे में भ्रूलिप्त, पर दोनों ही रसगत ही। क्योंकि दोष की दृष्टि से रस-निर्णय में सन्दिग्धता का बना रहना ही दोनों का प्रतिपाद्य है। 'परिहरति रतिं...' में 'विभाव की कष्टरूपता द्वारा अभिव्यक्ति' नामक दोष की स्वीकृति इसलिए नहीं माननी चाहिए कि विभावादि तो रस-सिद्धि के लिए साधन हैं। इस पद्य में रस का निर्णय सन्दिग्ध रह जाने के कारण सन्दिग्ध दोष मानना चाहिए और वह भी रसगत। निष्कर्षतः रामचन्द्र-गुणचन्द्र की यह धारणा कि यहाँ वाक्यगत सन्दिग्ध दोष है अंशतः मान्य है, क्योंकि यहाँ सन्दिग्ध दोष रसगत ही है वाक्यगत नहीं।

८. रस

नाट्यदर्पण में अन्य काव्योपकरणों के समान रस पर भी केवल इस दृष्टि से प्रकाश डाला गया है कि इसका रूपक के साथ क्या सम्बन्ध है, कौन कौन से रस इसके विभिन्न नेदों अथवा अंगों के साथ सम्बद्ध हैं आदि। उदाहरणार्थ—'भाण' रूपक में शृंगार और वीर रस की प्रधानता होती है, 'डिम' में रोद्र रस की तथा 'अष्टशृङ्गा' में कल्याण रस की, और 'वीथी' का सम्बन्ध सब रसों के साथ होता है, इत्यादि। 'भारती' नामक नाट्यवृत्ति सब रसों के साथ सम्बद्ध होती है, 'सात्वती' रोद्र, वीर, शान्त और अद्भुत रसों के साथ, 'वंसिनी' हास्य और शृंगार रस के साथ, तथा 'भारभटी' रोद्र आदि दीप्त रसों के साथ। इसी प्रकार रूपकों में कौन कौन से रस परस्पर मित होते हैं तथा कौन से विरोधी और विरोधी, रसों का परिहार किस प्रकार किया जाए, आदि—इन बहुवचन विषयों पर भी इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है।

१. दत्तेवस्य चोपमादसंकारविविस्तोऽस्ति विषयः इति। [का० प्र० ६ म उ०, दत्तेवप्रकरण]

२. हिन्दो नाट्यदर्पण २/१६, २१, २३, २८।

३. वही ३/२, ५, ६। ४. वही पृष्ठ ३२०।

रूपक और रस के पारस्परिक सम्बन्ध-निर्देशक उपयुक्त स्थलों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में रस-विषयक कतिपय अन्य समस्याओं एवं प्रसंगों की भी चर्चा की गयी है, जैसे—

- (१) रस की महत्ता ।
- (२) प्रचलित से इतर संचारिभावो तथा रसो का नाम-निर्देश ।
- (३) नौ रसों का क्रम-निर्देश ।
- (४) शृङ्गार रस के दोनो भेदों का निर्णायक आधार ।
- (५) अद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति ।
- (६) शान्त रस का स्थायिभाव ।
- (७) अभिनय और नट तथा प्रेक्षक ।
- (८) रस की सुखदुःखात्मकता ।

अब इन प्रसंगों का दिग्दर्शन एवं सामान्य विवेचन प्रस्तुत है ।

(१) रस की महत्ता

प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर यह निर्दिष्ट किया गया है कि रस नाटक में अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है । इनमें से कुछ स्थलों पर रस को काव्य के अन्य उपकरणों—विशेषतः अलंकार—की अपेक्षा सर्वोत्तम उपकरण के रूप में स्वीकार किया गया है, जिनका उल्लेख पीछे पद्यास्थान किया चुका है । इस सम्बन्ध में अन्य उल्लेखनीय स्थल इस प्रकार हैं—

- (१) नाट्य का पन्थ रस की कल्पनो से परिपूर्ण होता है ।^१
- (२) नाट्य का एक मात्र आधार रस ही है ।^२
- (३) (नाटक के) कवामाग में विच्छेद न आने देना रस की परिपुष्टि के लिए किया जाता है ।^३

(४) 'प्रकरण' नामक रूपक में पुरानी बातों में भी कवि को रस की परिपुष्टि के लिए नयी बात और बढ़ा देनी चाहिए ।^४

(५) कवि (नाटककार, प्रबन्धकार) की समग्र चेतना एकमात्र रस-विधान में ही सलग्न रहती है, वह रस-निवेश में सिद्धहस्त होता है ।^५

उक्त स्थलों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकारों को यह मानना अभीष्ट है कि रस नाटक का अनिवार्य तत्त्व है तथा नाटककार का एक-मात्र लक्ष्य इसी की ही पुष्टि एवं सिद्धि करना है । वस्तुतः

१. पन्था. × × × नाट्यस्य रसकल्पनोलसङ्गुलः । हि० ना० द० पृष्ठ ३

२. दशार्थमात्रप्रारणा शुष्ककवयो यमकश्लेषादीनामेव निबन्धमर्हन्ति, न तु रसकधारणस्य नाट्यस्य । — वही, पृष्ठ ३२०

३. इतिवृत्तस्याऽविच्छेद रसपुष्टयर्थः । — वही पृष्ठ १६६

४. यदपि अत्र प्राक्तनं निबद्धपते तत्रापि कविना रसपुष्टिहेतुरधिकारिणापो विधेयः ।

— वही पृष्ठ २११

५. रसविधानं कचेततः कवेः × × × रसनिवेशकस्य यत्तापिन प्रबन्धकवयः × × × ।

— वही, पृष्ठ १६६-१६७

नाटक और रस के पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा भरत मुनि के समय से ही की जाती रही है। उन्होंने नाट्य (नाटक) के लक्षण में अन्य तत्त्वों के साथ रसतत्त्व का भी समावेश किया है; नाट्य के प्रधान अंगों में पाठ्य, गीत, अभिनय के अतिरिक्त रस की भी गणना की है^१, तथा नाट्य में रस की अनिवार्य स्थिति को प्रकारान्तर से स्वीकार किया है।^२ इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि नाट्यदर्पण में कथा और मुक्तक-काव्य की सिद्धि भ्रलकार-चमत्कार पर आधारित की गयी है और नाटक तथा प्रबन्ध-काव्य की रस पर। किन्तु प्रथम धारणा अशतः सत्य है^३, और दूसरी धारणा के सम्बन्ध में इतना और ज्ञातव्य है कि प्रबन्धकाव्यों की अपेक्षा नाटक में रस की पुष्टि अधिक सकुलता के साथ की जा सकती है, क्योंकि इस में विभावादि सामग्री अपने यथावत् रूप में सन्निविष्ट रहती है।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर मानते हुए कहा है कि इस शरीर में प्राण-सञ्चार करने वाला रस ही है। यही कारण है कि कविजनो की प्रीति रस की प्रति ही होती है—

अर्थशब्दबधुः काव्यं रसैः प्राणैर्विसर्पति ।

अञ्जसा तेन सौहार्दं रसेषु कविमानिनाम् ॥ ना० इ० ३/२१

(१) प्रचलित से इतर रसों तथा सचारिभावों का नामनिर्देश—

इस ग्रन्थ में प्रचलित से इतर सचारिभावों तथा रसों का नाम-निर्देश किया गया है, किन्तु इनका स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया गया। इनकी सूची इस प्रकार है—

सचारिभाव—क्षुत्, तृष्णा, भैश्री, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, रति, सन्तोष, क्षमा, मार्दव, आर्जव, दासिण्य आदि।^४

रस—लौत्य, स्नेह, व्यसन, दुःख, सुख आदि। इन पाँचों के स्याधिभाव क्रमशः ये हैं—
गर्द (तृष्णा), आर्द्रता, भासति, अरति और सन्तोष। किन्तु कई आचार्य इनका अन्तर्भाव प्रचलित रसों में मानते हैं।^५

(२) नव रसों का क्रम

इस ग्रन्थ में शृंगार आदि नौ रसों की पूर्वापर-क्रम स्थिति के सम्बन्ध में निम्नोक्त सगत्या प्रस्तुत की गयी है जो कि प्रायः मनस्तोत्रक है। (१) सर्वप्रथम शृंगार रस की गणना करनी चाहिए क्योंकि 'वाम' शब्द प्राणियों में सुलभ तत्त्व है, तथा उन्हें अत्यन्त परिचित रहता है, अतः सब की मनोहर प्रतीत होता है। (२) शृंगार के उपरान्त हास्यरस की गणना की जाती है, क्योंकि यह रस शृंगार वा अनुगामी (उससे उद्भूत एवं उसका पोषक) होता है। (३) इसके उपरान्त

१. षड्भूतसमागम् × × × ना० शा० १६/११८

२. जप्राह पाठ्यपृग्बेदात् सामम्यो गीतमेव च ।

यशुर्वेदादभिनयान् रसानापर्येण्यदपि ॥ वही १/१०

३. ये रसा इति पठ्यन्ते नाट्ये नाट्यविषयैः । वही ६/२

४. वेतिष् पृष्ठ ६

५. ६. हिन्दी नाट्यदर्पण पृष्ठ ३३१, ३०६

करण रस—क्योंकि यह हास्य रस का विरोधी अर्थात् उसके विपरीत होता है । (४) इसके उपरान्त रोद्र रस—क्योंकि यह रस अर्थप्रधान है और अर्थ की उत्पत्ति काम से होती है । (५) इस के उपरान्त वीर रस—क्योंकि यह रस धर्मप्रधान है और धर्म की उत्पत्ति काम और अर्थ दोनों से होती है । (६) इस के उपरान्त भयानक रस—क्योंकि वीररस का मुख्य उद्देश्य है भीत जनों को अभय-प्रदान । (७) इसके उपरान्त वीभत्स रस—क्योंकि सात्त्विक जन भय के प्रति जुगुप्सा प्रकट करते हैं । (८) इसके उपरान्त भद्रयुत रस—क्योंकि वीभत्स को विस्मय द्वारा दूर किया जा सकता है । (९) सब से अन्त में शान्त रस की गणना की जाती है, क्योंकि शम सब धर्मों का मूल कारण है ।^१

निष्कर्षत उक्त प्रसंग में 'काम' को प्रधान माना गया है, क्योंकि इसी पर ही धर्म और अर्थ दोनों आधारित हैं, तथा इन तीनों के बल पर शृंगार आदि तीनों रसों की पूर्वापर-स्थिति निर्धारित की गयी है, तथा साथ ही प्रकारान्तर से शृंगार रस की प्रधानता भी सिद्ध की गयी है, क्योंकि अकेला शृंगार रस ही ऐसा है जो 'काम' से सम्बद्ध है । शृंगार के अतिरिक्त अन्य रस या तो अर्थ और धर्म में से किसी एक अथवा दोनों पर अवलम्बित हैं अथवा एक दूसरे रस पर । इस प्रकार से रामचन्द्र गुणचन्द्र ने अग्निपुराणकार एवं भोजराज की एतद्विषयक प्रख्यात धारणा का अन्य रूप से समर्थन किया है कि शृंगार रस सर्वोपरि रस है ।

(४) शृङ्गार रस के दोनों भेदों का निर्णायक आधार

शृंगार रस के दो प्रचलित भेदों के सम्बन्ध में ग्रन्थकारों का कहना है कि ये भेद गाय के चितकवरे और काले वरुण के समान नितान्त विभिन्न न होकर परस्पर सकुलित (मिश्रित) रहते हैं क्योंकि एक और सम्भोग में विप्रलम्भ की सम्भावना बनी रहती है और दूसरी और विप्रलम्भ में मनोगत सम्भोग का भाव अनुस्यूत रहता है । किन्तु इस स्थिति में निर्णय उत्कटता के आधार पर किया जाता है ।^१ हाँ, यदि किसी पक्ष में दोनों अवस्थाओं को प्रस्तुत किया जाता है तो वह भीलित (एक समान आह्लादक) चित्रण का स्थल प्रतिशय चमत्कार का द्योतक होता है—

अवस्थाद्वयभोलननिबन्धने च सातिशयश्चमत्कारः । (हि० ना० द० पृष्ठ ३०६)

इनमें से प्रथम धारणा का आधार व्याकरणशास्त्र का यह प्रसिद्ध सिद्धांत है कि 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति ।' निस्सन्देह शृङ्गार के दोनों भेदों में इतर भेद का अंश अवलित रहता है और उसका व्यपदेशक आधार है किसी एक तत्त्व का प्राधान्य । किन्तु दूसरी धारणा विचारणीय है । प्रथम तो ऐसे पदों का मिलना असम्भव है जिन में सम्भोग अथवा विप्रलम्भ में से किसी एक रूप की प्रधानता लक्षित न होती हो, और दूसरे, पठितराज जगन्नाथ के शब्दों में सयोग और विप्रलम्भ का एकमात्र आधार अन्तःकरण की वृत्ति-विशेष है, बाह्य वातावरण नहीं है ।^२ रामचन्द्र गुणचन्द्र ने इस प्रसंग में जो उदाहरण प्रस्तुत किया है,^३ उसी से मिलता जुलता उदाहरण जगन्नाथ ने भी इसी प्रसंग में दिया है—

१, २. हि० ना० द० पृष्ठ ३०५, ३०६

३. इसी सयोगविभोगाहवाक्यत करणवृत्तिविशेषो । —रसगणाय पृष्ठ ४१

४ "एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया योतीत्तर साम्यतो" इत्यादि

—हि० ना० द० पृष्ठ ३०७

दयिता सविधेऽप्यनोऽवरा सफलीकतुंमहो मनोरथान् ।

दयिता दयिताननाम्बुज वरमोलघ्नयना निरीसते ॥

[रसमगापर पृष्ठ ४१, १२]

इन दोनों उदाहरणों में अन्त वृत्ति के आधार पर अन्तत सम्भोग शृंगार की ही स्वीकृति होगी, वियोग की भावना तो यहाँ उद्दीपक मात्र है ।

(३) अद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति

नाट्यदर्पण में अद्भुत रस की चर्चा दो स्थलों पर की गयी है—एक 'परिगूहन' नामक निर्वहण सन्ध्यङ्ग के प्रसंग में और दूसरे 'नाटक' नामक रूपक के प्रसंग में ।

पहले प्रसंग में अद्भुत रस का सामान्य सा स्वरूप-निर्देश है—'अद्भुत रस की प्राप्ति 'उपगूहन' (परिगूहन) कहाती है । इसका स्थायिभाव 'विस्मय' है । उदाहरणार्थ, रामाभ्युदय नाटक में सीता ज्वलन प्रकरण के अन्तर्गत सीता के लिए अग्निदेव का प्रवेश आदि ।' [पृष्ठ १८८]

दूसरे प्रसंग में अद्भुत रस की महत्ता एवं स्थिति पर प्रकाश डाला गया है—'नाटक नामक रूपक में एक रस अगौरूप में होना चाहिए, तथा अन्य रस अग्ररूप में । इसके अन्त में अद्भुत रस होना चाहिए एकाङ्गिरसमयाङ्गम् अद्भुतान्तम्' । 'अद्भुतान्तम्' पद का विग्रह करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'अद्भुत एव रसोऽन्ते निर्वहणे यत्र', अर्थात् नाटक के अन्त में—निर्वहण सन्धि में—अद्भुत रस होना चाहिए । इसकी व्याख्या में आगे कहा गया है कि "नाटक में एक और शृंगार, धीर, रौद्र आदि रसों द्वारा स्त्रीरत्न, पृथ्वीलाभ, सन्तुल्य रूप सम्पत्तियों की प्राप्ति होती है, और दूसरी ओर कष्ट, भयानक तथा वीरस रसों द्वारा इन सब की अप्राप्ति । किन्तु नाटक के अन्त में अद्भुत रस द्वारा लोकोत्तर एवं असम्भाव्य फलरूप प्राप्ति दिखानी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक क्रिया का कोई न कोई फल तो अवश्य होता ही है, अतः यदि नाटक में असाधारण वस्तु रूप फल की कल्पना न की गयी तो फिर इसके निर्माण में परिश्रम करने से क्या लाभ ?'

(पृष्ठ ३७)

इस कथन का अर्थप्राम्य यह है कि अगौरस चाहे कोई भी हो किन्तु उस रस से सम्बद्ध फल 'अद्भुत' से मिश्रित होना चाहिए । 'अद्भुत' से यहाँ तात्पर्य है ऐसा फल जो एक ओर तो असम्भाव्य हो, अर्थात् जो सामान्य परिस्थितियों में सुलभ न हो, अथवा जिसके लिए नायक को लोकाचार से किञ्चिद् विलक्षण आचरण करना पड़े अथवा धीर विपत्तियों का सामना करना पड़े, और दूसरी ओर वह लोकोत्तर हो, अर्थात् जिसकी प्राप्ति सामान्य जन के लिए प्रायः असम्भव सी होती हुई भी सबकी लालसा एवं कामना का विषय बनी रहे । उदाहरणार्थ, सामान्य लोकाध्यवहार के समान केवल विवाह सम्बन्ध द्वारा नायिका की प्राप्ति में अद्भुत तत्त्व का समावेश न होने के कारण यह नाटक का विषय नहीं है । हाँ, दुष्कृत सन्तुलता का प्रेम-प्रसंग नाटक का विषय बन सकता है, क्योंकि इसमें एक ओर लोकाचार से विलक्षण आचरण किया गया है और दूसरी ओर अनिन्द्य सुन्दरी सन्तुलता रूप फलप्राप्ति प्रत्येक सहृदय की लालसा एवं कामना का विषय बन गयी है । इसी प्रकार 'दुर्वीराज सयोगिता स्वयंवर' भी असामान्य वरमाला प्रसंग के समावेश के कारण नाटक का विषय बन सकता है । इसी प्रकार धीर रस के नाटकों में भी नेपोलियन का यह कथन भी कि 'मैं गया, मैंने देखा और मैंने जीत लिया' उसी स्थिति में नाटक

का विषय बन सकता है जब कि या तो शत्रुपक्ष का कायरतापूर्ण पलायन भी साथ ही दिखाया जाए, या फिर यह दिखाया जाए कि शत्रुओं के रक्त की प्यासी तलवार ज्यों की त्यों खिंची रह गयी और वह 'धैरारा' जनशून्य शत्रु-नगरी में हाथ मलता रह गया। किन्तु इस सबसे बढ़कर आदर्श स्थिति राम-रावण युद्ध प्रसंग की माननी चाहिए जिसमें राम ने रावण पर आक्रमण करके उसकी सेना एवं सहयोगी धीर सम्बन्धियों का मूलोच्छेदन करके लका-विजय के उपरान्त सीता वा उद्धार किया।

इन सब प्रकारणों में अंगी रस शृंगार अथवा धीर रस स्वीकार किये जायेंगे। यदि इनमें अन्य रसों की झलक मिलेगी भी तो वे अंगी के पोषक होने के कारण अंगरूप में स्वीकृत रहेंगे। किन्तु अंगी (पोष्य) रस के चमत्कार का मूल कारण ये अंग (पोषक) रस नहीं हैं, अपितु 'अद्भुत' का समावेश ही है—यह रामचन्द्र-गुणचन्द्र का मूल अन्विष्ट है, और शायद इसी अथवा इस प्रकार की धारणा से प्रेरित होकर धर्मदत्त नामक आचार्य ने निम्नलिखित कथन में अद्भुत रस की सर्वत्र (सब सरस रचनाओं में) स्वीकृति कर ली थी—

रसे सारः चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।

तच्चमत्कारसारस्वे सर्वत्राप्यनुभूतो रसः ॥^१

और इसी आधार पर ही नारायण नामक आचार्य (आचार्य विश्वनाथ के प्रपितामह) ने केवल अद्भुत रस को ही एकमात्र रस घोषित किया था—तस्माद् अद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।^२

निस्तान्देह रस में चमत्कार ही सारभूत तत्त्व है। चमत्कार को विश्वनाथ के शब्दों में विस्मय का अन्वय भी कह सकते हैं, जिससे सहृदय के चित्त का विस्तार होता है।

'चमत्कारः चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः'^३

और इस चमत्कार अथवा विस्मय को खींचतान कर 'अद्भुत' का भी पर्याय मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, और यही अद्भुत सभी रसों में एक अन्विष्ट तत्त्व भी है, क्योंकि इसके बिना रस की सिद्धि ही सम्भव नहीं है। किन्तु यह सब स्वीकार करते हुए भी—

(१) न तो रामचन्द्र गुणचन्द्र आचार्यों के समान इस 'अद्भुत' को 'अद्भुत रस' इस नाम से अभिहित करना चाहिए, और

(२) न आचार्य नारायण के समान इस अद्भुत को ही एकमात्र रस स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि उक्त स्वीकृति में यह 'चमत्कार' अथवा 'अद्भुत' नामक तत्त्व रचना के मूल रस का केवल साधन मात्र होता है, साध्य नहीं होता, साध्य तो शृंगार आदि अन्य रस ही होते हैं। केवल इतना ही क्यों, यहाँ तक कि जिस रचना में अद्भुत रस साध्य रूप में रहेगा, वहाँ भी साधन रूप में ही इसकी स्थिति अन्विष्ट रहेंगी। निष्कर्षतः इस प्रसंग में 'अद्भुत' शब्द काव्य-चमत्कार का ही पर्याय है, अद्भुत रस का नहीं।

(६) शान्त रस का स्यायिभाव—

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने शान्त रस का स्यायिभाव निवेदन न मानकर 'शम' माना है। इस सम्बन्ध में उनके निम्न कथन उल्लेखनीय है—

१.२. साहित्यदर्पण ३।३ श्रुति ।

(१) निःस्पृहता (इच्छा के अभाव) को 'शम' कहते हैं—निःस्पृहत्वं शमः । (पृष्ठ ३३०)
काम, क्रोध, लोभ, मान, माया आदि से रहित, विषयसंलग्नता से विमुक्त, अक्लिष्ट चित्तवृत्ति रूप 'शम' नामक स्थायिभाव शान्त रस [केन्द्र में अभिव्यक्त] होता है : 'काम-क्रोध-लोभ-मान-माया-चतुर्परत-परोमुखता-विवाजिताऽक्लिष्टचेतोरूपशमस्थायी शान्तो रसो भवति । (पृष्ठ ३१७)

(२) दरिद्रता, व्याधि, अपमान, ईर्ष्या, भ्रम, आक्रोश, ताडन, इष्टवियोग, पर-विभूतिदर्शन आदि (सासारिक) क्लेशों के कारण विरसता (वैराम्यभाव) तथा तत्त्वज्ञान को निर्वेद नामक संचारिभाव कहते हैं—निर्वेदस्तत्त्वधीः क्लेशैर्वैरस्पम् । (पृष्ठ ३३१)

(३) जन्म-मरण से युक्त संसार से, भय तथा वैराग्य से, जीव, धर्जीव (परमात्मा और प्रकृति), नाश-पुण्य आदि तत्त्वों तथा मोक्ष के उपायों के प्रतिपादक शास्त्रों के विमर्शन से शान्त रस की उत्पत्ति होती है । (पृष्ठ ३१७)

स्पष्टतः उक्त कथनों में 'शम' को स्थायिभाव माना गया है और 'निर्वेद' को संचारिभाव । रामचन्द्र-गुणचन्द्र से पूर्व मम्मट ने निर्वेद को स्थायीभाव भी माना था और संचारिभाव भी, तथा 'निर्वेद' स्थायिभाव से शान्त रस की अभिव्यक्ति स्वीकृत की थी । किन्तु इन आचार्यों ने मम्मट के इस मन्तव्य को अस्वीकृत करते हुए कहा है कि एक ही भाव को इन दोनों नामों से अभिहित करना स्ववचनविरोध है । किन्तु वस्तुतः मम्मट को भी वही अभीष्ट है जो इन दोनों आचार्यों को है । उन्होंने सभी स्थायिभावों तथा संचारिभावों की सूची प्रस्तुत करके 'इहै' 'लक्षण नाम प्रकाश' समझ कर इनका लक्षण प्रस्तुत नहीं किया । किन्तु उनके शान्त रस के प्रथमतः उदाहरण "अहो वा हारे वा कुसुमशयने वा दृपदि वा" से निस्तन्देह यही प्रतीत होता है कि निर्वेद नामक स्थायिभाव तत्त्वज्ञान से उत्पन्न भाव है, न कि सांसारिक क्लेशों के कारण उत्पन्न वैराग्य भाव से । हाँ, यह दूसरा रूप इसे संचारिभाव की ही संज्ञा देगा, स्थायिभाव की नहीं ।

मम्मट की इसी धारणा को मम्मट के टीकाकारों ने भी समझा था और स्पष्टतः लिखा था—

स्थायी स्याद् विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानाद् भवेद् यदि ।

इष्टानिष्टवियोगाप्सिद्धस्तु व्यभिचार्यन्ती ॥

का० प्र० (याज्ञवल्किनी टीका) पृष्ठ ११६

किन्तु फिर भी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने निर्वेद और शम का स्वरूप अलग-अलग दिखाकर विषय की स्पष्टता में पूर्ण सहयोग दिया है, और सम्भवतः इनके ग्रन्थ से अथवा इसी के अनुसृत विष्णु

१. (क) निर्वेदस्य × × × प्रथमम् × × × उपदान व्यभिचारिः खेप्रि
स्थापिताभिधानार्थम् । का० प्र० ५ । ३५

(ख) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।

वही ५ । ३५

२. मम्मटस्तु व्यभिचारिद्वयनप्रस्ताये निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायिता, 'प्रतिभूतविभावादि-परिग्रह' इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारिता च वृथाणाः स्वचनविरोधेन प्रतिहृत इति ।

—हि० का० ६० पृष्ठ १३२ ।

अन्य ग्रन्थ से प्रेरणा प्रारत कर विश्वनाथ ने भी काव्यप्रकाश के समान 'निर्वेद' को दोनो रूपों में स्वीकृत न कर इन्ही के अनुरूप शम तथा निर्वेद दोनों भावों की अलग-अलग स्वीकृति की है।^१ वस्तुतः स्वच्छ प्रतिपादन के लिए आवश्यक भी यही था।

(७) अभिनय और नट तथा प्रेक्षक—

'अभिनीयते इति अभिनय'। अभिनय उसे कहते हैं जिसके द्वारा [अभीष्ट] अर्थ (विषय) सामाजिकों के सम्मुख साक्षात् रूप से प्रस्तुत किया जाता है—सामाजिकानामाभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यतेऽर्थाऽनेनेति अभिनयः।

अनुकर्ता (नट) अपने अनुकरण द्वारा अनुकार्य (रामादि) और प्रेक्षक के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है : उसके अनुकरण के बल पर प्रेक्षक उसे ही अनुकार्य समझने लगता है। किन्तु यह सब कैसे सम्भव होता है क्योंकि न तो अनुकर्ता ने अनुकार्य को देखा होता है, और न प्रेक्षक ने। अतः न तो अनुकर्ता अनुकार्य का [यथावत्] अनुकरण कर सकता है और न प्रेक्षक अनुकर्ता के अनुकरण को देखते हुए भी इसे [वास्तविक] अनुकरण मान सकता है।^१

इस घंका के सभाषान में रामचन्द्र-गुणचन्द्र के निम्न कथन उल्लेखनीय हैं :

१. अभिनेता कवि-प्रणीत रामादि के चरित को पढ़कर अत्यन्त अम्यास द्वारा ऐसा अनुभव करने लगता है कि उसने अनुकार्य को स्वयं देख सा लिया है और पुनः यह अध्यवधान करने लगता है कि मैं उसी का ही अनुकरण कर रहा हूँ।^१

२. यहा एक क्षका की जा सकती है कि कवि जन अपने नाटकों में राम आदि अनुकार्य की अवस्था का चित्रण कैसे कर पाते हैं जबकि उन्होंने भी तो राम को नहीं देखा होता। इसके उत्तर में कहा गया है कि "शिकानदर्शी श्रुतिजनों से उन्हें यह ज्ञान मिलता है, जिसके आधार पर वे अपने नाटकों का निर्माण करते हैं, तथा इनके ही ज्ञान पर पूर्ण विश्वास करने से प्रेक्षक भी नट को अनुकार्य समझ लेता है।"^१

३. यद्यपि नट को यह ज्ञात नहीं होता कि अमुक अवसर पर किस प्रकार का हास्य भयवा रोदन अनुकार्य ने किया होगा, किन्तु वह वस्तुतः शोकव्यवहार का (लोक में विभिन्न अवसरों पर हसने और रोने वाले व्यक्तियों का) अनुकरण कर रहा होता है।^१

१. साहित्यदर्पण ३। १४२, १७५, २४५

२. रामादेरनुकार्यस्य नटेन प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टत्वात्। अनुकर्ता हि अनुकार्यमदृष्ट्वा नानु-
कर्तुंमत्तम्। प्रेक्षकोऽपि चादृष्टानुकार्यो नाऽनुकर्तुं रनुक्तं त्वमनुमन्यते।

हि० ना० ६० पृष्ठ ३५२

३. तदयं नटो रामादेश्चरितं कविनिबद्धमधीत्य अत्यन्ताऽभ्यासवशात् स्वयं दृष्टमनुमन्यमानोऽनु-
करोमि इत्यप्यवस्यति।—वही

४. इह तावद् इत्यमाकृतिरित्य गतिः। × × × इत्येवमशेषमपि रामादिललितम् श्रुत्वा
कालदर्शनात् ज्ञानेन निश्चितं कवयो नाटके निबध्नन्ति। तत्र चार्थं मुनिज्ञानविशयात्
नटस्य साक्षाद् दर्शनेमेव।—वही, पृष्ठ ३५३

५. परमार्थतस्तु लोकप्रवहारमेवाऽऽमनुवर्तते।—वही

४. उधर प्रेक्षक भी यद्यपि देश-काल के भेद के कारण नट को रामादि समझने में असमर्थ होता है, तो भी नट द्वारा उच्चरित रामादि के शब्द-सकेतो के श्रवण तथा अत्यन्त मनोरम संगीत आदि के बशीभूत होकर उस नट को रामादि समझने लगता है जो [वाचिक आदि] चार प्रकार के अभिनय से आच्छादित हो चुका होता है—उसका अपना वास्तविक रूप रामादि के रूप के नीचे डूब गया होता है। ऐसी स्थिति में प्रेक्षक रामादि की सुख अथवा दुःख रूप अवस्थाओं में लीन हो जाता है।^१

५. इसके अतिरिक्त अनुकर्त्ता को अनुकार्य समझ लेने का कारण आगति भी है, जिसके बल पर प्रेक्षक शृंगार आदि रसों का आस्वाद प्राप्त करता है : उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृंगाराद्यम् । क्योंकि इसी भ्रान्ति के ही कारण स्वप्न में भी कामिनी, चैरी अथवा चौर आदि को देख कर स्वप्नद्रष्टा स्तम्भ आदि अनुभावों का अनुभव करते हैं।^१

उक्त कथनों का निष्कर्ष यह है कि कोई प्रेक्षक जब तक अनुकर्त्ता को कृत्रिम व्यक्ति समझ रहा होता है तब तक उसे रसास्वाद प्राप्त नहीं हो सकता।^१ किन्तु जब वह उसे अनुकार्य समझने लगता है तभी उसे रसास्वाद की प्राप्ति होती है। उसे अनुकार्य समझ लेने का कारण है उसका अभिनय-कौशल तथा अन्य रंगमञ्चोपय मनोहारी व्यवस्था। इन दोनों को नाट्यदर्पण के अनुसार 'भ्रान्ति' अथवा चकाचौध भी कह सकते हैं। उधर अनुकर्त्ता का अभिनय-कौशल भी इसी अध्यवसान पर आधारित है कि वह अपने आपको अनुकार्य ही समझ ले और यह तभी सम्भव है जब एक ओर तो वह कवि-निबद्ध नाटक का पुनः पुनः अभ्यास करता है और दूसरी ओर वह लौकिक व्यवहार से विभिन्न प्रकार के मनोभावों का प्रदर्शन सीखता है। छेप रहा कवि का प्रश्न कि उसे अनुकार्यों की विभिन्न मनोदशाओं का ज्ञान कैसे हो जाता है? वह इसे ज्ञानचक्षुओं से देखने वाले ऋषियों से प्राप्त करता है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का उक्त विवेचन अधिकांशतः मान्य है। उनका अन्तिम कथन किञ्चित् विचित्र है। इसका अभिप्राय केवल यही लिया जा सकता है कि कविजन काव्य नाटक के निर्माण के समय अपनी कल्पना के बल पर जो विवरण प्रस्तुत करते हैं वे शायद लगभग वैसे ही होंगे जैसे कि अनुकार्यों के साथ घटित हुए होंगे। जिसे आज का आलोचक कल्पना (इमैजिनेशन) कहता है उसे रामचन्द्र-गुणचन्द्र के शब्दों में 'ऋषियों की ज्ञानचक्षु' कह सकते हैं। स्वयं वाल्मीकि भी यदि राम के समय में रहे हों तो भी वे उनकी सर्व प्रकार की मनोदशाओं से अवगत नहीं होंगे। अतः उनकी ज्ञानचक्षु को 'कल्पना' का पर्याय मान सकते हैं। इसी प्रकार भास, कालिदास आदि नाटककारों ने अन्य मुनियों के सम्पर्क द्वारा अनुकार्य व्यक्ति की मनोदशाओं का ज्ञान प्राप्त किया होगा—यह मानना भी न तो व्यवहार-संगत है और न बुद्धिसंगत।

हमारे विचार में अनुकार्य की स्थिति के अवबोध के लिए सर्वप्रमुख साधन है परम्परा-

१. प्रेक्षकोऽपि रामादिशब्दसकेतश्रवणाद् अतिहृद्यसंगीतकाहितवैषम्याच्च स्वरूपदेशकालभेदेना-
स्त्याभूतेष्वपि अभिनेयचतुष्टयाऽऽच्छादनात् तथाभूतेष्वपि नटेषु रामादीनामद्यदस्यति ।
अतएव तासु तासु सुखदुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु तन्मयीभवति । —यही, पृष्ठ ३५२-३५३
२. उन्मिषन्ति च भ्रान्तेरपि शृंगाराद्यम् । कामिनीचैरि-चौरादीन् अधिस्वप्नमभिपश्यतः पुंसः
कथम् अवरथा रसप्ररोहरोहिणस्तत्र स्तम्भाद्योऽनुभावाः प्राबुर्भवेयुरिति । —यही, पृष्ठ ३५३
३. कृत्रिममेतद् इति जानन्तो (प्रेक्षकाः) च रामादिवसुखदुःखेषु तन्मयीभवेयुः । —यही

गत ज्ञान अथवा लोकानुधुति। इसी के ही बल पर कविजन राम के परम्परागत अथवा लोकानुधुत रूप का चित्रण करते चले आये हैं। यद्यपि अपनी कल्पना के आधार पर वे उनके चरित्र में इधर-उधर परिवर्तन भी कर देते हैं, तथापि उन के मूल रूप में, उनकी मूल भावना में, कोई अन्तर नहीं आता। वह अपने ही देश-विशेष अथवा काल-विशेष के व्यक्ति के रूप में ही चित्रित किये जाते हैं, अन्य देश अथवा काल के व्यक्ति के रूप में नहीं। इसी प्रकार नट भी यद्यपि नाटक में निर्दिष्ट नाटक-कार (अथवा निर्देशक) के 'स्वगत, प्रकट, सावेग, सकोप, सहर्ष' 'तारस्वरेण' आदि निर्देशों द्वारा अभिनय-कौशल प्राप्त करता है, किन्तु किसी व्यक्ति विशेष के अभिनय के लिए उसे निर्देशन लोक-परम्परा द्वारा ही मिलता है। विरही राम, विरही यक्ष और विरही पुहुरवा के विरह-विलाप में क्या अन्तर है यह ज्ञान उसे अथवा उसके निर्देशक को केवल लोक-परम्परा द्वारा ही मिलता है। ठीक यही स्थिति प्रेक्षक की भी है। सीता के वियोग में 'राम' यदि रगमच पर बिसूरने लगता है तो भारतीय परम्परा से अभिन्न प्रेक्षक का 'बहण' रस हास्य-विनोद में परिवर्तित हो जाता है, किन्तु इस परम्परा से अनभिज्ञ किसी विदेशी के रसास्वाद में कोई अन्तर नहीं आता। बिसूरना भी कण्ठ रस की अभिव्यक्ति का कारण बन सकता है पर सामान्य अनुकार्य के अनुकरण-प्रसंग में न कि राम जैसे धीरोदात्त नायक के प्रसंग में। इस रसमग अथवा रसास्वाद का एक मात्र कारण है लोक-परम्परागत ज्ञान अथवा लोकानुधुति। इसी कसौटी पर यदि कोई नट अभिनय करता है तो प्रेक्षक उसे अनुकार्य समझकर रसास्वाद प्राप्त करता है।

८ रस की सुखदुःखात्मकता

इस ग्रन्थ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रसंग वह है जिसमें रस को सुखदुःखात्मक कहा गया है—सुखदुःखात्मको रसः। (३।७) इस कथन को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकारों का अभिमत है कि जहाँ शृंगार, हास्य, धीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस सुखात्मक हैं, वहाँ कण्ठ, रोद्र, धीमत्स और भयानक ये चार रस दुःखात्मक हैं।^१ प्रथम वर्ग के रस तो निर्विवाद रूप से सुखात्मक हैं ही, किन्तु द्वितीय वर्ग के रसों की भी यदि सुखात्मक मान लिया जाता है तो इसी पर रामचन्द्र-गुणचन्द्र को आपत्ति है। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्नोक्त चार तर्क उपस्थित किये हैं :

१. उनका पहला तर्क यह है कि भयानक आदि रस सहृदयों को किसी अवर्णनीय क्लेशदादा तक पहुँचा देते हैं। इनसे सामाजिक उद्वेग प्राप्त करते हैं। सुखास्वाद से भी भला वही कोई उद्विग्न होता है ? सीता का हरण, द्रौपदी के वस्त्रो तथा केशो का कर्पण, हरिश्चन्द्र की चाण्डाल के यहाँ दासता, रोहिताश्व की मृत्यु आदि घटनाओं के अभिनय को देखकर कौन ऐसा सहृदय है जो सुखास्वाद को प्राप्त करता हो ?^३

२. दूसरा तर्क यह है कि काव्य नाटक में लौकिक आचार-व्यवहार का चित्रण यथार्थ रूप में ही किया जाता है। कविजन सांसारिक सुखों का वर्णन सुख-रूप में करते हैं और दुःखों का वर्णन दुःख रूप में। विरही राम-सीता आदि अनुकार्यों की कण्ठ-दशाएँ निस्सन्देह दुःखात्मक

१. हिन्दी नाट्यदर्पण पृष्ठ १६०।

२. भयानको धीमत्स करणो रोद्रो वा रसास्वादवताम् अनास्येषा कामपि क्लेशदादाशामुप-नयति। अतएव भयानकादिभिरुद्विजते समाज। न नाम सुखास्वादाद् उद्वेगो घटते।

—वही, पृष्ठ २६१।

३. वही, पृष्ठ २६१-२६२।

होती है, अतः यदि उनके काव्य-नाटक गत अनुकरण को सुखारमक माना जाए तो वह अनुकरण वास्तविक न होगा, क्योंकि वह लौकिक वस्तुस्थिति से विपरीत ही रहेगा ।'

३. रस को सुखात्मक मानने वालों की ओर से यह कहा जा सकता है कि जैसे लोक में विरही एवं शोकाकुल जनो के सम्मुख कारुणिक प्रसंगो का वर्णन अथवा अभिनय करने से उन्हें सुख-साम्बन्धा मिलती है, इसी प्रकार काव्य-नाटक गत कथण, भयानक आदि रस भी सुखात्मक ही हैं, दुःखात्मक नहीं हैं। किन्तु रामचन्द्र-गुणचन्द्र का कथन है कि वस्तुतः ऐसे प्रसंगो में भी दुःखी जनो को जो सुखास्वाद मिलता प्रतीत होता है, मूलतः वह भी दुःखास्वाद ही है, क्योंकि यदि वही व्यक्ति दुःखपूर्ण वार्ताओ से सुख-सा अनुभव प्रतीत करता है, तो प्रमोदपूर्ण वार्ताओ से [इतर जनो के समान] सुख का अनुभव न कर विकलित ही होता है। अतः वादियो का उक्त सहायुभूति-मूलक तर्क मनस्तोषक एव मान्य नहीं है। वस्तुतः कथण आदि रस दुःखात्मक ही हैं ।'

४. यद्यपि भयानक, कथण आदि रस दुःखात्मक ही हैं, फिर भी यदि इनसे सहृदय परम आनन्द को प्राप्त करते हैं तो केवल-मात्र कवि एव नट की कुशलता से चमस्कृत होकर ही ।'

इस कथन से ग्रन्थकारो का तात्पर्य यह है कि कवि के व्यवस्थित एव मार्मिक निरूपण को पढ़कर अथवा नट के सुन्दर एव हृदयहारी अभिनय को देखकर हमें जो आस्वाद प्राप्त होता है, उसको लोचुपता ही सहृदय को भयानक, कथण आदि रसो से युक्त भी काव्य-नाटको से आनन्द प्राप्त कराती है तथा उन्हें बार बार पढ़ने-देखने की ओर प्रवृत्त कराती है, अन्यथा ये रस तो दुःखात्मक ही होते हैं। एक उदाहरण द्वारा अपने कथन की पुष्टि करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जिस प्रकार लोक में वीर पुरुष अपने उस प्राण-घातक घातु को भी देखकर आश्चर्यचरित से रह जाते हैं जो प्रहार करने में अत्यन्त निपुण होता है, उसी प्रकार प्रेक्षक भी अथवा नटके कौशल द्वारा चमस्कृत हो जाते हैं।

उक्त तर्कों में से प्रथम तर्क मन के उद्वेग को लक्ष्य में रख कर प्रस्तुत किया गया है और द्वितीय तर्क लौकिक व्यवहार और काव्य-रचना की पारस्परिक अन्वयति को। तृतीय तर्क लौकिक सहायुभूति एवं साम्बन्धा से सम्बद्ध है और चतुर्थ तर्क काव्यत्व एवं अभिनय-जग्य बाह्य चमत्कार से। यदि सम्भोरतापूर्वक विचार करें तो इन चारो तर्कों के मूल में एक ही अन्त धारणा अतिहित है कि लौकिक व्यवहार और कवि-कृति में कोई अन्तर नहीं है, ये दोनों एक ही घरातल पर अवस्थित हैं। यही कारण है कि पहले तर्क में सहृदय को भी भयानक, कथण आदि रसों

१. (क) कथयन्तु सुखदुःखात्मकसत्तारानुस्यूयेण रामादिचरितं निबन्धन्तः सुखदुःखात्मक-रसानुविष्टमेव प्रप्नन्ति ।

(ख) सथानुकार्यगताश्च कथणादयः परिदेवितानुकार्येणात् तावद् दुःखात्मका एव । यदि चाऽनुकरणे सुखारमनः स्युः न साम्यम् अनुकरणं स्यात् । विपरीतत्वेन भासनाद् इति । —यही, पृष्ठ २६१-२६२ ।

२. यही, पृष्ठ २६२ ।

३. प्रनेनेष च शार्दाङ्गाह्लादनेन क्विनटनक्तिजगमना चमत्कारेण दिप्रसव्या परमानन्द-रूपतां दुःपारमवैष्यवि चरणाविषु मुमेवसः प्रतिजानते । —यही, पृष्ठ २६१ ।

४. विरमयते हि निरददेवचारिणाऽपि प्रहारकुशलेन चरिणा शोषोश्चरमानिनः । —यही

द्वारा वैसा ही उद्दिग्ध एवं विकलित समझ लिया गया है जैसा कि सामान्य व्यवहार में भयभीत प्रयत्न कल्याणप्रसन्न व्यक्ति को। किन्तु वस्तुतः लौकिक रति, शोक आदि भावों में तथा काव्यगत इन भावों में सदा अन्तर रहता है। लौकिक भाव एक देश, काल एवं व्यक्ति तक सीमित रहते हैं और काव्यगत भाव प्रत्येक प्रकार की सीमा से नितान्त विमुक्त होते हैं। इसी प्रकार दूसरे तर्क में उक्त धारणा के ही बल पर लौकिक घटनाओं और काव्यगत घटनाओं को एक-समान समझ लिया गया है। किन्तु यह एक भ्रमान्ध मन्तव्य है। दोनों में बहुविध तथा बहुहेतुक अन्तर रहता है। इनमें से एक अन्तर तो यह है कि काव्य में लौकिक घटनाओं के असमान केवल यथार्थ का चित्रण न होकर यथार्थ के साथ कल्पना-तत्त्व का सम्मिश्रण भी अनिवार्य रहता है। अस्तु! अतः लोक और काव्य की पारस्परिक अनुकूलता को आधार मानकर अनुकार्य के ही अनुरूप सहृदय के सुखदुःख का निर्णय करना मूलतः भ्रमपूर्ण है। अब तीसरे तर्क को लें। उधर लोक में पुत्र विच्छेदविह्वला माता के शोक में, और इधर ऐसी माता को रगमच पर देखकर अथवा इसके चरित्र को पढ़कर शोक-विह्वल सहृदय के शोक में अन्तर है। उधर सान्त्वना से दुःख का हल्का होना, इस का कुछ क्षणों के लिए लुप्त हो जाना अथवा इसका बढ जाना आदि सभी स्थितियाँ सम्भव हैं, किन्तु इधर शोक स्थायिभाव से उद्दिग्ध अथवा आवृत्त [यदि इस स्थिति को यह नाम दें तो] सहृदय के लिए प्रथम तो सान्त्वना प्रदान का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, क्योंकि काव्य नाटकगत घटनाओं से इतर घटनाओं के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं। और यदि उसके सम्मुख ऐसी घटनाएँ लायी भी जाती हैं तो उस समय वह सहृदय न होकर सासारिक व्यक्ति-मात्र रह जाता है। चतुर्थ तर्क में सत्यता अवश्य है, पर एकांगी। कवि के रचना कौशल से और विशेषतः नट के अभिनय-कौशल से जग्य चमत्कार निस्सन्देह सहृदय को अभिभूत कर देता है। इस कथन की पुष्टि में एक प्रमुदाहरण लीजिए कि किस प्रकार एक अत्यन्त कथणोत्पादक एवं हृदयविदारक दृश्य भी एक अनाड़ी नट के असफल प्रदर्शन द्वारा कथण के स्थान पर हास्य का रूप धारण कर लेता है। अस्तु! कवि और नट की कुशलता से उत्पन्न चमत्कार से किसी भी स्थिति में इनकार नहीं किया जा सकता, किन्तु यह चमत्कार पूर्ववर्ती प्रभाव का उद्दीपक कारण होता है, उसका उत्पादक कारण नहीं होता। उदाहरणार्थ, शृंगार रस में वह सहृदय के रति भाव को उद्दीप्त करता है और कथण रस में उसके शोक भाव को। इसके प्रतिरिक्त उक्त कौशल-जग्य चमत्कार कवि अथवा नट की प्रतिभा के प्रति प्रेक्षक के हृदय में आश्चर्यभाव भी उत्पन्न करता है। किन्तु जैसा कि रामचन्द्र गुणचन्द्र का मन्तव्य है कि इसी आश्चर्यभाव को कथण रस में सुख-प्राप्ति का कारण नहीं मानना चाहिए। यह आश्चर्यभाव लौकिक होता है। अतः इससे लौकिक आह्लास ही उत्पन्न हो सकता है, काव्यगत रस—सुखात्मक रस—उत्पन्न नहीं हो सकता।

(२)

रसों को सुखात्मक और दुःखात्मक स्वीकार करने वाले प्रथम आचार्य रामचन्द्र गुणचन्द्र नहीं है। इनसे पूर्व भी कुछ इस प्रकार के स्पष्ट कथन मिल जाते हैं।^१

(क) येन स्वप्नयापि सुखदुःखजननदात्कियुक्ता विषयसामग्री धार्यं सुखदुःखस्थभावो रसः। [अज्ञात आचार्य] अभिनवभारती, भा० १ पृष्ठ २७८

१. विशेष विवरण केलिए देलिए 'रससिद्धान्तः स्वरूप विश्लेषण' (आनन्दप्रकाश दीक्षित)

(ख) रसस्य सुखदुःखात्मकतया तदुभयलक्षणत्वेन उपपद्यते अतएव तदुभयजनकत्वम् ।
—रसकलिका (रुद्रभट्ट) नम्बर आफ रस'ज पृष्ठ १५५

(ग) रसा हि सुखदुःखरूपाः । शृ० प्र० २य भाग पृष्ठ ३६६

किन्तु इन कथनों से यद्यपि यह स्पष्ट प्रतीत नहीं होता कि उक्त आचार्य सभी रसों को सुखात्मक और दुःखरूपक स्वीकार करते थे अथवा कुछ को सुखात्मक और कुछ को दुःखरूपक, किन्तु फिर भी सम्भावना यही है कि वे भी रामचन्द्र गुणचन्द्र के समान शृंगार, हास्य आदि को सुखात्मक मानते होंगे और भयानक, करुण आदि को दुःखरूपक । इन कथनों के अतिरिक्त आचार्य वामन ने किसी आचार्य के नाम पर ऐसा कथन भी उद्धृत किया है, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह स्वयं अथवा सम्भवतः कुछ अन्य आचार्य भी करुण रस में सुख और दुःख दोनों का सम्मिश्रण मानते थे ।

करुणप्रेसणीयेषु सम्भवत् सुखदुःखयोः ।

यथाऽनुभवतः सिद्धस्तपैवोज प्रसादयो ॥ का० सू० वृ० ३।१।६ वृत्ति

अर्थात् जिस प्रकार करुण रस के नाटकों में सुख और दुःख का मिश्रण सहृदयजनों के अनुभव द्वारा सिद्ध है, उसी प्रकार भोज और प्रसाद का मिश्रण भी उनके अनुभव द्वारा सिद्ध है । सुख पहले होता है अथवा दुःख पहले—इस और इस श्लोक में कोई संकेत नहीं है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह करुण रस में दुःख की स्थिति पूर्वमान्य होगी, और सुख की बाद में । दूसरे शब्दों में, सहृदय लौकिक दुःख का अनुभव करता हुआ भी अन्ततः काव्यगत आनन्द का—मौलिक सुख का—अनुभव करता है । कुछ इस प्रकार की धारणा की व्याख्या मधुसूदन सरस्वती ने सम्भवतः सर्वप्रथम मौलिक रूप से की है । उनके कथन का अभिप्राय यह है कि सभी रसों से निस्सन्देह सुख का अनुभव होता है, परन्तु यह अनुभव सब रसों में तुल्य रूप से नहीं होता । इसका कारण यह है कि सत्त्वगुण की प्रधानता ही सुख का हेतु है, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि किसी रस में रजोगुण और तमोगुण नितात अभिभूत हो जाए और सत्त्वगुण पूर्णतः आविर्भूत अथवा उद्ध्रिक्त हो जाए, अपितु रजोगुण और तमोगुण किसी न किसी अंश तक अवश्य विद्यमान रहते हैं । ये किस रस में कितनी मात्रा में विद्यमान रहते हैं, यद्यपि इसका निर्णय कर सकता बटिन है तथापि वे रहते अवश्य हैं । अतः उनके मिश्रण के तारतम्य के अनुसार सब रसों में सुख के साथ दुःख का मिश्रण भी सम्भवा चाहिए ।

इस प्रकार हमारे सम्मुख निम्नोक्त-चार विवक्ष्य उपस्थित होते हैं—

(क) सभी रस सुखात्मक हैं,

(ख) सभी रस सुखदुःखात्मक हैं

(ग) शृंगार, हास्य आदि रस सुखात्मक हैं और भयानक, करुण आदि रस दुःखरूपक हैं,

(घ) शृंगार आदि रस तो सुखात्मक हैं किन्तु भयानक आदि रस सुखदुःखात्मक हैं ।

१. सत्त्वगुणस्य सुखरूपत्वात् सर्वेषां भावनां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोनिमिषण्यत्वात् तारतम्य-मयणतम्यम् । प्रती न सर्वेषु रसेषु तुल्यमुदानुभवः ।

इन विक्तियों में से रामचन्द्र गुणचन्द्र यद्यपि स्पष्टतः तीसरे विकल्प को स्वीकार करते हुए भयानक आदि को दुःसात्मक स्वीकार करते हैं तथापि वे इन्हें अन्ततः सुखात्मक भी स्वीकार करते होंगे। बुद्ध इग प्रकार का सकेत उन्होंने स्वयं भी दिया है—पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णा-स्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वङ्गते इति। (हि० ना० ६० पृष्ठ २६१) अर्थात् "जिन प्रकार पानक (चट्टे-भीठे तीखे पेय) की मिठास दुःस्वादजनक तीक्ष्ण पदार्थ के मिश्रण से और भी अधिक सुखास्वाद प्रदान करती है, उसी प्रकार कष्टण आदि रसों में भी दुःख का मिश्रण सुखास्वाद प्रदान करता है।" यस्तुतः देखा जाए तो पानक पदार्थ और कष्टण रस में स्थापित यह उपमेय-उपमान सम्बन्ध यथावत् एव सुस्पष्टित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पानक में माधुर्य और तीक्ष्णता के मिश्रण में भेजे ही पूर्वापर सम्बन्ध हो, किन्तु उसके आस्वाद में पूर्वापर-सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु कष्टण रस के शोक (लौकिक दुःख) और इस रस के आस्वाद (सुख) में निस्सन्देह पूर्वापर सम्बन्ध बना रहता है, यद्यपि यह अलग बात है कि इनमें काल का अन्तर इतना स्वरित एव तिष्ठ होता है कि यह कहते नहीं बनता कि इस दुःख और सुख में कोई काल सम्बन्धी अन्तर है भी। अस्तु ! जो हो, रामचन्द्र गुणचन्द्र का यह उद्धरण यह मानने के लिए पर्याप्त है कि यह उक्त विक्तियों में से तीसरे विकल्प को स्वीकार न कर चौथे विकल्प को स्वीकार करते होंगे कि भयानक, कष्टण आदि केवल दुःसात्मक न होकर सुखदुःसात्मक हैं। अथवा यो कहिये कि दुःखसुखात्मक हैं। पूर्वस्थिति में यह दुःसात्मक है और अन्तिम स्थिति में सुखात्मक। यदि यही उनकी मान्यता है तो इसकी व्याख्या उपस्थित की जा सकती है। यदि वे भयानक, कष्टण आदि को नितान्त दुःसात्मक स्वीकार करते हैं तो उनकी यह धारणा काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान के तो प्रतिभूत है ही, व्यवहार के भी सर्वथा प्रतिकूल होने के कारण सर्वथा प्रमा-य है। इस दृष्टि से विद्वानाय का केवल एक यही तर्क इसे अमान्य ठहराने के लिए पर्याप्त है कि कष्टण आदि रस इसीलिए सुखात्मक हैं कि सहृदय जन इसे देखने के लिए सदा उन्मुख अर्थात् खालापित रहते हैं—

कष्टणादायपि रसे जायते यद्वर सुखम् ।
सचेतसामनुभव प्रमाण तत्र केवलम् ।
किञ्च तेषु यदा दुःख न कीऽपि स्यात्तदुन्मुख ॥

सा० ६० ३१४,५

रामचन्द्र गुणचन्द्र का कोई पाठक उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ के अवलोकन के उपरान्त यह मानने को कदापि उद्यत न होगा कि उन जैसे तत्त्ववेत्ता और चिन्तक आचार्य कष्टण आदि को केवल दुःसात्मक ही मानते होंगे। वह इसे दुःसात्मक मानते अवश्य होंगे किन्तु पूर्वस्थिति में, और अन्ततः वे इन्हें सुखात्मक ही मानते होंगे।

(४)

इस मायता की व्याख्या कई रूपों में तथा कई दृष्टियों से की जा सकती है :

१. शृंगार, कष्टण आदि सभी प्रकार के रसों में रति, शोक आदि सभी स्थायिभाव जब तक विभावादि के संयोग द्वारा रसरूप में परिणत अथवा अभिव्यक्त नहीं होते, तब तक उनमें लौकिक सुख अथवा दुःख का ही अनुभव होता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी प्रेक्षक को शृंगार रस के नाटक में अपनी प्रियती की अथवा कष्टण रस के नाटक में अपने मृत पुत्र की स्मृति

हो जाती है तो उसका रति भयवा शोक भाव उसे लौकिक सुख भयवा दुःख की अनुभूति करायेगा। वह प्रेक्षक नाट्यगृह में बैठे हुए भी तत्क्षण के लिए सहृदय न होकर सांसारिक व्यक्ति ही होता है। किन्तु जिस क्षण वही व्यक्ति निजत्व की भावना से ऊपर उठ जाता है, वही क्षण रस-दशा का है—रतिजन्य सांसारिक सुख भयवा शोकजन्य सांसारिक दुःख इन रस-दशा की पूर्वस्थिति बन जाते हैं और रस-दशा अन्तिम स्थिति बन जाती है।

२. काव्यशास्त्रीय आधार पर लौकिक कारण, कार्य एवं सहकारिकारण काव्य में इसीलिए क्रमशः विभाव, अनुभाव और संचारिभाव कहाते हैं कि वे ध्रुव लौकिक क्षेत्र से ऊपर उठकर अलौकिकता के क्षेत्र में जा पहुँचते हैं। जब तक भय, शोक आदि भाव लौकिक कारण आदि से सम्पृक्त हैं, (चाहे वह घटना-स्थल नाट्यगृह भी क्यों न हो), तब तक वे निस्सन्देह दुःखात्मक हैं, किन्तु विभाव आदि से सम्पृक्त होने के कारण वे सुखात्मक भयानक, कर्ण आदि रसों के रूप में परिणत हो जाते हैं।

३. भयानक, कर्ण आदि को अपनी परिणति में सुखात्मक स्वीकार करने के लिए काव्याचार्यों का 'साधारणीकरण' नामक सिद्धान्त एक प्रबल साधन है, जिसके बल पर सहृदय प्रसाधारण (विशेष) से साधारण (सामान्य) भावभूमि पर उतर आता है।^१ उसका भय भयवा शोक किसी देश भयवा काल-विशेष से मुक्त हो जाता है।^१ वह अपने समस्त मोह, संकट आदि (से जन्य अज्ञान) से निवृत्त हो जाता है।^१ परिणामतः काव्य-नाटकगत कोई पात्र भव उसके लिए अपना विशिष्ट व्यक्तित्व छोड़कर मानव-मात्र बन जाता है—राम नामक पुरुष पात्र पुरुषमात्र बन जाता है और सीता नामक स्त्री-पात्र स्त्रीमात्र बन जाता है,^२ और इसका प्रगल्भ परिणाम यह होता है कि सहृदय निजत्व और परत्व दोनों प्रकार के विश्वासों से विनिर्मुक्त हो जाता है। अतः इस प्रकार की परिस्थिति में सहृदय के लिए न तो शृंगार आदि रसों द्वारा लौकिक सुखानुभूति स्वीकार की जा सकती है, और न भयानक आदि रसों द्वारा लौकिक दुःखानुभूति—यह भ्रवस्था दोनों प्रकार के रसों में अलौकिक सुखात्मिका ही होती है।

इस प्रकार अन्त में हम कह सकते हैं कि—

१. प्रत्येक स्थायिभाव अपरिपक्व भ्रवस्था में लौकिक सुख भयवा दुःख का कारण बनता है, किन्तु परिपक्व भ्रवस्था में केवल अलौकिक सुख का ही।

२. भयानक, कर्ण आदि रसों में निस्सन्देह प्रेक्षक भय, शोक आदि से जन्य दुःख का अनुभव करता है—किन्तु वह लौकिक दुःख ही होता है—ठीक उसी प्रकार जैसे वह शृंगार, हास्य आदि रसों में रति, हास आदि से जन्य लौकिक सुख का अनुभव करता है। किन्तु यह लौकिक सुख भयवा दुःख रस-दशा की पूर्ववर्ती भ्रवस्था है और रस-दशा उसकी परवर्ती भ्रवस्था है।

१. (क) प्रसाधारणस्य साधारणकरणम् इति साधारणीकरणम् ।

२. × × × भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगितम् । —हिन्दी अभिनवभारती पृष्ठ ४७०

३. काव्ये × × नाट्ये च × × निविडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा विभावादि-साधारणीकरणमात्रेण × × × । —यही, पृष्ठ ४६४-४६५

४. तत्र सीतादिदग्धा. परित्यक्तजनकतनयाविविशेषा स्त्रीमात्रवाचिनः । —दशरूपक ४/४० वृत्ति

३. किन्तु यह सदा आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सहृदय को इस प्रकार के लौकिक सुख अथवा दुःख की अनुभूति हो ही, किन्हीं सहृदयों को नहीं भी होनी, यद्यपि ऐसे सहृदयों की संख्या बहुत अल्प होती है, किन्तु दोनों प्रकार के रसों से उन्हें अलौकिक सुखानुभूति अवश्य प्राप्त होती है।

४. अतः भयानक आदि रसों को नित्य रूप से दुःखात्मक नहीं मान सकते, और अधिकांशतः ऐसा मान लेने पर भी वह दुःख लौकिक ही होता है, किन्तु यह दुःख परवर्ती अलौकिक सुखानुभूति की प्राप्ति के लिए किसी भी रूप में न तो अनिवार्य साधन है और न ही सहायक साधन। हाँ, वह अत्यन्त भावुक सहृदयों की अलौकिक सुखानुभूति के लिए उद्दीपक कारण अवश्य सिद्ध हो सकता है।

५. निष्कर्षतः भयानक, क्रूर आदि रस दुःखात्मक नहीं है, वे वे भी शृंगार आदि के समान सुखात्मक ही हैं।

(ख) नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्यदर्पण का स्थान

नाट्यशास्त्र-सम्बन्धी उपलब्ध एवं अनुपलब्ध साहित्य का वर्गीकरण करने से हमें प्रमुख नाट्यशास्त्रियों की सात कोटियाँ मिलती हैं : —

(१) भरत के पूर्ववर्ती आचार्य जिनकी रचनाओं को भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में सर्वथा आत्मसात् कर लिया है। इन आचार्यों की रचनाएँ अभी तक अप्राप्य हैं।

(२) आचार्य भरत जिनका नाट्यशास्त्र सातान्दियों तक प्रायः सभी आचार्यों की रचनाओं का मूलाधार बना रहा।

(३) भरत के अनुवर्ती आचार्य जिनकी रचनाएँ भरत के नाट्यशास्त्र पर प्राकृत हैं। इन्होंने कारिकाएँ एवं वृत्तियाँ लिखकर भरत के मत का स्पष्टीकरण किया। इस वर्ग के प्रमुख आचार्य हैं—अभिनवगुप्त^१, धनञ्जय^२, सागरनन्दी^३, रामचन्द्र-गुणचन्द्र^४, शारदातनय^५, सिद्धभूपाल^६, रूपगोस्वामी^७, सुन्दरमित्र^८ और नन्दिकेश्वर^९।

(४) वे आचार्य जिनकी सम्पूर्ण रचनाएँ तो अनुपलब्ध हैं, किन्तु अन्य आचार्यों ने अपनी रचनाओं में जिनका उल्लेख करते हुए कहीं कहीं उनके उद्धरण दिये हैं। उदाहरणार्थ अभिनवगुप्त ने अपने प्रथम अध्याय में नान्दी का विवेचन करते हुए 'कोहलप्रदक्षिता नान्दी' लिख कर यह सिद्ध किया है कि उन्हें कोहल की कोई न कोई रचना उपलब्ध थी जो अब अप्राप्य है। वे एक स्थान पर भरत से कोहल का मतवैभिन्य दिखाते हुए वे लिखते हैं :

“अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेन एकावशाद्भ्रतवमुच्यते। न तु भरते।”

[अभिनवभारती, अध्याय ६ कारिका १० की वृत्ति]

अभिनवगुप्त ने दत्तिलाचार्य के श्लोकों को भी चौदह बार उद्धृत किया है। इससे सिद्ध होता है कि दत्तिल नामक आचार्य की भी कोई न कोई रचना अभिनवगुप्त को प्राप्त थी। सागरनन्दी के 'नाटकलक्षणरत्नकोष' में अरमकुट्ट और बादरायण की रचनाओं के कई उद्धरण प्राप्त होते हैं। इसी ग्रन्थ में शातकर्णी नामक आचार्य के कई उद्धरण पाये जाते हैं। अभिनवगुप्त

१.	रचना—अभिनवभारती	— समय दसवीं शताब्दी का अन्त।
२.	” दशरूपक	— समय ६७४ से ६९४ ई०।
३.	” नाटकलक्षणरत्नकोष	— समय ११ शतक का पूर्वार्ध।
४.	” नाट्यदर्पण	— समय १२ शतक का मध्यभाग।
५.	” भावप्रकाशन	— समय १२ और १३ शतक के मध्य।
६.	” नाटकपरिभाषा	— समय १४ शतक।
७.	” नाटकचमित्रिका	— समय १५ शतक।
८.	” नाट्यप्रदीप	— समय १६१३ ई०।
९.	” अभिनयदर्पण	— समय २-३ शती ई० (सम्भवतः)

ने तुंबह नामक आचार्य की रचना का उद्धरण देकर एक स्थान पर लिखा है—‘तुम्बहरोद-मुक्तम।’ अभिनवभारती के चौदहवें अध्याय में कात्यायन का मत कई श्लोकों में उद्धृत किया गया है। कात्यायन ने वीरो के भुजदह के वर्णन में स्रग्धरा छन्द और नायिका-वर्णन में वसन्त-तिलका का प्रयोग विहित माना है। इसी प्रकार इसी ग्रन्थ के चौथे अध्याय में राहुल नामक आचार्य का मत देते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं—‘यथोक्त राहुलेन,’ तथा ‘ते च यथाह राहुला’ विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण में नलकुट्ट की रचनाओं के उद्धरण दिये हैं। इस प्रकार इस कोटि के प्रमुख नाट्याचार्य हुए—मातृगुप्त, दत्तन, भद्रकुट्ट, वादरायण, सातकर्णी, तुम्बुर, कात्यायन, राहुल, नलकुट्ट आदि।

(५) पाँचवीं कोटि में वे आचार्य आते हैं जिनका एकमात्र नामोल्लेख पाया जाता है, किन्तु जिनकी न तो कोई रचना उपलब्ध है, न किसी श्लोक का उद्धरण ही कहीं पाया जाता है। ऐसे आचार्यों में भरत के पूर्ववर्ती हैं—शिलालिन्, कृशाश्व, धृतिल, शाण्डिल्य, वास्य जिनका उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में पाया जाता है। अभिनवभारती, दशरूपक और भावप्रकाशन में सदाशिव, पद्मभू, द्रोहिणि, व्यास, आञ्जनेय नामक आचार्यों का नाट्यकार के रूप में वर्णन मिलता है, परन्तु उनकी किसी रचना का उद्धरण नहीं पाया जाता। शारदातनय ने अपने ग्रन्थ भावप्रकाशन में सुबन्धु का उल्लेख किया है। यदि यह सुबन्धु वासवदत्ता के रचयिता भी हैं तो इनका समय पाँचवीं शताब्दी में मानना होगा, किन्तु नाट्यसम्बन्धी इनकी कोई भी रचना प्राप्य नहीं है।

(६) छठी कोटि में वे आचार्य आते हैं जिन्होंने नाटक के सम्बन्ध में कोई स्वतंत्र रचना न करके केवल भरत-नाट्यशास्त्र का भाष्य प्रस्तुत किया है। ऐसे भाष्यकारों में आचार्य अभिनवगुप्त, कीर्तिधर, नान्यदेव, भट्ट उद्भट, श्रीगणकुक, भट्टयत्र प्रसिद्ध हैं।

(७) सातवीं कोटि में वे आचार्य हैं, जिन्होंने काव्यशास्त्र के सभी ग्रन्थों को ग्रहण करके उसके कुछ अध्यायों में नाट्य-शास्त्र का विवेचन किया है। ऐसे आचार्यों में शिङ्गभूषाल, रूपगोस्वामी, भोजराज, विद्यानाथ और विश्वनाथ प्रसिद्ध हैं। शिङ्गभूषाल ने अपने ग्रन्थ ‘रसायन-सुधाकर’ में एक और तो ‘नाटक-परिभाषा’ की रचना केवल नाट्य-विषयों को लेकर की, और दूसरी और इस ग्रन्थ के अन्तिम भाग में काव्य के अन्य विषयों के साथ नाट्यशास्त्र पर भी प्रकाश डाला। इसी प्रकार भोजराज ने ‘शृंगारप्रकाश’ के बारहवें प्रकाश में नाटक का वर्णन किया और शेर में साहित्यशास्त्र के सप्तौ अथवा का १ अष्टौ अथवा ‘सरस्वतीकण्ठप्रकरण’ के पूर्ववर्त परिच्छेद में तो नाटक का विवेचन किया और शेष अध्यायों में काव्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों का। विद्यानाथ ने ‘प्रतापद्वयशोभूपण्य’ नामक ग्रन्थ के केवल तीसरे प्रकरण में नाटक का विवेचन किया और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के छठे परिच्छेद में नाट्य-सम्बन्धी लक्षणों पर प्रकाश डाला। इन आचार्यों ने भरत-नाट्यशास्त्र एवं दशरूपक को अपनी रचनाओं का आधार बनाया।

उक्त आचार्यों में से अधिकतर ने अपने को भरत के नाट्यशास्त्र का ऋणी माना है, किन्तु नाट्यदर्पण के रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र बड़े गर्व के साथ अपनी रचना को सर्वथा मौलिक मानते हैं, और भरत-नाट्यशास्त्र पर आर्द्रत दशरूपक के मतों का स्थान स्थान पर खण्डन करते हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के पूर्व धनञ्जय और उनके अनुज धनिक की दशरूपक पर प्रबल-वृत्ति का इतना प्रचार हो गया था कि सर्वत्र उक्त ग्रन्थ ही समादृत हो रहा था। धनञ्जय के उपरान्त

तीन शताब्दियों की रचना थी, और इस काल में ऐसे अनेक नाटक विरचित हो चुके थे, जिन्हें देख कर रामचन्द्र-गुणचन्द्र को दशरूपक के लक्षण और उदाहरण ग्रन्थों पर प्रतीत होने लगे, और उन्हें नाट्यशास्त्र पर एक स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता जान पड़ी।

रचना की प्रेरणा

रामचन्द्रगुणचन्द्र के पूर्व नाट्यशास्त्र सम्बन्धी तीन ग्रन्थ प्रति प्रसिद्ध थे। १. भरत-कृत 'नाट्यशास्त्र' २. धनञ्जय-कृत 'दशरूपक' ३. सागरनन्दी-कृत 'नाटकलक्षणरत्नकोष'। नाट्य-दर्पण में स्थान स्थान पर उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों से मतभेद मिलता है। रामचन्द्र स्वयं एक सफल नाटककार थे। उन्होंने एक दर्जन से अधिक नाटकों की रचना की। अपने ग्रन्थ नाट्यदर्पण में पारिभाषिक शब्दों का लक्षण देते हुए उदाहरण के लिए उन्होंने अपने नाटकों से उद्धरण दिये। इससे यह आभास मिलता है कि वे पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षण और उदाहरणों से असन्तुष्ट होकर नवीन ग्रन्थों की रचना आवश्यक समझते थे। वे स्वयं लिखते हैं कि कालिदास आदि महान् कवियों के बनाए हुए अनेक रूपकों को देख कर और स्वयं भी अनेक रूपकों का निर्याय करके हम दोनों नाट्य-लक्षण की विवेचना धारण करते हैं। (ना० द० ११२)

आचार्य विश्वेश्वर ने अपनी भूमिका में इस ग्रन्थ की प्रेरणा के सम्बन्ध में अपना मत देते हुए लिखा है "इसकी पृष्ठभूमि में राजनीति की प्रतिस्पर्धा की प्रेरणा रही हो तो भी कुछ आश्चर्य नहीं है। दशरूपककार धनञ्जय मालवनेरेश मुज के सभापण्डित थे। रामचन्द्र-गुणचन्द्र गुर्जरेश्वर के पण्डित थे। गुजरात और मालवा राज्यों का सदा संपर्क रहता था। इसमें दीर्घकाल तक युद्ध भी चलते रहे थे। इसलिए गौरव-प्रतिष्ठा के हर क्षेत्र में दोनों राज्यों की प्रतिस्पर्धा चलती रहती थी। इसी प्रतिस्पर्धा के कारण मालवाधीश के आश्रय में निमित्त दशरूपक की प्रतिस्पर्धा में इस नाट्यदर्पण की रचना हुई हो, यह सर्वथा सभावित है"।

दशरूपक और नाटकलक्षणरत्नकोष से नाट्यदर्पण की तुलना करते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि रामचन्द्र को पूर्ववर्ती आचार्यों के नाट्यसम्बन्धी लक्षणों से कई स्थलों पर इतना असन्तोष था कि उन्हें अपने मत को स्पष्ट करने के लिए एक नये ग्रन्थ की रचना करनी आवश्यक प्रतीत हुई। दशरूपक और नाट्यदर्पण की तुलना करते हुए २१ स्थलों पर मतभेद मिलता है, जिसका विस्तृत विवेचन भूमिका के पृष्ठ २१ से २५ तक देखा जा सकता है। सागरनन्दी के मत से भी ये ग्रन्थकार कई स्थलों पर मतभेद रखते हैं, इसका विस्तृत विवेचन भी पृष्ठ २५ पर देखा जा सकता है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र की मौलिकता

रामचन्द्र गुणचन्द्र निर्भीक दारुण प्रणेतार थे। उन्होंने न केवल धनञ्जय और सागरनन्दी के ही मतों का खण्डन किया है अपितु भरतमुनि के मत का भी खण्डन करने में उन्हें सकोच नहीं हुआ। निदर्शन एवं प्रमाण के लिए निम्न प्रसंग द्रष्टव्य हैं—

तृतीय विवेक में प्ररोचना के सम्बन्ध में उनका मत देखा जा सकता है। इसके लिए भूमिका का पृष्ठ २० द्रष्टव्य है। वृत्तियों का निरूपण भी भरतमुनि के मत से भिन्न जान पड़ता है।

रामचन्द्र ने भरतमुनि के 'भारती वृत्ति विवेचन' में 'वदतोव्याघात दोष' दिखा कर भरतमुनि के मत की आलोचना की है। भरतमुनि ने जहाँ रूपक के दश भेद किये हैं वहाँ 'नाट्यदर्पणकार' ने इसके बारह भेद करके मगलाचरण में ही जिनवाणी के आचारादि से लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त बारह भ्रगो के अनुसार रूपक के बारह भेदों का संकेत कर दिया है। भरतमुनि के दशरूपको से दो भेद नाटिका और प्रकरणी अधिक मान कर इन्होंने नयी पद्धति से बारह रूपक-भेदों का वर्गीकरण किया है। उन्होंने नाटक, प्रकरण, नाटिका, और प्रकरणी में कैंशिकी, सात्वती, भारभटी और भारती वृत्तियाँ मानी हैं किन्तु व्यायोग, समवकार, भाण, प्रहसन, डिम उत्सृष्टिकाङ्क, ईहामृग एव वीथी में कैंशिकी रहित केवल तीन वृत्तियाँ। इसप्रकार वृत्तियों के आधार पर नाटको का वर्गीकरण रामचन्द्र-गुणचन्द्र की अपनी मौलिक सूत्र है।

नाट्यदर्पण में रस विवेचन भी पूर्वाचार्यों से कही कही भिन्न प्रतीत होता है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र अपने पूर्ववर्ती आचार्यों मम्मट के मत का खडन करते हुए कही भी सकोच नहीं करते। मम्मट 'अधिक विस्तार' को रसदोष में परिगणित करते हैं, किन्तु नाट्यदर्पणकार इसे रसदोष न मान कर वृत्तदोष मानते हैं। उनका कथन है कि रस की दृष्टि से यह दोष न होकर गुण है। "प्रतिपक्षी का अत्यंत उत्कर्ष दिखलाकर नायक द्वारा उसका बध कराने में तो नायक का उत्कर्ष बढ़ता ही है, इसलिए यह दोष नहीं अपितु गुण है।" इसका विस्तारपूर्वक वर्णन नाट्यदर्पण के पृष्ठ १५५ पर देखा जा सकता है। इसी प्रकार इन आचार्यों ने अभिनवगुप्त के मतों का भी रस की दृष्टि में खडन किया है। इसके लिए भूमिका (पृष्ठ २८ से ३१) तक द्रष्टव्य है।

नाट्यदर्पणकार का रस विवेचन सर्वथा मान्य भले ही न हो, पर वह मौलिक अवश्य है। उन्होंने रस को सुखदुःखात्मक दोनों माना है, उनके मत से शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और घात तो सुखात्मक रस हैं किन्तु क्रूरण, रोद्र, बीभत्स और भयानक रस दुखात्मक ही हैं। तृतीय विवेचन में कतिपय आचार्यों के सभी रसों की सुखात्मकता का खडन करते हुए रामचन्द्र-गुणचन्द्र कारिका की वृत्ति में कहते हैं :—

[कुछ आचार्यों के द्वारा] जो सब रसों को सुखात्मक बतलाया जाता है, वह प्रतीति के विपरीत [होने से सामान्य असंगत] है। मुख्य [पर्याप्त वास्तविक] विभावों से उत्पन्न क्रूरण आदि की दुःखात्मकता की तो बात ही जाने दो, काव्य के अभिनय में प्राप्न [बनावटी] विभाव आदि से उत्पन्न हुमा भी भयानक बीभत्स, क्रूरण, अथवा रोद्र रस आस्वादन करने वालों को कुछ अवर्णनीय सी बलेश दशा को उत्पन्न कर देता है। इसीलिए भयानक आदि [दृश्य] से सामाजिकों को घबराहट होती है [यदि सब रस सुखात्मक हो तो] सुखास्वादसे तो किसी को उद्वेग नहीं होता [इसलिए क्रूरणादि रस दुःखात्मक ही होते हैं]।^१

१. स्वायोभाव भित्तोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभि ।
स्वष्टानुभावनिधेय सुखदुःखात्मको रसा ॥

२. यत् पुन सधरसानां सुखदुःखात्मकत्वमुच्यते तत् प्रतीतिवापितम् । आस्तां नाम मुख्यविभावोपचिता, काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको धीभरतश्चरणी रोद्रो वा रसास्वादावतामनास्येषां कामपि बलेशदशाशुपनयति । अतएव भयानकादिभि-
रद्विजते समाजः । न नाम सुखास्वादोबुद्धेगो पटते । हि० ना० द० पृष्ठ २६०-२६१

सभी रसों को सुखात्मक मानने वाले आचार्यों के तर्कों का खंडन करते हुए नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि कवि एव अभिनेता के कौशल के द्वारा कर्ण आदि रसों में भी युद्धिमान् व्यक्ति को परमानन्द की अनुभूति होती है, यह धारणामात्र है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र की युक्ति यह है कि कविगण तो सुख-दुःखात्मक रसों के अनुरूप ही रामादि के चरित्र की रचना करते समय सुखदुःखात्मक रसों से युक्त ही (काव्यनाटक आदि की) रचना करते हैं। जब कवि को स्वतः दुःखरस की अनुभूति होती है तो रोहिताश्व के मरण, लक्ष्मण के दत्ति भेदन आदि को देखकर सामाजिक को सुख वा आस्वाद कैसे हो सकता है ? [इसलिए कर्णादि रसों को सुखात्मक मानना उचित नहीं है।]

उनका दूसरा तर्क यह है कि अनुकार्यगत कर्णादि विलापादि युक्त होने के कारण निश्चित रूप से दुःखात्मक ही होते हैं। यदि उनको अनुकरण में सुखात्मक माना जाय तो वह सम्पक् अनुकरण नहीं हो सकता है।

तीसरा तर्क है कि इष्टजन के विनाश से दुःखियों के सामने कर्णादि वा वर्णन किये जाने अथवा अभिनय किये जाने पर जो सुखास्वाद होता है वह भी वास्तव में दुःखात्मक ही होता है।

नाट्यदर्पणकार कर्ण को दुःखात्मक और विप्रलम्भ शृङ्गार को सुखात्मक स्वीकार करते हुए कारण बताते हैं कि—विप्रलम्भशृङ्गारस्तु दाहादिकार्यत्वाद् दुःखरूपोऽपि सम्भोग सम्भावनागर्भत्वात् सुखात्मक।

अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्गार तो इष्टजन के दाहादि द्वारा विनाश की प्रतीति से जन्म होने के कारण दुःख रूप होने पर भी उसमें सम्भोग (पुनर्मिलन) की सम्भावना दनी रहने से सुखात्मक ही है।

नाट्यदर्पणकार का रससिद्धान्त अथ आचार्यों के सिद्धान्त से भिन्न है। वे काव्य और नाटक में सामान्य विषयक और विशेष विषयक द्विविध रसों की स्थिति मानते हैं। जहाँ अन्य आचार्य लोक में होने वाली स्त्री पुरुष की परस्पर रति को रस नहीं मानते, वहाँ नाट्यदर्पणकार लौकिक स्त्री पुरुष आदि को भी विभावादि शब्दों से और उनकी रति आदि को भी 'रस' शब्द से निर्दिष्ट करते हैं।

अन्यकार के मत से रसानुभूति के पाँच आचार होते हैं (१) लौकिक रूप में स्थित पुरुष (२) नट (३) काव्य नाटक के श्रोता (४) काव्यनाटक के अनुसन्धाता अर्थात् कवि एव नाट्यकार (५) सामाजिक। अनुकार्य, अनुकर्ता श्रोता एव अनुसन्धाता को तो प्रत्यक्ष रूप में रसानुभूति होती है किन्तु सामाजिक को परोक्ष रूप में। रामचन्द्र गुणचन्द्र के मत से प्रेक्षक आदि में रहने वाला रस लोकोत्तर है और शेष लौकिक।

रसभेद सबंधी अर्थकार का मत अन्य आचार्यों के मत से भिन्न है। यद्यपि रामचन्द्र गुणचन्द्र रस के मूलतः नौ भेद मानते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त कृपणा को स्थायी भाव मान कर लौत्यरस, आद्रता को स्थायिभाव मानकर स्नेह रस, आसक्ति को स्थायी भाव मान कर व्यसनरस, अरति को स्थायीभाव मान कर दुःख रस, और सतोष को स्थायी भाव मान कर सुख रस को भी अनुभूति के स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार ग्रंथकार ने स्वतन्त्र ढंग से रसविवेचन का भी प्रयास किया है। इस प्रयास में सफलता की कसौटी एक मात्र यही है कि आगामी आचार्यों ने उनके मत को वहाँ मान्य नहीं माना, और विश्वनाथ आदि ने उनके मतों की सर्वदा अवहेलना ही की।

नाट्यदर्पणकार की एक बड़ी विशेषता यह दिखाई पड़ती है कि वे अपनी कारिका के गूढ स्थलों की व्याख्या स्वर्चित वृत्ति में इतने विस्तार के साथ कर देते हैं कि वे गूढ स्थल स्पष्ट हो जाते हैं। कहीं कहीं तो अन्य आचार्यों के कई श्लोकों में वर्णित लक्षणों को वे एक ही श्लोक में समाविष्ट कर लेते हैं। जहाँ भरत मुनि ने अठारहवें अध्याय के १०, ११, १२वें श्लोकों में नाटक का लक्षण किया है वहाँ रामचन्द्र ने केवल एक श्लोक में नाटक की परिभाषा इस प्रकार की है—

“उन रूपक भेषों में से धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिविध फलों वाला, धन, उपाय, दशा, सधि से युक्त, देवता आदि जिसमें सहायक हो, इस प्रकार का पूर्वकाल के प्रसिद्ध राजाओं का चरित्रप्रदर्शित करने वाला अभिनेय काव्य नाटक कहलाता है :—

स्यातामराजचरितं धर्मकामार्थसफलम् ।
साङ्गोपायादशा-संधि-विष्याङ्गं तत्र नाटकम् ॥ १५

रामचन्द्रगुणचन्द्र ने अभिनवगुप्त के नाटक शब्द की व्युत्पत्ति की आलोचना की है। अभिनवगुप्त ने ‘खट्ट नृत्तौ’ के स्थान पर ‘खलनृत्तौ’ पाठ मान कर नति अर्थात् नमनार्थक नट् धातु से नाटक की सिद्धि मानी है, जो उनके विचार से ‘मिता ह्रस्वः ६।४।६२ (अष्टा०) सूत्र से शिच् परे रहते उपधा को ह्रस्व करने के विधान से ‘नटक’ शब्द ‘घटक’ के समान बनता है। किन्तु रामचन्द्र की यह आपत्ति उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अभिनवगुप्त ने नर्तनार्थक धातु से भी नाटक शब्द की सिद्धि की है। (विशेष विवेचन के लिए नाट्यदर्पण की प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या पृ० २३ देखिए।) इस सम्बन्ध में विवेचन करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अभिनवगुप्त ने केवल नमनार्थक धातु से ही नहीं, अपितु नर्तनार्थक धातु से भी नाटक शब्द की सिद्धि की है। अभिनवगुप्त लिखते हैं:—

नाटकं नाम तच्चेष्टितं प्रह्वीभावदायकं भवति तथा हृदयानुप्रवेशरञ्जनोत्सासनया हृदय शरीर च नर्तयति नाटकम् ।

नाटक और नाटकेतर काव्यांगों में अन्तर—

नाट्यदर्पणकार के पूर्व आचार्यों ने नाटक एवं नाटकेतर काव्य में उतनी स्पष्टता के साथ अन्तर नहीं दिखलाया है, जितनी स्पष्टता हमें रामचन्द्रगुणचन्द्र की रचना नाट्यदर्पण में मिलती है। आचार्य धनञ्जय ने नाटक और नाटकेतर रूपकों में अन्तर दिखाते हुए लिखा है—

प्रकृतिवादान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ।
सम्पूर्णसंसारत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥

[नाटक अन्य प्रकार के रूपकों की प्रकृति है। अर्थात् प्रकरण आदि भेदों का लक्षण नाटक के आधार पर ही किया जाता है। नाटक में बहुत अधिक रस का परिग्रह होता है, और उसमें संपूर्ण लक्षण होते हैं।]

सभी रसों को सुखात्मक मानने वाले आचार्यों के तर्कों का खंडन करते हुए नाट्यदर्पणकार कहते हैं कि कवि एव अभिनेता के कौशल के द्वारा कर्षण आदि रसों में भी बुद्धिमान् व्यक्ति को परमानन्द की अनुभूति होती है, यह धारणामात्र है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र की युक्ति यह है कि कविगण तो सुख-दुःखात्मक रसों के अनुरूप ही रामादि के चरित्र की रचना करते समय सुखदुःखात्मक रसों से युक्त ही (काव्यनाटक आदि की) रचना करते हैं। जब कवि की स्वतः दुःखात्मक रस की अनुभूति होती है तो रोहिताश्व के मरण, लक्ष्मण के शक्ति-भेदन आदि को देखकर सामाजिक को सुख का आस्वाद कैसे हो सकता है ? [इसलिए कर्षणादि रसों को सुखात्मक मानना उचित नहीं है।]

उनका दूसरा तर्क यह है कि अनुकार्यगत कर्षणादि विखापादि युक्त होने के कारण निश्चित रूप से दुःखात्मक ही होते हैं। यदि उनको अनुकरण में सुखात्मक माना जाय तो वह सम्पक् अनुकरण नहीं हो सकता है।

तीसरा तर्क है कि इष्टजन के विनाश से दुःखियों के सामने कर्षणादि का वर्णन किये जाने भयवा अभिनय किये जाने पर जो सुखास्वाद होता है वह भी वास्तव में दुःखात्मक ही होता है।

नाट्यदर्पणकार कर्षण को दुःखात्मक और विप्रलम्भ शृङ्गार को सुखात्मक स्वीकार करते हुए कारण बताते हैं कि—विप्रलम्भशृङ्गारस्तु दाहादिकार्यत्वाद् दुःखरूपोऽपि सम्भोग-सम्भावनागर्भत्वात् सुखात्मक।

अर्थात् विप्रलम्भ शृङ्गार तो इष्टजन के दाहादि द्वारा विनाश की प्रतीति से जन्म होने के कारण दुःख रूप होने पर, भी उसमें सम्भोग (पुनर्मिलन) की सम्भावना बनी रहने से सुखात्मक ही है।

नाट्यदर्पणकार का रससिद्धान्त अन्य आचार्यों के सिद्धान्त से भिन्न है। वे काव्य और नाटक में सामान्य-विषयक और विशेष-विषयक द्विविध रसों की स्थिति मानते हैं। जहाँ अग्न्य आचार्य लोक में होने वाली स्त्री पुरुष की परस्पर रति को रस नहीं मानते, वहाँ नाट्यदर्पणकार लौकिक स्त्री पुरुष आदि को भी विभावादि शब्दों से और उनकी रति आदि को भी 'रस' शब्द से निदिष्ट करते हैं।

अग्न्यकार के मत से रसानुभूति के पाँच आधार होते हैं (१) लौकिक रूप में स्थित पुरुष (२) नट (३) काव्य नाटक के श्रोता (४) काव्यनाटक के अनुसंधाता अर्थात् कवि एव नाट्यकार (५) सामाजिक। अनुकार्य, अनुकर्ता, श्रोता एव अनुसंधाता को तो प्रत्यक्ष रूप में रसानुभूति होती है किन्तु सामाजिक को परोक्ष रूप में। रामचन्द्र गुणचन्द्र के मत से प्रेक्षक आदि में रहने वाला रस लोकोत्तर है और शेष लौकिक।

रसभेद सर्वधो व्यवहार का मत अग्न्य आचार्यों के मत से भिन्न है। यद्यपि रामचन्द्र-गुणचन्द्र रस के मूलतः नौ भेद मानते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त तृष्णा को स्थायी भाव मान कर लौत्यरस, आद्रता को स्थायिभाव मानकर स्नेह रस, आसक्ति को स्थायी भाव मान कर व्यसनरस, धरति को स्थायीभाव मान कर दुःख रस, और सतोष को स्थायी भाव मान कर सुख रस की भी अनुभूति वे स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार प्रंपकार ने स्वतन्त्र ढंग से रसविवेचन का भी प्रयास किया है। इस प्रयास में सफलता की कसौटी एक मात्र यही है कि आगामी आचार्यों ने उनके मत को कहीं मान्य नहीं माना, और विश्वनाथ आदि ने उनके मतों की सर्वदा अवहेलना ही की।

नाट्यदर्पणकार की एक बड़ी विशेषता यह दिखाई पड़ती है कि वे अपनी कारिका के शूद्र स्थलों की व्याख्या स्वरचित वृत्ति में इतने विस्तार के साथ कर देते हैं कि वे शूद्र स्थल स्पष्ट हो जाते हैं। वही कही तो अन्य आचार्यों के कई श्लोकों में वर्णित लक्षणों को वे एक ही श्लोक में समाविष्ट कर लेते हैं। जहाँ भरत मुनि ने अठारहवें अध्याय के १०, ११, १२वें श्लोकों में नाटक का लक्षण किया है वहाँ रामचन्द्र ने केवल एक श्लोक में नाटक की परिभाषा इस प्रकार की है—

‘उन रूपक भेदों में से धर्म, धर्म और कामरूप त्रिविध फलो वाला, अक, उपाय, दशा, सधि से युक्त, देवता आदि जिसमें सहायक हो, इस प्रकार का पूर्वकाल के प्रसिद्ध राजाओं का चरित्रप्रदर्शित करने वाला अभिनेय काव्य नाटक कहलाता है :—

स्वात्ताद्यराजचरित धर्मकामार्थसत्फलम् ।

साङ्कोपायादशा-संधि-दिघ्याङ्गं तत्र नाटकम् ॥ १५

रामचन्द्रगुणचन्द्र ने अभिनवगुप्त के नाटक शब्द की व्युत्पत्ति की आलोचना की है। अभिनवगुप्त ने ‘एट् नृत्तौ’ के स्थान पर ‘एतन्नृत्तौ’ पाठ मान कर नति अर्थात् नमनायक नट् धातु से नाटक की सिद्धि मानी है, जो उनके विचार से ‘मिता ह्रस्वः ६।४।६२ (अष्टा०) सूत्र से एिच् परे रहते उपधा को ह्रस्व करने के विधान से नटक’ शब्द ‘घटक’ के समान बनता है। किन्तु रामचन्द्र की यह आपत्ति उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अभिनवगुप्त ने नर्तनायक धातु से भी नाटक शब्द की सिद्धि की है। (विशेष विवेचन के लिए नाट्यदर्पण की प्रस्तुत हिन्दी व्याख्या पृ० २३ देखिए।) इस सम्बन्ध में विवेचन करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने यह निष्कर्ष निकाला है कि अभिनवगुप्त ने केवल नमनायक धातु से ही नहीं, अपितु नर्तनायक धातु से भी नाटक शब्द की सिद्धि की है। अभिनवगुप्त लिखते हैं:—

नाटक नाम तच्चेष्टित प्रह्वीभावदायकं भवति तथा हृदयानुप्रवेशरञ्जनोत्सासनया हृदय शरीर च नर्तयति नाटकम् ।

नाटक और नाटकेतर काव्यांगों में अन्तर—

नाट्यदर्पणकार के पूर्व आचार्यों ने नाटक एवं नाटकेतर काव्य में उतनी स्पष्टता के साथ अन्तर नहीं दिखाया है जितनी स्पष्टता हमें रामचन्द्रगुणचन्द्र की रचना नाट्यदर्पण में मिलती है। आचार्य धनञ्जय ने नाटक और नाटकेतर रूपकों में अन्तर दिखाते हुए लिखा है—

प्रकृतिस्वाद्याग्नेयां भूयो रसपरिग्रहात् ।

सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥

[नाटक अन्य प्रकार के रूपकों की प्रकृति है। अर्थात् प्रकरण आदि भेदों का लक्षण नाटक के आधार पर ही किया जाता है। नाटक में बहुत अधिक रस का परिग्रह होता है, और उसमें सपूर्ण लक्षण होते हैं।]

यहाँ पनञ्जय ने नाटक और अन्य रूपकों में अन्तर दिखाने का प्रयत्न किया है, पर रूपक और रूपक से अन्तर साहित्य का अन्तर नहीं स्पष्ट किया है। रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इस समस्या को सुलभाने का प्रयत्न किया है—

१. रामचन्द्रगुणचन्द्र ने नाटक और कथासाहित्य में व्यापकतः धर्म स्थापित करते हुए कहा है कि यद्यपि कथादि भी श्रोताओं के हृदय को नचा देते हैं किन्तु वे उपायादि वैचित्र्य हेतुओं के अभाव में उतने उल्लासकारी नहीं होते।

२. नाटक के द्वारा राजा और उसके अंग रूप में ग्रामात्यादि को व्युत्पन्न किया जाता है, जो नाटकेतर साहित्य में सम्भव नहीं है।

३. कथासाहित्य और नाटक की रचनाशैली में स्पष्ट अन्तर इस प्रकार होता है। अध्यात्म में पद्य ही पद्य और आध्यात्मिक में गद्य ही होता है और दोनों में सधुद्र, नदी, सूर्य, चन्द्र आदि के प्राकृतिक वर्णन का बाहुल्य होता है। किन्तु नाटक में पद्य की सख्या स्वल्प और गद्यशैली भी आख्यायिका से भिन्न होती है। कादम्बरी एवं वासवदत्ता आदि आख्यायिका ग्रन्थों में दीर्घ सामासिक गद्य स्पृहणीय है। किन्तु नाटक में सरल एवं दीर्घ समास-रहित गद्य ही वाञ्छनीय है कर्कश और अधिक समस्तपद्युक्त गद्य ठीक नहीं। नाटक में उतनी अवांतर कथावस्तु की योजना होती है जो परंपरा से फल की साधक होती है। रामचन्द्रगुणचन्द्र ने अपने 'नलविलास' नामक नाटक का उल्लेख करते हुए दमयन्ती के चित्रदर्शन द्वारा नल के हृदय में अनुराग उत्पन्न करने का प्रयास किया है, अतः चित्रदर्शन की अवान्तर कथा नाटक के सर्वथा उपयुक्त ही मानी जायगी।

४. नदी, सधुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, पर्वत, मधुपान जलक्रीडा आदि का वर्णन नाटकेतर साहित्य में आवश्यक माना जाता है, किन्तु नाटक में इन लम्बे वर्णनों से नाटक-रस तिरोभूत हो जाता है। इनका अल्परूप वर्णन ही स्वीकार्य हो सकता है पर विस्तृत वर्णन नाटकीययोगी नहीं माना जा सकता।

५. अलंकारों का विशेष प्रयोग भी नाटक में उपादेय नहीं समझा जाता। नाट्य-दर्पणकार कहते हैं कि उन्हीं श्लेषोपमादि का प्रयोग करना चाहिए जो रससिद्धि के लिए किये जाने वाले प्रयत्न से ही सिद्ध होते हैं। कथाभाग में उपक्षेप आदि सन्ध्यगो की रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि जिससे वे रस को तिरोभूत न कर सकें।

लक्षण और उदाहरण—

नाट्यदर्पणकारने पारिभाषिक शब्दावली के लक्षण एवं उदाहरण पूर्ववर्ती आचार्यों से पूरक रूप में किये हैं। उन्होंने न तो मरत का अनुसरण किया है और न अन्य पूर्ववर्ती नाट्याचार्यों का। उन्होंने लक्षण और उदाहरण की एक नवीन पद्धति अपनाई है। सूत्रों में सामान्य लक्षण और वृत्ति में उसका विवेचन किया है। यहाँ दो चार पारिभाषिक शब्दों के लक्षण और उदाहरण लिखकर रामचन्द्रगुणचन्द्र की मौलिकता पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

भङ्ग का लक्षण भरतमुनि इस प्रकार लिखते हैं—

अङ्क इति वृद्धिमास्यो भावश्च रसैश्च रोहमत्यर्थान् ।

नानाविधानपुत्तो यस्मात्तस्माद्भवेदङ्कः ॥

इस लक्षण से अङ्क का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। धनञ्जय ने भी अङ्क का लक्षण स्पष्ट नहीं किया। नाट्यदर्पणकार ने अङ्क का लक्षण ग्रन्थ आचार्यों की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ इस प्रकार लिखा है—

[कार्य की प्रारम्भ आदिरूप] अवस्था की समाप्ति अथवा कार्यवध [प्रसमाप्त अवस्था का भी] विच्छेद [जो अगले अङ्क की कथा के बीच अथवा] विन्दु से युक्त और दो पङ्गी से लेकर चारप्रहर तक के द्वासीय अर्थ से युक्त हो वह 'अङ्क' कहलाता है।

पाँच अवस्थाओं में से किसी भी एक अवस्था का प्रारम्भ और पूर्णता द्वारा समाप्ति [अङ्क की नियामिका होती है। उसको अङ्क में दिखलाना चाहिए] अथवा प्रसमाप्त अवस्था का भी कार्यवध जो बीच में विच्छेद कर दिया जाय वह भी अङ्क का नियामक है। 'कार्य' पद से यहाँ एक दिन में न हो सकने वाले दूरदेशगमन आदि अथवा बहुत लम्बा होने के कारण एक दिन में जिसका अभिनय किया जाना सम्भव न हो [उसका ग्रहण होना है]। उसके कारण जो अवस्था का बीच में ही विच्छेद कर दिया जाता है वह भी 'अङ्क' का नियामक है। [नारिका १६]

रामचन्द्रगुणचन्द्र का यह लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों से अधिक स्पष्ट है। किन्तु आश्चर्य यह है कि परिवर्ती आचार्यों ने इसका कोई उपयोग नहीं किया, और विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में भरत के ही लक्षण का आधार लेते हुए कहा है "जिसके अन्त में सम्पूर्ण पात्र रंगमंच से निष्क्रमण कर जाएँ।" भरत ने कहा है : निष्क्रामः सर्वेषां यस्मिन्नङ्कः स विधेयः, और विश्वनाथ ने भरत के निम्नलिखित श्लोकों की संस्था अपेक्षा की तथा उनका कोई अंत अपने लक्षण में सम्मिलित नहीं किया—

यत्रावस्य समाप्तियंत्र च योजस्य भवति संहारः ।

किञ्चिद्व्यसनविन्दुः सोऽङ्क इति तदावगन्तव्यः ॥

अङ्क का यह लक्षण अधिक स्पष्ट है। अभिनवगुप्त ने इसी लक्षण का आधार लेकर लिखा है—

अङ्क इत्ययं लक्षणं वृद्धः शब्दः । अन्वयो व्यवच्छेदकं लक्षणम् अभिनेये रसार्थ-
रूपलक्षितान्वयार्थान् रोहयति । हृदयसंवादनपादण्णताकारणेन प्रत्यक्षीभाजनया रसाकारोद्यमरोहो
भवति । प्रारम्भाद्यवस्थानक्षणो यत्र समाप्यते सोऽङ्कः । मुक्ताविषु यथायमं योजस्य दशाविधोपाः
संहाररसप्रवाप्याः अनेक रसाङ्कितः शब्दः इति नाम । —अभिनवभारती

अभिनवगुप्त ने भरतमठ की व्याख्या विस्तार के साथ की है। शागराम्ही ने 'नाटक-
लक्षणरत्नकोश' में अङ्क में यंत्रित घटनाओं का ही उल्लेख किया है। घटनाक्रम के विषय में
इतना अवश्य लिखा है "बहुकालप्रयोगं कार्यं नाङ्के विधेयम् ।" अर्थात् दीर्घकाल में घटित होने

१. अन्वयसहितपरिर्तुतो भावरसोऽङ्कः । अन्तनिष्क्रामनिलितसारासोऽङ्क इति कीर्तिकः ॥

ता० २० १-१६ ।

वाले कार्य को भङ्क में स्थान नहीं देना चाहिए, किन्तु भङ्क की अन्य विशेषताओं का कही उल्लेख नहीं किया।

उपयुक्त लक्षणों की तुलना करते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने पूर्ववर्ती भाचार्यों के भङ्क-सम्बन्धी लक्षणों को स्वतन्त्र रीति से सोचने और व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार अर्थप्रकृति के लक्षण का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने से भी हम उक्त निष्कर्ष पर ही पहुँचते हैं।

अर्थ-प्रकृति—

भरतमुनि ने बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य नामक पाँच अर्थप्रकृतियों का विवेचन किया है। परवर्ती सभी भाचार्यों ने भरतमुनि का ही अनुसरण किया और उन्हीं के निर्मित लक्षणों को आधार बनाया। सभी ने प्रयोजन-सिद्धि के पाँच हेतुओं का उपयुक्त क्रम रखा। किन्तु रामचन्द्रगुणचन्द्र ने इनमें परिवर्तन कर दिया। उन्होंने अर्थप्रकृति को 'उपाय' नाम से अभिहित किया और उनका क्रम रखा—

बीजं पताका प्रकरी बिन्दुः कार्यं यथाह्वि ।

फलस्य हेतवः पञ्च चेतनाचेतनात्मकाः ॥ सूत्र १।२८

उन्होंने कारिका की कृति में यह स्पष्ट किया है कि रुचि के अनुरूप इनके क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है। अन्य भाचार्यों इस मत से सहमत नहीं। दूसरा अन्तर यह है कि रामचन्द्रगुणचन्द्र इन उपायों का विभाजन चेतन एवं अचेतन की दृष्टि से एक विलक्षण रीति से करना चाहते हैं। अचेतन हेतु भी मुख्य और प्रमुख भेद से दो प्रकार का होता है। 'बीज' मुख्य अचेतन हेतु है और 'कार्य' प्रमुख। इसी प्रकार चेतन हेतु भी मुख्य और उपकरणभूत दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं। 'बिन्दु' मुख्य चेतन हेतु है। उपकरणभूत चेतन हेतु दो प्रकार के होते हैं—(१) स्वार्थसिद्धि युक्त होने के साथ परार्थ-सिद्धिपर (२) परार्थ-सिद्धितत्पर। प्रथम का नाम 'पताका' है, और द्वितीय का नाम प्रकरी।

इस प्रकार का वर्गीकरण और क्रम हमें अन्य किसी भाचार्यों की रचना में नहीं दिखाई पड़ता। पंच उपायों के लक्षण भी अन्य भाचार्यों से कही-कही भिन्न रूप में दिखाई पड़ते हैं। रामचन्द्र की विशेषता यह है कि वे लक्षण के उपरान्त स्वरचित नाटकों से उदाहरण देकर लक्षणों की पुष्टि करते हैं। बीज और बिन्दु के लक्षण और उदाहरण कई भाचार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और बोधगम्य हैं। आवश्यकतानुसार एक ही 'उपाय' के चार चार उदाहरण देकर उन्होंने कठिन विषय को सरल बना देने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ, बीज के लक्षण के उपरान्त रत्नावली, सत्यहरिश्चन्द्र, स्वरचित यादवाभ्युदय एवं मुद्राराक्षस के उन स्थलों का विश्लेषण किया है जहाँ से 'बीज' प्रारम्भ होकर शाखा आदि रूप में विस्तार पाता है।

उपयुक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने नाट्य-सम्बन्धी गूढ़ स्थलों का मौलिक रीति से चिन्तन करने का प्रयास किया है। इतना अवश्य है कि मौलिकता के उल्लाह में वे कही कही इतने बहक गए हैं कि मूलतत्त्व तक पहुँचते पहुँचते रह जाते हैं। जैसे रस-वर्णन के कतिपय प्रसंगों में।

नाट्यदर्पणकार का योगदान

रामचन्द्र उन कतिपय आचार्यों में परिगणित होने योग्य हैं जिनमें कारकिर्मी एवं मायकिर्मी दोनों प्रकार की प्रतिभा विद्यमान है। नाट्यदर्पण के अतिरिक्त उन्होंने मस्तिष्क-मकरन्दम्, यादवाभ्युदयम्, रघुविलासम्, राघवाभ्युदयम्, रोहिणीभृगाद्वयम्, वनमाता नाटिका आदि नाटक एव मुधावलास नामक काव्य की रचना की। अपने नाट्यदर्पण के लिए उनके मन में नाटक-रचना की प्रेरणा उठी अथवा नाटक-रचना के उपरान्त प्राचीन नाट्य-संस्थाओं में संशोधन की आवश्यकता प्रतीत हुई अथवा दोनों प्रेरणाएँ साथ साथ उत्पन्न हुई, यह निश्चय करना कठिन है।

यद्यपि नाट्यदर्पणमें विद्वान् व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ निवास करती हैं, और आचार्य की नवीन मान्यताओं का स्पष्टन भी कर सकते हैं, पर इतना तो अच्युत ही स्वीकार करना पड़ेगा कि (१) उन दोनों ग्रन्थकारों ने अनेक अप्रवासित नाट्य ग्रन्थों का अध्ययन करके उनके आधार पर एक नये नाट्यशास्त्र का निर्माण किया। (२) अनेक अप्रवासित ग्रन्थों का विषय प्रकाश में लाकर नाट्य साहित्य की समृद्धि की। (३) नाट्य साहित्य और नाट्यशास्त्र का नये ढंग से चिन्तन किया। (४) अनेक ग्रन्थों के विषयों का अपने मठानुसार स्पष्टीकरण किया। (५) विरसि प्रधान जैन समाज में शृंगार-प्रधान नाट्यसाहित्य की भी समाहृत किया। (६) पूर्वाचार्यों द्वारा निर्णीत नाट्य-संस्थाओं में संशोधन उपस्थित करने का हाथ बढ़ाकर नवीन संस्था पर संशोधन का मार्ग प्रशस्त किया। (७) रस विवेचन में इन आचार्यों ने एक नया विचार उपस्थित किया। ये आचार्य रसों को अतिनवगुण के समान न तो गुण-रूप ही मानते हैं, न इनका मत अतन्त्र अथवा विश्वनाथ के समान मुसारमन्वादी ही है। इनका मत विभक्त्यवादी मत कहलाता है जिनके विषय में हम पूर्व विवेचन कर आए हैं।

38815



श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितं
स्वोपज्ञविवरणविभूषितं

नाट्यदर्पणम्

प्रथमो विवेकः

चतुर्धर्गफलां नित्यं जैर्नां वाचमुपास्महे ।
रूपैर्द्वादशभिर्विंश्र्वं यया न्याग्ये शृतं पथि ॥१॥

अथ श्रीमदाचार्यविद्वेश्वरमिद्धान्तशिरोमणिविरचिता
नाट्यदर्पणदीपिका हिन्दो व्याख्या
इतोत् पृच्छ जनिमा कधीनां मनोधुनः सुदृशस्वत्तत् घाम ।
इमा उ ते प्रणयो वर्धमाना मनोवाता अथ नु धर्मणि ग्मन ॥
अग्नेद् ३-३८-२ ।

विश्व-नाट्यमिदं सूत्रधारो यस्तनुते सदा ।
रमन्स्वभावाय तस्मै सूत्रात्मने नमः ॥
यदंश-भाष्यं भरते सवृत्तिके
कृतं, न पूर्ति विषयस्य तावता ।
अनोऽस्य पृथ्यै परिशिष्टरूपतः
तनोमि वृत्ति ग्मन्नु नाट्यदर्पणे ॥

महाकविनिबद्धानि दृष्ट्वा रूपाणि भूरिशः ।

स्वयं च कृत्वा, स्वोपज्ञं नाट्यलक्ष्म विवृणुहे ॥२॥

६ जाताधर्मकथा, ७ उपासकदशा, ८ प्रग्वृद्धशास्त्र, ९ अनुत्तरोपपायिक, १०. प्रस्त-
म्पाकरण, ११ विपाक और १२ दृष्टिवाद ।

शाचाराङ्गसे लेकर दृष्टिवाद पर्यंत इन 'द्वादश-रूपों' के द्वारा ही रागादिसे विजेता जिनोंकी वाग्मीने विदयको धर्ममार्गमें स्थित रहनेकी प्रेरणा प्रदान की है । इसलिए ग्रन्थकारने यहाँ उा द्वादश-रूपों वाली जिा वाग्मीको नमस्कार किया है । किन्तु इसके प्रतिरिक्त यहाँ 'द्वादश-रूपों की चर्चा करनेका कुछ और भी कारण है उसका सम्बन्ध इस ग्रन्थसे है । नाट्यदर्पणके आरम्भम जो यह मङ्गल श्लोक लिखा गया है उसका ग्रन्थके प्रतिपाद्य नाट्य विषयके साथ भी कुछ सम्बन्ध होना चाहिए । इस दृष्टिसे ग्रन्थकार इसकी नाट्यपरक व्याख्या भी आगे स्वयं प्रस्तुत करेंगे । इस व्याख्यामें 'द्वादशरूप' से बारह प्रकारके रूपक-भेदाका ग्रहण किया जायगा । इसी दृष्टिसे ग्रन्थकारने यहाँ विशेष रूपसे 'रूपद्वादशभि' पदाका समावेश किया है ।

नाट्यके विषयपर सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ भरत मुनिका 'नाट्यशास्त्र' है । उसके बाद 'दशरूपक', 'भावप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' तथा 'प्रतापरद्रयश्रीभूषण' आदि अनेक ग्रन्थोंमें नाट्य सम्बन्धी विषयका विवेचन किया गया है । इन सबमें ही प्रायः रूपक के दस भेद गिनाए गए हैं । दश रूपककार धनञ्जयने तो अपने ग्रन्थका नाम ही 'दशरूपक' रखा है । उससे रूपकके मुख्य दस भेदोंकी सूचना मिलती है । उन्होंने दस रूपकोंका सम्बन्ध दस अवतारोंके साथ भी जोड़ा है । दस अवतारोंके समान रूपक भी दस ही हैं, यह उनका मत है । परन्तु फिर भी उन्होंने गौण भेदके रूपमें ग्यारहवें भेद 'नाटिका' का भी उल्लेख किया है । और 'रत्नावली नाटिका' के बहुतसे उदाहरण भी ग्रन्थम प्रस्तुत किए हैं । 'भावप्रकाश तथा साहित्यदर्पणकारने भी 'नाटिका' को ग्यारहवाँ भेद माना है और उसके उदाहरण रूपमें 'रत्नावली नाटिका' का उल्लेख किया है । इस प्रकार अथ आचार्योंके मतमें भी रूपकके ग्यारह भेद बन जाते हैं । किन्तु यहाँ ग्रन्थकारने 'प्रकरणी' नामक एक और भेद करके रूपकके बारह भेद कर दिए हैं । उसी आधारपर यहाँ द्वादश रूपों की चर्चा की गई है ।

इस ग्रन्थके दो भाग हैं एक कारिका भाग और दूसरा उसका वृत्ति ग्रन्थवा विवरण भाग । दोनों भागोंके रचयिता एक ही हैं । अर्थात् जिन्होंने मूल कारिकाश्लोकी रचना की है, उन्हींने उनपर स्वयं ही वृत्ति भी लिखी है । इसलिए यह मङ्गल श्लोक कारिका भाग और वृत्ति भाग दोनोंके आरम्भमें दिया गया है । यहाँपर यह श्लोक वृत्ति भागके मङ्गलाचरणके रूपमें दिया गया है । मूलकारिका भागके मङ्गलाचरणके रूपमें आगे फिर इसको लिखकर इसकी व्याख्या करेंगे । सम्प्रति वृत्ति भागकी अवतरणिकाके रूपमें बारह श्लोक लिखते हैं ।

वृत्ति भागकी अवतरणिका—

[कालिदास आदि] महाकवियोंके बनाए हुए अनेक रूपकों [भूरिश रूपाणि] को

अलङ्कारमृदुः पन्थाः कथादीनां सुमञ्चरः ।

दुःसञ्चरस्तु नाट्यस्य रसकल्लोलसङ्कलः ॥३॥

न गीतावाद्यनृत्तज्ञा लोकस्थितिचिदो न ये ।

अभिनेतुं च कर्तुं च प्रबन्धांस्ते वहिर्मुग्धाः ॥४॥

बेलकर और स्वयं भी [अनेक रूपकोका] निर्माण करके [अर्थात् नाट्य-लक्षण आदि] पूर्ण ज्ञान और अनुभव प्राप्त करके] हम दोनों [अर्थात् इस ग्रंथके रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र इस नाट्यदर्पण ग्रंथमें] नाट्य-लक्षणको विवेचना [प्रारम्भ] करते हैं । २।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि इस ग्रंथके रचयिता रामचन्द्र और गुणचन्द्र दो व्यक्ति हैं । उन दोनोंने मिलकर इस ग्रंथकी रचना की है । इस नाट्यदर्पणके प्रतिरिक्त 'द्रव्यालङ्कारवृत्ति' नामक एक और भी ऐसा ग्रंथ है जिगकी रचना इन दोनोंने मिलकर की है । गुणचन्द्रका स्वतन्त्र रूपसे लिखा हुआ कोई ग्रंथ नहीं मिलता है । परन्तु रामचन्द्र ने स्वतन्त्र रूपसे भी बहुतसे ग्रंथोंकी रचना की है । उनको प्रायः 'ग्रन्थ सतवर्ता' उपाधि से विभूषित किया जाता है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि उन्होंने लगभग सौ ग्रंथोंकी रचना की थी । उनके सब ग्रंथ तो अब तक नहीं मिले हैं और न उनके नाम ही ज्ञात हैं किन्तु फिर भी अपने ग्यारह नाटकके उल्लेख उन्होंने अपने इस ग्रंथमें स्थान-स्थापन किया है । अर्थात् अधिक नहीं तो कम से-कम ग्यारह नाटक तो उन्होंने बनाए ही हैं । जब इनके नाटक उन्होंने स्वयं बनाए हैं तो सम्भवतः अपने समयमें उपलब्ध प्रायः सभी नाटक उन्होंने पढ़ दिये होंगे । इतने नाटकोंके पढ़ने और स्वयं बनानेके बाद उन्होंने इस नाट्य-दर्पणकी रचनामें हाथ लगाया है इससे विदित होता है कि ये इस विषयपर ग्रंथ लिखने के लिए अत्यन्त उपयुक्त और अधिकारी व्यक्ति हैं । इसी बातको सूचित करनेके लिए उन्होंने इस श्लोकमें सबसे पहले अपने नाट्य-विषयक ज्ञान विधान अनुभवका उल्लेख उपर्युक्त प्रकारसे किया है ।

नाट्यरचनासे सुष्करता

वाक्यके, शब्द-वाच्य नाटक आख्यायिका आदि अनेक भेद माने गए हैं । इन सबकी ही रचनाके लिए विभिन्न प्रकारकी प्रतिभाकी आवश्यकता होती है किन्तु घटककारकी दृष्टिमें नाटककी रचना अन्य कलाकी अपेक्षा अधिक कठिन है । इसलिये ये अपने श्लोकमें उक्तकी दुःसञ्चरताके प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

कथा आदि [वाक्यके अन्य प्रभेदोंकी रचना] का कार्य सततशुभमे योग्य हो जानेके कारण सुखपूर्वक सञ्चरण करने योग्य है [अर्थात् अलङ्कार प्रधान कथा आदिकी रचना सरलतासे की जा सकती है] किन्तु श्लोककी कालोपाये परिपूर्ण होनेसे नाटकका कार्य अत्यन्त कठिन [दुःसञ्चर] है । ३ ।

जो शोक वाद्य-नृत्य आदिकी नहीं जानते हैं और जो शोक-स्वप्नारामे कुट्टन नहीं है वे [प्रकाशान् अर्थात्] नाटकोंका अभिनय करने और रचना करनेके लिए [अर्थात्] अधिकारी नहीं हैं । ४ ।

स कविस्तस्य काव्येन मर्त्या अपि सुधान्धसः ।
 रसोमिद्वृष्टिता नाट्ये यस्य नृत्यति भारती ॥५॥
 नानार्थशब्दलौघ्येन पराञ्चो ये रसामृतात् ।
 विद्वांसस्ते कवीन्द्राणामर्हन्ति न पुनः कथाम् ॥६॥

इन श्लोकोमें ग्रन्थकारने कथा प्रादि काव्यभेदोचै मार्गको 'मलङ्कारमृदु' मतएव 'सुसञ्चर' कहा है और नाटककी रचनाके मार्गको 'रस कल्लोल सकुल' होनेके कारण 'दुसञ्चर' बतलाया है। किन्तु कथा आदि गद्य-काव्योंके लेखकोन 'गद्य कवीना निबन्ध बदनति' लिखकर उस गद्य रचनाको ही कवियोंकी प्रतिभाकी परखके लिए कसौटी माना है। इसी प्रकार पद्यात्मक प्रबन्ध काव्योंके लेखकोने छन्दके परिमित अक्षरोंके बन्धनमें बंधकर की जाने वाली काव्य रचना ही कवि प्रतिभाका निकप माना है। वास्तवमें प्रतिभावान् कवियोंके लिए तो सभी मार्ग सुसञ्चर है और अप्रतिभावानोंके लिए सभी जगह कठिनाई है। पण्डितराज जगन्नाथने अपनी रचना शक्तिकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि हृदय्यायप्रहृष्टग्रन्थिते
 तर्के वा मयि सविधातरि सम लीलायते भारती ।

शक्या वास्तु मृदुत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरासृता ।

भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योपिताम् ॥

जिस प्रकार अनुकूल पतिके होनेपर चाहे कठोर भूमि हो या नोमल सुसज्जित शय्या हो स्त्रियोंके आनन्द और विलासमें कोई अन्तर नहीं पडता है इसी प्रकार प्रतिभावान् कविके होनेपर वह किसी मार्गसे चले उसके प्रागे सरस्वती समान रूपसे ही अपने सौन्दर्यको प्रभिव्यक्त करती है, उसमें अन्तर नहीं पाता है।

रसकवियोंकी प्रशंसा—

नाट्यकी रचनाको 'रस-कल्लोल सकुल' होनेके कारण ही बठिन कहा गया था। किन्तु वह रस ही नाट्य या काव्यका प्राण है। इसीलिए 'रससिद्धा कवीश्वरा' रस-कवियोंकी सर्वत्र प्रशंसा की गई है। अगले श्लोकमें ग्रन्थकार भी उनकी प्रशंसा करते हुए लिखते हैं—

वही [वास्तविक] कवि है और उसके काव्य [के पढ़ने] से मर्त्यलोकके बासी [मनुष्य] भी [काव्यरस रूप] अमृतका पान करने पाले बन जाते हैं जिसकी धारणी नाटककी में रसकी सृष्टियोंमें चकराती हुई सी माचती है । ५ ।

शब्द-कवियोंकी निन्दा—

जो कवि नानार्थक [अर्थात् अनेकार्थ-याचक शिल्प] शब्दोंके प्रयोगमें [परस्पर] रसामृतसे पराङ्मुख हो जाते हैं [अर्थात् रसकी उपेक्षा कर, केवल श्लेष प्रादिके निर्वाहके लिए शब्द-प्रधान सुकव्योंमें लग जाते हैं] वे विद्वान् [शब्दपटुताके कारण विद्वान् तो पढ़े जा सकते हैं किन्तु वे 'कवीन्द्राणां कथा न प्रहन्ति'] उनमें कवि नहीं कहला सकते हैं । ६ ।

रलेपालङ्कारभाजोऽपि रसानिस्यन्दकर्कशाः ।
 दुर्भगा इव कामिन्यः प्रीणन्ति न मनो गिरः ॥७॥
 आरङ्गाद् भूपतिं यावदौचिर्त्ति न विदन्ति ये ।
 स्पृयहन्ति कवित्वाय खेलनं ते सुमेधसाम् ॥८॥

नीरस-वाणीकी निन्दा—

श्लेष अलङ्कारसे पुक्त होनेपर भी रस-प्रवाहसे रहित होनेके कारण कर्कश [कवियों की] वाणी उसी प्रकार [सहृदयोके] मनको प्रफुल्लित नहीं करती है जिस प्रकार घालिङ्गन करती हुई और अलङ्कारोसे सजी हुई होनेपर भी [यौन] रसके न निकलने के कारण कठोर भग वाली [दुर्भग] स्त्रियाँ [पुष्टियोंको] आह्लादित नहीं करती हैं । ७ ।

इस प्रकार इन तीन श्लोकोमें ग्रन्थकारने रसकवियोंकी प्रशंसा करते हुए यह दिखलाया है कि रस ही काव्य या नाटकका सर्वत्व है । उससे रहित नाटकोको अलङ्कार आदिसे चाहे जितना भी अलङ्कृत कर दिया जाय वे सहृदयोको आकृष्ट नहीं कर सकते हैं । सहृदयोके अःकर्षणकेलिए रसप्रधान नाटक ही उपयुक्त हो सकते हैं ।

कवियोंकेलिए व्यवहार ज्ञानकी उपयोगिता—

उत्तम काव्य या नाटककी रचनाके लिए सबसे मुख्य कारण तो कविकी प्रतिभा है । किन्तु उसके बाद कविकी व्युत्पत्ति अर्थात् लौकिक तथा शास्त्रीय व्यवहारका परिज्ञान भी दूसरा अनिवार्य कारण है । मम्मट आदिने तो इन दोनोंको अलग-अलग धारण न मानकर सम्मिलित रूपसे कारण माना है । और उनके साथ 'वाच्यज्ञशिष्याभ्यास.' अर्थात् अभ्यासकी भी जोड़कर—

शक्ति-निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणत् ।

काव्यज्ञशिष्याभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

काव्यप्रकाश १—२ ।

शक्ति अर्थात् कवित्वकी बीजभूत प्रतिभा, लोक, शास्त्र तथा काव्यादिके परीशीलन से उत्पन्न निपुणता अर्थात् व्युत्पत्ति और काव्यके निर्माण तथा उसकी विवेचनामें समर्थ काव्यज्ञोंकी शिक्षाके अनुसार अभ्यास करना ये तीनों मिलकर 'हेतु' अर्थात् काव्यके कारण होते हैं । 'न तु हेतव.' अलग अलग तीन कारण नहीं होते हैं । इसी दृष्टिसे यहाँ भी ग्रन्थकार लोकव्यवहार आदिकी उपयोगिताका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

निर्धनसे लेकर राजा तक [के व्यवहार] के श्रोचित्यको जो नहीं जानते हैं और कवित्वकी कामना करते हैं [अर्थात् कवि बनना चाहते हैं] वे विद्वानोंके उपहासके [मनोरजनके] पात्र बनते हैं [खेलन ते सुमेधसाम्] । ८ ।

विद्वत्ताके साथ कवित्व आवश्यक—

अगले श्लोकोमें ग्रन्थकार इस बातपर बल देते हैं कि लोक रजन और लोकमें प्रतिष्ठाकी प्राप्ति केवल विद्वत्ताके द्वारा नहीं हो सकती है । इनकी प्राप्तिके लिए शास्त्रीय विद्वत्ताके साथ कवित्वकी शक्ति भी आवश्यक है । कवित्वके बिना चोरा विद्वान् लोकमें न प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है और लोकका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकता है ।

प्राणाः कवित्वं विद्यानां लावण्यमिव योषिताम् ।
 त्रैविद्यवेदिनोऽप्यस्मै ततो नित्यं कृतस्पृहाः ॥६॥
 नांसिकान्ते द्वयं शिवत्रं द्वयोर्ग्रीडा रसज्ञयोः
 कुचाभावः कुरङ्गाद्याः काव्याभावो विपश्चित्तः ॥१०॥
 अकवित्वं परस्तावत् कलङ्कः पाठशालिनाम् ।
 अन्यकाव्यैः कवित्वं तु कलङ्कस्यापि चूलिका ॥११॥

स्त्रियोके लावण्यके समान कवित्व, विद्याभ्रोंका प्राणरूप है । इसलिए त्रयोविद्याके जानने वाले विदोंके पिढावृ भी इस [कवित्वकी प्राप्ति] के लिए सदा उत्सुक रहते हैं ॥६॥

[श्लोकके उत्तरार्द्धमें वही जाने वाली] दो वस्तुएँ नाकके ऊपर हुए फीदके समान है और [इन] दोनोंसे रसज्ञोंको लज्जा होती है । [ये दोनों वस्तुएँ हीन सी यह कहते हैं । उनमेंसे एक तो] मृगनयनी [सुन्दरी] के स्तनोक्त अनाय [अर्थात् छोटे स्तन फल होना और दूसरा] विद्वान्का काव्याभाव [अर्थात् कवि न होना, ये दोनों नाथपरवे फीद के समान लज्जाप्रद होते हैं] ॥१०॥

काव्यापहरणकी निन्दा—

जैसा कि पिछले श्लोकमें कहा गया है बिना कवित्वके केवल कीरे विद्वानोंको भी जगत्में आदर प्राप्त करना कठिन हो जाता है । इसलिए बभी-बभी कवित्वकी प्रतिभा से हीन, किन्तु लोकमें आदर पानेके लिए उत्सुक, विद्वान् भी दूसरोंके काव्यको चुराकर अपहरण कर अपने नामसे प्रसिद्ध कर देते हैं और इस प्रकार अनायास ही लोकमें आदर प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं । इस प्रकार लोगोकी निन्दा करते हुए ग्रन्थकार प्रगने श्लोक में लिखते हैं—

[पाठशालिनाम् अर्थात्] विद्वानोंके लिए कवि न होना ही बड़ा कलङ्क है किन्तु ग्रन्थों के काव्यते [अर्थात् दूसरोंके काव्यका अपहरण करके अपने नामसे प्रसिद्ध करनेसे] कवित्व [को प्राप्त करनेका यत्न] तो कलङ्ककी भी छूलिका [और भी अधिक बढ़ाने वाली घेष्टा] है । ११ ।

राजमोक्ष प्रादिने हम प्रकारके कवियोंका अन्धा विवेचन किया है । उन्हींके कवियोंके चार भेद किए हैं । (१) उत्पादक कवि, (२) परिवर्तक कवि, (३) आच्छादक कवि और (४) गवर्गक कवि । इनमेंसे 'उत्पादक' कवि उगकी मूर्त हैं जो अपनी प्रतिभाके बलसे सुन्दर नूतन काव्यकी रचयिता बनता है । यही वास्तवमें कवि कहना ही अधिकारी है । दूसरा 'परिवर्तक' कवि वह कहलाता है, जो किसी अन्य कविके भाव और लक्ष्य में परिवर्तन करने लगको अपना काव्य बना लेता है । अर्थात् कुछ परिवर्तनोंद्वारा दूसरेकी कवितापर अपने अतिथिको छाप लगा देता है । तीसरे प्रकारका कवि 'आच्छादक' कवि होगा है । वह दूसरेकी रचनाको छिपा देता है, प्रकाशित होनेका घमण्ड नहीं देता है और उन्हींके मित्तो-तुलनी या हीन कोटिरी भी अपनी कविताको प्रसिद्ध कर देता है । चौथा कवि 'गवर्गक' कवि कहलाता है । 'गवर्गक' का अर्थ साहू है । जो दूसरे काव्यको

सुल्लम-सुल्लमा अपना वहजर प्रवासित वरनेका दुस्माहम करता है वह 'सवर्गव कवि' कहलाता है। परिवर्तव कवि और प्राच्छादक कवि यदि चोर कवि है तो सवर्गव कवि डाकू कवि है। कवियाके ये सब भेद प्राचीन कालमें भी पाए जाते थे और अब भी पाए जाते हैं। इस प्रकारके कवियाके विषयमें निम्न श्लोकमें अच्छी चुटकी ली गई है—

कविरनुहरति च्छाया, अर्थ कुकवि, पदादिक चोरः।
सकलप्रबन्धद्वरे साहसद्वरे नमस्तस्मै ॥

अर्थात् कवि यदि कभी काव्यपहरणका यत्न करता है तो वह केवल छायाभावका ही अपहरण करता है। कुकवि दूसरेके काव्यसे अर्थका अपहरण करता है और चोर कवि पदादिका अपहरण करता है। किन्तु जो सारे प्रबन्ध, सारे काव्यका ही अपहरण कर लेता है उस साहसिक डाकू को दूरसे नमस्कार है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि दूसरेके काव्यसे छायाभावका अपहरण करना, ग्रहण कर लेना अनुचित नहीं है उसकी अनुमति सुकवि के लिए भी प्रदान की गई है। किन्तु अपावहरण, पदापहरण और प्रबन्धपहरण उत्तरोत्तर गुह्यतर अपराध बन जाते हैं।

त्रिविध काव्यसवाद—

ऊपरके श्लोकमें 'कविरनुहरति च्छाया' लिखकर कविको छायापहरणकी अनुमति की प्रदान कर दी गई प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि काव्योम बहुधा साम्य भी पाया जाता है। और वह साम्य कभी कभी महाकवियोंके काव्योम भी पाया जाता है। पर वह छाया-साम्य ही होता है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन तथा राजशेखर आदि ने इस प्रकारके काव्य साम्यको तीन भागोंमें विभक्त किया है। (१) प्रतिमित्ररूप साम्य, (२) आनन्दप्रसन्न साम्य और (३) तुल्यदेहिबन्धु साम्य। इनका वर्णन करने हुए आनन्दवर्धनाचार्यने लिखा है—

सनादीं ह्यन्यमादृश्य तन् पुन प्रतिविम्बवत्।

आलोकयाकारवत् तुल्यदेहिबन्धुच शरीरिणाम् ॥ ध्वन्या० ४ १२ ॥

इनके लक्षण राजशेखरने निम्न प्रकारसे किये हैं—

अर्थ म एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरो यत्र।

तदपरमार्थविभेद काव्य प्रतिविम्बवत्प र्यात् ॥

कियत्रापि यत्र सस्फारकर्मणा वस्तु भिन्नवद् भाति।

तन् कथितमर्थचतुरे रालेख्यप्रख्यमिति काव्यम् ॥

अर्थात् प्रतिविम्बरूप काव्य मूलकाव्यका प्रतिविम्बमान प्रतीत होता है उसका अपना व्यक्तित्व और स्वरूप मूलकाव्यसे अलग प्रतीत नहीं होता है। आनन्दवर्धनाचार्यने इस प्रकारके काव्यको 'तार्किक शरीर रूप और राजशेखरने उसका 'अपरमाय विभेद कहा है। यह काव्य सर्वथा हेय है। दूसरे आनन्दप्रसन्न काव्यमें मूलकाव्यका कुछ मन्तार करके उसकी रचना की जाती है। जिसमें वह प्रतिमित्रभावका छाठकर आनन्द या चित्रके समान प्रतीत होता है। यह भी हेय ही माना जाता है। तीसरा 'तुल्यदेहिबन्धु' साम्य माना गया है। आनन्दवर्धनने इसके विषयमें लिखा है—

तत्प्रथम्यान्वय मद्भावे पूर्वस्थित्यनुयायिपि।

वस्तु भातितरा तन्व्या शाश्वच्छायामिवावन्तम् ॥ ध्वन्या० ४ १४ ॥

कवित्वबन्धाः क्लिश्यन्ते सुखाकर्तुं जगन्ति ये ।

नेत्रे निमील्य विद्वांसस्तेऽधिरोहन्ति पर्वतम् ॥१२॥

अथ शिष्टसमयपरिपालनाय प्रत्यूहव्यूहोपशमनाय च सकलसन्दर्भायस्त-
वनागर्भं समुचितेष्टाधिदैवतस्य सूत्रकारौ नमस्कारश्लोकं परामृशत —

[सूत्र १]— चतुर्वर्गफलां नित्यं जैर्ना वाचमुपास्महे ।

रूपैर्द्वादशभिर्विश्वं यथा न्याग्ये पथि धृतम् ॥१॥

अर्थात् जिस प्रकार कामिनीका मुख पूर्ववर्ती चन्द्रमाकी कान्तिका अनुसरण करने पर भी अत्यन्त शोभित होता है इसी प्रकार पूर्वकाव्यकी छायाका अनुसरण करनेवाला नवीन काव्य भी चमत्कारयुक्त हो सकता है। आनन्दवर्धन इस प्रकारके काव्य साम्यके समर्थक है। इसीको पूर्व श्लोकमें “कविरगुहरति च्छाया” लिखकर ग्राह्य कहा गया है।

कवित्वशक्तिसे रहित जो [विद्वान् अपनी कोरी विद्याके आधारपर] जगत्को प्रसन्न [सुखी] बनानेका क्लेश उठते हैं वे विद्वान् मानो आँखें भींच कर पर्वतपर चढ़नेका प्रयत्न करते हैं। [अर्थात् वे कभी अपने कार्यमें सफल नहीं हो सकते हैं] उनका यह प्रयास अविवेकपूर्ण है ॥१२॥

मूल ग्रन्थका मङ्गलाचरण—

ऊपरके वारह श्लोक ग्रन्थकी अवतरणिका रूपमें लिखे गए थे। वे मूल ग्रन्थ के भाग न होकर उसके व्याख्याभूत विवरणके भाग थे। अब आगेसे मूल ग्रन्थ और उसकी व्याख्याका आरम्भ होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह ग्रन्थ दो भागोंमें विभक्त है—एक मूल कारिका भाग जिसकी मूलभाग भी कहा जाता है, और दूसरा उसका व्याख्या भाग अथवा विवरण भाग कहलाता है। इन दोनों भागोंके निर्माता एक ही व्यक्ति है। अर्थात् सूत्रकारोंने स्वयं ही उसपर विवरण भी लिखा है। इसलिए मूल मूल ग्रन्थका जो मङ्गल श्लोक था उसीको उन्होंने अपने विवरणके आरम्भमें मङ्गलश्लोकके रूपमें भी दे दिया है। ‘चतुर्वर्गफला इत्यादि श्लोकको हम इससे पहिले भी देना चुके हैं, वही श्लोक अब फिर आ गया है। इसका यही कारण है। पहिली जगह विवरण या व्याख्या-भागके मङ्गलश्लोकके रूपमें उसको दिया गया था। अब उसे मूल मूल ग्रन्थ के मङ्गलश्लोकके रूपमें लिखकर स्वयं सूत्रकार ही उसकी व्याख्या कर रहे हैं। इस बात को समझ लनेसे श्लोककी पुनरावृत्ति से किसी प्रकारका संशय या भ्रम उत्पन्न नहीं होगा।

सदाचारके परिपालनकेलिए और विष्णु-समुदायके नाश करनेकेलिए सूत्रकार [अर्थात् मूल मूल ग्रन्थके निर्माता रामचन्द्र गुणजन्द्र] सम्पूर्ण ग्रन्थके अर्थकी स्तुतिसे पुनः [ग्रन्थके आरम्भमें नमस्कार करने योग्य] समुचित इष्टदेवता [जैनी वाक् अर्थात् सरस्वती] के नमस्कार-वचन श्लोक लिखते हैं—

[सूत्र १]—[धर्म, धर्म, काम और मोक्ष रूप] चतुर्वर्गसिद्धि फलको प्रदान करने वाली [रागादि शोचोको जोत लेने वाले धर्म एव] जिनमें [अर्थात् जिन नामसे कहे जाने वाले शक्तियों] को [उत्त] वालीको [इस ग्रन्थके निर्माता हम दोनों] नमस्कार करते हैं जिनसे

‘चतुर्वर्ग’ इत्यादि—चतुर्वर्गो धर्म-अर्थ-काम-मोक्षा, यथोचित्यं प्रधानं गौणं वा ‘फलं’ यस्याः । समुदाय-समुदायिनोरभेदोऽप्यस्ति, तेन पुरुषभेदेन एक-द्वि-त्रि-पुरुषार्थफलत्वेऽपि चतुर्वर्गफलत्वं न विहन्यते ।

इष्टलक्षणत्वाच्च फलस्य यो यस्य पुरुषार्थोऽभीष्टः स तस्य प्रधानं, अपरो गौणः । ‘नित्यम्’ इत्यनेन आवश्यकं वाच. चतुर्वर्गफलं प्रति हेतुत्वमुच्यते । अर्थ-पेक्षया जिनानामियं ‘जैनी’ । जिनोपदिष्टं ह्यर्थं ऋषयो प्रथनन्ति । ‘वाचम्’ इति भारतीम् । ‘उपासमहे’ तदर्थानुष्ठानेन समीपे वर्तामहे । समीपवृत्त्या च तदेकशरण-त्मात्त्वमात्मन रथापितम् ।

[प्रपने आचाराङ्ग से लेकर दृष्टियाद पर्यन्त प्रतिद्व] बारह रूपके द्वारा समस्त जगत्पुकी न्यायोचित [धर्मनुकूल] मांगमें नियन्त्रित किया है । १।

‘चतुर्वर्ग’ इत्यादि [व्याख्येय इत्योका का प्रतीक-भाग है । आगे उसकी व्याख्या करते हैं] चतुर्वर्गं अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष [एक चारों पुरुषार्थ प्रकरणानुसूल] श्रीचित्त्य अनुसार जिसके प्रधान या गौण फल हैं [यह चतुर्वर्गफला वाली हुई] । समुदाय और समुदायी [अर्थात् समष्टि और व्यष्टि] का अभेद भी [माना जाता] है इसलिए पुरुषभेदसे [कहीं] एक [कहीं] दो और [कहीं] तीन पुरुषार्थके फल होनेपर भी चतुर्वर्गफलत्व का खण्डन नहीं होता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि यहाँ जिन-वाणीका जो ‘चतुर्वर्गफलत्व’ प्रतिपादन किया है वह सर्वत्र समान रूपमें घणित नहीं होता है । पुरुषभेदसे उसमें भेद पाया जाता है । नहीं धर्म अर्थ कामादिमेंसे केवल एक ही फलही प्राप्ति होती है । वही दो फल भी मिल सकते हैं और वही तीन या चार फल भी मिल सकते हैं । इसलिए जिन-वाणी कहीं एकफला, कहीं द्विफला, और कहीं त्रिफला भी हो सकती है । इसलिए यहाँ जो ‘चतुर्वर्गफलत्व’ कहा है सो उचित नहीं है । यह शङ्का हो सकती है । इस शङ्काका समाधान करनेकेलिए ग्रन्थकारने समुदाय और समुदायी अर्थात् समष्टि और व्यष्टिके अभेद-सिद्धान्तका आश्रय लिया है । इस सिद्धा-न्तके अनुसार समुदायी अर्थात् व्यष्टि रूप धर्म, अर्थ आदि अलग अलग व्यक्तियों और उन चारोंके समुदाय अर्थात् समष्टिके अन्निप्र मानकर केवल एक, दो या तीन फलोंके होने पर भी चतुर्वर्गफलत्व बन जाता है । उसमें कोई दोष नहीं होता है । यह ग्रन्थकारका अभि-प्राय है ।

ये चारो फल सर्वत्र समान स्थितिमें भी नहीं होते हैं । कोई प्रधान होता है और कोई गौण । जो फल जिन समय जिस व्यक्तिको विशेष रूपसे अभीष्ट होता है वह उन समय प्रधान फल कहलाता है और शेष फल गौण कहलाते हैं । परन्तु वह फल चाहे प्रधान रूप हो अथवा गौण रूप, प्रत्येक दशांश चतुर्वर्गफलके भीतर गिना जाता है । तभी उन चारोंकी फलरूपताका उपपादन हो उक्तता है एसी बातको आगे कहते हैं—

और फलके इष्ट होनेसे [अर्थात् अभीष्ट अर्थकी प्राप्तिके ही फल-पद-वाच्य होनेसे धर्मादि चारो पुरुषार्थोंमेंसे जिस समय] जो पुरुषार्थ जिसको अभीष्ट है वह उसके लिए प्रधान [फल] होता है और अन्य [पुरुषार्थ] गौण [फल] होते हैं । [‘चतुर्वर्गफलोंके साथ घणित होने वाले] ‘नित्यम्’ इस पदसे वाणीका चतुर्वर्गफलके प्रति आवश्यक—अनिवार्य—हेतुत्व

'नित्यम्' इत्यस्यात्रापि सम्बन्धाद्दुपासनस्याविच्छिन्नः ख्यापिता । रूपाणि अङ्गान्याचारादीनि दृष्टिवादपर्यन्तानि । 'द्वादश' प्रसिद्धानि । सत्यानिर्देशेन चानियन्त्रितसख्याया जिनवाच. प्रस्तुतातुल्यत्वेन व्यवच्छेद कथ्यते ।

'विश्वम्' इति समुदायापेक्षमेवत्वम् । कर्मभूमित्वात् प्राधान्यविवक्षया मनुष्यलोको वा विश्वम् । 'न्याय्ये' न्यायादनपेते । 'धृतम्' व्यवस्थापितम् । व्यवस्थापनमय त्रैकाल्येऽपि अतीतनिर्देशोऽर्थापेक्षया वाचोऽनादित्वख्यापनार्थः । 'पथि' इति पुरुषार्थप्रापणोपायत्वाद्दिसा-दानादिक कर्म लक्ष्यते ।

सूचित किया है ।' [अर्थात् जिनवाणी अवश्य ही चतुर्वर्गरूप फलको प्रदान करने वाली होती है । यह जिन-वाणी सर्वत्र माक्षान् शब्दात्मक हो हो यह आवश्यक नहीं है किन्तु अर्थको अपेक्षासे [रागादिके विजेता अत एव 'जिन' नामसे प्रसिद्ध सन्तों] जिनोंकी यह [वाणी] 'जिनी' वाग् [कही गई] है । 'जिनो [अर्थात् रागादि विजेता सन्तों] के द्वारा बतलाए हुए अर्थको ही श्रुति लोप ग्रन्थ रूपसे लिखते हैं । [इसलिए श्रुतियोंके ग्रन्थोमे लिखी गई भाषा साक्षात् जिन वाणी न होते हुए भी 'अर्थपिक्षया' जिनोंकी वाणी 'जिनी वाग्' [कही जा सकती है] 'वाचम्' इस पदसे भारती [का ग्रहण होता है] । 'उपास्महे' इससे उसके अत्रुसार आचरण द्वारा उसके समीपमे उपस्थित होते हैं । समीप रहनेके द्वारा अपने एकमात्र उसके शरणगतकका प्रतिपादन किया है ।

'नित्यम्' इस पदका अन्वय एक बार पहिले 'चतुर्वर्गफला के साथ कर चुके है । किन्तु दुबारा 'उपास्महे' के साथ भी ग्रन्थकार उसका अन्वय करना चाहते हैं । और इस प्रकार उपासनाकी निरन्तरता या निरन्तरता सूचित करना चाहते हैं । इसलिए अगली पक्तिमे वे अपने इस अभिप्रायको व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

'नित्यम् इस [पद] का यहाँ [उपास्महे पदके साथ] भी अन्वय होनेसे उपासनाका अविच्छेद [निरन्तरता] सूचित किया है । [बारह] रूप अर्थात् प्राचाराविसे लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त बारह अङ्ग प्रसिद्ध हैं । [द्वादश इस] सत्याके विदेशसे अनियत-सत्या वासी निन-वाणीके प्रस्तुत [अर्थान् द्वादश सत्या वाले षड्भवेर्दो] के साथ समानता न होनेसे व्यवच्छेद किया गया है ।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनोंकी वाणी तो ग्रन्थ विषयोसे सम्बन्ध रहने वाली अनेक प्रकारकी हो सकती है किन्तु यहाँ उस सबका ग्रहण नहीं किया गया है । द्वादशाङ्ग वाली जिन-वाणीकी ही प्रस्तुत द्वादश प्रकारके रूपकोके साथ समानता हो सकती है इसलिए प्राचाराङ्गसे लेकर दृष्टिवाद पर्यन्त द्वादश अङ्गोंका प्रतिपादन करने वाली जिन-वाणीकी ही यहाँ नमस्कार किया है ।

'विश्वम्' इस पदमे समुदायकी दृष्टिसे एक अचन [का प्रयोग किया गया] है । [अर्थात् उस एव अचनसे समष्टि रूपसे सारे चराचर जगत्का ग्रहण करना चाहिए] । अथवा कर्मभूमि [अर्थात् कर्म-भूमि] होनेके कारण प्रधानताकी विषयसे [केवल] मनुष्यलोक [यहाँ] 'विश्व' [पदसे अभिप्रेत हो सकता] है । [धर्मपरमार्थग्यायाशनपेते षष्ठा० इस सूत्रसे ग्याय-शब्दसे यत् प्रथम शब्दे 'ग्याय' शब्दकी तिङ्गि होती है । इसलिए 'ग्याय' अर्थात् ग्यायो अन्पेत [ग्यायात्पुत्र मां] से । 'धृतम्' अर्थात् व्यवस्थित किया । [इत] व्यवस्थापनके अर्थात् हीमे

२—अथाभिनेयवाक्यपरतया श्लोकोऽयं व्याख्यायते । यद्यपि साक्षात् धर्म-
अर्थ-कामफलान्येव नाटकादीनि तथापि 'रामवद् वृत्तित्वं न रावणवद्' इति
हेयोपादेय-हानोपादानपरतया, धर्मस्य च मोक्षहेतुतया मोक्षोऽपि पारम्पर्येण
फलम् । 'नित्यम्' इत्यनेन चतुर्वर्गफलान्येव रूपरूपिण निघन्थनीयानि इति रत्याप्यते ।
जिनानां रागादिजेतृणां लक्षणप्रणयनापेक्षेयं 'जैनी' । न नाम सर्वत्रोपदिष्टं लक्षणं
न । नवेनाऽर्वाचीनदृशः मञ्जुपविस्तराभ्यां तत् कर्तुं प्रभवन्ति ।

पर भी [अर्थात् जिन-वाणीके द्वारा जगत्को न्याय-भागमें व्यवस्थित करनेका कार्य, भूत
भविष्य वर्तमान तीनों कालोंमें ही होता रहता है फिर भी 'घृतम्' पदमें अतीतकालके सूक्ष्म
वृत्त-प्रत्ययके द्वारा केवल] अतीत कालका निर्वेश वाणीके अनादित्वको सूचित करने के लिए
किया गया है । 'पचि' भागमें इस [पद] से [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप] पुष्पायोंके
प्राप्त करनेका उपाय होनेके कारण अहिंसा दान आदि कर्मका ग्रहण [पचि पदसे] होता है ।
[अर्थात् जिनोंकी वाणीके विद्वको अहिंसा दान आदि कर्ममें लगाया यह 'पचि घृतम्' का
अर्थ है] ।

मङ्गल श्लोककी दूसरी व्याख्या

यहाँ तक विवरणकारने मङ्गलश्लोककी सामान्य मङ्गलाचरण-परक व्याख्याकी है ।
आगे वे इसकी दूसरे प्रकारकी व्याख्या करेंगे । इस दूसरी व्याख्याका सम्बन्ध प्रवृत्त नाटकादि
रूप विषयके साथ होगा । इसलिए इसमें 'वाचम्' शब्दसे सामान्य वाणी मानका ग्रहण न
होकर केवल नाटकादि रूप वाणीका ही ग्रहण किया जायगा । दोष पदोंके अर्थोंमें तो कोई
विशेष अन्तर नहीं किया गया है किन्तु उनकी व्याख्या नाटकादिपरक रूपसे भिन्न प्रकारने
दिखलाई है । उमीका अगले अनुच्छेदमें लिखते हैं—

अथ आगे अभिनेय-वाक्य [अर्थात् नाटक आदि] परक रूपमें इस श्लोककी [दूसरे
प्रकारसे] व्याख्या करते हैं । यद्यपि साक्षात् रूपसे नाटक आदि [आरहों प्रकारके रूपक] धर्म,
अर्थ और काम [इन तीनोंमेंसे ही किसी एक] फलको ही प्रदान करने वाले होते हैं [अर्थात्
मोक्ष रूप चतुर्थ फलके साथ नाटकादिका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है] फिर भी
'रामके समान आचरण करना चाहिए रावणके समान नहीं' इस प्रकारकी हेय [अर्थात्
परित्याग करने योग्य अधर्माचरण] और उपादेय [अर्थात् ग्रहण करने योग्य धर्माचरण] के
[क्रमशः] हान [अर्थात् परित्याग] और उपादान [अर्थात् ग्रहण] परक होनेसे [नाटकादि
मोक्षके प्रति भी परम्परया कारण हो सकते हैं] । इसलिए मोक्षको भी उनका फल कहा जा
सकता है । इसका दूसरा कारण भी अगली पंक्तिमें देते हैं कि] और धर्मके [भी] मोक्षजनक
होनेसे परम्परासे मोक्ष भी [नाटकादिका] फल [हो सकता] है । 'नित्यम्' इस [पद] से
चतुर्वर्ग रूप फल [के साथक, अथवा चतुर्वर्ग रूप फलको प्रदर्शन करने] वाले ही नाटकादि
की रचना [कवियोंको] करनी चाहिए यह बात ['नित्यम्' पदसे] सूचित की गई है । [जैने
इस पदमें 'जिन' पदसे तस्येदम् अष्टा० इस सूत्रके द्वारा अर्थ-प्रत्यय करके 'जैनी' पद बनता
है । इसलिए उसका अर्थ] जिनामामिय जैनी [जिनोंकी यह] अर्थात् जिन-सम्बन्धिनी वाणी
यह होता है । और 'जिन' शब्दसे रागादिके विजेता सन्तोका ग्रहण होता है इसलिए]
'जिनों' अर्थात् राग आदिको वशमें कर लेनेवालोंकी यह [वाणी साक्षात् रूपसे जिनप्रोक्ता न

‘वाचम्’ नाटकाद्या, ‘उपास्महे’ परिशीलयाम । ‘नित्यम्’ इति अत्रापि सम्बन्धते । सततापरिशीलिताभिनेयवाचो हि कुतो नामौचित्यवादनो भवेयु ।

रूप्यन्ते अभिनीयन्ते इति रूपाणि नाटकादीनि । अर्नाभिनेयाना रूपशब्दा-प्रतीतेः सामान्यनिर्देशेऽपि वाचोऽभिनेयत्वं लभ्यते । भूरिभेदत्वेऽप्यभिनेयवाचो ‘द्वादशभिः’ इति प्रस्तुतप्रकरणापेक्षम् । ‘विश्वम्’ इति पूर्ववत्, समवकारादीनां देव देव्यचरितव्युत्पादकत्वात् । ‘पयि’ इति यश सम्पदुपायत्वात् कृत्य लक्ष्यार्थं । नायक-प्रतिनायकयोर्हि नयानयकलोपदशनेन नाटकादिभिर्दुर्दान्तचेतसा न्याया दनपेते कृत्ये प्रवृत्तिर्व्यवस्थाप्यते ।

अत्रापि व्याख्याने श्रद्धापरत्वेन नमस्कारपरतैव श्लोकस्य । व्याख्येय-व्याख्यानयोरेकरुर्करवख्यापनार्थमयमेव श्लोको विवरणभ्याप्यादावधीत इति ॥ १ ॥

होने पर भी मूल रूपमें] लक्षणाकी रचनाकी दृष्टिसे ‘जिनो’ [घाणो कही जा सकते] हैं । [यहाँपर यह शङ्का हो सकती है कि नाटकादिके लक्षण तो भरतादिके ग्रन्थोमें सर्वत्र पाए जाते हैं फिर उनको जिन प्रणीत फंसे कह सकते हैं । इसका उत्तर देनेकी दृष्टिसे अगली पंक्तिमें लिखते हैं कि] सर्वत्र उपदिष्ट अर्थ लक्षण न हो ऐसी बात नहीं है । [योंकि मूल रूपसे जिनों द्वारा प्रणीत लक्षणोंको ही] नवीन दृष्टिवाले यादके [भरत आदि पुनि] संक्षेप और विस्तारके द्वारा उनको [फिर] कर सकते हैं ।

‘वाचम्’ अर्थात् नाटकादि एव [घाणो] को । ‘उपास्महे’ अर्थात् हम परिशीलित [निरूपित] करते हैं । [प्रथम व्याख्यामे भी ‘नित्य’ पदका सम्बन्ध चतुर्वर्गकानां और ‘उपास्महे’ दोनों पदोंके साथ किया गया था । इसी प्रकार इस द्वितीय व्याख्यामे भी दोनोंके साथ सम्बन्ध माना है । इसी बात को आगे लिखते हैं कि] ‘नित्यम्’ यह [पद पहले चतुर्वर्ग-कानांके साथ एक बार अन्वित हो चुका है किन्तु दुबारा] यहाँ [उपास्महेके साथ] भी अन्वित होता है । ‘उपास्महे’के साथ ‘नित्यम्’ पदके सम्बन्धमें यह अभिप्राय निकलता है कि नाटक आदिका निरन्तर परिशीलन करने से ही नाटकके लक्षणादिका निरूपण ठीक तरहसे किया जा सकता है । अन्वयार्थ] अभिन्नय वारणी [अर्थात् नाटकादि] का निरन्तर अनुशीलन न करने पाने [नाटकलक्षणवार अर्थात् नाट्यशास्त्रके विषयपर ग्रन्थ लिखने वाले विद्वान्] अधीक्षक को प्रतिपादन करने वाले [अर्थात् नाटकादिमें उचित नियमोंके प्रतिपादक] फंसे ही सकते हैं ?

नाटकादिका निरन्तर परिशीलन न करनेवाले विद्वान् अनुभवहीन होनेके कारण नाटकादिके लक्षण और अधीक्षक आदिका प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं । इसलिए हमें अर्थात् इस ग्रन्थमें प्रणेता रामचन्द्र और गुणचन्द्रन नाटकोका मूल परिशीलन करने अनुभव प्राप्त करनेके बाद ही इस ग्रन्थकी रचनाका साहस किया है यह ग्रन्थकारका निपुण अभिप्राय है ।

आगे प्रथमवार एषक शब्दको व्युत्पत्ति द्वारा यह दिलासते हैं कि नाटकोकेलिए ‘एषक’ शब्दका प्रयोग क्यों होता है ।

रचित अर्थात् अभिनय द्वारा प्रवर्णित किये जाते हैं, इतलिए नाटकादि ‘एष’ [एष रूपक] कहलाते हैं । जिनका अभिनय नहीं होता है उनको ‘एष’ शब्दमें प्रतीति न होनेके कारण

अथ लक्षणम्य विषय प्रतिजानीते—

(सूत्र २)—अभिनेयस्य काव्यस्य भूरिभेदभृतः कियत् ।

कियतोऽपि प्रसिद्धस्य दृष्टं लक्ष्म प्रचक्ष्महे ॥२॥

यहाँ बालीका सामान्य निर्देश होनेपर भी उससे अभिनेय [नाटकादि रूप बाली] का ही पट्टण होता है । अभिनेय [नाटकादि रूप] बालीके [चारहसे अधिक] बहूतसे भेद होनेपर भी 'द्वादशभि' चारह यह [पद] प्रस्तुत प्रकरणके अनुसार कहा गया है । 'विश्वम्' यह [पद] पूर्वं [व्याख्या] के समान [यहाँ इस द्वितीय व्याख्यामें भी समुदायकी दृष्टिसे एवमचनेमें प्रयुक्त हुए] है । [क्योंकि नाट्यके भेद रूप] समवकार आदिमें देय तथा इत्य आदिसे चरित या प्रदर्शन होनेसे [नाट्य समस्त विश्वसे ही सम्बन्ध रहता है] । 'पथि' यह [पद] यथा सम्पादनके उपाय होनेसे उसमें कार्योको घोषित करता है । नायक और प्रतिनायकके घम और अघमके फलोको दिखलाकर नाटकादि दुर्दान्तचित्त [अघमियों] के व्यवहारको भी ग्याय्य मार्गमें व्यवस्थित करते हैं ।

इस [द्विसरी] व्याख्यामें भी अद्वापरक होनेसे यह श्लोक नमस्कार सूचक ही समझना चाहिए । व्याख्येय [मूल कारिकाभाग] और व्याख्या [अर्थात् इस विवरण दोनोंके] कर्ता अभिन्न होनेसे इसी श्लोकको विवरणके प्रारम्भमें भी दे दिया गया है । [यहाँपर यह मूल अघकी कारिकाके रूपमें अर्थात् है । अतः उसकी व्याख्या की गई है । पत्नी चार विवरणके मङ्गल-श्लोकके रूपमें दिया गया था । अतः उसकी व्याख्या यहाँ नहीं की गई थी] ॥ १ ॥

प्रतिपाद्य विषय—

प्रथम श्लोकम मङ्गलाचरण करनेके बाद इस द्वितीय कारिकामें अन्वयकार अघके अन्वये प्रतिपाद्य विषयका दिग्दर्शन कराने हैं । जैसा कि अन्वये नामसे ही स्पष्ट है नाट्यमें सम्बन्ध रहने वाले लक्षणों आदिका प्रतिपादन ही इस अन्वयका मुख्य एवं प्रधान प्रतिपाद्य विषय कहा जा सकता है । इन लक्षण आदिका प्रतिपादन भी अन्वयकार पूर्वप्रणीत भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' आदिमें आधारपर करेंगे । इसीलिए मूल कारिकामें कहा है—'दृष्ट सद्यः प्रचक्ष्महे' अर्थात् पूर्व-प्रतिपादित लक्षणोंके आधारपर ही हम लक्षण आदि निगेंगे । अन्तर जाना है कि भरतमुनिके समान नाट्यके नारे विषयोका और नारे भेदोका प्रतिपादन न करने कुछ छुने भेदों और विषयोका ही लक्षण करेंगे और यह भी बहुत विचारके साथ नहीं अघिनु लोचने करेंगे । इसी दृष्टिसे कारिकामें 'विद्योर्धन' और 'विद्यु' सद्यः प्रचक्ष्महे दो अण्ड 'विद्यु' पदका प्रयोग किया गया है । पत्नी जगह 'विद्योर्धन' का अन्विषय यह है कि नारे नाट्यभेदोका नहीं अघिनु केवल कुछ भेदोका ही लक्षण करेंगे । दूसरी जगह 'विद्यु' पदका अन्विषय यह है कि विस्तारपूर्वक लक्षण न करने कुछ घोषणा ही मङ्गल लक्षण करेंगे । इसी कारणसे छोटे निगन है—

अथ [लक्षण अर्थात्] शास्त्रके विषयका प्रतिपादन [को प्रतिपाद्य] करने है—

[सूत्र २]—बहूत प्रकारके भेदोंके मुक्त अभिनेय-काव्य [अर्थात् नाट्य] मेंके कुछ प्रति-
[भेदों] के [भरत नाट्यशास्त्र आदिमें विस्तारपूर्वक] पूर्व-दृष्ट कुछ [अर्थात् मङ्गल] लक्षण
हम [करने इन अण्डमें छोटे] कर रहे हैं ॥२॥

‘अभिनेयस्य’ वाचिक-आङ्गिक-सात्त्विक-आहार्यैरभिनेयैः प्रत्यक्षीभवन्-योग्यस्य । सूत्रकाराभिप्रायापेक्षं चैतत्, तेन रस-भाव-नायक-नायिकादिलक्षणस्य अभिनेयं प्रति प्रवृत्तस्य अनभिनेयव्यापित्वेऽपि न विरोधः । ‘काव्यस्य’ वर्णनात्मनः शब्दार्थग्रन्थनस्य कविव्यापारस्य । ‘भूरीन्’ रसप्रधानानां नाटकादीनां, अप्रधानरसांश्च दुर्मिलित-श्रीगदित-भाषी प्रस्थान-रासकादीनां ‘भेदान्’ विभक्ति । ‘क्रियत्’ इति अनान्तरीयकस्य रङ्गसम्बन्धन्तरालादिलक्षणस्य परिहारेण वक्ष्यमाणप्रबन्धद्वादशव-ग्रथनान्तरीयकं कतिपयं लक्ष्मेति योगः ।

‘क्रियतोऽपि’ लक्षणविधावभिप्रेतस्य । तेन बोहलप्रणीतलक्ष्माणः साटकाद्यो न लक्ष्यन्ते । लक्षणीयबाहुल्येऽपि हि यावत्येव भागे, लक्ष्ययितुः श्रद्धा तावानेव लक्ष्यते । क्रियतोऽपि च ‘प्रसिद्धस्य’ रसप्राधान्यादखिललोकरञ्जकतया ख्यातस्य नाटकादेः । ‘दृष्ट’ पूर्वमुनिप्रणीतनाट्यलक्षणपूर्वापर्यपरामर्शेन उपयुक्ततया निश्चिन्तम् । एवं च स्वमनीषिकानिगसेन लक्षणस्योपादेयत्वमुक्तम् । लक्ष्यति अभि-नेयादन्भिनेयाच्च क्रियतोऽपि व्यवच्छिन्नतीति ‘लक्ष्म’ लक्षणम् । ‘अचक्ष्महे’ सारा-सारोपादानहानाभ्यां संक्षेप-विस्तराभ्यां च प्रकर्षेण मूमहे । एवं चापरप्रणीतलक्ष्णो-त्यकर्षेण निष्प्रयोजनत्वमपास्तमिति ॥२॥

‘अभिनेय [काव्य] के’ अर्थात् वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक [अर्थात् मानस] श्रौत आहार्य [अर्थात् वेप-भूपात्मक चार प्रकारके] अभिनयोंके द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य [नाट्य] का [लक्षण कहेंगे] । यह बात सूत्रकारके अभिप्रायको दृष्टिसे कही है । इसलिए रस भाव नायक-नायिका आदिके जो लक्षण अभिनेय [काव्य] को दृष्टिसे किये गए हैं उनके अनभिनेय [अर्थात् श्रव्य-काव्य] में गए जाने पर भी विरोध नहीं होता है । ‘काव्यका’ अर्थात् वर्णनात्मक शब्द श्रौत अर्थके ग्रन्थन रूप कविके व्यापारका । ‘बहुतसे’ अर्थात् रस-प्रधान नाटक आदि, श्रौत गीत रस वाले दुर्मिलित, श्रीगदित, भाषी, प्रस्थान श्रौत रासक आदि भेदोंको धारण करने वाले [यह ‘भूरिभेदभूतः’ पदका अर्थ हुआ] । ‘क्रियत्’ इससे अनावश्यक रङ्ग सम्बन्धन्तराल आदिके लक्षणोंको छोड़कर भागे कहे जाने वाले बारह प्रकारके प्रबन्धोंकी रचनाके लिए आवश्यक ‘कुछ’ लक्षणोंको कहेंगे ‘यह सम्बन्ध [या अभिप्राय] है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भरतमुनि-प्रणीत नाट्यशास्त्र आदिमें रङ्गशालाके निर्माण आदिके विषयको बहुत मूढम विवेचन करते हुए अत्यन्त विस्तारके साथ प्रतिपादन किया गया है । प्रकृत ग्रन्थधारने उस विषयको विस्तुल छोड़ दिया है । उन्होंने अपने क्षेत्रका बहुत विस्तार न करके सीमित क्षेत्रको ही अपना विषय बताया है उसकी दृष्टिसे गीतना भाग अत्यन्त आवश्यक समझा गया है उसीका प्रतिपादन यहाँ किया है । श्रौत वह भी अभि-नेय काव्यके बचन कुछ भेदोंके सम्बन्धमें ही लिखा गया है । बारह प्रकारके अभिनेय-काव्यके भेदोंकी विवेचना ही इस ग्रन्थमें की गई है । अतः ग्रन्थधारका क्षेत्र उन भेदोंकी विवेचना तक ही सीमित है । इस बातको ध्याये लिखते हैं—

‘क्रियतोऽपि’ अर्थात् ग्रन्थ [लक्षणविधि] में अभिप्रेत कुछ छोड़े-ते [भेदों] वा [हो लक्षण करेंगे] । इसलिए [नाट्यशास्त्रके भरतमुनिसे भी प्राचीनतर प्राचार्य] बोहल प्रणीत साटव [सट्टक] आदिका लक्षण यहाँ नहीं किया गया है । लक्षणीय [अर्थात् अभिनेय-

अथ व्यक्तिभेदानुदेशे, नियत न शक्यते लक्षणमाख्यातुमिति तानुद्दिशति—

[सूत्र ३]—नाटकं प्रकरणं च नाटिका प्रकरणयथ ।

व्यायोगः समप्रकारो भाणः प्रहसनं डिमः ॥३॥

काव्यों] का बाहुल्य [बहुतायत] होनेपर भी जितने भागमें [लक्षयितु] लक्षण करने वाले अर्थात्] ग्रन्थकारकी श्रद्धा [इच्छा] है उतने ही भागके [अर्थात् केवल चारह भेदोंके] ही लक्षण करते हैं । और 'शियतोऽपि च प्रसिद्धस्य' कुछ प्रसिद्ध [अभिनेय-काव्यों] का अर्थात् रसकी प्रधानता होनेके कारण समस्त जगत्के आल्हादके कारण रूपसे प्रसिद्ध नाटक आदिका [ही लक्षण करेंगे] । 'दृष्ट' अर्थात् [भरत आदि] पूर्वमुनियोंके द्वारा रचे गए नाट्य लक्षणोंके तारतम्य [पूर्वापय] का विचार करके उपयुक्तता निश्चय किए हुए [लक्षणको कहेंगे] । इस प्रकार [‘दृष्ट’ पदके प्रयोग द्वारा पूर्वाचार्योंके लक्षणोंके उपादेयता तारतम्यकी विवेचना करके लक्षण कहेंगे इस बातको सूचित करनेसे] अपनी कल्पनामात्रके निरास द्वारा लक्षणोंकी उपादेयताका प्रतिपादन किया है । [आगे 'लक्षणम्' शब्दका अर्थ करते हैं] जो अभिनेय और कुछ अनभिनेयोत्ति भी श्यक् करता है वह लक्षण है [समानासमानजातीयव्ययच्छेदो हि लक्षणार्थः] इसके अनुसार समानजातीय अथ अभिनेय काव्योंसे और असमानजातीय अनभिनेय काव्योंसे भिन्न करने वाले ही नाटक आदिके लक्षण होते हैं । यह बात इस पंक्तिमें सूचित की है । 'प्रकृष्टरूपसे कह रहे हैं' अर्थात् [पूर्वाचार्योंके लक्षणोंमें] सार भागको ग्रहण करके और असार भागको त्याग कर और संक्षेप तथा विस्तारके द्वारा [अर्थात् जहाँ पूर्वाचार्योंने बहुत संक्षेप कर दिया है वहाँ कुछ विस्तार करके और जहाँ उन्होंने अधिक विस्तार किया है वहाँ संक्षेप करके] प्रकृष्टरूपसे कह रहे हैं । इस प्रकार अर्थोंके रचे लक्षणोंसे उत्कर्षं दिखलाकर [अपनी रचनाके] निष्प्रयोजनत्वका निराकरण कर दिया है [अर्थात् उपयोगिता प्रदर्शित करदी है] ॥२॥

रूपोंके भेद—

जैसाकि ग्रन्थकार प्रथम मञ्जुल श्लोकमें संकेत कर चुके हैं इस ग्रन्थमें चारह प्रकारके रूपके भेदाका निरूपण किया जायगा । इनलिए अगली दो कारिकाओंमें ग्रन्थकार उन चारह भेदोंके नाम गिनाते हैं । इन नाम गिनानेकी प्रक्रियाका धारणीय परिभाषामें 'उद्देश' शब्दमें कहा जाता है । 'उद्देश' शब्दका अर्थ 'नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तन उद्देश' अर्थात् नाममात्रसे वस्तुका कथन करना उद्देश कहनाता है यह किया गया है । प्रायः शास्त्रोंमें उद्देश लक्षण और परीक्षा इन तीन प्रकारके उपायोंके द्वारा अपने विषयका प्रतिपादन किया जाता है । उस पद्धतिका ही अवलम्बन करके ग्रन्थकार यहाँ रूपके भेदाका नाममात्रसे कथन या 'उद्देश' इन दो कारिकाओंमें कर रहे हैं । फिर आगे उनके लक्षण आदि करेंगे ।

[सूत्र ३]—१ नाटक और २ प्रकरण तथा ३ नाटिका, ४ प्रकरणी एव ५ व्यायोग, ६ समप्रकार, ७ भाण ८ प्रहसन, ९ डिम ।

१० उत्सृष्टिकाङ्क, ११ ईहाभृग, १२ वीथी [ये चारह रूपके भेद होते हैं] उनमेंसे नाटक प्रकरण नाटिका और प्रकरणी ये चार [भेद कंशिकी, सात्त्वती आरभटी तथा भारती रूप] सब घृतियोत्ति युक्त होते हैं और बादके आठ [रूपके भेद] कंशिकीवृत्तिमें रहित

अङ्क ईहामृगो वीथी चत्वारः सर्ववृत्तयः ।

त्रिवृत्तयः परे त्वष्टौ कैशिकीपरिवर्जनात् ॥४॥

‘चकार’ सर्वपुरुषार्थफलत्वेन महापुरुषोपदेशार्हचरितत्वेन च प्रवन्द्येपु नाटकप्रकरणयोः प्राधान्यमाह । ‘अथ’-शब्दो नाटिकादिचतुष्टयाद् अपूर्णसन्धि-त्वेन विष्कम्भक-प्रवेशशायोग्यत्वेन अनुपदेशार्हचरितप्रायत्वेन च उत्तरेषां पार्थक्यं ज्ञापयति । ‘अङ्क’ इति उत्सृष्टिकाङ्को, न पुनरवस्थासमाप्त्यादिरूप । ऋङ्कवतां मध्ये पाठात्, छन्दोऽनुरोधच्च एकदेशेनाभिधानम् ।

‘चत्वारः’ इति प्रकरयन्ता व्यक्तिभेदाः । ‘सर्वा’ गुण-प्रधानभावेन चतस्रोऽपि वृत्तयो भारती-सात्त्वती-आरभटी-कैशिकयो वक्ष्यमाणलक्षणा यत्र । ‘तिस्रो’ भारती-सात्त्वती-आरभट्यो व्यस्ताः समस्ता या वृत्तयो येषु । अत्र च येषु व्यायोग-समव-कार-ईहामृग-डिमेपु एरुस्या वृत्तेर्न-लक्षणे प्राधान्यनिर्देशास्तेषु व्यक्तिभेदेन पृथक्-पृथक्-कैरुस्या वृत्ते ऋक्सवेच्छया प्राधान्यं निबध्यते । येषु तु भेदेषु भाण प्रहसन उत्सृष्टि-काङ्क-त्रायपु यस्या वृत्ते प्राधान्यनिर्देशास्तेषु प्रतिव्यक्ति तस्या एव प्राधान्यमपरयो-र्गोणत्वमल्पत्वादभावो वा । ‘कैशिक्या’ परि सामस्त्येन ‘वर्जन’ अभाव । यद्यपि नमवकारे शृङ्गारत्वमस्ति तथापि न तत्र कैशिकी । न खलु काममात्रं शृङ्गार, किन्तु विनामोत्कष । न चासौ रौद्रप्रकृतीनां नेतृणाम् । शृङ्गारशब्दश्च तत्र काममात्रपर्यव-सायीति ॥३॥

होनेके कारण [केवल सात्त्वती आरभटी तथा भारती इन] तीन प्रकारकी वृत्तियोसे युक्त हो होते हैं । ३-४ ।

[कारिकामे ‘प्रकरण’ के बाद आया हुआ] चकार, समस्त [अर्थात् चारों प्रकारके] पुरुषार्थके प्रदान करने वाले होनेसे तथा महापुरुषोंके उपदेश-योग्य चरित्रसे युक्त होनेके कारण [चारहों प्रकारके इन] प्रबन्धों [अभिनेय-काव्यों] से नाटक तथा प्रकरणकी प्रधानताकी सूचित करता है । [‘प्रकरण’ के बाद प्रयुक्त हुआ] अथ-शब्द १ सम्पूर्ण [अर्थात् भागे कही जाने वाली पाँच प्रकारकी] सन्धियोसे युक्त न होनेके कारण, २ विष्कम्भक तथा प्रवेशक [इनसे लक्षण भागे किए जावेंगे] के अयोग्य होनेसे, और ३. उपर्युक्त प्रदान करनेसे अतमर्थ चरित्रोंसे पूर्ण होनेके कारण [व्यायोगसे लेकर चौथी पर्यन्त] अगले आठ [भेदों] का नाटकादि [प्रथम चार भेदों] से भेद सूचित करता है । [कारिकामे आया हुए] ‘अङ्क’ शब्दसे ‘उत्सृष्टिकाङ्क’ का [पहलू करना चाहिए] अवस्था समाप्ति आदि रूप अङ्कोका नहीं । अङ्क युक्त [नाटकादि] के मध्यमे पठित होनेसे छन्दके अनुरोधसे [उत्सृष्टिकाङ्क पूरा शब्द न कहकर] एकदेश [अङ्क-पद] से कथन किया गया है ।

[चार] अर्थात् [नाटकसे लेकर] ‘प्रकरण’ पर्यन्त [रूपकोंसे] व्यक्ति-भेद । [सर्व-वृत्तयः] सब वृत्तियोसे युक्त होते हैं । इसका अर्थ करते हैं] सब अर्थात् गुणभाव या प्रधान भावसे भारती सात्त्वती आरभटी तथा कैशिकी चारों वृत्तियां जिससे रहती हैं । [ये नाट-कादि चार भेद सब वृत्तियोसे युक्त होते हैं] भागे ‘त्रिवृत्तयः’ का अर्थ करते हैं] तीन अर्थात् भारती, सात्त्वती तथा आरभटी [नामक तीन] वृत्तियां असल-असल [व्यस्त] अथवा समि-

अथ यथोद्देशं लक्षणमाह—

[सूत्र ४]—ख्याताधराजचरितं धर्मकामार्थसत्फलम्

साङ्गोपाय-दशा-सन्धि-दिव्याङ्गं तत्र नाटकम् ॥५॥

लित रूपसे [समस्ता] जिनमे रहती हैं [ये व्यायोगसे लेकर चौथी पर्यन्त आठ रूपकभेद 'त्रिवृत्तय' तीन वृत्तियों वाले होते हैं] । इनमे जिन व्यायोग, समवकार ईहाभृग और द्विममें उनके लक्षणोंमें एक-एक वृत्तिके प्राधान्यका निर्देश [किया हुआ] है उनमें ध्यक्ति-भेदसे कवि अपनी स्वेच्छासे एक-एक वृत्तिको प्रधान रूपसे निबद्ध करता है । और जिन भेदोंमें अर्थात् भाए प्रहसन, उत्सृष्टिकाङ्क्ष और वीथीमे जिस [विशेष] वृत्तिका [नाम लेकर] प्राधान्यका निर्देश किया गया है उनमें [कवि अपनी स्वेच्छासे नहीं अपितु उसी निर्देशके अनुसार] उसी वृत्तिको प्रधान रूपसे और अन्य दोनों [वृत्तियों] की गौण रूपसे अथवा अल्पताके कारण सर्वथा अभावको [उपनिबद्ध करता है] । आगे 'कंशिकीपरिवर्जनात्' का अर्थ करते हैं—] कंशिकी [वृत्ति] का 'परि' अर्थात् सम्पूर्णतया वर्जन अर्थात् अभाव [होनेसे व्यायोगसे लेकर चौथी पर्यन्त आठ भेद केवल तीन वृत्तियों वाले होते हैं] । यद्यपि समवकारमे शृङ्गारत्व [शृङ्गारका भाव काम प्रदर्शित] होता है किन्तु फिर भी [शृङ्गारमे होनेवाली] कंशिकी-वृत्ति यहाँ नहीं रहती है । क्योंकि केवल साधारण कामका ही नाम शृङ्गार नहीं है किन्तु [उसके] विलास का उत्कर्ष [उदात्तीकरण शृङ्गार शब्दसे कहा जाता है] । समवकारमे सामान्य लौकिक काम-ध्यापारमात्रका प्रदर्शन होता है उसके विलासोत्कर्ष या उदात्तीकरणका नहीं] । क्योंकि [यह] समवकारमे प्रस्तुत किए जाने वाले [रोद्र-प्रकृतिके] पात्रोंमें नहीं हो सकता है । इसलिए समवकारमे यथार्थ शृङ्गारका प्रदर्शन सम्भव नहीं है] और उसमें प्रयुक्त शृङ्गार शब्द केवल [सामान्य] काम मात्रका बोधक है ।

इसका यह अभिप्राय है कि तीन वृत्तियों वाले आठ रूपक-भेदोंमें समवकारमे यद्यपि कामकी प्रवृत्तियोंका दर्शन होता है किन्तु उसको उदात्त रूप न होनेसे शृङ्गार शब्दसे नहीं कहा जा सकता है । इसलिए उसमें कंशिकी वृत्तिका उपयोग नहीं होता है । अत एव व्यायोग आदि अन्य सात भेदोंके साथ, नाम युक्त होनेपर भी समवकारको कंशिकी-वृत्ति हीन केवल तीन वृत्तियों वाले वर्गमें रखा गया है ॥३-४॥

१ नाटक लक्षण—

पिष्टली कारिकाश्लोके अथकारने रूपके बारह प्रधान भेदोंका 'उद्देश' अर्थात् 'नाम-मात्रेण वस्तुसङ्कीर्तन' किया है । 'त्रिविधा च शास्त्रस्य प्रवृत्ति, उद्देशो लक्षण परीक्षा च' इस मिथ्यान्तके अनुसार 'उद्देश' के बाद लक्षणका अवसर आता है । अत एव आगे अथकार उद्देशके क्रमसे ही लक्षणोंका निरूपण आरम्भ करते हैं । उद्देशक्रममें सबसे पहले नाटकका नाम आया है इसलिए सबसे पहले नाटकका ही लक्षण करते हैं ।

अथ उद्देश क्रमके अनुसार [नाटकके] लक्षणको कहते हैं—

[सूत्र ५] उन [रूपक-भेदों] मेंसे धर्म, अर्थ और काम [रूप त्रिविध] फलोंवाला, अङ्ग, उपाय, दशा, सन्धिसे युक्त, देवता आदि जिसमें [प्रधान नायकके अङ्ग अर्थात्] सहायक हों, इस प्रकारका पूर्वकालके प्रसिद्ध रागाश्लोका चरित [प्रदर्शित करनेवाला अभिनेय काव्य] नाटक [नामसे कहा जाता] है ॥५॥

ख्याताधराजस्य चरितं यत्रेत्यन्यपदार्थः । इह ख्यातत्वं त्रिधा, नाम्ना, चेष्टितेन, देशेन च । कौशाम्ब्यां चरितं वत्सराजेनैव रञ्जकम् । चरितमपि वत्सराजस्य । कौशाम्ब्यां वासवदत्ताभादिकमेव । वासवदत्ताभादिकं वत्सराजस्य कौशाम्ब्यामेव ।

चरितख्यातत्वं च प्रधानचरितापेक्षया । ततस्तदनुयायीनि रञ्जकत्वार्थमरयाताम्यपि चरितानि क्रियन्ते । तेन बहुषु रामप्रबन्धेषु सीताहरणानयनोपायानां युद्धानां गौणपात्राणि । अपरेषां च भणितिविशेषादीनां भेदेऽपि न विरोधः ।

पूर्वकालके प्रसिद्ध राजाका चरित्र जिसमें [प्रदर्शित किया गया] हो वह [‘ख्याताधराजचरित’ अभिनेय काव्य हुआ], यह अन्य-पदार्थप्रधान [बहुश्रोहितमास ‘ख्याताधराजचरित’ इस पदमें किया गया] है । इसमें प्रसिद्धत्व तीन प्रकारसे होता है, १ नामसे [प्रसिद्धत्व], २ कार्योंसे [चेष्टितेन प्रसिद्धत्व] और ३ देशसे [प्रसिद्धत्व] । [आगे इन तीनों प्रकारके प्रसिद्धत्वको उदाहरणों द्वारा स्पष्ट रूपसे दिखलाते हैं] जैसे नामकी प्रसिद्धिका उदाहरण यह है कि कौशाम्बीमें चरित [अर्थात् चेष्टाएं अभिनय] वत्सराज [के नाम] से ही हृदयाकर्षक होता है । [अर्थात् इस रूपमें वत्सराज नामसे नायक उदयनका ख्यातत्व बनता है । दूसरा चरितसे प्रसिद्धका उदाहरण दिखलाते हैं] और वत्सराज [उदयन] का कौशाम्बीमें वासवदत्ता—प्राप्ति रूप चरित ही [हृदयाकर्षक होता है] । यह चरित कार्यों द्वारा प्रसिद्धिका उदाहरण हुआ । इसीको तीसरे प्रकारसे बदल देनेपर] वत्सराज [उदयन] का वासवदत्तालाभादिक [चरित] कौशाम्बीमें ही [हृदयाकर्षक होता है] यह देशसे प्रसिद्धिका उदाहरण हुआ । अर्थात् एक वत्सराजके चरित्रमें ही तीनों प्रकारको प्रसिद्धि जाई जाती है ।

यह चरित्रकी ख्याति प्रधान नायककी दृष्टिसे ही [ली जाती] है । इसलिए शोभायान के लिए उस [प्रधान-नायक] के अनुयायी अप्रसिद्ध चरित्र भी [नाटकमें उपनिबद्ध] किए जाते हैं । इसलिए बहुतसे राम-काव्योंमें सीताके हरण तथा पुनः प्राप्तिके युद्धोंमें गौण पात्र [भी पाए जाते हैं] । और अन्य [अप्रधान पात्रों] को उक्तियोंमें [भिन्न भिन्न नाटकों] में विरोध होनेपर भी शेष नहीं होता है ।

वहाँ ग्रन्थाकारने नाम्ना, चेष्टितेन देशेन च’ तीनों प्रकारकी प्रसिद्धि एक वत्सराज उदयनके चरित्रमें ही दिखलाई है । और उसके लिए तीन भिन्न-भिन्न स्थानोंपर ‘एवकार’ का प्रयोग किया है । ‘कौशाम्ब्यां चरितं वत्सराजेनैव रञ्जकम्’ । इस वाक्यमें ‘एव कार’ द्वारा वत्सराज नामपर बल दिया गया है । अर्थात् कौशाम्बीमें वहाँके पूर्ववर्ती राजा वत्सराज उदयनका नाम प्रसिद्ध है इसलिए वहाँ उनका चरित्र ही लोगोंको प्रिय लगता है । यह ‘वत्सराजेनैव’ में वत्सराजके साथ प्रयुक्त ‘एवकार’ का अभिप्राय है । दूसरी जगह ‘चरितमपि वत्सराजस्य कौशाम्ब्यां वासवदत्ताभादिकमेव’ में प्रयुक्त ‘एवकार’ वासवदत्ता प्राप्ति रूप चरितके ऊपर ही बल देता है । अर्थात् वत्सराज उदयनके अन्य चरित्र होनेसे हृदयाकर्षक नहीं है जितना कि वासवदत्ता प्राप्तिका वृत्तान्त । यह ‘चेष्टितेन’ प्रसिद्धिका उदाहरण हुआ । तीसरी जगह ‘वासवदत्तालाभादिकं वत्सराजस्य कौशाम्ब्यामेव’ यहाँ ‘कौशाम्बी’ में साथ प्रयुक्त ‘एवकार’ कौशाम्बी रूप देशपर विशेष बल देता है । अर्थात् वत्सराज उदयनका वासवदत्तालाभरूप चरित भी केवल कौशाम्बीमें ही विशेष रूपमें शोचप्रिय है अन्यत्र नहीं ।

आद्येति पूर्वः, तेन वर्तमानभविष्यतोर्निरासः। कविना हि रक्षनार्थं किञ्चित् सदप्युपेक्ष्यते, किञ्चिदसदप्याद्रियते। वर्तमाने च नेतरि तत्कालप्रसिद्धिबाधया रस-
हानिः स्यात्। पूर्वमहापुरुषचरितेषु च अश्रद्धानं स्यात्। भविष्यतस्तु वृत्तं चरितमपि
न भवति। चर्यते स्म चरितमित्यतीतनिर्देशात्।

यह 'देशेन' प्रसिद्धिका उदाहरण है। इस प्रकार एक वत्सराज उदयनके चरित्रमे ही तीनों प्रकारकी प्रसिद्धिके उदाहरण ग्रन्थकारने दिखला दिए हैं।

वर्तमान चरित्रोंके अभिनयका निषेध—

नाटकमे केवल पूर्वकालके प्रसिद्ध राजाओंको ही नायक रूपमे प्रस्तुत किया जा सकता है वर्तमान या भविष्यत्के राजाओंको चरित नायकके रूपमे प्रस्तुत नहीं करना चाहिए इस बातको यहाँ ग्रन्थकारने 'आद्य-राज' पदसे सूचित किया है। इस बातको विवरणकार अगली पक्तियोमे दिखलाते हैं—

'प्राद्य' इस [पद] से पूर्व [कालके राजाओंका ही ग्रहण होता है] इसलिए वर्तमान और भविष्यत् [कालके राजाओंके चरित्रका वर्णन] का निषेध हो जाता है। [इसकेलिए आगे दो युक्तिर्पा देते हैं। उनमेसे पहली युक्ति यह है कि—नाटकमे] शोभाधानके लिए कवि कभी कभी कुछ विद्यमान [अर्थात् वास्तविक] बातको भी छोड़ देता है और कुछ अविद्यमान [अर्थात् स्वयं कल्पित अर्थ] को भी ग्रहण कर लेता है। [यदि नाटकमे वर्तमान-कालके व्यक्तिको भी नायक धना दिया जाय तो ऐसे स्थलोंमे] वर्तमानको नेता बनानेपर तो तत्कालीन प्रसिद्धिके बाधित होनेसे रसकी हानि होगी। और पूर्वकालके महापुरुषोंके चरितकी उपेक्षा [अश्रद्धान] भी होगी। [इसलिए वर्तमान कालके चरित्रको नाटकमे नायक नहीं बनाना चाहिए] और भविष्यत् कालका [कल्पित कथानक] तो 'चरित' भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि जिसका [अतीतकालमे] आचरण किया जाता या वह 'चरित' [कहलाता] है वह [बात 'चरित' पदमे आए हुए वत-प्रत्ययसे सूचित होती है। इसलिए वत-प्रत्ययके द्वारा] अतीतकालका निर्देश होनेसे [भविष्यत्कालके कथानकको चरित भी नहीं कहा जा सकता है]।

अभिनव-भारतीकार अभिनवगुप्तने भी प्रथमाध्यायमे [पृ० १४५ पर] इस विषय की विवेचना विस्तारके साथ की है। भरत नाट्यशास्त्रके प्रथमाध्याय मे 'तदन्तेऽनुकृतिर्वदा यथा दैत्याः सुरैर्जिता।' यह [श्लोक ५७] आया है। इसमे इन्द्रकी सभामे देवताओं द्वारा दैत्योंपर विजय प्राप्त करनेके वचानके अभिनव किए जानेकी बात लिखी है। इस आधारपर किन्ही पूर्ववर्ती टीकाकारोंने यह परिणाम निकाला है कि अपने स्वामी राजा आदिको प्रसन्न करनेके लिए कभी-कभी उनके चरित्रका भी अभिनय उनका दिखलाना चाहिए। परन्तु अभिनवगुप्त इस बातको स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए उन्होंने प्रथमाध्यायकी इस ५७ वी कारिकाकी व्याख्याके प्रसङ्गमे इस प्रश्नको उठाकर उसका लण्डन निम्न प्रकारसे किया है—

"प्रभुपरितोपाय प्रभुचरित कदाचिन्नाटये वर्णनीयमिति 'यथा दैत्याः सुरैर्जिता.' इत्येतस्मात्सम्भयत इति केचिदाहु।

तदसत्। दशरूपम्-लक्षण युक्तिविरोधान्। तत्र हि किञ्चित् प्रसिद्ध-चरितं, किञ्चिदुत्पाद्यचरितमिति वदयते"।

राजेति क्षत्रियमात्रं, न पुनरभिषिक्त एव । राम-जीमूतवाहन-पार्थादीनामन-भिषिक्तानामपि दर्शानात् । क्षत्रियो मर्त्य एव, तेन न देवनेतृकं नाटकमित्युक्तं भवति । नाटकं हि रामवद्वर्तितव्यं न रावणवत् इत्युपदेशपरम् । देवतानां तु दुरूपपादस्या-प्यर्थस्येच्छामात्रत एव सिद्धिरिति तच्चरितमशक्यानुष्ठानत्वान्न मर्त्यानामुपदेश-योग्यम् । तेन ये दिव्यमपि नेतारं मन्यन्ते न ते सम्यगमंसतेति ।

“न च वर्तमानचरितानुकारो युक्तो, विनेयानां तत्र राग-द्वेषमध्यस्थता-दिना तन्मयोभावाभावे प्रीतेरभावेन व्युत्पत्तेरप्यभावात् । वर्तमानचरिते च धर्मादिकर्म-फलसम्बन्धस्य प्रत्यक्षत्वे प्रयोगवैयर्थ्यम् । अप्रत्यक्षत्वे ‘भविष्यति प्रमाणाभावात्, इति न्यायेन व्युत्पत्तेरसम्भवान्नाधिकम् । एतच्च दशरूपकाध्याय वितनिष्याम इत्यास्तां तावत्” ।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रभु-राजादिके प्रसन्न करनेके लिए कभी-कभी उसके चरित्रका भी अभिनय उनको दिखलाना चाहिए ऐसा जो लोग मानते हैं उनका कथन उचित नहीं है । क्योंकि दशरूपकोके लक्षणोमे कुछ नाटकादि प्रसिद्ध-चरित वाले माने गए हैं और समबकार आदि कुछ भेद उत्पाद्य-चरित अर्थात् कल्पित चरित्रके आधारपर निर्मित माने गए हैं । वर्तमान राजादिका चरित्र इन दोनोंमेसे किसी श्रेणीमे नहीं आता है । अतः उसका अभिनय उचित नहीं है । इस सम्बन्धमे दूसरी युक्ति यह है कि वर्तमान चरित्रोमे देखने वालों का राग-द्वेष-माध्यस्थ्य आदि होनेसे उनका न मनोरजन होगा और न उनको कोई शिक्षा ही मिलेगी । अर्थात् नाटकके दोनों ही प्रयोजन व्यर्थ हो जावेंगे । अतः वर्तमान चरित्रका अभिनय नहीं करना चाहिए । इसी विषयमे अभिनवगुप्तने तीसरी युक्ति यह दी है कि वर्तमान चरित्रमे यदि धर्मादिका फल तुरन्त प्रत्यक्ष हो जाता है तो नाटकके प्रयोगका कोई लाभ सामाजिकको नहीं मिलता है । और यदि धर्मादि फलका प्रत्यक्ष नहीं होता है तो उससे कोई शिक्षा नहीं मिल सकती है । अतः वर्तमान चरित्रका अभिनय उचित नहीं है ।

यहाँ प्रकृत ग्रन्थमे रामचन्द्र-गुणचन्द्रने भी वर्तमान चरित्रके अभिनयको अनुपयुक्त ठह-राया है । उनकी युक्तियां अभिनवगुप्तकी युक्तियोसे भिन्न है किन्तु उनकी कल्पना सुन्दर है । इन दोनोंकी युक्तियोको मिलाकर इस विषयका एक सर्वाङ्ग सुन्दर विवेचन उपरिपत हो जाता है । इसलिए हमने अभिनवगुप्तके मतका यहाँ उल्लेख कर दिया है ।

नाटकमे देवताओंके नायकत्वका खण्डन—

और ‘राजा’ पदसे क्षत्रियमात्रका ग्रहण करना चाहिए केवल अभिषिक्तका ही [ग्रहण] नहीं [करना चाहिए] । क्योंकि राम, जीमूतवाहन और युधिष्ठिर आदि अनभिषिक्त भी [नायक रूपमे] पाए जाते हैं । क्षत्रियसे मानव [रूप क्षत्रिय] का ही ग्रहण करना चाहिए इसका यह अभिप्राय होता है कि नाटकमे देवताओंको नायक नहीं बनाया जा सकता है । क्योंकि ‘रामके समान आचरण करना चाहिए रावणके समान नहीं’, इस उपदेशको देनेवाला नाटक होता है । और देवताओंकेलिए तो अत्यन्त कठिन कार्योंकी सिद्धि भी उनकी इच्छा मात्रसे ही हो जाती है इसलिए उनके चरित्रके अनुसार आचरण सम्भव न होनेसे वह मनुष्यों-के लिए उपदेशपर नहीं हो सकता है [इसलिए देवताकी नायक बनाना व्यर्थ और अनुचित है] इसलिए जो देवताओंको भी [नाटकको] नायक मानते हैं उनका मत ठीक नहीं है ।

नायिका तु दिव्यापि भवति यथोर्वशी । प्रधाने मर्त्यचरिते तच्चरितान्तर्भावात् । उपदेशानर्हंप्रायवृत्तत्वेन दीप्तरसत्वेनैव च समवकारादौ दिव्योऽपि नेता न विरुध्यते । चरितमित्याचरितं न तु कविवुद्धिक्लिप्तम् । बाहुल्यापेक्षं चैतत्, तेनाल्पं किमपि रञ्जकं क्लिप्तमपि न दोषायेति ।

धर्म-काम-अर्थ्या व्यस्त-ममस्ताः सत् प्रधानं फलं यत्र । मोक्षस्तु धर्मकार्यत्वात् गौणं फलम् । सन्तोऽचिरभाविस्वाद् वर्तमाना वा धर्म-अर्थ-कामाः फलम् । तेन भाविकामार्थफलत्वादागमा न नाटकम् ।

एतत् धर्मफले नाटके दया-दम-दान-न्यायप्राय दृष्टफलं आमुष्मिकफलं च राज्यायत्राधया नेतुरचरितं व्युत्पाद्यते । न पुनः सर्वसङ्गपरित्यागं कृत्वा व्रतमाचरितमित्यामुष्मिकफलमेव । साक्षाद् दृष्टफलार्थी हि लोकः ।

नायिका दिव्य भी हो सकती है—

नायिका तो दिव्य भी हो सकती है जैसे उर्वशी । क्योंकि प्रधान मानव [रूप नायक] के चरित्रमे उस [दिव्य नायिका] के चरित्रका अन्तर्भाव हो जाता है । उपदेश प्रदान करनेका क्षमतासे रहित और दीप्त रस वाला होनेसे समवकार आदिमे तो दिव्य [अर्थात् देवताओंको] नेता माननेपर भी कोई विरोध नहीं होता है । 'चरित्रमें' इस पदसे [पहले] आचरण किया हुआ [यह अर्थ गृहीत होता है] । कविकी बुद्धिसे क्लिप्त [चरित्रका] का [ग्रहण] नहीं होता है । और यह बाहुल्यकी दृष्टिसे [फहा गया] है इसलिए थोडा-सा कुछ सौन्दर्याघायक [वृत्त] क्लिप्त होनेपरभी दोषाघायक नहीं होता है ।

[आगे 'धर्मकामार्थसत्फलम्' इस कारिका भागकी व्याख्या करते हैं—] अलग अलग [व्यस्त] या समस्त [समष्टि] रूपमे धर्म, काम और अर्थ जिसके सत् अर्थात् प्रधान फल हैं [वह 'धर्मकामार्थसत्फलम्' हुआ] । मोक्ष तो धर्मका कार्य [धर्म जन्य] होनेसे गौण फल होता है [इसलिए यहाँ उसकी गणना नहीं कराई है] । अथवा अत्यन्त शीघ्र प्राप्त होने वाले होनेसे भावी धर्मादि को भी सत् कहा जा सकता है इसलिए सत् अर्थात् वर्तमान [वर्तमान सामीप्ये वर्तमानवद्वा] धर्म काम और अर्थ जिसके फल है [यह 'धर्म-कामार्थसत्फलम्' को दूसरी व्याख्या हुई । इस व्याख्याके अनुसार [सुदूरवर्ती जन्मान्तरमें प्राप्त होने वाले] भावी फल [का प्रतिपादन करने] वाले 'आगम', नाटक [श्रेणीमे] नहीं [माने जाते] हैं ।

उन [धर्म, काम और अर्थ फल वाले नाटकों जैसे] मे से धर्म-फल वाले नाटकोंमे दया, दम, दान और न्याय आदि दृष्ट फल तथा राज्य आदिकी अन्नाप्राप्ते पारलौकिक फल वाले नेताके चरित्रका प्रदर्शन कराया जाता है । समस्त सम्बन्धोंको परित्राय करके [नायकने] व्रतका अनुष्ठान किया इस रूपमे आमुष्मिक फल वाले [नायकके चरित्र] का [प्रदर्शन] नहीं [कराया जाता है] । इसका कारण यह है कि] ससार साक्षात् दृष्ट फलको [देखना] चाहता है ।

'धर्म-कामार्थसत्फलम्' इस कारिकाभागमे धर्म फल वाले नाटककी चर्चा की गई है । धर्मके भीतर विधिरूप और निषेधरूप दोनों प्रकारके धर्मोंका समावेश ही सकता है । दया दान आदिका करना विधिरूप धर्म है और सब व्यापारोंसे उपरति रूप व्रतादि, निषेध रूप धर्म है । यहाँ नाटकमे दया दानादि रूप विधि धर्मोंका ही धर्म पदसे ग्रहण करना चाहिए । सर्वव्यापारोपरति रूप धर्मका ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि उम प्रकारके धर्मों

कामफले च दिव्यकुलजम्त्रीसम्भोग-सङ्गीतक-कामचारोपवनविहारप्रायम् ।
अर्थफले च शत्रुच्छेद-सन्धि-विग्रहादिराज्यचिन्ताप्रायमिति ।

'साङ्ग', इति अङ्ग-उपाय-दशा सन्धिभिर्वच्यमाणौ सह वर्तते । 'दिव्याङ्गम्,
इति दिव्यं देवता अन्योऽपि चोत्तम प्रधानस्य नेतुरङ्ग' सहायः पताका-प्रकरी-
नायक-लक्षणो यत्र । दिव्यो हि नेतैव विरुध्यते न पुनः महायः । अत्यन्त भक्तानामेव
नाम देवता-प्रसीदन्तीति देवताराधनपुर सरं उपायानुष्ठानमाधेयमिति व्युत्पादनार्थं
दिव्योऽप्यङ्गत्वेन फायः ।

का फल लोकमे साक्षात् नहीं देखा जाता है । इसलिए जिन प्रतादिके प्रदर्शनसे सामाजिकको
साक्षात् फलका दर्शन न हो सके उस प्रकारके धर्मका ग्रहण यहाँ धर्म पदमे अभिप्रेत नहीं है ।

राज्यादिकी बाधाका अभाव तो उसके पूर्वकृत धर्मका दृष्ट फल हो सक्ता है किन्तु
व्रतानुष्ठानका फल उस समय देखनेको नहीं मिल सक्ता है । अतः दया, दान आदि दृष्टफल
तथा राज्यकी बाधाका अभाव आदि आधुनिक धर्म फल माने जा सकते हैं । यह ग्रन्थकारका
अभिप्राय प्रतीत होता है ।

श्रीर कामफल वाले [नाटक] मे दिव्य [अर्थात् अस्तरा] अथवा [उत्तम कुलमे
उत्पन्न हुई] कुलीन स्त्रीका सम्भोग, सङ्गीत, कामचार [अर्थात् यथेच्छ उपभोग आदि आच-
रण] श्रीर उपवन-विहार आदि [प्रधान फल प्रदर्शित किया] है । अर्थफल वाले [नाटक]
मे शत्रुका नाश, सन्धि-विग्रह आदि राज्य चिन्ताका [प्रधान फलके रूपमे प्रदर्शन किया
जाता] है ।

यहाँ तक ग्रन्थकारने 'धर्मकामार्थसत्फलम्' इस कारिका-भागकी व्याख्या की है । अब
भाग 'साङ्गोपायदशासन्धि' इस पदकी व्याख्या करते हैं । इसमे अङ्ग, उपाय, दशा और सन्धि
पद आए हैं, ये सब नाट्यशास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं । ग्रन्थकार इन सबके लक्षण प्राण
करेंगे । उन अङ्ग आदि सबसे सुस्त, पूर्वकालिक राजाओंके चरित्रका प्रस्तुत करने वाला
नाटक होता है यह इस पदका अभिप्राय है । इसी अभिप्रायको अगली पंक्तिमें देते हैं—

भागो कहे जाने वाले अङ्ग, उपाय, दशा तथा सन्धिसे युक्त [आद्यराजचरित नाटक
कहलाता है] । 'दिव्याङ्गम्' [इस पदके दो प्रकारके अर्थ हो सकते हैं । उनमेंसे पहिला अर्थ
यह है कि] दिव्य अर्थात् देवता [अथवा] श्रीर भी [कोई] उत्तम-प्रकृति [महानुभाव] प्रधान
अर्थात् नायकका अङ्ग अर्थात् सहायक अर्थात् पताका-नायक अथवा प्रकरी-नायक-रूप जिसमे
हो [यह नाटक 'दिव्याङ्ग' हुआ । इसपर यह शङ्का हो सकती है कि अभी तो नाटकमे दिव्य
नायकके रत्ने जानेका लक्षण कर चुके हैं फिर उसके तुरन्त बाद ही देवताओंको नायकका
सहायक अथवा पताका-नायक या प्रकरी नायक बनानेकी बात कह रहे हैं ये दोनों विरुद्ध बातें
हैं । इसका शङ्का समाधान करते हैं कि] देवताको नायक बनाना ही अनुचित है सहायक
बनाना [अनुचित] नहीं [है] । अत्यन्त भक्तोंके ऊपर ही देवता प्रसन्न [होकर उनके सहायक
बननेके लिए उद्यत] होते हैं इसलिए देवताओंका पूजन करने ही उपायोका अनुष्ठान करना
चाहिए इस बातकी शिक्षा देनेकेलिए देवताओंकी भी सहायक [रूपमे प्रस्तुत] करना
चाहिए [यह इस पंक्तिका अभिप्राय है] ।

तत्र देवता यथा नागानन्दे गौरी । उत्तमप्रकृतिर्यथा रामादिप्रबन्धेषु सुग्रीवा-
दिरिति । यद्वा दिव्यानि अन्नवद्यानि अङ्गानि बन्धमाणानि उपक्षेपादीनि यत्र ।

तत्रेति निर्धारणार्थः । अभिनेयममुदायान् प्रधानपुरुषार्थप्रवृत्तचिनेयराजा-
दिव्युत्पादनगुणेन नाटकं निर्धार्यते । नाटकमिति नाटयति विचित्रं रङ्गनाप्रवेशेन
सभ्यानां हृदयं नर्तयति इति नाटकम् । अभिनवगुप्तस्तु नमनार्थस्यापि नटे-नाटक शब्दं
व्युत्पादयति । तत्र तु घटादित्वेन ह्रस्वाभावरिचन्त्यः ।

उनमेंसे देवता [के सहायक होनेका उदाहरण] जैसे नागानन्दमे गौरी [मलयपतीकी
प्राप्तिमे जीमूतवाहन की सहायक बनती है । दूसरे प्रकारके] उत्तम प्रकृति [के सहायक होनेका
उदाहरण] जैसे रामादिके नाटकमें सुषीय आदि । अथवा दिव्य अर्थात् सुन्दर जिसके अङ्ग
अर्थात् आगे बड़े जाने वाले उपक्षेप आदि [रूप अङ्ग] हैं वह [दिव्याङ्ग हुआ । यह 'दिव्याङ्ग'
पदका दूसरा अर्थ है] ।

[कारिकामें आधा हुआ] 'तत्र' शब्द निर्धारणार्थक [छांटनेके अर्थमे प्रयुक्त] है ।
[बारह प्रकारके] अभिनेय [काव्यों] के समुदायमेसे [नाटकका अलग निर्धारण यहाँ 'तत्र'
शब्दके द्वारा किया गया है । क्योंकि] मुख्य [धर्म, अर्थ, काम रूप] पुरुषार्थों [की सिद्धि]
में प्रयुक्त, उपदेश करने योग्य राजा आदिको [विशेष रूपसे] शिक्षा प्रदान करने वाला होनेसे
नाटकको [अभिनेय-काव्यके अर्थ भेदोंसे 'तत्र' शब्दके द्वारा यहाँ] अलग किया जा रहा है
['निर्धार्यते' । इसलिए 'तत्र' शब्द यहाँ निर्धारणार्थक है । आगे] नाटक [शब्दकी व्युत्पत्ति
दिललाते हैं] नाना प्रकारसे सौन्दर्यके प्रवेश द्वारा ही सहृदयोंके हृदयोंको [नाटयति नर्तयति]
आनन्दातिरेक से नचाता-सा है इसलिए [नर्तनार्थक नट धातुसे] 'नाटक' [शब्द बनता] है ।
अभिनवगुप्तने तो [एत नृत्तों] के स्थानपर 'एत नतो' पाठ मानकर 'नति' अर्थात् नमन अर्थ
पाले नट धातुसे भी नाटक शब्दकी सिद्धि की है । किन्तु उस स्थलपर [नमन अर्थमे तो नट
धातुसे] घटादि गणपठित होनेसे [मित घोर घटादि गणपठित धातुओंकी 'घटादयो मित.' के
अनुसार मित् माननेसे 'मितां ह्रस्व' अष्टा० ६-४-६२ सूत्रसे शिच् परे रहते उपधाको ह्रस्व
बढ़नेका विधान होनेसे 'नाटक' शब्दमे] ह्रस्वका अभाव चिन्तनीय है । [अर्थात् शुद्ध नहीं प्रतीत
होता है] । अर्थात् यदि घटादि गणस्य नट धातुसे इस शब्दकी सिद्धि की जायगी तो उपधाको
ह्रस्व होकर 'घटक' शब्दके समान 'नटक' शब्द बनना चाहिए । नाटक शब्द नहीं बनेगा ।

'एत नृत्तों' धातु भ्यादिगणमे [धातु-नस्या ३१० तथा ७८१] दो स्वातंत्र्यपर पडा
गया है । सिद्धांतकीमुदीकारने इनमेंसे प्रथम-पठित धातुको नाट्यार्थक घोर दुवारा पठित
धातुको नृत्यार्थक माना है ।

"इदमेव पूर्वमपि पठितम् । तत्राय विवेक पूर्वपठितस्य नाट्यमर्थं । यत्कारिणु
नटस्यपदेशः । वाक्यार्थाभिनेयो नाट्यम् । घटादौ तु नृत्त नृत्य षाय । यत्कारिणु नर्तकस्यप-
देशः । पदापीमिनयो नृत्यम् । गात्रविक्षेपमात्र नृत्तम् । केचित्तु घटादौ एत नतो इति पठन्ति ।

भ्यादिगणकी ७८१ सस्या वाले धातुकी व्याख्याम यह गिजान्तकीमुदीकारका लेख
है । इसी एत नतो पाठका उल्लेख नमनार्थक नट धातुसे रूपमे यहाँ किया गया है ।

अभिनवगुप्तने नाटक शब्दकी व्युत्पत्ति करने समय यद्यपि 'एत नतो' धातुका रूप
रूपमे उल्लेख नहीं किया है किन्तु 'नमन प्रह्वीभाव' नमनका अर्थ 'प्रह्वीभाव' नमन

यद्यपि कथादयोऽपि श्लोक्तृद्वय नाटयन्ति तथापि अङ्कोपायादीना वैचित्र्य-
हेतूनामभावात् न तथा रञ्जकत्वमिति न ते नाटकम् । तथा नाटकं प्रधानपुरुषार्थेषु
राज्ञां तदङ्गभूतेष्वमात्यादीना च बहूना व्युत्पादकमिति कतिपयव्युत्पादकान् प्रक-
रणादीन्यपि न नाटकमिति ॥ ५ ॥

प्रदर्शन होता है । इस 'प्रह्वीभाव' और 'नति' शब्दोंका उल्लेख नाटक शब्दकी व्युत्पत्तिके
प्रसङ्गमें अवश्य किया है । अठारहवें अध्यायमें नाटकके विवेचनके प्रसङ्गमें—

(१) नृपतीनामेव नाटकनाम तच्चेष्टितं प्रह्वीभावदायक भवति [पृ०
४१३, पंक्ति ८] ।

(२) यद्यपि सर्वसूत्रकाराणामर्थो हृदये प्रविष्टो विनेयाश्च विनीतान्
करोति [पृ० ४१४, पंक्ति २] ।

(३) प्रधान पुरुषार्थे प्रधानविनेयाना, अन्यत्रान्येषा वेदयतोऽवनति
व्युत्पत्ति ददाति । तत एव नाटकमुच्यते । [पृ० ४१४, पंक्ति ७] ।

इत्यादि रूपमें अनेक स्थानोंपर नमन प्रह्वीभाव, नति आदि भावोंका नाटक शब्दके
साथ सम्बन्ध दिखलाया है । जिससे प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त नमनार्थक नट धातुसे
भी नाटक शब्दकी व्युत्पत्ति मानते हैं ।

परन्तु प्रकृत ग्रन्थकार रामचन्द्र गुणचन्द्र इस व्युत्पत्तिसे सहमत नहीं हैं । उनका
कहना है कि घटादि गण पठित गण धातुकी ही कुछ लोगो ने 'नृती' के बजाय 'नती' अर्थ
में माना है । घटादि गण पठित धातुओंको मित् सज्ञा होकर उनमें मित्ता ह्रस्व, सून्से ह्रस्व
हो जाता है । उस दशममें नाटक पदमें भी ह्रस्व होकर 'घटक्' के समान 'नटक्' पद बनना
चाहिए । 'नाटक' शब्द उस धातुसे नहीं बन सकता है । अत एव रामचन्द्र-गुणचन्द्रने इस
व्युत्पत्तिका खण्डन किया है ।

रामचन्द्र-गुणचन्द्रने यहाँ अभिनवगुप्तकी व्याख्यापर जो आपत्ति की है वह घटादि
गणस्य नट-धातुके नत्यर्थक माननेपर ही बन सकती है । यदि उगसे भिन्न पहिले स्थलपर
३१० धातु-मत्या वाले नट धातुको नमनार्थक मान लिया जाय तो इस प्रकारकी आपत्ति
नहीं उठ सकती है । सम्भव है अभिनवगुप्त उसी स्थलपर 'नट नती' पाठ मानते हो दूसरी
जगह नहीं । उस दराम उनकी व्युत्पत्तिमें कोई दोष नहीं होगा ।

अभिनवगुप्तने केवल नमनार्थक धातुसे ही नहीं अपितु [पृ० ४१३, अध्याय १८] नत-
नार्थक धातुसे भी नाटक शब्दकी मिति की है । नाटक नाम तच्चेष्टित प्रह्वीभावदायक
भवति तथा हृदयानुपवेशरज्जोस्लासनया हृदय 'शरीर च नतंयति' नाटकम् ये दोनों
प्रकारकी व्युत्पत्तियाँ अभिनव गुप्त की हैं ।

यद्यपि कथा आदि भी श्रोताओंके हृदयको [आनन्दान्तिरेकसे] नचाते हैं किन्तु ये
उपाय आदि वैचित्र्यके हेतुओंके न होनेसे इतने आनन्द दायक नहीं होते हैं इसलिये उनको
नाटक नहीं कहते हैं । और नाटक प्रधान पुरुषार्थके विषयमें राजा [अर्थात् मुख्य नायक]
और उसके साथ रूपमें समान्य आदि यद्दत्तोंकी व्युत्पन्न कराने वाला होता है इसलिये [उत्तरी
भिन्न] केवल कुछ [भिन्ने घुने व्यपित्तों] को व्युत्पत्ति प्रदान कराने वाले प्रकारका आदि
[अभिषेक-शार्थोंके धर्म ग्यारहों में] नाटक नहीं [कहाते] हैं ।

अथ राजशब्दं व्याख्यातुं सामान्येन नेतुः स्वरूपमाह—

[सूत्र ५]—उद्धतोदात्त-ललित-शान्ता धीरविशेषणाः ।

वर्ण्याः स्वभावाश्चत्वारो नेतृणां मध्यमोत्तमाः ॥६॥

‘धीरो’ धैर्यं महाव्यमनेऽप्यकातर्यं विशेषणं येषां उद्धतादीनां, धीरोद्धत-धीरो-दात्त-धीरललित-धीरप्रशान्ता इत्यर्थः । एवं नाम क्वचिर्वर्णयति । जन्मोत्थितागु स्वभावा नेतृणां यथा-तथा वा मन्तु । ‘नेतृणाम्’ इति बहुवचनात् प्रायेणैकैकस्मिन् धर्मिण्येकैकः स्वभावः, क्वचिदेव तु चत्वारः । ‘मध्यमोत्तमा’ इति—यद्यपि स्वस्थाने सर्वमपि उत्तममध्यमाधमभेदेन त्रिधा, तथापि धीरोद्धतादयः स्वभावा उत्तम-मध्यमभेदेनैव वर्णनीया इति ॥ ६ ॥

इस ग्रन्थके निर्माता रामचन्द्र गुणचन्द्रने इस नाटकके लक्षण-सूत्रकी रचनामें अपने कोशलवा बड़ा अच्छा परिचय दिया है । अपने ग्रंथमें जहाँ नाटकका लक्षण किया गया है वहाँ कई श्लोक इसके लक्षण रूपमें लिखे गए हैं । स्वयं भरतमुनिने अनेक श्लोकोंमें नाटकका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

प्रख्यातवस्तुविषयं प्रख्यातोदात्त-नायकं चैव ।

राजपिवंश्यचरितं तथैव दिव्याश्रयोपेतम् ॥१०॥

नानाविभूर्तिभयुतं श्रद्धिबिलासादिभगुणैश्चैव ।

अंकप्रवेशकाह्यं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥११॥

नृपतीनां यञ्चरितं नाना रस-भाष-चेष्टितं बहुधा ।

सुप्रदुःखोत्पत्तिकृतं भवति हि तन्नाटकं नाम ॥१२॥ अ० ६० ६०॥

विन्तु यहाँ ग्रन्थकारने केवल एक ही श्लोकमें नाटकके लक्षणको सर्वांग-पूर्ण बना दिया है । यह उनके रचना-कोशलवा द्योतक है ।

नायकके चार भेद—

एक राज शब्द [अर्थात् नायक] की व्याख्या करनेकेलिए सामान्य रूपसे नायकके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

[सूत्र ५]—नायकोंके धीर विशेषणसे युक्त उद्धत उदात्त, ललित धीर प्रजात [अर्थात् धीरोद्धत, धीरोदात्त, धीरललित धीर धीरप्रजात] चार प्रकारके स्वभाव [‘बिचल’ मध्यम तथा उत्तम [शे रूपोंमें] ही वर्णन करने चाहिए [अधम नहीं] ॥ ६ ॥

धीर अर्थात् धैर्यं अर्थात् भारी विपत्तिमें भी न घबड़ाना, जिनका विशेषण है धै, अर्थात् धीरोद्धत, धीरोदात्त, धीरललित तथा धीरप्रजात [इन चार प्रकारके नायक-स्वभावोंका वर्णन करना चाहिए] । इस प्रकारका [स्वभावोंका] वर्णन [‘बिचल’ अर्थात् [अधम नाटकमें] करता है । [उन्होंने] नायकोंके जन्मसे उत्पन्न स्वभाव पाठे जंते हों । ‘नेतृणाम्’ इस बहुवचन के निर्देशमें [यह प्रतीत होता है कि] प्रायः एक-एक स्वयंसे एक-एक प्रकारका ही स्वभाव [काव्य-नाटक] में होता है । चारों स्वभाव तो वही [विरले] ही पाए जाते हैं । ‘मध्यमोत्तमाः’ इसमें [पहले यह सूचित होता है कि] यद्यपि अपने-अपने स्थानपर सब ही [अनुपम] उत्तम, मध्यम धीर अधम भेदमें तीन प्रकारको होती हैं । [इसलिए धीरोद्धत आदिके भी वे तीन-

अथ बहुवचनाप्रमेव विषयभेदं स्पष्टयति—

[सूत्र ६]—देवा धीरोद्धता, धीरोदात्ताः सैन्येश-मन्त्रिणः ।

धीरशान्ता वणिग्-विप्राः, राजानस्तु चतुर्विधाः ॥७॥

स्वभाव स्वभावितोरभेदात् सामानाधिकरण्यानिर्देशः । राज्ञां चातुर्विध्य-
भणनान् देवा धीरोद्धता एव, सैन्येश-मन्त्रिणो धीरोदात्ता एव, वणिग्-विप्रा
धीरशान्ता एव, वर्णनोया इति स्वयोगव्यवस्थायकत्वेनेवावधार्यते नान्ययोगव्य-
वच्छेदेन ।

तीन भेद हो सकते हैं] फिर भी धीरोद्धत आदि [नायकोके स्वभाव] उत्तम तथा मध्यम
[केवल दो] भेदोंमें ही वर्णन करने चाहिए [अर्थात् उनके ग्रथम रूपको नाटकोंमें प्रस्तुत नहीं
करना चाहिए] ॥ ६ ॥

स्वभाव व्यवस्था—

पिछली कारिकामे नायकोके चार प्रकारके स्वभावोका वर्णन किया था । उसकी
व्याख्यामें यह भी कहा था कि सामान्य रूपसे एक व्यक्तिके एक ही प्रकारका स्वभाव पाया
जाता है किन्तु कही-कही चारो प्रकारके स्वभाव भी एक व्यक्तिके पाए जा सकते हैं । अब
इन चारो प्रकारके स्वभावोकी व्यवस्था अर्थात् किन लोगोमें किस प्रकारका स्वभाव पाया
जाता है अथवा किसका किस प्रकारका स्वभाव नाटकादिमें चित्रित करना चाहिए इस बात
को इस कारिकामे कहते हैं—

[सूत्र ६]—देवता धीरोद्धत [स्वभाव] सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त [स्वभाव]
वणिक् तथा ब्राह्मण धीरप्रशान्त [स्वभाव तथा] क्षत्रिय चारो प्रकारके [स्वभाववाले] हो
सकते हैं ॥ ७ ॥

इस कारिकामे धीरललितका कोई उल्लेख नहीं किया है । व्यक्तिभेदसे क्षत्रिय चारो
स्वभावके हो सकते हैं । इस कथनसे क्षत्रियोमें धीरललितका समावेश हो जाता है । श्रीकृष्ण
आदि धीरललित-नायकके उदाहरण हैं । यहाँ जो देवताओंको धीरोद्धत, सेनापति और
मन्त्रियोंको धीरोदात्त, तथा विप्र तथा वणिक्को धीरप्रशान्त बतलाया है, उसका अभिप्राय
स्वयोगव्यवस्थापन-मात्र है, अन्ययोग-व्यवच्छेद नहीं । अर्थात् देवता आदिका उसी-उसी
प्रकारका स्वभाव चित्रित करना चाहिए यही इस व्यवस्थाका अभिप्राय है । अ-योमें इस
प्रकारका स्वभाव नहीं हो सकता है, यह इसका तात्पर्य नहीं है । इस बातको विवरणकार
भाग लिखते हैं—

स्वभाव तथा स्वभावयान् दोनोंका अभेद मानकर [देवा धीरोद्धताः आदिमें स्वभाव
परक 'धीरोद्धता' तथा स्वभावयान् 'देवा' दोनों पदोंका समान विभक्ति तथा समान यत्नमें
प्रयोग रूप] सामानाधिकरण्य-निर्देश किया गया है । राजा [अर्थात् क्षत्रियों] के चातुर्विध्यमें
कहे जानेसे देवता धीरोद्धत हो [हो सकते हैं], सेनापति तथा मन्त्री धीरोदात्त हो, धीर
वणिक् तथा विप्र धीरप्रशान्त हो धारण होने चाहिए यह बात स्वयोगव्यवस्थापकत्वेन ही
निर्धारित होती है अर्थात् स्वयोगव्यवच्छेदकरके नहीं ।

प्रमुख बात ऐसी ही होनी चाहिए इस भावमें समुक्त होने वाला 'एव' शब्द निर्धारण-

य. पुन परशुरामस्यातिक्रूरस्वरयापनार्थो धीरोद्धतत्वनिबन्ध. म 'भापा-
प्रकृतिवेषादे कार्यत. कापि लंघनम्' इत्यपवादादविम्बु । अयं च नियमो देवाना
मर्त्यापेक्षया न म्वापेक्षया । शिखादीनामुदात्तानां, ब्रह्मादीना शान्तानामपि च दर्श-
नान् । 'राजान' इति क्षत्रियजाति । बहुवचनात् व्यक्तिभेदेन चतु स्वभावो नाटकस्य
नेता, न पुनरेकस्या व्यक्ती । एकत्र प्राधान्येन स्वभावचतुष्म्य वर्णयितुमशक्यत्वा-
दिति । प्रधाननायकस्य चाय नियमो गौणनेतृणा तु स्वभावान्तरमपि पूर्वस्व-
भावत्यागेन निरप्यते । ये तु नाटकस्य नेतारं धीरोदात्तमेव प्रतिजानते न ते मुनि-
समाध्ययगाहिन । नाटकेषु धीरललितादीनामपि नायकाना दर्शनात् क्विसमय-
वाह्याश्च ॥३॥

एवार्थक माना जाता है । इसके प्राय तीन प्रकारके प्रयोग माने जात हैं । 'विशेष्य सम्बद्ध-
एवकार. अन्ययोगव्यवच्छेदक' अर्थात् विशेष्य पदसे जब 'एव' का पद सम्बन्ध होता है तो वह
अन्ययोगका व्यवच्छेदक होना है । जैसे 'पार्थ एव धनुर्धर' इसमें 'पार्थ' अर्जुनको छोड़कर
अन्य धनुर्धर नहीं हैं यह अन्ययोगका व्यवच्छेद होता है । इसी प्रकार 'विशेषण-सगत एवकार
अयोगव्यवच्छेदक' । विशेषण-सगत एवकार अयोग-व्यवच्छेदक होता है जैसे 'पार्थो धनुर्धर एव'
अर्थात् अर्जुन धनुर्धर ही है यहाँ 'एव' शब्द अर्जुनमें धनुर्धरत्वके अयोग अर्थात् सम्बन्धाभाव-
का निषेधक अर्थात् अवश्य सम्बन्धका सूचक है । इसी अयोगव्यवच्छेदक एवकारको यहाँ
अन्यकारने स्वयोगव्यवस्थापक' माना है । धीरोद्धत आदि विशेषणोंके साथ सम्बद्ध एवकार अन्य-
योगका व्यवच्छेदक नहीं अपितु अयोगव्यवच्छेदक अथवा स्वयोगव्यवस्थापकमात्र है यह अन्य-
कारका अभिप्राय है । तीसरा एवकार क्रियाके साथ सम्बद्ध होता है । 'क्रिया-सम्बद्ध एवकारो
अत्यन्तायोगव्यवच्छेदक' क्रियाने साथ सम्बद्ध होने वाला 'एवकार' अत्यन्तायोगका व्यवच्छेदक
होता है । जैसे 'नील कमल भवत्पत्र' इसमें 'भवति' क्रियाके साथ सम्बद्ध 'एवकार' कमलमें
नीलत्वके अत्यन्त अयोगका निषेध करने नील कमल भी हो सकता है इस अर्थको बोधित
करता है ।

धीर जो [विप्र] परशुरामके अतिक्रूरत्वके सूचित करनेकेलिए धीरोद्धतत्वका वर्णन
किया गया है वह 'कहीं कार्यवश [विशेष प्रयोजनसे] भापा-प्रकृति और येष आदि [विषयक
नियमों] का उल्लंघन भी किया जा सकता है' इस अपवादके विद्यमान होनेसे अनुचित नहीं
है [अर्थात् यहाँ अपवाद रूपसे ही परशुरामके ब्राह्मण होते हुए भी धीरोद्धत-स्वभावका वर्णन
किया गया है यह समझना चाहिए] । देवताओंका यह [धीरोद्धत स्वभावका] नियम मनुष्यों-
की दृष्टिसे है, अपनी दृष्टिसे नहीं । क्योंकि [देवताओंमें भी] शिव आदि धीरोदात्त तथा ब्रह्मा
आदि धीरज्ञान [नायक] भी दित्तलाई देते हैं । 'राजान' पदसे [राजाका ही ग्रहण न करने]
क्षत्रियजाति मात्र [का ग्रहण करना चाहिए] । धीर [राजान पदमें] बहुवचन [के प्रयोग]
से व्यक्ति भेदसे नाटकके नेता चारों प्रकारके स्वभाव वाले हो सकते हैं, एक व्यक्तिमें [चारों
प्रकारके स्वभाव] नहीं [हो सकते हैं यह खान सूचित की है] । क्योंकि एक व्यक्तिमें ही चारों
प्रकारके स्वभावोंका वर्णन कर सकता प्रसम्भव है । और यह नियम [अर्थात् चारों प्रकारके
स्वभावका एक व्यक्तिमें वर्णन नहीं किया जा सकता है केवल] प्रधान नायकके विषयमें ही
है । गौण नायकोंमें तो पूर्व-स्वभावको छोड़कर अन्य स्वभावका वर्णन भी किया जा सकता

अथ धीरोद्धतादीनां यथोद्देशमर्थमाह—

[सूत्र० ७]—धीरोद्धतश्चलश्चण्डो दर्पी दम्भी विकत्थनः ।

धीरोदाचोऽतिगम्भीरो न्यायी सत्त्वी क्षमी स्थिरः ॥८॥

शृङ्गारी धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ।

धीरशान्तोऽनहङ्कारः कृपालुर्विनयी नयी ॥९॥

अकावरत्वं धीरशब्दस्यार्थः सर्वत्र समान एव । चलत्वाद्यः पुनरुद्धतादीनां शब्दानामर्थाः । चलोऽनवस्थितः । चण्डो रौद्रः । दर्पः शौर्यादिमदः । दम्भः कूट प्रयोगः । विकत्थनः स्वप्रशंसा । अतिगम्भीरो दुरवबोधमध्यः । सत्त्वी शोक-क्रोध-यनभिभवनीयः । स्थिरो विमृश्यकारी ।

कलासक्तो गीतादित्परः । सुखी मन्त्रिन्यस्तराजचिन्ताभारत्वान्तिराधिः । मृदुरक्रूराचारः । अनहङ्कारः सर्वथाप्यनवल्लेपः । धीरोदान्तस्तु विनयच्छन्नावल्लेपः, इति भेदः । विनयी गुरुजनाद्यनुल्लंघीति । उपलक्षणमात्रं चैतत्, तेनोद्धतादीनां यथौचित्यमपरेऽपि धर्मा दृष्टव्या इति ॥८-९॥

है । जो नाटकके नायकको केवल धीरोदात्त ही मानते हैं वे भरतमुनिके सिद्धान्तको नहीं समझते हैं । और नाटकमें धीरललित आदि नायकोंके भी पाए जानेसे कवियोंके व्यवहारसे अपरिचित प्रतीत होते हैं । [अर्थात् भरतमुनिके सिद्धान्त तथा कवियोंके व्यवहार दोनोंके अनुसार नाटकमें चारों प्रकारके नायकोंका चित्रण किया जा सकता है । केवल धीरोदात्त ही नायक हो ऐसा कोई बन्धन नहीं है] ॥७॥

अब [उद्देश] क्रमके अनुसार धीरोद्धत आदिका अर्थ बतलाते हैं—

[सूत्र ७] धीरोद्धत [नायक] अत्यिद-चित्त, भयङ्कर, अभिमानो, छली, घातम- इत्यापी, [होता है] । धीरोदात्त [नायक] अत्यन्त गम्भीर, न्यायप्रिय, शोक-क्रोध आदिके वशी-भूत न होने वाला [सत्त्वी], क्षमाशील और स्थिर [सोच-विचार कर कार्य करने वाला होता है] ॥८॥

[सूत्र ७] धीरललित [नायक] शृङ्गारप्रिय, [गीत-वाद्यादि] कलाओंका प्रेमी [शृङ्गारप्रियके अन्वेषके लोपकर निश्चित हो जाने शक्य] सुखी और शोचन स्वभावका [होता है] । और धीरप्रज्ञान्त [नायक] सर्वथा अहङ्कार-रहित, दयालु, विनयशील और नीतिका अवलम्बन करने वाला होता है ॥९॥

[कारिकामें आए हुए] 'धीर' शब्दका अर्थ प्रकातरत्वं [न घबड़ाता] है । वह [धीरोदात्त आदि चारों प्रकारके नायकोंमें] सबमें समान ही है । और चलत्व आदि उद्धत आदि शब्दोंके अर्थ हैं । 'चल' अर्थात् अस्थिरचित्त । 'चण्ड' अर्थात् भयङ्कर । शीर्षादिके घमण्डका नाम 'दर्प' है । 'दम्भ'का अर्थ कूटप्रयोग [छल] है । घातमइत्यादि करने वाला 'विकत्थनः' [होता] है । 'अतिगम्भीर' अर्थात् जिसके मनकी बात सहज न समझी जा सके । 'सत्त्वी' अर्थात् शोक-क्रोध आदिके वशमे न होने वाला 'स्थिर' अर्थात् सोच-विचार कर कार्य करने वाला ।

कलासक्त अर्थात् गीत [याद्य] आदि [कलाओं] का प्रेमी । 'सुखी' अर्थात् राग्यको चिन्ताका भार मन्त्रीको लोपकर निश्चित हो जाने वाला । 'मृदुः' अर्थात् क्रूर आचरण न

अथ चरितशब्द व्याचष्टे—

[सूत्र ८]—मुख्यमिष्टफलं वृत्तं, अङ्गं प्रासङ्गिकं क्वचित् ।

सूच्यं प्रयोज्यमभ्यूह्यं, उपेक्ष्यं तच्चतुर्विधम् ॥१०॥

मुख्य सर्वप्रबन्धव्यापित्वात् प्रधानम् । इष्टं सर्वोत्कर्षेण कवेरभिप्रेतं फलं यस्य । वृत्तं चरितम् । अङ्गं मुख्यवृत्तस्यानुयायित्वादवयवः । प्रसङ्गात् परकीय-यत्नादागतं प्रासङ्गिकम् ।

इह तावत् न निसर्गतं किञ्चिच्चरितं मुख्यमङ्गं वा, किन्तु बहुष्वपि फलेषु कविर्यस्य अत्यन्तमुत्कर्षमभिप्रेति तत्फलमिष्टम् । अनेन च यत् फलबद्धं वृत्तं तदिह मुख्यम् । तदितरत् अङ्गत्वात् प्रासङ्गिकम् । रामप्रबन्धेषु हि सुमीरमैत्री-शरणागत-

करने वाला । 'अनहङ्कार' अर्थात् सर्वथा अभिमान-शून्य । धीरोदात्त [नायक] तो [अभिमान-युक्त होनेपर भी] विनयके द्वारा अपने अभिमानको छिपा लेने वाला होता है यह [धीर प्रशान्तसे उसका] भेद है । 'विनयी' अर्थात् गुहजन आदि [की] आज्ञा या मर्यादा का उल्लंघन न करने वाला । ये धर्म केवल उपलक्षण मात्र है । इसलिये ओचित्यके अनुसार धीरोदात्त आदि [नायकों] में अन्य धर्म भी समझ लेने चाहिए ॥ ८-९ ॥

चरितके दो भेद—

नाटकमें वर्णित आख्यात-वस्तु जिसको यहाँ प्रत्यकारने 'वृत्त' तथा 'चरित' शब्दोंमें निर्दिष्ट किया है दो प्रकारका होता है । एक मुख्य और दूसरा उभका अङ्गभूत । नाटकमें वर्णित प्रधान कर्ता प्राप्ति जिसको होती है वह पात्र नाटकका नायक या प्रधान पात्र होता है । उसका चरित मुख्य चरित कहलाता है । और दोष सब चरित उसकी कार्यसिद्धिके उपकारक होते हैं इसलिये वे सब उभके अङ्गभूत चरित माने जाते हैं । इसी बातका प्रतिपादन धन्यकार इस कारिकाके विवरणमें निम्न प्रकार करते हैं—

[सूत्र ८]—[कविके द्वारा अभिप्रेत] प्रधान फल जिसको प्राप्त होता है उसका चरित [इष्टफल वृत्त] मुख्य [चरित कहलाता है] । और [प्रतिवार्य रूपसे सर्वत्र नहीं अपितु 'क्वचित्' अर्थात् 'कहीं-कहीं' [वर्णित] प्रासाङ्गिक [वृत्त] अङ्ग [अप्रधान चरित कहलाता] है । [इन दोनों प्रकारके चरितोंके भी उनकी अभिव्यक्तिकी प्रशियाकी दृष्टिके चार भेद होते हैं । उनके नाम इस कारिकाके निम्न प्रकार लिखताएँ हैं] वह भी १ सूच्य, २ प्रयोज्य, ३ अभ्यूह्य [कल्पनीय] और ४ उपेक्षणीय [अपेक्षे] चार प्रकारका होता है ॥१०॥

सारे प्रबन्ध [अर्थात् सारे नाटकमें आदिसे लेकर अन्त तक निरन्तर] व्यापक रहनेसे प्रधान [चरित ही] मुख्य [चरित कहलाता] है । [उसका लक्षण यहाँ 'इष्टफल' किया गया है । इसलिये इस शब्दका अर्थ प्राग्ग देते हैं] । 'इष्ट' अर्थात् कवि जिसके फलको सबसे जल्दिए रूपमें चाहता है [वह 'इष्ट' फल इष्ट फल वाला वृत्त] है [वृत्त अर्थात् चरित] । अङ्ग-अर्थात् मुख्य चरितका अनुगामी होनेसे उक्तका अर्थय [अङ्ग-चरित कहलाता है] । प्रसङ्ग अर्थात् अन्य [विषय] यत्ने प्राप्त होने वाला वृत्त प्रासाङ्गिक [चरित कहलाता] है ।

इनमेंसे कोई भी चरित स्वभावतः मुख्य या अग-रूप नहीं होता है । किन्तु कविके फलसे कवि जिसको अत्यन्त उत्कर्ष [दिखाता] चाहता है वह फल 'इष्ट' [फल होता] है ।

विभीषणरक्षण-रावणवध-सीताप्रत्यानयनादिषु सीताप्रत्यानयनस्यैव प्राधान्यं कविना प्रतिपादितम् । तत्सम्पादनाय तद्विस्तरेषु प्रवृत्तेः । अत एव तान्यङ्गानि ।

कविरपि न स्वेच्छया फलस्योत्कर्षं निवद्वधुमर्हति, किन्त्वौचित्येन । यस्य धीरोद्धतादे-र्यदेव फलमुचितं तस्यैवोत्कर्षो निवन्धनीयः । प्रासङ्गिकस्यापि च मुख्य-वृत्तप्रयत्नेनैव निष्पत्तिविधेया । प्रयत्नान्तरे हि तदपि मुख्यं स्यात् । तापसवत्सराजे हि वत्सराजस्य मुख्याय कौशाम्बीराज्यलाभाय प्रयत्नेनैव यौगन्धरायणव्यापारेण प्रासङ्गिकं वासवदत्तासंगम-पद्मावतीप्राप्त्यादिकर्मापि साध्यते ।

‘क्वचित्’ इति यत्रैव मुख्यो नेता फलसिद्धौ सहायभूयते तत्रैव प्रासङ्गिकम् । न सर्वत्र । यथा भट्टश्रीभवनुत्तचूडामणिकविरचितायां कोशालिकायां नाटिकायां कोशालिकाप्राप्तिमधिकृत्य प्रवृत्तस्य वत्सराजस्य न प्रासङ्गिकम् ।

यथा वास्मद्रुपेण सत्य-हरिश्चन्द्रे नाटके प्रतिज्ञानिर्वाहं प्रति प्रवृत्तस्य हरिश्चन्द्रस्य । ‘तच्चतुर्विधम्’ इति ‘तत्’ सामान्येन वृत्तम् ॥१०॥

यह फल जिसको प्राप्त होता है वह ‘चरित’ यहाँ मुख्य [‘चरित’ कहलाता] है । उससे भिन्न [चरित उसका] अङ्ग होनेसे प्रासङ्गिक [चरित कहलाता] है । राम-विषयक नाटकमें सुग्रीव-मंत्री, शरणागत विभीषणकी रक्षा, रावण-वध और सीताका लौटाना आदिमेसे सीताके प्रत्यानयनका ही प्रधान रूपसे वर्णन किया है । अर्ग्यों [का वर्णन करने] में उस [सीता-प्रत्यानयन] के सम्पादनकेलिए ही प्रवृत्त होनेसे [सीता-प्रत्यानयन ही प्रधान फल है । अन्य प्रधान नहीं है] इसलिये वे अंग [कहलाते] हैं ।

कवि भी अपनी इच्छासे [किसी विशेष] फलका उत्कर्ष वर्णन नहीं कर सकता है । किन्तु औचित्यके अनुसार [ही वह उत्कर्षका वर्णन करता है] । जिस धीरोद्धत आदि [नायक के] केलिए जो फल उचित हो उसका ही उत्कर्ष वर्णन करना चाहिए । और मुख्यवृत्तके लिए किए गए प्रयत्नके द्वारा ही प्रासङ्गिक [वृत्त] की भी सिद्धि करनी चाहिए । उस [प्रासङ्गिक वृत्तकी सिद्धि] केलिए अलग प्रयत्न करनेपर तो वह भी मुख्य बन जावेगा । ‘तापस-वत्सराज’ [नामक नाटक] में वत्सराज [उदयन] के कौशाम्बीके राज्यकी प्राप्ति रूप मुख्य फलके लिए किए गए [वत्सराजके मंत्री] यौगन्धरायणके व्यापारसे ही वासवदत्ताका संगम और पद्मावतीकी प्राप्ति आदि रूप प्रासङ्गिक कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं ।

[इसी प्रकार सर्वत्र मुख्य फलकी प्राप्तिके लिए किए जाने वाले व्यापारसे ही प्रासङ्गिक कार्योंकी सिद्धि दिखलानी चाहिए । उसके लिए अलग व्यापारकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए । अन्यथा वह अङ्ग न रहकर प्रधान बन जायगा] ।

[कारिकामे आए हुए] ‘क्वचित्’ इस पदसे [यह सूचित किया है कि] जहाँ मुख्य नायक [अपने] फलकी सिद्धिके लिए सहायकको चाहता है वहाँ ही प्रासङ्गिक [चरित] की आवश्यकता होती है । [वहाँपर उसका वर्णन करना चाहिए] सब जगह नहीं । जैसे श्री भवनुत्त चूडामणि भट्ट द्वारा विरचित ‘कोशालिका’ [नामक] नाटकमें कोशालिका [नायिका] की प्राप्तिकेलिए प्रवृत्त वत्सराजका [कोई सहायक अपेक्षित न होने से उसमें] प्रासङ्गिक [वृत्त] या चरित नहीं है ।

अथवा जैसे हमारे बनाये हुए ‘सत्यहरिश्चन्द्र’ [नामक] नाटकमें अपनी प्रतिज्ञाकी

अथ चातुर्विध्यमेव स्पष्टयति—

[सूत्र ६]—नीरसानुचितं सूच्यं, प्रयोज्यं तद्विपर्ययः ।

ऊर्ध्वं तद्विनाभूतं, उपेक्ष्यं तु जुगुप्सितम् ॥११॥

नीरसं अरञ्जकम् । अनुचितं सरसप्यनर्हं आलिङ्गनं चुम्बनादि । तत् सूच्यं विष्कम्भादिभिर्ज्ञाप्यम् । तस्य नीरसानुचितस्य विपर्ययं सरसमुचितं च प्रयुज्यते, वाचिकादिभिरभिनये सामाजिकानां साक्षादिव म्रियते इति प्रयोज्यम् । तयो सूच्य-प्रयोज्ययोरविनाभूतं देशान्तरप्राप्त्यादौ गमनादि उच्यते स्वयं वितर्क्यते इति उच्यते । न नाम देशान्तरप्राप्तिं पादविहरणादिकं विना भवति । उपेक्ष्यते घ्रीडादिष्टेतुत्वा-दवगम्यते इत्युपेक्ष्यम् । जुगुप्सनीयं भोजन-स्नान-शयन-प्रश्रवणादि । यत् पुनरुत्तर-रामचरिते सीताया, अरमदुपह्ने नलविलासे अरण्ये दमन्त्याश्च प्रयुक्तं तत् प्रस्तुत-तोपयोगित्वान् रञ्जकत्वान्च न दुष्टम् ॥११॥

पूरां करनेकेलिए प्रयुक्त हरिश्चन्द्रका [कोई सहायक या प्राप्तिक्रम वृत्त या चरित्र नहीं है । कारिकाके अन्तमें आए हुए] 'तच्चतुर्विधम्' इस [पद] में 'तत्' [पदके] सामान्य रूपसे चरित [अर्थात् वृत्त (१) सूच्य, (२) प्रयोज्य, (३) अमूल्य अर्थात् कल्पनीय और (४) उपेक्ष्य आदि भेदके चार प्रकारका हो सकता है यह बात ग्रन्थकार द्वारा सूचित की गई है] ॥१०॥ चरितकी चार अवस्थाएँ या स्थितियाँ—

प्रथम [पिछली कारिकाके अन्तमें हुई चरितकी] चार प्रकारकी स्थितिको ही [इस कारिकाके] स्पष्ट करते हैं—

[सूत्र ६]—[प्रस्तुत चरितके जो कुछ भाग] नीरस या अनुचित हो वह [विलसने योग्य नहीं होता है अपितु विष्कम्भादिमें अर्थोंकी उक्ति द्वारा] सूचित करने योग्य [होता] है । [अतः उसको 'सूच्य' वृत्त कहा जाता है] उसके विपरीत [अर्थात् सरस और उचित भाग ही] 'प्रयोज्य' [अभिनय द्वारा विलसने योग्य होता] है । उसका अविनाभूत [अर्थात् जिसके बिना 'प्रयोज्य' भागका अभिनय ही न हो सके वह भाग स्वयं] 'ऊर्ध्व' [अर्थात् कल्पनीय] होता है । और घृणा उत्पन्न करने वाला [जुगुप्सित भाग] 'उपेक्षणीय' [होता] है [अर्थात् उसका अभिनय नहीं करना चाहिए] ॥११॥

नीरस अर्थात् जो मनोरञ्जक न हो । अनुचित अर्थात् जो सरस होनेपर भी [विलसनेके] प्रयोग्य हो जैसे प्राप्तिक्रम, चुम्बन आदि, वह 'सूच्य' अर्थात् विष्कम्भक आदि द्वारा ज्ञापनीय [अर्थात् अर्थोंके अर्थन द्वारा बोध्य होता] है । [अर्थात् 'तद्विपर्यय' का अर्थ करते हैं] उमका अर्थात् नीरस और अनुचित रूप 'सूच्य' भागका विपरीत अर्थात् सरस और उचित है यह प्रयुक्त किया जाता है अर्थात् वाचिक आदि [चारों प्रकारके] अभिनयों द्वारा सामाजिकों के सामने प्रत्यक्ष-जैसा किया जाता है इसलिए 'प्रयोज्य' [कहा जाता] है । उन 'सूच्य' तथा 'प्रयोज्य' दोनोंका अविनाभूत [अर्थात् जिसके बिना 'सूच्य' अथवा 'प्रयोज्य' भागका उपपादन ही न हो सके] जैसे अर्थ स्वानुपपन्न करनेके लिए [अपरिहाय] गमन आदिकी स्वयं ऊर्ध्व,

१. उपेक्ष्यते घ्रीडादिष्टेतुत्वावगम्यते इत्युपेक्ष्यं प्रयोज्यम् ।

२. तयो सूच्यं प्रयोज्ययो जुगुप्सनीयं भोजन स्नान-शयन-प्रश्रवणादि ॥

अथ अन्यानपि वृत्तभेदान् दर्शयति—

[सूत्र १०] प्रकाशं ज्ञाप्यमन्येषां स्वगतं स्वहृदि स्थितम् ।

परावृत्त्य रहस्याख्यान्यस्मै तदपवारितम् ॥१२॥

अर्थात् कल्पना की जा सकती है इसलिए यह 'अहम्' [कहलाता] है । क्योंकि परंसे चले बिना दूसरे स्थानपर नहीं पहुँचा जा सकता है । जो उपेक्षित किया जाता है अर्थात् लज्जादि-जनक होनेके कारण अनाहत किया जाता है वह 'उपेक्ष' [कहलाता] है । [घृणाके जनक] भोजन-स्नान-शयन और भूख त्याग आदि [प्रलम्बण] शुमुष्णित [कहलाते] हैं । किन्तु 'उत्तररामचरित' में रामकी गोदमे पड़ी हुई सीताका और हमारे बनाए हुए 'नलविलास' में वनमें दमयन्तीके शयनका जो अभिनय दिखलाया गया है वह प्रस्तुतमें उपयोगी होने और मनोरञ्जक होनेके कारण दोष नहीं है ॥११॥

भावाभिव्यक्तिके नाटकीय प्रकार—

नाटकमे और लोकमे भी सारी बातें एक ही रूपमेसे नहीं कही जाती हैं । भिन्न भिन्न अवसरोपर भिन्न भिन्न प्रकारकी शैलीका अवलम्बन वार्तालापमे किया जाता है । कोई बात ऐसी होती है जो सबके सामने कही जाती है । कोई ऐसी होती है जिसे वक्ता दूसरो से छिपा कर अपने तक ही सीमित रखना चाहता है । इन दोनोंके लिए नाटकमे अलग-अलग शैलियों का अवलम्बन किया जाता है । जो बात गोप्य नहीं है, वक्ता सबको उस बातको सुनाना चाहता है उसको नाट्यकी परिभाषामे 'प्रकाशम्' शब्दसे कहा जाता है । और जिसको वक्ता अन्य सबसे छिपाकर केवल अपने तक ही सीमित रखना चाहता है इस प्रकारकी बातकेलिए नाटकमे 'स्वगतम्' शब्दका प्रयोग किया जाता है । ये 'प्रकाशम्' तथा 'स्वगतम्' शब्द नाटकमे भावाभिव्यक्तिकी विशेष प्रकारकी शैलीको सूचित करते हैं । 'स्वगतम्' रूपमे कही जाने वाली बात गोप्य होती है । परन्तु उसकी गोप्यता केवल अभिनय करने वाले पात्रकी दृष्टिसे ही होती है । नाटकके देखने वाले सामाजिककी दृष्टिसे नहीं । नाटकमे लिखते समय जिसको 'स्वगतम्' लिखा जाता है वह बात भी सामाजिकको सुनानी ही होती है । अन्यथा सामाजिकका रसास्वाद गड़बड़ा जायगा । इसलिए अभिनय करते समय उस स्वगत भागको भी जोरसे बोला जाता है कि जिससे सामाजिकगण उन्ने स्पष्ट रूपसे सुन सकें । केवल मुख-मुद्रादिके द्वारा ऐसा अभिनय किया जाता है कि मानो वक्ता अपने मनमे ही वह रहा है ।

इसी प्रकार जो बात अनेक पात्रोंसे छिपाकर किसी एक पात्र पर प्रकट करनी होती है उसे अन्य लोगोंकी ओर से मुख भोड़कर उस एक व्यक्तिसे कहा जाता है । उसको 'अपवारित' नामसे कहा गया है । इस 'अपवारितम्' को भी सामाजिककी सुनाना अवश्य अभिप्रेत होता है । इसी बातको इस कारिकामे लिखते हैं—

अथ वृत्त [की अभिव्यक्ति] के अन्य प्रकारोंको भी दिखलाते हैं—

[सूत्र १०]—अन्य सबको जतलाने योग्य [वृत्त या बात] को 'प्रकाशम्' और केवल अपने हृदयमे स्थित [गोप्य बात] को 'स्वगतम्' [शैलीसे] कहा जाता है । [बहुतोंसे छिपाकर एक ही व्यक्ति पर प्रकट करनेकेलिए अर्ग्योंकी ओरसे] मुख भोड़कर रहस्यका कथन करना 'अपवारितम्' कहा जाता है ॥१२॥

यद्दु घृतमगोप्यतया अन्येषामात्मव्यतिरिक्तानामपि ज्ञाप्यं तत् प्रकाशत इति 'प्रकाशम्' । यत् पुनरन्येषां गोप्यतया स्वहृदोऽव स्थितं तत् 'स्वगतम्' । पराद्युत्पन्न-बलनेनाभावयितेभ्यः पराङ्मुखीभूय अन्यैर्मा रदृश्यारया या तदपवर्चयते एतन्ना प्रच्छाद्यत इति 'अपवारितम्' ।

आख्यायते इति आख्या । कर्मसाधनः । तेन घृतमपवारितम् । एवमुत्तर-प्रापि ॥१२॥

[सूत्र ११]—त्रिपताकान्तरोऽन्येन जल्पो यस्तज्जनान्तिकम् ।

आकाशोक्तिः स्वयं-प्रस्त-प्रत्युत्तरमात्रकम् ॥१३॥

जो बात गोप्य न होनेसे अपनेसे भिन्न अन्य लोगोंको भी बतलाने योग्य है उसको प्रकाशित किए जानेके कारण 'प्रकाशम्' कहते हैं । और जो [बात] अन्यसे छिपाने योग्य होनेसे अपने मनमें ही ररानी होती है उसको 'स्वगतम्' कहते हैं । दारोदको घुमाकर जिनको गुनाना नहीं है उनकी ओरसे मुत्त मोड़कर किसी दूतसे रहस्यका कथन करना बहुतसे दिवाए जानेके कारण 'अपवारितम्' इति अपवारितम् इति व्युत्पत्तिके अनुसार 'अपवारितम्' कहलाता है ।

जिसको कहा जाय वह 'आख्या' है । [यह कारिकामें आए हुए 'आख्यां' शब्दको व्युत्पत्ति है । इसके अनुसार आख्या शब्द] कर्ममें [प्रत्यय करने] सिद्ध होता है । इसलिये [कर्मभूत अर्थात् कहा जाने वाला] घृत 'अपवारित' [कहलाता] है । इसी प्रकार आगे [जल्प प्रादि शब्दोंको व्युत्पत्ति] भी समझनी चाहिए ॥१२॥

विदग्धी कारिकामे अन्यकारोने 'प्रकाशम्', 'स्वगतम्' और 'अपवारितम्' इन तीन नाटकीय परिभाषाओंकी व्याख्या की थी । उसी प्रसंगमें पीया 'अनातिक्रमम्' शब्द भी नाटकीय प्रयुक्त होता है । 'अनातिक्रमम्' और 'अपवारितम्' शब्द एक-दूसरेसे सम्बन्ध विन्तु एक-दूसरे से विपरीत विधितिके बोधक हैं । जब बहुतस्यक अन्य सब लोगोंसे दिवाकर कोई बात किसी एक ही व्यक्तिपर प्रकट करनी होती है तब उसको 'अपवारितम्' कहते हैं । इस 'अपवारितम्' का सधल विदग्धी कारिकामे किया जा चुका है । 'अनातिक्रमम्' शब्दका प्रयोग उससे विपरीत विधितमें होता है । जो बात किसी एक ही व्यक्तिसे दिवाकर अन्य बहुतस्यक व्यक्तिओदर प्रकट करनी होती है उससे प्रकट करनेकेलिए विशेष संकीका अवसरका किया जाता है और उक्त विशेष संकीको 'अनातिक्रमम्' कहा जाता है । इन दोनोंमें 'विदग्धा' अथवा 'विदग्धाकार' का प्रयोग किया जाता है । 'अनातिक्रमम्' के समान 'विदग्धा' शब्द भी नाट्य शास्त्रका परिभाषिक शब्द है । कतिष्ठिकाने पाग बानी 'विदग्धा' उगलीको समूचेते दबाकर सेव तीन उगलिया उठाकर जो हाथको विधित बनती है उसको 'त्रिपाताकार' कहते हैं । इस प्रकार हाथको मुगने पात समानर एक विशेष व्यक्तिसे दिवाकर अन्यको गुनावेकेलिए जो बात की जाती है उगको 'अनातिक्रमम्' कहते हैं । इसीको आगे विदग्धे है—

[सूत्र ११]—त्रिपताक [अर्थात् जिसमें तीन उगलिया उठी हुई हों इस प्रकारके] हाथको बीचमें सगाकर [एक व्यक्तिसे दिवाकर बहुतस्यक] अन्यके साथ जो बार्तालाप है

जल्प्यते इति जल्पो वृत्तमेव । ऊर्ध्वसर्वांगुलिर्चक्रानामिकः करश्चिप्रपातकः । सोऽन्तरमश्राव्यं प्रति व्यवधानं यत्र । अन्येन सह जल्पो जनानामेकस्यैव गोप्यत्वात् बहूनामन्तिकं, श्राव्यतया निकटं, 'जनान्तिकम्' । इह यद् वृत्तमेकस्यैव गोप्यं बहूनामगोप्यं तद्वजनान्तिकम् । तद्विपरीतमपवारितम् । प्रश्नेश्च प्रत्युत्तरं चेति समाहारः । अपात्रम्, रङ्गप्रविष्टद्वितीयपात्ररहितम् । रङ्गप्रविष्टपात्रेण स्वयमात्मदेव यः प्रश्नो यच्चोत्तरं तदाकाशे पात्राभावात् शून्ये उक्तिः 'आकाशोक्तिः' । उच्यते इति उक्तिः । प्रश्नोत्तरविषयोऽर्थः । क्वचित् स्वोत्तरार्थमनुभाषणच्छायाया परकीयः प्रश्नः, क्वचित् स्वप्रश्नस्यानुभाषणच्छायाया परकीयमुत्तरं इत्युभयमपि आकाशोक्तिरिति ॥१३॥

वह 'जनान्तिक' और बिना पात्रके स्वयही प्रश्न तथा उत्तरका कथन 'आकाशोक्ति' [कहलाता] है ॥१३॥

जो कहा जाता है वह 'जल्प' 'वृत्त' ही होता है । अनामिका उंगलीको भुकाकर और सब अंगुलियां उठी हों ऐसा हाथ 'त्रिपातक' [कहलाता] है । उसको अश्राव्य [अर्थात् जिस एक व्यक्तिको बात सुनाना अभीष्ट नहीं है उस एक व्यक्ति] के प्रति व्यवधान जिसमे बचाया जाय । [वह जल्प 'त्रिपातकान्तर जल्प' हुआ] । अग्योके साथ [विशेष प्रकारका] वार्तालाप एकहीके प्रति गोप्य होने, और [बहुतोके प्रति अगोप्य होनेसे] बहुतेसे जनोके लिए श्राव्य होनेसे 'अन्तिक' अर्थात् निकट होनेके कारण 'जनान्तिक' [कहलाता] है । [आगे 'अपवारित' और 'जनान्तिक' का विशेष भेद दिखलाते हैं—] इनमेसे जो बात एकही [व्यक्ति] से छिपाना हो बहुतेसे गोप्य न हो वह 'जनान्तिक' [कहलाता] है । उसके विपरीत [अर्थात् बहुतेसे गोप्य और एकपर ही प्रकाशनीय अर्थ] 'अपवारितम्' [कहा जाता] है । [कारिकामें आए हुए 'प्रश्नप्रत्युत्तरम्' पदमें] प्रश्न और प्रत्युत्तर इन दोनोंका समाहार है । 'अपात्रकम्' [पदका] रङ्गमें प्रविष्ट दूसरे पात्रसे रहित [यह भाव है] । रङ्गमें प्रविष्ट पात्रके द्वारा जब स्वयं अपने-आपही प्रश्न और प्रत्युत्तर किया जाता है वह आकाशमे अर्थात् दूसरा पात्र न होनेसे शून्यमें कथन होनेसे 'आकाशोक्ति' [कहलाती] है । जो कहा जाय वह [अर्थ] 'उक्ति' है । अर्थात् प्रश्न और उत्तरका विषयभूत अर्थ [उक्ति पदसे अभिप्रेत है । इसके भी दो प्रकार होते हैं] कहीं स्वयं उत्तर देनेके लिए अनुभाषणके द्वारा दूसरेका प्रश्न, और कहीं अपने प्रश्नके [उत्तर रूपमें] अनुभाषण द्वारा दूसरेका उत्तर [आकाशोक्तिके रूपमें कहा जाता है] । ये दोनों ही आकाशोक्ति [कहलाते] हैं । [अनुभाषणच्छायाका अभिप्राय यह है कि उस परकीय प्रश्न या उत्तरको स्वयं कहके सुनाता है अर्थात् वही प्रश्नाज्ञ आकाशभाषित रूप होता है, और कही उत्तर भाग आकाशभाषित रूप होता है । इस 'आकाशभाषित' शब्द का प्रयोग भी नाटको मे पाया जाता है ।] ॥१३॥

बारह तथा तरह सख्याकी इन दोनों कारिकाओमे नाटकीय भावाभिव्यक्तिकी पांच शैलियां दिखलाई है । इनमेसे 'प्रकाशम्' तथा 'स्वगतम्' ये दोनों शब्द परस्पर सम्बद्ध शब्द है । जब 'स्वगतम्' रूपसे कहीपर कुछ बात कही जाती है तब उसके बाद फिर जहाँपर गोपनीय बात समाप्त हो जाती है और वक्ता सबको सुनाने योग्य बात कहना प्रारम्भ करता है वहाँपर 'प्रकाशम्' शब्दका प्रयोग किया जाता है । हर जगह 'प्रकाशम्' शब्दका प्रयोग

नहीं होता है। क्योंकि नाटकका सारा भाग तो सर्वथाव्य अर्थात् 'प्रकाशम्' होता ही है। उसके लिए हर जगह 'प्रकाशम्' लिखनेकी आवश्यकता नहीं होती है। उस 'प्रकाशम्' के बीच जहाँ कुछ भाग ऐसा आ जाता है जिसे वक्ता स्वयं अपने तक ही सीमित रखना चाहता है उसके लिए 'स्वगतम्' शैलीका प्रयोग होता है। यद्यपि 'स्वगतम्' शब्दसे अपने मनमें कही जाने वाली 'स्वगत स्वहृदि स्थितम्' बातका ही ग्रहण होता है किन्तु वह बोली इतने उच्च-स्वरसे जाती है कि नाटक देखने वाले सामाजिक उसको सुन सके। जहाँ कोई ऐसी बात कहनी होती है जिसको उस समय सामाजिकको भी सुनाना अभीष्ट नहीं होता है वहाँ उस बातको 'स्वगतम्' पदसे न कहकर 'बयँ एवमेव' लिख कर कानमें कहलाया जाता है। 'स्वगतम्' के रूपमें कही जाने वाली बात केवल अन्य पात्रोंसे गोपनीय होती है। सामाजिकसे नहीं। एक बार जब 'स्वगतम्' लिख दिया गया तब वह 'स्वगतम्' के रूपमें कही जाने वाली बात जहाँपर समाप्त होती है उसके बाद 'प्रकाशम्' पदका निर्देश करना आवश्यक होता है। इसलिए 'स्वगतम्' के समाप्त होनेके बाद 'प्रकाशम्' का उल्लेख नाटकोम सर्वत्र किया जाता है।

गोपनीय बातको कहनेका एक प्रकारका यह 'स्वगतम्' हुआ। उसके अतिरिक्त दो प्रकार और भी हैं। एक 'अपवारितम्' और दूसरा 'जनान्तिवम्'। इनमेंसे जब एक व्यक्तिमें छिपा कर प्रथिम व्यक्तिपर बातको प्रकट करना अभीष्ट होता है तब उस बातको 'जनान्तिवम्' नामसे कहा जाता है। 'जनान्तिवम्' शब्दका अर्थ ही यह बतला रहा है कि बहुतसे 'जनो' के 'अन्तिव' अर्थात् समीप जो हों वह 'जनान्तिवम्' कहलाने योग्य है। इसलिए 'जनान्तिवम्' के रूपमें कही जाने वाली बात एक ही व्यक्तिसे गोपनीय और बहुतसे जनोके लिए श्राव्य होनेके कारण उनके 'अन्तिव' अर्थात् 'निष्कट' होनेसे 'जनान्तिव' नामसे कही जाती है। इससे विपरीत जो बात बहुतोंसे छिपा कर एक ही व्यक्तिपर प्रकाशित करने योग्य हो उसको प्रकट करनेके लिए 'अपवारितम्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। यह शब्द भी नाटको बहुत प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार गोपनीय बातको प्रकट करनेके लिए (१) 'स्वगतम्' (२) 'अपवारितम्' और (३) 'जनान्तिवम्' इन तीन नाटकीय अभिव्यक्ति शैलियोंका निर्देश किया गया है। इन सभी शैलियोंके द्वारा अभिव्यक्त किए जाने वाले भाव सामाजिकोंके लिए श्राव्य ही होने हैं। इसलिए इतने जोरसे अभिव्यक्त किए जाते हैं कि सामाजिक बिना किसी गठितार्थके डाको सुन सकें। केवल अभिनयही मुद्राओंके द्वारा उनकी गोपनीयताका प्रदर्शन किया जाता है। आगे कही जाने वाली अथवा पूर्व कही जो बात सामाजिकोंको भी नहीं सुनानी हानी है उसके लिए इनसे भिन्न (४) 'बयँ एवमेव' कानमें कहलानेकी चौथी शैली और भी पाई जाती है उसका निर्देश यहाँ नहीं किया गया है। आगे १६वीं बारिका में उसका उल्लेख करेंगे यह 'एवमेव' वाली शैली नाटकोम बहुत कम मात्राम विरत रूपसे ही प्रयुक्त होती है। एक नाटकमें एक बारसे अधिक इसका प्रयोग प्रायः नहीं पाया जाता है। (५) प्रकाशम् वाली पाचवीं शैली मुख्य अभिव्यक्ता शैली है। जो सारे नाटको में आद्यत स्थापन रहती है ॥११॥

अथ वृत्तस्य कर्तव्यगुणानाह—

[सूत्र ११]—स्वल्पपद्यं लघुगद्यं श्लिष्टावान्तरवस्तुकम्

सिन्धु-सूर्येन्दु-कालादिवर्णनाधिक्यवर्जितम् ॥१४॥

सुष्ठु प्रसन्नार्थं प्रसिद्धशब्दं अल्पं परिमितं पद्यं यत्र । गद्येन ह्यर्थः कथ्यमानः सुखा-
वशोधो भवति । लघु ह्यर्थं परिमितं च गद्यं यत्र । कर्कशं बहुसमासं च गद्यं दुर्बो-
धत्वात् खेदमुपनयति । श्लिष्टानि पारम्पर्येण प्रधानफलसम्बद्धानि अवान्तराणि
प्रस्तुतान्तरालवर्तीनि वस्तूनि यत्र । नाट्ये हि तदेवावान्तरं वृत्तमायोष्यं यत् पार-
म्पर्येण प्रधानफलसाधकम् । यथा रत्नावल्यां प्लवगसम्पातः सागरिकानुरागवीजस्य
फलस्य सम्प्राप्तिहेतुः । यथा चारमदुपजे नलविलासे कापालिक-विद्रूपकनिगुद्धं
राज्ञोरुरागमूलस्य दमयन्तीप्रतिकृतिदर्शनस्य हेतुः । सिन्धुर्नदी समुद्रो वा । सूर्येन्दुभ्यां
समुद्रयास्तौ गृह्येते । कालो वसन्तादि प्रभातादिश्च । आदिशब्दान् गिरि-मधुपान-
जलक्रीडादि । सिन्ध्वादिकं हि काव्यकण्ठवशादग्निष्पलं न चर्षणीयम् । सफलमप्येकेन
द्वाभ्यां वा वृत्ताभ्याम् । अधिक्यन्तु रसमन्तरयतीति ॥१४॥

नाटक-रचनाविषयक विशेष बातें—

प्रगली दो कारिकाप्रोमे पन्थकारोने नाटककी रचनामे ध्यान रखने योग्य कुछ विशेष
बातोंका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

अब वृत्तके [अर्थात् नाटककी रचनाके अवश्य] करने योग्य गुणोंको कहते
हैं—

[सूत्र ११]—सुन्दर और थोड़े पद्यों तथा सरल गद्यसे एवं परस्पर सम्बद्ध अवान्तर
[कथा आदि] वस्तुओंसे युक्त, समुद्र, नदी, सूर्य-चन्द्र [के उदयास्त] और [वसन्त या प्रभात
आदि] कालके अधिक वर्णनसे रहित [अर्थात् स्वल्प वर्णन युक्त नाटककी रचना करनी
चाहिए यह बात नाट्य-रचनामे अवश्य-कर्तव्य अर्थात् विशेष ध्यान देने योग्य है । १४।

सुन्दर अर्थात् सरल अर्थ और प्रसिद्ध शब्दों वाला, थोड़ा अर्थात् परिमित पद्य जिसमे
हो [यह स्वल्पपद्य का अर्थ हुआ] । क्योंकि गद्यके द्वारा कहा गया अर्थ जल्दी समझमें आ
जाता है । 'लघु' अर्थात् मनोहर और परिमित गद्य जिसमें हो [यह 'लघुगद्य' का अर्थ है] ।
कर्कश और अधिक समासों वाला गद्य कष्टदायक होता है श्लिष्ट अर्थात् परम्परासे प्रधान फल
से ही सम्बन्ध रखने वाली अवान्तर अर्थात् प्रस्तुतके बीचमे प्रयुक्त वस्तुएँ जिसमे हों [यह
'श्लिष्टावान्तरवस्तुकम्' का अर्थ है] । नाटकमे उसी अवान्तर कथावस्तु की योजना करनी
चाहिए जो परम्परया प्रधान फलको साधक हो । जैसे रत्नावली [नाटिका] मे बग्वरका
आना, सागरिकाके [उदयनके प्रति] अनुरागके सूचक चित्रपटकी प्राप्तिका हेतु है । अथवा
जैसे हमारे बनाए हुए नलविलासेमे कापालिक और विद्रूपकका भगडा राजा [नल] के
[दमयन्तीके प्रति] अनुरागके सूचक दमयन्तीके चित्रके दर्शनका हेतु है । सिन्धुका अर्थ नदी
अथवा समुद्र है । सूर्य और इन्दु पदोंसे उनके उदय-अस्तका ग्रहण होता है । आदि शब्दसे
पर्वत, मधुपान, जलक्रीडा आदि [का ग्रहण होता है] । केवल काव्यरचनाकी खुजली मिटाने
के लिए समुद्र आदिका स्पष्ट वर्णन नहीं करना चाहिए । सार्यक होनेपर भी एक-दो श्लोकों

[सूत्र १२]—एकाङ्गिरसमन्याङ्गमद्भुतान्तं रसोर्मिभिः ।

अलङ्कितमलङ्कार-कथाङ्गैरगलद्रसम् ॥१५॥

एको नायकौचित्येनान्यतमो अङ्गी प्रधानरसो यत्र । अन्ये अङ्गिरसादपरे रसा अङ्गं गौणा यत्र । नाटकं हि सर्वरसं, केवलमेको अङ्गी, तदपरे गौणाः । अद्भुत एव रसो अन्ते निर्वहणे यत्र । यतः शृङ्गार-वीर-रौद्रीः स्त्रीरत्न-पृथ्वीलाभ-शत्रुक्षयसम्पत्ति । ककुण-भयानक-धीभस्मैः तन्निवृत्तिः । इति इयता क्रमेण लोकोत्तरासम्भाव्यफल-प्राप्तौ भवितव्यमन्ते अद्भुतेनैव । अपि च नाटकस्यासाधारणवस्तुलाभः फलत्वेन यदि न कल्प्यते तदानीं क्रियायाः फलमात्रं किञ्चिदस्स्येवेति किं तत्रोपायव्युत्पादनकलेशेन । 'रसोर्मिभि' रसाधिक्येन 'अलङ्कित' अविच्छिन्नम् । न नाम रसपरतया कथाशरीरमन्तरयेत् ।

से ही करना चाहिए । क्योंकि लम्बा वर्णन रसको तिरोभूत कर देता है ।

इस कारिका में 'स्वल्पपद्य' शब्द विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है । वैसे 'स्वरूप' शब्द एक साधारण शब्द है । उसका अर्थ 'थोड़ा' होता है । इसलिए 'स्वल्पपद्य' का अर्थ 'थोड़े पद्यों वाला' यह होना चाहिए । किन्तु ग्रन्थकारने यहाँ उसकी जो व्याख्या की है उसमें उन्होंने 'स्वल्प' पदको मु-अल्प दो भागोंमें विभक्त कर 'मु' का अर्थ 'सुष्ठु प्रमत्नार्थं प्रतिदशब्द', तथा 'अल्प' का अर्थ परिमित किया है । इसलिए यह शब्द विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है ।

यहाँ तक चौदहवीं कारिकाकी व्याख्या समाप्त हो गई । किन्तु यह विषय अभी पूर्ण नहीं हुआ है । प्रगली कारिका में भी इसी विषयका वर्णन किया गया है ।

[सूत्र १२]—जिसमें एक रस प्रधान और अन्य रस अप्रधान हों अन्तमें अद्भुत रस [का निवेश] हो किन्तु रसाधिक्यसे [कथाभाग] विच्छिन्न न होने पावे, साथ ही अलङ्कार या कथा आदि [के आधिक्य] से रसका विच्छेद भी न होने पावे [इस इन सब बातोंका ध्यान रखते हुए ही नाटककी रचना करनी चाहिए] । १५ ।

नायकके औचित्यके अनुसार कोई एक रस जिसमें प्रधान हो [यह 'एकाङ्गिरस' का अर्थ है] । 'अन्य' अर्थात् प्रधान रससे भिन्न रस जिसमें अङ्ग अर्थात् गौण हो । नाटकमें [यदि तो] सारे रस होते हैं किन्तु एक रस प्रधान और उससे भिन्न सब गौण होते हैं । अन्तमें अर्थात् निर्वहण-सन्धिमें अद्भुत-रस ही होना चाहिए । क्योंकि शृङ्गार, वीर, रौद्र रसोंके द्वारा स्त्रीरत्न प्रयत्न राग्यादिका लाभ वीर शत्रुके विनाश आदिकी सिद्धि होनी है । वीर करण, भयानक तथा धीभस्मके द्वारा [प्रतिनायकको] उन [स्त्रीरत्न राग्य आदि प्राप्ति] की निवृत्ति होती है । इस लिए इस प्रकारसे [सभी रसोंका नाटकमें उपयोग होना है वीर] लोकोत्तर असाधारण फल प्राप्ति [के दिशाने] में अन्तमें अद्भुत रस होना चाहिए । [इसकी गिद्धि के लिए दूसरा हेतु यह भी है कि] यदि असाधारण वस्तुकी प्राप्तिको नाटकका फल न माना जाय तो प्रत्येक विद्याका बुद्ध-न-बुद्ध फल तो अवश्य होना ही है फिर उसके लिए उपायोंका प्रयत्न करनेमें क्या लाभ ? रसकी लहरोंसे अर्थात् रससे आधिक्यमें [जिसकी कथापरतु] सन्धि अर्थात् विच्छिन्न न हो । रस प्रधान होकर सभी कथाके स्वरूपको विच्छिन्न न करे ।

१. न विच्छिन्नम् ।

अलङ्कारा. श्लेषोपमादयः । कथा वृत्तम् । अङ्गान्युपत्तेपादीनि, अङ्गभूता रमारच, तैरगलन् अत्रुटन् रसो यत्र । त एव श्लेषोपमादयो विधेया ये रसनिष्पत्ति-प्रयत्नेनैव निष्पद्यन्ते । वृत्तान्ते अङ्गानि उपत्तेपादीनि च तथा निबन्धनीयानि यथा रसमन्तरयन्ति । अङ्गभूता रसारच तथा नियोज्या यथा न नाङ्गिनं रसं तिरोदधत इति ॥१५॥

अथ वृत्तबन्धशिक्षामाह—

[सूत्र १३]—उक्तत्वाद् वक्ष्यमाणत्वाद् भूयः कार्याद् यदुच्यते ।

तत् कर्णे श्रावयेद् येन न याति पुनरुक्तताम् ॥१६॥

'उक्तं पूर्वं, वक्ष्यमाणं पुरः प्रकाश्यमानम् । प्रयोजनवशाद् भूयोऽपि यद् वृत्तमुच्यते तत् पुनरुक्तताभयात् पात्रस्य कर्णे कविः श्रावयेत् । तथा च दृश्यते 'कर्णे एवमेव' ॥१६॥

[सूत्र १४]—गोपुच्छकेशकल्पानि नाट्यवस्तूनि कल्पयेत् ।

उदात्ता रङ्गका भावाः स्थापनीयाः पुरः पुरः ॥१७॥

गोपुच्छम्य च केशाः केचिन् स्तोकमात्रयाथिनः, केचिन्मध्यावधयः, केचि-
दन्तव्यापिनः । एवं प्रदन्ववस्तून्वपि । यथा रत्नावल्यां प्रमोदोत्सवो मुखसन्धावेव
निष्ठीत । मुखोपक्षिप्तो वाभ्रव्यादिवृत्तान्तश्च निर्वहणारम्भे । रत्नावली प्राप्या-

अलङ्कार श्लेष उपमादि हे । कथा अर्थात् वृत्तान्त । अङ्गसे उपक्षेप आदि अङ्गो तथा अप्रधान रसोका ग्रहण होता है । उनसे [अर्थात् श्लेषादि अलङ्कार, अर्थात् कथा और उपक्षेपादि अङ्गों अथवा अप्रधान रसों] के द्वारा जिससे [प्रधान] रसका विच्छेद न हो । उन्हीं श्लेष उपमादिका प्रयोग करना चाहिए जो रस-सिद्धिके लिए किए जानेवाले प्रयत्नसे ही सिद्ध हो सकते हैं । और कथाभागमें उपक्षेप आदि अङ्गोंकी रचना इस प्रकारसे करनी चाहिए कि जिससे वे रसको तिरोभूत न कर सकें । तथा अङ्गभूत अप्रधान रसोंको इस ढंगसे रखना चाहिए कि वे प्रधान रसको तिरोभूत न कर सकें ॥१५॥

अथ कथाभागकी रचनाकी शिक्षाको कहते हैं—

[सूत्र १३]—पहले कहे हुए या आगे कहे जानेवाले [कथाभाग] को यदि कार्यदश फिर दुबारा कहा जाय तो उसको [कवि 'कर्णे एवमेव' लिखकर] कानमें कहलावे जिससे वह पुन-रुक्त न हो ॥१६॥

'उक्तं' अर्थात् पहले कहा हुआ और 'वक्ष्यमाणं' अर्थात् आगे कहे जाने वाला जो अर्थ प्रयोजनवश दुबारा कहा जाता है उसको पुनरुक्तिसे बचानेकेलिए कवि पात्रके कानमें कहलावे । जैसा कि [नाटकोंमें] 'कर्णे एवमेव' [लिखा] देखा जाता है ॥१६॥

[सूत्र १४]—नाटककी वस्तुओंकी रचना गोपुच्छके वेशोंके समान करे । और जो उदात्त तथा मनोरञ्जक भाव हों उनको आगे-आगे [मुखरूपसे] प्रस्तुत करे ॥१७॥

गोपुच्छके बालोंमें कुछ थोड़ी बूर तक ही जाते हैं । कुछ बीच तक पहुँचते हैं । और कुछ अन्त तक फँसे रहते हैं । इस प्रकार नाटककी वस्तुएँ भी [रचनी चाहिए] । जैसे रत्नावली [नाटिका] में प्रमोदोत्सव मुखसन्धिमें ही समाप्त हो गया है । मुखसन्धिमें सूचित

दयश्च माररूपाः पदाथाः अन्ते इति । उदात्ता उत्तमप्रकृतियोग्याः । अनुदात्ता अपि ये रञ्जका भावाते सकलस्यापि प्रबन्धस्य रमारोहाय पुरः पुरो निवेशनीया इति ॥१५॥

अथानिबन्धनीयमाह—

[सूत्र १५]—अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा ।

वृत्तं यत् तत् परित्याज्यं प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा ॥ १८ ॥

अयुक्तमनुचितं, विरुद्धं विपरीतम् । परित्याज्यमुपेक्षणीयम् । धीरललितस्य हानुचित परस्त्रीसम्भोगादि, विरुद्धं धीरोद्धतत्वादि । शृङ्गारस्य प्रत्यक्षमालिङ्गन-चुम्बनादि अनुचितं, बीभत्सस्तु विरुद्धः । अन्यथेति औचित्येनाविरोधेन वा । यथा नलविलासे धीरललितस्य नायकस्य दोषं विना मधर्मचारिणीपरित्यागोऽनुचित इति कापालिकप्रयोगेण निबद्धं । एवमन्यदप्युच्यमिति ॥ १८ ॥

बाधस्य आदिका वृत्तान्त निबन्धन-सन्धिषु आरम्भमे [समाप्त हो गया है] और रत्नावलीकी प्राप्ति आदि सारभूत पदार्थ अन्तमे [समाप्त हुए हैं] । उदात्त [भाव] अर्थात् उत्तम प्रकृतिषु योग्य [भाव मुख्यरूपमे प्रस्तुत करने चाहिए] और अनुदात्त होनेपर भी जो रञ्जक भाव हैं वे भी सारे नाटकके रसके अधिरोहण [बोधण] के लिए आगे आगे [प्रधान रूपसे] रखने चाहिए ॥१७॥

इस कारिकामे ग्रन्थकारने 'क्यों एवमेव' को पुनरुक्तिसे बचानेके लिए प्रयुक्त किए जानेवाले भावाभिव्यक्तिसे माधनके रूपमे प्रस्तुत किया है । किन्तु कहीं कहीं उस समयकी सामाजिकसे गोप्य बातको अभिव्यक्त करनेके लिए भी इस मार्गका प्रयत्न रचना किया जाता है ।

नाटकमें परित्याज्य—

विद्यनी कारिकाओंमें नाटककी रचनाने ग्रहण करने योग्य विशेष बातोंकी ओर ध्यान दिलाया गया था । अब इस कारिकामे नाटकमें परित्याग करने योग्य बातोंका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकार दिखते हैं—

अथ [नाटकमें] न रखने योग्य [बातोंको] कहेते हैं—

[सूत्र १५] जो [बात] नायकके अथवा [अनुक्त] रसके लिए अनुचित या विपरीत हो उसको परित्याग कर देना चाहिए [नाटकमें प्रदर्शित नहीं करना चाहिए] अथवा अन्य प्रकारसे उसकी कल्पना कर लेना चाहिए [अर्थात् उसको बदल देना चाहिए] । १८ ।

अयुक्त अर्थात् अनुचित और विरुद्ध अर्थात् विपरीत [अर्थको] परित्याज्य अर्थात् उपेक्षा करने योग्य [समझना चाहिए] । जैसे धीरललित [नायक] के लिए परस्त्रीके साथ सम्भोग करना अनुचित है [इसलिए परित्याज्य है] । और धीरोद्धतत्वादि विरुद्ध है । [इसलिए धीरललित नायकके वर्णनमें उसमें धीरोद्धतत्वके गुण स्वभाव आदिका चित्रण नहीं करना चाहिए । आगे रसके लिए अनुचित तथा विरुद्धका उदाहरण देते हैं] प्रत्यक्ष दिखलाया हुआ मालिङ्गन-चुम्बन आदि शृङ्गारके लिए अनुचित तथा बीभत्स [रसका प्रदर्शन शृङ्गाररसके] विरुद्ध है । अन्य प्रकारसे [कल्पना कर लेना चाहिए इसका अर्थ यह है कि] औचित्यके अनुसार अथवा जिससे यह विरोधी न रहे इस प्रकारसे [कल्पना करले] । जैसे नलविलासमें धीरललित नायकके लिए बिना दोषके सहघर्मिणीका परित्याग अनुचित है इसलिए कापालिकके प्रयोगके कारण [नलने दमयन्तीका परित्याग किया है] । इस रूपमें [अन्यथा कल्पना करके] वर्णित किया गया है । इसी प्रकार अन्य [रथलोपर भी] समझ लेना चाहिए ।

‘धर्म-कामार्थसफलम्’ इति सुगमत्वादुपेक्ष्य ‘साङ्कोपायदशासन्धि’ इत्यस्मा-
दङ्कपदं लक्षयति—

[सूत्र १६]—अवस्थायाः समाप्तिर्वा छेदो वा कार्ययोगतः ।

अङ्कः सविन्दु-दर्शयार्थः चतुर्यामो मुहूर्ततः ॥ १६ ॥

अवस्था वक्ष्यमाणाः प्रारम्भादिकाः पञ्च । तत्रान्यतमस्या अवस्थाया उप-
क्रम-निष्पत्तिभ्यां या समाप्तिः । असमाप्तायामप्यवस्थायां कार्यवशेन यो वा छेदः
खण्डनं सोऽङ्कः । कार्यं दूराध्वगमनादि एकाहाघटमानं भूयस्त्वादेकाहाशक्याभिनयं

शकुन्तला नाटकमे दुष्यन्तके द्वारा शकुन्तलाकी विस्मृति शीघ्र प्रत्यास्थान भी इसी प्रकारकी घटनाएँ हैं जिनकी अन्याया वल्पना द्वारा कविने अपने नायकके चरितको चमका दिया है । महाभारतमें जहाँसे कि शकुन्तलाका प्रास्थान लिया गया है—दुष्यन्त एक अत्यन्त सम्पन्न प्रकृतिका राजा है । जो मधुकरके समान नए-नए पुष्पोका रसास्वादन करनेका व्यवसायी है । इसी प्रसङ्गमें उसने वणवमुनिके माधममें उनकी अनुपस्थितिमें पहुँचकर शकुन्तलाके साथ सब कुछ किया और उसको अपने महलमें बुलानेका वचन देकरभी भूल गया । पर कालिदास ने इसकी दुष्यन्तका स्वाभाविक व्यापार न मानकर दुर्वासिके शापको उसका कारण माना है । कालिदासने अपनी इस प्रक्रिया द्वारा इसके कारण रूपमें दुर्वासिके शापकी वल्पना करके दुष्यन्तको न केवल सम्पन्नताके इस दोषसे ही बचा लिया है बल्कि शकुन्तलाका प्रत्यास्थान करवाकर उसे उच्चकोटिके आदर्शचरित्रके रूपमें चित्रितकर उसको धीरोदात्त नायकका रूप प्रदान कर दिया है ॥ १८ ॥

अङ्कलक्षण—

पाचवी कारिकामें ‘ख्याताधराजचरित’ भादिसे नाटकका लक्षण किया गया था । उसीकी विशेष व्याख्या आगे चल रही है । इसमेंसे केवल ‘ख्याताधराजचरित’ इस प्रथम पदकी ही विस्तृत विवेचना १८ वी कारिका तक की गई है । उस नाटक-लक्षणमें दूसरा पद ‘धर्मकामार्थसफलम्’ यह है । परन्तु यह पद बहुत सरल है इसलिए इसकी अलगसे विशेष व्याख्या न करके, अगले ‘साङ्कोपायदशासन्धि’ इत्यादिकी विशेष व्याख्या आगे प्रारम्भ करते हैं । इसमें सबसे पहला ‘अङ्क’ पद है इसलिए इस कारिकामें ‘अङ्क’ का लक्षण करते हैं ।

‘धर्मकामार्थसफलम्’ यह सरल [पद] है इसलिए उसको छोड़कर अगले साङ्कोपाय-
दशासन्धि’ इस [अगले विशेषण] मेंसे [प्रथम] ‘अङ्क’ पदका लक्षण करते हैं—

[सूत्र १६]—[कार्यकी प्रारम्भ आदि रूप] अवस्थाकी समाप्ति अथवा कार्यवश
[असमाप्त अवस्थाका भी] विच्छेद [जो अगले अङ्ककी कथाके बीज अथवा] विन्दुसे युक्त
शीघ्र [दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनटके] ‘मुहूर्त’ से लेकर चार प्रहर [बारह घण्टे] तकके दर्शनीय
अर्थसे युक्त हो वह ‘अङ्क’ कहलाता है [यह अङ्कका लक्षण हुआ] । १६ ।

अवस्था [पदसे] आगे कहे जाने वाली प्रारम्भ [यत्न प्राप्त्याशा] आदि रूप पाँच
हैं । उनमेंसे किसीभी एक अवस्थाका प्रारम्भ शीघ्र पूराता द्वारा समाप्ति [अङ्ककी निष्पत्ति]
होती है । उसको अङ्कमें दिखलाना चाहिए अथवा प्रसमाप्त अवस्थाका भी कार्यवशसे जो
बीचमें विच्छेद अर्थात् समाप्ति कर दो जाय वह [भी] अङ्क [का नियामक] है । ‘कार्य’ पदसे यहाँ

वा। तदशादवस्थाया अन्तराले यश्छेदः क्रियते सोऽप्यङ्क इत्यर्थः । एतावदङ्क-लक्षणम् ।

सविन्दुरिति सह विन्दुना वर्तते । विच्छिन्ननिर्वासुतार्थस्य उत्तराङ्गस्यानु-
सन्धानात्मा घृतसंक्षेप उत्तरत्र विस्तार्यमाणत्वादुदधे तेलविन्दुरिय 'विन्दु' । पूर्वो-
त्तरयोरङ्कयोरसम्बन्धार्थत्वं मा भूदिति पूर्वाङ्गस्यान्ते विन्दुनिबन्धनीयः ।

एक दिनमें न हो सकने वाले दूर-देशगमन आदि अथवा बहुत लम्बा होनेके कारण एक दिनमें जिसका अभिनय किया जाता सम्भव न हो [उसका ग्रहण होता है] । उसके कारण जो अथस्याका बीचमें ही विच्छेद कर दिया जाता है यह भी 'अङ्क' [का नियामक] है वह अभि-
माय है । इतनाही अङ्कका लक्षण है ।

[कारिकाके] 'सविन्दु' [अर्थात्] विन्दुसे युक्तः । [पूर्व अङ्कमें] विच्छिन्न विस्तृत अर्थ-
का अगले अङ्कमें सम्बन्ध दिखलानेवाला कथाका सूत्रम भाग, आगे विस्तार पानेके कारण
तेलविन्दुके समान 'विन्दु' [कहलाता] है । आगे-पीछे वाले अङ्क परस्पर असम्बन्ध न हो जायें
इसलिए पूर्व अङ्कके अन्तमें 'विन्दु' की रचना करना चाहिए ।

अगला श्लोक 'ताम्रसवत्सराजचरित' के तृतीय अङ्कमें अन्तमें दिया गया है । श्लोकमें
मुख्य रूपसे वृक्ष और छायाका वर्णन किया है । परन्तु उसमें नायक नायिकाके व्यवहारका
समारोप कर एक प्रकारका विशेष चमत्कार उत्पन्न कर दिया गया है । प्रातःकालके समय
सूर्यमण्डल बिल्कुल दितिजवा स्थिति सा करता हुआ होता है । इसलिए उस समय वृक्षकी
छायाका परिमाण बहुत लम्बा होता है । अर्थात् छाया बहुत दूर तक फैली होती है । उसके
बाद ज्यों ज्यों सूर्य ऊपर चढ़ता जाता है त्यों त्यों वृक्षकी छाया छोटी होती जाती है । अन्तको
दोपहरके समय वह बिल्कुल वृक्षके नीचे इकट्ठी हो जाती है । और वृक्ष उस सारीकी-सारी
छायाको अपने शरीरके भीतर समाविष्ट कर लेता है ।

वृक्षछायाकी इन स्थितियोंको कविने मानिनी नायिकाके व्यवहारके सदृश दिखलाया
है । मानिनी नायिका जैसे आरम्भमें अर्थाधक मान करके पतिसे रुठकर दूर चली जाती है
इसी प्रकार वृक्षकी छायामें आरम्भमें अर्थात् प्रातःकालके समय दीर्घ परिमाणको ग्रहण कर
दूर तक फैल जाती है । फिर जैसे मानिनी पश्चात्तापसे पीड़ित होकर साधवको प्राप्त होती
है अर्थात् मानको छोड़कर पतिके पास आती है इसी प्रकार ऊपर उठने हुए सूर्यका संताप
वृक्षकी छायाको अत्यंत छोटा बना देता है । और अन्तमें जब नायिका सर्वप्रथम नायककी
चक्षुर्वतिनी होकर उसकी गोदमें आ जाती है तब नायक उसको जैसे आलिङ्गन पाशमें बाँध
लेता है इसी प्रकार मध्याह्नमें वृक्ष श्रियाके समान अपने ही भीतर सम्पिण्डित छायाको सर्वा-
त्मना अपना लेता है । यह इस श्लोकका भाव है । इस प्रकार इस श्लोकमें कविने वृक्ष और
छायाके व्यवहारपर नायक नायिकाके व्यवहारका आरोप कर जिस व्यवहारको सूचित किया
है उसी प्रकारका व्यवहार नाटकमें चतुर्थ अङ्कमें नायक-नायिकाना पाया जाता है । इसलिए
अगले अङ्कके विषयका संक्षेपमें प्रतिपादक होनेसे हमको 'विन्दु' के उदाहरण रूपमें यहाँ
प्रस्तुत किया गया है । 'विन्दु' पदका प्रयोग यहाँ 'तेल विन्दु' के सादृश्यसे किया जा रहा
है । तेलका छोटासा विन्दु जैसे पानीम पडनेपर बड़ आकार में फैलता जाता है इसी प्रकार
'विन्दु' रूपमें कथित अर्थ अगले अङ्कमें विस्तृत रूपसे फल जाता है । इसीलिए उसको 'विन्दु'
कहते हैं । इसीका उदाहरण आगे देन ह—

यथा तापसवत्सराजे—

आदौ मानपरिग्रहेण गुरुणा दूरं समारोपितां
पश्चान् तापभरेण तानवकृता नीतां परं लाघवम् ।
उत्सङ्गान्तरवर्तिनीमनुगमान् सम्पिण्डिताङ्गोमिमां
सर्वाङ्गप्रणयं प्रियामिव तरुश्लयां समालम्ब्यते ॥”

इति तृतीयाङ्कममाप्तौ उत्तराङ्ककार्यानुसन्धायको विन्दुः ।

यथा वा नलखिलामे चतुर्थे स्वयम्बरराजे नेपथ्ये वन्दे—

विन्यस्याभिनवोदये श्रियमयं राक्षि प्रतापोज्जितो
यत्स्य व्यमनीव धूसरकरः सन्नुद्यदाशास्थितिः ।
निद्रायहललोचनां कमलिनीं सन्त्यज्य मध्येवर्नं
क्रामत्यम्बररजण्डमात्रविभवो देशान्तरं गोपतिः । इति ॥

जैसे तापस वत्सराज चरित्तमे—

प्रारम्भमें [छाया-पक्षमें प्रातःकाल और नायिका-पक्षमें मानके प्रादिमें] प्रबल मान [परिमाण और नलरो] को ग्रहण परबे दूर तक फँली हुई [छाया पक्षमें दूर तक फँली हुई और नायिका पक्षमें नायकसे दूर भागी हुई], मादको तनुताको प्राप्त कराने वाले सन्ताप [नायिका पक्षमें पश्चात्ताप और छायापक्षमें सूर्यके चढ़ाव] के प्राधिपत्यसे अत्यन्त लघुताको प्राप्त हुई, इसलिए [अनुगमान् अर्थात्] लोटकर अङ्गोंको समेटकर गोदमें समाई प्रियाके समान छायाको बुझ सब अङ्गोंसे प्रेम पूर्वक ग्रहण कर रहा है ॥

यहाँ तृतीय अङ्ककी समाप्तिमें अगले अङ्कका सम्बन्ध जोड़ने वाला 'विन्दु' रखा गया है ।

अथवा जैसे नलखिलासके स्वयम्बरराज्जु नामक चतुर्थ अङ्क [के अन्तमें] में नेपथ्यमें वन्दे [सन्ध्याकालमें सूर्यास्तका वर्णन करता हुआ निम्न श्लोक पढ़ रहा है । इस श्लोकमें श्लेषसे नलकी अवस्थाका भी वर्णन किया गया है] ।

[यहाँ 'गोपति' शब्द शिष्ट है । उसके दो अर्थ होते हैं एक राजा और दूसरा सूर्य । गो पृथिवीका नाम है । उसका पति अर्थात् राजा नल । और 'सूर्य' पक्षमें 'गर्वा किरणानां पतिः गोपति सूर्यदेव' इसी प्रकार प्रथम पादमें आया हुआ 'राज्ञि' राजा पद भी शिष्ट है । उसका एक अर्थ नलका विरोधी राजा, और दूसरा अर्थ चन्द्रमा है । अभी जिसका उदय हुआ है इस प्रकारके राजा [अर्थात् नल पक्षमें अपने विरोधी राजाको] यह अर्थ होता है । और सूर्य पक्षमें चन्द्रमाको अपनी लक्ष्मी [नल पक्षमें धन-सम्पत्ति और सूर्य पक्षमें तेज] देकर स्वयं प्रतापरहित, जुआ खेलनेके व्यवसायी [जुआरी] के समान मलिन किरणों [जुआरी पक्षमें करका अर्थ हाथ होगा] वाला बनकर, और [सन्नुद्यदाशास्थिति सूर्यके पक्षमें उसके अस्तोन्मुख हो जानेसे आशा अर्थात्] विशासोंकी मर्यादाको विलोप करता हुआ [जुआरी पक्षमें जिसकी आशाकी स्थिति बिल्कुल समाप्त हो गई है अर्थात् अपनी जीतसे बिल्कुल निराश हो चुका है इस प्रकारका 'गोपति.' अर्थात् राजा नल और] सूर्य [दोनों ही 'निद्रायहललोचनां सूर्य पक्षमें] जिसकी पखुरी-रूप आँखें मिची जा रही हैं इस प्रकारकी कमलिनीको [और नल पक्षमें सोती हुई बमयन्तीको । सूर्य पक्षमें मध्येवर्नं] जलके बीचमें [और नल पक्षमें जंगलमें]

इदं च पदमुपयोगापेक्षम् । तेन सर्वरूपकपर्यताङ्गेषु, एकाङ्गेषु च रूपेषु, सम्-
वकाराद्यङ्गेषु च उपयोगाभावाद् विन्दोरनिवन्धः ।

छोडकर केवल आकाशका एकदेश [अर्थात् पश्चिम भाग] ही जिसका विभव रह गया है [नल पक्षमे 'अम्बर-सण्डमाश्रयिभवं', जिसके पास केवल एक वस्त्र मात्र ही सम्पत्ति शेष है] इस प्रकारका 'गोपति.' [अर्थात् सूर्य और दूसरे पक्षमे राजा नल] देशान्तरको [अर्थात् सूर्य पक्षमे पाताल लोकको और नल पक्षमे अन्ध स्थानको] जा रहा है ।

यह श्लोकका साधारण अर्थ है । इसमें वैतालिक सन्ध्याकालीन सूर्यास्तके दृश्यका वर्णन कर रहा है । पर उनमे अगले अङ्कमे दिखलाई जाने वाली सम्पूर्ण घटनाका बीज-रूप से बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है । यह चतुर्थ अङ्क स्वयम्बरारूढ है । इसमे नलका दमयन्ती-के साथ विवाहका दृश्य दिखलाया गया है । अगले पङ्कमे नलकी द्यूतक्रीडा आदिका वर्णन है । नल द्यूतक्रीडामे राज-पाट सब कुछ हारकर वनमे चले जाते हैं । दमयन्ती भी उनके साथ जाती है । राजा नल वहाँ भूयसे व्याकुल होकर अपनी स्थितिसे विस्कुल निराश हो जाते हैं और अन्तमे वनमे जब दमयन्ती सो जाती है तो उसको अकेला छोडकर वही और भाग जाते हैं । इस सब घटनाक्रमको अगले अङ्कमे दिखलाया गया है । किन्तु यहाँ कवि ने वैतालिकके द्वारा किए जाने वाले चतुर्थ अङ्कके इस अन्तिम श्लोकमे उस सारे घटनाक्रमको श्लेष द्वारा सुन्दर रूपमे व्यक्त कर दिया है ।

नल जुएमे हारकर नवीन सम्पत्ति प्राप्त करने वाते विजयी राजाको अपनी सम्पत्ति अर्पण कर और स्वयं प्रताप-रहित होकर द्यूतव्यसनीके समान मलिन हाथ और सम्पूर्ण आनाप्राणोंका परित्याग कर अत्यन्त निराश होकर केवल एक कपडेका टुकड़ा ही जिनका वंशवशेष रह गया है इस प्रकारके गोपति अर्थात् पृथिवीपाल बनकर 'निद्रायहललोचना' कमलिनी-के समान दमयन्तीको वनमे अकेला सोता हुआ छोडकर किसी अन्य देशको चले जाते हैं यह अर्थ भी श्लेष द्वारा इस श्लोकसे सूचित किया गया है । इस प्रकार संक्षेपमे अगले अङ्ककी कथाका सूचक होनेसे यह अङ्कके अन्तमे पडा हुआ यह श्लोक 'विन्दु' का सुन्दर उदाहरण वन पडा है ।

इस प्रकार 'सविन्दु' पदसे, पूर्व अङ्कके अन्तमे अगले अङ्कमे आने वाली कथाका सम्बन्ध सूचित करनेकेलिए 'विन्दु' की रचना आवश्यक बतलाई गई है । जिस प्रकार पानीमे पडा हुआ तैलका विन्दु फैलकर विस्तीर्ण हो जाता है इसी प्रकार अङ्कान्तमे 'विन्दु' रूपसे जिस कथा-भागका संकेत किया जाता है वह कथा भाग अगले अङ्कमे विस्तृत होकर फैल जाता है । इसीलिए अङ्कान्तमे किए जाने वाले इस संक्षिप्त संकेतकेलिए यहाँ 'विन्दु' शब्दका प्रयोग किया गया है । यह विन्दु प्रत्येक अङ्कके अन्तमे आवश्यक हो यह आवश्यक नहीं है अपितु उपयोगकी अपेक्षासे ही उसकी रचना की जाती है । जहाँ उसका उपयोग नहीं हो सकता है वहाँ उसकी रचना आवश्यक नहीं है । जैसे नाटक आदिके अन्तिम अङ्कमे विन्दुका कोई उपयोग नहीं हो सकता है क्योंकि उसके आगे तो फिर कोई नया अङ्क आना ही नहीं है जिसमे उसका विस्तार हो सके । इसलिए अन्तिम अङ्कमे 'विन्दु' का संनिवेश नहीं किया जाता है । इसी प्रकार एकाङ्गी नाटकोमे भी दूसरा कोई अङ्क न होनेसे 'विन्दु' का कोई उपयोग नहीं होता है । इस बातको आगे लिखते हैं—

‘दृश्यार्थः’ इति दृश्या, रञ्जकत्वाद् दर्शनीया, अर्था नायकपरितोपभोग यत्र । चरितासाक्षात्कारे हि प्रेक्षकाणामव्युत्पत्तिः । सम्भोगासाक्षात्कारे च किमनेन महाक्लेशेनेति वैरस्यं स्यात् । शापावसानविवाहादयोऽपि रञ्जकत्वात् साक्षात्कार्याः । यथा उर्वरयाः शापोद्भवस्य लताभावस्य नाशः । दृश्याविनाभाविनौ सूच्यो-उद्धौ अप्यर्थो क्वचिद् भवतः । एतदङ्कस्य स्वरूपम् ।

यह [बिन्दु] पद उपयोगकी दृष्टिसे ही रखा गया है । इसलिए सारे रूपकोंके अन्तिम अङ्कमें, एकाङ्की रूपकोंमें और समवकार आदिके अङ्कोंमें उपयोग न होनेसे ‘बिन्दु’ की रचना नहीं की जाती है ।

अङ्कके लक्षणमें ‘सबिन्दु’ के बाद अगला ‘दृश्यार्थः’ पद है । इसलिए अगले अनुच्छेदमें उसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

‘दृश्यार्थः’ इससे [यह अभिप्राय है कि] दृश्य अर्थात् मनोरञ्जक होनेसे देखने योग्य अर्थ अर्थात् नायकके चरित और उपभोग जिसमें हीं [वह ‘दृश्यार्थः’ हुआ । इसमें चरित और उपभोग दोनोंका साक्षात्कार आवश्यक है । क्योंकि] चरितका साक्षात्कार न होनेपर देखने-वालोंको [रामादिवन् प्रवर्तित्यं न रावणादिवत् इस प्रकारकी] शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकती है । और सुन्दर भोगका साक्षात्कार न होनेपर [नायकके द्वारा उठाए गए] इस महान् फलेशसे क्या लाभ हुआ ऐसा अनुभव होनेसे [नाटक] नीरस हो जायगा । शापकी निवृत्ति और विवाह आदि भी रञ्जक होनेसे [अङ्कके भीतर] साक्षात् दिखलाने चाहिए । [अर्थात् उनका दिखलाना निषिद्ध नहीं है] । जैसे [विक्रमोर्वशीमें] उर्वशीके शापवदा प्राप्त हुए लता-भावकी निवृत्ति [दिखलाई गई] है । दृश्यके अविनाभूत होनेसे ‘सूच्य’ और ‘उद्ध’ अर्थ भी कहीं [अङ्कमें] हो सकते हैं । यह अङ्कका स्वरूप है ।

यहाँपर अन्वकारने ‘एतदङ्कस्य स्वरूपम्’ कहा है । इसके पूर्व ३६ पृष्ठ पर एतावदङ्कलक्षणम् यह लिख चुके हैं । अर्थात् अङ्कके लक्षणकी व्याख्या करते हुए एक जगह ‘एतावदङ्कलक्षणम्’ और दूसरी जगह ‘एतदङ्कस्वरूपम्’ यह लिखा है । इस दो प्रकारके लेखका विशेष प्रयोजन है । लक्षण दो प्रकारके माने गए हैं एक तटस्थ-लक्षण और दूसरा स्वरूप-लक्षण । जो स्वरूपके अन्तर्गत न होकर भी अन्वसे भेद कराने वाला हो उसको ‘तटस्थ-लक्षण’ कहते हैं । और जो स्वरूपके अन्तर्गत होकर अन्वसे व्यावृत्ति कराता है वह ‘स्वरूप-लक्षण’ कहलाता है । जैसे ‘जन्माद्यस्य यत्’ जिससे जगत्का जन्मादि अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है वह ब्रह्मा या ईश्वर है । इसमें जगत्का जन्मादि ईश्वर या ब्रह्मके स्वरूपके अन्तर्गत न होनेपर भी व्यावर्तक होनेसे ‘तटस्थ-लक्षण’ कहलाता है । और ‘सच्चिदानन्द ब्रह्म’ आदि ब्रह्मके ‘स्वरूप लक्षण’ होते हैं । इसी प्रकार यहाँ ‘अवस्थायाः समाप्तिर्वा छेदो वा कार्ययोगतः’ यह अङ्कना ‘लक्षण’ अर्थात् ‘तटस्थ लक्षण’ है और ‘सबिन्दु दृश्यार्थः’ यह अङ्कना ‘स्वरूप’ अर्थात् स्वरूप-लक्षण है । इस अभिप्रायसे ये दोनों पद लिखे गए हैं ।

इस प्रकार ‘अङ्क’ के लक्षण तथा स्वरूपका प्रतिपादन करनेके बाद अगले चरणमें अन्वकार ‘अङ्क’ के काल-परिमाणका निर्देश करते हैं । इसमें एक मूर्त अर्थात् दो घड़ी [४८ मिनट] से लेकर चार पहर [१२ घण्टा] तक अङ्कका काल-परिमाण बतसाया है । अर्थात् एक अङ्कका विस्तार उतना ही होना चाहिए जिसका अभिनय इस समयके भीतर

‘चातुर्यामो मुहूर्तताः’ इति मुहूर्तादारभ्य यामचतुष्टय यावत् । सर्वापकर्षेण घटिकाद्वयाभिनेय । सर्वोत्कर्षेण त्रिंशद्घटिकाभिनेय । मुहूर्तादप्यपकर्षे प्रयोगापरिपूर्णत्वेन, यामचतुष्टयादप्याधिक्ये आवश्यककर्मविरोधेन च प्रेक्षक प्रयोवृत्त्या वैरस्यं स्यात् । एतदङ्कस्यापकृष्टमध्यमोत्कृष्ट कालमानमिति ।

अमुना वृद्धमन्प्रदायायातेनाङ्गलक्षणेन वक्ष्यमाणनीत्या अङ्कसख्यापरिमाणमुपपद्यते । ये तु वृद्धमन्प्रदायमवधूय अङ्कमध्येऽप्यधस्था समापयन्ति तन्मतसप्रदार्थं उत्तरार्थमेव लक्षणम् । अत्र पुनरङ्कसख्यानियमकारणमपरमन्वेप्यमिति ॥१६॥

समाप्त हो सके । इसी बातको आगे कहते हैं—

‘चातुर्यामो मुहूर्तताः’ अर्थात् ‘मुहूर्त’ से लेकर चार पहर [जिसका अभिनय हो] । अर्थात् कमसे कम [मुहूर्त भर] दो घड़ी [४८ मिनट] में अभिनय करने योग्य । और अधिकसे-अधिक [चार प्रहर] तीस घड़ी [बारह घण्टे] में अभिनय करने योग्य । मुहूर्तसे भी कम [प्रयोगसमय] होनेपर प्रयोगके अपूर्ण रह जानेसे, और चार पहरसे भी अधिक [अभिनय] होनेपर [संघ्या बचन अदि] आवश्यक कार्योंमें विघ्न पड़नेसे देखने वालों और अभिनय करने वालों [दोनों] के लिए ही भ्रष्टचक्र हो जावेगा । यह [कालको दृष्टिसे] अङ्कका कमसे कम, मध्यम और सबसे अधिक काल परिमाण कहा है ।

यहाँ सबसे अधिक जो चार प्रहर अर्थात् बारह घण्टेका अभिनयका काल परिमाण लिखा है वह केवल एकाङ्की रूपको ही लागू हो सकता है । अनेक अंको वाले नाटक आदि में एक एक अंकका अभिनय चार प्रहरमें समाप्त हो यह बात तो बिल्कुल असंभव है । अतः उसे केवल एकाङ्की रूपको तब ही सीमित समझना चाहिए । मध्य काल परिमाण यद्यपि यहाँ लिखा नहीं गया है कि तु इनके बीचमें कहीं भी स्वयं समझा जा सकता है । इसलिए मध्यमका भी उल्लेख व्याख्याकारने कर दिया है । यूनतम परिमाण एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी या ४८ मिनटका माना गया है ।

पूर्वाचार्योंके मतानुसार परम्परासे आए हुए इस अङ्क-लक्षणसे आगे कही जाने वाली अङ्कोकी सख्याका परिमाण भी बन जाता है । जो लोग प्राचीन आचार्योंके मतको उपेक्षा करके अङ्कके बीचमें भी अवस्थाकी समाप्ति कर देते हैं उनके मतका सग्रह करनेके लिए उक्तार्थ ही सक्षर है । और इस मतमें अङ्कसख्याके नियमका कोई और कारण लौजना होगा ॥१६॥

नाटकोंको अङ्क सख्याका विषय

इस कारिकामें अङ्कके लक्षणसे अङ्कोकी सख्याके निश्चयकी बात कही है । उसका यह प्रभिप्राय है कि अवस्थाकी समाप्ति एक अङ्कमें हो करनी चाहिए अथवा कायवश उसका विच्छेद जहाँ होता है वह अङ्क कहलाता है । अर्थात् अङ्ककी रचना अवस्थाओंके प्राधारपर की जाती है । नाटकमें प्रस्तुत कायकी १ आरम्भ, २ यत्न ३ प्राप्ति ४ नियताप्ति और ५ फलागम ये पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं । उनका बणन आगे होगा । इनमेंसे समाप्त एक एक अवस्थाकी एक एक अंकमें पूर्यता होनेपर नाटककी समाप्ति पाँच अंकोंमें ही जानी चाहिए । यदि किसी अवस्थाकी पूर्तिमें दो अंक लग जाय तो नाटकके ६ अंक हो सकते हैं । दो अवस्थाओंमें दो दो अंक लग जाय पर सात या पाँचों अवस्थाओंमें दो दो अंक लग जाय

अथाङ्गस्य लक्षणशेषं संख्यापरिमाणमाह—

[सूत्र १७]—आवश्यकैवाधिरोध्यर्थः स्वल्पपात्रः सनिर्गमः ।

पञ्चसंख्योऽपकर्षेण दशसंख्यः प्रकर्षतः ॥२०॥

एकस्मिन्नेङ्के तावद्वचनतराणि बहूनि कार्याणि न निबन्धनीयानि । यत्रापि निबन्धन्ते तत्राप्यावश्यकस्य सन्ध्याचन्दन-भोजनादेरविरोधेन । सुष्ठु कार्योपयोगीनि अल्पानि संख्यया पात्राणि यत्र । तत्रोत्कर्षे दश, मध्यमगत्या अष्टौ, अपकर्षेण चत्वारि पञ्च वा पात्राणि । आविक्रये तु पात्रसम्मर्देनैव अभिनयचतुष्टय प्रेक्षकाणाम विभावनार्थं स्यात् । प्रभूतपुरुषसाध्यं पवतोद्धरणादि न रङ्गे दर्शनीयमित्युक्तं भवति । समवकारादौ तु बहुपात्रत्वेषुपि विरोधोपादानान्न दोष 'सनिर्गम' इति निगमो रङ्गप्रविष्टपात्राणां स्वकार्याणि कृत्वा निष्क्रमो जवनिकया तिरोधानम् ।

पर अधिकसे अधिक दस अक तक रखे जा सकते हैं । इस प्रकार नाट्यकोका कमसे-कम पाँच और अधिकसे-अधिक दस अकोके रखनेका विधान किया गया है । यह सब विधान अब स्थास्योको विभाजनका आधार मानकर ही किया गया है । इस बातका प्रतिपादन अगतौ कारिकामे करते हैं—

अब अङ्कके लक्षणके दोष भाग और सख्या-परिमाणको कहते हैं—

[सूत्र १७]—आवश्यक [सन्ध्या चन्दन-भोजन आदि कार्यों] में बाधा न डालनेवाला जिसका [अभिनेय] अर्थ है [इस प्रकारका], सुन्दर और परिमिति सत्पदा वाले पात्रोंसे युक्त तथा [अन्तमे सारे पात्रोंके] बाहर चले जाने [को दिखलाने] वाला कमसे-कम पाँच सख्या और अधिकसे अधिक दस सत्पदा युक्त अङ्क होता है । [यह १९-२० दो कारिकाओंको मिला कर अङ्कका लक्षण बनता है] । २० ।

एक अङ्कमें बीसके बहुतसे कार्योंका समावेश नहीं करना चाहिए । जहाँ कहीं करना ही पड़े वहाँ भी आवश्यक सन्ध्या चन्दन भोजनादि कार्योंमें बाधा न आने देना चाहिए । सुष्ठु, सुन्दर अर्थात् कार्यमें उपयोगी और मत्पदाकी दृष्टिसे 'अल्प'-कम पात्र, जिसमें हो [यह 'स्वल्पपात्र' हुआ] । इसमें [अर्थात् प्रत्येक अङ्कमें] अधिकसे-अधिक दस, मध्यम रूपमें आठ और और कमसे कम चार या पाँच पात्र होने चाहिए । अधिक [सख्या] होनेपर तो पात्रोंके भौड-भाडके कारण ही चारों प्रकारके अभिनय देखनेवालोंको ठीक तरहसे नहीं देख सकेंगे । इसका यह आशय भी हुआ कि बहुत अधिक पुरुषोंके द्वारा साध्य पर्वतका उठाना आदि कार्य रङ्गभूमिमें नहीं दिखलाने चाहिए । समवकार आदिमें तो अधिक पात्र होनेपर भी विदोष [अभिनयों] का ग्रहण हो सकने [में बाधा न होने] से दोष नहीं होता है । [अर्थात् समवकार आदिमें बसते अधिक पात्र भी अङ्कमें रखे जा सकते हैं] । 'सनिर्गम', अर्थात् रङ्गमें आए हुए पात्रोंका अपने कार्योंको करके बाहर चला जाना अर्थात् जवनिकाके पीछे चला जाना [जिसमें हो यह अङ्क कहलाता है] ।

समवकारादिमें दससे अधिक पात्र होनेपर भी 'विदोषोपादान दोष' अभिनयके विदोष रूपीका ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं होता है यह बात जो यहाँ नहीं है उसका कारण यह है कि समवकारमें देवताआ अथवा देव्यादिका अभिनय दिखलाया जाता है इसलिए उसका

'पञ्चसंख्य' इति अत्यन्तरतोक्ताया पञ्चाङ्गाः । सर्वोत्कर्षेण दश । मध्यमवृत्त्या षट्, सप्त, अष्टौ, नव । इत्यङ्कसंख्याया भेदा । यदा एकैकस्यामवस्थाया एकैकोङ्क-स्तदा पञ्चाङ्गाः । यदा तु कार्यवशेन काप्यवस्था उपक्रमोपसंहाराभ्यां छिद्यते तदा षट् । एक उपक्रमाङ्क, एक उपगमहाराङ्क । अपरावस्थाचतुष्टयस्य तु चत्वारः । एव कृत्वा अष्टौ नव च । सर्वावस्थाभेदे तु दशेति ।

यदापि कार्यबहुत्वात् काप्यवस्था त्र्यङ्का तदाप्युत्कर्षतो दशेव । एकस्या कस्याश्चिदेकाङ्ककरणात् । एकस्या चावस्थायामङ्कत्रय दृश्यते । यथा वेणीसंहारे गर्भसन्धौ प्राप्त्याशावस्थालक्षणे तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमा अङ्का । न्यूनत्वे त्वङ्कानामेकाङ्क-तापि स्यात् । तथा च पञ्च सन्धयो नोपसंहारयोगिन । आविश्ये पुनरुत्थितसंगत्यं स्यादिति मध्यमा वृत्तिराश्रीयते । नाटिका-प्रवरण्योस्तु चतुष्टयत्वम । कस्याश्चिदव-स्थाया अवस्थान्तरे मिश्रणादिति ॥२८॥

मण्डप भी सामान्य नाट्य मण्डपने बहुत बडा बनता है । इसलिए उसमें अभिनय अव्यक्त नहीं होता है । मानव-चरितका अभिनय प्रदर्शित करनेकेलिए जो मध्यम मण्डप बनता है उसमें अधिक पात्रोंके आ जानेपर अभिनय अव्यक्त हो जाता है । इसलिए नाटकादिमें दस पात्रोंके अधिक पात्रोंके एक साथ रहनेभूमिम घानेका निषेध है ।

'पञ्चाङ्क' 'पाँच अङ्क वाला' इससे कमसे कम पाँच अङ्क हों [यह अभिप्राय है] । सबसे अधिक दस [अङ्क हो सकते हैं] । मध्यम दशामे छ, सात, आठ या नौ तक अङ्कोंकी सख्याके भेद हो सकते हैं । जब [पूर्वोक्त पाँच अवस्थाओंमेंसे] एक-एक अवस्थाके लिए एक एक अङ्क हो तब पाँच अङ्क हुए । जब कार्यवश किसी अवस्थाका उपक्रम और उपसंहार [अलग-अलग दो अङ्कोंमें] बँट जाता है तब छ अङ्क हो जाते हैं । एक उपक्रमाङ्क । दूसरा उपसंहाराङ्क । और शेष चारों अवस्थाओंके चार अङ्क [मिलकर छ अङ्क हो जाते हैं] । पाँचों [सभी] अवस्थाओंके [उपक्रम उपसंहार रूपमें अलग-अलग अङ्कोंमें] बँट जानेपर तो [मिलाकर] दस अङ्क हो सकते हैं ।

और अब कार्यके प्राधिक्यके कारण किसी अवस्थामे तीन अङ्क हो जायें तो भी [सब मिलाकर] अधिक से-अधिक दस हो अङ्क होने चाहिए । [इसके लिए] किसी [अन्य] अवस्था में एक ही अङ्क करके [कुल सख्या दससे अधिक नहीं होनी चाहिए] । दस ही होने चाहिए । एक अवस्थामे तीन अङ्क भी पाए जाते हैं । जैसे वेणीसंहार में प्राप्त्याशा [रूप तीसरी अवस्था] से पुत्रत 'गर्भसन्धि' [नामक तृतीय सन्धि-भेद] में [नाटकके] तृतीय चतुर्थ और षष्ठम [तीन] अङ्क [लग गए हैं] । कम होनेपर तो एक अङ्क भी हो सकता है । किन्तु उससे पाँचों सन्धियोंका प्रदर्शन नहीं हो सकेगा । और [दससे भी] अधिक होनेपर सख्याकी कोई अवधि नहीं रहेगी इसलिए मध्यम पात्रोंका अवलम्बन करना उचित है । नाटिका और प्रकरणोंमें तो चार अङ्क होने चाहिए । किसी अवस्थामे दूसरी व्यवस्थाका मिश्रण पर देनेमें [पाँचके स्थानपर चार अङ्क हो जावेंगे] ॥२९॥

अथाङ्कानिवन्धनीयमाह—

[सूत्र १८]—अभिघातः प्रधानस्य नेतुर्ग्रन्थो न कुत्रचित् ।

बन्धः पलायनं सन्धिर्योज्यो वा फललिप्सया ॥२१॥

अभिघात शोणितहेतु प्रहारः । प्रधानस्य मुख्यस्य । तेन पताका प्रकरी-
नायकादीनां ग्रन्थत एव । कुत्रचिदिति विष्कम्भकादावपि । सामान्योक्तावप्यभि-
घातः परपरकृत । तेन यद्ग्रन्थाभि सत्यहरिश्चन्द्रे हरिश्चन्द्रेण देवतोपहारार्थस्वयं
स्वमांसोत्कर्तनं निबद्धं न तद् दोषाय ।

अङ्कोमे अदर्शनीय तत्त्व—

पिछली दो वारिकाग्रोमे अङ्कुका लक्षण करनेके बाद अब भगती वारिकामे ग्रन्थकार
यह दिखलाना चाहते हैं कि अङ्कोमे किन-किन बातोंको नहीं दिखलाना चाहिए । जिन बातों
का अङ्कोमे दिखलानेका निषेध है उनमें प्रधान नायकका 'अभिघात' सबसे मुख्य है । अभिघात
शब्दका अर्थ 'रक्त प्रवाहित कर देनेवाला प्रहार' किया गया है । प्रधान नायकका अभिघात तो
न केवल अङ्कोम अर्पितु विष्कम्भक आदिमें भी नहीं किसी प्रकार नहीं दिखलाना चाहिए ।
उसका बन्धन पलायन आदि भी सामान्य रूपसे नहीं दिखलाना चाहिए । किन्तु विशेष स्थिति
में यदि बन्ध आदिके द्वारा विशेष फलकी सिद्धि हो तब उनको प्रदर्शित किया जा सकता है ।
इसी बातको इस कारिकामे निम्न प्रकार लिखा है—

अब अङ्को मे न रखने योग्य [अर्थों] को कहते हैं—

[सूत्र १८]—प्रधान नायकका अभिघात [शोणित जनक प्रहार] कहीं भी [अर्थात्
अङ्कोमे तो नहीं ही दिखलाना चाहिए किन्तु उसके अतिरिक्त विष्कम्भक आदिमें भी नहीं
दिखलाना चाहिए । [प्रधान नायकका] बन्धन पलायन अथवा सन्धि [भी सामान्य रूप से
नहीं दिखलाना चाहिए किन्तु] विशेष फलकी प्राप्तिकी इच्छासे प्रदर्शित किया जा सकता
है । २१ ।

'अभिघात' अर्थात् रक्तको प्रवाहित करनेवाला प्रहार । प्रधान अथवा मुख्य [नायक]
का [नहीं दिखलाना चाहिए] इस [कथन] से पताका-नायक और प्रकरी-नायक आदि
[अमुख्य नायकों] का [अभिघात भी] ग्रन्थित किया ही जाता है [यह अभिघात है] ।
'कुत्रचित्' इससे विष्कम्भक आदिमें भी [नहीं दिखलाना या वर्णित करना चाहिए वह अभि-
घात है । अभिघात स्वकृत और परकृत दोनों प्रकारका हो सकता है । विशेष निर्देशके बिना]
सामान्य रूपसे कथित होनेपर भी यहाँ परकृत [का ही ग्रहण करना चाहिए] । इसलिए
हमने 'सत्यहरिश्चन्द्र' [नाटक] में देवताको उपहार रूपमें घटानेके लिए हरिश्चन्द्रके ही द्वारा
स्वयं अपने भासके काटनेका जो वर्णन किया है वह [परकृत अभिघात न होनेके कारण]
दोषाघायक नहीं है ।

इसमें प्रधान नायकके अभिघातका निषेध करते हुए वृत्तिग्रन्थमें पताका-नायक तथा
प्रकरी नायकके अभिघातकी अनुमति दे दी गई है । इन पताका और प्रकरी-नायकोंके लक्षण
आगे दिए जावेंगे । किन्तु इस प्रकारके अर्थको समझनेके लिए सक्षेपमें उनका ज्ञान आवश्यक
है । 'अर्थात् प्रातङ्गिकक वृत्त पताकेत्यभिधीयते' यह 'पताका' का लक्षण, और 'प्रातङ्गिक'

परेणापि विपक्षेण कृतो निविध्यते । तेन नागानन्दे गरुडकृताभिघातस्य जीमूतवाहनस्य साक्षात्करणं परोपकाराय सत्त्वाधिक्येन विशेषतो रसपुष्टिमावहति । योऽपि चास्माभी रघुबिलासे शक्तिसत्त्ववत्सो लक्ष्मणस्य प्रवेशः कृतः, मोऽपि न दोषाय । सीताऽऽनयनलक्षणफलसम्बन्धेन रामस्य मुख्यत्वात् । 'बन्ध' इति परैर्ब्रह्मणम् । यथा वामवदत्तानृतचारे वत्सराजस्य । पलायनमपसरणम् । यदाहु — 'अशक्ये सर्वमुत्सृज्यापगच्छेत्' । दृष्टा हि जीवत. पुनरावृत्तिर्यथा सुयात्रोदयनयो । इति । 'सन्धि.' सन्धानम् । तदुक्तम्—

“प्रवृत्तचक्रेणाक्रान्तो राज्ञा बलवताऽबलः ।

सन्धिनोपनमेत् तूर्णं कोश-दण्डात्मभूमिभिः ॥” इति ।

फललिप्सयेति—बन्धनादीनि तावन्न योज्यानि । यदि च योव्यन्ते तदा पर्यन्ते विशिष्टं फलमवेद्य, न पुनरेवमेवेति ॥२१॥

प्रवेशस्थ चरित प्रकरी मता' यह 'प्रकरी' का लक्षण है । अर्थात् प्रासङ्गिक किन्तु व्यापक चरित का नाम 'पताका' है जैसे राम प्रद-बोमे सुश्रीवका चरित रामके बाद व्यापक चरित है । अत उसका नायक सुश्रीव 'पताका नायक' माना जाता है । इसके विपरीत एकदेशस्थ प्रासङ्गिक वृत्तको 'प्रकरी' कहा जाता है जैसे जटायुवा वृत्तान्त रामायणमे 'प्रकरी' चरित है । उसका नायक जटायु 'प्रकरी-नायक' है । उसका अभिघात और बध तक भी दिखलाया जा सकता है और दिखलाया भी गया है ।

[परकृत अभिघातमे भी] 'पर' शब्दसे शत्रुके द्वारा किया गया [अभिघात] ही निषिद्ध है । इस लिए नागानन्दमे गडके द्वारा अभिघात किए हुए [रक्त प्रवाहित होते हुए] जीमूत-वाहनके साक्षात्कारसे परोपकारके प्रबल उत्साहके कारण रसकी विशेष रूपसे पुष्टि होती है । [इस लिए वह दोषाघायक नहीं है] । और हमने भी रघुबिलासेमे जो छातीमे शक्ति लगे हुए लक्ष्मणका [रङ्गमञ्चपर] प्रवेश कराया है वह दोषाघायक नहीं है । क्योंकि सीताके धापस लाने रूप फल सम्बन्धके कारण राम मुख्य [नायक] है । [लक्ष्मण मुख्य नायक नहीं है] । अत उनका अभिघात प्रदर्शित करना दोषाघायक नहीं है । कारिकामे आए हुए 'बन्ध' [पदका अर्थ] दूसरो के द्वारा परुडा जाना है । जैसे वासवदत्ताकी नृत्यशालामे वत्सराजका [बन्धन दिखलाया गया है यह विशेष फलकी सिद्धिका जनक होनेसे दोषाघायक नहीं है] । पलायनका अर्थ [पुढादिते] हट जाना है । जैसाकि [उसके श्रीचित्रको दिखलानेकेलिए] कहा गया है 'असमर्थ हो जानेपर सब कुछ छोडकर चला जाये' । क्योंकि जीवित रहते फिर घापिस धाना देखा जाता है । जैसे सुयात्र और उदयनका । [इस लिए जीवन-रक्षाके लिए अनिवार्य होनेपर पलायन भी उचित है] । 'सन्धि' अर्थात् मेल कर लेना । जैसाकि [उसका श्रीचित्र दिखलाते हुए] कहा है—

[जिसका चक्र चल रहा है उस] प्रभावशाली बलवान् राजाके साथ दुर्बल राजा कोश दण्ड और अपनी भूमि आदिके द्वारा सधि कर ले ।

'फललिप्सया' इसका यह अभिप्राय है कि [तामान्यत] बन्ध आदिभी योजना नहीं करनी चाहिए किन्तु यदि योजनाकी ही जाय तो अन्तमे किसी विशेष फलको देखकर ही की जाय, ऐसे ही नहीं ॥२१॥

अथ विष्कम्भमादीनां लक्षणं कथयथाथं श्रद्धावर्णनीयं विष्कम्भकादिभिर्वर्णनीयमित्याह—
[सूत्र १६]—दूराध्वयानं पूरोधो राज्य-देशादिविप्लवः ।

रतं मृत्युः समीकादि वर्ण्यं विष्कम्भकादिभिः ॥२२॥

दूराध्वयानमिति । मुहूर्तत्रिक-चतुष्कसाध्यं देशान्तरगमनं शक्यत्वादङ्केऽपि
दर्यते । यत् पुनरधिककालसाध्यं तदशक्यत्वात् विष्कम्भकादिभिरेव वर्ण्यम् ।
विश्रान्तिस्थान-शयन-पान-भोजनादीनां बहूनाभरञ्जकप्रियाणां प्रसङ्गान् । सम-
वकारादौ तु दूराध्वयानदर्शनेऽपि न दोषः । दिव्यस्य गगनक्रमणसामर्थ्यात् ।

विष्कम्भकादि-प्रयोग—

नाटकादिमे 'दृश्य', 'सूच्य' तथा 'ऊह्य' तीन प्रकारके अर्थ होते हैं इस बातका उल्लेख
वृत्तिकार ११ कारिकावे वृत्तिभागमे कर चुके हैं । इनमेसे जिन अर्थोंको नाटकमे साक्षात्
अभिनय द्वारा दिखलाया जाता है वे 'दृश्य' अर्थ कहलाते हैं । नाटकादिका अधिकांश भाग
'दृश्य' ही होता है । उसका नाम ही 'दृश्य वाच्य' है । किन्तु कुछ भाग ऐसा भी होता है
जिसको अभिनय द्वारा दिखलाना न सम्भव हो सकता है और न कविको अभीष्ट हो सकता
है । ऐसे अर्थोंको कवि अन्य रूपमे कहलवाकर सूचितमात्र करता है । उनको 'सूच्य' अर्थ
कहते हैं । इन 'सूच्य' अर्थोंमे प्राय दो प्रकारके अर्थ आते हैं, एव नीरस और दूसरे प्रति
विस्तीर्ण एव अनुपयोगी । रामादिके जीवनके मुख्यभागोंको ही अभिनय द्वारा प्रदर्शित किया
जाता है । छोटी छोटी बातोंको अभिनय द्वारा दिखलानेसे नाटकका बहुत विस्तार हो जायगा
इसलिए उन अर्थोंको पानोंके वातालाप द्वारा सूचित कराया जाता है । इसी प्रकार नीरस अर्थ-
की भी सूचनामात्र दी जाती है । उन अर्थोंको 'सूच्य' अर्थ कहते हैं । और उनके लिए नाटकमे
अङ्गुलिसे भिन्न विशेष भाषणोंकी रचना की जाती है । उन भाषणोंका सामान्य नाम 'अर्थोपक्षेपक'
है । ये 'अर्थोपक्षेपक' पाँच प्रकारके माने गए हैं । जिनको क्रमशः १ विष्कम्भक, २ प्रवेशक,
३ चूलिका, ४ अङ्गुलि, और ५ प्रकावतार कहते हैं । इन्हींके लक्षण करनेकेलिए अर्थकार
इन विष्कम्भक आदिके द्वारा सूचनीय अर्थोंकी चर्चा इस कारिकामे निम्न प्रकार करते हैं—

अथ विष्कम्भक आदि [पाँच प्रकारके अर्थोपक्षेपकों] के लक्षण करनेकेलिए अङ्गुलि
अवलंभीय [सूच्य-भाग] को विष्कम्भकादिके द्वारा वर्णन [अर्थात् सूचन] करना चाहिए इस
बातको कहते हैं—

[सूत्र १६]—दूर वेतको गमन, नगरावरोध, राज्य तथा देशादिका विप्लव सम्भोग,
मृत्यु, भङ्गच्छेद आदि [अङ्गुलि न दिखलाने योग्य अर्थों] को 'विष्कम्भक' आदिके द्वारा वर्णन
करना चाहिए । २२ ।

'दूर मार्गका गमन' इसका यह अभिप्राय है कि तीन-चार मुहूर्तमे जिसको समाप्ति
हो सके इस प्रकारका देशान्तर-गमन तो सम्भव होनेसे अङ्गुलि भी दिखलाया जा सकता है ।
किन्तु जो अधिक कालमे समाप्त हो वह [अङ्गुलि दिखलानेके] अशक्य होनेसे विष्कम्भक आदि
के द्वारा ही वर्णित किया जाना चाहिए । क्योंकि उसमे दूरनेका पडाव, कपन, पान, भोजन
आदि बहुत सी अरञ्जक प्रियाणोंका समावेश होगा । समवकार आदिमे तो दूर मार्गकी
यात्राके दिखलानेमे भी दोष नहीं है क्योंकि वेतारणमे आकाश-गमनकी सामर्थ्य होती है ।

नगररोधोऽप्येवमेव, सेनाया. पर्यकुटी-यन्त्र-सुरङ्गादिदानव्यापाराणां च बाहुल्यात् । राज्य-देशादिभ्रंशोऽपि पतन-मरणादिसम्भवात् तथैव । रतामिति आलिङ्गन चुम्बनादि घ्नोडादायत्वादेवमेव । तेन तदनुकूलानि रद्द-प्रवेश-वर्मावस्था-दीन्यङ्केऽपि दर्शयन्ते । मृत्युः प्राणनिर्गम एव । समीकं हस्त-पादादिरुद्धे प्रथ । तेन नागानन्दे जीमूतवाहनस्य क्षणभावित्वात् इन्द्रियवैकल्यादीनां, रघुविलासे च रावणस्य विभीषणं प्रति माटोपं चन्द्रहासप्रहणस्याङ्केऽप्यविरोधः । आदिशब्दादपरमपि प्रभूतकाल-क्लेशसाध्यं घ्नोडातङ्कदायि च गृह्यते । आदिशब्देन प्रवेशक-अङ्गाभ्य-चूलिकाङ्कावनाराणां ग्रहणमिति ॥२२॥

नाटकमे 'दूराध्वयान' अर्थात् अधिक लम्बी यात्राको अङ्को द्वारा दिखलानेका निषेध किया गया है । इनका कारण यह है कि अधिक लम्बी यात्रामे रास्तेमे ठहरनेकेलिए पडावो, उनमे होने वाले भोजन, पान रायन सभी व्यापारोको दिखलाना आवश्यक होगा । यह सब एक तो अत्यन्त नीरस हो जायगा और दूसरे सम्बा भी अधिक हो जायगा । इसलिए नाटकमे उसत्रो प्रत्यक्ष दिखलानेका निषेध कर अर्थापक्षेपकोके द्वारा सूचित मात्र करनेका विधान किया गया है । किन्तु 'समवकार' आदि रूपकभेदोमे दूराध्वयानका अङ्कोमे दिखलानेका भी निषेध नहीं किया गया है । इसका कारण यह है कि 'समवकार'मे देवादिके चरित्रका प्रदर्शन किया जाता है । उन देवताओमे आवाश गमनकी सामर्थ्य होती है अतः उसमे धीचके पडाव, आदिसम्बन्धी व्यापारोके दिखलानेकी आवश्यकता न रहनेसे न नीरसता आती है और न दीर्घता ।

नगरावरोध भी इसी प्रकार [नीरस व्यापारोसे पूर्ण होनेके कारण दिखलाया नहीं जा सकता] है । [अर्थात् उसमे] सेनाके [ठहरनेकेलिए] पर्यकुटी [डैरा या भोंपडी] यन्त्र मुरग लगाने आदि व्यापारोको बाहुल्य होता है । राज्य वेदादिका विप्लवभी पतन-मरण आदि [अनेक प्रकारके नीरस और अशोभनीय व्यापारों] की सम्भावनासे पूर्ण होनेके कारण उसी प्रकारका [अर्थात् नाटकमे न दिखलाकर केवल सूचित करने योग्य] है । सम्भोग भी आलिङ्गन चुम्बन आदि सज्जाजनक [व्यापारोसे परिपूर्ण] होनेके कारण उसी प्रकारका [अर्थात् रङ्गमञ्चपर न दिखलाने योग्य] है । इसलिए उस [मुरत-सम्भोग] के लिए अनुकूल एतन्त-स्थानमे प्रवेश और यद्योक्त आदि तो अङ्कोमे भी दिखलाए जाते हैं [किन्तु उसके प्रागे जहाँसे आलिङ्गन-चुम्बनादि प्रारम्भ होता है उस भागको घोडाशायक होनेमे अङ्कोमे रङ्गमञ्चपर दिखलाना निषिद्ध माना गया है] । मृत्युसे प्राण निवृत्त जानेका ही पटल होना है । 'समीक' का अर्थ हाथ-पैर आदिका काटना ही है । इसलिए नागानन्दमे जीमूतवाहनका क्रुद्ध समय होने पाला इन्द्रिय-वैकल्य आदि, और रघुविलासमे रावणका विभीषणके प्रति श्रेय करके तलवारका पटल [मृत्यु अर्थात् प्राणविमोचन अथवा समीक अर्थात् हाथ-पैरके देवन तक न पहुँचनेसे, दिगलताया जानेपर] भी दोषापायक नहीं है । [समीकादि मे प्रयुक्त] 'आदि' शब्दसे प्रभूत करन और प्रभूत बनेशसे साध्य तथा घोडाशायक आदि अथ अर्थात् भी पटल होता है । [और विष्णुभवादिभि मे प्रयुक्त] 'आदि' शब्दमे प्रवेशक, अङ्गाभ्य, चूलिका और अङ्गावनार [अथ दोष चारों अर्थापक्षेपको] का भी पटल होता है । [अर्थात् मुख्य अर्थ से इन पाँच प्रकारके अर्थापक्षेपको] द्वारा ही सूचित करना चाहिए । साक्षात् अपने नहीं दिखलाना चाहिए ॥२२॥

अथ प्रथम विष्कम्भक शुद्धाशुद्धभेदं लक्षयति—

[सूत्र २०]—अङ्कानर्हस्य वृत्तस्य त्रिकालस्यानुरञ्जिना ।

संक्षिप्य संस्कृतेनोक्तिरङ्कादौ मध्यमैर्जनैः ॥२३॥

शुद्धो विष्कम्भकस्तत्र सङ्कीर्णो नीच-मध्यमैः ।

अङ्कसन्धायकः शक्यसन्धानातीतकालवान् ॥२४॥

विष्कम्भकलक्षणम्—

पिछली कारिकामे ग्रन्थकारने नाटकके अङ्कमे जिन बातोका साक्षात् रूपसे दिखलाना वञ्चित है उनका उल्लेख किया था । इनमेसे दूराध्वयान आदि कुछ कार्य प्रभूतकाल साध्य या प्रभूत श्रमसाध्य होनेसे, कुछ कार्य ब्रीडादायी होनेसे, और कुछ कार्य आतङ्कदायी होनेके कारण अङ्कानर्ह अङ्कमे साक्षात् रूपसे दिखलानेके अयोग्य माने गए हैं । परन्तु क्याभागकी सङ्गति बनाए रखनेके लिए इन भागोंकी भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती है । इसलिए प्रेक्षकोंको इन क्याभागोंसे परिचित करानेके लिए 'विष्कम्भक' आदि पाँच प्रकारके 'अर्थोपक्षेपको' की रचनाकी व्यवस्था नाट्यशास्त्रम की गई है । इन 'अर्थोपक्षेपका' मे सबसे मुख्य 'विष्कम्भक' है । इसलिए अगली दो कारिकाओंम ग्रन्थकारने 'विष्कम्भक' का लक्षण निम्न प्रकार किया है ।

अथ [पाचो 'अर्थोपक्षेपको' मे] सबसे पहले शुद्ध और अशुद्ध भेद वाने [दो प्रकारके] 'विष्कम्भक' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र २०]—[अथ] उन [पाचो प्रकारके 'अर्थोपक्षेपको'] मेसे [भूत भविष्यत् और वर्तमान] तीनों कालोंके [अङ्कानर्ह] अङ्कमे न दिखलाने योग्य वृत्त [कथाभाग] को अङ्कके प्रारम्भमे संक्षिप्त करके मध्यम पात्रोंके द्वारा संस्कृतमे कहलानेको 'शुद्ध विष्कम्भक' [कहते हैं] और नीच तथा मध्यम पात्रोंके द्वारा [संस्कृत तथा प्राकृत भाषामे कहलानेका वृत्त] सङ्कीर्ण [विष्कम्भक कहलाता] है । [शुद्ध और सङ्कीर्ण दोनों प्रकारका विष्कम्भक] अङ्क [के प्रतिपाद्य विषयकी सङ्गति] को जोड़ने वाला [अथवा दो अङ्कोंके बीचके कथाभागकी सङ्गतिको जोड़ने वाला 'अङ्कसन्धायक' होता है] और जितने कालकी स्मृति सम्भव हो उल्लेख अतीतकाल [की स्मृति कराने] वाला [अथवा अतीतकालके लक्षण] होता है ॥२३-२४॥

ग्रन्थकारने यह 'विष्कम्भक' का लक्षण किया है । लक्षणकी रचनाशीली कुछ प्रसष्ट-सी प्रतीत होती है । इसलिए उसको ठीक तरहसे समझनेके लिए विशेष प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है । इस लक्षणमे निम्न बातें समाविष्ट की गई हैं—

१. विष्कम्भकम अङ्कानर्ह अर्थात् जिसका नाटकके अङ्कमे दिखलाना उचित नहीं है उन्ही बातोंका समावेश किया जाता है ।
२. उस अङ्कानर्ह भागको मध्यमपात्रोंके द्वारा अथवा नीच और मध्यम दोनों प्रकार के पात्रों द्वारा कहलाया जाता है । केवल मध्यम पात्रोंके द्वारा कहालाया जाने पर 'शुद्ध विष्कम्भक' तथा नीच मध्यम द्विविध पात्रों द्वारा कहालाए जानेपर 'सङ्कीर्ण विष्कम्भक' होता है ।
३. विष्कम्भकमे अर्थकी सूचना देने वाले पात्रोंकी भाषाका भी उल्लेख किया है

अरक्षकं च, रक्षकमपि एकदिनाशक्याभिनयं च, प्रेक्षकैःमात्तादनुपलभ्यमानं 'अङ्कानर्हम्' । 'त्रिकालस्य' वृत्तवत्सर्वद्व-वर्तमानकालस्य । अनुरक्षिनेति असमस्तेन अदीर्घसमासेन च प्रमन्नेन । 'संक्षिप्य' विततमपि उत्तराङ्कमन्धानोपयोग्येव कृत्वा । संस्कृतेनेति शुद्धविष्कम्भभाषेक्षम् । सङ्कीर्णं तु संस्कृतेनासंस्कृतेनापि च, नीचपात्रस्यापि तत्र भावात् ।

अङ्कादाविति प्रथमेऽङ्के आमुर्यादूर्ध्वम्, अन्येषु पुनरारम्भे इति यावत् सर्वं समापनन्ति । कोद्वल पुनरेतं प्रथमाङ्कादावेवेच्छति ।

किन्तु उसमे केवल शुद्धविष्कम्भकके पात्रोकी भाषा सस्कृत होती है । सङ्कीर्णं विष्कम्भकमें जो मध्यम पात्र हों वे ही संस्कृत बोलते हैं और नीच पात्र प्राकृत भाषाका ही अवलम्बन करते हैं । टीकामे तो इस भेदका उल्लेख किया गया है किन्तु मूलमे उसको उल्लेख न होनेसे ग्रथं स्पष्ट नहीं हो पाता है ।

४ 'अङ्कसन्धायक' तथा 'शक्यसन्धानातीतकालवान्' ये दो पद जो सक्षणमे रखे गए हैं वे अधिक अस्पष्ट हैं । 'अङ्कम-धायक' का अभिप्राय यह है कि विष्कम्भक दो अङ्कोंके बीचके कथाभागको जोड़कर बधामुत्रको अविच्छिन्न बनाता है । और 'शक्यसन्धानातीतकालवान्' का अभिप्राय यह है कि अतीतकालकी जिन घटनाओका उल्लेख उसमे किया जाता है वे घटनाएँ बहुत अधिक पुरानी नहीं होनी चाहिए । केवल उतनी पुरानी हों जिनका स्मरण सामान्य रूपसे मनुष्यको रह सकता है ।

५ पांचवी बात यह है कि विष्कम्भककी रचना अङ्कके आरम्भमे ही की जाती है । अन्तमे या बीचमे नहीं । 'अङ्कादी' का यह भी अभिप्राय है कि यह विष्कम्भक प्रथम अङ्कमे भी रखा जा सकता है । किन्तु वही यह आमुखके बाद ही आ सकता है जसके पहले नहीं । अग्य अङ्कमे अथवा आरम्भमे होता ही है ।

इन्ही सब बातोंको लेकर व्याख्याकार इन श्लोकोंकी व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं—

[अरक्षकं अर्थात्] नीरस, अथवा सरस होनेपर भी [अत्यन्त विस्तीर्ण होनेके कारण] जिसका अभिनय एक दिनमे करना सम्भव न हो [इतोलिए] प्रेक्षकोंको साक्षात् [अभिनय द्वारा] न दितलाया जाने वाला [बधामाग] अङ्कानर्हं [अथमे न दितलाने योग्य] है । तीनों कालका अर्थात् भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकालका । 'अनुरक्षिना' [संस्कृतेन] इससे सर्वथा समाप्त-रहित अथवा छोटे-छोटे समाप्तो वाले सरल [प्रसन्न] संस्कृतके द्वारा । 'संक्षिप्य' अर्थात् विस्तीर्ण [बधामाग] को भी अगले अथवा सम्बन्ध जोड़ने मात्र [संक्षिप्त] बना कर [बहु-साना] । 'संस्कृतेन' [संस्कृत भाषाके द्वारा कहलाना] । यह केवल शुद्ध-विष्कम्भककी दृष्टिमे कहा गया है । सङ्कीर्णं [विष्कम्भक] मे तो संस्कृत और [प्रसंस्कृत अर्थात्] प्राकृतमे भी [अर्थात्] दोनों भाषाओंके द्वारा वृत्त कहलाया जाना है] क्योंकि उसमे नीच पात्र भी होने हैं [वे संस्कृत नहीं बोल सकते हैं] अतः वे प्राकृत भाषामे भाषण करते हैं और जो मध्यम पात्र होने हैं वे संस्कृतभाषामे । इस प्रकार सङ्कीर्णं विष्कम्भकमे संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओंका उपयोग होता है ।

'अङ्कादी' अङ्कके आरम्भमे इतना [एतं अभिप्राय है कि] प्रथम अङ्कमे [आमुख अर्थात्] प्रस्तावनाके बाद, और दोय अङ्कमे अङ्कके आरम्भमे ही [विष्कम्भककी रचना होना चाहिए]

मध्यमैरिति अमात्य-सेनापति वशिष्ठ-विप्रादिभिः । न पुनर्देवी कुमार-
नायक-प्रतिनायकादिभिः । मध्यमत्वं चैषा राजापेक्षया । राजपरिजनापेक्षया तु
तेऽपि प्रधानम् । जनैरिति पुम्भिः, स्त्रीभिः, स्त्री-पुं सैश्च, सामान्यवाचित्वात् । बहु-
वचनमतन्त्रम् । तेनैकेनापि स्वगतेनाकाशोक्त्या च निबध्यते । जनैरिति सामान्य-
निर्देशादेव च शुद्धविष्कम्भे स्त्रिया अपि संकृतेनैव पाठः । शुद्धो नीचाप्रवेशात् ।
विष्कम्भनाति अनुसन्धानेन वृत्तमुपपद्यते इति विष्कम्भकः ।

तत्रेति विष्कम्भादिषु पञ्चसु मध्यात् द्विभेदत्वेन विष्कम्भको निर्धार्यते । अथ
सङ्कीर्णो नीचस्यापि प्रवेशात् । नीचा दास-चेष्ट्यादयः । 'अट्टसन्धायक' इति अट्टस्य

यह बात [नाट्यशास्त्रके] सब [आचार्य] मानते हैं । किन्तु कोहल [नामक नाट्याचार्य] इसको
केवल प्रथम अट्टके आरम्भमे ही मानते हैं ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि भरत आदि मन्थ सब नाट्याचार्योंके मतमे नाटकके
किसी भी अट्टके आवश्यकतानुसार विष्कम्भकवा प्रयोग किया जा सकता है । किन्तु केवल
इतना ध्यान रखना है कि जब कभी भी विष्कम्भकका प्रयोग किया जाय वह सदा अट्टके
आरम्भमे ही होना चाहिए । बीचमे या अन्तमे नहीं । किन्तु कोहलाचार्यका मत इससे भिन्न
है । उनका यह कहना है कि विष्कम्भकका प्रयोग केवल प्रथम अट्टके आरम्भमें ही किया
जा सकता है । अन्य अट्टके उसका प्रयोग नहीं हो सकता है । या फिर अट्टके मध्य अथवा
अन्तमे कही भी किया जा सकता है ।

'मध्यमे.' इस पदसे अमात्य सेनापति वशिष्ठ विप्र आदिके द्वारा [यह अर्थ करना चाहिए] ।
महारानी, राजकुमार, नायक, 'प्रतिनायक' आदिके द्वारा [यह अर्थ] नहीं [लिना चाहिए] ।
इन [अमात्य सेनापति आदि] का [भी] मध्यमत्व राजाकी दृष्टिसे है । राजाके अन्य सेवकों
की अपेक्षसे तो वे भी प्रधान हैं । 'जनं' इस पदसे [पदके] सामान्य-वाचक होनेसे पुष्पके
द्वारा, अथवा स्त्रियोंके द्वारा, अथवा स्त्री और पुरुष दोनोंके द्वारा यह अर्थ ग्रहण [करना
चाहिए] । इससे] बहुवचन प्रविद्यमान है । [अर्थात् बहुतेरे पात्र ही प्रयुक्त किए जायें यह इत
बहुवचनान्त 'जनं' पदका अभिप्राय नहीं है] । इसलिए 'स्वगत' अथवा 'आकाशभाषितके
रूपमे एक पात्रके द्वारा भी [अपेक्षित अर्थको कहला कर विष्कम्भकका] प्रयोग किया जाता
है । 'जनं' इस सामान्य निर्देशके कारण ही शुद्ध विष्कम्भकमे स्त्रियोंके द्वारा भी साङ्गते
ही पाठ किया जाता है । [इसका अभिप्राय यह है कि सामान्य रूपसे स्त्रियोंके मुखसे प्राकृत
भाषाका ही प्रयोग नाटकीमे कराया जाता है किन्तु शुद्ध विष्कम्भकमे यदि कोई मध्यम स्त्री-
पात्र हो तो उसको साङ्गते भाषण कराया जा सकता है] । शुद्ध [विष्कम्भक] नीच [पात्रों]
का प्रवेश न होनेसे [ही शुद्ध कहलाता] है । [प्रागे विष्कम्भक साङ्गका नियंजन दिखलाते हैं]
'विष्कम्भनाति' अर्थात् स्मृतिके द्वारा कथाभागको [जोड़कर] पुष्ट बनाता है इसलिए [उसको]
'विष्कम्भक' कहा जाता है [यह विष्कम्भक साङ्गका अवधारण है] ।

'तत्र' इससे 'विष्कम्भक' आदि पाँच [अर्थोपशेषकों] के मध्यमेंसे [शुद्ध तथा सरीलं
रूप] दो भेद घाता 'विष्कम्भक' अलग निर्धारण किया गया है [यह बात 'तत्र' पदसे सूचित
की है] । 'सप्तम्याद्यम्' सूत्रसे सप्तमीके अर्थमे प्रसू-प्रत्यय करके 'तत्र' शब्द बना है । और
'पतञ्ज निर्धारणम्' [जिगते कितो वरुणो पुन वर अलग किया जाय उस निर्धारणमे सप्तमी

अद्धार्यम्य मन्धायक संसूचकः प्रथमाद्भवावी । अद्ध्योरद्धार्ययोः सन्धायकः पुनरद्ध्ययान्तरालभावी । शक्यं सन्धानमनुस्मरणं यस्यासौ शक्यसन्धानः । स चासापतीतकालो वृत्तोऽर्थगतद्वान् विष्कम्भको भवति । इह तावत् पुरुषप्रज्ञापेक्षया विष्कम्भकार्यं कालो निबध्यते । रामयुधिष्ठिरादयो हि चिरातीतमप्यर्थमनुसन्दधतीति म तथैव निबध्यते । ये तु प्राकृता स्तोककालमेवार्थमनुसन्दधते तदर्थस्तथैव निबध्यनीय । कामफले तु नाटके वर्षैकवृत्तमेव निबध्यते । परत संस्कारविच्छेदात् । वयोऽतिवृत्तश्चेति ॥२३-२४॥

विभक्ति होती है । अतः यहाँ सप्तमो विभक्तिके द्वारा बने 'तत्र' पदसे निर्धारण—छाँटना—अलग करना सूचित होता है यह अभिप्राय है । आगे सङ्कीर्ण [विष्कम्भको] नीच [पात्रों] का भी प्रवेश होनेसे [सङ्कीर्ण विष्कम्भक] कहते हैं । नीच अर्थात् दास-दासी आदि । 'अद्ध्यसन्धायक' इससे [दो अर्थ निकलते हैं । एक तो यह है कि] अद्ध्यका अर्थात् एक अद्ध्ये अर्थका सन्धायक अर्थात् संसूचक । इस प्रकारका [एक अद्ध्यका अर्थात् एक अद्ध्ये सम्बद्ध अर्थका सूचक जो विष्कम्भक होता है वह] प्रथम अद्ध्येके आरम्भमें ही होता है । [अद्ध्यसन्धायक' का दूसरा अर्थ यह भी है कि] दो अद्ध्येका अर्थात् दो अद्ध्येके अर्थों का सन्धायक अर्थात् सम्बन्ध कराने वाला [जोड़ने वाला] वह दो अद्ध्येके बीचमें [अर्थात् उत्तरवर्ती अद्ध्येके आरम्भमें] होता है । [आगे 'शक्यसन्धानातीतकालवान्' पदका अर्थ उसको दो भागमें विभक्त करते हैं । पहले 'शक्यसन्धान' इस भागका अर्थ करते हैं] जिसका सन्धान अर्थात् अनुस्मरण हो सकता है [उतना अतीतकाल शक्यसन्धान हुआ] । इस प्रकारका [शक्यसन्धान] जो अतीतकाल अर्थात् अतीत कालमें हुआ कथाभाग उससे युक्त [अर्थात् उसको सूचित करने वाला] विष्कम्भक ['शक्यसन्धानातीतकालवान्' विष्कम्भक हुआ] । [इसमें पुरुषोंकी स्मरणशक्ति [प्रता] की अपेक्षासे विष्कम्भकके [अर्थात् कथाभाग] के कालको [शक्यसन्धान जिसका स्मरण सम्भव हो सके इसके अनुसार] निबद्ध किया गया है । राम युधिष्ठिर आदि [प्रबल स्मरणशक्ति वाले उत्तम पात्र] बहुत पुराने अतीत अर्थको भी स्मरण कर सकते हैं इसलिए [विष्कम्भकमें उनके स्मरणसे सम्बन्ध रखनेवाली दीर्घकालीन बात भी कही जाती है वहाँ] उसको उसी प्रकारसे दिखलाया जाता है । और जो साधारण पुरुष थोड़ी देरकी ही बात स्मरण कर सकते हैं उनके लिए उसी प्रकारकी रचना करनी चाहिए । कामप्रधान फलवाले नाटकमें तो [विष्कम्भकके रूपमें] एक ही वर्षके घुत्तकी रचना की जानी है । उसके बाद [अर्थात् एक वर्षसे अधिककालके प्रेमके] संस्कारोका विच्छेद हो जाता है और अबस्था बीत जानेसे भी । [शृङ्गार रसमें अधिक पुरानी बातोंका स्मरण व्यर्थ हो जाता है] । ॥२३-२४॥

'विष्कम्भक' के इस लक्षणमें अन्वयकारने 'शक्यसन्धानातीतकालवान्' इस विशेषण की व्याख्यापर विशेष बल दिया है । उनमें दूरके अतीत कालके अर्थकाही वर्णन 'विष्कम्भक' द्वारा करना चाहिए, जिसका अनुसन्धान अर्थात् स्मरण सम्भव हो । राम युधिष्ठिर आदि दीर्घकालीन अर्थको भी स्मरण कर सकते हैं, अतः उनके वृत्त म दीर्घकालीन घटना का भी वर्णन किया जा सकता है । सामान्य पुरुष स्वल्प कालके अर्थको स्मरण कर सकते हैं, उनके प्रसङ्ग में उसीके अनुसार विष्कम्भकमें वर्णन करना चाहिए । यह अन्वयकारका अभिप्राय है ।

अथ विष्कम्भकलक्षणानुवादेन प्रवेशक लक्ष्यति—

[सूत्र २१]—एवं प्रवेशको नीचैः परार्थैः प्राकृतादिना ।

एतौ प्रभूतकार्यत्वान्नाटकादिचतुष्टये ॥२५॥

एवमिति 'अज्ञानहंस्य' इत्यादि सर्वं विष्कम्भकलक्षणमत्रातिदिश्यते । केवलमसौ नीचैरेव पात्रै परार्थैर्मुख्यनायकादिकार्यनिष्ठैर्न पुन. स्वदृष्ट्यैकतत्परैः । यथा—

“आणक्त म्नि भट्टदारियाए इत्यादि ।

[आज्ञात्तास्मि भर्तृदारिकया इत्यादि । इति संस्कृतम्]”

प्रवेशकका लक्षण—

अर्धोपलक्षणे विष्कम्भकके बाद दूसरा स्थान 'प्रवेशक' वा आता है । विष्कम्भकके जो कार्य बतलाए गए है प्राय वे ही सब कार्य 'प्रवेशक' के द्वारा भी सम्पन्न किए जाते हैं । फिर भी उन दोनोंको अलग-अलग माना गया है इसका कारण उनके स्वरूपमें कुछ भेदका होना है । इनका मुख्य भेद यह है कि प्रवेशकमें केवल नीच पात्रोंका प्रयोग होता है । और विष्कम्भकमें केवल मध्यम, या नीच और मध्यम दोनों प्रकारके पात्रोंका प्रयोग होता है । विष्कम्भकमें केवल नीच पात्रोंका प्रयोग नहीं होता है । इन भेदोंका परिचय आगे दिए जाने वाले लक्षणसे ही मिलेगा । अतः ग्रन्थकार आगे प्रवेशकका लक्षण निम्न प्रकार करते हैं—

अथ विष्कम्भकके लक्षणका अनुवाद करते हुए प्रवेशकका लक्षण दिखलाते हैं—

[सूत्र २१]—इस प्रकार [अर्थात् अज्ञानहंस्य अज्ञानमें न दिखलाने योग्य त्रिगतवर्ती अर्थको सूचित करने वाला] दूसरोंके लिए कार्य करने वाले [अर्थात् स्वामी आदिकी आज्ञाके अनुसार कार्यमें नियुक्त] नीच पात्रों [दास-दासी आदि] के द्वारा [संस्कृतसे भिन्न] प्राकृत आदि [भाषाओंके प्रयोग] से [अन्यसन्धानातीतकालके अर्थको सूचित करने वाला] 'प्रवेशक' होता है । [इतना प्रवेशकका लक्षण हुआ] अधिक कार्य [के साधक] होनेके कारण नाटकदि चारमें [अर्थात् नाटक, नाटिका, प्रकरण और प्रदर्शी इन चारमें], अनायक या अज्ञानहंस्य भागको सक्षिप्त करके सूचन करनेकेलिए विष्कम्भक और प्रवेशक इन दोनों अर्धोपलक्षणों] का अवलम्बन किया जाता है । २५।

इस प्रकार 'एव' इस पदसे 'अज्ञानहंस्य' इत्यादि विष्कम्भकका सारा लक्षण यह [प्रवेशकमें] सम्बद्ध होना है [अन्यधर्मस्यान्यत्रानिसम्बद्धो अतिदेश । अन्यधर्म धर्मका अन्यत्र सम्बन्ध दिखलाना 'अतिदेश' कहलाता है । विष्कम्भकके सारे धर्मोंका प्रवेशके साथ सम्बन्ध प्रदर्शन रूप 'अतिदेश' विद्या गया है । उन दोनोंमें अन्तर देखन इतना है कि यह [प्रवेशक] केवल नीच और दूसरोंके कार्यमें सगे हुए अर्थान् मुख्य नायक आदिके कार्यमें तत्पान, न कि स्वयं अपने कार्यमें सगे हुए पात्रोंके द्वारा [प्रयुक्त होता है] जैसे—

जैसे कि स्वामिपुत्रोंने आता दी है [तदनुसार मैं अमुख भावें कर रही हूँ] इत्यादि [नीच पात्र चेटो आदि द्वारा प्रयुक्त प्रवेशकका उदाहरण है] ।

इस प्रकार विष्कम्भकके प्रवेशकका एक भेद तो यह हुआ कि विष्कम्भकमें मध्यम पात्रोंका उपयोग भी होता है और नीच पात्रोंका भी प्रयोग हो सकता है । किन्तु प्रवेशक

नीचप्रयुक्तत्वादेव च ग्राम्यार्थप्रायेण प्राकृतेन, आदिशब्दान् शौरसेन्यादिना प्रवेशको भवति । अत्रत्यज्ञानार्थान् सामाजिकहृदये प्रवेशयतीति प्रवेशकः । केचित् प्रवेशकं प्रथमांशव्यादौ नेच्छन्ति । एताविति विष्कम्भक-प्रवेशकौ । नाटकादिचतुष्टयं नाटक-प्रकरण-नाटिका-प्रकरणम् । नाटकादौ हि परिमितोपायेन बहुषु मुख्यावान्तर-कार्येषु नृपादीनां तत्तद्वाचानां चामात्यादीनां व्युत्पत्तिः क्रियते इति अत्रैव प्रभूतार्थ-व्युत्पादको विष्कम्भक-प्रवेशकौ । न व्यायोगादिषु एकांकेषु तावदल्पवृत्तत्वेनाल्प-कार्यत्वात् । बह्वङ्केष्वपि समवकारस्य परम्परासम्बद्धाङ्कत्वात्, अपरेषान्तु कृतिपथ-दिनवृत्तत्वादिति । अङ्कास्यादीनि तु स्वल्पसूच्यत्वेन यथासम्भवं रूपकान्तरेष्वपि भवन्ति ॥२५॥

मे निश्चित रूपसे नीच पात्रोका ही प्रयोग होता है । इसीसे दूसरा भाषाविषयक भेद भी प्रा जाता है । विष्कम्भकमे तस्कृत भाषा मुख्य रहती है किन्तु प्रवेशकमे प्राकृतभाषाका ही प्रयोग होता है । इसी बातको आगे लिखते हैं—

नीच [पानो] के द्वारा प्रयुक्त होनेके कारण ही ग्राम्य [अश्लिष्ट] अर्थसे युक्त प्राकृतके द्वारा, आदि शब्दसे [उनमे भी] शौरसेनी आदिके द्वारा प्रवेशक [का प्रयोग] होता है । [आगे प्रवेशक शब्दकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं] अत्रत्यक्ष अर्थको सामाजिकके हृदयमे प्रविष्ट कराता है इसलिए 'प्रवेशक' [कहलाता] है । कुष्ठ [नाट्याचार्य] लोग प्रथम अक्षके आदिमे इस [प्रवेशक] का प्रयोग नहीं मानते हैं । [यह विष्कम्भकसे इसका तीसरा भेद हुआ] । 'एतौ' अर्थात् विष्कम्भक और प्रवेशक । नाटकादि चारमे [रहते हैं] । इसमे नाटकादि चार से] १ नाटक, २ प्रकरण, ३ नाटिका और ४ प्रकरणी [इन चारका प्रहण करना चाहिए] । नाटकादिमे [अंश रूप] परिमित साधनके द्वारा मुख्य तथा अवान्तर [गौण] बहुत-से कार्योंका परिज्ञान राजा और उसके सहायक मन्त्री आदिको कराना होता है इसलिए इनमे ही विस्तृत अवान्तर कार्योंका परिचय करानेके लिए ये विष्कम्भक और प्रवेशक [प्रयुक्त] होते हैं । 'व्यायोग' आदि एकाकी [रूपक] मे थोडा-सा ही क्याभाग होनेसे कम कार्य होनेके कारण [इन विष्कम्भक और प्रवेशकोका प्रयोग] नहीं होता है । और अनेक अंकों वालोमे भी 'समवकार' के अंकोंके परस्पर सम्बद्ध न होनेसे, तथा अग्योमे कुछ दिनका ही वृत्तान्त होने से [प्रवेशक] तथा विष्कम्भककी आवश्यकता नहीं होती है । यह अभिप्राय है । अकारवादि [दोष तीन अर्थोपक्षेपक] तो अल्प वृत्तके सूचन करने योग्य होनेके कारण यथासम्भव [आवश्यकानुसार] अग्य रूपकोमे भी प्रयुक्त होते हैं ।

इस प्रकार इस लक्षणमे प्रवेशकके विष्कम्भक तथा अग्य अर्थोपक्षेपकोस जो भेद दिखनाए गए हैं वे मुख्य रूपसे निम्न प्रकार है —

१ विष्कम्भक मे मध्यमपात्र भी प्रयुक्त हाते है इसलिए मस्कृत भाषाका भी आशय लिगा जाता है । किन्तु प्रवेशकमे केवल नीचपात्र ही हात है इसलिए उगम केवल प्राकृत भाषाका ही उपयोग होता है ।

२ विष्कम्भका प्रयोग मस्कृतके आदिमे भी प्रस्तावनाके बाद किया जा सकता है किन्तु प्रवेशकका प्रयोग प्रथम अक्षमे नहीं होता है ।

३. मद्गायत्र आदि अग्य अर्थोपक्षेपकोका प्रयोग नाटकादिमे भी हो सकता है किन्तु

अथ अङ्कास्य-चूलिके लक्षयति—

[सूत्र २२]—अङ्कास्यमन्तपात्रेण छिन्नाङ्कमुखयोजनम् ।

वस्तुनः सूचनं चूला पात्रैर्नेपथ्यसंस्थितैः ॥२६॥

अन्तपात्रेणेति पूर्वस्याङ्कस्थान्ते स्त्री-पुंसान्यतरेण पात्रेण । छिन्नस्य अमम्बद्धस्य उत्तराङ्कमुरास्य योजनमुपक्षेपो यस्तत् 'अङ्कास्यम्' अङ्कमुखम् । यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते—

“प्रविश्य सुमन्त्र-भगवन्तौ वसिष्ठ-विश्वामित्रौ भवतः सभार्गवान्
आह्वयेते इति ।

इतरे तु—क्व भगवन्तौ ?

सुमन्त्र—महाराजदशरथस्यान्तिके ।

इतरे—तदनुरोधान् तत्रैव गच्छामः ।

इत्यङ्कममाप्तौ—ततः प्रविशन्ति वसिष्ठ-विश्वामित्र शतानन्द-जनक-
परशुरामाः ।”

इत्यत्र पूर्वाङ्कान्ते एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्द-जनकवधार्थविच्छेदे
उत्तराङ्कमुखसूचनान् अङ्कास्यमिति ।

विष्कम्भन और प्रवेशकवा प्रयोग एकाकी व्यायोगादि और परस्परसम्बद्ध अङ्को वाले सम्-
कार तथा मल्पवृत्त वाले अन्य रूपकभेदोमे नहीं किया जाता है ।

अथ आगे 'अङ्कास्य' तथा 'चूलिका' दोनोंका लक्षण [एक ही कारिकामे] करते हैं—

[सूत्र २२]—[अङ्कके अन्तमे ही प्रविष्ट होने वाले] अन्तिम पात्रके द्वारा [पूर्व अङ्कसे
असम्बद्ध] विच्छिन्न [अगले उत्तरवर्ती] अङ्कके आरम्भका सम्बन्ध जोड़नेसे 'अङ्कास्य' नामक अर्थोप-
क्षेपक होता है] और नेपथ्य स्थित पात्रोंके द्वारा वस्तुकी सूचना 'चूलिका' [पहलाती] है । २६।

अन्तिम पात्रके द्वारा अर्थात् पूर्व अङ्कके अन्तमे [प्रविष्ट होने वाले] स्त्री या पुरुष
किसी भी पात्रके द्वारा छिन्न अर्थात् [पूर्व अङ्कके साथ] असम्बद्ध अगले अङ्कके आरम्भ
[मुख] की जो योजना अर्थात् उपक्षेप [बीजारोपण] करना वह 'अङ्कास्य' अर्थात् 'अङ्कमुख'
[कहलाता] है । जैसे महावीर चरितके द्वितीय अङ्कके अन्तमे—

“प्रविष्ट होकर सुमन्त्र [कहते हैं कि]—महर्षि वसिष्ठ तथा विश्वामित्र, भार्गव
[परशुराम] सहित आप दोनों [शतानन्द और जनक] को बुला रहे हैं ।

अन्य दोनों—[जनक और शतानन्द] वे दोनों कहां हैं [यह पूछते हैं] ?

सुमन्त्र—[उत्तर देते हैं]—महाराज दशरथके समीप हैं ।

अन्य दोनों—उनकी इच्छाके अनुसार हम सब वहीं जाते हैं ।

यह अङ्ककी [द्वितीय] समाप्तिमे [आया है] । उसके बाद [अगले अङ्कके आरम्भमें]
वसिष्ठ विश्वामित्र शतानन्द जनक और परशुराम प्रविष्ट होते हैं ।”

इस उदाहरणमे पूर्ववर्ती द्वितीय अङ्कके अन्तमे ही प्रविष्ट होने वाले सुमन्त्र पात्रने
शतानन्द और जनकके वार्तालाप रूप अर्थको विच्छिन्न करके [अगले तृतीय अङ्कमे वसिष्ठ
विश्वामित्र आदिके साथ होने वाले जनक शतानन्दके वार्तालाप रूप] अङ्कके आरम्भकी सूचना
दी है [इसलिए यह अङ्कास्यका उदाहरण है] ।

‘वस्तुन’ इति कस्यचिदर्धस्य सूचनमुपक्षेपः । ‘पात्रैः’ स्त्री-पुंसैः । ‘नेपथ्य-संस्थितैः’ यवनिकान्तरदेशमर्थार्थिभिः । सा चूडेव चूलिका । रङ्गाभिनेयार्थस्य नेपथ्यपात्रोक्तेः शिम्भारूपत्वात् । यथा ‘उत्तररामचरिते’ द्वितीयाङ्कस्यादौ—

“स्वागतं तपोधनायाः । ततः प्रविशति तपोधना ।”

अत्र नेपथ्यपात्रेण स्त्रिया वामन्तिकया आत्रेयीवस्तुनः सूचनात् चूलिका ।

यथा वा ‘नलविलासे’ द्वितीयाङ्कस्यादौ—

“स्वागतं सपरिच्छदाय कलहंसाय । ततः प्रविशति कलहंसो मकरिकाप्रभृति-
कृश्च परिवारः ।”

अत्र नेपथ्यपात्रेण पुंसा शेषरेण कलहंसादिवस्तुनः सूचनात् चूलैति ।

यथा वा रत्नावल्यां—

“अस्तापास्तसमस्तभासि नभसः पारं प्रयाते रवी
आस्थानी समये समं नृपजनः सायन्तने सम्पतन् ।
सम्प्रत्येप मरोरुह्युतिमुपः पादांस्तवासेवितुं
प्रीत्युरुर्षुकृतो वशामुद्रयनस्येन्दोरिवोदीक्षते ॥”

यद् ‘अङ्कास्य’ का उदाहरण दिया है इसमें ‘दिग्नाङ्क’ पद विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है । इसी पदके द्वारा अङ्कास्य और अङ्कावतारका भेद होता है । अङ्कास्यमे अगला अङ्क पूर्व अङ्कमे असम्बद्ध रूपमे प्रारम्भ होता है और अङ्कावतारमे पूर्व अङ्कके अग रूपमे ही नया अङ्क प्रारम्भ होता है । यहा इन दोनोंका भेद है ।

‘वस्तुन’ अर्थात् किसी अर्थका ‘सूचन’ अर्थात् उपक्षेप करना । ‘पात्रैः’ अर्थात् स्त्री-पुंसदोके द्वारा । ‘नेपथ्यसंस्थितैः’ अर्थात् यवनिकामे भीतर स्थित । ‘चूडा’ अर्थात् शिखाके समान होनेसे ‘चूलिका’ है । क्योंकि नेपथ्यकी उक्ति रङ्गमे अभिनय किए जानेवाले अर्थकी शिखाके समान होती है । जैसे उत्तररामचरितके द्वितीय अङ्कके आदिमे—

[नेपथ्यमे] तपोधनाका स्वागत है ।” इसके बाद तपोधना प्रवेश करती है ।”

इसमे नेपथ्यमे स्थित वामन्तिकका रूप स्त्रीपात्रके द्वारा आत्रेयी रूप वस्तुके सूचित होनेसे यह ‘चूलिका’ [का उदाहरण] है ।

अथवा जैसे नलविलासके द्वितीय अङ्कके आदिमें [भी चूलिका दी गई है]—“सपरि-
वार कलहसका स्वागत है । इसके बाद कलहस और मकरिका आदि परिवार प्रविष्ट होता है ।”

इसमे नेपथ्यवर्ती ‘दोतर’ नामक पुद्गलपात्रके द्वारा कलहसादि वस्तुके सूचित होनेसे ‘चूलिका’ है ।

अथवा जैसे रत्नावलीमे—[प्रथम अङ्कमें]—

‘अपनी समस्त प्रभाकी अस्ताचलपर बिलेरकर, सूर्यके प्राकाशके पार धले जानेपर, सायकालके समय सभा-भण्डपमे एक साथ प्रविष्ट होते हुए सारे राजा कमलोंकी कान्तिका हरण करने वाले [अर्थात् कमलोंके समान सुन्दर] और अत्यन्त धानन्द [प्रीत्युत्पन्न] को प्रदान करने वाले [अङ्गमाकी किरणोंके समान कमल-शोभापहारी और आङ्गादशरथ] सतत उदयशास अङ्गमाके पदोंके समान घाय उदयन’ के [पादोंकी] चरणोंकी सेवा [उपासना] करनेके लिए देव रहे हैं ।

इति नेपथ्यपात्रेण चन्द्रिना काननस्यस्योदयनवस्तुनः सागरिकां प्रति सूचनात्
चूलिका ॥२६ ॥

अथाङ्गावतारं लक्षयितुमाह—

[सूत्र २३]—मोडङ्गावतारो यत् पात्रैरङ्गान्तरमसूचनम् ।

पात्रान्तराभावेन यत्सैवाङ्गस्य पात्रैरविच्छिन्नार्थतया सूचनीयार्थस्याभावात्
प्रवेशरु-विष्कम्भरु सूचनारहितमङ्गान्तरं भवति, स द्वितीयाङ्गस्यावतारणादङ्गाव-
तारः । यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमेऽङ्गे—

“विदूषणः—तेन हि दुवे वि देवीण पेक्त्रागिहं गइय मंगीदोवकरणं गहिच
तत्तभवदो दृदं विसज्जेथ । अथवा मुदंगमदो ज्येय ए उत्यावइमदि ।

[तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागृहं गत्वा मङ्गीतोपकरणं गृहीत्वा तत्रभवन्तो
दूतं विसर्जयेताम् । अथवा मृदङ्गशब्द एव तमुत्थापयिष्यति इति । संस्कृतम् ।”

इत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणानन्तरं तान्येव सर्वाणि पात्राणि द्वितीयाङ्गमार-
भन्ते इति ।

अन्ये तु यत्राङ्गे अन्याङ्गानां बीजलक्षणोऽर्थोऽवतार्यते तमङ्गावतारमाम-
नन्ति । यथा रत्नावल्यां द्वितीयोऽङ्गः । तत्र हि—

यहां नेपथ्यवर्ती चारण रूप पात्रके द्वारा सागरिकाके प्रति उद्यानमें स्थित उदयन रूप
वस्तुके सूचनसे चूलिका [बनती] है ।

इस प्रकार इस एक ही कारिकासे ग्रन्थकारने 'अङ्गमुख' और 'चूलिका' इन दो
अर्थोपक्षेपकोके लक्षण सुन्दरताके साथ प्रस्तुत किए हैं ॥ २६ ॥

अङ्गावतारका लक्षण—

अथ [ग्रन्थकार] अङ्गावतारका लक्षण करनेकेलिए कहते हैं—

[सूत्र २३]—जो [पूर्व अङ्गके] पात्रोंके द्वारा [अन्य किन्हीं पात्रोंके प्रागमनकी
विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपकोके माध्यमसे] सूचना दिए बिना [पूर्व अङ्गके पात्रोंके ही] दूसरे
अङ्गका आरम्भ होता है उसको 'अङ्गावतार' कहते हैं ।

[नवीन अङ्गमें जानेवाले नए] दूसरे पात्रोंके न होनेके कारण और सूचनीय अर्थका
अभाव होनेसे प्रवेशक, विष्कम्भक आदिके बिना ही जिस [पूर्ववर्ती] अङ्गके पात्रोंके द्वारा
अविच्छिन्न रूपसे नए अङ्गका आरम्भ किया जाता है वह द्वितीय अङ्गका अवतारण कराने
वाला होनेसे 'अङ्गावतार' कहलाता है । जैसे मालविकाग्निमित्र [नाटक] के प्रथम अङ्ग [के
अन्त] में [निम्न वाक्य आता है]—

“विदूषक—इसलिए आप दोनों देवीकी रङ्गशालामें जाकर और सङ्गीतके साजकी
संभालकर [यहां हम लोगोंके पास] दूत भेज दीजिएगा । अथवा [दूत भेजनेकी आवश्यकता
नहीं होगी क्योंकि आपके] मृदङ्गका शब्द ही हम सबको उठा [कर सङ्गीत सुननेकेलिए आपके
पास पहुँचा] देगा ।”

[प्रथम अङ्गके अन्तमें] इस प्रकारका उपक्रम करके मृदङ्ग शब्दके श्रवणके बाद वे ही
सब पात्र द्वितीय अङ्गका आरम्भ करते हैं ।

दूसरे प्राचार्य तो जिस अङ्गमें अन्य [सब] अङ्गोंके बीजभूत अर्थकी अवतारणा की

“ईदिसस कन्गारयणसम ईदिये प्येव वरे अहिलासेण भोदव्वं ।

[ईदशम्य कन्गारयणस्येदश एव वरेऽभिलाषेण भवितव्यम् । इति संस्कृतम्]”
इत्यादिकोऽनुरागलक्षणं सर्वाङ्गानामर्थ इति । अथ च गर्भाङ्कोऽप्युच्यते ।

यदाहु -

“अङ्गान्तरेव चाङ्गो निपतति यस्मिन् प्रयोगमासाद्य ।

वीजाय युक्तियुक्तो गर्भाङ्गो नाम विज्ञेय ॥” इति

अथ विष्कम्भकादीनां विषय-व्यवस्थामाह—

[सूत्र २४]—आद्यौ सूच्ये वहानन्ये क्रमादल्पे तरे तमे ॥ २७ ॥

तर-तम-प्रत्ययौ नान्तरीयकतया सन्निधानाच्चाल्पशब्द प्रकृतिमाकर्षत,
तेनाल्पतरे अल्पतमे इत्यर्थः । छन्दोऽनुरोधाच्च प्रत्ययानुकरणनिर्देशः । ‘अन्ये’
अङ्गास्य-चूलिका-अङ्गावतारः । क्रमादिति लक्षणक्रमेण । ‘वह्यौ’, बहुशाले च सूच्ये
आद्यौ विष्कम्भक प्रवेशकौ । ‘अल्पे’ अल्पकाले चाङ्गास्यम्, अल्पतरे अल्पतरकाले
च चूलिका, अल्पतमे अल्पतमकाले चाङ्गावतार इति ॥ २७ ॥

जाती है उसको ‘अङ्गावतार’ मानते हैं । जैसे रत्नावलीमें दूसरा अङ्ग [इनके मतसे अङ्गावतार
का उदाहरण यन्ता है] । क्योंकि उसमें—

“इस प्रकारके कन्गारयणका इस प्रकारके वरमे ही अभिलाष होना चाहिए” ।

इत्यादिसे सब अङ्गोंका [योजभूत] अनुराग रूप अर्थ [प्रदर्शित किया गया है] इस लिए [यह
द्वितीयाङ्ग ही अङ्गावतार माना जाता है] । इसीको [ये लोग] गर्भाङ्ग भी कहते हैं । जैसाकि
[गर्भाङ्गका लक्षण करते हुए] लिखा है कि—

‘जहाँ प्रयोग [के अन्तर्] की प्राप्त करके अङ्गोंमें भीतर ही बीजाय और युक्ति
सहित नयीन अङ्ग [उससे अविच्छिन्न रूपसे] आरम्भ हो जाता है उसको ‘गर्भाङ्ग’ नामसे
समझना चाहिए ।

विष्कम्भकादिनी विषय-व्यवस्था—

विद्युत्की कारिकाओंमें विष्कम्भक, प्रवेशक आदि पाँच प्रकारके अर्थोपशेवकोंका वर्णन
किया था उनके विषयका उपसंहार करते हुए २७ वीं कारिकाके उत्तराद्विभागमें इनका
प्रयोग कर बतलाना चाहिए इस विषयव्यवस्थाका निरूपण करते हुए अन्वयकार लिखते हैं—

अथ विष्कम्भक आदिकी विषय-व्यवस्थाको कहते हैं—

[सूत्र २४]—बहुत घोर बहुकाल-व्यापी [अर्थके] सूचनीय होनेपर आदिके दो [अर्थान्
विष्कम्भक और प्रवेशकका प्रयोग करना चाहिए] घोर अल्प, अल्पतर एव अल्पतम [अर्थके
सूचनीय] होने पर क्रमसे [अङ्गास्य, चूलिका और अङ्गावतार रूप] अथ [अर्थोपशेवकोंका
प्रयोग करना चाहिए] । २७ ।

[कारिकाओंमें दिए हुए] तर, तम दोनों प्रत्यय [प्रकृतिसे बिना न रह सकनेके कारण]
अभिप्राय होनेसे घोर सन्निहित होनेके कारण ‘अल्प’ शब्दको प्रकृति रूपमें भावित कर
लेते हैं । इसलिए अल्पतर और अल्पतम यह अर्थ हो जाता है । [मूल कारिकाओंमें] द्वादसे
अनुरोध के कारण [अल्पतर अल्पतम न कहकर केवल तर तम द्वारा] प्रायःके अनुकरणका
निर्देश किया गया है । [कारिकाओंमें दए हुए] ‘अथ’ [पर] से अङ्गास्य, चूलिका और अङ्गा-

अथ अङ्कानन्तरोद्दिष्टमुपायं व्याचष्टे—

[सूत्र २५]—बीजं पताका प्रकरी बिन्दुः कार्यं यथारुचि ।

फलस्य हेतवः पञ्च चेतनाचेतनात्मकाः ॥ २८ ॥

उपायस्वरूपापरिज्ञाने तद्विषयाणामारम्भादीनां स्वरूपपरिज्ञानासम्भव इति उपायस्वरूपं व्युत्पाद्यते । 'यथारुचि' इति नैपार्मोहेशिको नियन्धक्रम, सर्वेषामवश्यम्भाविष्यत्त्वं वा । 'फलस्य' मुख्यसाध्यस्य 'हेतवः' उपायाः । इह हेतुद्विधा अचेतनश्चेतनश्च । अचेतनोऽपि मुरयामुख्यभेदाद् द्विधा । मुख्यो बीजम्, तन्मूलत्वादितरेषाम् । अमुख्यस्तु कार्यम् । चेतनोऽपि द्विधा मुख्य उपकरणभूतश्च । मुख्यो

घतार [का प्रहण होता है] । 'कमात्' इस पदसे लक्षणके क्रमसे [अङ्कास्य चूलिका अङ्कावतारका प्रहण करना चाहिए । स्वेच्छया नहीं यह अभिप्राय है] । बहुत तथा बहुकाल ध्यायी [अर्थके] सूचनीय होनेपर आदिके दो अर्थात् विष्कम्भक और प्रवेदाक [प्रयुक्त होते हैं] । अल्प और अल्पकालीन [अर्थके सूचनीय] होनेपर अङ्कास्य, [उत्तसे भी कम] अल्पतर और अल्पतर-कालीन [अर्थके सूचनीय] होनेपर चूलिका, तथा [उत्तसे भी कम] अल्पतम और अल्पतम-कालीन [अर्थके सूचनीय] होनेपर अङ्कावतार [का प्रयोग किया जाना चाहिए] यह अभिप्राय है । २७ ॥

इस प्रकार इस कारिकाकी समाप्तिके साथ पाँचो अर्थोपक्षेपकोका विषय-विवेचन समाप्त हो जाता है । पाँचवी कारिकामे नाटकका जो लक्षण किया गया था उसकी ही व्याख्या भागे चल रही है । इसमें 'अङ्क' पद आया था उसकी व्याख्याके प्रसङ्गमें इन विष्कम्भक आदि अर्थोपक्षेपकोका निरूपण किया गया । उसके द्वारा नाटकके लक्षणमें आए हुए 'अङ्क' पदकी व्याख्या पूर्ण हो जाती है । नाटक-लक्षण वाली कारिकामे 'अङ्क' पदके बाद 'उपाय' पदका प्रयोग किया गया है । अत एव अङ्क पदकी व्याख्याके बाद 'उपाय' पदकी व्याख्या क्रम-प्राप्त है । इस लिए अगली कारिकामे 'उपाय' पदकी व्याख्या आरम्भ करते हैं ।

इस कारिकामे पाँच प्रकारके उपाय बतलाए गए हैं । परन्तु पहिले उनके चेतन और अचेतन दो भेद किए हैं । उनमेंसे अचेतन उपायोके भी मुख्य तथा अमुख्य दो भेद किए हैं । फिर चेतन उपायोके भी मुख्य तथा उपकरणभूत दो भेद करके उनमेंसे उपकरणभूतके भी दो भेद कर दिए हैं । इस प्रकार उपायोकी संख्या पाँच हो जाती है । इन पाँचों उपायोका वर्णन इस कारिकामे निम्न प्रकारसे किया है—

अथ [नाटक-लक्षणमें] अङ्कके बाद कहे हुए 'उपाय' [पद] की व्याख्या [आरम्भ] करते हैं—

[सूत्र २४]—१. बीज, २ पताका, ३. प्रकरी, ४. बिन्दु और ५. कार्यं [पताका प्रकरी और बिन्दु ये तीन चेतन तथा बीज एव कार्यंको दो अचेतन इस प्रकार] ये चेतन और अचेतनारमक फलके हेतु पाँच ['उपाय' कहनाते] हैं [उनका] अपनी कृत्तिके अनुसार [प्रयुक्त] करे । २८ ॥

उपायोके स्वरूपको जाने बिना उनके सम्बन्धमें आरम्भादिके स्वरूपका परिज्ञान भी असम्भव है, इस लिए 'उपायो'के स्वरूपका परिचय करवाया जा रहा है । [कारिकामे आगे

विन्दु, कार्यानुसन्धानरूपत्वात् । उपकरणभूतो द्विधा । (१) स्वार्थसिद्धियुक्तः परार्थ-
सिद्धिपर, (२) परार्थसिद्धिपरश्च । पूर्वः पताका, अन्य-प्रकरीति । अत्र चाचेतन-
चेतनानां मध्ये बीजविन्दोर्मुक्तत्वम्, सर्वव्यापित्वादिति ॥२८॥

अथ बीजमाह—

[सूत्र २६]—स्तोकोद्दिष्टः फलप्रान्तो हेतुर्बीजं प्ररोहणात् ।

आदौ गभीरत्वादल्पानिक्षिप्तो मुख्यफलावसानश्च यो हेतुमुद्भवसाध्यो-
पायः, म धान्यबीजवद् 'बीजम्' । 'प्ररोहणात्' उत्तरत्र शाखोपशाखादिभिविस्तर-
णात् । इदं च आमूलानन्तरं निबध्यते । बीजं हि नाटकादीनामितिवृत्तार्थस्थोपाय ।
आमूल तु रूपप्रस्तावनार्थं नटस्थैव वृत्तम् । या- पुनरत्र नाटकार्थस्थो नटोक्त-
यस्ताः प्रयोगपातनिकार्थमेव । अत एव आमूलोक्ता अपि बीजोक्तयः प्रविष्ट-
नाटकपात्रेण पुनरुच्यन्ते । तथा च रस्तावल्याम्—

दृष्ट] 'यथायच्च' इति [पद] से [यह सूचित किया है कि] कि श्रौद्देशिक [अर्थात् जिस क्रमसे
उनको यहाँ पढ़ा गया है उसी] क्रमसे [नाटकमें] उनका प्रयोग-क्रम [अपेक्षित] नहीं है ।
और न सब [पाँचों उपायों] का अपरिहार्यत्व [अपेक्षित] है । [अर्थात्] क्वि या नाटककार
अपनी आवश्यकता और इच्छाके अनुसार उनमेंसे किन्हींका और किसी भी क्रमसे उपयोग
कर सकता है] । 'फल' अर्थात् [नाटकके] मुख्य साध्यके 'हेतु' उपाय [बहलाते] हैं । ये हेतु
[उपाय] दो प्रकारके होते हैं । एक 'अचेतन' और दूसरे 'चेतन' । [उनमेंसे] अचेतन [हेतु]
भी मुख्य तथा अमुख्य भेदसे दो प्रकारका होता है । मुख्य [अचेतन हेतु] 'बीज' [बहलाता]
है । क्योंकि अन्य सब उसके आश्रित होते हैं । अमुख्य [अचेतन हेतु] 'कार्य' बहलाता है ।
चेतन [हेतु] भी मुख्य और उपकरणभूत दो प्रकारका होता है । मुख्य [चेतन हेतु] कार्या-
नुसन्धान रूप होनेसे विन्दु [बहलाता] है । उपकरणभूत [चेतन हेतु भी] दो प्रकारका होता
है । एक स्वार्थसिद्धियुक्त होनेके साथ परार्थसिद्धिपर, और दूसरा [अचेतन] परार्थसिद्धिमे
तत्पर । [इनमेंसे] पहिला [अर्थात् स्वार्थसिद्धियुक्त होनेके साथ परार्थसिद्धिपर चेतन साधन]
'पताका' । और [केवल परार्थसिद्धिपर] दूसरा [चेतन साधन] 'प्रकरी' बहलाता है । इनमे
से [भी] अचेतन तथा चेतन [साधनों और उपायों] मेंसे [क्रमशः] बीज और विन्दुकी [नाटक
की आह्वान-यस्तुमें] सर्वप्रथम व्यापक होनेसे मुख्यता है ॥२८॥

अथ आदौ [उपकरणोंमेंसे सर्वप्रथम] 'बीज' को बहते हैं—

[सूत्र २६]—[आरम्भमें] सूक्ष्मरूपमे बहा गया और [अन्तमें] फल रूपमे पर्यवसित
होनेवाला [मुख्य अचेतन] हेतु [वृक्षके बीजके समान शाखा आदि रूपमें] विस्तृत हो जानेसे
'बीज' [बहलाता] है ।

[नाटकके] आरम्भमें, [गभीर] दुर्लभ होनेसे सूक्ष्म रूपमे बीज और मुख्य फलमें
समाप्त होनेवाला जो हेतु, मुख्य-साध्यका उपाय है वह पायके बीजके समान होनेसे 'बीज'
[बहलाता] है । [कारिकामें] आए दृष्ट] 'प्ररोहणात्' [पदका अभिप्राय] 'शाखा-प्रशाखा रूपमें
फल जानेसे' यह है । [नाटककी रचनामें] आमूल [प्रस्तावना] के बाद इस [बीज] को
निबद्ध किया जाता है । बीज नाटकके इतिवृत्त [आह्वान-यस्तु] का उपाय [होना] है ।
[विन्दु] आमूल तो रूपरही प्रस्तुत करनेकेलिए नटका ही व्यापार [वृत्त] है । [अर्थात्

“द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
‘पानीय भटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुत्सीभूतः ॥”

इत्याद्यामुक्तं यौगन्धरायणः पठति ।

आमुख-भागका नाटककी मुख्य आख्यान-वस्तु या इतिवृत्त कथा आदिके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता है] । इस [आमुख] में जो नाटकके मुख्य कथा-भाग [अर्थ] को स्पष्ट करनेवाली नटोंकी उक्तिर्या होती हैं वे प्रयोगकी अवतरणिकाकेलिए ही होती हैं [मुख्य नाटकका अर्थ नहीं होती है] । इसी लिए आमुखमें कहीं हुई बीजभूत उक्तियोंको [आमुखके बाद] प्रविष्ट हुआ नाटकका पात्र फिरसे डुहराता है । इसीलिए रत्नावलीमें—

“अनुकूलताको प्राप्त हुआ [अभिमुखीभूत] देव, अन्य द्वीपसे, सागरके बीचसे और दिशाओंके छोरसे भी अपने अभीष्ट अर्थको लाकर मिला देता है ।”

आमुखमें कहे हुए [नाटकके कथाभागको स्पष्ट करनेवाले] इस [श्लोक] को [आमुख के बाद प्रविष्ट हुआ नाटकका पात्र] यौगन्धरायण फिर पढ़ता है ।

रत्नावलीके आमुखमें नटीने नटसे यह कहा था कि मेरी एक ही लड़की है तुमने बड़े दूर देशमें उसका सम्बन्ध पक्का कर दिया है । पता नहीं इतनी दूरसे आकर वह कब मेरी लड़कीका पाणिग्रहण करेगा । मैं तो इसी चिन्तामें मरी जा रही हूँ । इसलिये मेरा मन गानै-वानेको नहीं करता है । इसके उत्तरमें नटने इस श्लोकको कहा है । उसका भाव यह है कि तुम चिन्ता क्यों करती हो । भगवान्के अनुकूल होनेपर वे तो दूसरे द्वीपसे, समुद्रके मध्यसे और दिशाओंके छोरसे भी अभिमत अर्थोंको लाकर मिला देते हैं । तब यह कार्य भी पूर्ण होगा ही । क्योंकि मैंने भी तो भगवान्की प्रेरणासे ही यह सम्बन्ध पक्का किया है ।

इस प्रकार यह श्लोक मुख्य रूपसे नटीकी चिन्ताकी निवृत्तिकेलिए नटके द्वारा कहा गया है । किन्तु वह प्रकृत नाटककी कथावस्तुको स्पष्ट कर रहा है । इस नाटककी नायिका रत्नावली सिंहलेश्वरकी पुत्री है । किसी ज्योतिषीने इस नाटकके नायक राजा उदयन और उनके मन्त्री यौगन्धरायणको बतलाया था कि सिंहलेश्वरकी पुत्री इस रत्नावलीके साथ जिसका विवाह होगा वह चक्रवर्ती साम्राज्यको प्राप्त करेगा । इस लिए उदयनकी ओरसे यौगन्धरायणने रत्नावलीका विवाह उदयनके साथ कर देनेका प्रस्ताव उसके पिताके सामने रखा । किन्तु उस समय उदयनकी रानी वासवदत्ता विद्यमान थी जो दूरके सम्बन्धमें रत्नावलीकी बहिन लगती थी । सिंहलेश्वरने यह सोचकर कि इस विवाहसे रत्नावलीकी बहिन वासवदत्ताको बलेश होगा—उस प्रस्तावको अस्वीकार कर दिया । कुछ समय बाद यौगन्धरायणने वासवदत्ताके मर जानेका समाचार फँसा देनेके बाद वहीं प्रस्ताव फिर सिंहलेश्वरके सामने रखा । इन बार वे सम्बन्ध करनेके लिए तैयार हो गए । उस प्रसङ्गमें रत्नावली सिंहलसे भारत घा रही थी । उसका जहाज डूब गया । वह जैसे-तैसे किसी बाण्ट के सहारे बचकर उपरसे आनेवाले व्यापारियोंके द्वारा यौगन्धरायणको प्राप्त हुई । यौगन्धरायणने उसे अपनी बहिन बतलाकर रक्षाके लिए राजमहलमें रानी वासवदत्ताके पास कुछ दिनोंके लिए रख दिया । यह कन्या सागरसे प्राप्त हुई थी इस लिए इसका नाम भी यौगन्धरायणने ‘सागरिका’ रख दिया था । कन्याको वासवदत्ताने अपने पास रख तो लिया किन्तु उसके अपूर्व रूप लावण्यको देखकर वह बड़ी सशङ्क हो गई कि कहीं राजाकी दृष्टि

यथा वा 'सत्यहरिश्चन्द्रे'—

“सत्त्वैकतानवृत्तीनां प्रतिज्ञातार्थकारिणाम् ।
प्रभविष्णुर्न देवोऽपि किं पुनः प्राकृतो जनः ॥”

इत्यामुखोक्तं हरिश्चन्द्र पठति ।

यथा वा अस्मदुपज्ञ एव 'याद्वाभ्युदये'—

उद्याभिमुख्यभाजा सम्पत्त्यर्थं विपत्तयः पुंसाम् ।
खलितानले प्रपातः कनकस्य हि तेजसो वृद्धयै ॥

इति नाटकपात्र गुप्तमन्त्र पठति ।

इस पर न पड़ जाय । इस लिए वह बड़े यत्न पूर्वक राजा उदयनकी दृष्टिसे उसकी वचाए रखनेका यत्न करती थी । किन्तु राजमहलमे रहकर यह कब तक सम्भव था । आखिर राजा के कानो तक उसके रूप लावण्यकी चर्चा पहुँची ही । और फिर सब प्रकारके उपायोंका भवलम्बन करके राजाने उसका साक्षात्कार करने और अन्तमे उसके साथ विवाह करनेमे सफलता प्राप्त कर ही ली ।

इस क्रमसे अनुकूल देवने सिंहल नामक दूसरे द्वीपसे, समुद्रके मध्यसे और दिशाओ धोरसे रत्नावलीको लाकर उदयनके साथ सम्बद्ध कर ही दिया । इस प्रकार कामुखमे जो यह श्लोक केवल नटीकी सान्त्वनाके लिए कहा गया था वह नाटककी मुख्य कथा वस्तुका स्पर्श कर रहा है । इसलिए कामुखकी समाप्तिके बाद जब नाटकके पात्रके रूपमे उदयनके मन्त्री योगन्धरायण रङ्गमञ्च पर प्रविष्ट होते हैं तो फिर वे इस श्लोकको दोहराते हैं । कामुखमे पड़ा हुआ यह श्लोक मुख्य कथाभागका स्पर्श करनेवाला होनेपर भी केवल नटीक्तिमात्र था, नाटकका भाग नहीं । इसी लिए मुख्य नाटकसे सम्बद्ध करनेके लिए योगन्धरायणके द्वारा उसका पुनः पाठ दिखलाया गया है । इसी प्रकारके और उदाहरण भी आगे देते हैं ।

अथवा जैसे 'सत्यहरिश्चन्द्र' [नाटक] मे—

केवल सत्त्व-प्रधान वृत्तियों वाली और प्रतिज्ञात अर्थको [निश्चित रूपसे] पूर्ण करने वाली [के मार्गमे बाधा डालने] के लिए देव भी समर्थ नहीं होता है फिर साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या ।

कामुखमे कहे हुए इस [श्लोक] को [नाटकके पात्रके रूपमे प्रविष्ट हुआ] हरिश्चन्द्र [फिर दुबारा] पढ़ता है ।

अथवा जैसे हमारे ही बनाए हुए यादवाम्बुदय मे—

उन्नतिकी और प्रगतिशील पुष्टियोंकी विपत्तियाँ भी उनके अम्बुदय [सम्पत्ति] के लिए ही होती हैं । सोनेका प्रश्वलित अग्निमें पड़ना भी उसकी कान्तिकी बढ़ानेवाला होता है ।

[कामुखमे घाए हुए कथा स्पर्शा इस धीजभूत श्लोककी] गुप्तमन्त्र [नामका पात्र फिर] पढ़ता है ।

ये तीनों श्लोक उम-उस नाटकके कामुखमे किसी अन्य रूपमें कहे गए हैं किन्तु उनके द्वारा मुख्य नाटकके आख्यान वस्तुकी धीज रूपमे सूचना मिलती है । सूत्रपात्र भी मुख्य नाटकके आख्यान वस्तुकी सशित रूपमे सूचित करनेकी दृष्टिसे ही उन दनेवमय श्लोकोंका

तत्र यीर्जं क्वचिद् व्यापाररूपम् । यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावली-
प्राप्तिहेतुरनुकूलदेवः सागरिहान्तःपुरनिक्षेपादियौगन्धरायणव्यापारः ।

क्वचित्तु व्यसननिवृत्तिफले रूपके व्यसनोपक्षेपरूपम् । यथा 'मायापुष्पके'
शाप प्रविश्य वचनक्रमेणाह—

कैकेयी क्व पतिव्रता भगवती क्वैवंविधं चागिवर्षं
धर्मात्मा क्व रघूद्वह् । क्व गमितोऽरण्यं सजायानुजः ।
क्व स्वच्छो भरतः क्व वा पितृवधानमात्राधिकं दहते
किं कृत्वेति कृतो मया दशरथे वधे कुलस्य च्यः ॥

प्रयोग करता है । परन्तु ग्रामुख भागमें प्रयुक्त इस प्रकारकी उत्तियोकी बीज नहीं माना जाता है । ग्रामुखके बाद बीजका आरोपण होता है । इसी लिए ग्रामुखकी समाप्तिके बाद मुख्य नाटकका जो पात्र रङ्गमञ्चपर आता है उसके द्वारा इस प्रकारकी उत्तियोकी पुनः कहलाकर नाटककार बीजका आरोपण करता है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

यह बीज रूप उपाय, नाटकोके आख्यान-वस्तुके अनुसार विभिन्न रूपका होता है । नाटकका प्रवसान जिस रूपमें होना है उसीके अनुसार नाटकके आरम्भमें उसका बीजारोपण किया जाता है । इस प्रकारके चार उदाहरण ग्रन्थकार प्रागे प्रस्तुत करते हैं । इनमें से पहिला उदाहरण रत्नावली नाटिकासे दिया गया है । रत्नावली नाटिकामें जैसेकि पहिले कहा जा चुका है सागरसे प्राप्त हुई रत्नावलीको योगन्धरायणने सागरिका नामकी अपनी बहिन कहकर उदयनके राजमहलमें वासवदत्ताके पास रत्न दिया है । यही इसका बीज भाग है । इसीके द्वारा वत्सराज उदयनको प्रागे चलकर रत्नावलीकी प्राप्ति हो सकी है । यह बीज योगन्धरायणका व्यापार-रूप है । इसी बातको प्रागे लिखते हैं—

और वह बीज कहीं व्यापाररूप होता है । जैसे रत्नावली [नाटिकामें] वत्सराज [उदयन] को रत्नावलीकी प्राप्ति करानेवाला देवकी अनुकूलतासे युक्त सागरिकाका अन्त पुरमें [वासवदत्ताके समीप] रखने आदिका योगन्धरायणका व्यापारः ।

इस प्रकार रत्नावलीमें योगन्धरायणका व्यापार बीजभूत उपायके रूपमें प्रयुक्त हुआ है । इसमें रत्नावलीकी प्राप्ति नाटकका अन्तिम फल अभीष्ट है इन लिए रत्नावलीका अन्त पुर-निक्षेप उक्त फल कहनेसे 'बीज' है । जिस नाटकमें किसी विपत्तिकी निवृत्ति आख्यान वस्तुका चरम फल अभीष्ट होता है उसमें उक्त विपत्तिका आरम्भ ही 'बीज' रूप उपायके रूपमें प्रस्तुत किया जाता है । इसका उदाहरण प्रागे देते हैं ।

यहाँ, जहाँकि [नायकपर आनेवाली किसी] विपत्तिका निवारण ही [नाटकका मुख्य] फल है । उस नाटकमें विपत्तिका आरम्भ [बीज रूपमें प्रस्तुत किया जाता है] । जैसे 'माया-पुष्पक' [नाटक] में [धरणीकुमारके घषके बाद उसके घन्ये माता-पिता द्वारा दशरथको दिया हुआ] शाप [मानव रूपमें] प्रविष्ट होकर वचनक्रमसे [नाटकके भावी आख्यान-वस्तुको] करता है—

यहाँ तो पतिव्रता भगवती कैंकेयी और यहाँ इस प्रकारका वालीका विष [उदयन]। यहाँ परमात्मा रामचन्द्र और यहाँ उसको रभी और भाईके शाप वचनको भेजा जाना, यहाँ स्वयं दृश्य भरत और यहाँ पिताके वषके कारण मात्रासे भी अग्रिम अग्रिमित सम्पादनको

कवचिद् व्यसनोपनिपाते तन्नित्युपक्रमरूपम् । यथा 'तापसवत्सराजे' माणवकः—

“अमन्त्रो वि एवं मामिणा अप्पणो पट्टिकुलमायरतेण दढं आयासिदो ।
पथुदं च खेण कमणमिस्सेट्टि सद्ध संपधारिय सामिभत्तीए मद्धिविद्वस्स य
अणुत्तवं” इत्यादि ।

[अमात्योऽप्येवं स्वामिना आत्मनः प्रतिकूलमाचरता दृढमायासितः ।
प्रस्तुत चानेत कमण्वन्मित्रैः सद् मन्त्रधार्य स्वामिभक्त्या मतिविभवस्य चानुरूपम् ।
इति मन्त्रकृतम्] ।

कवचिद् व्यसनोपनिपाते तन्नित्युपक्रमरूपम् । यथा मुद्राराक्षसे चाणक्यः—

“आः क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिविदुमिच्छति ।

नन्दकुलकालभुजगी कोपानलवह्लधूमलताम् ।

अद्यापि वध्यमानां वध्य को न्च्छति शिगां मे ॥

इत्यादि नायक प्रतिनायक-अमात्याद्याश्रयेण विचित्ररूपो योजोपन्यास इति ।

[प्रथवा माताके द्वारा दुलकी] भोग रहा है । [मुझ श्रापके द्वारा] केवल दशरथके ही वध्य होने पर भी मैंने यह सारे कुलका विनाश क्यों कर डाला ।

कहाँ व्यसन तथा अग्न्युदय [अर्थात् पहले होनेवाले व्यसन या विपत्ति और उसके बाद प्राप्त होनेवाले अग्न्युदयका प्रदर्शन जिस नाटकको यथा वस्तुमें किया गया है उस प्रकार के नाटकमें] दोनोंका [योज रूपमें] उपक्षेप [होता है] जैसे तापसवत्सराजचरितमें माणवक [प्रविष्ट होकर कहता है कि]—

इस प्रकार स्वामीने [वत्सराज उदयनने] स्वयं अपने प्रतिकूल आचरण करके अमात्य को भी अत्यन्त बट दिया । किन्तु उस [अमात्ययोगन्धरायण] ने स्वामिभक्ति और अपने बुद्धि-युक्तके अनुहय [इससे मन्त्री] रमण्वान् मित्रके साथ विचार कर [कार्यका] आरम्भ कर दिया ।

कहाँ [आरम्भमें नायकके ऊपर] विपत्तिके आने [को सम्भावना होने] पर उसकी निवृत्तिका उपक्रम [योज रूपमें प्रस्तुत किया जाता है] जैसे मुद्राराक्षसमें चाणक्य [कहता है]—

अरे मेरे रहते यह कौन चन्द्रगुप्तको बलपूर्वक अभिभूत करना चाहता है ।

यह कौन मृत्युका अभिलाषी [व्यय क] नन्दकुल [का विनाश करनेवाला, उस] की काली नागिन रूप और [मेरे] प्रचण्ड कोपान्तकी नीली धूमरेखा रूप मेरी शिपाको घाज [नन्दकुलका नाश हो जानेपर] भी घँघने नहीं देना चाहता है ।

इत्यादि । [इस प्रकार] नायक-प्रतिनायक अमात्य आदिके आश्रयमें [नाटकके] योजका आरोपण नाना प्रकारसे किया जा सकता है ।

मुद्राराक्षसमें राक्षस और मलयकेतु मिलकर चन्द्रगुप्तको राज्यस्युत करनेकी योजना बना रहे हैं । नन्दगुप्तका विनाश कर चाणक्यन ही चन्द्रगुप्तको राजा बनाया है । इसलिए जब उसे यह मालूम होना है कि मलयकेतुके साथ मिलकर नन्दकुलका गुराना मन्त्री राक्षस चन्द्रगुप्तको राज्यस्युत करना चाहता है तब उसने यह श्लोक कहा है । यही श्लोक मुद्राराक्षस नाटकका बोधभूत है । इसीके साथ प्रमात्याघाते रूपमें आग कदाभागमें चाणक्य तथा राक्षस दोनोंके प्रदर्शनादि परिचय मिलता है । उसका परिणाम अन्तमें राक्षसका चाणक्यको आत्म-समर्पण होता है ।

पताका-निरूपण—

इस कारिकाके पूर्वार्द्ध-भागमें बीजरूप प्रथम उपायका वर्णन किया गया है। अब उत्तरार्द्ध-भागमें पताका रूप दूसरे उपायका वर्णन प्रारम्भ करते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पाँच उपायोको चेतन तथा अचेतन भेदसे दो भागमें विभक्त किया गया है। पाँचों साधनोंमेंसे बीज तथा कार्यरूप रूप दो उपायोको अचेतन साधनोंमें और शेष पताका प्रकारी तथा बिन्दु रूप तीन उपायोको चेतन साधनोंमें गिना जाता है। पिछले प्रकरणमें 'बीज' रूप अचेतन साधनका वर्णन किया था इस लिए सामान्यतः उसके बाद दूसरे अचेतन साधन 'कार्य'का वर्णन करना चाहिए था। किन्तु मूल कारिकामें 'बीज' के बाद 'पताका' का नामत कथन या उद्देश्य किया गया है। इसलिए उद्देश्य क्रमसे ही उनके लक्षण करना उचित मानकर 'बीज' के बाद 'पताका' का लक्षण किया गया है—पाँचों उपायोका नामत कथन या उद्देश्य करनेवाली कारिकामें जो बीजके बाद पताकाका नाम रखा गया है वह कदाचित् छन्दोऽनुरोधसे ही रखा गया है।

पताका शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ध्वजा है। परन्तु यहाँ वह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। ध्वजा रूप पताका अचेतन पदार्थ है। यहाँ पताका शब्दसे चेतन अर्थका ग्रहण किया गया है। इस लिए पताका शब्दका मुख्य प्रसिद्ध अर्थ यहाँ सङ्गत नहीं होता है। यहाँ नायकके कार्यकी सिद्धिमें सहायता देनेवासे किसी चेतन व्यक्तिके लिए 'पताका' शब्दका प्रयोग किया गया है। जैसे रामचन्द्र, के चरित्रमें सीतानयन आदि रूप कार्यकी सिद्धिमें उनके सहायक सुग्रीव रहे हैं इस लिए वे 'पताका' या 'पताका-नायक' कहलाते हैं। पताका जिस प्रकार प्रसिद्धि तथा प्राशस्त्यकी सूचिका होती है। इसी प्रकार पताका-नायक भी प्रधान-नायककी प्रतिदि तथा प्राशस्त्य आदिका सूचक होता है। इस लिए पताका के सदृश होनेसे उसको भी 'पताका' या 'पताका-नायक' कहा जाता है।

पताका और प्रकरी—

'पताका'के साथ ही दूसरा शब्द 'प्रकरी' भी इन पाँचों उपायोकी वर्णनामें प्रयुक्त किया गया है। ये दोनों प्रधान नायककी कार्यसिद्धिमें उसके प्रधान सहायक होते हैं। इन दोनोंमें परस्पर यह अन्तर होता है कि 'पताका-नायक'का अपना भी कुछ स्वार्थ होता है। और 'प्रकरी'का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता है। 'पताका-नायक' अपने स्वार्थकी सिद्धिके साथ-साथ प्रधान-नायकके कार्यकी सिद्धिमें सहायक होता है। किन्तु 'प्रकरी' अपने किसी स्वार्थकी अपेक्षा न रखकर निरपेक्ष भावसे प्रधान-नायकका सहायक होता है। 'रामचरित'में सुग्रीव 'पताका-नायक' है और जटायु 'प्रकरी' का उदाहरण है। सुग्रीव वासिसे अपने राज्य और अपनी पत्नीको वापिस दिलानेके स्वार्थको सिद्ध कर रामका सहायक बना है। और जटायु निरपेक्ष भावसे रामकी सहायता करता है। इस लिए स्वाधंसिद्धियुक्त होनेके कारण सुग्रीव 'पताका-नायक' और केवल परार्थसिद्धि-पर होनेके कारण जटायु 'प्रकरी नायक' है। इसी अन्विष्टयको लेकर आगे पथकार 'पताका' और 'प्रकरी' के लक्षण देते हैं। उनमेंसे भी पहिले वे पताकाका लक्षण करते हैं।

पताका और प्रकरी का दूसरा भेद—

पताका और प्रकरीका एक भेद तो यह हुआ कि पताका नायकके साथ स्वार्थका

सम्बन्ध भी रहता है और प्रकरीके साथ स्वाथंसिद्धिका कोई प्रदन नहीं रहता है। इनका दूसरा भेद दोनोंके चरित्रकी व्यापकताकी दृष्टिसे है। 'प्रकरी' का चरित्र बिलकुल एकदेशी और सीमित होता है। 'पताका-नायकका चरित्र उसकी अपेक्षा पर्याप्त बड़ा और अधिक देश-व्यापी होता है। पताकाका लक्षण करते हुए जो 'आ विमर्शात्' पद दिया गया है उससे पताका-नायकके चरित्रकी व्यापकता ही प्रदर्शित की गई है। नाटकके कथाभागको पाँच भागोंमें बाँटकर उसमें पाँच प्रकारकी सन्धियोंका प्रयोग करनेका विधान किया गया है। इन सन्धियोंके नाम—१. मुख-सन्धि, २ प्रतिमुख सन्धि, ३ गर्भ सन्धि, ४. विमर्श-सन्धि और ५ निर्वहण-सन्धि रखे गए हैं। इनमें पताका-नायकका चरित्र मुख सन्धिसे प्रारम्भ होकर 'आ विमर्शात्' विमर्श सन्धितक व्याप्त हो सकता है। 'आ विमर्शात्' पदमें आए हुए भाङ्-उपसर्गके भी दो अर्थ हैं। एक 'मर्यादा' और दूसरा 'अभिविधि'। 'तेन विना मर्यादा' और 'तस्मिन्निहा अभिविधि'। आ-विमर्शात् पदमें यदि भाङ्-उपसर्गको मर्यादाअर्थ मानें तो 'तेन विना' अर्थात् विमर्श सन्धिको छोड़कर अर्थात् गर्भ सन्धि पर्यन्त पताका नायकके चरित्रका क्षेत्र रहता है। और यदि भाङ् उपसर्गको 'अभिविधि' अर्थमें मानते हैं तो 'तेन सह अभिविधि' इस लक्षणके अनुसार 'आविमर्शात्' पदमें विमर्श-सन्धिको भी सम्मिलित करने मुख, प्रतिमुख, गर्भ और विमर्श इन चारों सन्धियोंमें पताका नायकका चरित्र व्यापक हो सकता है। परन्तु 'प्रकरी' का चरित्र बिलकुल एकदेशी होती है।

पताका अनिवार्य नहीं—

पताका और प्रकरी दोनोंके विषयमें एक बात यह और ध्यान रखने की है कि इन दोनोंमेंसे किसीकी भी स्थिति नाटकमें अनिवार्य नहीं है। इन दोनोंके बिना भी नाटककी रचना हो सकती है। इनकी आवश्यकता उसी दृष्टिकोणसे है जब मुख्य-नायकको सहायककी आवश्यकता होती है। जिस नायकको इस प्रकारके सहायककी आवश्यकता नहीं होती उसके चरित्रको लेकर लिखे गए नाटक की रचना इनके बिना भी की जा सकती है।

पताका और पताका स्थान—

इस सम्बन्धमें एक बात और ध्यानमें रख लेनी चाहिए कि यह पताका शब्द कभी-कभी भ्रम उत्पन्न कर देता है। यह जो यहाँ पताकाका लक्षण किया जा रहा है वह प्रधान-नायकके सहायक पताका-नायकका लक्षण किया जा रहा है। इसके प्रतिरिक्त चार प्रकारके पताका स्थानोंका वर्णन भी आगे आयेगा। वे 'पताका स्थान' इस पताकाके बिलकुल भिन्न वस्तु हैं। जहाँ केवल 'पताका' शब्दका प्रयोग किया जाता है वहाँ उससे 'पताका-नायक'का ही ग्रहण होता है। पताका स्थानोंकी चर्चा जहाँ अभिप्रेत होती है वहाँ केवल पताका शब्दका प्रयोग न करके 'पताका स्थान' शब्दका ही प्रयोग किया जाता है। इन दोनोंके नामोंमें अत्यधिक साम्य होनेके कारण ही अन्वयकारने पताका लक्षणके बाद ही 'पताका-स्थानोंका' भी वर्णन कर दिया है। वेमें साधारणतः हम स्थान पर उनके वर्णनका कोई प्रसङ्ग नहीं था।

इस विवरणको समझ लेने पर स्पष्ट यह हुए पताका-लक्षणके सम्बन्धमें मारलगा होगा।

अथ पताका निरूपयति—

[सूत्र २७]—आविमर्शं पताका चेच्छेत्तनः स परार्थकृत ॥२६॥

स्वार्थाय प्रवृत्तो यो हेतुश्चेत्तन परस्य प्रधानस्य प्रयोजनं सम्पादयति स प्रसिद्धि प्राशास्यहेतुत्वात् पताका 'पताका'। सुश्रीव विभीषणादिर्हि रामादिनोप-
क्रियमाणो रामादेरात्मनश्चोपकाराय भवन्, रामादे प्रसिद्धि प्राशास्यं च सम्पाद-
यति। 'चेत्' इति यदि फलसाधने साहाय्यापेक्षाणां नायकानां वृत्तं निवध्यते, तदा
पताका भवति। न तु स्वपराक्रमवहुमानिनामिति। एवं प्रकर्ष्यपि। अविमर्शमिति
यदा मर्यादायामाद्, तदा मुग्ध-प्रतिमुल-गर्भान्, यदा पुनरभिविधौ, तदा विमर्श-
मभिव्याप्य विरमति। तावत्स्येव पताकानायकस्य स्वफलसिद्धिनिवध्यते। निर्वहण-
सन्धावपि तत्काले निवध्यमाने तुल्यकालयोत्पकार्योपकारकत्वाभावात्, न तेन
प्रधानस्योपकार रयान्। सिद्धफलस्त्वसौ प्रधानफल एव व्याप्रियमाणो भूतपूर्वगत्या
पताकाशब्दवान्य इति ॥२६॥

अथ [स्वार्थसिद्धिके साथ साथ परार्थसिद्धि-पर उपकरणभूत चेतनसाधन रूप] पताका
का निरूपण करते है—

[सूत्र २७]—[पताकाका होना अपरिहार्यं नहीं है किन्तु] यदि वह चेतन [स्वार्थसिद्धि-
सहित] परार्थकारी हो तो [मुलसहि पसे लेनर] विमर्शसन्धि-पर्यन्त 'पताका' [नायक] हो
सकता है। निर्वहणसन्धिमे उसकी स्थिति नहीं रहनी चाहिए। ॥२६॥

जो चेतन हेतु अपने स्वार्थके लिए प्रवृत्त होनेपर भी दूसरे अर्थात् प्रधान नायकके
प्रयोजनको सिद्ध करता है वह [प्रधान-नायककी] प्रसिद्धि एव प्राशस्त्यका हेतु होनेसे पताका
के समान [गौरव रूपसे] 'पताका' [कहलाता] है। सुधीय विभीषणादि रामादिके द्वारा उप-
वृत्त होकर रामादिके और अपने दोनोंके उपकारक होकर रामादिकी प्रसिद्धि और प्राशस्त्य
को सिद्ध करते हैं [इसलिए 'पताका' कहलाते हैं]। 'चेत्' इस पदसे [यह वान सूचित की है
कि] यदि फलसाधनमे साहाय्यकी अपेक्षा रखने वाले नायकके चरित्रका वर्णन किया जाता
है तब तो पताका होता है किन्तु अपने ही पराक्रमको बहुत समझने वाले [नायकके चरित्र
के वर्णन] मे [पताका नायक] नहीं होता है। इसी प्रकार 'प्रवरी' मे भी समझना चाहिए।
'आ-विमर्श' इस पदमे जब आद् 'मर्यादा' अर्थमे है तब [तेन विना मर्यादा] उस विमर्श-
सन्धिके छोड़कर] मुल प्रतिमुल और गर्भसन्धिप्रयोगे, और जब 'अभिविधि' मे [आद्का प्रयोग
माने तो तेन सह अभिविधि] उस विमर्श सन्धिके भी सम्मिलित करके] विमर्श सन्धि पर्यन्त
पताका [नायकका चरित्र] समाप्त होता है। [अधिकमे अधिक] वहाँ तक ही पताकानायक
के अपने फलकी सिद्धि हो जाती है। यदि निर्वहण सन्धिमे भी उस [पताका नायक] के फल
का वर्णन किया जाय तो समान बाल तब रहने वाले [प्रधान-नायक और पताका नायकके
चरित्रप्रयोगे] उपरार्थ-उपकारक भावके सम्भव न होनेसे उस [पताका-नायक] के द्वारा प्रधान-
नायकका उपकार नहीं हो सकेगा। [विमर्श-सन्धि पर्यन्त ही] फलकी सिद्धि हो जानेपर तो
[निर्वहणसन्धिमे] यह प्रधान-नायकके फलके लिए ही यत्न करना हुआ [अथ पताका न
रहनेपर भी] भूतपूर्व गतिमे 'पताका' शब्दमे कहा जाता है ॥२६॥

अथ पताकाप्रस्तावात् पताकास्थानकानां सामान्यलक्षणं भेदांश्चाह—

[सूत्र २८]—चिन्तितार्थात्परप्राप्तिर्धृत्तै यत्रोपकारिणी ।

पताकास्थानकं तच्च चतुर्द्धा मण्डनं क्वचित् ॥३०॥

'अर्थः' कर्म-करणव्युत्पत्त्या प्रयोजनमुपायश्च। अध्यवसितात् प्रयोजनादुपायाच्च अन्यस्य प्रयोजनस्योपायस्य च प्राप्ति र्यत्रैतिवृत्ते उपकारिणी, प्रधानफलोपकारिका तद्वितिवृत्तं पताकास्थानकम्। उपकारित्वमात्रमास्यात् पताकास्थानस्य तुल्यं पताकास्थानकम्। न पुनः पताकास्थानमेव। अत एव तु शब्दः पताकास्वरूपात् व्यतिरेकं द्योतयति। मण्डनमिति एरुमपि पताकास्थानकं नाट्य-काव्यालङ्करणं किं पुनर्द्धं त्रीणि चत्वारि वा। एतद्विहीनं रूपकं न कार्यमित्यर्थः। क्वचिदिति अन्तरान्तरा, न तु पताकावन्निरन्तरम्। अत एव पताकातो भिद्यते ॥३०॥

पताकास्थान—

इस प्रकार पताकाका प्रकारण होनेसे [उसमे मितते हुए] पताका स्थानके सामान्य लक्षण और उसके भेदोंको कहते हैं—

[सूत्र २८]—सोचे हुए अर्थ [अर्थात् प्रयोजन तथा उपाय] से दूसरे [प्रयोजन या उपाय रूप] अर्थकी [प्रनायाम] प्राप्ति जहाँ इतिवृत्त [आएयान घट्] में उपकारिणी हो जाती है वह [नाटकमे निरन्तर न रट्पर] यहाँ-यहाँ होने वाला चार प्रकारका 'पताकास्थान' [नाट्य रूप काव्यका शोभाजनक] शोभार्थापायक होता है ॥३०॥

'अर्थ' शब्दमे [अर्थ्यते इति अर्थ] इस प्रकारकी कर्ममे व्युत्पत्तिमे प्रयोजन, तथा [अर्थ्यते येन स अर्थ] इस प्रकारकी कारण व्युत्पत्तिसे उपाय [दोनों 'अर्थ' कहलाते हैं]। निश्चित सिद्धे हुए प्रयोजन तथा उपायसे भिन्न प्रयोजन तथा उपायकी प्राप्ति जहाँ कथाभाग की उपकारिणी अर्थात् प्रधान फलकी [सिद्धिमें] उपकारिणी होती है वह कथाभाग [इतिवृत्त] 'पताकास्थानक' [कहलाता] है। [पहले पहले हुए पताका-नायकके समान प्रधानके] उपकारकत्वमात्रकी समानताके कारण पताकाकी अर्थात् पताका-नायकके स्थान अर्थात् स्थितिके तुल्य होनेसे यह 'पताकास्थान' [कहलाता] है। [पताका नायक की स्थिति रूप न होनेसे] 'पताकास्थानोप' ही नहीं है। [अर्थात् पताकास्थान पताका स्वरूप नहीं किन्तु प्रयानोपकारकत्वकी समानताके कारण पताकासे तुल्य है]। इतीतिवृत्त [कारिकामे घाया हुआ] तु-दास पताकाके स्वरूपमे [पताकास्थानके] भेदको सूचित करता है। 'मण्डनम्' इत्ये [एकवचन] से [यत् सूचित किया है कि एव स्थानपर प्रयुक्त]। एक भी पताकास्थान नाट्य-काव्यका शोभार्थापायक हो जाता है फिर दो, तीन, चार [प्रकारके कहे जाने वाले अथवा अधिक स्थानोंपर प्रयुक्त हुए पताकास्थानों] का तो कहना ही गया है। [नाटकमे विशेष रूपसे पताकास्थानका प्रयोग अवश्य करना चाहिए] इसके बिना रूपक [की रचना] को नहीं करना चाहिए, यह अभिप्राय है। [कारिकामे घाया हुए] 'क्वचित्' इस [पद] से [यत् सूचित किया है कि नाटकमे] दोष धोचम [कहाँ-कहाँ ही पताकास्थानोंका प्रयोग करना चाहिए] पताका [नायक] के समान निरन्तर [उसको उपस्थित घायायक] नहीं [है] इतीतिवृत्त [पताका स्थान] पताका [नायक] से भिन्न [माना जाता है] ॥३०॥

अथ आद्यभेदमाह—

[सूत्र २६]—सहस्रेष्टार्थलाभश्च

‘सहस्र’ इत्याकस्मिक्त्वेन सभ्यानां चमत्कारहेतुत्वमाह । यथा ‘रत्नावल्यां’ सागरिकायां पाशावलम्बनप्रवृत्तायां वासवदत्तेति मन्यमानो राजा पाशाद्विमोचयति, तदा तदुक्त्या सागरिकां प्रत्यभिज्ञायाह—

“कथं मे प्रिया सागरिका ? अलमलमतिमात्रेण ।” इत्यादि ।

अत्रान्यन् प्रयोजनं चिन्तितं, वैचित्र्यकारि च प्रयोजनान्तरं सम्पन्नम् ।

यथा वा ‘नलविलासे’, विद्रूपरू-कापालिकनियुद्धनिवारणाद्योद्यतस्य राज्ञो दमयन्तीप्रतिकृतिलाभ इति ।

अन्यस्मिन्नुपाये चिन्तिते सहस्रोपायान्तरप्राप्तिर्यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य शालचूडादप्राप्तवध्यपटस्य कञ्चुकिना चासोयुगलार्पणमिति ।

अथ [चार प्रकारके पताकास्थानोपेसे] प्रथम भेदको बहते हैं—

[सूत्र २६]—सहसा [आकस्मिक रूपसे प्राप्त होनेके कारण सम्मोके लिए चमत्कारजनक] इष्ट वस्तुकी प्राप्ति [का वर्णन प्रथम प्रकारका पताकास्थान कहलाता है] ।

‘गहसा’ इस [पद] से आकस्मिक रूपसे प्राप्त होनेके कारण सम्मोके चमत्कारका हेतुत्व सूचित किया है । जैसे रत्नावलीमें [तृतीय अक्रमे] सागरिकाके [अपने गलेमें] फाँसी लगानेमें प्रवृत्त होनेपर राजा उदयन उसको [अपनी मुख्य रानी] वासवदत्ता समझकर फाँसी से छुडाते हैं । उस समय उसकी उत्तिको सुनकर सागरिकाको पहिचान कर कहते हैं कि—

“अरे यह तो मेरी प्रिया सागरिका है । हटो हटो यह प्रतिज्ञाहस्त मत करो ।” इत्यादि ।

यहाँ [राजा उदयनने वासवदत्ताको पात्रसे छुडाने रूपमें] कुछ दूसरा ही प्रयोजन सोचा था किन्तु [सम्मोके लिए और स्वयं राजाकेलिए भी] चमत्कार-जनक [आकस्मिक अचिन्तित रूपसे सागरिकाकी प्राप्ति रूप] कुछ और ही [प्रयोजन अर्थात्] कार्य हो गया ।

अथवा जैसे नलविलासमें विद्रूपक और कापालिककी लडाईको बचानेकेलिए उद्यत [अर्थात् लडाई बचानेका प्रयत्न करते समय] राजा [नल] को [विद्रूपकके बगलमेंसे निकल कर गिरी हुई] दमयन्तीकी तस्वीरकी प्राप्ति ।

इससे पूर्व वारिकामे प्राए हुए ‘अर्घ्य’ शब्दकी व्याख्या करते समय वरमं और वरण रूप दो प्रकारकी श्रुतिमान बन कर ‘अर्घ्य’ शब्दके ‘प्रयोजन’ तथा ‘उपाय’ दो अर्थ किये थे । ‘सहस्रेष्टार्थलाभश्च’ इस प्रथम पताकास्थानके लक्षणमें भी ‘अर्घ्य’ शब्दके ये दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं । हमेंसे ‘प्रयोजन’ रूप अर्घ्यकी वेबर दो उदाहरण दे दिए । अब भागे ‘उपाय’ रूप अर्घ्यको वेबर भी एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

अथ उपायके सोचनेपर सहसा [अचिन्तित आकस्मिक रूपमें] अथ उपायकी प्राप्ति [का उदाहरण] जैसे नागानन्दमें जीमूतवाहनको शालचूडसे वध्यके [मारना करने योग्य] वस्त्रोंकी प्राप्ति न होनेपर [वस्त्राम् पाकर] कञ्चुकीके द्वारा [साल रणके] बपईके जोड़ोंका सम्पल [इष्ट वस्तुकी प्राप्ति करता है] ।

अथ द्वितीयमाह—

[सूत्र ३०]—रिल्लटासातिशया च वाक् ।

रिल्लटा प्रकृतसम्बद्धा, सातिशया अत्यद्भुतार्था । यथा 'रामाभ्युदये' द्वितीयेऽङ्के सीतां प्रति सुग्रीवस्य सन्देशोक्तिः—

“बहुनात्र किमुक्तेन पारेऽपि जलधे. स्थिताम् ।

अचिरादेव देवि त्वामाहरिष्यति राघव. ॥”

अत्र 'पारेऽपि जलधः' इत्यतिशयोक्तिरपि सीतां प्रति तथैव वृत्तत्वात् ऽकृत-सम्बद्धा । अत्र सातिशयोक्तिमात्राच्चिन्तितान् प्रयोजनादपरं तथैव सीताहरणं प्रयोजनं सम्पन्नमिति सामान्यलक्षणम् ।

इस प्रकार प्रथम प्रकारके पताकास्थानके तीन उदाहरण ग्रन्थकारने यहाँ प्रस्तुत किए हैं । इन तीनों उदाहरणोंमें नायकके द्वारा अचिन्तित, अत्यन्त आश्चर्यजनक रूपसे इष्ट प्रयोजन या इष्ट उपाय रूप इष्ट प्रयोजकी प्राप्ति हो गई है । इसलिए ये तीनों उदाहरण प्रथम प्रकारके पताकास्थानके हुए । अब द्वितीय प्रकारके पताकास्थानका वर्णन आरम्भ करते हैं । द्वितीय पताकास्थानमें सहसा इष्टकी प्राप्ति नहीं होनी है किन्तु प्रकृत प्रकरणसे सम्बद्ध कोई ऐसी अद्भुत बात किसी पात्रके मुखसे निकल जाती है जिसका आगेके कथाभागमें अद्भुत प्रभाव दिखलाई देता है । इसीका वर्णन आगे करते हैं ।

अब द्वितीय [पताकास्थान] को कहते हैं—

[सूत्र ३०]—[रिल्लटा] प्रकृत-सम्बद्ध और [सातिशया] अद्भुतार्थक वचन [द्वितीय प्रकारके पताकास्थान कहलाते हैं] ।

'रिल्लटा' प्रकृत [प्रकरण] से सम्बद्ध और 'सातिशया' अर्थात् अत्यन्त अद्भुत अर्थ-वाली [वाणीका आश्चर्यजनक प्रयोग द्वितीय प्रकारका पताकास्थान कहलाता है] । जैसे रामाभ्युदयमें द्वितीय अङ्कमें सीताके प्रति सुग्रीवकी [निम्नलिखित] सन्देशोक्ति [में पाया जाता है]—

“अधिक क्या कहा जाय, समुद्रके पार स्थित होनेपर भी हे देवी ! रामचन्द्रजी आपके शीघ्र ही ले आवेंगे ।”

यहाँ 'पारेऽपि जलधे स्थिताम्' समुद्र-पार रहनेपर भी यह अतिशयोक्ति [के रूपमें ही कहा गया] भी सीताके प्रति उसी प्रकार घटित होनेसे प्रकृतसे सम्बद्ध है । और यहाँ अतिशयोक्तिमात्रसे विचारित प्रयोजनसे भिन्न उसी प्रकार [समुद्रपारमें] सीताका आहरण रूप प्रयोजन हो गया । यह [पताकास्थानका] सामान्य लक्षण [भी इसमें समन्वित हो जाता] है ।

इसी प्रकार की उक्ति भवभूतिके उत्तररामचरित्रमें भी पाई जाती है । वसिष्ठ का प्रजाको प्रसन्न रखनेका सन्देश पानर रामचन्द्रजी अष्टावक्र मुनिसे कहते हैं—

स्नेहं दया च सौम्यं च यन्नि वा जानकीमपि ।

आराधनाय तोरस्य मुञ्चती नास्ति मे व्यथा ॥

अर्थात् लोकेके आराधनके लिए प्रजाकी प्रसन्नताके लिए मुझे स्नेह, दया, सौम्य और यहाँ तक कि स्वयं जानकीको भी छोड़ देनेमें कोई कष्ट नहीं होगा । यहाँ यह बात तो प्रति-

अथ तृतीयमाह—

[सूत्र ३१] द्वयर्था च

‘वाक्’ इति इह, उत्तरत्र च सम्बध्यते । द्वयर्था श्लेषादिवशात् प्रस्तुतोप-
योग्यर्थान्तरोपक्षेपिणी । यथा—

‘प्रीत्युत्कर्षकृतो दशामुदयनस्येन्दोरिचोदीक्षते ।’

अत्र हि सन्ध्याचर्णनप्रयोजनेन काट्यं प्रयुक्तं, सागरिकां प्रति उदयनाभि-
व्यक्तिलक्षणं प्रयोजनान्तरं सम्पादयति । तथा च सागरिका—

‘अयं सो राया उदयणो, जस अहं तादेण दिग्णा ।’ इति ।

[अयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता । इति संस्कृतम्] ।

प्रयोक्ति रूपमे ही कही गई थी किन्तु उसके बाद शीघ्र ही रामचन्द्रने अपने स्नेह, दया और सोस्यके साथ जानकीका भी परित्याग कर दिया है ।

इस द्वितीय पताकास्थानके लक्षणमे ‘श्लिष्ट’ पदका प्रयोग किया गया है किन्तु उसका अर्थ केवल ‘प्रवृत्तसे सम्बद्ध’ इतना ही है । यहां ‘श्लिष्ट’ पद दो अर्थके वाचक शब्दका प्राहक नहीं है । प्रथमे तृतीय पताकास्थानमे ‘श्लिष्ट’ अर्थात् द्वयर्थक पदके प्रयोग द्वारा चिन्तित अर्थ से भिन्न, प्रयोजन या उपाय रूप अन्य अर्थकी प्रतीति होती है । इस भेदके कारण तृतीय पताकास्थान पहिले और दूसरे दोनो पताकास्थानोसे भिन्न है । पहिले और दूसरे किसी भी पताकास्थानमे ‘श्लिष्ट’ अर्थात् द्वयर्थक पदका प्रयोग नहीं होता है । तृतीय पताकास्थानका आभार द्वयर्थक शब्द ही होता है । इसी कारण उसकी भांसे भिन्न रूपमे कहते हैं ।

अथ तीसरे पताकास्थानको कहते हैं—

[सूत्र ३१] दो अर्थवाली [वाणीका प्रयोग करके चिन्तित अर्थसे अन्य अर्थकी प्रतीति जिसमे होती है वह तृतीय पताका स्थान कहलाता है] ।

[द्वितीय पताकास्थानके लक्षणमे कहा हुआ] ‘वाक्’ यह पद यहां [तृतीय पताकास्थान के लक्षणमे] और भागे [चतुर्थ पताकास्थानके लक्षणमे] भी सम्बद्ध होता है । ‘दो अर्थवाली’ अर्थात् श्लेषादिके कारण प्रस्तुतके उपयोगी दूसरे अर्थका बोध करनेवाली वाणी जैसे [रत्न-यली नाटिकाके प्रथम अङ्कके प्राय अन्तमे वंतालिक राजाकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि]—

“उदीपमान चन्द्रमाकी नयनानन्ददायिनी किरणोंके समान [राजा लोग उदयन राजाके घरणोकी ओर] देख रहे हैं ।”

यहां संध्याचर्णनके प्रयोजनमे वाक्यका [श्लोकका] प्रयोग किया गया है किन्तु यह सागरिकाके प्रति उदयन [राजा रूप अर्थ] की अभिव्यक्ति रूप दूसरे प्रयोजनको सम्पादित कर रहा है । इसी लिए [इस श्लोकको सुननेके बाद] सागरिका [कहनी है कि]—

[अच्छा] ये वे राजा उदयन हैं जिन्हें पिताजीने मुझे [अपने संकल्प द्वारा] दिया था ।

इस श्लोकमे सन्ध्याका वर्णन प्रवृत्त है । उगमे ‘उदयनस्य’ यह पद श्लिष्ट अर्थात् दो अर्थोंका बोधक है । सामान्य रूपसे उमे नवोदिन चन्द्रमाके लिए प्रयुक्त किया गया है किन्तु उगमे उदयन राजाका भी बोध हुआ है । अतः यह तृतीय पताकास्थान है ।

अथ चतुर्थमाह—

[सूत्र ३२] अप्रकटे श्लिष्ट-स्पष्ट-प्रत्यभिधापि च ॥३१॥

अप्रकटे प्रत्युत्तरकारकेणाविज्ञानेऽर्थे केनचिदुपक्षिप्ते सति श्लिष्टमन्याभि-
प्रायप्रयुक्तमपि प्रस्तुतसम्बद्ध, स्पष्टं विशेषनिश्चयकारि, यत् प्रत्यभिधानं प्रत्युत्तरं,
तद्रूपा च वागिति ।

यथा मुद्राराक्षसे—

चाणक्यः—आप नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ?

एवमप्रकटेऽर्थे उपक्षिप्ते—

[प्रविश्य] सिद्धार्थकः—अय्य गहितो ।

[अर्थं गृहीत. । इति संस्कृतम् ।]

इति प्रत्युत्तरं प्रस्तुतार्थसम्बद्ध विशेषनिश्चयकारि च ।

अत एव पुनः—

अथ चतुर्थं [पताकास्थान] फो कहते हैं ।

[सूत्र ३२]—अप्रकट [अर्थात् उत्तर देनेवाले व्यक्तिप्रको भी अज्ञात] अर्थके उपस्थित होने पर [अन्य अभिप्रायसे कहा जानेपर भी प्रकृत प्रकारणसे] सुसम्बद्ध तथा [उस प्रस्तुत अप्रकट अर्थके विषयमें विशेष रूपसे निश्चय करानेवाला] स्पष्ट उत्तर भी [चतुर्थ प्रकारका पताकास्थान कहलाता है । ३१ ।

अप्रकट अर्थात् प्रत्युत्तर देनेवालेको अविदित अर्थको किसी [यक्ताके द्वारा] प्रस्तुत किए जानेपर श्लिष्ट अर्थात् अन्य अभिप्रायसे कथित होनेपर भी प्रकृत अर्थसे सम्बद्ध और स्पष्ट अर्थात् [उस प्रस्तुत अप्रकट अर्थके विषयमें] विशेष निश्चय करानेवाला जो उत्तर उस रूपकी वाणी [चतुर्थ प्रकारका पताकास्थान कहलाता है] ।

जैसे मुद्राराक्षसमें—

“चाणक्य—यया दुरात्मा राक्षस पकडमे आ सकेगा ?”

इस प्रकारके अप्रकट [अर्थात् उत्तर देनेवाले सिद्धार्थकको जिस बातका ज्ञान नहीं है, अर्थात् सिद्धार्थकने इस बातको नहीं सुना है उस प्रकारके] अर्थके प्रस्तुत होनेपर—

‘[अन्य कार्यवश चाणक्यके पास आया हुआ] सिद्धार्थक [प्रविष्ट होकर कहता है] आप [आफा सदेश] प्रहण कर लिया ।’

सिद्धार्थकके प्रवेशके पहिले चाणक्यने स्वगत रूपसे ‘अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत’ यह वाक्य कहा था । सिद्धार्थकने उस वाक्यको नहीं सुना था । उसे इस बातका कोई ज्ञान नहीं था । किन्तु चाणक्यके इस वाक्यके उच्चारण करनेसे मालूम हो अर्थ कार्यवश चाणक्यके पास आया हुआ सिद्धार्थक प्रविष्ट होकर कहता है ‘अर्थं गृहीत.’ । तब इस वाक्यका चाणक्यके वाक्यके साथ सम्बन्ध बन जाता है और उससे चाणक्यको यह प्रतीत होता है कि ‘आप दुरात्मा राक्षस पकड लिया गया समझो ।’

[इस प्रकार सिद्धार्थक द्वारा कहा गया] यह प्रत्युत्तर प्रस्तुत [राक्षस प्रहण रूप] अर्थसे सम्बद्ध ३३३ विशेष रूपसे [राक्षसके पकडे जानेपर] निश्चय करनेवाला [हो जाता] है ।

चाणक्यः—[सहर्षमात्मगतम्] इन्त गृहीतो दुरात्मा राक्षसः । इति ।

इदं प्रत्युत्तरं मन्देश-ग्रहणज्ञापनप्रयोजनेन प्रयुक्तं, चाणक्यस्य राक्षसग्रहं निश्चाययति इति सामान्यलक्षणम् ।

प्रत्येकं चकारश्चतुर्णामपि नाटकं प्रति प्राधान्यख्यापनार्थं इति ॥३१॥

अथ प्रकरीलक्षणमाह—

[सूत्र ३३]—प्रकरी चेत् क्वचिद्भावी चेतनोऽन्यप्रयोजनः ।

‘क्वचिद्भावी’ वृत्तैरुदेशाव्यापी। अन्यस्य ‘मुख्यनायकस्य [प्रयोजनमेव] प्रयोजनं यस्य । स चेतनः सहकारी प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति प्रकरी। औणादिके इ-प्रत्यये संज्ञाशब्दत्वेन स्त्रीत्वम्। यथा रामप्रबन्धेषु जटायुः। ‘चेत्’ इत्यनेन पताकावदनवश्यम्भावित्वमाह। क्वचिद्भावितात् स्वार्थनिरपेक्षत्वाच्च पताकावो भेद इति ।

इसी लिए फिर [चाणक्य, सिद्धार्थकके इस कथनको अपने वाक्यके साथ जोड़कर और उसे राक्षसके पकड़नेमें अपनी सकलताका निश्चयकारक मानकर अपने मनमें प्रसन्न होकर कहता है कि—]

“चाणक्य—[सहर्षं अपने मनमें कहता है] बड़ी प्रसन्नताको बात है कि राक्षस पकड़ने आ गया।”

[यहाँ सिद्धार्थक द्वारा अन्य अर्थमें प्रयुक्त वाक्य रूप] यह उत्तर [चाणक्यके] संदेशको ग्रहण कर लेनेके सूचित करनेके प्रयोजनसे [सिद्धार्थकने] प्रयुक्त किया था किन्तु [वह] चाणक्य को राक्षसके पकड़े जानेका निश्चय कराता है। इस लिए [उसमें] ‘चित्तितार्थ परप्राप्ति’ यह पताकास्थानको सामान्यलक्षण [समन्वित हो जाता] है।

[पताकास्थानके पूर्वोक्त चारो राक्षसोंमें] प्रत्येकके साथ प्रयुक्त चकार-नाटकके प्रति चारोंकी प्रधानताको सूचित करनेकेलिए है ॥ ३१ ॥

अथ प्रकरीका लक्षण कहते हैं—

[सूत्र ३२]—यदि [स्वार्थानपेक्ष रूपसे केवल] अन्य [अर्थात् मुख्य नायक] के प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला चेतन [सहायक नाटकके अधिक भागमें व्यापक न होकर केवल] किसी एक वेशमें होनेवाला ही हो तो उसे ‘प्रकरी’ कहा जाता है।

[कारिकायें आए हए] ‘क्वचिद्भावी’ [इसका अर्थ] कथाके एकदेशमें व्यापक [यह है]। ‘अन्यस्य’ अर्थात् मुख्य नायकका प्रयोजन ही जिस [सहायकका] का प्रयोजन है वह [‘अन्य-प्रयोजनः’ हुआ]। यह चेतन सहकारी प्रकर्षेण अर्थात् स्वार्थकी अपेक्षा न करता हुआ [निष्काम-भावसे] मुख्य नायकके कार्यको करता है। इस लिए [अर्थात् प्रकर्षेण करोतीति प्रकरी इस व्युत्पत्तिके अनुसार] ‘प्रकरी’ [कहलाता] है। [प्र-उपसर्ग-पूर्वक कृ-धातुसे] औणादिक इ-प्रत्यय करने पर संज्ञा शब्द होनेसे स्त्रीत्व [सूचक] डी-प्रत्यय होकर प्रकरी पद बनता है। जैसे राम-चरितको लेकर लिखे गए] प्रबन्धोंमें जटायु [स्वार्थानपेक्ष चेतन सहायक, वृत्तके केवल एकदेशमें स्थित होनेसे] ‘प्रकरी’ कहा जाता है। ‘चेत्’ इस [पद] से पताकाके समान [प्रकरीकी भी] अवश्यम्भावित्वाका निषेध सूचित होता है। [अर्थात् नाटकमें पताका प्रौर

अथ विन्दुं लक्षयति—

[सूत्र ३४]—हेतोश्छेदेऽनुमन्धानं बहूनां विन्दुराफलान् ॥३२॥

उपायानुष्ठानस्यावश्यकत्वादिना व्यवधाने मति नायकप्रतिनायकामात्या-
दीना यदनुमन्धानं ज्ञानममी ज्ञानविचारणफललाभोपायत्वाद् विन्दु । सर्वव्यापि-
त्वाद्वा जले तेषामन्दुरिव विन्दु । आप्लावित धीजयन्ममस्तेतद्युक्तव्यापकत्वमाह ।
केवल धीजं मुग्धमन्धेरेव प्रभृति निरभ्यते, विन्दुस्तु तदनन्तरमिति ।

इह तावन्नायकमहाय-उभयेभ्यस्त्रिधा फलसिद्धि । तत्र सर्वेषां स्वव्यापार-
विच्छिन्नतायनुसन्धानात्मा विन्दुनिर्नभ्यते । यथा च नायकेन प्रतिपक्षैतिवृत्तमनुमन्धी-
यते, तथा प्रतिपक्षेणापि नायकस्यैतिवृत्तमनुमन्धीयते । अत एव बहूनामित्युपात्तम् ।

प्रकरी बोनोका धरित्र अपरिहार्यं नहीं है] । केवल एक देशमें होनेके कारण [अत्रविज्ञावि-
त्वात्] धीर स्याद्यनिवेश होनेसे [प्रकरी-नायकता] पताका नायकसे भेद है ।

पाँच उपायोंमेंसे बीज, पताका धीर प्रकरी इन तीन उपायोंका वर्णन हो गया । अब
चौथे उपाय 'विन्दु' का वर्णन प्रसङ्ग प्राप्त है । उपायोंका चेतन अचेतन रूपमें जो दो प्रकार
का विभाग किया गया था । उनमें पताका, प्रकरी तथा विन्दु इन तीनोंको चेतन साधनोंके
वर्णन रखा था । उनमेंसे भी पताका धीर प्रकरी रूप दो चेतन साधनोंका यगुन ही कुछ
अब तीसरे चेतन साधन 'विन्दु' का वर्णन करते हैं ।

अथ विन्दुका लक्षण करते हैं—

[सूत्र ३४]—[अथ सावश्यक कार्योंके कारण] हेतु [अर्थात् उपायानुष्ठान] का
विस्मरण हो जानेपर भी फिरसे स्मरण 'विन्दु' [बहूनाता] है । धीर वह [नायक प्रतिनायक
अमात्य आदि रूप] बहूनोंका तथा फलप्राप्ति-व्ययंत [सारे नाटकमें व्याप्त हो सकता] है ॥३२॥

सावश्यक वर्तम्य आदिवा द्वारा उपायानुष्ठानका [व्यवधान] विच्छेद हो जानेपर
नायक, प्रतिनायक, अमात्यादिके द्वारा जो उमका पुन स्मरण [अथ ज्ञान] वह ज्ञान धीर
विचारके फल प्राप्तिका उपाय होनेसे 'विन्दु' [बहूनाता] है । अथवा [नाटकमें] सर्वत्र व्यापक
होनेसे [जलमें तैलका बिन्दु जैसे सारे जलमें फैल जाता है इस प्रकार सारे नाटकमें व्यापक
होनेसे] जलमें तैल बिन्दुके समान 'विन्दु' [बहूनाता] है । 'आप्लावत्' इस [पर] से बीजके
समान [बिन्दुकी भी] सारे कथाभागमें व्याप्तिके सूचित किया है । [अर्थात् बीजके समान
ही बिन्दु भी सारे नाटकमें अत्र तत्र विद्यमान रहता है । अन्तर] केवल [इतना है कि]
बीज मूलमयिके कारणसे ही निष्पन्न होता है धीर विन्दु उसके बाद [प्राप्त होता है ।
विन्दु दोनों नाटकमें अत्र तत्र व्यापक रहते हैं वह दोनोंकी समानता है] ।

पट्टी [नाटकमें] १ नाटक [के द्वारा होने कार्यों] २ नाटक [के द्वारा] तथा ३ उन दोनों
से मिलकर तीन प्रकारकी फलसिद्धि होती है । [उनमें सबको ही अपने व्यापारका विच्छेद हो
जाने पर पुन स्मृति हो सकती है इतना नायक धीर उनका सहायक अमात्यादि] उन सब
के ही [साहाय्यसे] अपने अपने विद्युत व्यापारकी स्मृति रूप बिन्दु की रचना होती है ।
[धीर व केवल नायक तथा उसके सहायकोंके सम्बन्ध विन्दु की ही रचना होती है अर्थात्
प्रतिनायकके साहाय्यसे भी । बोनोका] जैसे नायक, प्रतिनायकके पुन [परिचय] का अनुसंधान

नायकस्य विन्दुर्यथा अरमदुपज्ञे 'राघवाभ्युदये' पञ्चमेऽङ्के सुग्रीवचरितश्रवणे-
नातिपतिते सीतापहारदुःखे सीतां भूत्वा रामः—

कलत्रमपि रक्षितुं निजमशक्तमात्मान्वयम्—
प्रसूतमभिवीक्ष्य मामहह जातलज्जाचरः ।
प्रकाशयितुमक्षमः क्षणमपि स्वमार्यं जने ।
प्रयाति चरमोदधौ पतितुमेव देवो रविः ॥

इत्यनेन पुनः सीतापहारदुःखमातुर्महितमिति ।

[व्यान] करता है इसी प्रकार प्रतिनायक भी नायकके चरित्रका छान [अनुसन्धान] करता है [इसलिए प्रतिनायककी दृष्टि भी बिन्दुका विन्यास नाटकमें हो सक्ता है] । इसी लिए [कारिकामें] 'बहूना' इस [पद] का प्रहण किया गया है ।

'विन्दु' वा यह सामान्य लक्षण किया गया है । इस लक्षणके देखनेसे प्रतीत होता है कि नायक या उसके सहायक प्रमात्पादि प्रयत्न प्रतिनायक और उसके सहायक प्रमात्पादिके अन्य भावभाव कार्योंमें व्यापृत हो जानेसे कुछ समयके लिए मुख्य बीज रूप उपायकी विस्मृति या विच्छेद हो जानेके बाद उसकी जो पुनः स्मृति होती है उसको 'विन्दु' कहते हैं । इस स्मृति या अनुसन्धानके बिना नाटकका कार्य आगे नहीं बढ़ सकता है इसलिए इसका होना आवश्यक है । एक नाटकमें एक ही जगह नहीं अनेक बार इसका उपयोग किया जाता है । उपायके चेतन अचेतन रूप जो द्विविध विभाग किया गया था उसमें इस विन्दुको चेतन उपायमें गिना गया था । पर यह विन्दु स्वयं तो चेतन रूप नहीं है । चेतनका व्यापार रूप है । परन्तु उस स्मरण या अनुसन्धान रूप अचेतन व्यापारको चेतन रूपमें मानकर ही चेतन उपायके वर्गमें विन्दुका अन्तर्भाव किया गया है । आगे विन्दुके उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

अन्येसे नायकके विन्दु [का उदाहरण] जैसे हमारे अनाए राघवाभ्युदय [नाटक] में पञ्चम अङ्कमें सुग्रीवके चरित्रके सुननेसे सीताके श्रवणरूपके दुःखके [कुछ समयके लिए] विस्मृत हो जानेपर [फिर दुबारा] सीताको स्मरण करके राम [निम्न श्लोक कहते हैं]—

"अपनी स्त्रीकी रक्षा करनेमें भी असमर्थ सुनको अपने [सूर्यवज] घंशमें उत्पन्न हुआ देखकर लगजसे हस्तस्र [सूर्यदेव] क्षण भरको भी लोभके अपना मुख दिखलानेमें अक्षम हो जानेके कारण यह सूर्य देव पवित्रम सागरमें डूबने जा रहे हैं ।

इस [श्लोक] के द्वारा [कुछ देरके लिए विस्मृत हुए] सीतापहारणके दुःखको [राम-चन्द्र] पुनः स्मरण करते हैं ।

इस प्रकार यह नायकके 'विन्दु'वा उदाहरण है । इसी प्रकारका दूसरा उदाहरण आगे 'वापसवत्सराज चरितके देने हैं । उसमें नाटकके नायक वत्सराज उदयन भुयया आदि व्यापारों में लग जानेसे कुछ समयके लिए अपनी रानी वासवदत्ताको भूल जाते हैं । इसी बीचमें राजा के मृगया सिविरमें जहाँ कि वासवदत्ता ठहरी हुई थी आग लग जाने और राजाके उसी सिविरके भीतर जप जानेका समाचार राजाको मिलता है । उस समाचारको सुनकर राजा को पुनः वासवदत्ताकी स्मृति हो जाती है । उसी प्रसङ्गमेंसे वापसवत्सराजचरितका श्लोक अर्थधारने यहाँ उद्धृत किया है ।

यथा वा 'तापमवतराजचरिते' मृगयादिभिरन्यैश्चाभात्यव्यापारैर्वैस-
राजस्य विच्छिन्ननेऽपि प्रियासमागमोत्सुक्यरूपे प्रयोजने, द्वितीयेऽङ्के राजा वासव-
दत्तां दग्धामुपश्रुत्याह—

रुमएवन् ! मुञ्च मुञ्च,

सुद्राम्नेरमुतोऽपि धूमरुलुपान् चिप्रस्थितेः सर्वतो

ज्वालाताण्डवफारिणः किमपरं भीतोऽग्नि भाग्यैर्मम ।

अन्तर्घट्टपटं न पश्यमि सर्वै शोकानलं तेन माम्

एवं चारयमि प्रियानुमरणान् पापः करोम्यत्र निम् ॥

इति वासवदत्तायामाप्रष्टविशेषान् तदेवानुमहितम् । एवमत्रोत्तरेष्वप्यङ्केषु
नायकाय विन्दुर्निघट्टोऽस्ति ।

एवं महाय-उभय-विपत्ताणामपि स्वव्यापारानुमन्धानात्मा विन्दुर्दुर्घट्टव्यः ।

॥ ३२ ॥

प्रथया जंते तापसवतराजचरिते मृगया आदि तथा अमात्योके [द्वारा प्रायोजित] प्रण्य व्यापारोके वारण्य वत्सराज [उदयन] को प्रिया [वासवदत्ता] के समागमके औत्सुक्य रूप प्रयोजनके विस्मृत हो जानेपर भी द्वितीय अङ्कमे राजा [वत्सराज उदयन शिविरमें] वासवदत्ताके जल जाने [के समाचार] को सुनकर करते हैं—

'राजा—रुमएवन् छोडो । मुझे [मत पकडो] छोड दो ।

जंते भी धूमसे क्लुपित, धारिण स्थितिवाले घोर चारों घोर ज्वालाघोंका ताण्डव करनेवाले इस घट्ट अग्निसे मैं अपने भाग्यके दोषते ही डर गया हूँ । घोर क्या [कहा जाय] हे मित्र ! रुमएवन् तुम मेरे हृदयके भीतर भरे हुए शोकानलको नहीं देख पा रहे हो इसी लिए [अग्निमे जलकर मरनेके द्वारा] प्रियाका अनुसरण करनेमे मुझे शोक रहे हो । मैं अभाग्य भय क्या कहूँ ।

वासवदत्ताके प्रति विदीप्य प्राप्रष्ट होनेसे [उसके अग्निमे जलकर मर जानेका समाचार सुनकर राजाको] उसीका स्मरण हो आया है [नितको ये मृगया आदिसे प्रसङ्गमे भूल गये थे] । इसी प्रकार [तापसवतराजके] अगले अङ्कमें भी नायकके 'विन्दु' [अर्थात् अण्य वासवदत्त कापोंके प्रसङ्गसे कुछ समयकेलिए विस्मृत अर्थको स्मृति] का निरूपण किया गया है ।

यहाँ 'तदेवानुमहितम्' म 'तन्' पदमे 'प्रियागमागमोत्सुक्य का ग्रहण करना चाहिए । 'तदेव' मे 'तन्' पद नपु मङ्-लिंग है इस लिए उनसे न ता वासवदत्ताका ग्रहण हो सकता है घोर न प्राप्रष्टका ग्रहण हो सकता है । इस लिए यहाँ वासवदत्ताका स्मरण या प्राप्रष्टका स्मरण नहीं घणितु प्रियाके समागमके औत्सुक्यका स्मरण हुआ है ।

इसी भाँति [नायकके] सहाय, अथवा [नायक घोर सहाय] दोनों घोर विपत्त [अर्थात् प्रतिनायक घोर उसके सहायक] का भी अर्थने [विस्मृत] व्यापारका स्मरण रूप 'विन्दु' समागमनेका चाहिए । [अर्थात् उनके उदाहरण नाटकोंमें स्वयं दूँइ सेने चाहिए] ।

ऊपर २६वीं चारिकामें बीज, पताका, प्रकरी, बिन्दु तथा बाव रूप पाँच उपाय कहे गए थे उनमे मे बिन्दु-गर्व-उ घार उपायका विशेष विवरण समझ यहाँ तक कर दिया ।

अथ कार्यं विवृणोति—

[सूत्र ३५]—साध्ये बीजसहकारी कार्यम् ।

प्रधाननायक-पताकानायक-प्रकरीनायकैः साध्ये प्रधानफलत्वेनाभिप्रेते, बीजस्य प्रारम्भावस्थोपक्षिप्तस्य प्रधानोपायस्य, सहकारी सम्पूर्णादायी सैन्य-कोश-दुर्ग-सामाद्युपायलक्षणो द्रव्य-गुण-क्रियाप्रभृतिः सर्वोऽर्थः, चेतनैः कार्यते फलमिति कार्यम् ।

अयमत्रोपायानां निबन्धसंज्ञैः ।

सहायानपेक्षाणां नायकानां पृष्ठे बीज-बिन्दु-कार्याणि त्रय एवोपायाः । सहायापेक्षाणां तु पताका-प्रकरीभ्यां, अन्यतरया वा सह पञ्च चत्वारो वेति ।

अत्र अन्तिम उपाय 'कार्यं' दोष रह जाता है । इसका लक्षण आदि करते हैं । जसा कि ऊपर कहा जा चुका है चेतन और अचेतन वर्गमें जो उपायोका द्विविध विभाग किया गया है उसमें सबसे प्रथम उपाय बीज तथा सबसे अन्तिम उपाय कार्यं इन दो उपायोको अचेतन उपायोके वर्गमें रखा गया था । वैसे कार्यंका जो लक्षण आगे किया जा रहा है उसमें भी कार्यंको बीज का सहकारी बतलाया गया है । इस लिए इन दोनोंका परस्पर विशेष सम्बन्ध है ।

अथ कार्यंकी व्याख्या करते हैं—

[सूत्र ३५]—साध्य [अर्थात् प्रधान फलकी सिद्धि] में बीजका सहकारी [द्रव्य, गुण आदि अचेतन साधन] 'कार्यं' [कहलाता] है ।

प्रधान-नायक, पताका-नायक या प्रकरीनायकोंके द्वारा साध्य अर्थात् प्रधान फल रूपसे अभिप्रेत, [विषय] में [बीजस्य अर्थात्] प्रारम्भावस्थाके रूपमें आरोपित बीज अर्थात् प्रधानोपाय रूप बीजका सहकारी अर्थात् [उसको] पूर्णता तक पहुँचानेवाला सैन्य, कोश, दुर्ग, सामादि उपाय रूप द्रव्य, गुण, क्रिया आदि सारा ही [अचेतन साधनभूत] अर्थ, चेतनों के द्वारा फल [साध्यकी सिद्धिमें विशेष रूपसे प्रवृत्त अर्थात् उपयुक्त] कराया जाता है । इस [चेतनैः कार्यते फलमिति कार्यं] इति व्युत्पत्ति से 'कार्यं' [कहलाता] है ।

यह पाँचो प्रकारके उपायोका संक्षिप्त रूपमें वर्णन हुआ ।

ये पाँचो उपाय सर्वत्र अपरिहार्य नहीं हैं । बिन्दु आवश्यकताके अनुसार ही उनका उपयोग किया जाता है । जिन नायकोंकी सहायकोंकी विशेष आवश्यकता नहीं होती है और स्वयं अपने सामर्थ्यसे ही जो सारे कार्यको सिद्ध कर लेते हैं उनके चरित्रको लेकर लिखे गये नाटकोमें पताका तथा 'प्रकरी'का कोई उपयोग न होनेसे उनकी रचना नहीं की जाती है । उस दशामे इन नाटकोमें तीन ही उपायोका प्रयोग होता है । सहायकोंकी आवश्यकता जिनको पडती है उनके चरित्रमें आवश्यकतानुसार केवल पताका या केवल प्रकरी किसी एक का उपयोग होनेपर चार, और दोनोंका उपयोग होनेपर पाँचो उपाय नाममें आते हैं । इसी बातको प्रथकार अगली पंक्तिमें कहते हैं—

सहायकोंकी अपेक्षा न रखनेवाले नायकोंके चरित्रमें बीज, बिन्दु और कार्यं तीन ही उपाय [प्रयुक्त] होते हैं । और सहायकोंकी अपेक्षा रखनेवाले नायकों [के चरित्रमें] में तो पताका तथा प्रकरी दोनोंको मिलाकर पाँच, अथवा उन दोनोंमेंसे किसी [एकको बीजादि तीनके साथ] मिलाकर चार [उपायोका प्रयुक्त किए जाते] हैं ।

अधामीषा मुख्यत्वव्यवस्थायां हेतुमाह—

[सूत्र ३५]—कार्यैस्तु मुख्यता ।

कार्यैः फलं प्रत्युपकारविशेषैः । पुनर्बीजादिनां सुग्यता बाहुल्यं प्राधान्यं वा निरन्वनीयम् । तत्र बीजविन्दोस्तावन्मुख्यत्वमेव, सर्वव्यापित्वात् । पताका-प्रकरी-कार्याणां तु मुख्यफलं प्रत्युपयोगापेक्षया एकस्य द्वयोश्चयाणां वा मुख्यत्वमन्येषां चामुख्यत्वम् ।

तत्र पताकाया मुख्यत्वं यथा श्रीशूद्रक-विरचिताया मृच्छकटिकायां पूर्वोपकारोपगृहीतस्य आर्थिकस्य ।

प्रकर्या यथा—वीरनागनिबद्धायां कुन्दमालायां सीतायाम्तटपत्ययोरच पालन-संयोजनाभ्यां स्वफलनिरपेक्षस्य बालमीक्षैः ।

उभयोयथा—रामप्रबन्धेषु सुग्रीव-विभीषण-जटायु-हनुमदङ्गदाद्रीना च । पताका-प्रकर्योरल्पत्वे अभावे वा सर्वत्र कार्यस्य मुख्यत्वम् ।

उपायाकी मुख्यता के नियायक हेतु—

[पाँचो उपायोके लक्षण आदि करनेके बाद] अब इनकी मुख्यता [और गौणत्व] की व्यवस्थामे हेतु बतलाते हैं—

[सूत्र ३५]—[फलके प्रति उपकार विशेष रूप] कार्यके अनुसार मुख्यता [निर्धारित] होती है ।

कार्यं अर्थात् फलके प्रति उपकार-विशेषके द्वारा बीजादि [उपायों] की मुख्यता अर्थात् बाहुल्य अथवा प्रधानत्वकी रचना करनी चाहिए । उन [पाँचो उपायों] में [चिन्तन उपाय] बीज तथा [चितन उपाय] विन्दु इन दोनों [नाटकमे आदिसे अन्त तक] सर्वत्र व्यापक होनेमे मुख्यता ही होती है । पताका, प्रकरी और कार्य [इन तीनों उपायों] की तो मुख्य फलके प्रति उपयोगिताकी दृष्टिसे [जहाँ] एककी [कहीं] दोकी अथवा [जहाँ] तीनोंकी मुख्यता और दोषकी गौणता [अनुमुख्यता] होती है ।

उनमेंमे पताकाकी मुख्यता [का उदाहरण] जैसे श्री शूद्रक [जयि] विरचित मृच्छकटिक [नाटक] मे पूर्व उपकारके कारण बगीभूत आर्थक [नामक पताकानायक] की [मुख्यता पाई जाती है] ।

प्रकरी [नायक] की [मुख्यताका उदाहरण] जैसे वीरनाग विरचित 'कुन्दमाला' [नाटक] मे [रामद्वारा परित्यक्ता गमिणी] सीता और उसके [कुछ सब दोनों] पुत्रोंका पालन तथा [उन दोनों पुत्रों सहित सीताका रामके साथ] संयोग करने [रूप कार्य] के द्वारा अपने किसी फलकी अपेक्षा न रखनेवाले [इसलिये प्रकरी नायकके लक्षणमे युक्त] धार्मिककी [मुख्यता पाई जाती है] ।

[पताकानायक तथा प्रकरीनायक] दोनोंकी [मुख्यताका उदाहरण] जैसे राम प्रबन्धों मे [अर्थात् रामके अतिप्रको तेकर सिन्धे गण नाटकमें] सुग्रीव, विभीषण जटायु, हनुमान अशुवादिकी [मुख्यता पाई जाती है] ।

पताका-नायक तथा प्रकरी-नायकके गौण होनेपर [अल्पत्वे] अथवा सर्वथा न होनेपर [अभावे वा] तदा कार्यकी ही मुख्यता रहती है ।

अथ पताकाया प्रधानत्वे समर्थिते मन्धिप्रमङ्गं निरभ्यति—

[सूत्र ३६]—पताकायाः प्रधानत्वेऽनुसन्धिः सूचनादिभिः ॥३३॥

पताकावृत्तस्य प्राधान्यनिबन्धेऽपि अनुसन्धि मुख्यवृत्तसन्ध्यनुगत सन्धि-
र्भवति । गौण सन्धिरित्यर्थः । यद्यपि पताकायाः प्रधानत्वे मुख्यवृत्तवत् मन्धय-
स्युत्तथापि तेऽनुसन्धयो मुख्यसन्ध्युपयोगित्वेन गौणत्वान् । अपरथा पताकावृत्तस्य
प्रामाण्यत्वं न स्यात् । सन्धिसंख्यावृद्धिश्च स्यात् । अत एव ते सूचनादिभिर्भवन्ति ।
आदिशब्दान् क्वचिद्गृह्यन्ते, लेशतो निबन्ध्यन्ते च । न च मुख्यसन्धिभ्यः पृथग्
गण्यन्ते । अनुसन्धिरिति एकवचनमविवाचितम् । मुख्य-निर्वाहयोरवश्यम्भावितात् ।
तेन द्विपञ्चनयोऽनुसन्धयो भवन्ति । यथा 'मयापुण्ये'—

दुर्गं भूमिरमात्य-भृत्य-सुहृदो दारा शरीरं धनं,
मानो वैरिविभर्त-मौरयममरप्ररयेण सख्योन्नति ।
यस्मात् सर्वाभिर्दं प्रियाविरहिणस्तस्याद्य शक्ता वयं,
न स्वेच्छासुलभं पथोऽपि घटने शैलाभरणैरेपि ॥

[पंचो साधनमिते पताकानायकका भी प्राधान्य कहीं हो सकता है यह बात अभी
कही जा चुकी है । इस प्रकार] पताकाके प्रधानत्वका समर्थन करनेपर [उसके चरित्रके अंग
बड़े जानेवाले] सन्धियोंकी भी प्राप्ति होती है, उसका निराकरण करते हैं—

[सूत्र ३६]—पताकाकी प्रधानता होनेपर [मुख्य सन्धि नहीं होते हैं किन्तु सूचना
आदिके द्वारा अनुसन्धि [गौण सन्धि] होते हैं । ३३ ।

पताका [नायक] के प्राधान्यका वर्णन करनेपर भी [मुख्य सन्धि नहीं होते हैं किन्तु]
'अनुसन्धि' अर्थात् मुख्य सन्धिके अनुगत सन्धि अर्थात् गौण सन्धि होते हैं यह अभिप्राय है ।
यद्यपि पताका [नायक] के प्रधान होनेपर मुख्य [नायक] के चरित्रके समान [उत्तमे भी मुख्य]
सन्धि होने चाहिए फिर भी वे [मुख्य सन्धि न होकर] मुख्य सन्धिके उपयोगी [अङ्ग] होनेसे
गौण होनेके कारण 'अनुसन्धि' [कहलाते] हैं । अन्यथा [यदि पताका नायकके वृत्तमे प्रयुक्त
सन्धिको मुख्य सन्धि ही माना जाय तो] पताका नायकके चरित्रको गौणता [प्राप्त करके]
नहीं बनेगी । इसलिए [गौण सन्धि होनेके कारण] वे [अनुसन्धि] सूचना आदिके द्वारा
प्रकाशित होते हैं । आदि शब्दसे [यह भी सूचित होता है कि] कहीं [उनकी] कल्पना की
जाती है और कहीं अशत [अनुसन्धिके रूपमे] रचना की जाती है । किन्तु मुख्य सन्धियोंसे
अलग उनकी गणना नहीं की जाती है । 'अनुसन्धि' [पदमे प्रयुक्त] एकवचन अविवाहित है ।
क्योंकि [पताका-नायकके चरित्रमे भी] मुख और निर्वहण रूप दो [अनुसन्धियों] का होना
आवश्यक है । इसलिए [एक सन्धि तो होता ही नहीं है] दोसे लेकर [तीन-चार आदि] अनु-
सन्धि होते हैं । जैसे माया पुष्पकमे—

जिन [रामचन्द्रजी] की कृपासे [हमको] दुर्ग भूमि, अमात्य, मित्र, स्त्री, दारो, धन,
मान, शत्रु नाशका मुख और देव-कल्प [रामचन्द्रजी] के साथ मित्रता यह सब प्राप्त हुआ है,
आज हम प्रियासे विरहित उनके लिए यथेष्ट रूपमे प्राप्त होनेवाले पर्वतके समान बड़े-बड़े
तिलाखण्डोंसे [समुद्रके ऊपर पुल बनाकर] मार्गका निर्माण करनेमे भी समर्थ नहीं हो रहे हैं
[यह लज्जा और दुःखकी बात है] ।

अत्र मुग्धादिमन्धनिवन्धनीयं रामेण मह भैत्र्यादिव मभ्युह्यमुपकल्प्य मुग्धोव-
चनान्द रामशक्तिमम्पन्नाभ्युदय निर्वहणस्यैव वृत्तमुपनिबद्धमिति ।

यथा वा राघवाभ्युदये—

मित्र दर्शनमात्रतोऽपि गणित किष्किन्धमागत्य च,
क्षुण्ण क्षुद्रमति स साहसगतिर्दत्ता सतारा मही ।
इत्थं तेन वितन्वता न विहितं देवेन रामेण किं,
तन् मत्स्यं मम तस्य कर्तुमुचित प्राणैरपि प्रीणनम् ॥

अत्र 'मित्रम्' इत्यादिना मुग्धं, 'किष्किन्ध' इत्यादिना प्रतिमुख्य, 'क्षुण्ण' इत्यादिना विमर्श, 'दत्ता सतारा मही' इति निर्वहणं मुग्धीववचनान् प्रकाशितम् । उत्तरार्धेन तु मुग्धनायकानुयायित्वदर्शनादनुमन्धित्व रयापितमिति ।

प्रकर्यान्तु प्राधान्येऽपि स्वल्पवृत्तवान् मन्धयनुसन्धिचिन्तैव नास्तीति ॥३३॥

यहाँ [प्रपान् इस उदाहरणमें] मुत्सयिमे वर्णनीय रामचन्द्रके साथ मैत्री प्रादि कल्पनीय प्रथको मुग्धीवके वचनसे कल्पना करके, [अर्थात् उसका साक्षात् रूपसे वर्णन न करके] रामचन्द्रको शक्तिमें प्राप्त अभ्युदय रूप निर्वहण [सयिमे वर्णन किए जाने योग्य] वृत्तवा ही वर्णन किया है ।

इस प्रकार इसमें मुग्धमन्धि तथा निर्वहण गधिके प्रथकोका दो अनुमधियोके रूपमें समावेश किया गया है । इसलिए यह दो अनुमधियो के समावेशका उदाहरण है । भागे चार अनुमधियोके प्रयोगका उदाहरण राघवाभ्युदयमें देते हैं ।

अथवा जैसे 'राघवाभ्युदय' [नाटक] में [चार अनुसधियोंका समावेश निम्न इतोकमें पताका-नायक मुग्धीवके वृत्तांतमें पाया जाता है]—

[जिन रामचन्द्रजीने मुभको] देखते ही अपना मित्र मान लिया, [१ मुत्सयि], उसके बाद किष्किन्धामें आकर [२ प्रतिमुख्य सयि], क्षुद्रमति और साहासगति [अर्थात् छद्मतापूर्वक परदारापहरण प्रादि अकार्य करनेवाले] उस बुष्ट [बालि] का नाश किया [३ विमर्श सयि], और [मेरी पत्नी] ताराके सहित पृथिवी [अर्थात् मेरा राज्य मुभको] प्रदान की [४ निर्वहण सयि] । इस प्रकार [मेरे हितके समस्त कार्य] करते हुए भगवान् रामचन्द्रजीने [मेरे लिए] क्या नहीं किया [अर्थात् सब कुछ किया, मेरे सारे मनोरथ पूर्ण कर दिए] । इसलिए यह विलुप्त सत्य है कि मुग्ध अपने प्राणी [के मूल्य] में भी [अर्थात् प्राणियोंको देखकर भी] उनकी प्रसन्नताका सम्पादन करना चाहिए ।

यहाँ [अर्थात् इस उदाहरणमें] मित्रम् इत्यादिमें मूल्य [गधि] किष्किन्धामें आकर इत्यादिमें प्रतिमुख्य [सयि], 'क्षुण्ण' [बालिको मारा] इत्यादिमें विमर्श [सयि] तथा 'दत्ता सतारा मही' ताराके साथ मेरा राज्य मुभको प्रदान किया इसमें निर्वहण [गधि] [इन चार अनुसधियों] को मुग्धीवके वचनसे प्रकाशित किया है । [इतोकमें] उत्तरार्द्धमें [प्रपना] मूल्य नायकका अनुयायित्व दितलाकर [उन मुन्नादि सधियोंका] अनुसधिय [गौर सधिय भी] सूचित किया है ।

प्रकरी [नायक] का तो प्राणाय होनेपर भी [उसका] घोषणा ही वृत्त होनेके कारण [उतमें] सयि या अनुसधि प्रादिकी चिन्ता ही नहीं होती है ॥ ३३ ॥

(३) अथ उपायानन्तरमुद्दिष्टां दशां लक्षयितुं तद्वेदानुद्दिशति—

[सूत्र ३७]—आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाः ।

नेतुर्वृत्ते प्रधाने स्युः पञ्चावस्था ध्रुवं क्रमात् ॥३४॥

‘नेतुः’, मुख्यं फलं प्रति बीजाद्युपायान् प्रयोक्तुः । ‘अवस्थाः’ प्रधानवृत्तविषये काय-वाङ्-मनसां व्यापाराः । ‘ध्रुवम्’ इति प्रधाने वृत्ते पञ्चानामवश्यसम्भावमाह । तेन प्रामादिके द्वयादयो अनुसन्धिवद् गौणाश्च भवन्ति । नाटकलक्षणप्रस्तावान्नाटके, नाटकलक्षणानुसारिणु प्रकरण-नाटिका-प्रकरणीषु चायं नियमः । तेन व्यायोगार्थं यथालक्षणं न्यूनावस्थत्वमपि न दोषाय । ‘क्रमात्’ इति उद्देशोक्तक्रमेणैव निबध्यन्ते, नापायवन् क्रमाक्रमाभ्याम् । प्रेक्षापूर्वकारिणां हि प्रथममारम्भः, ततः प्रयत्नः, ततः सम्भावना, ततो निश्चयः, ततः फलप्राप्तिरित्ययमेव क्रम इति ॥३४॥

(३) पाँच दशाओं का निरूपण—

पाँचवीं कारिकासे नाटकका लक्षण करते समय १ अद्भुत और २ उपायके अनन्तर तीसरे ‘दशा’ शब्दका प्रयोग किया गया था । ‘दशा’ भी नाटकका एक मुख्य भाग है । इसलिए उपायोका निरूपण कर चुकनेके बाद ‘दशा’ का निरूपण प्रारम्भ करते हैं । विष्कम्भक आदि पाँच अर्थोपक्षेपकोका वर्णन करनेके बाद बीज आदि पाँच उपायोका वर्णन किया गया था । उसी प्रकार अवस्थाओ और भागे कही जाने वाली सन्धियोंकी भी सहवा पाँच पाँच है । इस समय पहले पाँच अवस्थाओका वर्णन करते हैं ।

अब उपायोंके बाद उद्दिष्ट ‘दशा’ का लक्षण करनेकेलिए उसके भेदोंको गिनाते हैं [‘उद्दिशति’ नाममात्रेण कथयति]—

[सूत्र ३७]—नायकके मुख्य चरित्र [वृत्त] से १ आरम्भ, २ यत्न, ३ प्राप्त्याशा, ४ नियताप्ति और ५ फलागम ये पाँच अवस्थाएँ [इसी] क्रमसे और अवश्य होती हैं [इससे पाँच अवस्थाओका उद्देशमात्र किया गया है । उनके लक्षण आगे करेंगे] ॥३४॥

‘नेता’ अर्थात् मुख्य फल [की प्राप्ति] के प्रति बीजादि उपायोका प्रयोग करने वालीके, [चरित्रसे पाँच अवस्थाएँ अवश्य होती हैं] । ‘अवस्था’ अर्थात् प्रधान चरित्रके विषयसे शरीर, वाणी तथा मनके व्यापार । ‘ध्रुवम्’ इस [पद] से प्रधान [नायक] के चरित्रसे [वृत्त] पाँचो [अवस्थाओं] की अपरिहार्यता सूचित की है । इसलिए प्रासङ्गिक [अर्थात् पताका प्रकरी आदिके चरित्रसे] अनुसन्धियोंके समान दो आदि [अवस्थाएँ] भी हो सकती हैं और वे गौण हैं । नाटकके लक्षणका प्रकरण होनेसे नाटकसे तथा नाटकके लक्षणका अनुसरण करने वाले प्रकरण नाटिका तथा प्रकरणसे भी यही नियम है [अर्थात् पाँचों अवस्थाओंका होना अनिवार्य है] । इसलिए व्यायोग आदिसे उनके लक्षणोंके अनुसार [पाँचो अवस्थाओका प्रयोग न करके] न्यूनत्व [अर्थात् दो-तीन-चार अवस्थाओका प्रयोग] भी दोषापायक नहीं होता है । ‘क्रमात्’ इस [पद] से [यह सूचित किया है कि पाँचो अवस्थाएँ] इसी क्रमसे निबद्ध करनी चाहिए उपायोंके समान क्रम या व्यतिक्रमसे नहीं । बुद्धिमान् पुरुषोंके कार्यसे पहले आरम्भ, फिर उसके बाद प्रयत्न, उसके बाद सम्भावना, उसके बाद निश्चय और अन्तसे फलप्राप्ति यही क्रम रहता है । [इसलिए नाटकसे भी इसी क्रमसे अवस्थाओंका समावेश करना चाहिए] ॥३४॥

(१) अथारम्भं व्युत्पादयति—

[सूत्र ३८]—फलायौत्सुक्यमारम्भः

फलं मुख्यं माध्यम । तदर्थमौत्सुक्यं उपायविषयं, अनेनोपायेन एतत् सिध्यतीति । स्मरणोत्पन्नादि कर्म, तदनुगुणो व्यापारश्चोभयमारम्भः । उपायविषय-मौत्सुक्य, औत्सुक्यानुगुणो व्यापारश्चारम्भावस्थेत्यर्थः ।

यथा वेणीसंहारे प्रथमेऽङ्के महर्देवं प्रति—

“भीमः—अथ भगवान् कृष्ण केन पश्येन सुखोपने प्रति मग्धिं कर्तुं प्रार्हतः ।

महर्देवः—आर्यं ननु पञ्चभिर्भ्रातृभिः ।” इत्यादि ।

यथा वा नलविलासे प्रथमेऽङ्के—“नेपथ्ये तूर्यध्वनिः ।

कलहंसः—देव युगादिदेव-देवातायतन-मन्ध्याचलिपटदृध्वनिश्च यम् ॥

राजा— [स्वगतम्] अहो परमं शत्रुनम् । [पुनर्विमुच्य] प्रेषयाम्येत कलहंसं दमयन्त्या । पार्श्वे । एषा च मकरिका विदर्भभाषा-वेपाचारकुशला सहैव यातु !” इत्यादीति ।

विद्यन्ती कारिकासे पाँचो अवस्थाओंका ‘उद्देश’ अर्थात् नाममात्रसे बचन किया गया था । अब उनमेंसे एक एक अवस्थाका क्रमसे लक्षण आदि करते हैं । उनमें सब पहले आरम्भ अवस्थाका लक्षण देने हैं ।

(१) आरम्भावस्था—

अब आरम्भ [अवस्था] का विवेचन करते हैं—

[सूत्र ३८]—फल [को प्राप्ति] के लिए औत्सुक्य ‘आरम्भ’ [अवस्था कहलाती] है ।

फल [का अर्थ] मुख्य साध्य [है] । उसके लिए उपाय-विषयक औत्सुक्य अर्थात् इस उपाय [के करने] से यह [फल] सिद्ध होगा इस प्रकारका स्मरण तथा उत्पन्नादि कर्म, और उसके अनुकूल व्यापार दोनों आरम्भ [अवस्था होने] हैं । अर्थात् उपाय-विषयक औत्सुक्य, और औत्सुक्यके अनुकूल व्यापार [दोनों] आरम्भावस्था हैं यह अभिप्राय है ।

जैसे वेणीसंहारके प्रथम अङ्कमें महर्देवके प्रति [भीम कहते हैं कि]—

“भीम—अच्छा भगवान् कृष्णको किन शत्रुके पास सन्धि करनेके लिए भेजा है ?

महर्देव—आर्य पाँच भाँयोंके द्वारा ।” इत्यादि ।

अथवा जैसे नलविलासेके प्रथम अङ्कमें—

“नेपथ्यमें वाद्यध्वनि [सुनाई देता है] ।

कलहंस—देव, युगादिदेवके मन्दिर [देवतायतन] के मन्ध्याकालीन पूजनके समयके बाँयोंका यह ध्वनि है ।

राजा [स्वगत] महो यह बड़ा अच्छा शत्रुन है । [फिर विचार कर] तब इस कलहंसके दमयन्तीके पास भेज डूँ । और विदर्भ देशकी भाषा बोल तथा आचार आदिकी जानने वाली यह मकरिका [दासी] भी उनके साथ ही भेज दो जाय ।” इत्यादि ।

यह सब मुख्य कथनोंके प्राप्तिके लिए उपाय विषयक औत्सुक्य तथा तदनुकूल व्यापारके सूचक है । मतः ये आरम्भावस्थाका प्रदर्शन करत हैं ।

एतासु चावस्थासु नायक-सहाय-प्रतिपक्ष-दैवव्यापाराणां अन्यतमस्य, द्वयो-
स्त्रयाणां चतुर्णां च एकस्यां, द्वयोस्त्रिस्तुपु चतस्तुपु पञ्चस्वापि च यथायथमुन्मीलने
वृत्तिः । फलयोगस्तु मुरयनायकस्यैव ।

न च देवान् कर्मणः प्रारम्भाशुन्मीलने मानुषकर्माभावात्नाट्यव्यावृत्ति-
हेतुत्वम् । दैव-मानुषव्यापारयोः परस्परापेक्ष्यैव शुभाशुभफलसाधकत्वात् । दैवाद-
प्यर्थं पर्यन्तं पुण्यमुपचेतुं मानुषे कर्मणि प्रवर्तेरन । उपभोगान्च क्षीयमाणमनु-
कूलं दैव प्रति विहितप्राणात्ययाः प्रतीक्षेरन्निति सर्वत्र दैवस्य मानुषव्यापारापेक्ष-
त्वात् देवायत्तफलान्यपि रूपकाणि सामाजिकानां बुद्धिसस्फागय निबन्धनीयानि ।
यथा पुष्पदूतिकं मृच्छकटिकं चेति ।

य प्रारम्भावस्थाके लक्षणं श्रीर उदाहरणं ऊपरके अनुच्छेदोम दिखताए हँ । अत्र
अगले अनुच्छेदमे अन्यवार यह दिखलाना चाहते हैं कि इन अवस्थाओंका प्रदर्शन नायकके
व्यापार द्वारा भी हो सकता है श्रीर वही प्रतिनायक, सहायक तथा दैव व्यापारके द्वारा भी
सकता है । श्रीर वह केवल प्रारम्भावस्थामे ही नहीं अपितु सभी अवस्थाओंमे हो सकता है ।
वभी-वभी नायक, सहायक, प्रतिपक्ष श्रीर दैव व्यापारोमेसे दो, तीन या चारो मिलकर किसी
अवस्था विरोधका उन्मीलन कराते हैं । वभी ये चारो या इनमेसे एक, दो, या तीन किसी एक
अवस्थाका अथवा एकसे अधिक दो तीन, चार या पाँचो अवस्थाओंका उन्मीलन कराते हैं ।
इती बातनो अगले अनुच्छेदमे इस प्रकार दिया है—

इत [पाँचो] अवस्थाओंमे १ नायक, २ सहायक [पताका प्रकरो], ३ प्रतिनायक श्रीर
४ दैव [इन चारो व्यापारोंके] मेसे किसी एक या दो या तीन अथवा चारोका, किसी एक
[अवस्थाके उन्मीलन] मे, अथवा दो या तीन अथवा चार या पाँचो [अवस्थाओं] के उन्मीलन
मे आवश्यकतानुसार व्यापार होता है । [अवस्थाओंका प्रकाशन या उन्मीलन चाहे किसीके
भी व्यापारसे हो किन्तु] फलकी प्राप्ति [सदैव] मुख्य नायकको ही होती है ।

इन अवस्थाओंके प्रकाशनमे दैव-व्यापार भी कारण हो सकता है यह बात सभी इस
अनुच्छेदमे कही है । दैव व्यापार को पंचविध अवस्थाओंके प्रकाशनमे कारण माननेपर यह
प्रश्न उठ सकता है कि नाट्यका उद्देश्य मतोर्जनके साथ सर्व-यावत्संयुक्ती शिक्षा देना ही है ।
जब दैवकी कारण मानेंगे तो उसपर मनुष्यका नियंत्रण न होनेके कारण देवायित कार्योंके
कोई शिक्षा नहीं मिलेगी । यह शक्य उठाकर उसका समाधान अगले अनुच्छेदमे करते हैं—

दैवके व्यापारसे प्रारम्भ आदि [अवस्थाओं] के उन्मीलन होनेपर उसमे मानुष
व्यापारका अभाव होनेसे नाट्यकी शिक्षा प्रदानका हेतु नहीं कहा जा सकता । यह बात नहीं
समझनी चाहिए । [क्योंकि] दैव तथा मानुष-व्यापार दोनों एक-दूसरेकी सहायतासे ही
शुभ और अशुभ फलके साधक होते हैं । [दूसरी बात यह भी है कि] भाग्यसे भी अर्थकी
प्राप्ति देखकर [दिखने वाले] पुण्यका सन्ध्य करनेकेलिए मनुष्य साध्य कार्यमे प्रवृत्त हो सकते हैं ।
श्रीर जीवनके सकटमे पड़ जानेपर भी [विहितप्राणात्ययाः] प्रतिकूल दैवके उपभोग द्वारा
नष्ट होनेकी प्रतीक्षा कर सकते हैं । इसलिए दैवके सर्वत्र मानुष-व्यापारकी अपेक्षा रखनेसे
दैवके अपोहन ही जितका फल है इस प्रकारके रूपक भी सामाजिकोंके बुद्धिकी शुद्धिके लिए
बनाने ही चाहिए । जैसे 'पुष्पदूतिक' तथा 'मृच्छकटिक' आदि [दैवायत्त फल वाले रूपक हैं] ।

(२) अथ प्रयत्नमाह—

[सूत्र ३६]—प्रयत्नो व्यापृतौ त्वरा ।

मुख्यफलोपायव्यापारणे त्वरा, अनेनोपायेन विना फलं न भवतीति निश्चयेन परमौत्सुक्यं, प्रकर्षेण यत्नः प्रयत्न । औत्सुक्यमात्रमारम्भः, परमौत्सुक्यं तु प्रयत्न इत्यर्थः ।

यथा रत्नावल्याम—

“तद्वा वि नस्ति अत्रो दमणोवाउ त्ति जद्दा तद्दा आलिहिय जधाममीहिदं करइस्स ।

[तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा-तथा आलित्वं यथासमीहितं करिष्ये ।” इति संस्कृतम् ।

इत्यादि ।

यथा वा नलबिलासे तृतीयेऽङ्के—

“राजा—[सत्वरम्] मकरिके प्रभवमि राजपुत्रीमिह समानेतुम् ?

मकरिका—अहं दाव पयतिस्मं । आगमणं उण दिव्वरस आयत्त ।

[अह तावत् प्रयतिष्ये, आगमनं पुनर्देवभ्यायत्तम् । इति संस्कृतम्] ।

“राजा—तद्दि यतरव ।”

इत्यादि ।

उनसे भी सामाजिकोंके शिक्षा मिलती हो है] ।

(२) प्रयत्नावस्था—

अथ प्रयत्न [के लक्षण आदि] को कहते हैं—

[सूत्र ३६] —[फलके उपायोंके] व्यापारमे शीघ्रता [करना] प्रयत्न कहलाता है ।

मुख्य फल [की प्राप्ति] के उपायोंको लागू करनेमे शीघ्रता अर्थात् इस उपायके विना यह फल सिद्ध नहीं हो सकता है । इस प्रकारके निश्चयके कारण [उपायको प्रयुक्त करनेके लिए] अत्यन्त उत्सुकता, प्रकर्षेण यत्न [प्रयत्न इस ध्युत्पत्तिके अनुसार] ‘प्रयत्न’ [कहलाता] है । [इसका अभिप्राय यह हुआ कि] केवल औत्सुक्य आरम्भ [अवस्थामे], घोर परम औत्सुक्य प्रयत्न [अवस्थामे परिणमित] होता है ।

जैसे रत्नावलीमे—

“फिर भी दर्शनका अन्य कोई उपाय नहीं है इसलिए जैसे जैसे चित्र बनाकर ही अपनी इच्छाको पूर्ति करता हूँ ।”

इत्यादि ।

अथवा जैसे नलबिलासेके तृतीय अङ्कमें—

“राजा—[शीघ्रतासे] मकरिके ! क्या तुम राजपुत्रीको यहाँ ला सकती हो ?

मकरिका—मैं [अपनी घोरसे पूरा] प्रयत्न करूँगी । किन्तु आना भगवान्के अधीन है ।

राजा—तो [शीघ्र हो] यत्न करो ।”

इत्यादि ।

ये दोनो उदाहरण मुख्य फलकी प्राप्तिके प्रति उपायोंका उपयोग करनेके विषयमे

(३) अथ प्राप्त्याशां विपश्चयति—

[सूत्र ४०]—फलसम्भावना किञ्चित् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः ॥३५॥

मात्रशब्देन फलान्तरयोगः प्रतिबन्धनिश्चयश्च व्यदर्शयते । पलान्तरा सम्बन्धान् अनिश्चितवाधकाभावाच्चोपायादीपत् प्रधानफलस्य या सम्भावना, न तु निश्चयः, सा प्राप्तेः प्रदानफललाभस्य आशा प्राप्त्याशा ।

यथा वेणीमंहारे वृतीयेऽङ्के ।

“भीम—कृष्ण येन शिरोरुद्धेषु पशुना पाञ्चालराजात्मजा,

येनास्याः परिधानमध्यपहृतं राज्ञां गुरुणां पुरः ।

यस्योरः स्थलशोणितासवमहं पातुं प्रतिज्ञातवान्,

सोऽयं मद्भुजपञ्चरान्तर्गतः सरच्चयतां कौरवा ॥”

इत्यत्र दुःशामनवधादशेषकौरववधसम्भावनेन युधिष्ठिरस्य राज्यप्राप्ति-सम्भवः ।

यथा वा नलविलासे चतुर्थे स्वयम्बराङ्के—

“नलः—कलहंस ! मकरिके ! फलितः स एष वां प्रयासः ।

कलहंसः—देव नावयोः प्रयासः किन्तु देवस्य स्वप्नः ।

त्वरा या परम श्रोतुव्यको प्रदर्शित कर रहे है । इसलिए ये प्रयत्नावस्थाके उदाहरणके रूप में यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं ।

(३) प्राप्त्याशावस्था—

अथ प्राप्त्याशा [रूप तृतीयावस्था] का विवेचन करते हैं—

[सूत्र ४०]—हेतुमात्रसे फलको [प्राप्तिको] कुछ सम्भावना [ही जाना] ‘प्राप्त्याशा’ [कहलाती] है । ३५ ।

मात्र शब्दसे [मुख्य फलके प्रतिरिक्त या मुख्य फलसे भिन्न] अन्य फलका सम्बन्ध तथा प्रतिबन्धके निश्चयका निवारण किया है । [उस हेतुके साथ] अन्य फलका सम्बन्ध न होनेसे और किसी अनिश्चित वाधकके अभावरूप उपायसे प्रधान फलको [प्राप्तिकी] थोड़ी सी सम्भावना, न कि निश्चय होना, प्राप्तिकी अर्थात् प्रधान फलकी प्राप्तिकी आशा होनेसे ‘प्राप्त्याशा’ [कहलाती] है ।

जैसे वेणीमंहारके तीसरे अङ्कमें ।

“भीम—जिस दुष्ट [पशुना] ने पाञ्चालराजकी पुत्रीके केशोको खींचा था और जिसने राजाको तथा मुहम्मोके सामने उसके वस्त्रोका भी अपहरण [करनेका यत्न] किया । जिसकी छातीका रक्त पीनेकी मैंने प्रतिज्ञा की थी वह [दुष्ट दुःशासन इस समय] मेरी भुजाओके शिकर्जे-में आ गया है । हे कौरवो ! [तुम्हारी सामर्थ्य हो तो आकर अथ] इसकी रक्षा कर लो ।”

इसमें दुःशासनके वधसे समस्त कौरवोंके वधकी सम्भावना हो जानेसे युधिष्ठिरको राज्यप्राप्तिकी सम्भावना [प्राप्त्याशा] हो गई है ।

अथवा जैसे नलविलासके स्वयम्बराङ्क नामक चतुर्थ अङ्कमें—

“नल—हे कलहस ! हे मकरिके ! तुम दोनोंका वह प्रयास सफल हो गया ।

कलहस—देव ! हम दोनोंका प्रयास नहीं किन्तु आपका स्वप्न [सफल हुआ] ।

नल—ममभूदिदानीं स्वप्नार्थप्राप्त्याशा ।” इति ॥ ३५ ॥

(४) अथ नियताप्तिं स्पष्टयति—

[सूत्र ४१]—नियताप्तिरूपायानां साफल्यत् कार्यनिर्णयः ।

प्रधानफलहेतूनां प्रतिबन्धकाभावेन ममलसहकारिसम्पत्त्या कार्यस्य प्रधान-फलस्य निर्णयो भविष्यत्येवेति निश्चयो, नियता फलाव्यभिचारिणी आप्तिनियताप्ति । यथा वेणीसंहारे—

“कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरस्योदीपनः सोऽभिमानी,
राजा दुःशासानादे-गुंरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटु पाण्डवा यस्य दामा,
काम्पे दुर्वोधोऽसौ न्दधयत न रुपा द्रष्टुमभ्यागतो स्व ॥”

इत्यादिना भीमार्जुनाभ्यामेकशेषदुर्वोधनान्वेषणात्नियताप्तिर्दृशता ।

नल—अथ स्वप्नने अर्थको प्राप्तिको आत्ता हो गई है ।” इत्यादि ॥ ३५ ॥

४ नियताप्ति अवस्था—

प्रारम्भ, यत्न, प्रीर प्राप्त्याशा रूप तीन अवस्थाओंवा वर्गोंन कर चुकनेके बाद अथ 'नियताप्ति' रूप चतुर्थं अवस्थाने लक्षणादिका अवसर प्राप्त होता है । अत आगे उमका वर्णन प्रारम्भ करते हैं ।

अथ नियताप्ति [के लक्षण आदि] को स्पष्ट करते हैं—

[सूत्र ४१]—उपायोके सफल होजानेसे कार्य [की प्राप्ति] का निर्णय 'नियताप्ति' कहलाता है ।

प्रधान फलके हेतुओंके, प्रतिबन्धक [कारणों] का नाश [प्रभाव] हो जानेसे प्रीर [उसकी उत्पत्तिके] समस्त सहकारियोंके प्राप्त हो जानेसे कारण कार्य अर्थात् प्रधान फलका निर्णय अर्थात् अवश्य होगा हो इत प्रकारका निश्चय, नियता अर्थात् फलकी अव्यभिचारिणी निश्चित प्राप्ति होनेसे [इस ध्युत्पत्तिके अनुसार] नियताप्ति [कहलाती] है ।

जैसे वेणीसंहारमें—

“[हम पाण्डवोंके साथ] द्यूतका दान [करके हमारा राज्य अपहरण] करने वाला, सातके घर [में अथ करके हम सब] को जलाने वाला, दुःशासन आदिका यह अभिमानी राजा, सो भद्रवर्षीका लुट [खेले आदि] अङ्गराज [बर्ल] का मित्र, श्रीपरीके बन्धु श्रीर शब्दों का अपहरण करानेमें पटु प्रीर [प्रियक क्या कहें] पाण्डव जितके 'दास' हैं वह दुर्वोधन अथ कहा है, वनसाधो, हम दोनों [अर्थात् अर्जुन प्रीर भीम] योयने [उने मारनेके लिए] नहीं बँधत मितनेके लिए आए हैं ।”

इत्यादि [वचन] में भीम तथा अर्जुनके द्वारा अर्जुने अथे हुए दुर्वोधनका अन्वेषण किए जानेके कारण [पाण्डवोंकी राज्यकी प्राप्तिका निश्चय हो जाने में । यह] नियताप्ति है ।

वेणीसंहारके पक्षमें अर्जुन तथा आदि लक्ष संव मनापनिय का अथ हा जाकर प्रीर दुर्वोधनका जीवन भी गच्छुदम पर जानकर मूलित दुर्वोधनकी रचम लकर मारपि उसके रथ की भगा जाता है । ऐसी दशामें धृतराष्ट्र तथा वा पागे दुर्वोधनका समझा रह है । उहाँ समय दुर्वोधनका जीवन हुए भीम प्रीर अर्जुन उपर सा विहा है । उमी अमर्जुने यह

यथा वा राघवाभ्युदये षण्डेऽङ्के—

“सुग्रीवः—[जाम्बवन्तं प्रति] भवतु यादृशस्तादृशो या स पारदारिको
राक्षसस्तथापि देवपादानां बध्यः ।

रामः—[सीतापद्वारं स्मृत्वा सगर्वविशादम्] कपिराज ! प्रतिराजविक्रम-
यामिनीतपनोदये भवति सहाये सति—

निहत्य दशकन्धरं सह विपक्षरक्षःकथा—

प्रथामिरधिसङ्गरं जनकजां प्रदीप्ये ध्रुवम् ।

शशाकं न स रक्षितुं रघुपतिः परेभ्यः प्रिया—

मयं तदपि सम्भवी चिरमकीर्तिबोलाहलः ॥”

इति ।

भीमकी उक्ति है । इसको मुनकर कौरवपक्षके मुख्य सेनानायकोके मारे जाने और दुर्योधनके अकेले ही शेष रह जानेसे अब पाण्डवोंकी राज्य-प्राप्ति प्रायः निश्चित हो जाती है । इसलिए ग्रन्थकारने इसे कार्यकी ‘नियताप्ति’ रूप चतुर्थी अवस्थाके उदाहरणके रूपमें यहाँ प्रस्तुत किया है ।

इसी प्रकारका नियताप्तिका दूसरा उदाहरण आगे चलने बनाए राघवाभ्युदय नाटक मेंसे प्रस्तुत करते हैं ।

अथवा जैसे राघवाभ्युदयके षण्डाङ्कमें—

सुग्रीव—[जाम्बवन्तके प्रति कहते हैं कि] हे अमात्य ! वह दूसरेकी स्त्रीका अपहरण करने वाला राक्षस [रावण] चाहे कंसा भी [बलवान् और विद्वान्] हो किन्तु [दूसरेकी स्त्री का अपहरण करने वाला होनेके कारण वह पापी है अत एव] देव पाद [श्री रामचन्द्रजी] के लिए बध्य ही है ।

राम—[सीताके अपहरणके दुःखको स्मरण करके गर्व तथा विषादके सहित कहते हैं कि] हे कपिराज ! शत्रुघ्नो [प्रतिराज] के विक्रम रूप यामिनी [राम] के लिए सूर्यके समान [अर्थात् शत्रुघ्नके पराक्रमको नष्ट करने वाले] आपके सहायक होनेपर—

शत्रु राक्षसोंकी कथाओंकी परम्पराओंके साथ रावणको युद्धभूमिमें मार कर निश्चय हो मैं [जनकजा] सीताको प्राप्त कर लूँगा । फिर भी वह रघुपति दूसरोसे अपनी प्रियाकी रक्षा करनेमें भी समर्थ नहीं हुआ इस प्रकारका अपकीर्तिका कोलाहल सदाके लिए ही जायगा ।

यह ।

यहाँ भी फलसिद्धिके बाधकोका निराकरण और फल-प्राप्ति अर्थात् सीताके उधारके कभीष्ट साधनोंके उपस्थित हो जानेसे रामचन्द्रकी सीताके उधार रूप फलकी प्राप्तिवा निश्चय हो ही गया है । इसलिए यह भी ‘नियताप्ति’ रूप चतुर्थी अवस्थानाके उदाहरण रूपमें प्रस्तुत किया गया है ।

इस प्रकार यहाँ तक कार्यकी आरम्भ आदि पाँच अवस्थाओंमेंसे चार अवस्थाओंका लक्षण तथा उदाहरण आदि सहित विस्तार-पूर्वक विवेचन हो गया । अब एक ‘फलागम’ रूप अन्तिम अवस्था शेष रह जाती है । उसका निरूपण अपने श्लोकाध्य द्वारा प्रस्तुत करते हैं ।

(५) अथ फलागम निरूपयति—

[सूत्र ४२]—साक्षादिष्टार्थसम्भूति-नायकस्य फलागमः ॥३६॥

साक्षान् समनन्तरं, न तु दानादिभ्यः स्वर्गादिफलमिव जन्मान्तरभाविनी । इष्टस्याभिप्रेतस्य, अथस्य प्रयोजनस्य, सम्यक् पूर्णत्वेन, भूतिरत्पत्ति, फलस्यागम आगमारम्भो न पुनरागतत्वम् । इह फलम्योत्पत्त्यावेश पञ्चम्यवस्था । उत्पन्नस्य तु नायकेन य सम्भोगस्तन् प्रबन्धस्य मुख्य साध्यम् । अत एव फले साध्ये नायकस्य पञ्चावस्था सङ्गच्छन्ते ।

‘नायकस्य’ इत्यनेन चावस्थान्तराणि सचिव-नायिका विपक्ष-द्वेषादिव्यापारै-रपि निबन्ध्यते इत्युक्तं भवति । तानि तु तथा निबद्धान्यपि फलतो नायक एव पर्यवस्यन्ति । अत एव रत्नावल्या —‘प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतो’ इत्यादि स्वामिगत्वेनैव योगन्धरायणोक्तम् । फलागम पुनर्नायकस्यैव निबन्ध्यते ।

(५) फलागम अवस्था—

अथ फलागम [रूप पञ्चमी अवस्था] का निरूपणा करते है—

[सूत्र ४२]—नायकको साक्षात् [जन्मान्तरभावी फलके रूपमे नहीं अपितु इसी जन्म मे वापके बाद] इष्ट अर्थको प्राप्ति फलागम [रूप पञ्चमी अवस्था कहलाती] है ॥३६॥

[कारिकामे छाया हुआ] ‘साक्षात् [यद समन्तर] गुरन्त वादमे [होनेवाली इष्टार्थ प्राप्तिका सूचक है] न कि दानादिसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फलके समान दूसरे जन्ममे प्राप्त होनेवाली [इष्टार्थ प्राप्तिका ग्रहण उससे होता है] । ‘इष्ट’ अर्थात् अभिप्रेत [चाहे हुए] ‘अर्थ’ अर्थात् प्रयोजनकः [सम्भूति अर्थात्] सम्यक् पूर्ण रूपसे [भली प्रकार] भूति अर्थात् उत्पत्ति । ‘फलागम’ [कहलाती] है । फलागम [इस पदमे] ‘आगम अर्थात् आरम्भ [का ग्रहण करना चाहिए] न कि [आगतत्व अर्थात् फलकी] सिद्धि । अर्थात् फलकी उत्पत्तिका आरम्भ पञ्चमी [फलागम रूप] अवस्था [से अभिप्रेत] है । और [पूर्ण रूपसे] उत्पन्न [फल] का जो नायकद्वारा उपयोग है वह प्रबन्धका मुख्य साध्य है । [अवस्था रूप नहीं] । इसलिये फलकी सिद्धिमे नायककी पाँच अवस्थाएँ [मानना] युक्तिसङ्गत है ।

‘नायकस्य’ इस [पद] से [यह सूचित किया है कि फलागम रूप अन्तिम अवस्थाको छोड़कर] प्रथम [चारों] अवस्थाएँ सचिव, नायिका प्रतिनायक या देव आदिके व्यापारोंके द्वारा भी प्राप्तिजित हो सकती हैं [किन्तु फलागम रूप अन्तिम अवस्था केवल नायकको ही प्राप्त होती है] यह अभिप्राय है । वे [आरम्भ आदि रूप चार अवस्थाएँ] उस प्रकारसे [अर्थात् नायकसे भिन्न सचिव, नायिका, प्रतिनायक तथा देवादि द्वारा] निबद्ध होनेपर भी एव रूपमे [अन्तको] नायकमे ही पर्यवसित होती है [अर्थात् दोष चारों अवस्थाओंकी आयोजना चाहे किसीके भी प्रयत्नमे हो किन्तु अन्तमे उत्तरा फल नायकको ही प्राप्त होता है] । इसीलिए रत्नावलीमे—‘स्वामिकी वृद्धि’ हेतुभूत इस वाक्यमे’ इत्यादि स्वामिगत रूपमे ही [फलका निर्देश करते हुए] योगधरायणने कहा है । [अर्थात् रत्नावलीके आरम्भमे आरम्भावस्थाका प्रायोजन यद्यपि अमात्य योगधरायणने किया है किन्तु उत्तरा फल स्वामिगत ही निर्दिष्ट किया है] । फलागम [पञ्चमी अवस्था केवल] नायकको ही वर्णित हो जानी है ।

यथा वेणीसंहारे पठेऽङ्गे—

“भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक् चन्द्रनाभं मयाङ्गे,
लक्ष्मीरार्ये निपण्णा चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुव्रलमनुजां दग्धमेतद् रणान्नां,
नाभैकं यद् भ्रूरीपि क्षितिप ! तद्घुनाः धार्तराष्ट्रस्य जेपम ॥”

इत्यनेन दुर्योधन इत्वा भीमसेनेन युधिष्ठिरराज्यसमर्पणफलयोगो दर्शित ।

यथा वा राघवाभ्युदये—

“वेदेही हतवांस्तदेव महत मंस्ये विपह्य क्लमान्,
चक्रोत्पादितमन्धरो दशमुखः कीनाशदासीकृत ।

फलागम रूप पञ्चमी अवस्थाके लक्षणकी व्याख्यामे ‘साक्षात्’ तथा ‘फलागम’ इन दो शब्दोंकी व्याख्यापर ग्रन्थकारने विशेष बल दिया है। ‘साक्षात्’ पदसे उन्होने यह अर्थ लिया है कि इष्ट अर्थकी प्राप्ति दानादि बर्भोसे प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि रूप फलके समान जन्मान्तरभाविनी न होकर ‘साक्षात्’ इसी जन्ममे और बर्भोके अनन्तर ही होनी चाहिए। इसका कारण यह है कि यदि नाटकमे भी जन्मान्तरभाविनी फलप्राप्तिका वर्णन किया जाय तो फिर प्रेक्षककी बर्भ और उसके फलका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूपसे गृहीत न हो सक्नेसे उसे नाटकसे बर्भन्यायतन्त्रकी शिक्षा प्राप्त नहीं हो सकेगी। इसलिए फलप्राप्ति साक्षात् रूपमे ही अङ्कित होनी चाहिए।

दूसरा बल उन्होने ‘फलागम’ पदकी व्याख्यापर दिया है। फलागम शब्दसे उन्हेमे फलकी पूर्ण रूपसे प्राप्ति नहीं अपितु केवल फलप्राप्तिका आरम्भ यह अर्थ लिया है। इसका कारण यह है कि फलकी पूर्ण रूपसे प्राप्ति तो अवस्थाके भीतर नहीं आती है। वह तो अन्तिम साध्य है। यहाँ अन्तिम साध्यका नहीं अपितु केवल अवस्थाश्लोका वर्णन चल रहा है। इसलिए फलागम शब्दमे फलप्राप्तिका आरम्भ यह अर्थ ग्रन्थकारने लिया है। जो सर्वथा उचित है।

आगे फलागम रूप पञ्चमी अवस्थाके दो उदाहरण देते हैं।

जैसे वेणीसंहारके छठे अङ्कमे [भीम कह रहे हैं]—

[दुर्योधनके] शरीरको पृथिवीपर पटककर उसका यह रक्त मैने चन्दनके समान अपने शरीरमे लगा लिया है। चारों समुद्रोका जल जिसकी सीमा है इस प्रकारकी पृथिवीकेसाथ लक्ष्मीको प्रार्थ [युधिष्ठिर] मे स्थापित कर दिया है। [कौरवोंके] भृश, मित्र, योधागण, कुरुसेना और [दुर्योधनके] भाई सब इस रणनिर्णयमे भस्म हो गए। हे राजन् [युधिष्ठिर]। आप जिस नामको बोल रहे हैं [धृतराष्ट्रके पुत्र] दुर्योधनका केवल एक वही [नाममात्र ही] जेप रह गया है।

इससे दुर्योधनको मारकर भीमसेनेने युधिष्ठिरको राज्यार्पण रूप फलको प्रदर्शित किया है। [अतः यह फलागमका उदाहरण है]।

अथवा जैसे राघवाभ्युदयमे [राम कह रहे हैं कि]—

[रावणने] वेदेहीका अपहरण किया था इसलिए सग्राममे महान् बर्भोंको सहार भी चक्रमे गर्दन बाटकर उस रावणको यमराजके अर्पित कर दिया। किन्तु उस [सीता] के

प्राणान् यद्विरहेऽप्यहं विवृतवांशेन त्रपामुन्दरं,
चक्रं दर्शयितुं तथापि न पुरस्तस्या विलचः जमः॥”

इति ।

इह च तावन् पुरुषकारमात्राभिनिवेशिनां देवमपाकुर्वता नास्तिकानां देव-
बहुमानव्युत्पत्तये पुरुषकारोऽप्यफलमतदभावोऽपि सफल इति दर्शनीयम् । ततो
देवायत्तकृते दरिद्रचारुदत्तादिरूपके पुरुषव्यापारस्य गौणत्वान् यथं प्रारम्भादय
स्यु ?

न, तत्रापि नायकस्य फलार्थित्वान्, फलस्य च प्रारम्भादिनान्तरीयकत्वान् ।
अनुमान्यपि हि मन्थानि वृष्टिसेवाप्यायितायां भुवि उन्मूलनता-मन्थभवत्-पुष्पोद्गम-
क्रमेणैव फलन्ति ।

यद्यपि हि सेवाद्युपव्यापारविमुक्त- पुरुषो न व्याप्रियते, तथापि देवप्रेरितो
राजादिव्याप्रियत एव । स च राजादिगतो व्यापारः पुरुषगत एव । तद्व्यापारमाध्य-
फलार्थित्वान् । अपरथा परत प्राप्तमपि फलं नाङ्गीकुर्यादिति ॥३६॥

विरहमे भी जो मे प्राणोंके धारण किए रहा इसलिये लज्जित हुआ मैं अपने लज्जामे पुक्त
[त्रपामुन्दर] मुखको उसके [सीताके] सामने दिखलानेमे समर्थ नहीं हूँ ।

इसमे [फलामम रूप पञ्चमी अवस्थाका वर्णन है] ।

ऊपर यह उक्तया था कि प्रारम्भादि अन्य अवस्थाओंकी योजना देवके व्यापारमे
भी हो सकती है । विन्नु उसका फल नायकको ही प्राप्त होगा । इसीका समर्थन करते हुए
आगे उसकी विशेष उपयोगिताका प्रतिपादन करते हैं ।

केवल पुरुषार्थको मानने वाले और देवका तिरस्कार करने वाले नास्तिकोंको भी
देवमे धृष्टा करानेके लिए [कहीं] पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जाता है और उसका अभाव [अर्थात्
देव] भी सफल हो जाता है यह बात यहाँ ताटकमे दिखाना चाहिए । इसलिये केवल देवके
अधीन फल वाले 'दरिद्र चारुदत्त आदि रूपकोंमे पुरुषके व्यापारके गौण हो जानेमे प्रारम्भ
आदि [अवस्थाओं] कंमे हो सकती हैं [यह शङ्का यदि उठाई जाय तो]—

ठीक नहीं है । क्योंकि वहाँ भी नायकको फलकी कामना होती ही है । और फल
प्रारम्भादिके बिना नहीं हो सकता है । [इसलिये उसमे भी प्रारम्भादि अवस्थाओंका समावेश
हो सकता है] । फिर योए हुए बीज भी [जब किसी प्रकार खेतमे पड़ जाते हैं तो वे] वर्षामे
तर हुई भूमिमे फूलकर [अबुर फूटकर] पीदा बन कर घोर पून कर क्रममे ही फलते हैं
[इसी प्रकार बिना पुरुषार्थके केवल भाग्यके द्वारा योए गए बीज भी प्रारम्भादि अव-
स्थाओंके द्वारा ही फलको उत्पन्न करते हैं] ।

यद्यपि सेवा आदि ममत्त व्यापारोंमे रहित [राजादि मृत्यु] पुरुष [स्वय] किसी
कार्यको नहीं करता है विन्नु देवमे प्रेरित अथवा राजा आदि होनेपर [स्वय भी देव-प्रेरणाके
अनुसार] व्यापार करता ही है । और राजादिगत यह [देव प्रेरित व्यापार भी] पुरुषका ही
व्यापार होता है । [यद्यपि उम दयो-] व्यापार द्वारा होने वाले फलका प्रायो यत्र [राजादि]
ही होता है । अन्यथा [यदि यह फलार्थी न हो तो] बादमे प्राप्त होनेवाले फलको भी स्वीकार
न करें ॥३६॥

(४) अथ दशानन्तरमुद्दिष्टान् व्याख्यातुं सन्धीनुपक्षिपति— ।

[सूत्र ४३]—मुखं प्रतिमुखं गर्भोऽऽमर्श-निवर्हणान्यमी ।

• सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः पञ्चावस्थानुगाः क्रमात् ॥३७॥

मुखस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थस्यांशा भागा, परस्पर स्वरूपेण चाङ्गं सन्धीयन्ते इति सन्ध्य । अवस्थाभिः प्रारम्भादिभिरनुगता, अवस्थासमाप्ती ममाप्यन्त इत्यर्थः । अवस्थाना च ध्रुवभावित्वात् सन्धयोऽपि नाटक-प्रकरण-नाटिका-प्रकरणेषु पञ्चावस्थ्यम्भाविनः । समयकारादौ तु विशेषोपादानादन्तत्वेऽपि न दोषः । क्रमादिति मुख्याद्युद्देशक्रमेण अवस्थाक्रमेण च निबध्यन्ते । इह तावन् प्रबन्ध-निबन्धनीयोऽर्थोऽवस्थाभेदेन पञ्चभिर्भागैः परिकल्प्यते । एकैकश्च भागो द्वादश-त्रयोदशोत्यादिरूपया अङ्गसंख्यया विभज्यते । प्रासङ्गिकवृत्तसन्धयस्तु मुख्यसन्ध-नुयायित्वादनुसन्धय एवेत्युक्तमेवेति ॥३७॥

(५) सन्धि-निरूपण—

श्री वारिकामे निर्दिष्ट नाटक लक्षणमे 'अङ्क' 'उपाय' और 'दशा' के बाद 'सन्धियों' का उल्लेख किया गया है । अत एव दशाप्रोका निरूपणं कर चुकनेके बाद अब सन्धियोंका निरूपण प्रारम्भ करते हैं । पाँच अर्थोपक्षेपक, पाँच अङ्क और पाँच दशाप्रोके समान सन्धियों की संख्या भी पाँच ही है । यहाँसे आगे उन पाँचों सन्धियोंका निरूपण किया जायगा ।

अब 'दशा' के अनन्तर कहे हुए [सन्धियों] की व्याख्या करनेके लिए 'सन्धियों' का प्रारम्भ करते हैं—

[सूत्र ४३]—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निवर्हण ये [पूर्वोक्त] पाँच अवस्थाओं का क्रमशः अनुगमन करने वाले मुख्य कथाके पाँच भाग 'सन्धि' कहलाते हैं ॥३७॥

मुख अर्थात् स्वतन्त्र महावाक्य [नाटकके कथाभाग] के अर्थात् भाग, परस्पर अपने रूपसे और अङ्गोंके साथ मिलते हैं इसलिए 'सन्धि' [कहलाते हैं] । प्रारम्भ आदि [पाँच] अवस्थाओंके साथ चलने वाले [हैं इसलिए] अवस्थाओंकी समाप्तिपर [सन्धि भी] समाप्त हो जाते हैं । यह [अवस्थानुगा' पदका] अभिप्राय है । [नाटकीमे अवस्थाके लक्षणमे कहे गए 'ध्रुव' पदमे] अवस्थाओंके अपरिहार्य होनेसे [उनका अनुसरण करने वाले पाँचों] सन्धि भी नाटक प्रकरण नाटिका और प्रकरणोंमे अपरिहार्य हैं । समयकार आदि [रूपोंके अर्थ भेदों] मे तो [सन्धियोंकी सत्याका] विशेष रूपसे निर्देश होनेके कारण क्रम [सत्या] होने पर भी दोष नहीं है । [वारिकामे आगे हुए] 'क्रमात्' इस [पद] से मुख्यादि रूपमे उद्देशके समये [अर्थान् क्रम समये उनके नाम इस वारिकामे गिनाए गए हैं उसी समये] और अवस्थाओंके समये ही [सन्धियोंका] समापन किया जाता है । यहाँ [नाटकमे] प्रारम्भमे वर्तनीय कथाभागको [प्रारम्भ आदि] अवस्थाओंके भेदमे पाँच भागोंमे विभक्त किया जाता है । और उनमेंसे प्रत्येक भाग चार-तेरह आदि रूप अङ्गोंकी सत्यामे बाँटा जाता है । [ये ही पाँच सन्धि और चार-तेरह आदि सङ्ख्यङ्क कहलाते हैं] । प्रासङ्गिक [पथाका आदि के] परित्रके सन्धि तो मुख्य सन्धियोंके अनुगामी होनेके कारण 'अनुसन्धि' ही होते हैं यह बात ध्यान रखी जा चुकी है ॥३७॥

(१) अथ मुख लक्षयितुमाह—

[सूत्र ४४]—मुखं प्रधानवृत्तांशो बीजोत्पत्ति-रसाश्रयः ।

प्रारम्भावस्थाभावित्वान् प्रधानवृत्तस्य भागो मुखमिव मुखम् । 'बीजोत्पत्ते.' मुखयोपायोपक्षेपस्य, 'रसाना' च शृङ्गारादीनामाश्रयोऽवतरणं यत्र । प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशि प्रमत्तानुपसक्त्या विचित्ररससन्निवेशस्तावान् मुखमन्विरित्यर्थः ।

यथा 'रत्नावल्या' प्रथमोऽङ्कः । अत्र हि सागरिकाराजदर्शनरूपे अमात्य-प्रारम्भविषयोक्तुनेऽर्थगशी अमात्ययोगन्धरायणस्य प्रथिवीसाम्राज्यविजयो-र्वीर, वत्सराजस्य वसन्तविभाव शृङ्गार, पौरप्रमोदावलोकनादद्भुत, तत उद्यानगमना-दारभ्य पुन शृङ्गार इति ।

यथा वा 'मत्स्यहरिश्चन्द्रे' प्रथमोऽङ्कः । तत्र हि कुलपतिप्रारम्भविषयीकृते प्रथिवी-सुवर्णदानाभ्युपगमरूपे अर्थराशी राज्ञ प्रथम महावराहदर्शने अद्भुत, प्रहृतहरिणोदर्शने करुण, पुनराश्रमदर्शने अद्भुत, हरिणीवधश्रवणदुःखस्य कुलपते रौद्र, तत प्रथिवीसुवर्णदानाभ्युपगमे राज्ञी दानवीर इति । रसप्राप्तो नाट्यविधिरिति रसाश्रयत्वमुत्तरसन्निधिरपि द्रष्टव्यमिति ।

(१) मुखसन्धि—

अथ मुख [सन्धि] का लक्षण करनेके लिए कहते हैं—

[सूत्र ४४] बीजकी उत्पत्ति तथा रसका आश्रयभूत मुख्य कथाभागका [मुखके समान] भागसे पहिले दिखलाई देनेवाला अथ 'मुखसन्धि' कहलाता है ।

[कथाभागकी] प्रारम्भावस्थाके साथ होनेके कारण प्रधान घृत्ता [प्रारम्भिक] भाग मुखके समान [समये पहिले दृश्य होनेसे] 'मुख' [सन्धि कहलाता] है । बीजकी उत्पत्ति अर्थात् मुख्य उपायके [उपक्षेप] प्रारम्भका और शृङ्गारादि रसोंका आश्रय अर्थात् अवतरण जिसमें होता है [वह मुखसन्धि कहलाता है] । अर्थात् [नाटकके] प्रारम्भका उपयोगी जितना अर्थराशि और प्रमत्तानुपसक्त अर्थात् परम्परित रूपसे विचित्र रसोंका [जितना] सन्निवेश [प्रारम्भके लिए उपयोगी है] वह सब मुखसन्धि [के अंतगत] है ।

जैसे रत्नावलीमें प्रथम अङ्क [मुखसन्धिकी उदाहरण है] । क्योंकि उत्तम अमात्य [योगधरायण]के प्रारम्भ [व्यापार] के विषयभूत सागरिकारके राजाके द्वारा दोगे जाने रूप अर्थगमुदायमें प्रथिवीक साप्राप्त्यको प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले अमात्य योगधरायणका पौररस, वसन्त रूप [उद्दीपन] विभाव से मुक्त वत्सराजका शृङ्गाररस पुरष्कामिषाके प्रमोदके अवलोकनसे अद्भुत और उसके बाद उद्यानमें जानेसे लेकर फिर शृङ्गार [पाया जाता है] । इस प्रकार [मुखसन्धिमें विचित्र रसाश्रयत्व पाया जाता है] ।

अथवा जैसे मत्स्यहरिश्चन्द्रेमें प्रथम अङ्क [मुखसन्धिकी उदाहरण है] । उगमें कुलपति का प्रारम्भके विषयभूत प्रथिवी और सुवर्णदानके स्वीकार करने रूप अर्थगमुदायमें राजाका प्रथम महावराहके दर्शन रूप अद्भुत, [उमके बाद] मारी गई हरिणीकी श्रवणसे अद्भुत, उगके बाद आश्रमके श्रवणसे अद्भुत, फिर हरिणीवध [का समाचार] की सुनकर दूढ़ हुए कुलपतिका रौद्र और फिर प्रथिवी और सुवर्ण का दान करनेपर राजाका दानवीर [रस] पाया है । [इस प्रकार इस नाटकमें भी मुखसन्धिमें नाना रसोंका विचित्र सन्निवेश किया गया

(२) अथ प्रतिमुखं व्याचष्टे—

[सूत्र ४५]—प्रतिमुखं क्रियल्लक्ष्यबीजोद्घाटनमन्वितः ॥३८॥

‘प्रधानवृत्ताश’ इहोत्तरेषु च स्मर्यते । क्रियल्लक्ष्यस्य मुखमन्धौ गम्भीरत्वेन न्यस्तत्वादीपन् प्रकाशस्य बीजस्य प्रधानोपायस्य, उद्घाटेन प्रबलप्रकाशनेन, सम्यगनुगतः, प्रयत्नावस्थापरिच्छिन्नो य प्रधानवृत्तांशः स मुखस्थाभिमुख्येन वर्तत इति ‘प्रतिमुखम्’ ।

“द्वीपादन्यस्मादपि” इत्यादिना ह्यमात्येन सागरिकाचेष्टितरूपं बीजं मुखसन्धौ न्यस्तं, वसन्तोत्मवक्रामदेवपूजादिना तिरोहितत्वादीपलक्ष्यम् । तस्य च सुसङ्गता रचित राज-सागरिकासमागमेन द्वितीये अङ्के उद्घाट इति ॥३८॥

है । अत एव यहाँ भी मुखसन्धि रसाश्रय है । नाट्यकी रचनाका प्राण ही रस है इसलिये [प्रतिमुख आदि] अगली संधियोंमें भी रसाश्रयत्व होना चाहिए ।

(२) प्रतिमुखसन्धि—

अथ प्रतिमुख [सन्धि] की व्याख्या करते हैं—

‘[सूत्र ४५]—[मुखसन्धिमें] सूक्ष्मरूपसे दिखलाई देने वाले [क्रियल्लक्ष्य] बीजके उद्घाटनसे युक्त प्रति मुख [सन्धि] होता है ॥३८॥

[मुखसन्धिके लक्षणमेंसे] ‘प्रधानवृत्ताश.’ इस भागकी अनुवृत्ति यहाँ [इस प्रतिमुखके लक्षणमें] तथा आगे [गर्भ सन्धि आदिके लक्षणमें] भी आती है । [‘इह उत्तरेषु च स स्मर्यते’ इस वाक्यका यह अर्थ किया है] । ‘क्रियल्लक्ष्यस्य’ [पदका अभिप्राय यह है कि] मुखसन्धिमें भूढ रूपसे आरोपित किए गए, इसलिए सूक्ष्म रूपसे दिखलाई देने वाले बीजके अर्थात् प्रधान उपायके, उद्घाटन अर्थात् प्रबल रूपसे प्रकाशनसे, सम्यक् अर्थात् स्पष्टरूपसे अनुगत, प्रयत्नावस्थामात्रमें व्याप्त, प्रधान वृत्तका जो भाग होता है वह मुराके सामने आगे विद्यमान होनेमें ‘प्रतिमुख’ [प्रतिमुखसन्धि कहलाता] है ।

प्रतिमुखसन्धिके लक्षणकी इस व्याख्यामें तीन बातें कही गई हैं । पहली बात तो यह वही है कि ‘प्रधानवृत्ताश’ इस भागका सम्बन्ध मुखसन्धिके लक्षणसे यहाँ भी ताना चाहिए । दूसरी बात यह है कि मुखसन्धिमें बीजका सूक्ष्मरूपसे जो निवेश किया जाता है उसका प्रतिमुखसन्धिमें अधिक स्पष्ट रूपसे विकास उद्घाटन किया जाता है । और तीसरी बात यह है कि जैसे मुखसन्धि गारम्भावस्थाका अनुसरण करने जाता होता है । प्रारम्भावस्थाके समाप्त होनेके साथ ही मुखसन्धि समाप्त हो जाता है । इसी प्रकार प्रतिमुखसन्धि प्रयत्न का द्वितीयावस्थाका अनुगामी होता है । द्वितीयावस्थाके समाप्त होनेके साथ समाप्त हो जाता है । आगे इसीका उदाहरण प्रस्तुत करने हैं ।

जैसे [रत्नावलीमें] ‘द्वीपादन्यस्मादपि’ इत्यादिसे अमात्य [योगधरारण] के द्वारा सागरिकाका ध्यापार रूप बीज [प्रथमाङ्कमें] मुखसन्धिमें [सूक्ष्मरूपमें] स्थापित किया था । यह वसन्तोत्सव, कामदेव-पूजनादिके द्वारा तिरोहित होनेके कारण धोटा-ता दिखलाई देना था । उसका सुसङ्गताके द्वारा कराए गए राजा और सागरिकाके समागमके द्वारा द्वितीयाङ्कमें उद्घाटन [अधिक विस्तार] किया गया है । [अत एव द्वितीयाङ्कका क्याभाग उग माटकेमें प्रतिमुखसन्धि वर्तताता है] ॥३८॥

अथ गर्भं व्याख्यातुमाह—

[सूत्र ४६]—बीजस्यौन्मुख्यवान् गर्भो लाभालाभगणेषु ।

उत्पत्ति-उद्घाटनदशाद्वयाविष्टस्य बीजस्य औन्मुख्य फलजननाभिमुख्यं तद्वान् । प्राप्त्याशया तृतीयावस्थया परिच्छिन्नो लाभालाभगणेषु । पुन-पुन भवद्भिर्युक्त प्रमानवृत्ताशो गर्भसन्धि ।

यथा वेगीसंहारे तृतीय-चतुर्थ पञ्चमेऽङ्केषु । फलसाधकानो पाण्डवाना वृत्ते नेपथ्ये भीमसेनेन—

‘कृष्टा येन शिरोरुहेषु पशुना’ ।

इत्यादिना प्रतिज्ञानिर्वह्योपक्रमान् विजयानुगुण्यलाभेन बीजस्यौन्मुख्य दशितम् । तथा—

‘भगदत्तलुहिलकुम्भके’ [भगदत्तरुधिरकुम्भके] ।

इत्यादिना राक्षसीमुखसूचितेन प्रधानयोधवधेन ।

‘एषे खुधिट्टञ्जुण्येणं केशेषु गिरिहय दोगे वावार्थाइदि ।’

[‘एष खलु धृष्टगुम्नेन केशेषु गृहीत्वा द्रोणो व्यापाद्यते’] इति ससृष्टम् ।

इत्यादिना राक्षसमुखसूचितेन च सेनापतिवधेन । स्वप्रलक्षोभकारिणा कर्ण-
३ गर्भसन्धि—

अथ गर्भं [सधि] की व्याख्या करनेके लिए कहते हैं—

[सू० ४६]—[मुख्य फलके] लाभ और प्रलाभ [प्रार्थना कभी प्राप्तिकी प्राप्ता और कभी प्राप्तिकी निराशा] के अनुसंधानके द्वारा बीजकी फलोन्मुखतासे युक्त [कयाभाग] गर्भ [सधि कहलाता] है ।

[पहिले मुख तथा प्रतिफल सधिये कही हुई] उत्पत्ति तथा उद्घाटन रूप दो अवस्था से युक्त बीजका जो फल-जननके उन्मुख होना, उससे युक्त [सीमरा गर्भसधि होना है । और यह] प्राप्त्याशा रूप तृतीयावस्थासे सीमित [प्रार्थना तृतीयावस्थाके साथ प्रारम्भ और उसकी समाप्तिसे साथ समाप्त होनेवाला] होता है । बार-बार होनेवाले लाभ तथा प्रलाभके अनुसंधानसे युक्त प्रधान कयाका भाग गर्भसधि [कहलाता] है ।

जैसे वेगीसंहारके तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम अङ्कमें [गर्भसधि निम्न प्रकार पाया जाता है] । फलके साथक पाण्डवके धरित्रके नेपथ्यमें भीमसेनके द्वारा —

“कृष्टा येन शिरोरुहेषु” [तृतीय अङ्कके ४७वें श्लोकके इसका अर्थ पौष्टे वृष्ट पर देखो] ।

इत्यादिमें [भीमसेनके द्वारा अपनी] प्रतिज्ञाएं पूर्ण करनेके उपक्रमसे विजयकी अनुसंधानकी प्राप्तिसे द्वारा बीजकी फलोन्मुखताका प्रदशन किया है । और [उसी तृतीय अङ्कके प्रवेशके]—

“भगदत्तके रुधिरके भरत हृषा यथा” इत्यादिसे द्वारा राक्षसीके मुखमें सूचित कराए गए प्रधान-योधा [भगदत्त] के वधसे, और [उसी प्रवेशके]—

“यह वृष्टगुम्न बाल परवृष्ट द्रोणकी मार रहा है” इसके द्वारा राक्षस मुखमें सूचित कराए गए सेनापतिके वधसे तथा [उसी अङ्कमें] अपनी सेनामें अर्थात् परा करनेवाले कर्ण

श्वत्थाम्ने. कलहेन च दुर्योधनस्य विजयलाभलक्षण पाण्डववृत्ते फलानुगुण बीजस्यौन्मुख्यम् । तथा—

“आ शक्तिरस्ति वृकोदरस्य मयि जीवति वत्सस्य छायामप्याश्रमितुम् ।”
इति योद्धुं निष्क्रान्तेन दुर्योधनेन विजयान्वेषणरूप औन्मुख्यम् । तथा—

“राज्ञो मानधनस्य कामुकभृतो दुर्योधनस्याप्रत,
प्रत्यक्षं कुरुवान्धवस्य भिषतः कर्णस्य शल्यस्य च ।
पीतं तस्य मयाद्य पाण्डववधूक्शाम्बराकर्षिणः,
कोष्णं जीवत एव तीक्ष्णकरजल्लुण्णादसृग् वक्षस ॥”

इत्यादिना भीमसेनेन दु शासनवधात् विजयलाभरूपमौन्मुख्यम् । एवमत्र पुन पुनर्लाभालाभगवेषणैर्वीजस्यौन्मुख्यम् दर्शितम् । अत एव फलप्राप्तिसम्भावनारूपो गर्भसन्धिदृश्यते ।

तथा अश्वत्थामाके कलहसे, दुर्योधनको पराजय रूप और पाण्डवोंके पक्षमे फलके अनुकूल बीज का औन्मुख्य [दिखलाया गया है] । तथा [चतुर्थं अङ्कमे]—

“आ । मेरे जीते रहते भीम, वत्स दु शासनकी छाया तक छूनेकी शक्ति नहीं रखता है [यह कहकर] युद्धके लिए निकलते हुए दुर्योधनके द्वारा विजयान्वेषण रूप फलोन्मुखता [दिखलाई गई है] तथा—

“अभिमानी और घनुर्घारी राजा दुर्योधनके सामने, कौरव वन्धुओंके आगे, तथा कर्ण एव शल्यके देखते-बेखते आज मैंने पाण्डवोंकी बधू [द्रीपदीके] के केश तथा वस्त्रोका अपहरण करनेवाले उस दु शासनकी अपने तीक्ष्ण नाखूनों द्वारा फाडी गई छातीका गरम-गरम लहू उसके जीते हुए भी पी लिया ।”

इत्यादि [वाक्य] से भीमसेनके द्वारा दु शासनके घघसे [पाण्डवोंके] विजयलाभ रूप फलकी उन्मुखता [दिखलाई गई है] । इस प्रकार यहाँ [वेणीसहारमे] बार-बार [विजयके] लाभ और अलाभके अनुसंधान द्वारा बीजकी [फलके प्रति] उन्मुखता दिखलाई गई है । अत एव [यह] फलकी प्राप्तिकी सम्भावना रूप गर्भसन्धि कहलाता है ।

वेणीसहार वीररस प्रधान नाटक है । उसमे पाण्डवोका विजयलाभ मुख्य फल है । प्रथम अङ्कमे उसमे 'साक्षाशृहनलविपाश्र' इत्यादि भीमसेनकी उक्तिसे जिस कौरववधके नाप के बीजका आरोपण किया गया था उसका द्वितीय अङ्कमे अधिक उद्भेद होकर तृतीय चतुर्थ अङ्कमे उसके प्राप्तिकी आशा हो जाती है । इन अङ्कमे अनेक स्थानोपर कौरवोके प्रपान पुरुषोके वधकी भूवना मिलती है । यह पाण्डवोकी विजयके अनुकूल जाती है । वही नहीं दुर्योधन आदि कभी अपनी विजयके लिए प्रयत्नशील दिखलाई देते हैं । वह स्थल मुख्य पक्षकी प्राप्तिमे बाधक प्रतीत होते हैं । सब मिलकर लाभकी आशा अधिक् रहती है । इसलिये इस भागमे प्राप्तवासा रूप तृतीयवाक्या और गर्भसन्धि रूप तृतीय सन्धिको ही निबद्ध किया गया है । इसी दृष्टिसे अन्वकारने गर्भसन्धिके उदाहरणरूपमे उस भागको प्रस्तुत किया है ।

यह वीररस प्रधान नाटकमे गर्भसन्धिके प्रदर्शन कराया । इसी प्रकार शृङ्गार प्रधान नाटकमे भी दिखलाया जा सकता है । इसी बातको आगे कहते हैं—

एवं शृङ्गारादिप्रधानेष्वपि रूपकेषु लाभालाभगवेषणानि दर्शनीयानि ।
इह गर्भसन्धौ अप्राप्त्यंशः प्रधानं फलसम्भावनात्मकत्वात् । अन्यथा फल-निश्चया-
त्मक एव स्यात् । अवमर्शमन्धौ तु प्राप्त्यंशः प्रधानं फलनिश्चयरूपत्वादिति विशेषः ।
इति ।

अथावमर्शमाह—

[सूत्र ४७]—उद्भिन्नसाध्यविघ्नात्मा विमर्शो व्यसनादिभिः ॥३६॥

बीजस्य उत्पत्ति-उद्घाट-फलोन्मुख्यैरुद्भिन्नं भवनाभिमुखं यत् साध्यं प्रधान-
फलं तद्विघ्नात्मा तत्प्रत्युद्भवसम्पातत्वात्मा नियताप्तचतुर्थ्यवस्थापरिच्छिन्न प्रधान-
वृत्ताराः, विमृशति बलवदन्तरायहेतुसम्पातप्रत्यासन्नमपि साध्यं प्रति सन्देहि-
नेताऽस्मिन्निति 'विमर्शः' । नियतफलाप्यवस्थया व्याप्तत्वेऽप्यस्य सन्धेः सम्भाव-
नानन्तरं सन्देहस्याप्राप्तावपि च फल प्रति जनक-विघातकयोस्तुल्यबलत्वात् सन्देहा-
त्मकत्वम् । 'विघ्नेरपि ह्यन्यमानाश्च मह्यात्मानो विशेषतो यतन्ते' इति तत्त्वतो नियत-

इसी प्रकार शृङ्गार-प्रधान रूपकोमें भी [फलका] लाभालाभके अनुसन्धान दिखलाने
चाहिएं ।

इस गर्भसन्धिमें, उसके फलसम्भावना रूप होनेसे अप्राप्तिका अन्न प्रधान रहता है ।
अन्यथा [गर्भसन्धि न रहकर] फल-निश्चयात्मक [विमर्श-सन्धि] ही बन जाय । विमर्श-सन्धिमें
प्राप्तिका अन्न प्रधान रहता है । क्योंकि वह फल-निश्चय रूप होता है । यह [गर्भसन्धि तथा
विमर्श-सन्धिका] भेद है ।

४ विमर्श-सन्धि—

अथ विमर्श [सन्धि] को कहते हैं—

[सूत्र ४७]—[बीजकी उत्पत्ति, उद्घाटन और फलोन्मुख्यके द्वारा] उद्भिन्न अर्थात्
पूर्ण होनेके लिए प्रस्तुत जो साध्य, उसमें व्यसन आदिके द्वारा विघ्न-स्वरूप विमर्श [सन्धि]
कहा जाता है । ३६ ।

[मुल, प्रतिमुल तथा गर्भसन्धियोंमें अन्न] बीजकी उत्पत्ति, उद्घाटन तथा फलो-
न्मुख्यताके द्वारा उद्भिन्न अर्थात् [सफल] होनेवाला जो साध्य, अर्थात् प्रधान फल, उसका
विघ्न-स्वरूप अर्थात् उसमें विघ्नोपनिपात रूप नियताप्ति नामक चतुर्थी अवस्थासे परिच्छिन्न
[अर्थात् चतुर्थी अवस्थाके उदयके साथ उदय और उसकी समाप्तिके साथ समाप्त होने-
वाला मुख्य अन्धकार भागको जिसमें कि 'विमृशति' अर्थात् बलवान् विघ्नोके आ जानेसे
प्रत्यासन्न फलके प्रति भी नायक सन्देहमें पड़ जाता है । इसलिए [इसी व्युत्पत्तितत्त्वमें अर्थके
कारण] 'विमर्श' [सन्धि कहा जाता] है । इस [विमर्श] सन्धिमें नियताप्ति रूप [चतुर्थी]
फलावस्थामें व्याप्त होनेपर भी और सम्भावना [अर्थात् उत्पत्त बोटिके निश्चय] के अनन्तर
सन्देहका अवसर न होनेपर भी फलके प्रति जनक और उसके विघातक दोनोंमें तुल्यबल होने
के कारण [विमर्श-सन्धि] सन्देहात्मकता होती है । और [सन्देहात्मकता होते हुए भी]
'विघ्नेरपि वार-वार व्याधित होनेपर भी महापुण्य और अपिच यत्न [फल प्राप्तिके लिए]
करते हैं' इसलिये वास्तवमें वह नियताप्ति रूप ही होता है । 'धेयानि बहुविघ्नानि' भवे
कार्येण अनेक विघ्न होते ही हैं । इसलिए विघ्नके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी समीचकता

फलातिरूपत्वम् । 'श्रेयांसि बहुविधानि भवन्ति' इति विघ्नहेतुसम्पातेऽपि, प्रत्यासन्नवर्तिनि फले न निवर्तनीयमिति च व्युत्पादयितुमवश्यमत्र सन्धौ विघ्न-हेतवो निवन्धनीयाः । 'व्यसनादिभिः' इति आदि-शब्दात् शापादिपरिग्रहः ।

तत्र व्यसनाद्विघ्नो यथा रामाभ्युदये पञ्चमेऽङ्के । रामः—

"प्रत्याख्यानरूपः कृतं समुचितं क्रमेण ते रक्षसा,
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः ।
व्यर्थं सम्प्रति विभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदः साक्षिणा,
रामेण प्रियजीवितेन तु कृत प्रेम्णः प्रिये ! नोचितम् ॥"

अत्र रावणेन यन्मायारूपसीताव्यापादनं तद्रूपेण व्यसनेन सीताप्राप्तिविघ्नजो विमर्शः ।

यथा वा रघुविलासे पष्ठेऽङ्के । लक्ष्मणः—

"नाकीर्णा दशरुन्धरी पलभुजां पत्युः शितैः पत्रिभिः,
दत्ता नापि विभीषणाय सुहृदे लङ्काधिपत्यस्थितिः ।
वैदेही विरहाग्निमग्नमनसो नार्यस्य सन्दर्शिता,
जातं जन्म वृथा इहा ! रणधुराधौरेयदोषो मम ॥"

[फल] की प्राप्तिसे निवृत्त नहीं होना चाहिए [कितने ही विघ्न आवें अपने प्रयत्नकी नहीं छोड़ना चाहिए] इस बातकी शिक्षा [सामाजिकोंको] देनेकेलिए [विमर्श] सन्धिमे विघ्नके कारणोंको अवश्य प्रदर्शित करना चाहिए । [कारिकामे आए हुए] 'व्यसनादिभिः' मे आदि शब्दसे शापादिका ग्रहण करना चाहिए । [अर्थात् प्रत्यासन्न फलकी सिद्धिमे जो विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं उसके व्यसन अर्थात् क्लेश या शापादि अनेक कारण हो सकते हैं । उनमें किसी भी कारणसे विघ्नको उपस्थित दिखलाई जा सकती है] ।

उनमेंसे सकट [व्यसन] के कारण विघ्न [की उपस्थितिका उदाहरण] जैसे रामाभ्युदये पञ्चम अङ्कमे । राम [कहते हैं कि]—

'निर्दयो राक्षस [रावण] ने प्रत्याख्यान [अर्थात् उसकी प्रार्थनाको अस्वीकार] कर देनेसे उत्पन्न क्रोधके कारण तुम्हारे साथ उचित ही [व्यवहार] किया [अर्थात् रावणने तुम्हारे इन्कार कर देनेपर तुम्हारे साथ जो व्यवहार किया वह उसके क्रोधके अनु रूप ही था] । और तुमने भी उस [प्रत्याचार] को इस प्रकारसे सहन किया जिससे उच्च कुलकी स्त्रियाँ धार भी एवंसे मस्तक ऊँचा करती हैं । किन्तु तुम्हारी विपत्तियोंको साक्षीरूपसे देखनेवाले [और उसका प्रतिशर न करनेके कारण] ध्यर्षही धनुरारण करनेवाले अपने जीवनके सोभी रामने हे प्रिये ! अपने प्रेमके अनु रूप कार्य नहीं किया ।

यहाँ रावणके द्वारा बनावटी सीताको जो मार डाला गया था उस व्यसनसे सीताकी प्राप्तिमे विघ्न प्रा पड़नेमे यह व्यसन-जन्य विमर्श [सन्धि] है ।

अथवा जैसे रघुविलासके छठे अङ्कमे । लक्ष्मण [कह रहे हैं]—

"[मैं लक्ष्मण] राक्षसराज [पलभुजां पत्युः] के दश निरोंके समुदायको सोडल बाएँके द्वारा काटकर गिरा नहीं पाया, न मित्रवर विभीषणको लङ्काने राजाका पर हिला पाया और न विरहानिते सतप्त मनवाले धार्य रामचन्द्रको संदेहोका दान ही बना

अत्र लक्ष्मणस्य शक्तिभेदव्यसननेन फलप्राप्तिविघ्नजन्मा विमर्शः ।

शापाद्यथा अभिज्ञानशाकुन्तले पञ्चमेऽङ्के दुर्वास शापविमोहितत्वेन त्यक्त्वायां शकुन्तलायामन्तहिताया च, पठेऽङ्के अगुलीयकदर्शनेन समुपजातस्मृतौ राजनि दुर्वास शापविघ्नजो विमर्शः ।

दैवतो यथा विधिविलसिते पंचमेऽङ्के—

“कचुकी—हा धिक् कष्टम्, नैवोल्लस्य प्राक्तन कर्मविपाकः ।

वार्तापि नैव यदिहास्ति स राजचन्द्रः,

तेनोष्मिता विधिविमोहितचेतनेन ।

देवा वने त्रिदशनाथविलासिनीभिः,

कर्तुं गता जगति सख्यमिति प्रवादः ॥

अत्र सूदाचारावलम्बिनि नले दैवत्यक्तदमयन्ती-राज्यप्राप्तिविघ्नजा विमर्शः ।

क्राधाद्यथा वेणीसंहारे पठेऽङ्के सिद्धरूपेऽपि कार्ये क्रोधातिशयादप्युपितां

पाया । इस लिए रणकी घुराकी धारण करनेवाली मेरी भुजाघोका जन्म ही व्यर्थ हो गया ।

यहाँ लक्ष्मणके शपित लग जानेके कारण उपस्थित व्यसनसे फलप्राप्तिमें विघ्न प्रा पड़नेसे उत्पन्न [व्यसन जन्य] विमर्श [सधि] है ।

इस प्रकार इन दोनों श्लोकों द्वारा प्रथकारने प्रथमान्न फलकी सिद्धिमें किसी आकस्मिक विघ्नके प्रा जानेसे व्यसन-जन्य सहाय या विमर्शके उपस्थित हो जानेके उदाहरण दिए हैं ।

शापसे उत्पन्न [विमर्श सन्धिवा उदाहरण] जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल [नाटक] के पञ्चम अङ्कमें दुर्वासके शापसे वेमुष होनेके कारण [दुष्पत्तके द्वारा] शकुन्तला का परित्याग कर देने और उसके अन्तहित हो जानेके बाद, पठ अङ्कमें श्रेष्ठोंको देखकर राजाकी उसका स्मरण आनेपर, दुर्वासके शापरूप विघ्नसे उत्पन्न विघ्नजन्य विमर्श सन्धि है ।

बंधवश [विमर्शका उदाहरण] जैसे 'विधि विलसित' [नाटकके] पंचमाङ्कमें—
कचुकी—हा धिक्, बड़े दुखकी बात है कि पुरुष जन्मके कर्मके फलसे बच नहीं सकते हैं ।

जित्तु [नि लक्ष्मणके] सौ श्रेष्ठ ज्ञान [तत्प्राप्त्यन्त] भी नहीं की-एट् अथ [द्वैतशास्त्र प्राज्ञ] राजराजेश्वर बन रहा है और [जो राज-राजेश्वर था] उनमें भाग्यके कारण बुद्धि-भ्रष्ट हो जानेसे [जुएमें राजपाटकी हारकर अन्तमें अपनी प्रियतमा दमयन्तीकी] वनमें छोड़ दिया । फिर देवता लोग अपारारामोंके सहित वनमें उससे मित्रता प्राप्त करनेके लिए सतारमें [भूतलपर] पहुँचे, इस प्रकारका [नल-दमयन्तीका] कथाएँ लोकमें प्रसिद्ध है ।

इसमें पाचक्या काम करनेवाले नलके भीतर बंधवश छोड़ी हुई दमयन्ती तथा राज्य प्राप्तिके मार्गमें आनेवाले विघ्नोके कारण उत्पन्न विमर्श विपत्ताया है ।

शोधने उत्पन्न [विमर्श का उदाहरण] जैसे बेलागहारके पठे अङ्कमें [बीरव-विजय रूप] कापंचे प्राय सप्तपुरे हो चुकनेपर भी भीमसेनके [घाज परि में दुर्योधनको नहीं मार पूंगा तो स्वयं प्राणत्याग कर दूँगा इस प्रकारकी] वानी न होनेवाली [पर्याप्त दूगरे दिन

प्रतिज्ञामास्थितवति भीमसेने, दुर्योधने चान्वितर्जित निमग्ने यस्तान्वेषयौरप्यनुपलभ्य-
माने युधिष्ठिरो निर्वेदाद् विमृशन्नाह—

नीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोष्णानले निर्वृते,
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शन्ये च याते दिवम् ।
भीमेन प्रियमाहसेन रभसान् स्वल्पावशेषे जये,
सर्वे जीवितसशयं वयमभी वाचा समारोपिता ॥

अथ भीमक्रोधान् कार्यविनिधाते सति जान इति क्रोधजप्रतिज्ञाविघ्नात्मा
विमर्शः ।

एवमनेकहेतुजो विमर्शमन्धिः ॥३६॥

अथ निर्वेद्वृणसन्धिं निरूपयति—

[सूत्र ४८]—सवीजविकृतावस्थाः, नानाभावा मुखादयः ।

फलसंयोगिनो यस्मिन्, असौ निर्वहखो भ्रुवम् ॥४०॥

वीजस्य विकृतं विकार उत्पत्ति-उद्घाट फलौन्मुखादिक सह वीजविकृते

तक न विकनेवाली, उत्तो दिन पूर्ण होनेवाली) प्रतिज्ञा कर लेनेपर, श्रीर दुर्योधनके उत्तर
भीतर स्थित जाने तथा प्रयत्न-पूर्वक शोष करनेसे भी न मिलनेपर अत्यन्त दुःखो होकर
'विमर्श' करते हुए युधिष्ठिर कहते हैं—

“भीष्म रूप महासागरको पार कर लेनेपर, जैसे-जैसे करके द्रोणाचार्य रूप प्रगिरतो
शांत करनेके बाद, श्रीर कर्ण रूप भयकर नागराजको वास करने तथा शत्रुके स्वर्ण त्रिपाट
जानेके बाद जबकि विजयका थोडा-सा ही काम शय रह गया था ऐसे समय साहम ही
जितको प्रिय है इस प्रकारके भीमसेने केवल [अपनी प्रतिज्ञा रूप] बालीने हम सबको
सशयमे डाल दिया है । [अर्थात् यदि आज दुर्योधनका यत्न नहीं लग जाता है तो भीमसेन
अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अपना प्राण त्याग कर देंगे । उस दशामे हम सबकी भी यही परि
होगी] ।

यह [विमर्श] भीमके अधिक कारण कामके विगड जानेपर उत्पन्न हुआ है, इतिवृत्त
क्षेप-जन्म प्रतिज्ञाते उत्पन्न विघ्न रूप विमर्श है ।

इस प्रकार अनेक प्रकारके हेतुप्रती 'विमर्श' उत्पन्न होता है । ॥३६॥

५ निर्वेद्वृण मन्धि—

अथ नामे 'निर्वेद्वृण' मन्धिक निरूपण करते हैं—

[सूत्र ४८]—वीज श्रीर उत्तके [उद्घाटन फलौन्मुखादादि] विचारों एक [साहम
दादि रूप] श्वस्वाशोके सहित [विजु पलाका दादि] नागर प्रकारके भाष [अर्थात् श्वस्वाशोके
श्वभिवारिभाव दादि अथवा बिन्दु दादि उपाय] तथा मुल दादि [सन्धिदा] का पूर्ण
कर [मुण्य] फलसे युक्त होते हैं यह 'निर्वेद्वृण' [नामक एवम सन्धि कहलाता] है । श्रीर
[हृषिके सपत्त मेदप्रवेशमे भ्रुय अर्थात्] अर्थात् ॥४०॥

वीजकी विकृति अर्थात् उत्पत्ति उद्घाटन, फलौन्मुखादादि । वीज [उत्तके] [वि
तथा शारङ्ग दादि श्वस्वाशोके सहित जो विद्यमान हैं] । [यह शारङ्गके 'शरीर

अवस्थाभिश्च प्रारम्भादिभिवर्तेन्ते । नाना विचित्रा भावाः स्थायि-व्यभिचारि-
मास्त्रियताः, अथवा भावयन्ति फलं साधयन्ति भावाः, उपाया विन्दु-पताका-प्रखरी-
फायाणि यत्र । मुख्यप्राप्तौ च फले रति-हाम-उत्साह-विम्वय-स्थायिभावघाट्टन्त्यं,
धृति गर्व-श्रीस्त्रुक्व-मदादि-व्यभिचारिघाट्टन्त्यं च मुग्धादीनाम् । दुःखदानौ तु फले
क्रोध-शोक-भय-जुगुप्सा-स्थायिभावघाट्टन्त्यं, आलस्योप्रायादि-व्यभिचारिघाट्टन्त्यं च
द्रष्टव्यम् । मुग्धादयो मुख्य-प्रतिमुख्य-गर्भे-विमर्शाः । फलेन मुख्यमाधयेन नायक-प्रति-
नायक-नायिका-अमान्यादिद्वयापाराः, मन्थगोचित्येन मुख्यन्त मन्थभ्यन्ते यस्मिन्
प्रधानवृत्तांगे स फलागमावस्थया परिच्छिन्नो निर्धेहगमन्धिः । धूर्वामति प्रारम्भय
निर्वाहारिनाभावित्वान् मयस्त्वफेद्वरयावश्यम्भावमाह । यथा रत्नावल्यामिन्द्र-
जासि रप्रवेशान् प्रभुत्वाममाधेरिति ।

केचिन तु मुग्धादयः मन्थयो, अवाभाश्च यत्र धूम्य-गुधय् मंत्तपनः पुनः-
स्त्रिहृम्यन्ते तं निर्धेहगमन्धिमाहुः । यथा मस्यहरिरशन्त्रे षटेऽष्टे । देवः—

विहतावस्था' पदवा अर्थं हृष्या । घाते वारिवाणे 'नानाभावा' पदवा अर्थं करते है ।
गता प्रकारे अर्थान् विचित्र भाव अर्थान् रथायि, व्यभिचारि तथा तास्त्रिय [रूप भाव] ।
अथवा 'भावयन्ति' अर्थान् फलको तिष्ठ करते है [इत न्युपतिरे अनुगार फलोपतिरे
नो सापत्न होने है] ये 'भाव' [कृताने] है । [घोर वे] बि दु, पताका, प्रखरी तथा कायं रूप
उपाय [भाव' कृताने है । वे] त्रिपमे विद्यमान हो [यत्र निर्वहल-नायि होना है । यह
वारिवाणे घाते हृष्ट 'नानाभावा' पदवा अभिप्राय है] गुण-प्राप्ति रूप [रूप घाते नायक] मे
रति, हाम, उत्साह, विम्वय आदि स्थायिभावोका बाहृम्य रहता है । धृति, गर्व, धीगुपय,
मर आदि व्यभिचारिभावोका बाहृम्य मुग्धादि [सन्धिर्षां] मे रहता है । घोर दुःख-रति
रूप रण [घाते रपको]मे क्रोध, शोक, भय, जुगुप्सा रूप स्थायिभावोका बाहृम्य, तथा घातम्य,
उपमा, आदि व्यभिचारिभावोका बाहृम्य [शोका है गेगा] समभवा आदि । [वारिवाणे
घात हृष्ट मुग्धादि पदवा अर्थं करते है । मुग्धादि अर्थान् मुग्ध, प्रतिमुख्य, गर्भं तथा विमर्श
[रूप आर सन्धिर्षां] । फलेने साय अर्थान् मूलमधिपते सापत्नये साय, सायक, प्रति-
मायक, सायिका, अमाय आदिने व्यापार 'मस्यह' अर्थान् उचित प्रकारमे त्रिधेयं पुनः
होने है, अर्थान् मुग्ध कवालेने साय मस्यह होने है, फलागम रूप अवापाये पुनः क
विश्वेक-रथि कृताने है । [कतिपये अणु हृष्ट] '४४' इत करते अणुह विष्ट हृष्ट
कायंको सन्धिर्षा अवाय होनी आदि, इतविष्ट समान रूपकोमे इतकी [निर्वहल-नायि पकी]
गता अवाय होनी आदि, यह सुविष्ट विद्या । [निर्वहल-नायि पका उपायान] अने सन्धिर्षाये
देहकविष्टके अनेनेने मेहर सन्धिर्षाये [का अणु निर्वहल-रथिपका पदायान है] ।
निर्धेहग सन्धिर्षा द्वितीय अणु -

हृष्ट मये तो [निर्वहल-रथिपका समान इत प्रकार करते है कि] मुग्ध आदि
सन्धिर्षा घोर अवायान् त्रिधेयं सन्धिर्षा अणु-अणु द्वारा करी जाती है अणुके निर्वहल-
रथि करते है । अने सन्धिर्षाकार [मायक] के तने अणुके [अणुको सुविष्टकवा] इतकी
अनेनेनेने मुग्ध सन्धिर्षा आदिकर द्वारा उपाय इत प्रकार विद्या पदा है]

काट्टरिपका मायकरी रपका १ अणुके सन्धिर्षा हृष्ट है । मायक उपायके ही

उपक्षेपादीनि करणरहितानि युक्तिसहितानि पट् अत्रावश्य भवन्ति । विलोभनादीनि तु सर्वसन्धिष्वपि भवन्ति । संविधानकवशात् तदर्थस्यान्यत्रापि सम्भवात् । बाहुल्यनिबन्धनापेक्षया त्वत्रोपादानम् । एवमन्यसन्धिष्वपि ज्ञेयम् ।

भेदस्तु मवेसन्धिष्वङ्कान्ते, प्रवेशक-विष्कम्भकान्ते च अवश्यं निबन्धनीय । पात्रभेदरूपत्वात् तस्य । उपक्षेप-परिकर-परिन्यासेभ्योऽपराण्यङ्गानि वृत्तानुगुण्या-द्वेशकमातिक्रमेणापि निबन्धन्ते । आमुखस्य च नटवृत्तत्वेन इतिवृत्तानङ्गत्वात् तदनन्तरमङ्गानां निबन्धः । द्वादशाङ्गमिति सन्धिः । संविधानरखडान्यङ्गानि सन्धिरूपस्य अङ्गिनोऽवयवत्वेन निष्पादकत्वात् ।

नही है । उस करणको हटाकर उसके स्थानपर युक्तिको जोड़ देनेपर जो उपक्षेप आदि छ अङ्ग बनते हैं उनका मुखसन्धिमे होना अनिवार्य है इस बातको अगले अनुच्छेदमे कहते हैं—

करणको छोड़कर और युक्तिको मिलाकर उपक्षेपादि छ [अर्थात् (१) उपक्षेप, (२) परिकर, (३) परिन्यास, (४) समाधान, (५) उद्भेद तथा (६) युक्ति ये छः अङ्ग] यहाँ [अर्थात् मुखसन्धिमे] अवश्य होते हैं । विलोभनादि [शेष छ अङ्ग] तो सब ही सन्धियोमे होते हैं । क्योंकि रचनाके अनुसार उनका कार्य 'अ-घन' [अर्थात् अन्य सन्धियोमे] भी हो सकता है । [सब सा-धयोमे सम्भव होनेपर भी] यहाँ [अर्थात् मुखसन्धिमे] उन [विलोभनादि शेष छ अङ्गों] का ग्रहण बाहुल्यके कारणसे [अर्थात् मुखसन्धिमे विलोभनादि अङ्गों का अधिकतर प्रयोग होनेके कारण] किया गया है । इसी प्रकार अन्य सन्धियो [के अङ्गोंके विषय] मे भी रमभना चाहिए ।

अर्थात् प्रतिमुखादि अन्य सन्धियोमे कहे हुए अङ्गोंका प्रयोग भी उस-उस सन्धिसे भिन्न अ-य सन्धियोमे भी हो सकता है । किन्तु अधिकतर प्रयोग उस-उस सन्धिमे ही होता है, इसलिए उनका ग्रहण उस-उस सन्धिमे विशेष रूपसे किया गया है ।

भेद [नामक आठवें अङ्ग] को सब सन्धियोमे, अङ्कके अ तमे, प्रवेशक तथा विष्कम्भको के अ तमे अवश्य प्रयुक्त करना चाहिए । क्योंकि वह पात्र-परिवर्तन रूप होता है । उपक्षेप, परिकर तथा परिन्यास [इन तीन अङ्गों] को छोड़कर अन्य अङ्ग तो कथावस्तुकी अनुकूलताके अनुसार उद्देश-क्रमका परित्याग करके भी प्रयुक्त किए जा सकते हैं । आमुखके नटवृत्तान्त-रूप होनेसे कथावस्तुका भाग न होनेके कारण [उसके बीचमे अङ्गोंका प्रयोग न करके] उसके बाद अङ्गोंका प्रयोग किया जाता है । 'द्वादशाङ्ग' इससे बारह अङ्गवाला सन्धि गृहीत होता है । सन्धिष्वपि अवयवोंके अवयव रूपसे निर्माण करनेवाले होनेके कारण [उपक्षेपादि अङ्ग] रचना [संविधानक] के अङ्ग कहलाते हैं ।

ऊपर जो हमने यह दिखलाया था कि मुखसन्धिके बारह अङ्ग, प्रतिमुख, गर्भ तथा विमर्शसन्धियोमेसे प्रत्येकमे तेरह तेरह अङ्ग तथा निर्वृत्तसन्धिमे चौदह अङ्ग माने गए हैं । यह अङ्गसंख्या केवल उन-उन सन्धियोमे बतलाए गए अङ्गोंकी दृष्टिसे बही गई है । किन्तु उन सन्धियोमे, कहे हुए घन अङ्गोंके अतिरिक्त अन्य सन्धियोके अङ्गोंका प्रयोग भी हो सकता है । उनको मिला देनेपर यह संख्या बाला नियम नहीं रहता है । इसी बातको ग्रन्थकार अगले अनुच्छेदमे लिखते हैं—

अङ्गसंख्यानियमश्च सन्धिपूर्वात्ताद्व्यापेक्षया । सन्ध्यन्तरङ्गानुप्रवेशे तु न संख्यानियमः । सख्यासंक्षेपश्चाङ्गानां परस्परान्तर्भावेन प्रतिसन्धिसुकरोऽपि प्राचीनेरुक्तत्वात्, भणितिर्भगिब्राह्मण्यस्य च चमत्कारकारित्वाद्गमाभिर्न कृतः । 'ध्रुवम्' इति मुखसन्धिः सर्वरूपकेष्ववश्यं भवति । निर्वहणमप्येवम् । आरम्भ-निर्वाहयोरवश्यम्भावितात् । प्रतिमुखाद्यस्तु व्यायोगादिषु यथालक्षणं भवन्ति, न भवन्ति च ।

अङ्गानि च वृत्तिविस्तरकारित्वाद्बन्धनियमनीयानि । अपरथा 'गमस्य पत्नी रावणेन वनान्तादपहृता । रामेण च जटाशुभ्र समुपलभ्य, सुप्रीवं सहाय वानराधिराज्यप्रतिपादनादधिगम्य, समुद्रसेतुबन्धमाधाय, निहत्य च रावणं प्रत्यानीता इत्यत्र प्रारम्भाद्यवस्थानिवन्धनीयैः पञ्चभिरपि सन्धिभिर्धीजाशुभायशुवतै- निवद्धे रूपके वृत्तसंक्षेपः स्यात् । तथा च न चमत्कारः । किं चारञ्जयमपि वृत्त अङ्गवैचित्र्येण निवध्यमानं परां रक्तिमावहति । कायेवशाच्च पुनरुच्यमानमपि वृत्तं अङ्गमङ्गया निवद्धमपुनरुक्तमिवाभाति । अयःशलाकाकल्पना च अङ्गसम्बद्धं च वृत्तस्य न भवति । प्रत्येकशरचाङ्गानां प्रयोजनं यथावसरं लक्षणे दर्शयिष्यामः ॥४१-४२॥

अङ्गोंकी सख्याका नियम [उन-उन] सन्धियोंमें गृहीत अङ्गोंकी दृष्टिसे ही होता है । अन्य सन्धियोंके अङ्गोंका अनुप्रवेश हो जानेपर तो यह सख्या-नियम नहीं रहता है । श्रीर प्रत्येक सन्धिमें [कुछ अङ्गोंका] एक-दूसरेमें अन्तर्भाव करके अङ्गोंकी सख्याका संक्षेप सम्भव होनेपर भी प्राचीन आचार्योंके द्वारा न किए जानेके कारण तथा कथन-शैलियोंके बाहुल्यके चमत्कारजनक होनेके कारण हमने नहीं किया है । 'ध्रुवम्' इस [पद]से [यह सूचित किया है कि] मुखसन्धि समस्त रूपकोमें अवश्य होता है । इसी प्रकार निर्वहणसन्धि भी [रूपकेके समस्त भेदोंमें अवश्य होता] है । [प्रत्येक रूपक अथवा प्रत्येक कार्यमें] आरम्भ और समाप्तिके अवश्यम्भावो होनेसे [प्रत्येक रूपकेमें मुखसन्धि तथा निर्वहणसन्धिका होना अपरिहार्य है । अन्य सन्धियोंका सब रूपके भेदोंमें होना अपरिहार्य नहीं है] प्रतिमुख आदि [अन्य सन्धियों] तो लक्षणोंके अनुसार व्यायोग आदि [रूपके] भेदोंमें होती भी हैं और नहीं भी होती हैं ।

[प्रत्येक सन्धिमें वर्णित] अङ्गोंके, कथावस्तुके विस्तारकारी होनेसे अङ्गोंकी रचना [रूपकोंमें] अवश्य करनी चाहिए । अन्यथा [रूपकेकी कथावस्तु बहुत संक्षेपमें समाप्त हो जानेके कारण चमत्कार-शून्य हो जावेगी । जैसे] (१) रामकी पत्नीको रावणने हरण कर लिया । (२) रामबन्धने जटाशुभ्रे [इस समाचारको] जानकर, (३) वानरोंके अधिराजपदको प्रदान करनेके द्वारा सुप्रीवको अपना सहायक बनाकर, (४) समुद्रपर सेतुबन्ध बनाकर और रावणको मारकर, (५) उसको लौटा लिया इस [रामायणकी कथा] में प्रारम्भादि अवस्थाओंके द्वारा विरचित तथा बीजादि उपायोंसे युक्त पाँचो सन्धियों [के प्रयोग] से [युक्त] रूपकेकी रचना करनेपर [भी] कथावस्तुका [अत्यन्त] संक्षेप हो जाता है । इसीलिए उसमें कोई चमत्कार नहीं रहता है । [इसके विपरीत] अरक्षक [नीरस] कथावस्तु भी विभिन्न अङ्गों द्वारा [विस्तार-पूर्वक] वर्णित होनेपर अत्यन्त मनोरञ्जक बन जाती है । और काव्यप्रकाश [कहीं-कहीं] कथाभाग पुनरुक्त होनेपर भी अङ्गोंकी शैलीसे निवद्ध होनेपर पुनरुक्त-सी प्रतीत नहीं

आखेटो मुनिकन्यका कुलपतिः कीरः शृङ्गालोऽध्वगाः,
विप्रो म्लेच्छपतिर्मनुष्यमरणं लम्बस्तनी मान्त्रिकः ।
उद्धतः पुरुषो वियच्चरचधूर्गोमायुनादः फणी,
सर्वं सत्त्वपरीक्षणोत्सुकरसैरस्माभिरेतत् कृतम् ॥

आखेट इत्यादिना मुखसन्धिनिबद्धाः, कीर इत्यादिना प्रतिमुखसन्धिभाविनः,
अध्वगोत्यादिना गर्भसन्धिप्रथिताः, मनुष्येत्यादिना च विमर्शसन्धिसूत्रिताः, यथा-
संख्यं प्रारम्भाद्यवस्थानुगताः फलवन्तोऽर्था निर्वहणमन्वावेकवाक्यताऽऽपादनार्थं
संक्षेपतः पुनरुपात्ता इति ॥४०॥

कुन्तल और कर्पिजलके साथ राजा हरिश्चन्द्र घोड़ेपर चढ़े हुए वराहका आश्लेष करते हुए प्रविष्ट होते हैं, इसी मृगया-प्रसंगमें एक तपोवनके समीपमें राजाके बाणसे एक गर्भिणी हरिणी की हत्या हो जाती है। यह हरिणी आश्रमके कुलपतिकी कन्याकी पालतू हरिणी थी। राजा को उस हरिणीके वधसे बड़ा दुःख होता है। वे अपने साधियोंके साथ आश्रममें प्रवेश करते हैं। वहाँ कुलपति उनका स्वागत करते हैं। किन्तु इसी बीचमें कुलपतिको मालूम होता है कि उनकी कन्या अपनी प्रिय हरिणीके मारे जानेके कारण अनशन करके मरनेके लिए तैयार हो रही है। और उसके साथ उसकी माता भी अनशन करने जा रही है। कन्याका नाम वचना और उसकी माताका नाम निकृति है। कन्या और पत्नीके अनशन तथा हरिणी के वधका समाचार जानकर कुलपति अत्यन्त क्रुद्ध हो उठते हैं, और राजाको बहुत खरी-खोटी सुनाते हैं। अन्तमें वे कहते हैं कि यह राजा अपना सर्वस्व दान करनेपर ही इस पापसे मुक्त हो सकता है। और राजा उसी समय अपना सर्वस्व दान कर देते हैं। यह मुख-सन्धि का कथाभाग है। आगे की राजा हरिश्चन्द्रके अपने बेचने आदिकी कथा अगले अङ्कमें चलती है, उस सारे कथाभाग का स्पर्श करनेवाले शब्दों द्वारा कथाशवा निर्देश अगले श्लोकमें 'आखेटो मुनिकन्यका कुलपति' शब्दोंसे किया गया है।

इसी प्रकार श्लोकमें आए हुए कीर शृङ्गालो, अध्वगा आदि प्रत्येक शब्द नाटकके अगले अङ्कमें वर्णित कथानक तथा विशिष्ट पात्रोंसे सम्बन्ध रखता है। इन शब्दोंके द्वारा मारे नाटकके कथाभागकी सक्षेपमें बड़ी सुन्दरताके साथ एव तरहसे पुनरावृत्ति कर दी गई है। इसलिए यह दूसरे लक्षण के अनुसार निर्वहण सन्धिका उदाहरण है। श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) वह शिकार, मुनिकी पुत्री, कुलपति, (२) वह तोता और शृङ्गाल, (३) वह पथिका, ब्राह्मण और म्लेच्छराज, (४) वह मनुष्यका मरण, लम्बस्तनी, मान्त्रिक, उद्धत पुरुष, पक्षियोंका शब्द, शृङ्गालोंकी आवाज, और सर्प यह सब आपकी [हरिश्चन्द्रकी] शक्तिकी परीक्षाके लिए हमने ही किया था।

[इसमें] आखेट इत्यादिसे मुखसन्धिमें निबद्ध [अर्थ], कीर इत्यादिसे प्रतिमुख सन्धिमें निबद्ध [अर्थ], अध्वगा इत्यादिसे गर्भ सन्धिमें प्रथित [अर्थ] और मनुष्य इत्यादिसे विमर्श सन्धिमें वर्णित [अर्थ] क्रमशः प्रारम्भ आदि अवस्थाओंसे युक्त फलवान् अर्थ एकवाक्यता सम्पादनके लिए 'निर्वहण सन्धिमें सक्षेपसे फिर कहे गए हैं। [इसलिए निर्वहण सन्धिके दूसरे लक्षणके अनुसार यह उसका उदाहरण है] ॥४०॥

अथ 'दिव्याङ्गम्' इत्यत्र अङ्ग-शब्दोपात्तानि उपक्षेपादीनि अङ्गानि विपञ्चयितुं प्रथमं (१) मुखसन्धिगतान्युद्दिशति—

[सूत्र ४६]—उपक्षेपः परिकरः परिन्यासः समाहितः ।

उद्भेद करणं चैतान्यत्रैवाथ विलोभनम् ॥४१॥

भेदनं प्रापणं युक्ति-विधानं परिभावना ।

सर्वसन्धिष्वमूनि स्युः, द्वादशाङ्गं मुखं ध्रुवम् ॥४२॥

'अत्रैव' इति उपक्षेपादीनि करणान्तानि मुखसन्धावेव भवन्ति । तत्रापि उरक्षेप-परिकर-परिन्यासानां यथोद्देशक्रममादावेव, समाधानस्य तु रचनावशान्मध्यैरुद्देश एव, उद्भेद-करणयोस्तु उपान्त्ये निबन्धः ।

मुखसन्धिके द्वादश अङ्ग—

पाँचवी कारिकामें ग्रन्थकारने नाटकका लक्षण करते समय उसमें पञ्च-सन्धियोंकी चर्चा की थी । उन पञ्च-सन्धियोंका विवेचन यहाँ तक समाप्त हो गया । अब आगे उन सन्धियों के अङ्गोंका वर्णन प्रारम्भ करते हैं । इन अङ्गोंकी सख्या प्रत्येक सन्धिमें अलग-प्रलग निर्धारित की गई है । मुखसन्धिमें १२ अङ्ग होने हैं । प्रतिमुखसन्धि, गर्भसन्धि तथा विमर्श सन्धि इन तीनों सन्धियोंमें तेरह तेरह तथा निर्बहण सन्धिमें १४ अङ्ग माने गए हैं । इस प्रकार पाँचों सन्धियोंमें कुल मिलाकर अङ्गोंकी सख्या पँसठ हो जाती है । आगे ग्रन्थकार क्रमशः पाँचों सन्धियोंके इन पँसठ अङ्गोंका वर्णन करेंगे । उनमें सबसे पहिले मुखसन्धिके बारह भेदोंका उद्देश अर्थात् नाममात्रेण कथन करते हैं ।

अब [पाँचवीं कारिकामें नाटकके लक्षणमें आए हुए] 'दिव्याङ्गम्' इसमें अङ्ग शब्दसे गृहीत होने वाले 'उपक्षेप' आदि [पाँचों सन्धियोंको मिलाकर ६५] अङ्गोंका विवेचन करनेके लिए पहिले मुखसन्धिके [बारह] अङ्गोंका उद्देश [अर्थात् नाममात्रेण कथन] करते हैं—

[सूत्र ४६]—(१) उपक्षेप, (२) परिकर, (३) परिन्यास, (४) समाधान, (५) उद्भेद, (६) करण, ये [छ] अङ्ग इसमें ही [अर्थात् मुखसन्धिमें ही] होते हैं [अन्य सन्धियोंमें नहीं होते हैं] ।

[सूत्र ४६]—और (७) विलोभन, (८) भेदन, (९) प्रापण, (१०) युक्ति, (११) विधान तथा (१२) परिभावना ये [सात अङ्ग] सब सन्धियोंमें हो सकते हैं । [इस प्रकार] बारह अङ्गोंवाला मुखसन्धि [रूपके समस्त भेदोंमें 'ध्रुव' अर्थात् अवश्य होता है ।

'अत्रैव' इसका अभिप्राय यह है कि उपक्षेपसे लेकर करण पर्यन्त [छ अङ्ग] मुखसन्धिमें ही होते हैं [अन्य सन्धियोंमें नहीं होते हैं] । उनमें भी उपक्षेप, परिकर तथा परिन्यास [इन तीनों अङ्गों] का इत [उद्देशके] क्रमसे [सन्धिके] प्रारम्भमें ही सन्निवेश किया जाता है । समाधानका रचनाके अनुसार मध्यके [हिंसी] एक भागमें ही तथा उद्भेद एवं करणका [मुखसन्धिके] प्रायः अन्तमें [उपान्त्ये] ही सन्निवेश किया जाता है ।

कारिकामें आए हुए 'अत्रैव' पदसे यह कहा था कि उपक्षेपसे लेकर करण पर्यन्त छ अङ्ग मुखसन्धिमें ही होते हैं, अन्य सन्धियोंमें नहीं होते हैं । इनमेंसे करण नामक अङ्ग अन्य सन्धियोंमें तो होता ही नहीं है किन्तु मुखसन्धिमें भी उसका होना आवश्यक

अथ सकलकाव्यार्थः, प्रधानरसलक्षणं प्रयोजनं च, संक्षेपेणोपक्षिप्यत इति प्रथमं (१) 'उपक्षेप' लक्षयति—

[सूत्र ५०]—बीजस्योप्तिरुपक्षेपः—

विस्तारिणः काव्यार्थस्य मूलभूतो भागो बीजमिव 'बीजम्' । तस्य उप्तिरावापमात्रं 'उपक्षेपः' । यथा रत्नावल्यां नेपथ्ये—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।

आनीय कृटिति घटयति विधिरभिमतमभिसूत्रीभूतः ॥

इत्यादिना योगन्धरायणेन वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुः स्वव्यापारानुकूलदैवो बीजमुपेतम् ॥

होता है । और अङ्गोसे सम्बद्ध [अर्थात् अङ्गोकी शैलीसे निबद्ध] कथावस्तु लोहेकी शलाकाके समान [एकदम सोधा अपरिवर्तनीय] नहीं रहता है [उसमे लचकीलापन आ जाता है जिससे कवि सौन्दर्याधानके लिए उसे आवश्यकतानुसार मोडमाड सकता है ।] प्रत्येक अङ्गका अलग-अलग प्रयोजन उनके लक्षणमे यथावसर बिलतावेंगे ।

इस अनुच्छेदमे ग्रन्थकारने पञ्च सन्धियोमे कहे जानेवाले अङ्गोकी उपयोगिताके विषय मे सामान्यरूपसे प्रकाश डाला है । उसके अनुसार अङ्गोका प्रयोजन कथावस्तुमे चमत्कार को उत्पन्न करना है । अङ्गोके प्रयोगके बिना अत्यन्त सरस कथावस्तु भी नीरस बन जाती है । और अङ्गोके यथोचित प्रयोगके द्वारा नीरस कथावस्तुमे भी चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है । इसलिए ग्रन्थकारने रूपकोमे अङ्गोके प्रयोगको अपरिहार्य माना है । उन्हीके द्वारा कथाका विस्तार और लचकीलापन आता है । और पुनरुचित आदि दोषोका परिहार होता है । अत एव अङ्गोका प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है ॥४१-४२॥

इन दो कारिकाओमे मुखसन्धिके अङ्गोका उद्देश अर्थात् नाममात्रसे कथन करनेके बाद अब ग्रन्थकार मुखसन्धिके बारहो अङ्गोका अलग-अलग-अलग लक्षणादि आगे करेंगे । इनमे सबसे पहिले उपक्षेप रूप प्रथम अङ्गका लक्षण करते हैं—

(१) उपक्षेप—

[उपक्षेप रूप प्रथम अङ्गके द्वारा] समस्त काव्यका अर्थ और प्रधान रस रूप प्रयोजन संक्षेपमे [बीज रूपसे] उपक्षिप्त किया जाता है, इसलिए ['उपक्षिप्यतेज्जेन इति उपक्षेप' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] सबसे पहिले 'उपक्षेप' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र ५०]—[कथावस्तुके] बीजका वपन करना 'उपक्षेप' [कहलाता] है ।

[प्राये चलकर] विस्तृत होनेवाले कथावस्तुका मूलभूत भाग [धान्यके] बीजके समान [होनेसे] 'बीज' [कहलाता] है । उसको डालना अर्थात् बोना [जिस अङ्गके द्वारा किया जाता है वह] 'उपक्षेप' [कहलाता] है ।

जैसे रत्नावलीमे नेपथ्यमे [बीजका 'उपक्षेप' इस प्रकार किया गया है]—

दूसरे द्वीपसे भी, समुद्रके बीचसे भी और दिशाके छोरसे भी अनुकूल हृमा वैव अभिमत घस्तुको लाकर मिला देता है ।

इत्यादि [कथन] के द्वारा [वत्सराज उदयनके मंत्री] योगन्धरायणने वत्सराज [उदयन] को रत्नावली [नायिका] की प्राप्ति करानेवाले अपने व्यापारके अनुकूल वैव रूप

(२) अथ परिकरः—

[सूत्र ५१]—स्वल्पव्यासः परिक्रिया ।

उपक्षिप्तस्यार्थस्य सुष्ठु विशेषवचनैरल्प विस्तारणं 'परिकरः' । यथा वेणी-
संहारे भीमसेनः सहदेवमाह—

प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभिः,
न तत्रार्यो हेतुर्भवति न किरीटी न च युवाम् ।
जरासन्धस्योरःस्थलमिव विरुद्धं पुनरपि,
क्रुधा भीमः सन्धिं विघटयति यूयं घटयत ॥ इति ।

(३) अथ परिन्यासः—

[सूत्र ५२]—विनिश्चयः परिन्यासः—

उपक्षिप्त्य, विस्तारितस्यार्थस्य विशेषेण निश्चयः सिद्धतया हृदयेऽवगम्यापन
परितो न्यसनं 'परिन्यासः' । यथा राघवाभ्युदये—

“मतिसागरः—देव मा शङ्किष्ठाः । प्रलयेऽपि हि किं विपरियन्ति मुनि-
भाषितानि ?

बोजका आधान किया है ।

(२) परिकर

'परिकर' [नामक मुखसन्धिके दूसरे अङ्गको कहते हैं]—

[सूत्र ५१]—[बोज रूपमें उपक्षिप्त अर्थका] स्वल्प विस्तार 'परिकर' [नामक,
मुखसन्धिका कहलाता] है ।

[बोज रूपमें] उपक्षिप्त अर्थका [स्वल्पव्यास अर्थात्] भलो प्रकारसे विशेष वचनों
द्वारा तनिक-सा विस्तार करना 'परिकर' [कहलाता] है । जैसे वेणीसंहारमें भीमसेन सहदेव
से कहते हैं—

“मेरा कौरवोंके साथ बचपनसे ही जो बँर बन गया है उसमें न धार्य [अर्थात्
युधिष्ठिर] कारण हैं, न अर्जुन और न तुम दोनों [अर्थात् नकुल और सहदेव ही कारण हैं] ।
बोधके कारण भीमसेन [अर्थात् मैं स्वयं] जरासंधके उरःस्थलके समान परिपक्व संधिको भी
भङ्ग करने जा रहा है तुम लोग उसे [भले ही] जोड़ते रहो ।”

(३) परिन्यास—

[सूत्र ५२]—[उपक्षिप्त और तनिक विस्तारित अर्थका] विशेष रूपसे निश्चय परि-
न्यास [कहलाता] है ।

[बोज रूपमें] उपक्षिप्त करके फिर [परिकर अङ्ग द्वारा] विस्फारित अर्थका विशेष
रूपसे निश्चय अर्थात् सिद्ध मानकर हृदयमें धारण करना [परित] पूर्ण रूपसे [हृदयमें]
स्थापित करना [‘परितो न्यसनं परिग्यासः’ इस विग्रहके अनुसार] ‘परिग्यास’ [कहलाता]
है । जैसे ‘राघवाभ्युदय’में—

मतिसागर—हे राजन् ! धार्य शङ्का न करें । क्या मुनियोंके वचन कभी प्रलयमें भी
मिथ्या हो सकते हैं ?

जनक—तत् किं भुजदण्डविक्रमाक्रान्तभारतखण्डत्रयस्य तस्यापि पराजय सम्भाव्यते ?

मतिमागरः—[स्वगतम्] अहो दुरात्मनो राक्षसस्याज्ञैश्वर्यं, यदयं रहोऽपि देवस्तद्भिवानमुच्चारयन् विभेति । [प्रकाशम्] देव सम्भाव्यत इति किमुच्यते ? सिद्ध एव कि नाभिधीयते देवेन ।” इति ।

यथा वा वेणीसंहारे—

“चञ्चद्-भुजभ्रमित-चण्डगदाभिघात—

सञ्चूणितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।

स्त्यानापविद्ध-घनशोणितशोणपाणि—

रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥” इति ।

यथा वास्मदुपह्वे रोहिणीमृगाङ्गाभिधाने प्रकरणे प्रथमऽङ्के मृगाङ्कं प्रति—

“वसन्तः—कुमार भा शङ्किष्ठा—

उन्मत्तप्रेमसरम्भादारभन्ते यदङ्गना ।

तत्र प्रत्यूहमावातुं ऋष्यापि सलु कातरः ॥”

अनुपक्षितोऽर्थो न विस्तार्यते, अविस्तारितश्च न निश्चीयते, इति त्रयाणां मध्येषां उद्देशक्रमेणैव निबन्ध ।

जनक—तो क्या अपने भुजदण्डके विक्रमके ही जिसने भारतके तीन खण्डको भ्राम्रात कर लिया है उस [रावण] की भी कभी पराजय हो सकती है ?

मतिसागर—[अपने मनमें 'स्वगत' कहते हैं] अहो दुष्ट राक्षसराजके शासनका कैसा प्रभाव है कि ये महाराज एकात्मने भी उसका नाम लेनेमें डरते हैं । [प्रकाशम्] हे राजन् [उसको पराजय] सम्भव है ऐसा क्यों कहते हैं, सिद्ध ही है ऐसा आप क्यों नहीं कहते हैं । इसमें [विस्तारित अर्थका 'विशेषण निश्चय' अर्थात् सिद्धतया कथन होनेसे यह 'परिन्त्यास' नामक तीसरे अङ्कका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे वेणीसंहारमें—

हे देवि ! अपनी चञ्चल भुजाओंसे घुमाई हुई भयङ्कर गदाके प्रहारसे तोड़ी हुई कुयोधन की दोनों जङ्घाओंके गाढे जमे हुए प्रचुर रक्तसे रंगे हुए हाथोंसे ही यह भीम तुम्हारे बालोंको बांधेगा । इसमें [विस्तारित अर्थका सिद्धवत् कथन होनेसे यह 'परिन्त्यास' का उदाहरण है] ।

अथवा जैसे हमारे बनाए हुए 'रोहिणीमृगाङ्क' नामक प्रकरणमें प्रथमाङ्कमें मृगाङ्कके प्रति वसन्त [कहता है]—

वसन्त—कुमार ! आप [किसी प्रकारकी] शङ्का न करें ।

उन्मत्त प्रेमके आवेगमें स्त्रियाँ जो [प्रणय-व्यापार] आरम्भ करती हैं उसमें बिघ्न डालनेका साहस ब्रह्मा भी नहीं कर सकता है ।

[सक्षिप्त रूपमें बीजके समान] उपक्षिप्त किए बिना अर्थका विस्तार नहीं किया जा सकता है और विस्तार किए बिना निश्चय नहीं किया जा सकता है इस लिए [उपक्षेप परिकर तथा परिन्त्यास] इन तीनों [अङ्गों] का उद्देशक्रमसे [अर्थात् इसी क्रमसे] सन्निवेश करना चाहिए ।

(४) अथ समाहिति —

[सूत्र ५३]—पुनर्न्यासः समाहितिः ॥४३॥

संक्षिप्तोपक्षिप्तस्य बीजस्य स्पर्ष्टनाप्रतिपादनार्थं पुनर्न्यासो भण्डितिवैचित्र्यं, सम्यग् आसमन्तात् धान पोषण 'समाहितिः' ।

यथा वेणोसहारे—

“[नेपथ्ये]—भो भो द्रुपद विराट्-वृष्यन्धव सहदेवप्रभृतयोऽसमदक्षोहिणी-पतय कौरवचमूप्रधानाश्च योधाः श्रुयताम्—

यत्न मत्यत्रतभङ्गभीरुमनमा यन्नेन मन्दीकृत,

यद्विमर्तुर्मपीहित शमवता शान्तिं कुलम्येन्द्रता ।

तद् द्युनारणिमभृत नृपसुतापेशाभ्यराजर्षणे,

क्रोधज्योतिरिद् महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जम्भते ॥” इति ।

‘रसस्था भवन्ति’ इति यद्वीज, तदिदानीं प्रधाननायकतगतत्वेन सम्यक् पोष नीतिमिति ॥४३॥

(४) समाधान—

श्रव [चतुर्यं भङ्ग] 'समाधान' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५३]—[सक्षेपमे उपक्षिप्त बीजका] दुबारा [अधिक स्पष्ट रूपसे] आधान 'समाधान' [कहलाता] है । ४३ ।

[उपक्षेप रूप प्रथम भङ्गमे] सक्षेपसे उपक्षिप्त बीजको और अधिक स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन करनेके लिए फिरसे कथन करना अर्थात् विचित्र भाषणशैलीसे [दुबारा] कथन करना, 'सम्यग्' भली प्रारम्भसे और 'आ समन्तात्' पूर्ण रूपसे स्थापित करना [इस विग्रहके अनुसार] 'समाधान' [समाहिति कहलाता] है ।

जैसे वेणोसहारे—

“नेपथ्यमे—हे द्रुपद, विराट्, वृष्णी, अन्धक और सहदेव आदि हमारी अधीहिणी सेनाके सेनापतियो ! और कौरवोंकी सेनाके प्रधानाधिकारियो ! [आप सब लोग कान खोलकर] सुनलें कि—

[ब्याह्र वर्षं वनवास तथा एष वर्षके अज्ञातवासका जो व्रत हम पाण्डवोंने लिया है वह कहीं भङ्ग न हो जाय इस प्रकार] सत्यव्रतके भङ्गसे डरनेवाले [युधिष्ठिर] ने [श्रव तक अपनी] जिस [क्रोधगिनि] को यत्न-पूर्वक दबाए रखा था और शा त-स्वभाव वाले [युधिष्ठिर] ने कुलकी शान्तिकी कामनासे जिसको भूलनेका भी यत्न किया, द्यूतकी अरर्णयोंसे उत्पन्न और द्रौपदीके केश तथा बस्त्रोंके लोचि जानेसे नरपशु [डु शासन] के द्वारा उद्दीप्त किया हुआ युधिष्ठिरकी वह भयानक क्रोधगिनि आज कुटकुल रूप वनमें [उसको भस्म कर देनेके लिए] प्रवीप्त हो रहा है ।

इसमे [स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्रा] धैरे जोवित रहते कौरव कहीं 'स्वस्थ हो सकते हैं' [अथवा कौरव स्वर्गको भावें] इस रूपमे जिस बीजका आधान किया गया था वह इस समय प्रधान नायक [युधिष्ठिर] गत रूपसे पूर्ण रूपसे परिपुष्ट हो गया है । [इस लिए यह 'परिन्यास'का उदाहरण है] ॥४३॥

इति द्रौपद्याभिहितो भीमः प्रत्याह—

“अयि किमद्याप्यलीकारवासनाभिः ?

भूयः परिभवन्नान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।

अनिशेषितकौरव्यं न पर्यसि घृकादरम् ॥”

इति कुहनितनारम्भरूपस्य वीजार्थस्यायमुद्भेदः । इति ।

अन्ये तु गूढभेदनमुद्भेदनमामनन्ति । यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य कुमुमायुध-व्यपदेश-निगूढम्य ‘अस्तापास्त’ इत्यादिना वंतालिकवचसा सागरिकां प्रत्युद्भेदः ।

यथा वा राघवाभ्युदये—

“सीता—[समन्तादचलोक्य राम च सविशेषं निर्वर्ण्य स्वगतम्] कथमय-
मनङ्गोऽप्यङ्गमास्थाय चापारोपणं द्रष्टुमायात् । प्रसीद भगवन्नङ्ग ! प्रसीद । तथा
कुर्या यथा राम एव चापारोपणाय प्रभवति ।

लवङ्गिका—[अगुल्या रामं दर्शयन्ती] जं भट्टिदारिया दृत्तिथं कालं मणो-
रहगोश्वरं कयवदी तं संपयं दिट्टिगोयरं करेदु ।

[य भर्तृदारिका इयन्तं कालं मनोरथगोचरं कृतवती, तं साम्प्रतं दृष्टिगोचरं
करोतु । इति संस्कृतम्] ।

द्रौपदीके इस प्रकार कहनेपर भीमने उत्तर दिया कि—

“अरे अब भी और मिथ्या आडवामन देनेसे क्या लाभ [मैं तो यही कहता हूँ कि]—

तिरस्कार सहन करनेकी लज्जाके कारण मलिनमुख भीमको तुम अब कौरवोंका नाश
किए बिना दुबारा नहीं देखोगी [अर्थात् अब मे कौरवोंका समूल विनाश करनेके बाद ही
दुबारा तुम्हारे पास आऊंगा । उससे पहले नहीं] ।”

इसमे कौरवोंके विनाशके आरम्भ रूप बीजका ‘उद्भेद’ [स्वल्पप्ररोह] है ।

इस प्रकार ग्रन्थकारने मुखसन्धिके ‘उद्भेद’ नामक पञ्चम अङ्गका लक्षण प्रस्तुत
किया । किन्तु अन्य व्याख्याकार ‘उद्भेद’ का लक्षण अन्य प्रकारसे करते हैं । उनके मतमें
किसी गूढ अर्थका प्रकट होना ‘उद्भेद’ कहलाता है । हम मतमें ग्रन्थकार आगे दिखलाते हैं ।

दूसरे [आचार्य] तो [किसी] गूढ [रहस्य] के प्रकट होनेको ‘उद्भेदन’ कहते हैं ।
जैसे रत्नावलीमें [अनङ्ग पूजनके अवसरपर] कुमुमायुधके नामसे छिपे हुए वत्सराज [उदयन]
का ‘अस्तापास्त’ इत्यादि [श्लोक] से वंतालिकाके वचनसे सागरिकाके प्रति [उदयनके रूपमें
वत्सराजका] प्रकट होना । [उद्भेद कहा जा सकता है] ।

अथवा जैसे राघवाभ्युदयमें—

“सीता—[चारों ओर देखकर और रामचन्द्रकी ओर विशेष रूपसे देखती हुई अपने
मनमें स्वगत कहती है] अच्छा यह [अनङ्ग] कामदेव भी शरीर धारण करके धनुषके आरो-
पणको देखनेके लिए आ गया है । कृपा करो, भगवन् अनङ्ग ! कृपा करो, जिससे रामचन्द्र ही
धनुषके चढ़ानेमें समर्थ हो सकें [अन्य कोई समर्थ न हो सके] ।

लवङ्गिका—[अङ्गुलीसे रामको दिखलाती हुई] हे स्वामिपुत्रि ! जिनको अपा अब
तक मनोरथका विषय बनाए हुए यों उनको अब दृष्टिका विषय बना सो [अर्थात् देख सो] ।

सीता—[ससम्भ्रमं स्वगतम्] कथमहं राममेव अनङ्गमहासिपम् ?”
इत्यनङ्गभ्रान्त्या निगूढस्य रामस्य लवङ्गिकावचसा उद्भेदः ॥

(६) अथ करणम्—

[सूत्र ५५]—करणं प्रस्तुतक्रिया ।

अवसरानुगुणस्यार्थस्य प्रारम्भः करणम् । यथा वेणीसंहारे—

“महूदेवः—आर्यं गच्छामो वयं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुम् ।

भीमः—एते च वयमुद्यता एवार्यस्याज्ञामनुष्ठातुम् ।”

इत्यनेन अनन्तराङ्गप्रस्तूयमान-संप्रामारम्भणात् ‘करणम्’ ।

यथा वा यादवाभ्युदये द्वितीयाङ्कोपान्त्ये—

“कंसः—[मप्रसादम्] साधु अमात्य साधु । अयमेव संप्रहोपायो नान्यः ।

तन् तर्हि ब्रज त्वं सामप्रोकरणाय ।”

इत्यनेन अनन्तराङ्गप्रस्तूयमान-मल्लरङ्गभूमिप्रारम्भात् करणमिति ।

अन्ये तु विपदां शमन करणमाहुः । शमनं चाशीर्वाद्वशेन अन्यथा वा ।

सीता—[आदर-पूर्वकं अपने मनमे] अछदा मै रामचन्द्रजीको ही कामदेव समझ रही थीं !”

इस प्रकार कामदेवके भ्रममे छिपे हुए रामचन्द्रका लवङ्गिकाके वचनसे [सीताके प्रति प्रकट होना] उद्भेद है ।

उद्भेदके दूसरे लक्षणके अनुसार ये दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं ।

(६) करणम्—

अथ करण [नामक मुखसन्धिके पठ्य अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५५]—प्रस्तुत [कार्यका अनुष्ठान] करण [कहलाता] है ।

अवसरके अनुकूल अर्थका आरम्भ करना ‘करण’ [कहलाता] है ।

जैसे वेणीसंहारमे—

“सहूदेव—हे आर्यं हम गुरुजनोकी अनुमतिसे अपने पराक्रमके अनुसार [युद्ध] करनेके लिए जा रहे हैं ।

भीम—और ये हम भी आर्यकी आज्ञाका पालन करनेके लिए तैयार हो रहे हैं ।”

इस [संवाद] से अगले अङ्गमे प्रस्तुत किए जाने वाले संग्रामका आरम्भ करनेसे यह ‘करण’ [वा उदाहरण] है ।

अथवा जैसे यादवाभ्युदयमे द्वितीय अङ्गके प्रायः अन्तमे [उपान्त्ये]—

“कंस—[प्रसन्न होकर] शाबाश मन्त्रिवर शाबाश, यही [कृष्णके] एकदनेका उपाय है दूसरा नहीं । इस लिए सामग्री तैयार करनेके लिए जाओ ।”

इस [कथन] से अगले अङ्गमे प्रस्तुत किए जानेवाले मत्स्यपुद्गका अलाड़ा बनानेका आरम्भ करनेसे यह ‘करण’ [नामक मुखसन्धिका पठ्य अङ्ग है] ।

अन्य [आचार्य] तो विपत्तियोंके शमनको ‘करण’ कहते हैं । वह शमन चाशीर्वादिने रूपमे अथवा अन्य प्रकारमे [दोनों प्रकारमे] हो सकता है ।

यथा वेणीसंहारे भीमं प्रति द्रौपदी—

“जं असुरसमराभिमुद्दस हरिणो मङ्गलं, तं तुम्हाणं भोदु । इति ।

[यदसुरसमराभिमुखस्य हरेर्मङ्गलं, तद् युष्माकं, भवतु । इति संस्कृतम्] ।

(७) अथ विलोभनम्—

[सूत्र ५६]—विलोभनं स्तुतेर्गाध्यम्

स्तुते-गुणवदेतदिति श्लाघात. प्रस्तुते कृत्ये गाध्यं—अभिलाषधिरोवरणं विलोभनम् ।

यथा वेणीसंहारे ‘चञ्चद्भुज’ इत्यादि श्लोकानन्तरं—

“द्रौपदी—नाथ कि दुष्करं तप परिक्वपिण ? ता अगुगिणहंतु एदं ववसिदं देवदाउ ।

[नाथ ! कि दुष्करं त्वया परिकुपितेन ? तदनुगृह्णन्तु एतद् व्यवसितं देवताः । इति संस्कृतम्]

इत्यनेन सुयोधनवधस्य गुणवत्त्वस्यापनाद् भीमस्य गाध्यपद् विलोभनम् । इदं च परिन्यासानन्तरमेव निवध्यते । मन्ध्यन्तरसाधारण्याय चोक्तब्रमेणोदेश ॥

जैसे ‘वेणीसंहार’ में भीमके प्रति द्रौपदी [कहती है]—

असुरीसे मुझके लिए जाते हुए विष्णुको जो मङ्गल प्राप्त हुआ था वह तुमको भी [प्राप्त] हो ।

(७) विलोभनम्—

विलोभन—अथ विलोभन [नामक सत्तम अङ्गको कहते हैं]—

[सूत्र ५६]—स्तुतिके द्वारा [यस्तुके प्रति] अभिलाष विलोभन [कहलाता] है ।

स्तुतिसे अर्थात् यह [वस्तु] गुणवान् है इस प्रकारकी प्रशंसाके कारण प्रस्तुत कार्य के विषयमें अभिलाषका स्थिर हो जाना ‘विलोभन’ [कहलाता] है ।

जैसे ‘वेणीसंहार’ में ‘चञ्चद्भुजभ्रमित’ इत्यादि श्लोकके बाद द्रौपदी [कहती है]—

‘हे नाथ आपके प्रकुपित होनेपर क्या दुष्कर है ? [अर्थात् सब कुछ सहज साध्य है] । इसलिए देवतागण तुम्हारे इस निश्चयको अनुगृहीत करें ।’

इससे सुयोधनके वधकी गुणवत्ताको सूचित करके भीमसेनके [उसके प्रति] अभिलाष को पुष्ट करना विलोभन है ।

इसका सन्निवेश [मुखसन्धिके चतुर्थ अङ्ग] ‘परिन्यास’ के अनन्तर [पञ्चम अङ्गके रूपमें] ही होता है । [परन्तु उद्देशवाली कारिकामें इसे परिन्यासके बाद नहीं रखा है । ६ अङ्गोंके बाद सातवें अंगके रूपमें रखा गया है । इसका यह कारण है कि] अग्य सन्धिके भी होनेके कारण उक्त क्रमसे [अर्थात् अग्य सन्धिके होनेवाले अङ्गोंके आरम्भमें] कथन किया गया है ।

इसका यह अभिप्राय है कि यह जो ‘विलोभन’ अङ्ग यहाँ दिखलाया है इसका स्थान साधारणतः मुखसन्धिके परिन्यास अङ्गके बाद होता है । इसलिए मुखसन्धिके अङ्गोंमें ‘परिन्यास’ अङ्गके बाद इसको गिनाना चाहिए था । किन्तु ४१वीं कारिकामें परिन्यासके बाद

(न) अथ भेदनम्—

[सूत्र ५७]—भेदनं पात्रनिर्गमः ॥४४॥

रङ्गप्रविष्टानां पात्राणां निर्गमो रङ्गान्नि.सरणं येन तद् भेदनम् । पात्राणां यथास्व प्रयोजनवशाद्विशेष इतश्च गन्तुमन्यार्थोऽप्यभिप्राय उद्यमो वा रङ्गान्निर्गममापाद्यन् भेदनमुच्यते । यथा 'वेणीसंहारे' भीमो द्रौपद्या सप्रामापायशङ्किन्या शरीरानपेक्षे पराक्रमे निपिद्ध प्रत्याह—

“भीम—सुक्षत्रिये—

अन्योऽन्यास्फालभिन्त-द्विपरुधिर-वसा-सान्द्रमस्तिष्कपद्मे,

मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।

स्फीतासूत्रपानगोष्ठी रसदशिवशिवातुर्यं नृत्यकबन्धे,

सप्रामैकार्णवान्तपयसि विचरितुं पण्डिता पाण्डुपुत्रा ॥” इति॥

एतेन हि सप्रामविचरणे पाण्डवानां पाण्डित्यख्यापनेन सप्रामावतरणाभिप्रायं सहदेवस्य, आत्मनश्च सघातभेदनार्थं एवोपदिशति इति भेदोऽङ्गम् ।

इसको न कराके करणके अन्तर उसकी गणना कराई है । इसका कारण यह है कि करण तकके ६ अङ्ग केवल मुखसन्धिमें ही होते हैं । आगे गिनाए गए शेष छ अङ्ग मुखसन्धिके प्रतिरिक्त अन्य सन्धियोंमें भी होते हैं । यह बात पीछे कह चुके हैं । यह विलोभन अङ्ग मुखसन्धिके प्रतिरिक्त अन्य सन्धियोंमें भी हो सकता है । इसलिए उसका नाम परिन्यासके बाद न रखकर अन्य सन्धियोंमें भी होनेवाले अङ्गोंके साथ रखा गया है ।

(न) भेदन—

अथ भेदन [नामक मुखसन्धिके अष्टम अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५७]—पात्रोक्ता [रङ्गभूमिसे] बाहर जाना 'भेदन' [कहलाता] है ॥४४॥

रङ्गभूमिसे प्रविष्ट हुए पात्रोक्ता निर्गम अर्थात् रङ्गभूमिसे बाहर जाना जिससे होता है वह 'भेदन' कहलाता है । किसी प्रयोजनवश पात्रोक्ता अंदर-उधर जानेका अभिप्राय या उद्योग भी रङ्गभूमिसे निर्गमका हेतु होनेसे 'भेदन' कहलाता है । जैसे 'वेणीसंहार' में—युद्धमें अनिष्टकी आशङ्का करनेवाली द्रौपदीके द्वारा शरीरचिन्ताकी छोड़कर पराक्रम करनेके लिए मना किए जानेपर भीमसेन कहते हैं—

“भीम—हे सुक्षत्रिये ।

एक दूतरेके साथ सधयमें बटे हुए और हाथियोंके रुधिर एव पत्ता [चर्चों] से भरे हुए सिरोंकी बीचडमें दूबे हुए रथोंके ऊपर होकर पदाति संनिवृत्त जिसमें पराक्रम दिलला रहे हैं, गरम-गरम रुधिरके पानकी गोष्ठीमें शृगाल तथा शृगालियोंकी अमङ्गल व्यवसाय [तूर्य] जिसमें बज रहा है और [बन्धु अर्थात् सिर बटे हुए] रण्ड जिसमें नाच रहे हैं इस प्रकारके अनोले सप्राम सागरके जलके भीतर घुसकर विचरण करनेमें पाण्डव लोग निपुण हैं । [इतानि एत विषयमें तुम किसी प्रकारकी चिन्ता मत करो] ।”

इसके द्वारा सप्रामके भीतर विचरण करनेमें पाण्डवोंके पाण्डित्यकी सूचित करने सहदेवके सप्राममें अवतीर्ण होनेके अभिप्रायकी और [अनुप्राये] सघातको भेदन करनेके अपने

अन्ये तु भेदं प्रोत्साहनमाहुः । यथा 'वेणीमहारे'—

“द्रौपदी—नाथ ! मां स्तु जहणसेणीपरिभवोद्दीपितकोपा अणवेकियदसरीरा परिक्कमिस्समथ, यदो अपमत्तसचरणीयाइ रिउवलाइ सुणीयति ।

[नाथ मां स्तु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीरा परिक्कमिप्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि रिपुजलानि श्रूयन्ते । इति सम्कृतम् ।]

“भीम —अयि सुत्तत्रिये ! ‘अन्योऽन्याम्फालभिन्न—”

इत्यादिना विषण्णया द्रौपद्या क्रोधोत्साहवीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद् भेद इति ।

अन्ये तु सहताना प्रतिपन्नाणा वीजफलोत्पत्तिनिरोधकाना विश्लेषण भेद-रूपमुपाय 'भेदनं मन्वते इति ॥४४॥

(६) अथ प्रापणम्—

[सूत्र ५८]—प्रापणं सुखसम्प्राप्तिः

सुखस्य सुखहेताश्च सम्यगन्वेषणादाप्तं प्रापणम् । यथा वेणीमहारे—

“कञ्चुको—[प्रविश्य] कुमारं पश्यन्तु भगवान् वासुदेव पाण्डवपक्षपाता-मर्पितेन कुरुराजेन सयमितुमारब्ध । ततः स महात्मा दर्शितविश्वरूपतेजसम्पातमूर्द्धितमवधूय कुहयलमस्मत्सेनामन्त्रिणेशमनुप्राप्त । अतो देव कुमारमविलम्बितप्रभिप्रायको प्रदर्शितं विद्या है इसलिए यह 'भेदन' नामक अङ्ग है ।

अथ [प्राचाय] तो प्रोत्साहनको 'भेद' कहते हैं । जैसे वेणीसहारे—

“द्रौपदी नाथ याज्ञसेनीके अपमानसे उद्दीप्तक्रोध होकर कहीं अपने शरीर [की रक्षाकी] शरीरसे असावधान होकर युद्धभूमिमें न घूमने लगना । क्योंकि शत्रु सेनामें सावधान होकर ही जाना चाहिए ऐसा सुनते हैं ।

भीम—हे सुक्षत्रिये ! [तुम डरती क्यों हो] 'अन्योऽन्याम्फाल' [इत्यादि पिछले श्लोकमें कहे हुए सप्राप्तके भीतर विचरण करनेमें पाण्डव लोग बहुत निपुण हैं। इसलिए तुम चिन्ता न करो] । इत्यादि [कथन] से, विषण्ण मनवाली द्रौपदीको क्रोध तथा उत्साहके बीजके अनुलप ही प्रोत्साहन किए जानेसे यह 'भेद' [नामक अङ्ग] है ।

अथ [प्राचाय] तो बीजकी फलोत्पत्तिका अवरोध करनेवाले सहत शत्रुशोके फोड़ने वाले भेदरूप उपायको ही 'भेदन' [नामक सध्यङ्ग] मानते हैं ॥४४॥

इस प्रकार 'भेदन' नामक अष्टम अङ्गकी चार प्रकारकी व्याख्या उपस्थित की है । अब प्रागे मुखसधिके नवम अङ्ग प्रापण का लक्षण आदि करते हैं ।

(६) प्रापणम्—

अथ प्रापणं [नामक, मुखसधिके नवम अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५८]—सुखकी सम्प्राप्ति प्रापणं [नामक अङ्ग कहलाती] है ।

सुख तथा सुखके कारणकी भली प्रकार अन्वेषणसे होनेवाली प्राप्तिको प्रापणं [नामक सध्यङ्ग कहा जाता] है । जैसे वेणीसहारे—

‘कञ्चुकी—[प्रविष्ट होकर] कुमार पाण्डवोंके प्रति पक्षपातके कारण क्रुद्ध होकर कुरु राजने इन भगवान् वासुदेवको पकड़ना चाहा । तब वे महात्मा अपने विदग्धरूपके प्रदर्शित

द्रष्टुमिच्छति ।”

अयं ह्यर्थो भामसेनस्य कुरुभिः सह मन्धिभेदमापादयंश्चान्तः सुगयतीति । तथा भणितिवैचित्र्यार्थमङ्गानि कथय एकमिन्नपि सन्धावावर्तयान्त । यथा वेणी-संहारे इदमेवाङ्गं पुनर्निवृत्तम् । तथाहि—

“चेटी—[द्रौपदीमुद्दिश्य मानन्दम्] भट्टिणि ! परिकुविदो विश्व कुमारो लक्ष्मीयदि ।

[भट्टि ! परिकुपित इव कुमारो लक्ष्यते । इति संस्कृतम्] ।

द्रौपदी—एवं ता अवधीरणा वि मं एमा समामासेदि । ता इव ग्येव उववि-सिअ सुणामो दाव नाधम्म वचमिदं ।

[एवं तावदवधीरणापि मामेपा समारवामयति । तदत्रैवोपविश्य श्रुणुमः तावन् नाथस्य व्यवमितम् । इति संस्कृतम्] ।

भीमः— मध्ममि कौरवशतं समरे न कोपाद्,
दुःशासनस्य रुधिरं न पियाम्पुरस्त. ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु,
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

द्रौपदी—[सहर्षम्] असुदपुरवं ईदिसं वयणं, ता पुणो वि भण ।

[अश्रुतपूर्वं ईदग् वचनम् । तत् पुनरपि भण । इति संस्कृतम्] ।”

करनेके तेजसे मूढित कौरव बलको छोड़कर अपनी सेनाके सिधिरमे चले आए । इसलिए देव आपको [कुमारको] तुरन्त देखना चाहते हैं । [अर्थात् आपको तुरन्त बुला रहे हैं] ।”

कौरवोंके साथ सन्धि [कि प्रयत्न] को समाप्त करनेवाला यह अर्थ भीमसेनके प्रन्त-करणको प्रसन्न करता है [इसलिए यह प्रापण नामक अङ्ग है] ।

उचित-वैचित्र्यके सम्पादनार्थ कविगण एक ही सन्धिमें भी अङ्गोंको दुहरा देते हैं । जैसे वेणीसंहारमे [मुखसन्धिमे ही] इस [प्रापण नामक] अङ्गको ही दुबारा [इस प्रकारसे] निबद्ध किया गया है । जैसे कि—

“चेटी—[द्रौपदीको लक्ष्य करके आनन्दपूर्वक कहती है] हे स्वामिनि ! कुमार [भीमसेन] कुपितसे दिखलाई देते हैं ।

द्रौपदी— यदि यह बात है तो [सिरे प्रति उनकी] यह उपेक्षा भी मुझको सान्त्वना प्रदान करती है । इसलिए हम दोनों यहीं बैठकर नायके निश्चयको सुनें ।

भीम—यदि आप [सहदेव आदि] के राजा साहब [मुधिष्ठिर] किसी क्षणपर [कौरवों के साथ] सन्धि कर लें तो क्या मैं क्रुद्ध होकर युद्ध भूमिमे सी कौरवोंका नाश नहीं करूँगा । अथवा दुःशासनकी छातीका रक्त पीना छोड़ दूँगा । या गदासे दुर्योधनकी जंघाओंको चूर्ण नहीं करूँगा । [अर्थात् मुधिष्ठिर भले ही कौरवोंके साथ सन्धि कर लें, पर मैंने तो जो कुछ प्रतिज्ञा कर ली है उसको पूरा करके ही रहूँगा । सन्धिके कारण अपनी प्रतिज्ञाको कभी भी न छोड़ूँगा] ।

द्रौपदी—[सहर्षं] इस प्रकारका [आनन्द-दायक] वचन पहिले कभी नहीं सुना था इसलिए [इसको] फिर-फिर कहिए ।”

इति द्रौपद्या अभिप्रेतार्थप्राप्तिरिति ॥

(१०) अथ युक्ति —

[सूत्र ५६]—युक्तिः कृत्यविचारणा ।

विचारणा गुणदोषविवेकत कार्यपर्यालोचनम् । यथोदात्तराघवे—

“लक्ष्मण —

किं लोभेन बिलङ्घित म भरतो येनैतदेव कृतं,
मात्रा स्त्रीलघुता गता निमथवा मातैव मे मध्यमा ?

मिथ्यैतन्मम चिन्तित द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु,

माता तातरुलत्रमित्यनुचित मन्ये विधात्रा कृतम् ॥”

इयं च युक्ति स्थानान्तरभाविन्यपि तापसवत्सराजे उपक्षेप परिकरान्तरे निबद्धा ऋषेति । राघवाभ्युदये तथैवास्माभिर्भ्रंथिता । तत्र हि—

“मतिसागर —यत्पुरा भट्टारकेण सागरबुद्धिना विभीषणाय कथितं यथा—

इससे द्रौपदीके अभिप्रेत अर्थकी प्राप्ति कही है [इसलिए यह ‘प्रापण’ नामक सन्ध्यङ्ग का उदाहरण है] ।

(१०) युक्ति —

अथ युक्ति [नामक, मुखसन्धिमें दशम अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ५६]—कार्यका विचार करना युक्ति [नामक दशम अङ्ग कहलाता] है ।

विचारणा अर्थात् गुण-दोषके विवेचन द्वारा कार्यका पर्यालोचन करना ।

जैसे ‘उदात्तराघव’ में—

“लक्ष्मण [कहते हैं]—

क्या वह भरत [राज्यके] लोभसे पराभूत हो गए जिससे [रामको वनवास दिलानेका] यह कार्य किया है । अथवा क्या मेरी ममता माता [कंकेयी] ही मानने श्रीके समान लघुता को प्राप्त हो गई थीं । [जिसके कारण उन्होंने यह नीच कार्य करवाया] । अथवा मेरी सोची हुई ये दोनो ही बातें मिथ्या हैं क्योंकि ये मेरे बड़े भाई [गुरु अर्थात् भरत] अर्थके [अर्थात् रामचंद्रके] अनुज हैं । [अर्थात् रामचन्द्रजीके अनुज श्रीर मेरे गुरु भरत कभी ऐसा अनुचित कार्य नहीं कर सकते हैं] श्रीर माता [कंकेयी] पिताजीकी पत्नी हैं [इस लिए वे कभी इस गद्दित पापको नहीं कर सकती हैं] । इस लिए इन दोनोके विषयमें सोचना अनुचित है । तब फिर यह कार्य हुआ कैसे, इसका समाधान करते हैं कि] मालूम होता है कि यह अनुचित कार्य बँवने ही किया है ।’

इस प्रकार कार्यकी विचारणरूप होनेसे यह युक्ति’ नामक अङ्गका उदाहरण है ।

यह युक्ति [नामक अङ्ग मुखसन्धिमें] अन्य स्थानपर होनेवाली [अर्थात् दशम स्थानपर पठित] होनेपर भी ‘तापसवत्सराजचरित’ में उपक्षेप तथा ‘परिकर’ के बीचमें [द्वितीय स्थानपर] निबद्ध किया हुआ देखा जाता है । इसलिए ‘राघवाभ्युदय’ में हमने भी उसी प्रकार [उपक्षेप तथा परिकरके बीचमें] प्रथित कर दिया है । वहाँपर —

“मतिसागर—स्वामी सागरबुद्धिने जो पहले कभी विभीषणसे कहा था कि—

‘सीतानिमित्तको दाशरथितो रावणवध’ इति। तस्यार्थस्य तदेतच्छापारोपणं बीजमुपस्थितम् । कथितं च मे करडकनाम्ना लङ्काचारिणा चरेण यथा—‘भूमण्डलस्येव रावणस्यापि सीतायां प्रेम अस्त्येव, किन्तु दोर्दृष्ट्याच्छापारोणे नायातः’ । [विमृश्य] तन्नूनमसौ पश्चादापि सीतामपहरिष्यति ।” इति ।

(११) अथ विधानम्—

[सूत्र ६०]—विधानं सुख-दुःखाप्तिः

द्वयोः सुख-दुःखयोरेकत्र अनेकत्र वा पात्रे प्राप्तिः । एकरथैव वा सुखस्य दुःखस्य वा प्राप्तिः, विधानम् । एकत्रपात्रे सुख-दुःखयोः प्राप्तिर्यथा—मालतीमाधवे—

“माधवः— यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभावम्,
आनन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।
तत्सन्निधौ तदधुना हृदयं मदीयं,
अङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥

इत्यनेन सानुरागमालत्यवलोकनान्माधवस्य सुख-दुःखाप्तिः ।

अनेकत्र यथा तापमवत्सराजे काञ्चनमालया ज्ञातिगृह्वार्ताविशेषापदेशात् वामवदत्ताया वियोगदुःखेऽपह्नुते राजा स्मित्वाऽऽह—

‘सीताके कारण दशरथ पुत्रके द्वारा रावणका वध होगा’ । उस बातका बीजरूप यह चापारोपण [का प्रसङ्ग] आ गया है । और लङ्कामे विचरण करनेवाले करडक नामक पुत्रचर ने मुझसे कहा भी है कि—‘भूमण्डलके [अन्य सब राजाओंके] समान रावण भी सीताको चाहता ही है किन्तु अपनी भुजाओंके दपके कारण चापारोपणमे नहीं आया है’ । [कुछ सोचकर] तो निश्चय ही यह वादको सीताका अपहरण करेगा । यह [भी कार्यकी विचारणा रूप होनेसे मुक्ति नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

(११) विधान

अथ विधान [नामक, सुखसन्धिके ग्यारहवें अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६०]—सुख-दुःखकी प्राप्ति ‘विधान’ [कहलाती] है ।

सुख तथा दुःख दोनोंकी एक पात्रमे अथवा अनेक पात्रोंमे प्राप्ति । अथवा सुख और दुःखमेसे किसी एककी ही प्राप्ति [दोनों ही] विधान [नामक अङ्गके भीतर समाविष्ट हो जाते] हैं । एक ही पात्रमे सुख-दुःख दोनोंकी प्राप्ति [का उदाहरण] जैसे ‘मालतीमाधव’ मे माधव [कहता है]—

“माधव—जो [मिरा हृदय मालतीकी उपस्थितिमे] विस्मयसे कुण्ठित, अन्य समस्त भावोंसे शून्य, अमृतमे डुबकी लगानेसे आनन्द निमग्न सा हो रहा था वही मेरा हृदय इस समय [मालतीके वियोगकालमे] अङ्गारोंसे जला हुआ सा वेदनामय हो रहा है ।”

इससे अनुरक्ता मालतीको देखकर माधवको सुख और [उसके वियोगमे] दुःखकी प्राप्ति [एक ही पात्रमे पाई जाती है] ।

भिन्न-भिन्न पात्रोंमे [सुख और दुःखकी प्राप्तिका उदाहरण] जैसे ‘तापसवत्सराज’ मे पितृगृहके समाचार विशेषके वहानेसे काञ्चनमाला द्वारा वासवदत्ताके वियोग दुःखको छिपाने पर राजा मुस्कराकर बहते हैं—

“दृष्टिं प्रेमभरालसां मयि मुहुर्विन्यम्य लज्जावती,
कालस्याहमिद्वासहेत्यचिरतं प्रत्यर्पयन्ती मनः ।
जाता देवि तदा ममापनयने हेतुश्वमेवाधुना
किं सन्देशनवीभवत्कुलगृहोत्कण्ठाधिकं ताम्यसि ॥”

अत्र च वासवदत्ताया प्रवासाभ्युपगमाद् दुःखम् । वत्सराजस्य चाविदित-
प्रवासवृत्तान्तस्य सुखम् ।

एकस्य सुखस्य प्राप्तिर्यथा रत्नावल्याम्—

“अञ्जनमाले पङ्खावेहि असोयमूले भयवंतं पञ्जुन्न । [इत्युपक्रमे]
[काञ्चनमाले प्रतिष्ठापयाशोकमूले भगवन्त प्रशुम्नम् । इति संस्कृतम्]

राजा—कुसुमसुकुमारमूर्ति-वर्धनी नियमेन तनुतरं मध्यम् ।

आभासि मकरकेतो पार्श्वस्था चापयष्टिरिव ॥

इत्यारभ्य, ‘वासवदत्ता राजानं पूजयति’ इति यावत् ।

एकस्य दुःखस्य यथास्मदुपश्ले निर्भयभीम-नाम्नि व्यायोगे—

“भीम—

अन्यायैःपञ्जुपः शठव्रतजुपो येऽभ्याकमत्र द्विपः,

ते नन्दन्ति मदं वहन्ति महतीं गच्छन्ति च श्लाघ्यताम् ।

“मेरी और बार-बार प्रेमभरी दृष्टि डालती हुई, लज्जायुक्त, और ‘मे अधिक विलम्बको सहन नहीं कर सकती हूँ इस प्रकार [अपना] मन समर्पित करती हुई, हे देवि ! उस समय तुम ही मेरे हटानेका कारण बनी तो फिर सदेशसे पितृगृहकी उत्कण्ठाके नवीन हो जानेसे इस समय क्यों दुःखी हो रही हो ?”

यहाँ वासवदत्ताके प्रवास स्वीकार करनेके कारण दुःख है । और प्रवासका वृत्तान्त न विदित होनेके कारण वत्सराजको सुख है । [इस प्रकार भिन्न-भिन्न पात्रोंमें अलग-अलग सुख-दुःखकी प्राप्तिरूप विधानका यह उदाहरण है] ।

एक सुखकी प्राप्ति [का उदाहरण] जैसे रत्नावलीमें—

“काञ्चनमाले । अशोकके नीचे भगवान् कामदेव [प्रशुम्न] को स्थापित करो । [इसके प्रसङ्गमें]—

राजा—कुसुमके समान सुकुमार देहवाली और व्रत पालनके कारण और भी अधिक शीघ्र मध्यसे पुक्त तुम मकरकेतु [कामदेव] के पास रखी हुई चापयष्टिके समान प्रतीत होती हो [सोभित होती हो] ।

यहाँसे लेकर ‘वासवदत्ता राजाकी पूजा करती है’ यहाँ तक केवल एक सुखकी प्राप्ति का वर्णन होनेसे यह विधान नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

केवल दुःखकी प्राप्ति [का उदाहरण] जैसे हमारे बनाये ‘निर्भयभीमसेन’ नामक व्यायोगमें [भीम कहते हैं]—

भीम—केवल अन्यायपर आरुढ़, दुष्टताका व्रत धारण किए हुए, यहाँ हमारे जो शत्रु हैं, वे ध्यानद कर रहे हैं, गर्व धारण किए फिरते हैं और सब जगह प्रशंसा प्राप्त कर रहे हैं । और [हम] जो ग्यापका भयसम्भन कर रहे हैं और अत्यन्त सारसताको धारण

ये तु न्यायपराः परार्जवधराग्ते पश्यतामी वयं
नीचेः कर्मकृतः पराभवभृतस्तप्राश्च वर्तामहे ॥”

मुग्यस्य सुखहेतोश्च अन्वेपणरूपा ‘प्राप्तिः’ । सन्निहितसुखात्मकं च एकपात्र-
गतसुखात्मकं च विधानमिति भेदः ।

(११) अथ परिभाषना—

[सूत्र ६१]—विस्मयः परिभाषना ॥ ४५ ॥

जिज्ञासातिशयेन किमेतदिति कान्तुकानुबन्धो विस्मयः, परिभाषना । यथा
नागानन्दे—

“[मलयवतीं दृष्ट्वा] नायकः—

स्वर्गस्त्री यदि तत्कृतार्थमभवच्चक्षुःसदृशं हरेः,
नागी चेन्न रसातलं शशभृता शून्यं मुखेऽस्याः स्थिते ।
जातिर्नः सकलान्यजातिजयिनी विद्याधरी चेदियं,
म्यात् सिद्धान्वयजा यदि त्रिभुवने मिद्धाः प्रमिद्धास्ततः ॥”

किए हूँ सो वे हम देखो [रसोद्भवा आदिके] नीचे धर्मको कर रहे हूँ और तिरस्कार प्राप्त
कर रहे हैं ।

मुखसन्धिके ‘प्रापण’ नामक अङ्गकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है । उसमें भी ‘प्रापण
मुखसम्प्राप्तिः’ सुख-सम्प्राप्तिको ही उसका लक्षण बतलाया गया था । यहाँ ‘विधान’ अङ्गमें
सुखप्राप्तिको विधान अङ्गका लक्षण बतलाया है । तब इन दोनोंमें परस्पर क्या भेद है यह
प्रश्न उपस्थित हो सकता है । इस लिए ग्रन्थकारने अगली पक्तिमें इन दोनोंके भेदको इस
प्रकार प्रदर्शित किया है कि—

सुख और सुखके कारणका अन्वेपण जिसमें किया जाय वह ‘प्राप्ति’ [अर्थात् प्रापण
नामक अङ्ग] है । और [अन्वेपण रूप नहीं किन्तु] सन्निहित सुख स्वरूप तथा एक पात्र गत
‘सुखात्मक’ विधान होता है यह [‘प्रापण’ तथा विधान इन दोनों अङ्गोंका] भेद है ।

(१२) परिभाषना—

अथ परिभाषना [नामक, मुखसन्धिके आरहवें अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६१]—विस्मय [का नाम] ‘परिभाषना’ है ।

जिज्ञासाके अतिशयके कारण ‘यह क्या है’ इस प्रकारका आग्रह, विस्मय [कहलाता]
है । वही ‘परिभाषना’ [नामक अङ्ग कहा जाता] है । जैसे नागानन्दमें—

“[मलयवतीको देखकर] नायक [जो मूतवाहन कहता है कि]—

[यह मलयवती] यदि स्वर्गकी स्त्री है तो इन्द्रके सहस्रो नेत्र कृतार्थ ही गए [समभो],
यदि यह नाग जातिकी स्त्री है तो इसके मुखके विद्यमान रहते पाताललोक चन्द्रमासे शून्य
नहीं [कहा जा सकता] है । यदि यह विद्याधरी है तो निश्चय ही हमारी [विद्याधर] जाति
अन्य जातियोंमें श्रेष्ठ है । और यदि यह सिद्धवशमे उत्पन्न हुई है तो अब मिद्ध लोग त्रिभुवन
में प्रसिद्ध हो जावेंगे [यह समभो] ।

इसमें मलयवतीके सौन्दर्यातिशयको देखकर जो मूतवाहन अपने विस्मयको प्रकट कर
रहा है अतः यह ‘परिभाषना’ नामक अङ्गका उदाहरण है ।

यथा वा रोहिणीमृगाङ्गाभिधाने प्रकरणे प्रथमेऽङ्के—

“मृगाङ्क [मोत्कण्ठम्]—

सा स्वर्गलोकनलनाजनवर्णिका वा,
दिव्या पयोधिदुहितु प्रतियातना वा ।
शिल्पप्रियामथ विधे पद्मन्तितम वा,
विश्वत्रयीनयनसङ्घटनाफल वा ॥

००तानि मुग्गमन्धेर्द्वादशाङ्गानि ॥ ४५ ॥

[०] अथ प्रतिमुग्गमन्धेर्द्वाङ्गान्युद्दिशति—

[सूत्र ६२]— विलासो धूननं रोधः सान्त्वनं वर्णसंहतिः ।

नर्म नर्मद्युतिस्तापः स्युरेतानि यथारुचि ॥४६॥

पुष्पं प्रगमनं वज्रमुपन्यासोपसर्पणम् ।

पञ्चावश्यमथाङ्गानि प्रतिमुसे त्रयोदश ॥४७॥

अथवा जैसे रोहिणीमृगाङ्क नामक प्रकरणके प्रथम अङ्कमें—

“मृगाङ्क [उत्कण्ठापूर्वक कहता है]—

वह [रोहिणी] क्या स्वर्ग लोककी स्त्रियोंकी [वर्णिका] विव्रित करनेवाली लेखनी [या 'वर्णिका' कस्तूरी] है । अथवा सागरकी पुत्री लक्ष्मीकी दिव्य प्रतिकृति [प्रतियातना तत्त्वोर] है । अथवा विधाताके रचना कौशलकी चरम सीमा है अथवा तीनों लोकोंके [समस्त प्राणियोंके] मेशोंकी रचनाका फल है ।”

इसमें रोहिणीके सौन्दर्योत्प्रेषणके कारण उत्पन्न विस्मयको मृगाङ्कन प्रकट किया है । इसलिए यह मुखसन्धिके 'परिभावना नामक बारहवें अङ्कका उदाहरण है ।

इस प्रकार यहाँ तत्र ग्रन्थकारन मुखसन्धिके बारह अङ्कोंके लक्षण तथा उदाहरण दिखलाकर उनका विस्तारपूर्वक विवेचन कर दिया है । इसलिए अब इसका उपसंहार करते हुए अगली पवित्र निखत है—

ये बारह मुखसन्धि अङ्क होते हैं ॥४५॥

[२] प्रतिमुखसन्धिके तेरह अङ्क—

अब इसके आगे प्रतिमुखसन्धिके [तेरह] अङ्कोंका उद्देश [नाममात्रेण कथन] करते हैं—

[सूत्र ६२]—(१) विलास, (२) धूनन, (३) रोध, (४) सान्त्वन, (५) वर्णसंहार, (६) नर्म, (७) नर्मद्युति और (८) ताप ये [छाठ अङ्क प्रतिमुखसन्धिके] यथारुचि रखे जा सकते हैं । [अर्थात् उनका रखा जाना अपरिहार्य नहीं है । कथावस्तुकी उपयोगिताके अनुसर उनको रखा भी जा सकता है और नहीं भी रखा जा सकता है] ॥४६॥

[सूत्र ६२]—(९) पुष्प, (१०) प्रगमन (११) वज्र, (१२) उपन्यास और (१३) उपसर्पण ये पाँच [अङ्क प्रतिमुखसन्धिके] आवश्यक हैं । इस प्रकार प्रतिमुखसन्धिके कुल तेरह अङ्क होते हैं ॥४७॥

'यथारुचि' इति धृत्तवैचित्र्यानुरोधेनात्र भवन्ति, न भवन्ति च । पुष्पादीनि पुनः पञ्चाक्षर्यं प्रतिमुखसन्धौ भवन्त्येव । त्रयोदशाख्येतानि प्रतिमुख एव सुतरां निर्वन्धमर्हन्ति । उद्देशक्रमश्च निवन्धेषु नापेक्षणीय इति ॥४६-४७॥

(१) अथ विलासः—

[सूत्र ६३]—विलासो नृ-स्त्रियोरीहा,

नृ-स्त्रियोः परस्परमीहा रत्यभिलापः ।

यथाभिज्ञानशाकुन्तले मुखसन्धानुपलब्धायां नायिकायां प्रतिमुखं तादृशपयो राज्ञो विलासः । तत्र हि राजा आह—

“कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनाशवासि ।

अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥

[स्मितं कृत्वा] एवमात्माभिप्रायसम्भावितेष्टजनचित्तवृत्तः प्रार्थयिता विप्र-लभ्यते । कुतः—

'यथारुचि' इसका यह अभिप्राय है कि कथावस्तुकी विचित्रताके अनुसार [यि आठ अङ्ग प्रतिमुखसन्धिमे] होते भी हैं और नहीं भी हो सकते हैं । [अर्थात् उनकी स्थिति अप-रिहाय नहीं है] । दोष पुष्प आदि पाँच [अङ्ग] तो प्रतिमुखसन्धिमे अवश्य होते ही हैं । ये तेरहो अङ्ग प्रतिमुखसन्धिमे ही सन्निविष्ट होते हैं [अन्य सन्धिषोमे प्रयुक्त नहीं होते हैं] । इनकी रचनामे उद्देशक्रम अपेक्षित नहीं होता है । [अर्थात् जिस क्रमसे यहाँ गिनाए गए हैं उसी क्रमसे इनकी रचना हो यह आवश्यक नहीं है] ॥४६-४७॥

इस प्रकार ४६-४७ दो कारिकाओमे प्रतिमुख सन्धिके तेरह अङ्गोंके नाम गिनाकर तथा उनमेसे पाँचकी अनिवार्य स्थिति एवं आठकी ऐच्छिक स्थितिका उल्लेख करके अब उनके लक्षण आदि क्रमशः आरम्भ करेंगे । इनमे सबसे प्रथम अङ्ग 'विलास' है । इसलिए सबसे पहिले उसीका लक्षण करते हैं ।

(१) विलास—

अब [प्रतिमुखसन्धिके अङ्गोमेसे प्रथम अङ्ग] 'विलास' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६३]—स्त्री और पुरुषकी [परस्पर सम्मिलनकी] इच्छा 'विलास' [नामक, प्रतिमुखसन्धिके प्रथम अर्थ कहलाती] है ।

पुरुष तथा स्त्रीकी परस्पर [सम्मिलनकी] इच्छा अर्थात् रतिकी कामना [विलास नामक अङ्गके रूपमे कही जाती] है ।

जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलमे मुखसन्धिमें [प्रथम अङ्गमे नायिका] शकुन्तलाके प्राप्त हो जानेपर प्रतिमुखसन्धिमे [द्वितीय अङ्गमे] उसके विषयमे राजाका [रति विषयक] अभिलाप विलास । उसमें राजा [बुध्यन्त अपने इस अभिलापको व्यक्त करते हुए] कहते हैं—

“प्रिया [शकुन्तला इस समय] भले हो प्राप्त न हो किन्तु मेरा मन तो उसके भावको देखकर विश्वस्त है [कि यह मुझे प्रेम करती है इसलिए जल्दी या देरसे वह मुझको अवश्य प्राप्त होगी] । क्योंकि कामदेवके कृतार्थ न होनेपर भी [अर्थात् सम्भोगाभिलापके पूर्ण न होने पर भी] दोनों औरका प्रेम स्वयं रति [एक अपूर्व आनन्द] को प्रदान करता है ।

[किर मुस्कराकर राजा कहता है]—इस प्रकार अपने मनके अभिप्रायके अनुसार

स्तिग्ध वाञ्छितमन्यतो ऽपि नयने यत् प्रेरयन्त्या तथा,
यात् यच्च नितम्नयोगुरुतया मन् विलासादिव ।
मा गा इत्युपरुद्धया यदपि तन् सासूयमुक्ता सखी,
सर्वं किल तन् मत्परायणमहो काम भवता पश्यति ॥”

इत्यादिना राज्ञो रतिसमीहा ।

यथा वा नलविलासे तृतीयाङ्के—

“दमयन्ती—[राजानमवलोक्य स्वगतम्] कष्टमेस सय भयत्र पचवाणो ?
अहवा चरायस्म अणुगस्स कुणो ईदिसो अगसोह्मगप्प भारो ? ता कदथो दम-
यन्तीयाए अंगचग्गिमा ।” इति ।

[रुथमेप म्प्रथ भगवान् पञ्चत्राण ? अथवा वराङ्गस्यानङ्गम्य कुत ईदृशोऽङ्ग-
सौभाग्यप्राग्भार ? तत् कृतार्था दमन्त्या अगचङ्गिमा । इति सरकृतम्] ।

यथा वास्मदुपज्ञे कौमुदीमित्राणन्दनाम्नि प्रकरणे तृतीयेऽङ्के—

“मित्राणन्द—प्रिये ।

वक्त्रं शीतम्चि र्वंचासि च सुधा दृष्टिश्च कादम्बरी,

द्विम्राण्ड पुनरेप कौमुभमणि मूर्तिश्च लक्ष्मीस्सव ।

दृष्टजनकी चित्तवृत्तिकी कल्पना करके प्रमो जन स्वयं अपनेको घोला देते हैं । क्योंकि [अपने मनकी भावनाके अनुसार वे यह समझने लगते हैं । कि]—

[उनकी प्रमदाग्रने] झूसरी और दृष्टि डालते हुए भी जो मधुरताक साथ देला [वह शायद मेरी और ही देला था] नितम्बके भारके कारण जो विलासपूर्वक धीरे धीरे गमन किया और [सखीके द्वारा] जाओ नहीं इस प्रकार रोके जानेपर जो नाराज होकर [उस सखी को] फटकारा था कहा था वह सब मेरे ही कारण था । प्राश्चय है कि काम [या कामी पुरुष अपने प्रम पात्रके सारे कार्योंमें अपना सम्बन्ध] ही देखता है ।

इत्यादिसे राजा [कुप्यत] की रतिकी इच्छा [प्रदर्शित की गई है] । अतः यह प्रति मुखसार्थके विलास नामक प्रथम अङ्गका उदाहरण है ।

अथवा जैसे नलविलासके तृतीय अङ्कमें—

दमयती—[राजाको देखकर स्वगत अपने मनमें कहती है]—अच्छा यह तो स्वयं भगवान् कामदेव [आ गए] हैं । अथवा [वह कामदेव तो शरीर रहित आङ्ग है] उस विचारके प्रसङ्गके पास इतने देहसौभाग्यकी सम्पत्ति कहा हो सकती है । [इसलिए यह कामदेव नहीं है] । इसलिए [निश्चय ही ये राजा नल हैं] तथ तो दमयतीका [अर्थात् मेरा] अङ्ग-सौभाग्य कृतार्थ हो गया ।

इसमें राजा नलके प्रति दमयतीकी रतिवा प्रदग्गन होनेसे यह भी विलास नामक प्रतिमुखसार्थके प्रथम अङ्गका उदाहरण है ।

अथवा जैसे हमारे बनाये हुए कौमुदी मित्राणन्द नामक प्रकरणमें तृतीय अङ्कमें—
मित्राणन्द—प्रिये ।

[तुम्हारा] मुख च द्रमा [तुम्हारी] वाणी अमृत [तुम्हारी] दृष्टि कादम्बरी [मदिरा]
[तुम्हारा] अपरोष्ठ कौस्तुभमणि और तुम्हारी मूर्ति लक्ष्मी रूप है । [इस सबको देखकर देता

वीरादिरसप्रधानेष्वर्थफलेषु रूपेषु पुनरुत्साहादिसम्पद्विषयो नृस्त्रियोरीहा-
व्यापारो विलासः । यस्तु वेणीसंहारे भानुमत्या सह दुर्योधनस्य दशितो रत्य-
भिलापरूपो विलासः, स नायकस्य तादृशेऽवसरे ऽनुचितः । यदाह—

सन्धि-सन्ध्यङ्घटनं रसबन्धव्यपेक्षया ।

न तु केवलशास्त्रार्थस्थितिसम्पादनेच्छया ॥ इति ।

(२) अथ धूननम्—

[सूत्र ६४]—धूननं साम्ब्यनादरः ।

साम्बि अनुनये अनादरो मनागनादृतिः । नञोऽल्पावर्थात्वात् ।

यथा पार्थविजये चित्रसेनेन मयते दुर्योधने सति—

युधिष्ठिरः—“वत्स भीमसेन !

अयं स कालः शूराणां गिनानां यत्र बन्धुषु ।

आपद्गतपरित्राणम्, अपूर्वोऽनुनयक्रमः ॥

नही अपितु प्रकृत रसके अनुकूल स्त्री-पुरुषकी इच्छा यह अर्थ करना चाहिए । वीररस-प्रधान नाटकमे 'विलास' अङ्गमे वीररसके अनुकूल स्त्री-पुरुषकी इच्छाका वर्णन कर वीररसकी सम्पुष्ट करना चाहिए । और उसीके अनुकूल अन्य अङ्गोकी भी रचना करना चाहिए । भट्ट-नारायणने इस सिद्धान्तको नही समझा है, इसीलिए वे इस प्रकारकी भूल कर बैठे हैं । इसी बातको अर्थकार अगले अनुच्छेदमे निम्न प्रकार लिखत है—

वीर आदि रसप्रधान अर्थवाले रूपकोमे तो उत्साह आदिका पोषण करनेवाला स्त्री-पुरुषका इच्छा रूप व्यापार विलास [परसे गृहीत] होता है । इसलिए 'वेणीसंहार' मे जो सुयोधनके साथ भानुमतीका रत्यभिलाप दिखलाया है वह उस प्रकारके [युद्धकी तैयारी करने योग्य] समयमे नायकके लिए अनुचित है । जैसाकि [ध्वन्यालोककारने] कहा है कि—

सपि तथा सपिथोके अङ्गोकी रचना रसप्रयोगके अनुसार करनी चाहिए । केवल शास्त्रकी मर्यादाकी रक्षाकी इच्छासे ही नहीं करनी चाहिए ।

इस वचनमे ऐसा भ्रम हो सकता है कि शास्त्र-स्थिति और रस-स्थितिमे विरोध हो सकता है । वेणीसंहारकारने शास्त्र-स्थितिका पालन करनेकी इच्छासे ही दुर्योधन और भानु-मतीके रत्यभिलापका वर्णन प्रतिमुखसन्धिके विलास अङ्गमे किया है । किन्तु यहाँ अर्थकारने यह दिखलाया है कि वेणीसंहारकारने शास्त्र-स्थितिको ही नहीं समझा है । उन्होने जो रत्य-भिलापका वर्णन किया है वह शास्त्रीय मर्यादाके अनुकूल नही प्रतिकूल किया गया है ।

(२) धूनन

प्रथम धूनन [नायक प्रतिमुखसन्धिके द्वितीय अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६४]—शांति-वचनोका अनादर करना धूनन [बहलाता] है ।

साम अर्थात् अनुनय [वचनों] मे अनादर अर्थात् थोड़ी-सी अनास्था [धूनन बहलाता है] । नञ्के अल्पार्थक होनेसे [मनागनादृति यह अर्थ किया है] ।

जैसे 'पार्यविजय' मे चित्रसेनके द्वारा दुर्योधनके पकड़ लिए जानेपर—

युधिष्ठिर [कहते हैं]—हे वत्स भीमसेन !

यह वह समय [आ गया] है जबकि अपने बन्धुओंसे नाराज हुए शूरोका आपत्तिमे पड़े

भीमसेनोऽपि दुर्योधनं प्रति युधिष्ठिरस्यानुनयमगृह्णन्नाह—

“कोऽयमनेकविधापकारकारिणः कौरवानुद्दिश्यायस्यार्द्रभावः ?” इति ।

केचिद् धूननमरतिमाहुः । तच्च रोधेनेव संगृहीतमिति ।

(३) अथ रोधः—

[सूत्र ६५]—रोधोऽतिः—

अतिः सेदो व्यमनमिष्टरोधाद् रोधः । यथा देवीचन्द्रगुप्ते—

“राजा [चन्द्रगुप्तमाह]—

त्वद्दुःखस्यापनेतुं मा शतांशेनापि न क्षमा ।

ध्रुवदेवी—[सूत्रधारीमाह]—

हृब्जे इयं सा ईदृसी अञ्जउत्तम कर्णपराहीणदा ।

[हृब्जे ! इयं सा ईदृशी आर्यपुत्रस्य कर्णपराधीनता । इति संस्कृतम्]

सूत्रधारी—देवि पंडति चंद्रमण्डलात् वि चुडुलीत् किं एतु वरिम्ह !

[देवि ! पतन्ति चन्द्रमण्डलात्पि उत्काः । किमत्र कुर्मः । इति संस्कृतम्]

राजा—त्वद्युपारोपितप्रेम्णा त्वदर्धे यशसा सह ।

परित्यक्ता मया देवी जनोऽयं जन एव मे ॥

हृए [बधुओं] की रक्षा करने एए [उनको मनानेका] कोई अपूर्व अनुनय प्रकार [प्रदर्शित किया जाता] है ।”

[युधिष्ठिरके द्वारा इस प्रकार दुर्योधनको छुड़ानेके लिए प्रेरित किए जाने पर]

भीमसेन भी दुर्योधनके प्रति युधिष्ठिरके अनुनयको असुखीकार करते हुए कहते हैं—

अनेक प्रकारसे अपकार करनेवाले कौरवोंके प्रति आपकी यह दया कंसी है ?”

इसमें भीमसेन युधिष्ठिरके शान्तिवचन या अनुनयका तनिक अनादर सा करते हैं मत. यह धूनन' नायक अङ्गका उदाहरण है ।

कोई [आचार्य] भरति [खेद या दुःख] को 'धूनन' कहते हैं । [किन्तु यह उचित नहीं है । क्योंकि] वह तो रोध [नामक अगले अङ्ग] में ही संगृहीत हो जाता है ।

(३) रोध—

अथ रोध [नामक प्रतिमुखसंधिके तृतीय अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६५]—अरति [का नाम] 'रोध' है ।

अरति अर्थात् खेद या दुःख [प्रकट करना] इसके अवरोधके कारण 'रोध' [कहलाता] है । जैसे देवीचन्द्रगुप्तेमें राजा [चन्द्रगुप्तेसे कहता है]—

“वह तुम्हारे दुःखको क्षताशमे भी दूर करनेमें समर्थ नहीं है ।

ध्रुवदेवी [सूत्रधारीसे कहती है]—

अरे ! आर्यपुत्रकी यह कंसी कर्णपराधीनता है ।

सूत्रधारी—देवि ! चन्द्रमण्डलसे भी उत्कापात होता है । इसमें हम क्या करें ।

राजा—तुममें अपने प्रेमको स्थिर करनेवाले मैंने तुम्हारे लिए यशके साथ-साथ देवी का भी परित्याग कर दिया । और यह [प्रजा] जन तो मेरे [प्रजा] जन ही हैं [उनके परित्यागकी तो बात ही क्या है] ।

ध्रुवदेवी—अहं पि जीवितं परिन्चयंती पदमयं प्येव तुभं परिचङ्गम् ।”
[अहंमपि जीवितं परित्यजन्ती प्रथमतरमेव त्वां परित्यज्यामि ।

इति सन्कृतम्]

अत्र स्त्रीवेषनिहते चन्द्रगुप्ते प्रियवचनैः स्त्रीप्रत्ययान् ध्रुवदेव्या गुरुमन्यु-
मन्तापरूपस्य व्यमनस्य सम्प्राप्ति ।

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

‘राजा—देवि ! अवलम्बस्व भद्रचनम् । अत्रैव तिष्ठ । अशिक्षितपादचारा
न शक्यति भवती क्रमितुं दर्भाङ्कुरविधुरासु वनवसुन्धरासु ।

सुतारा—जं भोदि त भोदु । अहं गमिम्स ।

[यद् भवति तद् भवतु । अहं गमिष्यामि । इति सस्कृतम्]

राजा—[कुलपति प्रति] भगवन् !

त्यजन् हेम्नो लक्ष चतुर्दधिकारधी च वसुधा,
सुधाभोभिः स्नानादपि ममधिकां प्रीतिमभजम् ।

सवत्सामेता तु प्रवसनपरा वीक्ष्य दयिता,

इदानीं मन्येऽहं ज्वलद्वनललीढ वपुरद ॥ इति ।

ध्रुवदेवी—मैं भी अपने जीवनका परित्याग करती हुई उससे पहले ही तुमको छोड़ दूंगी ।
यहाँ चन्द्रगुप्तके स्त्री वेषमें छिपे होनेसे ध्रुवदेवीको [उत्तम वास्तविक] स्त्री होनेके
विश्वासके कारण [अपनेमें अन्य स्त्रीके प्रति राजाकी आसक्तिको देखकर] अत्यन्त दुःख और
सताप रूप व्यसनकी प्राप्ति हो रही है [इस लिए रोध नामक अगका उदाहरण है] ।

ध्रुव स्वामिनी भगव नरेश रामगुप्त की पत्नी है । रामगुप्त बड़ा कापुरप है । शत्रुके
दबावसे वह अपनी प्रियतमाको शत्रुको देनेके लिए तैयार हो गया था । चन्द्रगुप्त हम अपमान
को सहन नहीं कर सका । उसने स्वयं स्त्रीका वेष धारणकरके शत्रुके पास जाकर अपमानकी
बदला लेनेका निश्चय किया । इस प्रयत्नमें स्त्री वेषमें उपस्थित उसी चन्द्रगुप्तके माथ राजा
रामगुप्तका वार्तालाप हो रहा है । ध्रुव स्वामिनीको यह रहस्य पता नहीं है । इसलिए वह
स्त्री वेषधारी चन्द्रगुप्तको दूसरी स्त्री समझकर दुःखी हो रही है । इसीलिए हमें रोधके उदा-
हरण रूपमें प्रस्तुत किया गया है ।

अथवा जैसे सत्यहरिश्चन्द्र' में—

राजा—देवि ! मेरी बात मान जाओ । तुम यहाँ रहो । [प्राज तज] कभी पंवल न
चलनेके कारण तुम कुछ अकुरोसि भरो हुई वनभूमियोमें नहीं चल सकोगी ।

सुतारा—चाहे जो हो मैं तो [अवश्य] चलूंगी ।

राजा—[कुलपतिके प्रति] भगवन् !

साखों स्वर्ण-मुद्राओं, और चारों समुद्र रूप काञ्चीको धारण करनेवाली वसु धरा
का परित्याग करते हुए मैंने सुधा-सलिलसे स्नान करनेकी अपेक्षा भी अधिक आनन्दका अनुभव
किया था । किन्तु अच्छेके सहित इस प्रियतमा रानीको [वनमें पंदल] चलनेकी उद्यत देखकर
इस सभय मुझे ऐसा लग रहा है मानो मेरा यह सारा शरीर आगमें आलिगित हो रहा है ।

हम इनोक्तम राजा हरिश्चन्द्र जब अपना राज पाट सब कुछ दकर जा रहे हैं उम

(४) अथ सान्त्वनम्—

[सूत्र ६६]—सान्त्वनं साम

कुड्भ्यानुकूलम् । यथा रामाभ्युदये द्वितीयेऽङ्के—

मारीचः—नायमनुवृत्तिवचसामवमरः । परिष्फुट विज्ञाप्यते—

दाराणां व्रतिनां च रक्षणविधौ वीरोनुयोज्यानुर्ज,

वीराणां रर-दूपण-त्रिशिरसामेभो वध यो व्यधात् ।

तस्याखण्डिततेजसः कुलजने न्यक्कार आविष्कृतः,

कुण्ठ सङ्गरदुर्मदस्य भवतः स्थाचन्द्रहासोऽप्यसि ॥

रावणः—आ. प्रतिपक्ष-पक्षपातिन जुष्ट राक्षसापमद किं बहुना—

तवैव रुधिराम्बुभि च्छतकठोरकण्ठस्त्रुते,

रिपुस्तुतिभवो मम प्रशममेतु क्रोधानलः ।

सुरद्विपशिरः- स्थलीदलनदष्टमुक्ताफल,

स्वसु परिभवोचित पुनरसौ विधास्यत्यसि ॥

(इति खड्गमारुर्षति ।)

समय रानी सुतारा और पुनको भी साध चलनेके लिए उद्यत देखकर जिस दु स और सङ्कट मे पड गए थे उसका चित्रण किया गया है । इस लिए यह प्रतिमुखसन्धिके 'रोध' नामक तृतीय अङ्कका उदाहरण है । 'रोध' का लक्षण 'अति' है । अर्थात् खेद या व्यसन, दु ख, सङ्कट को रोध कहा गया है ।

(४) सान्त्वन—

अथ 'सान्त्वन' [नामके प्रतिमुख-सधिके चतुर्थ अङ्कका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६६]—शान्ति वचन [का नाम] 'सान्त्वन' है ।

शुद्धकी मनाना [साम कहलाता है] जैसे रामाभ्युदयमे द्वितीय अङ्कमे—

“मारीच—यह खुदापद करनेका अवसर नहीं है । [मैं तो] स्पष्ट रूपसे बतलाए

देता हूँ कि—

जिस घोर [रामचन्द्र] ने स्त्री [सीता] और तपस्वियोंकी रक्षाका भार छोटे भाई [लक्ष्मण] को सौंपकर खर, दूदण और त्रिशिरा आदि वीरोंका अकेले ही वध कर डाला था । उसकी पत्नीके अपमान या मारनेके लिए निकला हुआ तुम्हारा चन्द्रहास नामक खड्ग भी कुण्ठित हो जायगा ।

रावण—अरे शत्रुके पक्षपाती नीच दुष्ट राक्षस अधिक क्या कहें—

[रामको मारनेकी बात तो जाने दे पहिले] तेरे ही कठोर कण्ठमे निकले हुए रुधिर-जलसे [तेरे द्वारा की गई] शत्रुकी स्तुतिसे उत्पन्न मेरा क्रोधानल शांत हो ले । देवताओंके हाथी [पिरावत] के गण्डस्थलके विदारणके कारण जिसमे मुक्ताफल लग गए हैं इस प्रकारकी [मेरी] यह तलवार, बहिन [शूर्पणखा] के अपमानके अरुह्य [रामचन्द्रके वध रूप कार्य] को वादको करेगी [अर्थात् पहिले तुम्हें मारीचको, जो शत्रु की स्तुति कर रहा है समाप्त कर लूँ तब फिर रामचन्द्रको मारनेका कार्य वादको कर लूँगा] ।

ऐसा कहकर [रावण मारीचके मारनेके लिए अपनी] तलवारको लौंचता है ।

प्रहस्त — [पादयोनिपत्य] प्रमीन्तु प्रसीदतु महाराज । नेदमनुरूप स्वामिन ।
देव ।

लोकत्रयत्तयोद्धत्तप्रकोपाप्रेमरम्य ते ।

ईदृशश्चन्द्रहासस्य भृत्येष्वनुचिन्त क्रम ॥

[पुन क्रमादाह] देव प्रमीन् प्रणयादतिप्रमोऽय न वामतया ।

इति मारीच प्रति क्रुद्धम्य रावणम्य प्रहस्तविहितोऽयमनुनय मान्त्वनम्
वञ्जमप्यत्र प्रमङ्गात् प्रयुक्तम् । “कुण्ठ मङ्गरदुर्मदस्य भवत म्याचन्द्रहामो ऽर्थास,
इत्यस्य प्रत्यक्षनिष्ठुरत्वात् ।

(५) अथ वर्णमङ्गात् —

[सूत्र ६७]—पात्रौघो वर्णसहृति ॥४८॥

प्रथक् स्थिताना पात्राणामौघ कार्यार्थं मीलनम् । वर्ण्यन्ते इति वर्णा,
तेषा नायक प्रतिनायक नायिका सहायादिपात्राणा सहृतिरेकप्रकरणम् । यथा रत्ना
वल्याम—

राजा—राजा सुमङ्गते । क्वामौ, क्वामौ [इत्यत्र आरभ्य]—

इस प्रकार यहाँ तक रावणके कोपका वरण किया है । इसके अगले भागमें प्रहस्त,
मारीचके प्रति रावणके इस कोपका शमन करनेका यत्न करते हुए कहता है—

प्रहस्त—[पंरोमि गिरकर] प्रसन्न हों महाराज, प्रसन्न हो । यह कार्य आपके अनुदप
नहीं है । देव ।

तीनों लोकका नाश करनेमें समय प्रकोपवालोमें अप्रगण्य । इस प्रकारका आपके
चन्द्रहास [तलवार] वा भृत्योंपर प्रहार उचित नहीं है ।

[उसके आगे फिर कहता है] देव ! प्रसन्न हों । प्रमके कारण ही यह [मर्षावाका]
अतिक्रमण [मारीचने] किया है विरोधी होकर नहीं ।

इस प्रकार मारीचके प्रति क्रुद्ध हुए रावणके प्रति प्रहस्तका अनुनय सार्वन [अङ्गका
उदाहरण] है । इसमें प्रमङ्गत [अगले अङ्ग] वञ्ज'का भी प्रयोग किया गया है । [प्रत्यक्ष
निष्ठुर वचनका प्रयोग वञ्ज कहलाता है । सा इस प्रसंगमें] पुच्छके दुरभिमानो तुम्हारी
चन्द्रहास [नामक] तलवार भी कुण्ठि हो जायगी इस [मारीचके वचन] के प्रत्यक्ष ही
निष्ठुर होनेसे [यह 'वञ्ज का भी उदाहरण है ।

(५) वर्णमङ्गात्—

प्रव वर्णसहृति' [नामक प्रतिमुखसधि व पञ्चम अङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६७]—[अनेक] पात्रोंका समुदाय [इकट्ठा हो जाना] वर्णसहृति [नाम अङ्ग
कहलाता] है ।

अलग-अलग स्थित पात्रों का औघ धर्यात् किंसा कायकेलिग एव साय सम्मिलित
[वर्णसहृति कहलाता है] । जिनका वरण किया जाय वे [पात्र] वरण हैं । उन 'वर्णों
धर्यात् नायक प्रतिनायक नायिका सहाय आदि पात्रोंका सहृति धर्यात् इकट्ठा होना [वर्ण-
सहृति कहलाता है] है । जैसे रत्नावलीमें—

राजा—सुसगने वह बहाँ है, बहाँ है । [यहाँसे लेकर]—

श्रीरेपा पाण्डुरप्यस्या. पारिजातस्य पल्लवः।

कुतोऽन्यथा स्रवत्येष म्वेदच्छद्मामृतद्रवम् ॥ इति यावत् ।

अत्र राज-सागरिका-विदूषक-सुसङ्गतानामेकत्र योजनम् ।

अन्ये तु वर्णानां ब्राह्मणादीनां यथासम्भवं द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वा एकत्र मीलनं वर्णसंहारमाचक्षते । यथा वीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

परिपदियमृषीणामेष वृद्धो युधाजित्

सह नृपतिभिरन्यैर्लोमपादश्च वृद्ध ।

अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः

प्रभुरपि जनकानामद्रहो याचकस्ते ॥ इति ।

एके तु वर्णितार्थतिरस्कारं वर्णसंहारमामनन्ति । उदाहरन्ति च यथा वेणी-संहारे ऋचुकिना रथकेतनपतने निवेदिते भानुमती—

“अंतरीयदु दाव एदं समत्यचंभणाणं वेयञ्मुणि-भंगलुग्घोसेण । इति”

[अन्तरीयतां तावदेतत् ममस्तब्राह्मणानां वेदध्वनिमगलोद्घोषेण । इति संस्कृतम्] ॥४८॥

यह [साक्षात्] लक्ष्मी है और इसका हाथ पारिजातका पल्लव है । अन्यथा [इससे] श्वेदके वहानेसे अमृतद्रव कैसे टपक रहा है ।

इस [सारे प्रसंग] में राजा, सागरिका, विदूषक तथा सुसंगता [आवि अनेक पात्रों] का एक साथ सम्मिलन हो गया है [अतः यह वर्णसंहति नामक अंगका उदाहरण है] ।

अन्य [व्याख्याकार] तो वर्णों अर्थात् ब्राह्मणादिका यथासम्भव दो-तीन या चार [वर्णों] के एक साथ इकट्ठे होनेको 'वर्णसंहति' कहते हैं । जैसे महावीरचरितके तृतीय अङ्कमें—

सीता-स्वयम्बरमें रामचन्द्रजीके द्वारा धनुष तोड़ दिए जानेके बाद परशुरामजीके आ जानेपर उनके साथ सघर्षका प्रसङ्ग चल रहा है । परशुरामजी रामचन्द्रपर अत्यन्त अप्रसन्न हैं और उनकी मार देनेका भय दिखला रहे हैं । उस समय अन्य सब लोग इकट्ठे होकर परशुरामजीको मनानेका यत्न कर रहे हैं । इसी प्रसङ्गमेंसे यह दलोक यहाँ उद्धृत किया गया है । उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अनेक वर्णोंके प्रयोजनवश एकत्र हो जानेसे यह वर्णसंहारका उदाहरण है । श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

यह ऋषियोका समुदाय, यह [भरतके मामा केकय देशके राजा] वृद्ध युधाजित्, और अन्य राजाओंके साथ ये झूठे लोमपाद तथा निरन्तर यज्ञ करने वाले एवं पुराने ब्रह्मवादी जनकोंके राजा [सीरध्वज] ये सब आपके अविरोधी होकर आपसे याचना कर रहे हैं [अतः अथकी वार आप रामचन्द्रको क्षमा कर दें] ।

अन्य लोग वर्णित अर्थके तिरस्कारको 'वर्णसंहार' मानते हैं । और उसके उदाहरण रूपमें वेणीसंहार [के द्वितीय अङ्क] में कञ्चुकीके द्वारा [दुर्योधनके] रथको ध्वजा के पतन [रूप अंगधुन] की सूचना मिलनेपर भानुमती आके निम्न वचनको उदाहरण रूपमें प्रस्तुत करते हैं—

भानुमती—इस [अंगधुन] को समस्त ब्राह्मणोंके [द्वारा किए जाने वाले] वेद-ध्वनि के घोष द्वारा शमन कर दो ॥४८॥

(६) अथ नर्म—

[सूत्र ६८]—क्रीडार्यै हसनं नर्म

यथा रत्नावल्याम्—

“विदूषकः—[कृणु दत्त्वा ससम्भ्रमं राजानं हस्ते गृहीत्वा] भो वयस्म ! पलायम्ह । एदस्मिं लकुचपायवे किं पि महाभूदं परिवसदि । यदि मे न पत्तियसि ता अग्गदो भविय मयं ययेव आयन्नेहि ।

[भो वयस्य ! पलायामहे । एतस्मिन् लकुचपादपे किमपि महाभूतं परिवसति । यदि मां न प्रत्येपि तदाप्रतो भूत्वा स्वयमेवाकर्ण्य । इति संस्कृतम्] ।

राजा—[आश्चर्यं] वयस्य सारिकेयम् । इति ।”

तथा—

“विदूषकः—भो मा पंडित्चगव्वमुव्वह्ह । एद देअह वक्कण्णइस्मं जा एसा आलिद्धिदा, सा कएण्णगा दंसणीया य ।

[भो मा पाण्डित्यगर्वमुद्वह्ह । इद देवाय व्याख्यास्यामि या एपाऽऽलिखिता मा कन्यका दर्शनीया च । इति संस्कृतम्] ।

राजा—वयस्य यद्येवं अचहितै श्रोतव्यम् । अस्त्यवकाशो न कुतूहलस्य ।’

तथा—

“सुसङ्गता—सहि जस्स कए सुवं आगदा सो अयं पुरदो चिट्ठदि ।

[मखि यस्य कृते त्वमागता सोऽयं पुरतस्तिष्ठति । इति संस्कृतम्] ।

(६) नर्म—

इम प्रकार यहां तक प्रतिमुख-सन्धिके पांच अङ्गोका वर्णन हो गया । अब आगे प्रतिमुख-सन्धिके छठे अङ्ग ‘नर्म’ का वर्णन प्रारम्भ करते हैं ।

अब ‘नर्म’ [नामक छठे अंगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६८]—मनोरजन [क्रीडार्यै] केलिए हास्य करना ‘नर्म’ [कहलाता] है ।

जैसे रत्नावलीमें—

विदूषक—[कान लगाकर सुनते हुए और भयके मारे राजाका हाथ पकडकर विदूषक राजासे कहता है कि—] हे मित्र, चलो यहांसे भाग चलें क्योंकि इस कटहलके पेडपर कोई भयङ्कर महाभूत रहता है । यदि तुम मेरे ऊपर विश्वास नहीं करते हो तो अपने-आप आगे बढ़कर सुन लो [बिलो इसपर भूत बोल रहा है कि नहीं] ।

राजा—[सुनकर] अरे मित्र ! यह तो मैंना [बोल रही] [भूत कहीं] है ।

यहां विदूषकका बचन मनोरजन मात्रके लिए है इसलिए यह ‘नर्म’ या हास्य मजाक का उदाहरण है । रत्नावलीसे इसी प्रकारका एक और उदाहरण आगे देते हैं—

विदूषक—अरे मित्र, पाण्डित्यका गर्व मत करो । मैं तो इसकी ऐसी व्याख्या करता हूँ कि यह जो चित्रमें अङ्कित है वह कन्या है और दर्शनीया है ।

राजा—यदि ऐसी बात है तो तनिक सावधान होकर सुनना चाहिए [कि यह क्या कहती है । क्योंकि इस कन्याकेलिए] हमें उत्सुकता होना स्वाभाविक है ।

सुसङ्गता—सखि ! जिसके लिए तुम आई हो वह सामने ही उपस्थित है ।

सागरिका—[सासूयम्] सुसंगदे ! कस्स कए अहं आगदा ?

[सुसंगते ! कस्य कृते अहमागता ? इति संस्कृतम्] ।

सुसंगता—अयि अपसकिदे ! एं चित्तफलहयस्स, ता गिएइ एदं ।” इति ।

[अयि आत्मशङ्किते ! ननु चित्रफलकस्य । तद् गृह्णायैनम् । इति संस्कृतम्] ।

एता विद्रूपरु-सुमङ्गतयो राज सागरिकाक्रीडार्थं हासोक्तयः । अनेकशोऽप्ये-
कमेवाङ्गं निबद्धञ्चत इति त्रिधोदाहृतम् ।

यथा वा नलविलासे—

“विद्रूपरुः—[लम्बस्तनी विलोक्य सभयकम्पम्] भो रायं अह पदाड ट्टाणा
उट्टिसि । [भो राजन ! अहमेतस्मान् स्थानादुत्थाभ्यामि । इति संस्कृतम्] ।

• राजा—किमिति ।

विद्रूपरुः—जइ एसा थूलमहिषी कडिअड नन्चावेती ममोवरि पडेदि, ता
धुव मं मारेदि ॥

[यद्येषा स्थूलमहिषी कटितट नर्तयन्ती ममोपरि पतेत्, तथा ध्रुव मां
मारयेत् । इति संस्कृतम्] ।”

तथा—

“राजा—लम्बस्तानि इदमासनमास्यताम् ।

विद्रूपरुः—भोदी लबत्थणीए दुब्बल खु एद आसण । ता तुमए सावहाणाए
उवविसिदव्व । [भवति ! लम्बस्तन्यै दुर्बल एतत्वेतदासनम् । तत् त्वया सावधान-
योपवेष्टव्यम् । इति संस्कृतम्] ।”

सागरिका—[क्रोध पूर्वक] सुसङ्गते ! मे किसके लिए आई हूँ ।

सुसङ्गता—धरे अपने प्राप शङ्का कर लेने वाली, चित्रफलके लिए [आई हो न] इस
[चित्र] को पकडो [यह तुम्हारे सामने ही रखा है] ।”

ये सब विद्रूपरु तथा सुसङ्गताकी [क्रमशः] राजा तथा सागरिकाके मनोरञ्जनके लिए
हास्योक्तियाँ हैं [अतः ‘नर्भं’ नामक’ शङ्कके उदाहरण हैं] एक ही शङ्कका अनेक बार भी
प्रयोग किया जा सकता है । इसके लिए तीन उदाहरण दिए हैं ।

अथवा जैसे नभयिलासमे—

‘विद्रूपरु—[लम्बस्तनीको देखकर भयसे काँपते हुए] हे राजन् ! मे तो इस स्थानसे
उठता हूँ ।

राजा—क्यों किसलिए [उठते हो] ?

विद्रूपरु—यदि यह मोटी भंस कमर नवाती हुई मेरे ऊपर गिर पड़ी तो मुझको मार
ही डालेगी ।”

तथा—

“राजा—हे लम्बस्तनि ! इस आसन [कुर्सी] पर बंटो ।

विद्रूपरु—भगवति ! लम्बस्तनीके लिए यह आसन कुर्बन है इसलिये तुम इनपर साव-
धान होकर बंटना ।

ये सब हास्योक्तियाँ नर्भं नामक शङ्कके उदाहरण रूपसे प्रस्तुत की गई हैं ।

तथा—

“विदूषक — भोदि ! किं अइदुच्चला सि ।

[भवति ! किमतिदुर्वलासि । इति संस्कृतम्] ।

लम्बस्तनी—मगपरिस्समेण । [मार्गपरिश्रमेण । इति संस्कृतम्] ।

विदूषक — भो कलहसा कित्तिएहि गोणेहिं मुदेहिं एसा इथ सपत्ता ?

[भो कलहस ! कियद्धि गोभि मृत्तैरेपात्र सम्प्राप्ता । इति संस्कृतम्] ।

[कलहसो विद्वस्यावोमुपस्तिष्ठति ॥ ” इति ॥

(७) अथ नर्मद्युति —

[सूत्र ६६]—दोषावृत्तौ तु तद्युतिः ।

दोषावृत्त्ये दोषाच्छादनाय यत् पुनर्हसन हास्यद्वेतुर्वाक्य सा तस्य नर्मणो
द्योतन नर्मद्युति । यथा रत्नावल्याम्—

“विदूषक — भो ! अज्ज वि एमा चउल्लवेई विय वंभणो गियाउ पडिउ पयत्ता ।

[भो ! अगाप्येपा चतुर्वेदीय ब्राह्मण ऋच पठितु प्रवृत्ता । टात संस्कृतम्] ।

राजा—वयस्य किमप्यन्यचेतसा मया नापधारितम् । तत् किमनयोक्तम् ?

विदूषक — भो ! ण्ण एदाण पडिद—

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गरुई परव्वसो आप्पा ।

पियमहि । विसम पिम्म मरण मरण नु वरमेक्कम् ॥

[भो ! इदमेतया पठितम्—

[दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।

प्रियसति । विपम प्रेम मरण शरण नु वरमेक्कम् ॥ इति संस्कृतम्] ।

तथा—

‘ विदूषक—भगवति ! [कहिए] आप दुर्बल कैसे हो रही हैं ?

लम्बस्तानी—मार्गकी थकावटमे ।

विदूषक—अरे कलहस [रास्तेमे] कितनी गोएँ भार कर ये यहाँ तक आई हैं ।

[कलहस हसते हुए मुख नीचा कर लेता है ।]”

यह सब हास्य परक वचन हैं । इसलिए यह भी नर्मका उदाहरण है ।

(७) नर्मद्युति—

अथ ‘नर्मद्युति’ [नामक प्रतिमुख सन्धिके सप्तम अगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ६६]—दोषके द्विपानेके लिए [हास्य वचनोंका प्रयोग होने पर तद्युति अर्थात्]
नर्मद्युति [नामक अग माना जाता] है । जैसे रत्नावली मे—

विदूषक—अरे यह [सारिका] तो अब भी चतुर्वेदी ब्राह्मणके समान ऋचाओंका पाठ
करे जा रही है ।

राजा—हे मित्र मेरा ध्यान दूसरी ओर था, मैं समझा नहीं कि इसने क्या कहा ।

विदूषक—अरे इसने यह कहा है कि—

दुर्लभ जनके साथ प्रेम हो गया है भारी लज्जा हो रही है किन्तु आत्मा भी परवश
है । प्रिय सति ! प्रेम बड़ा कठिन है अब तो केवल मरण ही एक शरण है ।

राजा—भो महाराजाह्वय ! कोऽन्य एवं ऋचामभिज्ञः ?

अत्र मीख्यदोषं द्यादयितुं यद् विदूषकेणोक्तं तद् राज्ञो हास्यहेतुत्वान्नर्मद्युतिः ।

अन्ये तु नर्मजां धृतिं नर्मद्युतिमाहुः । यथा रत्नावल्याम्—

सुसंगता—सहि ! अदक्खिन्ना दाणिं सि तुवं जा एवं भट्टिणो इत्थावलंबिया वि कोवं न मुंचमि ।

[मखि ! अदाक्षिण्या इदानीं त्वमसि या एवं भर्तुर्हस्तावलम्बितापि कोप न मुञ्चसि । इति संस्कृतम्] ।

सागरिका—[सभ्रूमंगमीपद्विद्वस्य] सुसंगदे ! इयाणि पि न विरमसि ।" इति ।

[सुसंगते ! इदानीमपि न विरमसि । इति संस्कृतम्] ।

एते च नर्म-नर्मद्युती अङ्गे कामप्रधानेष्वेव रूपकेषु निबन्धमर्हतः । कैशिकी-प्राधान्येन तेषां हास्योचितत्वादिति ।

(८) अथ तापः—

[सूत्र ७०]—अपायदर्शनम् तापः

यथा पार्थविजये—

“कञ्चुकी—भो भो लोकपालाः परित्रायध्वम् ।

राजा—हे महाराजाह्वय [तुमको छोडकर] और कौन इन ऋचाओंको समझ सकता है ।

यहाँ [अपनी] मूर्खताके दोषको छिपानेकेलिए विदूषकने जो-कुछ कहा है वह राजाके हास्यका हेतु होता है । [इसलिए नर्मद्युति अंगका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो नर्म [नजाक] से उत्पन्न धृति [आनन्द] को नर्मद्युति कहते हैं । जैसे रत्नावलीमें—

सुसंगता—सहि ! तुम बड़ी दाक्षिण्य-रहित हो जो स्यामीके इस प्रकार हाथ पकडने पर भी क्रोध नहीं छोडतो हो ।

सागरिका—[ओहैं डेडी करके तनिक हँसकर] सुसंगते ! तू अब भी नहीं मानती है ।

यह नर्मद्युतिका उदाहरण है । क्योंकि इसमें सुसंगताके हास्यवचनसे सागरिकाको एक प्रकारके विशेष आनन्द या धैर्यकी प्राप्ति हो रही है । इसलिए जो लोग नर्मजा धृतिवो 'नर्मद्युति' कहते हैं उनकी दृष्टिसे यह नर्मद्युतिका उदाहरण होता है ।

ये नर्म तथा नर्मद्युति नामक दोनों अंग काम-प्रधान रूपकोंमें ही निबद्ध किए जा सकते हैं । क्योंकि उन [काम-प्रधान रूपकों] के कैशिकी-प्रधान होनेसे उनमें हास्य उचित हो सकता है ।

(८) ताप—

अथ 'ताप' [नामक प्रतिमुखसंधिके अष्टम अंगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ७०]—किसी इष्टजनके [अपाय अर्थात्] विनाशका दर्शन [तापजनक होनेसे] 'ताप' [कहलाता] है । जैसे पार्थविजयमें—

कञ्चुकी—हे हे लोकपालो ! रक्षा करो ।

एषा बधू भरतराजकुलस्य साध्वी,
दुर्योधनस्य महिषी प्रियसङ्गरस्य ।
चिस्मृत्य पाण्डु-धृतराष्ट्र पितामहादीन्,
गन्धर्ववीरपशुभि परिभूयते स्म ॥

युधिष्ठिर — [श्रुत्वा दुर्योधनान्त पुरे महतीमपायशामाविबुध्व-नाह]
वत्स ! स्वगात्रपरिभवावपहारनिष्ठुर शब्द । अद्याप्यभ्रान्त (यामि । क कोऽत्र,
चापम । [इति चापारोपणमभिनयन सम्भ्रमादुत्तिष्ठति] इति ।

कैचित्तु स्थानेऽस्य अनुनयान्त्यो ब्रह्म-निग्रहरूप 'शमनं' पठन्ति । यथा
पार्थविजये—

“भीम — आ क एष मयि स्थिते भरतकुल परिभवति ? अत पर न मर्ष-
यामि” इति ।

अत्र 'अयि वत्स ! स्वगोत्र' इत्यादि पूर्वदर्शितेन युधिष्ठिरस्मरभेण भीम
स्यानुनयप्रहरणम् ।

अरतिनिग्रहो यथा वेणीसंहारे—

यह भारतके राजवशकी साध्वी बधू और युद्धप्रेमी दुर्योधनकी रानी पाण्डु धृतराष्ट्र
और पितामह [भीष्म] आदिको भुलाकर [अर्थात् उनको शक्ति आदिकी ओर ध्यान न देकर]
दुष्ट गन्धर्व बीरो द्वारा अपमानित की जा रही है ।

युधिष्ठिर—[सुनकर और दुर्योधनके अन्त पुरमे किसी भारी विनाशकी शका
समभवकर कहते हैं कि] हे वत्स [भीम] ! अपने वशके अपमानका कठोर अप्रिय शब्द [सुनाई
दे रहा] है । तुम अब तक स्थिर बंठे हुए हो । कौन, यहाँ कौन है ? धनुष धनुष [जल्दी धनुष
साओ] इस प्रकार [कहते हुए और] धनुष चढ़ानेका अभिनय करते हुए जल्दीसे उठते हैं ।

इसम दुर्योधनके अत पुरम होनेवाले विनाशको देखकर युधिष्ठिरकी व्यग्रताका वरण
दिया गया है । अत यह ताप नामक अज्ञान उदाहरण है ।

कुछ लोग इस ['ताप नामक अग] के स्थानपर अनुनयके ग्रहण और अरतिके निग्रह
रूप शमन को [प्रतिमुख सधिके अर्थात्] पढ़ते हैं ।

इसका अभिप्राय यह है कि वे लोग 'ताप को प्रतिमुखसधिका अज्ञान मानकर शमन
को उसका अज्ञान मानते हैं । और इस शमनकी व्याख्या दो प्रकारकी करत है । एक अनुनयका
ग्रहण, और दूसरी अरतिका निग्रह, इन दोनोंको वे 'शमन' कहते हैं ।

जैसे पार्थविजयमे [अनुनयग्रहणका उदाहरण]—

“भीम—अरे यह कौन है जो मेरे रहते भरतकुलका अपमान करना चाहता है ।
इससे अधिक मैं सहन नहीं करूँगा ।

इस [उदाहरण] मे 'हे वत्स ! अपने गोत्रके पराभवका सा अप्रिय शब्द सुनाई दे
रहा है" इत्यादि पूर्वदर्शित [वाचयम दियलाए हुए] युधिष्ठिरके क्रोधको देखकर भीम
[युधिष्ठिरके] अनुनयका ग्रहण करते हैं [इसलिए यह अनुनय ग्रहण रूप शमनके प्रथम भेदका
उदाहरण है] ।

अरति निग्रह [नामक शमनके दूसरे भेदका उदाहरण] जैसे वेणीसंहारमे—

“सखी—जइ एव ता कहेहिं जेण म्हे पडिटावयतीउ पससाए देवदाण सकित्तणेण दुब्बादिपरिगहेण पडिहणिससामो !”

[यद्येव तदा कथय येन वय प्रतिष्ठापयन्त्य. प्रशसया देवताना सकीर्तनेन दूर्वादिपरिग्रहेण प्रतिहनिष्याम. इति सकृतम्] ।

पुन. स्वावसरे

“भानुमती—[अर्घपात्र गृहीत्वा सूर्याभिमुख स्थित्वा] भयव अम्बरमहा-
मरेऋसहस्रवत्त ! दिसावहुमुपमडण कु कुमविसेसय ! सयमभुवणरयणपडव ! उज
इह सिधिणयदसरो ज किचि अच्चाहिदं, तं भयवदो पणामेण सभादुणो अय्यउत्तस
कुमलपरिणाम भोटु ति ।”

[भगवन् ! अम्बरमहासरैकसहस्रपत्र ! दिग्बधूमुग्मण्डलकु कुम विशेषक ।
सरुनभुवतरत्नप्रदीप ! अद्येह स्वप्नदर्शने यत् किञ्चिदस्याहित, तद् भगवत्-
प्रणामेन मभ्रातुरार्यपुत्रस्य कुशलपरिणाम भवतु ।” इति सकृतम्] ।

अत्र दु स्वप्नोद्भूताया अरतिनिग्रह । इति ।

(६) अथ पुष्पम्—

[सूत्र ७१]—पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ४६ ॥

पूर्वं स्वयमन्येन वा केनचित् प्रयुक्तं वचनमपेक्ष्य यद् विशेषयुक्तं वचनं प्रयु-
ज्यते तेन अन्येन वा, तत् पूर्वस्माद्विशेषवत् । तच्च वाक्यं पुष्पमिव पुष्पम् । पेश-
रचनाया पुष्पमिव पूर्ववाक्यालंकारकारित्वात् । यथा ‘विलसद्दुर्योधने’—

“सखी—यदि ऐसी बात है तो कहो, जिससे हम लोग प्रतिष्ठापना, प्रशसा, देवताओंके
सकीर्तन तथा दूर्वादिके ग्रहणके द्वारा [उस दु स्वप्न] का प्रतिविधान करें ।

बेलीमहारके द्वितीय अङ्कमें भानुमतीके मुखसे दु स्वप्नकी बात सुनकर उसका सखी
उस अरतिके शमनकी चर्चा कर रही है । अत यह अरति निग्रहका उदाहरण है । आगे स्वय
भानुमती द्वारा किए जानेवाले अरति-निग्रहका उल्लेख करते हैं ।

फिर अपना अवसर आनेपर—

“भानुमती—[अर्घपात्र लेकर और सूर्यके सामने पडे होकर] हे भगवन् ! आकाश रूप
महासरोवरके अद्वितीय कमल ! दिग्बधूके मुख-मण्डलके कुकुम-चिन्दु ! और समस्त भुवनेके
[प्रकाशित करनेवाले] रत्नदीप ! आज स्वप्न-दर्शनमें जो कुछ महाभय [अत्याहित महाभीति]
उपस्थित हुआ वह आपको प्रणाम करनेसे, भाइयो सहित आर्यपुत्रके लिए कुशल परिणामका
जनक हो ।

इसमें दु स्वप्नसे उत्पन्न अरतिका निग्रह [स्वय भानुमती कर रही है । अत शमनका
उदाहरण है] ।

(६) पुष्पम्—

अथ ‘पुष्प’ [नामक प्रतिमुखसधिके नवम अगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ७१]—विशेषतासे युक्त वाक्य ‘पुष्प’ [नामक अग होता है]—

पहिले स्वय ही, अथवा किसी दूसरेके द्वारा कहे गए वाक्यकी अपेक्षासे जो विशेषता-
युक्त वचन [वाक्य] उसीके द्वारा अथवा अन्य [वक्ता] के द्वारा प्रयुक्त किया जाता है । पूर्व

“भीष्म.—

एतन् ते हृदयं गृशामि यदि वा साक्षी तवैवात्मजः,
मम्प्रत्येव तु गोमहे यदभवत् तन् तावदात्रर्यताम् ।
ए० पूर्वमुदायुधै म बहुभित्प्रस्ततोऽनन्तरं,
यावन्तो वयमाह्वयप्रणयिनस्तावन्त एवाजुनाः ।”

अत्रोत्तरार्धे विशेषवद्वाक्यम् ।

यथा वा मत्स्यहरिश्चन्द्रे—

“वसुभूतिः—[मरोपं राजानं प्रति]—

न नाम स्यु स्पर्ण-चित्ति-सुत-रत्नलाणि यतिना,
तदस्मै यद्वत् तद्विद् निरिखलं भग्मनि हुतम् ।
विहाय व्यामोहं विमृश विमृशाशापि नृपते !
तपोऽथाजन्छन्नं किमपि नियतं श्रेयसमिदम् ॥

कुलपति—[सोपहामम्] अरे मुग्ध ! सचिवापमद् ! चिराद् यथार्थमभिहित-
वानसि । दुःखं तव करकलिनम्बर्गापवर्गशर्मणो मर्त्यापदेशेन देवतान्येव मुनयः ।”
वाक्यकी अपेक्षा विशेषता युक्त यह वाक्य पुष्पके समान [होनेसे] ‘पुष्प’ कहलाता है । पुष्प
जिम प्रकार बेझरचनाका अलङ्कार होता है इसी प्रकार [विशेषवत् उत्तर वाक्य] पूर्व-वाक्य
का शोभा-घायक होता है । जैसे ‘विलसदुयोषन’ में—

“भीष्म [दुर्योधनसे कह रहे हैं]—

यह मैं तुम्हारे हृदयका स्पर्श करके [तुम्हारी शपथ खाकर कह रहा हूँ] अथवा
तुम्हारा ही पुत्र इसका साक्षी हो सकता है । कि अभी गोघोंको पकड़ते समय जो-कुछ हुआ
उसको पहिले मुन लो । पहिले [युद्धके आरम्भ होते समय] शस्त्र उठाए हुए [हम] बहूतसे
सोपाने उम अकेले [अर्जुन] को देखा था और उसके बाद [जब युद्धमें गर्मी आई तो] हम
सोपाने जितने ही [उसके साथ] युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले थे [उनमेंसे प्रदेवके साथ युद्ध
करनेके लिए प्राप्त] उतने ही अर्जुन दिखलाई देते थे ।”

इसमें [सलोचना] उत्तरार्द्ध [पूर्वाद्ध] का विशेषक होनेसे] विशेषवत् है ।

अथवा जैसे मत्स्यहरिश्चन्द्रमें—

“वसुभूति [शोधमें आकर राजाके प्रति कहते हैं]—

मन्यामियोके पास सोना, शीपयो, पुत्र, वनप्रति नहीं होने चाहिए इसलिये आपने इस
[कुलपति साथ] को जो कुछ [अपना राज्य और स्वर्ण आदि] दिया है वह सब भगममें दानो
आहुतिके समान स्वयं है । इसलिये [मेरी प्रार्थना है कि इस] व्यामोहको तोड़कर [कि यह
कोई महात्मा है] हे राजन् ! आप सब भी विचार कीजिए [इसके अन्तरमें मत पहिए] यह
तो तपस्योके वेपथे दिया हुआ निःशय ही कोई देयता है [जो आपकी परोशा सेनेकेलिए
आपका हुआ प्रतीत होता है] ।

कुलपति—[उपहास करते हुए] अरे आषाम ! नीम मन्त्री ! बहुत देर बाद मुने टीक
बान बगो है । दुल्कर तपस्यो हाथके द्वारा स्वर्ण और धनवर्ग सुखकी प्राप्ति करनेवाले मुनिपरा
[सचपुत्र] देवता ही होने हैं ।

अत्र वसुभूतिवाक्यादुत्तरवाक्यं समर्थकत्वेन विशेषवदिति ॥ ४६ ॥

(१०) अथ प्रगमनम्—

[सूत्र ७२]—प्रगमः प्रतिवाक्-श्रेणिः

प्रश्नप्रतिपत्तिनी वाक् प्रतिवाक् । तस्याः श्रेणिः । अपरर्पतो द्वे प्रतिवचने,
उत्कर्षतो बहून्यपि । यथा वेणीसंहारे—

“भानुमती—अग्यउत्त ! अदिमत्तं मे मया वाधात् । ता अणुमन्नेदु मं
अज्जउत्तो । [आर्यपुत्र ! अतिमात्रं मां शंका वाधते । तदनुमन्यतामामार्यपुत्रं ।
इति सभ्रुकृतम्]

राजा—अयि देवि !

किं नो व्याप्तदिशां प्रकम्पितमुवामक्षौहिणीनां फल,
किं द्रोणेन किमंगराजविशिखैरेवं यदि क्लाम्यास ।

भीरु ! भ्रातृशतस्य मे भुजवनच्छायासुखापाश्रिता,
त्वं दुर्योधनकेसरीन्द्रगृहिणी शंकास्पदं किं तव ॥

इसमें वसुभूतिके वाक्यके बादका [कुलपतिका] वाक्य [पूर्व वाक्यके अर्थका] समर्थक
होनेसे 'विशेषवत्' है [इसलिए यह भी 'पुष्प' नामक श्रंगका उदाहरण है] ।

पहिले उदाहरणमें पूर्व वाक्य तथा उत्तर वाक्य दोनों बचता भीष्म थे । इसमें दोनों
के बचता बलग बलग है यह भेद है ।

(१०) प्रगमनम्—

अब 'प्रगमन' [नामक प्रतिमुख सन्धि के दशम अंगका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ७२]—प्रश्नोत्तर परम्परा [का नाम] 'प्रगम' है ।

प्रश्नकी विरोधिनी [अर्थात् प्रश्नको समाप्त करने वाली उत्तर रूप] वाणी 'प्रतिवाक्'
[कहलाती] है । उसकी श्रेणी [अर्थात् परम्परा प्रतिवाक्-श्रेणि] हुई । उसीको प्रगमन अङ्ग
के नामसे कहते हैं । उस परम्परामें कम-से-कम दो प्रतिवचन हों । अधिक तो बहुत भी हो
सकते हैं । [उत्तरका उदाहरण] जैसे वेणीसंहारमें—

“भानुमती—आर्यपुत्र ! [स्वप्न दर्शनके कारण] मुझे [अनिष्टकी] शंका बहुत सता
रही है । इसलिए आप मुझे [अतोपवृत्तादि द्वारर उरु अन्त्यके प्रतिविश्रम करनेके लिए]
अनुमति प्रदान करें ।

राजा—अयि देवि !

[यदि तनिकसे अशुभ स्वप्नके डील जानेसे तुम इस प्रकार डर जाती हो तो फिर]
चारों दिशाओंमें ध्याप्त, और पृथिवीको कम्पित कर सकने वाली हमारी अक्षौहिणी सेनाओं
का क्या फल है ? यदि तुम इस प्रकार डुली हो रही हो तो [हमारे महारथी आचार्य] द्रोण
[के रहने] से क्या लाभ हुआ ? और अंगराज [वश] के [शक्तिशाली] बालोका क्या उप-
योग हुआ ? [अर्थात् इन लोगोके रहते हमारा कोई किसी प्रकारका भी अनिष्ट सम्भव नहीं
है इसलिए तुमको घबडाने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है] हे भीरु ! तुम मेरे सौ भाइयों
के भुज-समूहकी छायामें बैठे हुई दुर्योधन रूप भृगराजकी पत्नी हो, तुम्हारे लिए डरनेका क्या
कारण हो सकता है । [इसलिए तुम बिल्कुल मत डरो । हमारा कोई अनिष्ट नहीं होगा] ।

भानुमती—अग्याउत्त ! न हु मे किंचि संका तुम्हेसु सन्निहितेसु । इति ।

[आर्यपुत्र ! न हि मे काचिच्छंका युष्मासु सन्निहितेषु । इति संस्कृतम्]

यथा वा नलविलासे तृतीयेऽङ्के—

“दमयन्ती—[भुजमवलम्बिते राजनि क्रमादाह—] जई एवं मुंच मे पाणि ।

[यद्येवं मुंच मे पाणिम् । इति संस्कृतम्] ।

राजा—कथमपराधकारी मुच्यते ?

दमयन्ती—किं एदिण्ण अवरद्धं ।

[किमेतेनापराद्धम् । इति संस्कृतम्] ।

राजा—एतेन मत्प्रतिकृतिमालिख्य अहमियति विरहानले पातितः ।

दमयन्ती—[स्मिन्त्वा] जड एवं ता अहं पि ते पाणि गह्रिस्सं । तव पाणि-

लिहिदेन पडेण अहं पि एतावत्थशरीरा जादा । इति

[यदि एवं तदाहमपि ते पाणि प्रक्षीप्ये । तव पाणिलिखितेन पटन अहमेत-

दवत्थशरीरा जाता । इति संस्कृतम्] ।

(११) अथ वञ्चम्—

[सूत्र ७३]—वञ्चं प्रत्यक्षकर्कशम् ।

यन्निष्ठुरत्थान् प्रत्यक्षरुत्त वाक्यं यच्च पूर्वप्रयुक्तभ्यान्वयावयवस्य अनुष्ठानस्य वा प्रध्वसकं तद् वञ्चमिव वञ्चम् । यथा वेलीमंहारे—

भानुमती—हे आर्यपुत्र [सचमुच ही] आपके समीप रहने पर मेरे लिए कोई संका [का स्थान] नहीं है ।”

इसमें दुर्योधन तथा भानुमतीके प्रदोषरके रूपमें प्रतिवाक्-श्रेणि दिखलाई गई है । इसलिए यह ‘प्रगम’ नामक अङ्गका उदाहरण है ।

अथवा जैसे नलविलासेमें तृतीय अङ्कमें—

“दमयन्ती—यदि ऐसी बात है तो मेरा हाथ छोड़ दो ।

राजा—अपराधीको कैसे छोड़ा जा सकता है ?

दमयन्ती—इसने क्या अपराध किया है ?

राजा—इसने मेरी तरबोर बनाकर मुझे इस प्रकारके विरहानलमें डाल दिया है ।

दमयन्ती—तो फिर मैं भी तुम्हारा हाथ पकड़ूंगी । तुम्हारे हाथके द्वारा तिले गए पटके कारण मेरे शरीरकी यह हालत हो गई है ।

इसमें नल दमयन्तीके उत्तर-प्रयुक्तकी परम्परा होनेसे यह भी ‘प्रगम’ अङ्गका उदाहरण है ।

(११) ‘वञ्च’

अथ ‘वञ्च’ [नामक प्रतिमुच सांप्रदये ग्यारहवें अङ्कका लक्षण प्रादि करते हैं]—

प्रत्यक्ष रूपमें बर्जसं [प्रतीत होने वाला वचन] ‘वञ्च’ [बहसनाता] है ।

जो वाक्य बटोर होनेके कारण स्पष्ट रूपमें ही बस है और पूर्व बहे हुए वाक्य अथवा [पूर्व किए हुए] वाक्यका विनाश कर देता है वह वञ्चके समान [बटोर और वाक्य विच्छेदक] होनेसे ‘वञ्च’ [बहसनाता] है । जैसे वेलीमंहारमें—

“अश्वत्थामा—[कर्णमुद्दिश्य] रे रे राधागर्भभारभूत सूतापसद !

कथंमपि न निपिद्धो दुःखिना भीरुणा वा,

द्रुपदतनयपाणिस्तेन पित्रा ममाद्य ।

तव भुजबलदर्पाध्मायमानस्य वामः,

शिरसि चरण एव न्यस्यते वारयैनम् ॥”

यथा वा कृत्यारावणे द्वितीयेऽङ्के—

“रावण—विदेहराजपुत्रि !

विक्रमेण मया लोकाः, त्वया रूपेण निजिताः ।

सन्नह्यचारिणमतो भजमानं भजस्व माम् ॥

सीता—हृदास ! अप्पा दाव तए न निजिजदो, का गणणा लोएसु ।”

[हृताश आत्मा तावत् त्वया न निजितः, का गणना लोकेषु । इति संस्कृतम्]

अनेन प्रत्यक्षकर्कशेन वाक्येन रावणवचनं प्रध्वस्तम् ।

यथा वा रघुविलासे—

“रामः—[विराधवेशं रावणं प्रति साक्षेपम्]—

युद्धश्राद्धमयाः सकुट्टिमतटीशाणानिशताश्रयाः,

देवीमप्यनलम्भविष्णव इमे त्रातुं पृष्टका यदि ।

मथनन्तः पृथुपुंखपत्रपवनैर्धम्मिहलमालयश्रियं

निभिद्यः कथमिद्धकोकशघनां पौलस्त्यक्वण्टाटवीम् ॥”

“अश्वत्थामा—[कर्णको लक्ष्य करके] अरे राधाके गर्भके भारभूत नीच सूत !

[यह ठीक है कि] दु खी अश्ववा [तेरे कहनेके अनुसार] भीरु मेरे उन पिना [द्रोणाचार्य] ने किसी कारणसे आज द्रुपदतनय [धृष्टद्युम्न] के [अपना शिरको काटनेके लिए उद्यत] हाथको नहीं रोका, [उसे जाने दे] पर ले भुजबलके दर्पसे फूलने वाले तेरे सिरपर यह मैं अपना धाया पंर रखता हूँ [तेरे भीतर सामर्थ्य हो तो] इसको रोक [के दिखला] ।

यह वज्रके समान प्रत्यक्ष-कर्कश वचन ‘वज्र’ नामक अङ्गका उदाहरण है ।

अश्ववा जैसे ‘कृत्यारावण’ के द्वितीय अङ्कमें—

रावण—हे जानकि !

मैंने अपने पराक्रमसे, और तुमने अपने रूपसे लोकोको जीत लिया है [इसलिए हम दोनो सहाय्यायी है] इसलिए अपने चाहने वाले अपने सन्नह्यचारी [सहाय्यायी मुझ रावण] को [तुम भी] प्रेम करो ।

सीता—अरे नीच ! तूने तो अपने [आत्मा] भापको ही नहीं जीत पाया है, लोको [के जीतने] की तो बात ही कहाँ है ?

इत प्रत्यक्ष-कर्कश वाक्यसे रावणका वचन [प्रध्वस्त] कट जाता है । [इसलिए यह ‘वज्र’ नामक अङ्गके दूसरे भेदका उदाहरण हुआ ।]

अश्ववा जैसे रघुविलासमे [कार्य-विध्वंस रूप वज्रके तृतीय भेदका उदाहरण]—

[विराधवेद्य-धारी रावणके प्रति राम कहते हैं]—

युद्धको अद्भासे भरे हुए पक्के फर्से वाली पहाडकी तटी रूप शरण [पर घिसने]

यथा वाग्नेव—

वैनतेय—[रामं प्रति] अजितेन्द्रिय. गन्तुं दुरात्मा रावणो न क्षाम्यति कलितमौभाग्यमाराणां परदाराणाम् । तद्वियमार्थां वैदेहीं क्वचिदपि गोपयितुमुचिता ।

सङ्गमण—अजितेन्द्रिय गन्तुं दुरात्मा सूर्यहासो न क्षाम्यति स्थापीयमां पुंसाम् । तद्वियमार्थां वैदेहीं न क्वचिदपि गोपयितुमुचिता ।" इति ।

अनेन वैनतेयवचनं प्रध्वस्तमिति ।

(१०) अथोपन्यासः—

[सूत्र ७४]—उपपत्तिरूपन्यासः—

कंचिदर्थं विद्यातुं या उपपत्तिर्युक्ति म उपन्यास । यथा कृत्यारादण्—

"रावण—मीते आरुह्यतां पुष्पकम् ।

मीता—हताम ! अवि मरिस्स न पुण् आरुह्मिम् ।

[हताश ! अपि मरिष्यामि न पुनरारोक्ष्यामि । इति मस्कृतम्] ।

रावण—आ ! किं बहुना यावत् करेण दृढपीडितमुष्टियन्त्रमुत्प्राय चन्द्र-किरणश्रुतिचन्द्रहासेन त्वत्पुरो बटुशिरःकमलोपहार आरभ्यते । समधिगोह शिवाय तावत् ।

से तो प्र धार वाले यदि मेरे से बाण देवी [सीता] को रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हो सकें तो अपने दीर्घ पुंख पत्रोंकी हवासे [रावणके] केशोंकी शोभा को नष्ट करते हुए अत्यन्त बठोर एवं सपन रावणके शिरोंके भुण्डको ये बाण बँसे पाटेंगे ।

अथवर जैसे यहाँ [रघुविलासमें] ही [इसका एक शीर उदाहरण]—[अजितेन्द्रिय]

"वैनतेय—[रामके प्रति] दुष्ट रावण यथा वामी है वह दूसरोंकी सुन्दर स्त्रियोंको सहन नहीं करता है । इसलिए इन आर्या वंदेहीको कहीं दिपाकर रखना ही उचित है ।

सङ्गमण—[तो फिर हमारा या चन्द्रहास नहीं अपितु सूर्यहास [लङ्का] भी यथा दुष्ट घोर [अजितेन्द्रिय अपने] वशमें न रहने वाला है । यह पापी पुरुषों को क्षमा नहीं करता है । इसलिए इन आर्या वंदेहीको कहीं दिपानेकी आवश्यकता नहीं है ।

इस [सङ्गमण-वचन] से वैनतेयके वचनका बाट हो जाता है ।

(१०) उपन्यास—

अथ 'उपन्यास' [नामक प्रतिमुख सन्धिसे १२वें अङ्कका सहाय्य प्रादि करते हैं]—

[सूत्र ७४]—[विभी कार्याके लिए] युक्तिको प्रस्तुत करना 'उपन्यास [बहुमाता है] ।

विभी कार्याके करनेके लिए जो युक्ति वह 'उपन्यास' है । जैसे दृष्ट्यारावणमें—

रावण—हे मीने ! पुष्पक विमानपर चढ़ जाओ ।

सीता—धरे मौष, मैं मर मने ही जाऊँ पर चढ़ूँगी नहीं ।

रावण—अबन्दा, अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं—तो से मैं जोरमें मूँको पकड़ कर अङ्क किरणोंके समान तुमि वामी तनकारको निशानकर तेरे सामने इन बटुओं [सपत्नी बह्यचारियों] के शिरों-ज्यो कमलों [को बाट कर] उपहार देना आरम्भ करता हूँ । भया बाहो तो चढ़ जाओ ।

सीता—वरं अत्तणो सगीरसम अत्तचाहिदं, न उण तवोधणाणं । इय अर्ध-
रुहामि मंदभाइणी । हा अत्तजपुत्त ! [इत रुदता आरोहं नाटयति] इति ।

[वरमात्मनः शरीरस्य अत्याहितं, न पुनस्तपोधनानाम् ।

इयमविरोहामि मन्दभागिनी । हा आर्यपुत्र ! इति मंसृतम्]

यथा वा रघुविलासे—

विराधवेपो रावणः—[रामं प्रति] आगन्तवो यूयं, अहं पुनराकलितविपिन-
कुहरो वनेचरदेशीयः । प्रभूतान्तरायं मम्पराय च रावणप्रमुखेभ्यो रक्षोभ्य-
मम्भावयामि भवताम् । वधूवागुरानियन्त्रितमनसश्च कुत एव योद्धुमलम्भविष्णवः ।
तद्वियमार्या वैदेही किमपि वनकुहरमलकुरुताम् ।”

इयमपहारार्थिना रावणेन भीतामेकाकिनी कर्तुं युक्तिर्दर्शिता । इति ।

(१३) अथानुसर्पणम्—

[सूत्र ७५]—नष्टेष्टेहा ऽनुसर्पणम् ॥ ५० ॥

पूर्वमुपलब्धस्य पुनरन्तरितस्य इतिवृत्तवशाद्भिलपितभयाथस्य ईहा
अन्वेपणं अनुसर्पणम् । यथा पार्थविजये द्वितीयेऽङ्के द्रौपदी युधिष्ठिर-
मुद्दिरयाह—

“द्रौपदी—महाराय इमाहि एवेव दिवसपरिवत्तणगणणाहि किणीभदपा-
भनुव्वेयदुक्खस मे हिययस पम्हुटो विय अणज्जदुस्सासणेण अत्तणो केसग्गाहाव-
माणवुत्तंते ।

सीता—अपने शरीरको भयमे डाल देना अच्छा है किन्तु तपस्वियोंको [सकटने डालना
उचित] नहीं । अच्छा मैं मंदभागिनी चढती हूँ । हा आर्यपुत्र ! [ऐसा कहकर रोती हुई वैदेही
पुष्पक विमानपर] आरोहणका अभिनय करती है ।”

अथवा जैसे रघुविलासमे [उपन्यासका दूसरा उदाहरण]—

“विराध वेपधारी रावण [रामके प्रति कहता है] आप लोग [बाहरसे] आए हुए हैं ।
और मे इस वनकी कुहरोंको छाना हुआ लगभग यन्त्र हूँ । इसलिए मैं रावण आवि राक्षसों
के द्वारा [आपके मार्गमें] अनेक विघ्नो तथा युद्धोकी सम्भावना करता हूँ । [उस समय] स्त्री
के भ्रममें आपका मन उलझा होनेसे आप उनके साथ लड़नेमें कैसे सफल हो सकेंगे । इसलिए
इन आर्या वैदेहीको वनकी किसी गुफामें रख दीजिए ।

सीताके अपहरणके चाहनेवाले रावणने सीताको अकेला करनेके लिए यह युक्ति
दिखलाई है [अतः यह भी ‘उपन्यास’ अङ्गका उदाहरण है] ।

(१३) अनुसर्पणम्—

अथ ‘अनुसर्पण’ [नामक प्रतिमुखसधिके तेरहवें अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ७४]—विस्मृतं ह्ये इष्ट अर्थंका पुनः अनुसंधानं ‘अनुसर्पण’ [कहलाता] है । ५०।

पहिले [एक बारके अनुभव द्वारा] प्राप्त हुए, फिर [किसी कारणसे] विस्मृति द्वारा
लुप्त हुए, अभिलपित अर्थका कथाप्रसंगके वशसे फिर दुबारा अनुसंधान [या स्मृति] अनुसर्पण
[नामक अङ्ग कहलाता] है ।

जैसे पार्थविजयके द्वितीय अङ्गमें द्रौपदी युधिष्ठिरसे कहती है—

[महाराज आभिरेव दिवसपरिवर्तनगणनाभिः किंणीभूतपरिभवोद्वेगदुःखस्य मे हृदयस्य प्रस्मृत एवानार्यदुःशामनेन स्वात्मनः केशप्रहापमानवृत्तान्तः । इति संस्कृतम्] ।

अथ प्रागनुभवाद् दृष्टं निष्प्रतीकार-कालहरणात् प्रभृतं नष्टमिति ब्रुवती पुनस्तमनुस्मरतीति ॥ ५० ॥

एतानि प्रतिमुखसन्धेरंगानि त्रयोदशेति ॥

[३] अथ गर्भसन्धेरंगानि व्याख्यातुमुद्दिशति—

[सूत्र ७६]—संग्रहो रूपमनुमा प्रार्थनोदाहृतिः क्रमः ।

उद्वेगो विप्लवरचैतद् गुणतः कार्यमष्टकम् ॥५१॥

आक्षेपोऽधिबलं मार्गो सत्याहरण-तोटकै ।

पञ्चैतानि प्रधानानि गर्भेऽङ्गानि त्रयोदश ॥५२॥

‘गुणतः’ इति गुणभावेन, गुणमुपकारमपेक्ष्य वा । तेन फलोद्भेददर्शनार्थं समग्रोऽवश्य निबन्धनीय । आक्षेपादीनि तु मुख्यानीति ॥५१-५२॥

(१) अथ समष्टः

[सूत्र ७७]—संग्रहः साम-दानादिः

साम-दाने दण्ड-भेदयोरुपलक्षणम् । आदिशब्देन मायेन्द्रजालादिर्मप्रष्टः ।

यथा रक्षनावल्याम्—

हे महाराज । इन्हीं दिनोंके परिवर्तनोंको गिनते हुए मैं, हृदयमे गाँठ सी झाल देने वाले [प्राय या बार-बारकी रगड़से शरीरके किसी स्थानपर जो बड़ी गाँठ-सी बन जाती है उसको किरण कहते हैं] दुःशासनके द्वारा किए गए अपने बातोंके खींचे जानेके प्रपमानके घृतांतको भूल गई थी ।

यहाँ [इस कथनमें] पहिले [केशप्रहाणके बालमें] अनुभव द्वारा प्राप्त घोर प्रतिहार के बिना ही बालके घ्यतीन होनेके कारण भूले हुए [दुःख] की इस प्रकार कहती हुई [द्रौपदी] उसको फिर स्मरण करती है । [यत यह ‘अनुसर्षण’ वा उदाहरण है] ।

ये प्रतिमुखसन्धिके तेरह अङ्ग हैं ॥

(३) गर्भसन्धिके तेरह अङ्ग—

अथ गर्भसन्धिके अंगोंकी व्याख्या करनेके लिए उनके नाम गिनाते हैं ।

[सूत्र ७६]—१. सग्रह, २ रूप, ३ अनुमा, ४ प्रार्थना, ५ उदाहृति, ६ वम, ७ उद्वेग, ८ घोर ९. विप्लव । ये आठ [अंग] गौल रूपमें [या विशेष प्रयोजनवशा प्रयुक्त] करने चाहिए । ५१ ।

९. आक्षेप, १०. अधिबल, ११ मार्ग १२ अमत्याहरण घोर १३ तोटक । ये पाँच अंग गर्भसन्धिके प्रपान [अंग] हैं । इस प्रकार [गर्भसन्धिके] तेरह अंग [होने] हैं । ५२ ।

(१) संप्रष्ट—

[सूत्र ७७]—[सबसे पहिले] ‘सष्ट’ नामक गर्भसन्धिके अष्टका सञ्चाल करने हैं—

साम दान आदि [के प्रयोगकी] ‘सष्ट’ [कहा जाता] है । जैसे ररनावलीमें—

“राजा—वयस्य न खलु किञ्चिन् त्वयि न सम्भाव्यते ।” इति साम ।
संकेतादिवातां श्रुत्वा वटवितरणं तु दानम् ।

[भेदे] यथा रघुविलासे पञ्चमेऽङ्के क्रमान् पवनवेपो राक्षसः प्राह—

“राक्षसः—प्रसीदतु देवः ।

रावण—गृहाण प्रसादम् । [पुनः प्रतीहारं प्रति] वराहतुण्ड ! समादिश कुमारं कुम्भकर्णं यथा पवनं किष्किन्वाराज्ये त्वरितमभिपिच्छ ।”

एष दौत्यार्थमागतयनो वालितनयस्य क्षोभार्थं हूनरो हनुमत्पितुः सुग्रीवाद् भेदः प्रयुक्तः ।

यथा वात्रैव चतुर्थेऽङ्के रावणः—

“यायावरेण किमनेन वनेचरेण,
मां स्थावरं वरमुपास्य कुरङ्गकाञ्चि ।
किं वा म्नुवे तव पुत्रश्चतुरभ्यतीनां,
वेदगन्धसौरभवती भवती प्रहाण्डम् ॥

सीता—को वा जाजावरो को वा थावरः त्ति विवेकं लक्ष्मणनारायणपदार्थं वाचिकरिस्मड । [को वा यायावरः को वा स्थावर इति विवेकं लक्ष्मणनारायणपदवृत्तिराचिकरिष्यति । इति संस्कृतम्] ।

रावणः [सरोपं चन्द्रहास परामृश्य]—

“राजा—हे मित्र ! तुम्हारे लिए कोई बात असम्भव नहीं है !” यह साम है ।

[उतके बाद उसी द्वितीयाङ्कमे] संकेतादिकी बात सुनकर वटकका देना, दान [अथवा प्रयोग] है ।

[भेद-प्रयोगका उदाहरण] जैसे रघुविलासमें पञ्चमाङ्कमे [वार्तालापके] क्रमसे हनुमान के पिता] पवनका वेप धारण किए हुए [मायावी] राक्षस कहता है—

“राक्षस—हे महाराज ! आप प्रसन्न हों ।

रावण—[हमारे] प्रसादको ग्रहण करो । [फिर प्रतिहारसे] हे वराहतुण्ड ! कुमार कुम्भकर्णको [मेरी ओरसे] आता दो कि पवनकुमारको शीघ्र [जाकर] किष्किन्धाके राज्यपर अभिषिक्त करे ।”

इसमें [रामकी ओरसे] बून बन कर आए हुए अंगदके क्षोभके लिए हनुमानके पिता [पवनकुमार] का सुग्रीवसे यह बनावटी भेद विल्लाया गया है ।

अथवा जैसे यहाँ [अर्थात् रघुविलासमे ही] चतुर्थ अङ्कमें रावण [कहता है]—

“रावण—हे मृगके समान नेत्रो वाली सीते ! सर्वदा मारे-मारे फिरने वाले [अतिशयन याति इति यायावरः] इस [रामचन्द्रके पास रहने] से क्या लाभ है । सदा स्थिर [एक स्थान पर] रहने वाले मुझको अपना वर बना लो । तुम्हारे सामने मैं [अपनी] क्या बड़ाई करूँ, तुम तो स्वयं चतुरोंकी स्थितिमे अत्यन्त समभदार प्रसिद्ध हो ।

सीता—कौन मारा-मारा फिरने वाला या कौन स्थिर रहने वाला है इस बातको तो लक्ष्मणके बाणोंकी पक्ति ही प्रकट करेगी ।

रावण—[क्रोधपूर्वक तलवारको पकड़ता हुआ]

प्रेमावनद्धृदयः सर्वं लक्षेश्वरः सुदति ! मोडा ।

सोडा न चन्द्रहासः पुनरयमुल्लुण्ठयृत्तानाम ।”

एष सीताक्षोभार्थं रावणेन दण्डः प्रयुक्तः ।

मायाप्रयोगश्चात्रैव कृत्स्नरूपमणुप्रीवानयन-रावणसीताघटनादिको निबद्ध इति ।

(८) अथ रूपम्—

[सूत्र ७८]—रूपं नानार्थसंशयः ।

नानारूपाणामर्थानां संशयोऽनवधारणं रूपमिव रूपम् । अनियतो ह्यकारो रूपमुच्यते । मुख्यसन्ध्यगाद् युक्तैः कृत्यविचाररूपत्वेन नियताकाराया अम्य भेदः ।

यथा कृत्यारावणे रामो जटायुपमप्रत्यभिज्ञानज्ञाद्—

“गिरिरयम्भरेन्द्रेणाद्य निर्लूनपक्षः,

कृतरिपुरसुरेशैः शान्तितो वैनतेयः ।

अपरमिह मनो मे न पितुः प्राणभूतः,

किमुत चत स एव व्यपेतायुर्जटायु ॥” इति ।

अन्ये त्वधीयते—‘रूपं वितर्कवद् वाक्यम्’ इति ।

हे सुन्दर दांतों वाली सीते ! प्रेममे आवद्ध हृदय होनेके कारण लंबेश्वर [अर्थात् में रावण] तो सब बुद्ध [अर्थात् तुम्हारी उचित-अनुचित सब दांतों] सह लेगा किन्तु [यह ध्यान रखो कि] तुट्टेरों [अर्थात् राम लक्ष्मण] के आचरणको यह सतवहार सहन नहीं करेगी ।”

सीताकी डरानेके लिए रावणने यह दण्डका प्रयोग किया है ।

श्रीर इसी [रघुविलासमे] में लक्ष्मण सुग्रीव आदिके बनावटी आनयन श्रीर सीता रावणके बनावटी सम्मिलनके वर्णन द्वारा मायाका प्रयोग किया गया है ।

(२) रूप—

शब्द ‘रूप’ [नामक गर्भसन्धिके द्वितीय अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

अनेक प्रकारके अर्थोंका संशय [वर्णन करना] ‘रूप’ [कहलाता] है ।

अनेक प्रकारके अर्थोंका [एक जगह] संशय अर्थात् [हिंसी एकका] निश्चय न कर सकना रूप [अर्थात् अनियतार] के समान होनेसे ‘रूप’ [कहलाता] है । अनियत आकारको ‘रूप’ कहा जाना है । अर्थके विचार-रूप श्रीर नियत आकार अपने ‘मुक्ति’ [नामक] मुक्त-सन्धिके अङ्गमे [अनियत आकार होनेके कारण] इस [गर्भसन्धिके ‘रूप’ नामक अंग] का भेद [रूप] है । [इस ‘रूप’ नामक अंगका उदाहरण] जैसे कृत्यारावणमे [रावणके द्वारा मारे गए] जटायुको न पहिचान सकने पर राम कहते हैं—

क्या धात्र देवराज इन्द्रने इस पर्वतके पंग बाट डाले हैं ? अथवा देखोकि राजाने शेरके कारण गरुड़को बाट कर डाल दिया है । मेरे मनमे एक श्रीर मान भी आता है कि अथवा वे हमारे पिताजीका प्राणभूत [पनिष्ठ मित्र] मरे हुए जटायु हैं ।

इसमे मून जटायुको देखकर नाना प्रकारके अर्थोंका भगव दिग्भ्राया गया है इसलिये यह ‘रूप’ नामक अङ्गका उदाहरण है ।

दूगरे लोग—‘वितर्कं मुक्त वाक्य ‘रूप’ है’ इस प्रकार [‘रूप’ का लक्षण] पढ़ते हैं ।

यथा रत्नावल्या राजा क्रमादाह—

“प्रणयविशदा दृष्टिं बक्त्रे ददाति न शक्ति,
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसात्र पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नघृताप्यहो,
रमयतितरां मकेतथा तथापि हि कामिनी ॥

कथं चिरयति वसन्तक ? किं रज्जु विद्रितं स्यादथ घृत्तान्तो देव्या ।”

इत्यनेन रत्नावलीममागमप्राप्त्यानुगुण्येनैव देवीशंकर्या वितर्काद् रूपमिति ।

अन्ये तु—‘चित्रार्थं रूपं वचं’ इति पठन्ति ।

यथा वेणीसंहारे सुन्दरकेण चित्रमप्रामवर्णनमिति ।

(३) अध अनुमानम्—

[सूत्र ७६]—अनुमा निश्चयो लिंगात् ।

लिंगाद्धेतोर्नान्तरीयकरय लिंगिनो निश्चयोऽनुमानम् । निश्चयरूपत्वेन च उद्-
रूपाया युक्तेभिद्यते । यथा भामकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकामण्डपशिलातलमव-
लोक्य वत्सराज —

[उसका उदाहरण] जैसे रत्नावलीसे क्रमसे राजा कहता है—

भयभीत होनेके कारण मुखकी ओर प्रेमपूर्वक [निर्भय होकर] देख नहीं पाती है गले
में श्रालिपन करती हुई भी आनन्दमग्न होकर जोरसे स्तनोंको नहीं चिपटाती है । प्रयत्नपूर्वक
पकड़ने पर भी बार-बार मैं जाती हूँ यह कहती है । फिर भी सकेतयश आई हुई कामिनी
अप्रयत्न आनन्द प्रदान करती है ।

वसन्तक [विदूषक न जाने] देर क्यों कर रहा है [अभी तक आया नहीं] ? कहीं यह
समाचार देवी [वासवदत्ता] को मालूम तो नहीं हो गया ।”

इस [कथन] से रत्नावलीके साथ समागमके अनुकूल ही देवी [वासवदत्ता] की शका
से वितर्क होनेके कारण रूप [अङ्गका यह उदाहरण] है ।

अन्य [आचार्य] तो—

‘विचित्र अर्थ वाला रूप [कहलाता] है ।’ यह [‘रूप’का लक्षण] बतलाते हैं [पठन्ति] ।

जैसे वेणीसंहारमें [पंचम अङ्कमें] सुन्दरके सपनामका विचित्र रूपसे वर्णन करता है

[यह ‘रूप’ नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

(३) अनुमान—

अथ ‘अनुमान’ [नामक गर्भसन्धिके तृतीय अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ७६]—लिंगके द्वारा [लिंगिका] निश्चय ‘अनुमान’ [कहलाता] है ।

लिंग अर्थात् हेतुके द्वारा उससे अविनाभूत [नित्य सम्बद्ध] लिंगी [अर्थात् साध्य] का
निश्चय करना ‘अनुमान’ [कहलाता] है । निश्चय रूप होनेके कारण ही ऊह रूप ‘पुवित’
[नामक मुखसन्धिके अङ्ग] से इसका भेद है ।

जैसे भास-विरचित स्वप्न वासवदत्तमें शेफालिका-मण्डपके शिलातलको देखकर वत्स-
राज [उदयन कहते हैं]—

“पादाक्रान्तानि पुष्पाणि सोऽपि शिलातलम् ।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता ॥”

पूर्वाद्धं लिङ्गम् । उत्तरार्द्धमनुमानम् ।

यथा वा यादवाम्बुदये पठे गर्भाङ्के रुक्मिणीमवलोक्य कृष्णः—

“अस्यां मृगीदृशि दृशोरमृतच्छटायां,
देव स्मरोऽपि नियतं वितताभिलापः ।
एतत् ममागममहोत्सववद्वृष्णाम्—
आहन्ति मामपरथा विशिरैः कथं सः ॥” इति

(४) अथ प्रार्थना—

[सूत्र ८०]—प्रार्थना भावयाचनम् ॥५३॥

भावानां साध्यफलोचितानां रति-हृष्य-उत्सवादीनां याचनं प्रार्थना ।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते चतुर्थेऽङ्के चन्द्रगुप्तः—

“प्रिये माधवसेने ! त्वमिदानीं मे बन्धमाज्ञापय ।

कण्ठे किन्नरकण्ठि ! बाह्वलतिकापाश समासज्यथां,
हारस्ते स्तनबान्धवो मम बलाद् बध्नातु पाणिद्वयम् ।
पादौ त्वज्जघनमथलप्रणयिनी सन्दानयेन्मेरला,
च त्वद्-गुणवद्धमेव हृदयं बन्धं पुनर्नोति ॥”

“कूल परोसे कुचले हुए हैं और यह शिलातल गर्म हो रहा है । [इससे प्रतीत होता है कि] निश्चय ही यहाँ कोई [स्त्री] बंठी हुई थी जो मुझको बेलकर सहसा चली गई है ।”

इसमें पूर्वाद्धं [भाग] लिङ्ग है, और उत्तरार्द्धं [भाग] अनुमान है ।

अथवा जैसे यादवाम्बुदयके छठे [अङ्कके] गर्भाङ्कमे दृष्टे [कहते हैं]—

नेत्रोंके लिए अमृतके समान [आतहाद-दायिनी] इस मृगनयनीके विषयमे निश्चय ही कामदेवका उत्कट अभिलाप है । अन्यथा इसके समागमके महोत्सवके लिए उत्सुक मुझको [पयनर प्रतिद्वन्द्वी और यापक सम्भकर] यह अपने बालों से क्यों मार रहा है ?”

इसमें कामदेवके बाणोंके प्रहार रूप निगते कामदेवके नायिकाके प्रति अभिलाप रूप निगोका अनुमान किए जानेमे यह ‘अनुमान’ रूप मङ्गला उदाहरण है ।

(४) प्रार्थना—

अथ प्रार्थना [नामक गर्भसन्धिके चतुर्थ अंगका लक्षणप्रादि करते हैं]—

[सूत्र ८०]—भावोकी याचना प्रार्थना [कहलाती] है ।

साध्य फलके अनु रूप रति हृष्य, उत्सव प्रादि भावोंकी याचना प्रार्थना [कहलाती] है ।

जैसे देवीचन्द्रगुप्तके चतुर्थ अङ्कमे चन्द्रगुप्त [कहता है]

[प्रिये माधवसेने ! तुम अथ मेरे बन्धनकी आज्ञा [अपने कर्णोंको इस प्रकार] दो—

हे किन्नरके समान [मधुर] कण्ठ वालो [प्रिये] ! अपनी बाहुमताका पाश मेरे गनेमे

झालो । मुझारे स्तनोंका बान्धव [स्तनके साथ रहने वाला] हार जबरदाती मेरे दोनों हाथोंको बाँध ले । मुझारे जघनस्थलका घातितन करने वाली मेगला मेरे पैरोंकी जकड़ ले ।

बिबु पहिले ही मुझारे गुणोंमे बचे हुए हृदयको दुबारा बाँधनेकी आज्ञाकरता नहीं है ।

अत्र रते प्रार्थना ।

तथा कृत्यारावणो चतुर्थेऽङ्के सीताहरण-भातृदुःखाच्च दुःखितो विपलान्वेषणो लक्ष्मणः—

“तदपि नामायमभ्युदयान्तस्य प्रतिक्षणमुपचीयमान-नायकव्यसनभाजोऽभ्युदयावसानः मंहारो नाट्यस्यैव भवेत् ।”

अत्राभ्युदयात्मक उत्सवो लक्ष्मणोनाथितः ।

केचिदभ्यर्थनामात्रं प्रार्थनामाहुः । यथा रघुविलासे कृतकहनुमत्पत्रवेपो राक्षसः [रावणं प्रति]—

“यद् भग्नं विपिनं धनुर्धरकलादत्तो यदत्तो इतः,
शिखां लंघयतः क्षपाचरपते र्यन्मूर्ध्निदत्तं पदम् ।
यद् वेश्मानि परःशतानि शिशुना क्षुण्णानि कापेयतः,
तन् क्षन्तव्यमशेषमेव पुरतस्ते देव ! बद्धोऽञ्जलिः ॥ इति ।

केचित् तु प्राक्तनमिदं चाह्नं न मन्यन्ते ॥ ५३ ॥

(५) अथोदाहृतिः—

[सूत्र ८१]—उदाहृतिः समुत्कर्षः ।

इसमें रमणकी प्रार्थना है ।

श्रीर कृत्यारावणके चतुर्थं अंकमे सीताहरण तथा भाईके दुःखसे दुःखित [सीताके] अन्वेषणमें असफल लक्ष्मण [कहते हैं]—

“फिर भी क्या प्रतिक्षण बढ़ने वाली विपत्तियोसे युक्त नायक वाले नाटकके उपसंहार के समान हमारा भी अभ्युदयमे पर्यवसान होगा ।”

यहाँ लक्ष्मणने अभ्युदयात्मक उत्कर्षकी कामना-प्रार्थना की है । [अतः यह ‘प्रार्थना’ नामक अंगका उदाहरण है] ।

कुछ लोग अभ्यर्थनामात्र [अर्थात् प्रत्येक प्रकारकी याचना] को ‘प्रार्थना’ कहते हैं । जैसे रघुविलासेमे हनुमानके पिता [अर्थात् पवनकुमार] का बनावटी वेप धारण करनेवाला राक्षस [रावणके प्रति कहता है]—

[मेरे पुत्र हनुमानने लंकामे आकर] जो उद्यान उजाडा, और धनुर्धरोकी कलामे दक्ष अक्षकुमारोंकी भारा, और शिक्षाका उलंघन करनेवाले राक्षसराजके सिरपर जो पैर रखा, तथा वानरभावके कारण [कापेयतः] मेरे बच्चेने जो संकड़ों घर जला डाले, हे देव ! उस सबको क्षमा करे । मैं [उसका पिता] आपके सामने यह मैं हाथ जोड़ता हूँ ।

इसमे पवनकुमारका वेप धारण किए हुए मायावी राक्षस, जो रावणसे हनुमानको क्षमा करनेकी याचना कर रहा है उसको भी ‘प्रार्थना’ अङ्ग कहा जा सकता है ।

कोई [आचार्य] तो इससे पहिले [अर्थात् हनुमानको] और इसको [अर्थात् प्रार्थना] को अंग नहीं मानते हैं ।

(५) उदाहृति—

अब ‘उदाहृति’ [नामक गर्भसंधिके पञ्चम अंगका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ८१]—[किसीके] समुत्कर्ष [का वर्णन] ‘उदाहृति’ [कहाता] है—

लोकप्रसिद्धवस्त्वपेक्षया यः समुत्कर्षः समुत्कृष्टोऽर्थः न उत्कर्षाद्हरणा-
दुदाहृतिः । यथा रत्नावल्यां—

“राजा—अहो महदाश्चर्यम्—

मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लभं च तथापि मे ।

कामेनेदं कथं विद्धं मम सर्वैः शिलीमुखैः ॥

अत्रेतरधन्विभ्यो मन्मथभ्य युगपन् सर्वैः शरैः स्वभावचपल-दुर्लभमनोवेषेन
समुत्कर्षः ।

(६) अथ क्रमः—

[सूत्र ८२]—क्रमो भावस्य निर्णयः ।

भावस्य पराभिप्रायस्य, अथवा भाव्यमानस्यार्थस्य उद्घ-प्रतिभादिवशा-
न्निर्णयो यथावस्थितरूपनिश्चयः ‘क्रम’ । बुद्धिमतत्र क्रमते, न प्रतिहन्यते इत्यर्थः ।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते—

“चन्द्रगुप्तः—[ध्रुवदेवीं दृष्ट्वा स्वगतमाह] इयमपि देवी तिष्ठति । येषां—

रम्यां चारुनिकारिणीं च करुणां शोकेन नीता दशां,

तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्री कला ।

पत्युः क्लीबजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतो,

लज्जा-कोप-विपाद-भीत्यरनिभिः क्षेत्रीकृता ताम्यति ॥”

लोकप्रसिद्ध [सामान्य] वस्तुप्रोक्तो अपेक्षा [निसी वस्तुका] जो समुत्कर्ष है वह उत्कर्ष
का प्राहरण [करनेवाला] होनेसे ‘उदाहृति’ [बहलाता] है । जैसे रत्नावलीमें—

“राजा—अरे ! अहो ! बड़े आश्चर्यकी बात है कि—

मन तो स्वभावतः ही चञ्चल और न दिवलाई देनेवाला है । फिर भी वापदेवने मेरे

उप मनको एक साथ ही अपने सारे धारोंसे विद्ध कर दिया है ।”

यहाँ स्वभावतः चञ्चल और न दिवलाई देनेवाले मनको एक साथ ही सारे धारोंसे

वेध देनेके कारण अथ धनुषारियोंकी अपेक्षा कामदेवका उत्कर्ष [वरिष्ठ होनेसे यह ‘समुत्कर्ष’

नामक धगका उदाहरण] है ।

(६) क्रम—

अथ ‘अम’ [नामक गर्भतपिके घट्ट अंगरा लक्षण करते हैं]—

[सूत्र ८२]—भावका निश्चय ‘अम’ [कहलाता] है—

भाव अपान् दूतरेके अभिप्रायका, अथवा ऊहा, प्रतिभा आदिके द्वारा भाव्यमान

[विचार आदिमें निमान] अर्थके पद्यावस्थित रूप आदिका निश्चय ‘अम’ [कहलाता] है । उक्तके

विषयमें बुद्धि अमल करती है [चलती है ।] प्रतिहन नहीं होती है [इतनाउप उगको ‘अम’

कहते हैं] । जैसे देवी चन्द्रगुप्तमें—

“चन्द्रगुप्त—[ध्रुवदेवीकी ओर देखकर] यह देवी भी बंदी है जो—

तत्काल घाए हुए राहके निरके द्वारा बर्षातिरकी हुई चन्द्रमाकी कमाने समान तीर

के कारण रण्य होने पर भी दुःखदायिको बरल पवस्थाकी प्राप्त, पतिने पुरण होने पर भी

ननु‘मको-जैसे इन प्राचरगते लज्जा, कोप, विपाद, अथ परनिमें घटत दुःखों हो रही है ।

अत्र ध्रुवदेव्यभिप्रायस्य चन्द्रगुप्तेन निश्चयः ।

तथा रत्नावल्याम्—

द्विया सर्वस्यासौ हरति विदितारमीति वदनं
द्वयोर्दृष्ट्वालापं कलयति कथामाःमविषयाम् ।
सखीषु स्मेरासु प्रकटयति वैलक्ष्यमधिकं,
प्रिया प्रायेणास्ते हृदयनिहितार्तकविधुरा ॥

अत्र राज्ञा भाव्यमानायाः सागरिकायाः स्वरूपाद्यथानिर्णयः कृतः ।

अन्ये तु—‘क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिः’ इत्याहुः । यथा रत्नावल्याम्—

वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषतो विदूष्येणोपवने योजनम् ।

अन्ये तु भविष्यदर्थतत्त्वोपलब्धिं क्रममिच्छन्ति । यथा वेणीसंहारे—

“कृप—राजन् दुर्योधन ! महान् खलु द्रोणपुत्रेण वोढुमध्यवसितः समरभारः ।

भवता च कृतपरिकरोऽयमुच्छेत्तु’ लोकात्रयमपि समर्थः । किं पुनरेतद् युधिष्ठिर-
बलम् ।” इति ।

(७) अधोद्वेगः—

[सूत्र ८३]—उद्वेगो भीः

चौर नृप-अरि-नायिकादिभ्यो भयमुद्वेगः । यथा अमात्यशंकुर्काविरचिते

चित्रोत्पलावलम्बितके प्ररुरणो पञ्चमेऽङ्के—

यहाँ ध्रुवदेवीके अभिप्रायका चन्द्रगुप्तके द्वारा निश्चय [होनेसे ‘क्रम’ का उदाहरण] है ।

इसी प्रकार रत्नावलीमें—

“सब लोगोको [सिरा वत्सराजके प्रति प्रेम] विदित हो गया है ऐसा समझ कर [सागरिका] सबसे मुख छिपाती है, [कहीं] दो जनोको बात करते देखकर यह समझती है कि ये लोग मेरे विषयमें ही बात कर रहे हैं । सखियोंके मुस्करानेपर और भी अधिक शर्मा जाती है । इस प्रकार प्रिया [सागरिका] प्रायः हृदयमें बंटे हुए भयसे पीड़ित रहती है ।”

इसमें राजाने भाव्यमान सागरिकाके स्वरूप तथा अवस्थाका निर्णय किया है [इस लिए यह भी ‘क्रम’ नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो—‘सञ्चिन्त्यमान अर्थकी प्राप्तिसे ‘क्रम’ कहते हैं । जैसे रत्नावलीमें सागरिकाके समागमको चाहने वाले वत्सराजको उपवनमें विदूषकके द्वारा [सागरिकाके साथ] मिला देना । [योजना सञ्चिन्त्यमान अर्थकी प्राप्ति रूप होने से ‘क्रम’ अङ्ग है] ।

अन्य लोग प्राये होने वाले अर्थतत्त्वके ज्ञानको ‘क्रम’ कहते हैं । जैसे वेणीसंहारमें—

“कृप—हे राजन् दुर्योधन ! द्रोणके पुत्र [अश्वत्थामा] ने महान् युद्धके भारको पहण करनेका निश्चय किया है । आपके द्वारा [सेनापति पदपर] अभियुक्त किए जानेपर वह तीनों लोकोका नाश करनेमें भी समर्थ हो सकता है । इस युधिष्ठिरकी सेनाकीतो बात ही क्या है ।

(७) उद्वेग—

अब ‘उद्वेग’ [नामक गर्भसम्बन्धके ससभ अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ८३]—भय [का नाम] ‘उद्वेग’ है ।

चौर, राजा, शत्रु अथवा नायिका आदिसे भय ‘उद्वेग’ [कहलाता] है । जैसे अमात्य

“[नेपथ्ये सचीत्कारम्] गिरहेध ले गिरहेध वेधेध ले वेधेध । [सर्वे सभयमवलोकयन्ति] ।

[गृहीत रे गृहीत वेष्टध्वं रे वेष्टध्वम् । इति संस्कृतम्] ।

स्थविरः—हा धिक् कण्ठं, दस्यवः सम्पतन्ति । किमत्र शरणं प्रपद्येमहि ।”

अत्र नायिका-सखी-स्थविरादीनां राजगृहमङ्गलैः विद्रुतानां दस्युभ्यो भयम् ॥

तथा मृच्छकटिकां साधवाहचारुदत्तस्य चौर्याभिशापजं नृपाद् भयम् ।

तथा वेणीसंहारे पञ्चमेऽङ्के [नेपथ्ये कलकलानन्तरम्]—

“भो भो दुर्योधनानुजीविनः कौरवभटाः किमिदमस्मद् भयाद्यथायथं रुद्धरन्ति भवन्तः ।

धृतराष्ट्रः—[माशंकम्] सञ्जय ! ज्ञायतां क्रिमेतदिति ।

सञ्जयः—[उत्थाय नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] तात ! महाराज !

प्राप्तावेकरथारुढी पृच्छन्ती त्वामितस्ततः ।

सर्वे—(माशंकम्) कश्च कश्च—

सञ्जयः—स कर्णारिः स च क्रूरो वृककर्मा वृकोदरः ॥

गान्धारी—जाद किं सँवदं अवलंबरां इति ।

[जात कि माम्प्रतमवलम्बनम् । इति संस्कृतम्]

एतद्विभयम् । तथा रत्नावल्याम्—

शकुन्तल विरचित ‘चित्रोत्पलावलिम्बितक’ नामक प्रकरणके पञ्चमांकमे—

“[नेपथ्यमें घीत्कार करते हुए] पकडो रे पकडो, बाघो रे बाघो । [सब लोग भयभीत होकर देखने लगते हैं] ।

वृद्ध — हाय झाड़ू आ रहे हैं । यहाँ किसकी शरण में जाय ।”

इसमें राजगृहके भय हो जानेसे भागे हुए नायिका, सखी तथा स्थविर आदि को शकुन्तलो से भय [वर्णित हुआ है अतः यह ‘उद्वेग’ नामक अङ्कका उदाहरण] है ।

इसी प्रकार मृच्छकटिकमें सार्धवाह चारदत्तको चौर्यके अभिशापमें उत्पन्न राजासे भय [उद्वेगका उदाहरण है] ।

इसी प्रकार वेणीसंहारमें पञ्चम अङ्कमें—

“[नेपथ्यमें कोनाहलके अनन्तर] धरे रे दुर्योधनके अनुयायी वीरय वीरो ! हमारे भयके मारे तुम इधर-उधर क्यों भाग रहे हो ?

धृतराष्ट्र—[सदाशु शोककर] सञ्जय ! देखो तो क्या बात है ।

सञ्जय—[उठ कर और नेपथ्यकी ओर देख कर] तात महाराज !

आपको इधर-उधर घूमने हुए एक रथपर बँटे हुए दोनों आ गए हैं ।

सब लोग—[भयभीत होकर] कौन कौन ?

सञ्जय—वह कर्णका शत्रु [धृष्टुंन] धीर वह भेडियाके समान बर्ण वाला भीम ।

गान्धारी—धरे बँटा ! अब क्या सहारा हो सक्ता है ?

यह शत्रुभय [का उदाहरण] है ।

इसी प्रकार रत्नावलीमें—

सागरिका—वरं दाणिं अहं सयं य्येव अत्ताण्यं उद्वधैय उवरदा । न उण जाणिदसंकेदवुत्तताए देवीए सुसंगदा विय परिभूद म्हि । ता जाव इध असोए गदुअ जहासमीहिदं करिस्स ।”

[वरमिदानीमहं स्वयमेवात्मानमुद्वध्योपरता । न पुनर्ज्ञातसंकेतवृत्तान्तया देव्या सुसंगतेव परिभूतास्मि । तद् यावदत्राशोके गत्वा यथासमीहितं करिष्ये । इति संस्कृतम्] ।

अत्र नायिकातो भयम् ।

(८) अथ चित्रवः—

[सूत्र ८४]—द्रवः शंका

भय-त्रासकारिणो वस्तुनो या शंकाऽपायकारकत्वसम्भावना सा द्रवति श्लथीभवति हृदयमनयेति 'द्रवः' । उपनतं भयमुद्वेगः । तत्सम्भावना तु विद्रवः ।

यथा कृत्यारावणो पण्डेऽङ्के शान्तिगृहस्थे रावणो—

“[नेपथ्ये] हा अञ्जउत्त ! परित्तायाहि परित्तायाहि ।

[हा आर्यपुत्र ! परित्रायम्, परित्रायस्व । इति संस्कृतम्] ।

प्रतिहारी—[श्रुत्वा ससम्भ्रममात्मगतम्] अम्मो भट्टिणी चिअकंदहि ।

[प्रकाशम्] भट्टा अंतेउरे महंतो कलय कलो सुणीयदि ।

[अहो भर्त्री एवाक्रन्दति । भर्तः ! अन्तःपुरे महान् कलकलः श्रूयते । इति संस्कृतम्] ।

रावणः—[हायतां किमेतन् ।” इति ।

सागरिका—अच्छा हो कि प्रव मे स्वय अग्ने-आप कांती लगा कर मर जाऊं ताकि संकेत [मिलन] के समाचारको जान जाने वाली रानी [वासवदत्ता] के द्वारा सुसंगताके समान प्रपमानित न होना पड़े । इसलिए इस क्रशोकके पास जाकर अपनी इच्छाकी पूति करती हूँ । यह नायिकासे भय [का उदाहरण] है ।

(८) विद्रव—

प्रव 'विद्रव' [नामक गर्भसंज्ञिने अष्टम अङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ८४]—शंका 'द्रव' [नामसे कही जाती] है ।

भय या त्रास उत्पन्न करने वाली वस्तुसे जो शका अर्थात् विनाश या अनिष्ट करने की सम्भावना, यह, जिससे हृदय द्रवित अर्थात् निथिल होता है [इस व्युत्पत्तिसे अनुसार] 'द्रव' [कहलाती] है । [आगे 'उद्वेग' नामक पूर्वोक्त अङ्गसे इस 'द्रव' का भेद दिलाताते हैं] । आ जाने वाला भय 'उद्वेग' [कहलाता] है और [आगे आने वाले भयकी] सम्भावना 'द्रव' [नामसे कही जाती] है । [यह उद्वेग' तथा 'द्रव' इन दोनों अङ्गोका भेद है] ।

जैसे कृत्यारावणमे पण्डाकमें रावणके शान्तिगृहमे बंटे होनेपर—

“[नेपथ्यमें] हा आर्यपुत्र ! बचाओ बचाओ ।

प्रतीहारी—[गुनकर भयभीत होकर अपने मनमें] अरे यह तो स्वामिनी ही पिल्ला रही है । [प्रकाशमें] हे स्वामिन् ! अन्त पुरमें बड़ा कोलाहल गुनाई दे रहा है ।

रावण [जाकर] देखो पर क्या घात है ।

अत्र रावणस्य शका ।

ये त्वत्र शर्का ग्रामरूप ससम्भ्रममगमाद् तद् विद्रव-उद्वेगाभ्या गतार्थमिति ।

(६) अथाक्षेप —

[सूत्र ८५]—अक्षेपो बीजप्रकाशनम् ॥ ५४ ॥

प्राप्त्याशावस्थानिवद्धस्य बीजस्य मुख्यकार्योपायस्य प्रकाशन प्रक्षेपेण विभाजन
आक्षेपः । यथा वेणीसंहारे सूत्र —

“दत्त्वा द्रोणेन पार्थाद्भयमपि न संरक्षित मिधुराज,
नूरु दु शासनेऽस्मिन् हरिण इव कृतं भीमसेनेन कर्म ।
दु माध्यामध्यरीणा लघुमिव समरे पूरयित्वा प्रतिज्ञा,
नाह मन्ये मकाम कुरुकुलविभुरं देवमेतावतापि ॥”

अत्र पाण्डवाना राज्यप्राप्तिरूपकार्योपायस्यो-मुख्याविच्छेदनां कृतम् ।

यहाँ रावणको [भयकी] शका है [इसलिए यह 'विद्रव' नामक अङ्गका उदाहरण] है।
जो लोग यहाँ प्राप्त रूप शकाको ससम्भ्रम [गर्भसन्धि का १४वा] अङ्ग कहते हैं [यह
उचित नहीं है क्योंकि] यह 'विद्रव' अथवा 'उद्वेग' के ही अन्तर्गत हो जाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि किन्हीं आचार्योंने गर्भसन्धिके इन तेरह अङ्गोंके अति-
रिक्त 'सम्भ्रम' को भी गर्भसन्धिके चौदहवाँ अङ्ग माना है। किन्तु अन्वयकार उनके इस मतसे
सहमत नहीं है। 'सम्भ्रम' को गर्भसन्धिके अङ्ग मानने वालों उमका लक्षण, यास रूप शका
को 'सम्भ्रम' कहते हैं इस प्रकार किया है। अन्वयकारका कहना यह है कि यदि प्राग अर्थात्
भयको 'सम्भ्रम' माना जाय तो यह तो उद्वेग भी' इस लक्षण वा उद्वेगके अन्तर्गत हो
जाता है। और यदि शकाको 'ससम्भ्रम' कहा जाय तो वह 'विद्रव शका' इस लक्षण वा
'विद्रव' अङ्गके अन्तर्गत हो जाता है। इन दोनों अतिरिक्त उमका अङ्ग कोई अस्ति नहीं
बनता है। अतः सम्भ्रम का अलग चौदहवाँ अङ्ग मानना उचित नहीं है।

(६) अथाक्षेप —

अथ 'आक्षेप' [नामक गर्भसन्धिके नवम अङ्गके लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ८५] बीजके प्रकाशन [करने] को 'आक्षेप' कहते हैं । ५४ ।

[गर्भसन्धिके अन्तर्गत] प्राप्याशाकी अवस्थामे निबद्ध, मुख्यकार्यके उपायभूत बीजका
प्रकाशन अर्थात् प्रक्षेप अर्थात् प्रकारसे आविर्भाजन 'आक्षेप' [कहा जाता] है। जैसे वेणीसंहार
मे सूत्र [कहा है]—

द्रोणाचार्यने अभय-दान करके भी अर्जुनके सिधुराज [जयद्रथ] को रक्षा नहीं कर
पाई। इस दु शासनके विषयमे भी [सिंहसाहस] भीमसेनेने हरिणक समान पूर कर्म कर
जाता [अर्थात् सिंह जिन प्रकार हरिणका अनायास ही मार डालता है इसी प्रकार भीमसेनेने
दुशासनको समाप्त कर दिया]। इस प्रकार शक्यों [अर्थात् पाण्डवों] को दु माध्य प्रतिज्ञाओं
को भी मुख्यभूमिमे भटपट पूरा करके भी मुझ तथा प्रतीत होता है कि कुरुकुलका विरोधी देव
अभी पूर्ण मनोरथ नहीं हो पाया है [अभी वह-कुरु और भी मेव सिद्धपावेगा]।

यहाँ पाण्डवोंके राज्य प्राप्ति रूप कार्यके उपाय [अर्थात् प्रमुख मुख्योंके अर्थ] का मुख्य
रूपसे प्रकाशन [किया गया] है [अतः यह 'आक्षेप' नामक नवम अङ्गका उदाहरण है] ।

अथवा बीजस्य हृदयभूमिनिगूढत्वादभिप्रायस्य बहिष्करणमाक्षेपः। यथा रत्नावल्यां, वासवदत्तायामेव सागरिकेति राज्ञा विदूषकेण च परिगृहीतायां वदुक्त्वित्पु-
“प्रिये सागरिके !

शीतांशुमुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ,
रम्भागर्भनिर्भं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ।
इत्याह्लादकराप्रिलाङ्गि ! रभसा नि शंकमालिङ्गय माम्,
अङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्यो हि निर्वापय ॥”

इत्यादिपु राज्ञा स्वाभिप्रायबहिष्प्रकाशनम्। केचिदेतदङ्गं न मन्यन्ते इति॥१५॥

(१०) अथाधिबलम्—

[सूत्र ८६]—अधिबलं बलाधिक्यम्।

परस्परवञ्चनप्रवृत्तयोर्यस्य बुद्धिसाहायादिबलाधिक्येन यत्कर्म इतरमभिसन्धातुं समर्थं तत्कर्म बलविषये अधिकबलयोगादधिबलम्।

यथा रत्नावल्याम्—

“किं पद्मस्य रुचि न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न वा,
बुद्धिं वा भ्रूपकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम् ?
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपर शीतांशुरभ्युद्गतो,
दर्पः स्यादमतेन चेदिह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे ॥”

अथवा बीज अर्थात् हृदय रूप भूमिसे छिपे हुए अभिप्रायका बाहर प्रकाशित करना 'आक्षेप' [कहलाता] है। जैसे रत्नावलीमे राजा तथा विदूषकके द्वारा वासवदत्ताको ही सागरिका समझ लेनेपर उनकी उक्तियोंमे [राजा कहता है]—

“प्रिये सागरिके !

तुम्हारा मुख चन्द्रमा [कि समान], तुम्हारे नेत्र नील-कमल रूप, तुम्हारे हाथ कमलके सदृश, तुम्हारी वीनों जाँघें कदलीके भीतरी भागके समान, तुम्हारी बाहुएँ मृणालके तुल्य हैं। इस प्रकार सर्वाङ्गोसे आह्लादकारिणि [हे प्रिये] ! आओ, आओ, जल्दीसे निशङ्क भावसे गालालिङ्गन द्वारा कामावेगसे सन्तप्त हुए मेरे अङ्गोंको शान्त करो।”

इत्यादिमे राजा द्वारा अपने अभिप्रायका प्रकाशन किया गया है।

(१०) अधिबलम्—

अथ [गर्भसन्धिके] 'अधिबल' [नामक दशम अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ८६]—बलके आधिक्यको 'अधिबल' कहते हैं।

एष-दूसरेको धोला देनेमे लगे हुए दो ध्यक्तियोंमे बुद्धि अथवा सहायको आदिके बलके आधिक्यके कारण जिसका कार्य दूसरेको धोला देनेमे समर्थ हो जाता है उसका वह कार्य बनादिके विषयमें अधिक बल सम्पन्न होनेमे 'अधिबल' [नामक अङ्ग कहलाता है]।

जैसे रत्नावलीमे—

यथा [तुम्हारा मुख चन्द्रमाके समान] कर्मलोको कान्तिको नष्ट नहीं करता है ? अथवा यथा [चन्द्रमाके समान ही] नेत्रोंको आनन्द प्रदान नहीं करता है ? अथवा दर्शनमात्रसे ही [चन्द्रमाके समान तुम्हारा मुख भयवैताप अर्थात्] कामको नहीं बढ़ाता है जो यह द्वारा

इति पाठानन्तरं राज्ञा वासवदत्ताया मुखोद्घाटने प्रत्यभिज्ञानम् । अत्र सागरिकावेप धारयन्ती विद्रूपकबुद्धिदीर्घल्याद् वासवदत्ता राजानमभिसन्धत्ते ।

कपटस्यान्धाभावमन्ये अधिबलमाहुः । यथा रत्नावल्याम्—

“राजा—एवमपि प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकः किञ्चिद्विज्ञापयामि—

आताम्रतामपनयामि विलज एपः,

लाक्षाकृतां चरणयोस्तव देवि ! मूर्ध्ना ।

कोपोपरागजनितां तु मुग्धेन्दुधिम्बे

इतुं क्षमो यदि परं करुणा मयि स्यात् ॥ इति ।

अत्र वामवदत्तां प्रति राज्ञो वञ्चन विफलं जातम् ।

एके तु सोपालम्भं वाक्यमधिबलमिच्छन्ति । यथा वेणीमहारे पञ्चमेऽङ्के

धृतराष्ट्रमुद्दिश्य

“भीमसेनः—अलमिदानीं मन्युना ।

कृष्टा केशेषु कृष्णा नृपसदसि वधूः पाण्डवानां नृपैर्यैः

सर्वे ते क्रोधवह्नौ कृशशलभकुलावज्ञया येन दग्धाः ।

चन्द्रमा [आकाशमें] उदय हो रहा है । यदि [उसको] प्रमृत्तना गर्भ हो [और उसीके कारण तुम्हारे मुखके सामने उदय होनेका दुःसाहस कर रहा हो तो] यह [प्रमृत्त] भी तो तुम्हारे अघर-विन्धने विद्यमान ही है ।

इस पाठके बाद राजाके द्वारा [सागरिका समझी हुई] वासवदत्ताके मुखको खोलनेपर वासवदत्ताका पहिचानना । यहाँ सागरिकाका वेप धारण किए हुए वासवदत्ता विद्रूपरकी मूर्धता [बुद्धिदीर्घल्यात्] से राजाको धोखेमें डाल देती है ।

इससे लोग कपटके अन्यायाभाव [अर्थात् परिवर्तन] को ‘अधिबल’ कहते हैं । जैसे रत्नावलीमें [इस ऊपरवाली घटनाके बाद ही]—

“राजा—इस प्रकार अपराधके प्रत्यक्ष देल लिए जानेपर भी कुछ प्रार्थना करना चाहता हूँ [और यह प्रार्थना यह है कि]—

हे देवि ! [अपने सागरिका-प्रेम रूप इस अपराधके कारण] सज्जित मैं साक्षा द्वारा सम्पादितकी हुई तुम्हारे घरणोंकी रक्षताको अपने शिरसे दूर कर ही रहा हूँ [अर्थात् तुम्हारे घरणोंपर मिर रखकर अपने इस अपराधकी क्षमा माँग रहा हूँ किन्तु] यदि मेरे ऊपर अत्यन्त दया हो जाय तो कोपके कारण उत्पन्न हुई मुख-रूप चन्द्रमाकी रक्षताको भी [सुम्बनादि द्वारा] दूर करनेमें समर्थ हो सकता हूँ ।”

यहाँ वासवदत्ताके प्रति [सुशामद द्वारा] धोखा देनेका राजाका प्रयत्न विफल हो गया । [अर्थात् वासवदत्ता उसकी बातोंसे प्रसन्न नहीं हुई] ।

कुछ लोग उपालम्भ पुन वासवको ‘अधिबल’ कहते हैं । जैसे वेणीमहारे पाँचवें अङ्कमें धृतराष्ट्रको लक्ष्यमें रखकर भीमसेन [कहते हैं कि]—

भीमसेन—एव हुं स कहनेकी आवश्यकता नहीं है ।

जिन राजाघोंने पाण्डवोंकी वधू हीपदीके बातोंको पकड़कर राज तन्नामें घातीटा या उद सबको कुछ परङ्गके समान जिनने अपनी बोध्याग्निमें भरमत्तान् कर दिया वह मैं [यह

तात । त्वा श्रावयेऽह न खलु भुजत्रलश्लाघया नापि दर्पान्
पुत्रे पौरैश्च कर्मण्यतिगुणि कृते तात । साक्षी त्वमेव ॥” इति ।

(११) अथ मार्ग —

[सूत्र ८७]—मार्गस्तच्चार्यशंसनम् ।

परमार्थस्य वचन सामान्येनोच्यमान प्रकृतार्थेन यत् सम्बध्यते तन्मार्ग ।
यथा मुद्राराक्षसे—

“राजा—[प्रविश्य स्वगतमाह] राख्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिदु खितस्य
नृपतेर्महद्विप्रीतिस्थानम् । कुत —

परार्थानुष्ठाने जडयति नृप भ्वार्थपरता,
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थं क्षितिपति ।
परार्थश्चेत् स्वार्थावभिमततरो हन्त बलवान्,
परायत्त प्रीते कथमिव रम वेत्ति पुम्प ॥

अपि च दुराराध्या लक्ष्मीरात्मवद्धी राजभि । कुत —

तिक्ताद्दुद्विजते मृदौ परिभत्रजामान्न मन्तिष्ठने,
मूर्खं द्वेष्टि न गच्छति प्रणयितामत्यन्तचिद्वत्स्वपि ।
शूरेभ्योऽभ्यधिक विभेत्पुपह्मत्येकान्तभीरुर्हो,
श्रीलब्धप्रमरेष वेशवनिता दु खोपचर्या भृशम् ॥” इति ।

सब समाचार आपको] इसलिये सुना रहा हूँ कि हे तान । पुत्रों और पौत्रोंके द्वारा किए जाने वाले किसी भी बड़े कार्यमें आप ही साक्षी हो सकते हैं [इसलिये यह सब समाचार आपको सुनाया है] अपने भुजबलकी प्रशंसानेलिए अथवा अभिमानवश होकर नहीं [सुनाया है] ।

भीमसेना यह सोपालम्भ वचन इस लक्षणसे ‘अधिबल’ अङ्गका उदाहरण होता है ।

(११) मार्ग—

अथ ‘मार्ग’ [नामक गर्भसंघिषे प्यारहवें अणका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ८६]—तच्चार्यको कथन करना ‘मार्ग’ [कहलाता] है ।

वास्तविक बातका सामान्य रूपसे कथन होनेपर भी प्रकृत प्रकरणके साथ [उसके विशेष रूपसे] सम्बद्ध होनेपर ‘मार्ग’ [नामक अण कहलाता] है । जैसे मुद्राराक्षसमें—

“राजा—[प्रविष्ट होकर स्वगत कहते हैं] राजधर्मका पालन करनेके कारण राजाके लिए राज्य [शासनका सञ्चालन] बड़े सज्जुटका कारण होता है । क्योंकि—

[यदि राजा अपने स्वार्थको प्रधानता देता है तो] स्वार्थपरता राजाकी दूसरीका कार्य करनेसे रोकती है । [यदि दूसरेके लिए] अपने स्वार्थको छोड़ देता है तो निश्चय ही राजा [अपयार्थ] राजा नहीं रहता है । और यदि स्वार्थकी अपेक्षा परार्थताको प्रधानता दे जाय तो दूसरेके अधीन हो जानेपर बलवान् [राजा] भी धानन्दका भोग कैसे कर सकता है ।

और जितेन्द्रिय राजाओंके द्वारा भी लक्ष्मीकी धारापना यही कठिन है । क्योंकि—

[अत्यन्त] तीव्रण प्रकृति [के राजा] से [लक्ष्मी] धवडानो है और बीमल प्रकृतिने पात [दूसरोंके द्वारा] अपमानित होनेके भयसे नहीं टिकती है । मूर्खोंमें द्वेष करती है, और अधिन विद्वानोंके पास भी नहीं रहती है । मूर्खोंमें भी बड़ा डरती है, और अत्यन्त भीरुओंका भी उपहास

यथा वा रघुविनासे चतुर्थेऽङ्के—रावणः—[मविपाठम्]

“लोकेश्वरं त्रिदशदर्पहरं विरागो, रागस्तु, काननचरे जनकात्मजायाः ।

सौन्दर्य-विक्रम-कला-विभवानपेक्षः प्रेम्णां विचारविमुखः खलु कोऽप
पन्थाः ॥”

एतन् तत्त्वार्थकथनं सामान्येनोक्तमपि प्रकृतेन मन्वध्यत इति ।

(१२) अथ असत्याहरणम्—

[सूत्र ८८]—असत्याहरणं छन्न

यथा मालविनाग्निमित्रे यज्ञोपवीतबद्धांगुष्ठो विदूषकः ।

“विदूषकः—[प्रविश्य ससम्भ्रममाह] परित्रायतु परित्रायतु भवं ।

[परित्रायतां परित्रायतां भवान् । इति संस्कृतम्] ।

राजा—किमेतन् ?

विदूषकः—भो ! मत्पेणु म्हि ददुतो ।

[भो ! मर्षेणाग्निं दष्टः । इति संस्कृतम्] ।

[मर्षे विदूषकं दृष्ट्वा विपन्नाः ।]

राजा—दष्टं क्व भवान् परिभ्रान्तः ?

विदूषकः—देवं पेक्षितमस्मि त्वि आचारपुष्कम कारणा पमदवर्णं गदु म्हि ।

तद्वि च असौयत्थवग्गम पमारिदे अगदृत्थे कोडरविणिग्गदेण मत्परुपेण कालेण
म्हि लंभिदां । इमाणि द्रुवेदाढावणाणि ।

करती है । इस प्रकार लक्ष्य-प्रसारा प्रौढ़ायेदयाके समान लक्ष्मी बड़ी कठिनतासे यत्नमें प्राप्ती है ।

यहाँ तत्त्वार्थका प्रकृतते सम्बद्ध रूपमें कथन किया गया है इसलिए यह 'मार्ग' नामक
संगका उदाहरण है । यद्यथा जैसे रघुविनासेके खतुपं प्रकृते रावण विपाद-पूर्वक [बहता है]—

देवतापेक्षे भी दर्पका अपहरण करनेवाले लज्जाके अघोरस्वर [मुग्ध रावण] के प्रति
सीताका वंराग्य है [अर्थात् मुग्ध रावणको तो नहीं घाटती है] और वन-वनमें भटकनेवाले
[रामचन्द्र] के प्रति राग है । निश्चय ही प्रेमका मार्ग सौ-दर्प, विक्रम, कला और संभवकी
उपेक्षा करनेवाला और अविचारशील होता होता है ।

यह यथायं बातका कथन सामान्य रूपमें उक्त होनेपर भी प्रकृतते सम्बद्ध है ।

(१२) असत्याहरणम्—

अथ असत्याहरण [नामक मर्षसन्धिसे प्यारहृषे अङ्गका निदहरण करती है]—

[सूत्र ८७]—अथ 'असत्याहरण' [बहताया] है ।

जैसे मालविनाग्निमित्र यज्ञोपवीतमें अंगुष्ठको बांधे हुए विदूषक [आकर पकड़ने हुए
बहता है—] यथाइए चाप मुझे यथाइए । राजा—घरे यह क्या हुआ ?

विदूषक—घरे साँपने डग लिया है । [मय शिकूषकको देगकर मित्र हो जाने हैं] ।

राजा—तुम कहाँ घूम रहे थे ?

विदूषक— तुम्हारे पास था रहा था इसमिन् धाधागायं पुत्र मेनेके लिए प्रमदयत्नमें
गया था । वहाँ अज्ञोपवीत मुकदा मेनेके लिए हाथ बड़ाने ही कारणसे समान साँपने पकड़ लिया ।
ये दो बातें [मते] हैं ।

[देवं प्रेक्षिष्ये इत्याचारपुष्पस्य कारणात् प्रमद्वनं गतोऽस्मि । तत्र चाशोकस्तवकस्य प्रसारिते हस्ताग्रे कोटरविनिर्गतेन सर्परूपेण कालेनास्मि लब्ध । इमौ द्वौ दंप्ट्राव्रणौ ॥ [इति संस्कृतम्] ।”

अत्र राजप्रसादपरीक्षार्थं विदुष्येण केतकीकण्ठवक्षस्य असत्या सर्पदशता प्रकाशितेति ।

(१३) अथ तोटकम्—

[सूत्र ८६]—तोटकं गर्भितं वचः ॥५५॥

क्रोध-हर्षादिसम्भूतावेगगर्भितं वचनं तोटयति भिनत्ति हृदयमिति तोटकम् । यथा रामाभ्युदये चतुर्थेऽङ्के—

“इन्द्रजित्—तात । किमिदमनुचितमारब्ध तातेन, यद्यमकाण्ड एव कुम्भकर्ण प्रतिबोध्यते । किमत्र न कश्चिन्नुद्रतापसोपमर्वाय सम्भावितस्तातेन । अपि च—
रक्षोवीरा दृढोर प्रतिफलनदलत्कालदण्डप्रचण्डा,
दोर्दण्डाकाण्डकण्डूविषमनिष्पण्णासितद्भाधरेन्द्रा ।
याता कामं न नाम स्मृतिपथमपथप्रस्थितेन्द्रानुसारी,
स्वर्वासिक्लिष्टदृष्ट कथमहमपि ते विस्मृतो मेघनाद ॥
एतन् क्रधा दावेग वचनम् ।

यथा वा रघुविलासे चतुर्थेऽङ्के रावण —

इसमे राजाके प्रेमकी परीक्षा लेनेके लिए विदूषकने केतकीके काँटोके चिल्लीकी झूठ-मूठ सर्पदशके रूपमे प्रकाशित किया है [अत यह ‘असत्याहरण’ का उदाहरण है] ।

(१३) तोटक—

अथ तोटक [नामक गर्भसन्धिके तेरहवें अङ्कका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ८८] [किसी विशेष भावसे] गर्भित वचन ‘तोटक [कहलाता] है ॥५५॥

क्रोध, हर्ष, आदिसे उत्पन्न आवेग युक्त वचन, हृदयका तोटन अर्थात् भेदन करता है इसलिए ‘तोटक’ [कहलाता] है ।

[तोटकका उदाहरण] जैसे रामाभ्युदयमे चतुर्थं अङ्कमे—

“इन्द्रजित्—हे तान् । आपने यह क्या अनुचित काम प्रारम्भ कर दिया कि बिना बात के ही कुम्भकर्णको जगा रहे हैं । क्या आपने यहाँ किसी शीरको छुद्र तापसका उपमर्बन करनेके लिए रम्य नहीं समझा । शीर—

जिनके पुष्ट वक्षस्थलोपर पड़कर बालका दण्ड भी लण्ड लण्ड हो जाता है इस प्रकारके प्रचण्ड, शीर भुजदण्डोंमे अचानक उठी हुई छुजलीके निवारणकेलिए छुजलापर जो पर्वतोंको भी हिला डालते हैं इस प्रकारके [शक्तिशाली] राक्षस शीरोंकी शीर आपका घ्यान नहीं गया तो कोई बात नहीं है, कि तु [अपथप्रस्थित अर्थात्] भागते हुए इन्द्रका भी पीछा करने वाले शीर स्वर्गलोकके रूमे वाले जिसको भयभीत होकर देवते है इस प्रकारके मेघनाद को आप कंते भूल गए [जो इस कुम्भकर्णको जगाने लगे] ?

यह [मेघनादका] शीरके कारण आवेगमय वचन है ।

अथवा जैसे रघुविलासमे चतुर्थं अङ्कमे, रावण—

‘वक्त्राणि हे ! हसत गायत तारसारं,
नेत्राणि ! चुम्बत विहस्य च कर्णपालीः ।
दीर्घल्लयः ! फुरत ताण्डवडम्बरं च,
श्रीराक्षणं ननु विदेहसुता रिरंसुः ॥’

इदं हर्षादावेगगर्भं वचनम् । एतानि गर्भसन्धेःप्रयोदशाङ्गानि ॥५५॥

[४] अधामर्शसन्धेरंगानि व्याख्यातुमुद्दिशति—

[सूत्र ६०]—द्रवः प्रसंगः सम्फेटीऽपवादसञ्छादनं द्युतिः ।

सेदो निरोधः संरम्भो भवेयुर्गुणतो नव ॥५६॥

शक्ति-प्ररोचना-दान-व्यवसायारस्तु मुख्यतः॥

त्रयोदशांगान्यामर्शं

द्रवादीनि नव प्रयोजनमपेक्ष्य गौणतया बध्यन्ते । शस्त्यादीनि चत्वारि पुनः प्राधान्येन ।

(१) अथ द्रव —

[सूत्र ६१]—द्रवः पूज्यव्यतिक्रमः ॥५७॥

व्यतिक्रमो मार्गाच्चलनम् । यथा रत्नावल्यां मन्त्रिहितं भर्तारमवगणय्य चिद्रूपस्य सागरिकायाश्च वामबदन्तया बन्धनमिति ॥५७॥

“रायण—धरे [मेरे दश] मुखो ! तुम लोग [प्रमत्त होकर खूब] हेतो धीर गाम्भी । हे नेत्रो ! तुम प्रसन्ननामे [फूल-फूल कर] कानोंका चुम्बन करो [कानों तक फूल जाओ] । हे भुजबलितयो ! तुम खूब नाचो क्योंकि आज बंदेही रायणके साथ रमण करना चाहती है ।”

यह [रायणका] हर्षसे आवेगमय वचन है ।

ये गर्भसन्धिके तेरह अङ्ग हुए ॥५५॥

[४] अधामर्श सन्धिके तेरह अङ्ग—

घा अधामर्श सन्धिके अङ्गोंको व्याख्या करनेके लिए उनके नाम गिनाते हैं—

[सूत्र ६६]—१ द्रव, २ प्रसंग, ३ सम्फेद, ४ अपवाद, ५ छादन, ६ द्युति, ७ सेद, ८ निरोध, ९ धीर १० संरम्भ ये नौ [विमर्शसन्धिके] गौण अङ्ग हैं ॥५६॥

[सूत्र ६६]—१० शक्ति, ११ प्ररोचना, १२ दान धीर १३ व्यवसाय ये चार मुख्य अङ्ग हैं । इस प्रकार अधामर्श सन्धिके तेरह अंग होते हैं ।

द्रव आदि नौ अंग प्रयोजनके अनुसार गौण रूपसे नियत किए जाते हैं, धीर शक्ति आदि चार मुख्य रूपसे नियत होते हैं ।

(१) अथ ‘द्रव’ [नामक विमर्शसन्धिके प्रथम अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ६०]—पूज्योंको व्यतिक्रम करना ‘द्रव’ [बहना] है ।

व्यतिक्रम अर्थात् मार्गसे हट जाना । जैसे रत्नावलीसे सामने उपस्थित भर्ता [कृष्णराज उदयन] की उपेक्षा करने वागबदन्तरे द्वारा विद्रुण तया सागरिकाको बधना ॥५७॥

(२) अथ प्रसंग :—

[सूत्र ६२]—प्रसंगो महतां कीर्तिः

कीर्तिः संशब्दनम् । यथा वेणीसंहारे पठेऽङ्के—

युधिष्ठिरः—[मुखं प्रक्षाल्य उपस्पृश्य च] एष तावज्जलाञ्जलिर्गङ्गेयाय
गुरवे प्रपितामहाय शान्तनवे । अयमपि पितामहाय विचित्रवीर्याय । [सासम्]
तातस्य अधुनावसरः । अयमपि तत्रभवते स्वर्गस्थिताय गुरवे सुगृहीतनाम्ने पित्रे
देवाय पाण्डवे ।” इत्यादि ।

केचिदप्रस्तुततार्थवचनं प्रसंगमिच्छन्ति । यथा वेणीसंहारे पठेऽङ्के—

“युधिष्ठिरः—[द्रौपदीं प्रति]

स कीचकनिपूदनो बक हिडिम्ब-किर्मीरहः,

मदान्धमगधाधिपद्विरदसन्धिभंगाशनिः ।

गदा-परिघशोभिना भुजयुगेन तेनान्वितः ।

प्रियरतव ममानुजोऽजुर्नगुरुर्मतोऽस्त किल ॥”

अत्र मायातपस्विना राक्षसेन व्यलीकभीमवधकथनान् युधिष्ठिरस्याप्रस्तुतः
शोकः ।

(२) अथ प्रसंग [नामक विमर्शे सन्धिके द्वितीय अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ६१]—महान् [पूर्वज] लोमोका कीर्तन करना ‘प्रसंग’ [नामक अङ्ग कहलाता] है ।

कीर्ति अर्थात् कथन करना । जैसे वेणीसंहारके छठे अङ्कमें—

“युधिष्ठिर—मुझको धोकर और आचमन करके [अपने पूर्वजको जलाञ्जलि देते हुए
क्रमशः उनका कीर्तन करते हुए कहते हैं] सबसे पहले यह जलाञ्जलि गंगातनय पूज्य प्रपिता-
मह शान्तनुकेलिए है । यह दूसरी जलाञ्जलि पितामह विचित्रवीर्यकेलिए है । [रोते हुए]
अब पिताजीकी बारी आती है । अच्छा यह [तीसरी जलाञ्जलि] स्वर्गलोकवासी पूज्य और
सुगृहीतनामा पिता पाण्डुकेलिए है ।” इत्यादि ।

इस वचनमें जलाञ्जलि देते समय युधिष्ठिर द्वारा अपने पूर्वज महापुरुषोंके नामोंका
कीर्तन किया गया है अतः यह ‘प्रसंग’ नामक आदर्शसन्धिके द्वितीय अङ्गका उदाहरण है ।

कोई लोग अप्रस्तुत अर्थके कथनको ‘प्रसंग’ मानते हैं । जैसे वेणीसंहारके छठे अङ्कमें—

“युधिष्ठिर—[द्रौपदीके प्रति]—

कीचकको मारने वाला, बकासुर, हिडिम्ब और किर्मीर [आदि राक्षसोंका] नाश करने
वाला, मदमत्त मगधराज [जरासन्ध] रूप हाथीकी सन्धिकेको भग्न करने वाला, यज्ञ और
गदा तथा परिघ [नामक अस्त्रों] से शोभित उन [अपूर्व दक्षिणशाली] भुजाओंसे युक्त, तुम्हारा
प्रिय, मेरा छोटा भाई और अजुर्नका ज्येष्ठ भ्राता [अर्थात् भीमसेन, इन मुनिजो महाराजके
कथनके अनुसार] समाप्त हो गया है ।

यहाँ बनावटी तपस्वी [दुर्योधनके पक्षपाती] राक्षसने भूट-मूठ भीमके मारे जानेकी
यात बहकर युधिष्ठिरको अप्रासंगिक शोकमें डाल दिया है [अतः यह प्रसंग नामक अङ्गका
उदाहरण है] ।

(३) अथ सम्फेटः—

[सूत्र ६३]—सम्फेटः क्रोधजं वचः ।

परस्परं क्रोधजन्मोत्तर-प्रत्युत्तररूपः संलापः सम्फेटः । यथा वेणीसंहारे—

“भीमः—भो कौरवराज ! कृतं बन्धुनाशदर्शनमग्युना । मैवं विपारं वृथाः पर्याप्ताः पाण्डवाः समराय अहमसहाय इति ।

पञ्चानां मन्यसे ऽस्माकं यं सुयोधं सुयोधन !

दंशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सव ॥

इत्थं श्रुत्वा असूयात्मिकां निक्षिप्य कुमारे दृष्टि उक्तवान् धार्तराष्ट्र —

कर्ण-दुःशासनवधात् तुल्यावेव युवां मम ।

अप्रियोऽपि प्रियो योद्धुं त्वमेव प्रियसाहस ॥”

इत्येतद् भीम-दुर्योधनयोरन्योन्यं रोपभाषणम् ।

यथा वा यादवाभ्युदये सप्तमेऽङ्के—

“बलभद्रः—[स्वगतम्] कथमुपहसति नारद- । भवतु [प्रकाशम्]—

वृद्धोत्तस्य नृपस्य तस्य नियतं को नाम मङ्गो युधि,

व्याधत्त किल यस्य विक्रमचरणः पक्षं मुनिर्नारदः ।

(३) अथ सम्फेट [नामक विमर्शसंधिके तृतीय अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ६२]—क्रोधपूर्ण भाषण ‘सम्फेट’ [कहलाता] है ।

जैसे वेणीसंहारमें—

“भीम—हे कौरवराज [दुर्योधन] ! बन्धुओंके नाशको देखकर दुःखी होनेको आद-
श्यकता नहीं है । तुम यह दुःख मत करो कि पाण्डव लोग युद्ध करनेके लिए [पर्याप्त] बहुत से
हैं और मैं प्रबल हूँ ।हम पाँचोंमेंसे जिसके साथ युद्ध करना तुम सहज समझो क्वचादि धारण करके और
शस्त्र लेकर उसीके साथ तुम युद्धका आनन्द ले सकते हो ।ऐसा मुनिकर [भीम तथा अर्जुन] दोनों कुमारोंकी ओर असूयापूर्वक देखकर दुर्योधन
कहता है कि—[अर्जुनने कर्णका और तुमने दुःशासनका वध किया है । ये दोनों ही मेरे प्रिय थे
इसलिए] कर्ण और दुःशासनका वध करनेवाले होनेके कारण तुम दोनों ही मेरे लिए एक-
जैसे [अप्रिय] हो, फिर भी, अप्रिय होनेपर भी साहसी तुम ही युद्धके लिए मुझे प्रिय
मालूम पड़ते हो ।”यह भीम तथा दुर्योधनका एक-दूसरेके प्रति रोप-भाषण है [अतः यह ‘सम्फेट’ नामक
अङ्गका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे यादवाभ्युदयमें सप्तम अङ्कमें—

बलभद्र—[अपने मनमें] अच्छा नारद हमारी हँसी उड़ा रहे हैं । [प्रकाशम्]—

बूढ़े साँढिके समान उस राजाके साथ युद्ध करनेवाला प्रतिमल्ल कौन हो सकता है
जिसका पक्ष स्वयं नारद मुनि ले रहे हैं [यह व्यङ्ग्योक्ति है] फिर भी कसबा चिनाश करनेमें

कंसध्वंसकृतश्रमो मधुरिपोर्बाहू तथाप्याहवे,
क्षामस्थामलवानुरूपमचिरादाधास्यतः किञ्चन ॥

नारदः [सरोपमिव]—

कंसांसभित्तिमदमर्दनकेलिकञ्चो-
श्चरुस्फुलिङ्गगणसंगपिशंगत्राहुः ।
सम्पूरयिष्यति हरेरपि गाढरुढ-
संग्रामदोहदमसौ मगधाधिनाथ ॥ इति ।

(४) अथापवादः—

[सूत्र ६४]—अपवादः परीवादः ।

परीवादः स्वपरदोषोद्घटनम् । यथा पुष्पदृतिके पञ्चमेऽङ्के—

“ब्राह्मणः—मार्जिता हि ब्राह्मणस्य मुग्रमधुर. कालपाशः । तथाहि—

इतः पुत्रो इतो भ्राता इतो मार्जितया पिता ।
तथाप्येतां स्वगोत्रघ्नीं निन्दामि च पियामि च ॥” इति ।

परिश्रम कर चुकनेवाले मधुरिपु कृष्णके दोनो बाहु दुर्बल या प्रबल जो कुछ हैं उसके अनु रूप
पुढमें कुछ न-कुछ शोष ही दिखलावेगे ।

नारद [श्लोघपूर्वक]—

कंसके स्कंधोकी भित्तिका मर्दन करनेमें चतुर, चक्रकी चिनगारियोके ससंगते [समु-
दायसे] पीतबाहु [अर्थात् कृष्णका सुवर्शन चक्र भी जिसके हाथोंमें केवल चिनगारियाँ उत्पन्न
कर सकता है अधिक उसका कुछ विगाड नहीं सकता इस प्रकारका] यह मगधराज, कृष्णकी
भी प्रबल पुढ-कामनाको पूरा कर देगा ।

यह नारद तथा बलभद्रके रोष-वाक्य एक-दूसरेके प्रति कहे गये हैं अतएव यह भी
'सम्फोट'का दूसरा उदाहरण है ।

(४) अब अपवाद [विमर्शसन्धिके चतुर्थ अङ्गका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ६३]—[किसीकी] निन्दा करना 'अपवाद' [कहलाता] है ।

निन्दा करना अर्थात् अपने या दूसरेके दोषका प्रकट करना । जैसे पुष्पदृतिके
पञ्चम अङ्गमें—

“ब्राह्मण—मार्जिता [अर्थात् शकर मिला हुआ दही] ब्राह्मणके लिए मुखमें मधुर लगने
वाला कालपाश है । इसलिए—

इस मार्जिता [शकर मिले हुए दही] ने यद्यपि अपने पुत्र [धृत्] को मार डाला
[अर्थात् दही से घी उत्पन्न होता है इसलिए घी दहीका पुत्र है । किन्तु जब दहीको शकर
मिलाकर खानेके काममें ले लिया जाय तो उसमें घी बँसे निकल सकता है इसलिए 'मार्जिता'
शकर मिले दहीने अपने पुत्रको नष्ट कर दिया यह कहा है] भ्राता [तक मट्ठे] को भी मार
दिया है और पिता [दूध] को भी नष्ट कर दिया है फिर भी अपने बशका नाश करने वाली
इस 'मार्जिता' की निन्दा करता हुआ भी मैं उसको पी रहा हूँ ।

इसमें मार्जिता शकर मिले दहीकी निन्दा होनेसे यह 'अपवाद' नामक अङ्गका उदा-
हरण है ।

अत्र स्वदोषोद्घटनम् ।

तथा रघुविलासे सप्तमेऽङ्के रावणं प्रति मारीचः—

“एष्वयं न्यायतेजोभिः शूर ! कौलीनदुर्दिनम् ।

अनीति-धूमरी इन्ति यशश्चूताप्रमञ्जरीः ॥”

अत्र परदोषोद्घटनमिति ।

(५) अथ द्वादशम्—

[सूत्र ६५]—द्वादशं मन्युमार्जनम् ॥५८॥

मन्युरपमानो येन भाज्यते तत् द्वादशम् । यथा रत्नावल्याम्—

“सागरिका—विट्ठया पञ्जलितो भयवं ह्रियासण अब्ज करिरसदि मे सयलदुःखावसाण त्ति ।

[दिष्ट्या प्रज्वलितो भगवान् हुताशनोऽद्य करिष्यति मे सकलदुःखावसानमिति । इति संस्कृतम् ॥”

अन्ये तु—कार्यार्थममह्यस्थाप्यर्थस्य सहनं द्वादशमामनन्ति । यथा श्रीशुक्ति-वासकुमारविरचिते अनंगसेना-हरिनन्दिनि प्रकरणे नवमेऽङ्के, राजपुत्रचन्द्र-केतुना दत्तं कर्णालकारयुगलं नायिकया माधव्या नायकस्य प्रेषितम् । नायकेन हरिनन्दिना पुष्पलवनामानं ब्राह्मणं राजवन्धनान्मोचयितुं सन्मात्रेऽतिस्त्रुष्टम् ।

इसमें [वक्ताने] अपने दोषका [अर्थात् निन्दा करते हुए भी पीनेका] उद्घाटन किया है ।

श्रीर रघुविलासके सातवें अङ्कमें रावणके प्रति मारीच [कहता है]—

“हे शूर [रावण] ! न्यायके तैजोंके द्वारा अयश हवी दुर्दिन [मिथाच्छन्न तु दुर्दिनम्] का नाश करो [अर्थात् सीताको मुक्त करके अपने न्यायका परिचय देकर तुम्हारा जो अपयश सीताहरणके कारण हो रहा है उसको दूर करो] अनीतिकी धूमरी यशो रूप भ्राष्ट्रकी उत्तम मञ्जरीका नाश कर देती है । [इसलिए अनीतिके मार्गको छोड़ दो] ।

इसमें [वक्ता] दूसरेके दोषका उद्घाटन [कर रहा] है ।

(५) अथ द्वादशं [नामक विमर्शं सन्धिक्वे पञ्चम अङ्कका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ६५]—अपमानका परिमार्जनं ‘द्वादशं’ [कहलाता] है ॥५८॥

मन्यु अर्थात् अपमानका मार्जन जिसके द्वारा किया जाय वह ‘द्वादशं’ [नामक अङ्क कहलाता] है ।

जैसे रत्नावली में—

“सागरिका—सोभाग्यसे प्रज्वलित हुआ प्राग्नि राज मेरे सारे दुःखोंको समाप्त कर देगा ।”

अन्य लोग तो विशेष प्रयोजनके कारण असह्य अर्थको भी सह लेनेको ‘द्वादशं’ मानते हैं ।

जैसे—श्री शुक्तिवासकुमारके बनाए हुए ‘अनंगसेना हरिनन्दी नामक प्रकरणके नवम अङ्कमें, राजपुत्र चन्द्रकेतुके द्वारा दिए हुए कानोंके अन्वकारके जोड़ेको नायिका माधवीने नायकके पाम भेजा था । नायक हरिनन्दीने पुष्पलव नामक ब्राह्मणको राजवन्धनसे मुक्त करानेके लिए उसे उसकी [पुष्पलव ब्राह्मणकी] माताको दान कर दिया । उस [कर्णभरण

तत्प्रत्यभिज्ञाय च स ब्राह्मणः पौरैषु प्रकाशितचौर्यो राजाज्ञया बध्यस्थानं नेतुमारब्धः ।
तन्मात्रा चागत्य हरिनन्दिने निवेदितम् । हरिनन्दिना च ब्राह्मणरक्षार्थं चौर्य-
मात्मनोऽङ्गीकृत्य अयशो विसोढमिति ।

अन्ये त्वस्य स्थाने च्छलनमवमाननरूपमाहुः । यथा रामाभ्युदये सीतायाः
परित्यागेनावमानं च्छलनम् ।

अपरे तु छलनं सम्मोहमिच्छन्ति । यथा बेणीसंहारे पण्डेऽङ्के—

“युधिष्ठिरः—[अश्रूणि मुञ्चन चार्वाकमाह]—

सर्वथा कथय ब्रह्मण संक्षेपाद् विस्तरेण वा ।

वत्सस्य किमपि श्रोतुमेतद् दत्तमुरो मया ॥

राक्षसः—श्रूयताम्—

तरिमन कौरव-पार्थयोर्गुरुगदाघोरध्वनौ संयुगे ।

द्रौपदी—[लब्धसंज्ञा] अयि तदो किम् ?

[अयि ततः किम् ? इति संकृतम्] ।

राक्षसः—[आत्मगतम्] कथं पुनरनया लब्धा संज्ञा । अपहराम्यस्याः प्राणान् ।
[प्रकाशम्]—

सीरी तत्क्षणमागतश्चिरमभूत् तस्याग्रतः संगरः ।

कञ्चुकी—नूनं तत्कृतोऽत्र कश्चिदपचारो भविष्यति ।

का उपयोग किए जानेपर उस] को पहिचान कर नगरवासियोंमें चोरीका आरोप घोषित
कर राजाकी आज्ञासे ब्राह्मणको बध्य स्थानकी ओर ले जाया जाने लगा । तब ब्राह्मणकी
मासाने आकर हरिनन्दीसे कहा । हरिनन्दीने ब्राह्मणकी रक्षाके लिए स्वयं चोरी करनेके
अपराधको स्वीकृत कर अपयशको सहन किया । यह [‘छादन’ नामक भङ्गका उदाहरण है ।]

अन्य लोग इस [छादनके] के स्थानपर अवमान रूप ‘छलन’ [भङ्ग] को मानते हैं
[छादनको भ्रम नहीं मानते हैं] । जैसे राम भ्युदयमें सीताके परित्यागसे किए गए अपमानको
[‘छलन’ नामक भ्रम] कहते हैं ।

अ. ४ लोम सम्मोहको छलन कहते हैं । जैसे बेणीसंहारके एके अङ्कमें—

“युधिष्ठिर—[रोते हुए चार्वाकसे कहते हैं] —

हे ब्रह्मन् ! सक्षेपसे या विस्तारसे जैसे चाहे आप कहिए । वास [भीम] के किसी भी
समाचारको सुननेके लिए मैंने अपना हृदय तैयार कर लिया है ।

राक्षस—अच्छा सुनिए ।

द्रौपदी—[होसने आकर] अच्छा तब फिर क्या हुआ ?

राक्षस—[स्वगत] अच्छा यह तो फिर होसने आ गई । अभी इसके प्राणोंका अप-
हरण करता हूँ । [प्रकाशम् कहता है]—

उसी समय बलरामजी यहाँ आ गए और उनके सामने बहुत देर तक [भीम तथा
दुर्योधनका] मुँह होता रहा ।

कञ्चुकी—निश्चय ही उनके द्वारा किया गया कोई अनिष्ट इसमें उपरिष्ठत होगा ।

राक्षसः—

आलम्ब्य प्रियशिष्यतां तु हलिना संज्ञा रहः सा कृता
यामासाद्य कुक्षतमः प्रतिकृतं दुःशासनारौ गतः ॥ इति
अत्र तापसेन व्यामोहः कृतः ॥५५॥

(६) अथ श्रुतिः—

[सूत्र ६६]—तिरस्कारो श्रुतिः

यथा कृत्यारावणो मन्दोदरीं प्रति अंगदः—

“मा गाम्निष्ठ पुनर्व्रज क्षणमितो गत्वा पुनः स्थीयतां,
यत्रागते भुजवीर्यदपितमद्री विद्रावणो रावणः ।
मद्वाहुद्वयपञ्जरान्तरगता मूढे किमाक्रन्दमि,
मिहम्यां क्रमुपागतामिव मृगीं वस्वां परिग्रास्यते ॥”

तर्जनोद्वेजने श्रुतिं केचिदिच्छन्ति । अपरे तु तर्जनार्पणे श्रुतिं मन्यन्ते ।
तदेतन्मतद्वयमध्यर्थाभेदान् मंगुटीतम् । एवमन्यदपि साक्षान् पारम्पर्येण वान्यकार-
परं चास्यं श्रुतिरेव ।

(७) अथ रोदः—

[सूत्र ६७]—रोदः श्रमः काय-मनोद्भवः ।

यथा विक्रमोर्वेश्यां पुच्छरवाः—

राक्षस— बलरामजीने अपने प्रिय शिष्य [दुर्योधन] का पक्ष लेकर चुपचाप कोई ऐसा
संकेत किया जिसको प्राप्त कर कृटराज [दुर्योधन] ने दुःशासनको मारने वाले [भीमसेन] से
[दुःशासनके बधना] बदला ले लिया [अर्थात् भीमसेनको मार डाला] ।

यहाँ तापस [विषधारी राक्षस] ने व्यामोह उत्पन्न कर दिया है ।

(६) अथ 'श्रुति' [नामक अमर्श सन्धिसे अङ्गना निरूपण करते हैं]—

[सूत्र ६५]—तिरस्कार करना 'श्रुति' [बहलाता] है—

जैसे कृत्यारावणनेमे मन्दोदरीके प्रति अङ्गः [बहता है]—

“मत जाओ, टहरो, अच्छा फिर चलो, तनिक इधर घब कर लड़ी हो जाओ, जहाँ
पर भुजाघोके पराक्रमके अभिमानसे भूर यह [शत्रुघोको] भयभीत करने वाला रावण [गिरा]
है । घरी मूर्ख ! मेरी दोनों भुजाघोके पक्षरमे पड़ी हुई तू चित्ला किम लिए रह्यो है । तिरहे
पञ्जेमे पंजी हुई हरिलोके समान अथ बौन मुझको क्या सक्ता है ?”

कोई लोग डाटने-गटकारने [तर्जन उद्वेजन] को 'श्रुति' कहते हैं । दूसरे लोग डाटने
घोर पगोटनेको 'श्रुति' कहते हैं । इन दोनों मतोंमें अर्थका भेद न होनेसे [इसी श्रुति लक्षणसे
भीतर] यह ही गया है । इसी प्रकार ताशान् या परम्परामे अथ अथमान-वरक वाच्य भी
'श्रुति' ही माने जाते हैं ।

(७) रोदः

अथ 'रोदः' [नामक अमर्श सन्धिसे अमर्श लक्षण लक्षण छानि करते हैं]

[सूत्र ६६]—शारीरिक या मानसिक अथ गदः [बहलाता] है ।

जैसे विक्रमोर्वेशीमे पुच्छरवा [बहते हैं] -

“अहो श्रान्तोऽस्मि । भवतु अस्यास्तावद् गिरिनद्यास्तीरे स्थितस्तरंगवात
सेविष्ये ।” इत्यादि । अत्र कायिक ।

तथा रघुविलासे सप्तमेऽङ्के रावण — [सखेदम्] —

“हु शक्र स जितो जितो धृत-धृत कैलासशैलोऽप्यरे ।
क्रान्त क्रान्तमिदं जगत् प्रतिभुजप्रस्तासिकैर्बाहुभि ।
यारब्धा प्रति बन्धुबन्धनकथा लकापतेर्जीवत,
कर्णेषु प्रथते किमन्वमनया नीतं न विस्फूर्जितम् ॥”

अत्र मानस ।

तथा कृत्यारावणे लक्ष्मण —

“मार्गाः फण्टकिन प्रतप्तसिकतापाशूकरा लघिता,
क्रान्ता शृङ्गवतां निकामपरुषा स्थूलोपला भूमय ।
भ्रान्तं दृप्तमृगेन्द्रनादजनितत्रासै समं दन्तिभि ?
पीतं च द्विपदानराजिकलुपव्यासगतिक्त पयः ॥”

अत्रोभयज । यद्यपि भ्रमोद्वेगवितर्कादयो व्यभिचारिमध्ये लक्षयिष्यन्ते,
तथापि रसविशेषपुष्ट्यर्थं सन्ध्यगावसरे लक्ष्यन्ते । इति ।

(८) अथ विरोध —

[सूत्र ६८]—विरोधः प्रस्तुतज्यानिः

“अरे बडा धक गया हूँ । अच्छा चलो इस पहाडी नदीके किनारे बैठकर तरंगो
वायुका सेवन करूँ ।” इत्यादि । इसमें शारीरिक [धम दिखलाया गया है] ।

श्रीर रघुविलासके सप्तम अङ्कमें रावण [खिदपूर्वक कहता है]—

“हाँ उस इद्रको तो बार-बार जीता था । अरे ! उस कंलास पर्वतको भी बार-बार
उठाया ही था । श्रीर प्रत्येक भुजामे तलवार पकड़कर इस सारे जगत्की प्रत्येक धार घातान
किया ही है किन्तु आज रावणके जीते-जी उसके बन्धुओंको पकड़नेका जो यह प्रसंग प्रारम्भ
हुआ है श्रीर कानोमें पहुँच रहा है उसने क्या उस सारे दर्पका नाश नहीं कर दिया है ।

इसमें [रावणके] मानसिक [खिदका वर्णन है] ।

श्रीर कृत्यारावणमें लक्ष्मण [कहते हैं]—

“बाँटो श्रीर जलती हुई बाजू तथा धूल कूडा-करकटसे भरे हुए मार्गोंमें चतना पडा ।
पहाडोकी अत्यन्त कठोर श्रीर बडे बडे पत्थरोसे भरी हुई भूमियोंकी पार करना पडा । मत
तिहोके गर्जनसे भयभीत हुए हाथियोंके साथ वनोंमें घूमना पडा श्रीर हाथियोंके मदरे कतुपित
सम्पर्कके कारण तिक्त पानी पीना पडा ।”

इसमें [शारीरिक श्रीर मानसिक] दोनों प्रकारका [खिद पाया जाता है] ।

यद्यपि धम उद्रेग वितर्क आदिके लक्षण व्यभिचारिभावोके प्रसंगमें किए जायेंगे फिर भी
रसकी विशेष पुष्टिके लिए सन्ध्योके अङ्कमें प्रसंगमें यहाँ भी उनके लक्षण बर दिए गए हैं ।

(८) अथ विरोध [नामक विमर्शसन्धिसे प्रथम अङ्कका लक्षण आदि बरते हैं]—

[सूत्र ६७]—प्रस्तुत अर्थको हानि ‘विरोध’ [बहत्ताना] है ।

प्रस्तुतस्य कार्यस्य ज्यानि अत्ययो विरोध इव 'विरोध' । यथा कृत्यारावणो सप्तमेऽङ्के—

“कञ्चुकी—[लक्ष्मण-विभीषणौ प्रति] कुमार ! एतत् ।

उभौ—किम् ।

कञ्चुकी—आ इदम् ।

उभौ—आर्य ! कथय कथय ।

कञ्चुकी—का गति ? श्रूयताम् । आर्या खलु सीता रावणाज्ञया क्रिकरोपनीत भर्तुर्मायाशिरोऽवलोक्य सखीभिराश्रास्यमानापि निवृत्तप्रयोजना 'नाहमात्मानं क्लेशयामि' इत्युक्त्वा—

सर्वे—किं कृतवती ?

कञ्चुकी—यन्न शक्यते वक्तुम् ।

शशिन इव कला निशावसाने कमलवनोदरमुस्तुपेव हसी ।

पतिमरणरसेन राजपुत्री स्फुरितकरालशिरसि विवेश बहिम् ॥”

अत्र सीताप्रत्यानयनस्य प्रस्तुतस्य विरोध ।

अन्ये तु रोद-विरोधी न मन्यन्ते । विद्रव विचलने तु पठन्ति । तत्र विद्रवो बन्ध-प्रधाध्यवसायादि । यथा छलितरामे—

प्रस्तुत कार्यकी हानि अर्थात् नाश विरोधके समान होनेसे 'विरोध' [कहलाता] है । जैसे कृत्यारावणके सप्तम अङ्कमे—

'कञ्चुकी—[लक्ष्मण तथा विभीषणके प्रति कहता है]—कुमार ! यह ।

दोनों—क्या ?

कञ्चुकी—घरे यह ।

दोनों—आर्य ! कहिए-कहिए [क्या बात है] ।

कञ्चुकी—क्या करे । अच्युता सुनो । आर्या सीताने रावणकी आज्ञासे नीकर द्वारा साए गए [स्वामी] रामचन्द्रके [कटे हुए] वनाघटी सिरको देकर, सतिपति द्वारा आश्रासन दिए जानेपर भी 'अयं मिदं' जोनेका प्रयोजन समाप्त हो गया ऐसा कहकर—

सब लोग—क्या किया ?

कञ्चुकी—जितको कहा नहीं जा सकता है ।

शशिकी समाप्तिपर चन्द्रमाकी कलाके [समाप्त हो जानेके] समान, उस्तुपा हँसोके कमल वनोके भोतर [समा जाने] के समान, पतिके मरणके रमसे राजपुत्री सीता भयकर उवालाए जिनसेते निजस रही हैं इस प्रकारकी अन्तिमे प्रविष्ट हो गई ।”

इसमे सीताके प्रत्यानयन रूप प्रस्तुत कायका विरोध है । [इसलिए यह अमानसं सम्पिच 'विरोध' नामक अष्टम अंगका उदाहरण है] ।

अयं सौम सो रोद और विरोध [इन दोनों अङ्गों] को नहीं मानते हैं [उनके ह्यार पर] 'विद्रव' तथा 'विचलन' [अङ्गों] को मानते हैं । उनमेंसे अथ अथवा अथनके निरूपणसे 'विद्रव' कहते हैं । जैसे 'द्विनराम'मे—

१ विनावसाने ।

“येनावृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासितं,
वाल्याद् येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणैः क्रीडितम् ।
युष्माकं हृदयं स एष विशिखैरापूरितासंस्थलो,
मूर्च्छाघोरतम प्रवेशविवशो बध्वा लवो नीयते ॥” इति ।

वधाध्यवसायस्तु मृच्छकटिकायां चारुदत्तविषयः । तथा रत्नावल्याम्—

“पुनर्वासवदत्ता—अञ्जउत्त ! गं खु अत्तणो कारणा भणामि एसा मए
निगिण्णहिअयाए सपदा सागरिया विवञ्जदि । इति ।

[आर्यपुत्र ! ननु रत्नावलमन कारणात् भणाम्येषा मम निर्घृणहृदययाः सम्पत्
सागरिका विपद्यते । इति संस्कृतम्] ।”

अत्र सागरिकाया बन्ध-वधाग्निभिविद्रवः ।

तथा वेणीसंहारे—

“युधिष्ठिर — कः कोऽत्र । सनिपङ्गं धनुरुपनीयताम् । कथं न कश्चिन् परि-
जनः । भवतु वा, बाहुयुद्धमम्भवाविहस्तमेनं दुरात्मानं गाढमालिङ्गय उर्बलित-
व्वलननममिपतामि ।” इति ।

अत्र सम्भ्रमात्मको विद्रवः । इति ।

शौर्य-कुल विद्या-रूप-मौभाग्यादिसम्भवमात्मविकथन तु विचलनम् ।

यथा वेणीसंहारे पञ्चमेऽङ्के—

“तात ! अम्ब !

“जिस [लव] ने सामवेदका पाठ करते हुए [ब्रह्मचारियोका] मुख बन्द करके उनको
बडा तग किया । जिसने बचपनके कारण उनके अक्षसूत्र और वलय आदिको छीनकर फिर
देकर क्रीडाएँ कीं, तुम्हारे हृदयके समान [अत्यन्त प्रिय] बाणोसे जिसका कन्धा भग हुआ है
और मूर्च्छासे गहन आधवारमे पहुँच जानेके कारण विवश उस लवको [तुम्हारे सैनिक]
बांधकर लिए जा रहे हैं ।”

[यह बन्धनाध्यवसायका उदाहरण है] वधके अद्यवसायका [उदाहरण] जैसे ‘मृच्छ-
कटिक’मे चारुदत्तके विषयमे [पाया जाता है] । और जैसे ‘रत्नावली’मे—

[यासवदत्ता फिर कहती है] आर्यपुत्र ! मे अपने कारण ही कहती हूँ कि मुझ
निर्दयाकी सम्पत्ति सागरिका [इस अग्निमे जलकर] मरी जा रही है ।

इसमे सागरिकाके बन्ध तथा वध आदि [दोनों] के होनेके कारण ‘विद्रव’ [अङ्ग पाया
जाना] है । और ‘वेणीसंहार’मे—

“युधिष्ठिर—अरे ! यहाँ कौन है ? तूखीर सहित धनुष लाओ । अरे, कोई नोनर
नहीं जान पडता है । अर्द्धा रहने दो । बाहुयुद्धकी सम्भावनाके कारण [अस्त्रमे रहित] लाली
हाथ घाले इसको जोरसे पकडकर प्रज्वलित अग्निमे फूटा पडता हूँ ।”

इसमे सम्भ्रम रूप ‘विद्रव’ है ।

शौर्य, कुल, विद्या रूप, सौन्दर्य आदिके कारण अपनी प्रशंसा करना ‘विचलन’
[कहमाता] है । जैसे ‘वेणीसंहार’के पञ्चमे अङ्कमे—

‘हे तात ! हे मत !

सकलरिपुजयाशा यत्र वद्धा मुतैस्ते,
 तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
 रणशिरमि निहन्ता तस्य राधासुतस्य,
 प्रणमति चरणौ चां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ॥

अपि—च तात !

चूर्णिताशेषशौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।
 भक्तवा मुयोधनस्योरु भीमोऽयं शिरसार्चति ॥” इति ।

अत्र स्वगुणाविष्करणात् विचलनमिति ।

(६) अथ संरम्भः—

[सूत्र ६६]—संरम्भः शक्तिकीर्तनम् ॥५६॥

संरब्धानामुत्तर-प्रत्युत्तरेण आत्मशक्तिभाषणं संरम्भः ।

यथा वेणीसंहारे दुर्योधनं प्रति क्रमाद्—

“भीमः—अन्यच्च मूढ !

शोकं स्त्रीवन्नयनमलिलैर्यत् परित्याजितोऽसि,
 भ्रातुर्वक्षःस्थलविषटने यच्च माक्षीकृतोऽसि ।
 आसीदेतन् तव कुनृपतेः कारणं जीवितस्य,
 वृद्धे युष्मत्कुलकमलिनी-वृञ्जरे भीमसेने ॥

तुम्हारे पुत्रोंने जिसके ऊपर सारे शत्रुओंकी विजय करनेकी आज्ञा लगाई हुई थी, और जिसके अभिमानके कारण सारे संसारको तुम्हारे समान तिरस्कृत किया था, उस राधासुत [कृष्ण] को युद्धभूमिमें मारनेवाला यह मध्यम पाण्डव [भर्जुन] आपके दोनोंके चरणोंमें प्रणाम करता है ।

हे तात ! और भी [मुनि]—

समस्त कौरवोंका नाश कर डालनेवाला, दुःशासनके रक्तसे मत्त हुआ एव दुर्योधनकी जंपाप्रोंको तोड़कर यह भीम [भी] आपके शिरसे नमस्कार करता है ।”

इसमें अपने पुत्रोंके प्रकट करनेके कारण यह ‘विचलन’ [अङ्गका उदाहरण] है ।

(६)—अथ संरम्भ [नामक आभर्षणके नयम अङ्गके लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ६८] [अपनी] शक्तिका बचन करना ‘संरम्भ’ [नामक अङ्ग कहलाता] है ॥५६॥

आवेस भरे दो जनोंका उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा अपने-अपनी शक्तिका बचन करना ‘संरम्भ’ [कहलाता] है । जैसे ‘वेणीसंहार’ में दुर्योधनके प्रति भीम वचनसे [कहते हैं]—

“मूर्ख ! और भी [मुनि]—

स्त्रियोंके समान [अपने सम्बन्धियोंका नाश देकर] तुम्हें जो दयाया गया, और भाई [दुःशासन] की दासीको पाहने [और उसका रक्षणान करने] में जो तुम्हको साक्षी बनाया गया । तेरे कुल रूप बचतियोंके लिए हाथीके समान [विनाशक] भीमसेनके वृद्ध होनेपर भी तेरे अथ तव भीवित रहनेका यही कारण था [अन्यथा तुम्हें न जाने क्या मार दिया जाता] ।

राजा—दुरात्मन् ! भरतकुलापसद् ! पाण्डवपशो ! नाहं भवानिव विकत्य-
नाप्रगल्भः । किन्तु

द्रद्यन्ति न चिरान् सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवचोऽस्थिवेणीकाभीमभूषणम् ॥”

इत्यादीति ।

असंख्यस्यापि दृश्यते । यथा वेणीसंहारे युधिष्ठिरः—

“नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा ।
बध्यतां केशपाशते स चास्याकर्षणक्षमः ॥” इति ॥

सम्पटे क्रोधेन भाषणमात्रं संरम्भे तु बलकीर्तनमित्यनयोर्भेद इति ॥५६॥

(१०) अथ शक्तिः—

[सूत्र १००]—क्रुद्धप्रसादनं शक्तिः

क्रुद्धस्य प्रसादनं अनुकूलनं बुद्धि-विभवादिशक्तिकार्यत्वेन सा शक्तिः । यदि
वा क्रुद्धस्य द्विपतः प्रकर्षेण सादनं विनाशनं शक्तिः । यथा रत्नबल्याम्—

राजा—

राजा—अरे नीच ! भरतकुलकलंक ! पाण्डवपशो ! मैं तेरे समान आत्मश्लाघामे
निपुण तो नहीं हूँ किन्तु—

तेरे बान्धव लोग शीघ्र ही, मेरी गदासे टूटो हुई धातीकी प्रस्थियोंकी मालासे भयंकर
भूषणोंसे युक्त तुम्हको बुद्धभूमिमें सोता हुआ देखेंगे ।

इत्यादिमें [संरम्भके शक्ति-कीर्तनके कारण 'संरम्भ' का उदाहरण है] ।

क्रोधावेशके बिना भी [शक्ति-स्थापन] देखा जाता है । जैसे वेणीसंहारमें—

“युधिष्ठिर—प्रतिज्ञाके भङ्ग भंग होनेके भयसे वह [भीमसेन] आज तुम्हारे केशपाश
को धोर जिसने उसका आकर्षण किया था उन दोनोंको [क्रमशः] बांधे तथा मारेगा । [इसमें
'बध्यता' पद बध्यार्थक तथा बन्धनार्थक दोनों धातुओंमें समान रूपमें ही बनता है । धतः
उसके दोनों अर्थ लगते हैं] ।

यह वचन युधिष्ठिरने क्रोधावेशके बिना ही कहा है । धतः दूसरे प्रकारके 'संरम्भ'
भङ्गका उदाहरण है । आगे इसी आनन्द सन्धिके सम्पटे नामक तृतीय भङ्गके साथ इन
'संरम्भ' नामक नवम भङ्गका भेद दिखासाने हैं ।

'सम्पटे' [भङ्ग] में केवल क्रोधसे भाषण मात्र होता है धोर 'संरम्भ' में शक्तिका
कीर्तन होता है यह इन दोनोंका भेद है ॥५६॥

(१०) अथ 'शक्ति' [नामक धमनों सन्धिके दशम भङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १००] क्रुद्धको प्रसाद करना 'शक्ति' [कहा जाता] है ।

क्रुद्धको प्रसाद करना अर्थात् अनुकूल करना, बुद्धि या संभव आदि शक्तिका कार्य
होनेसे वह [क्रुद्ध प्रसाद] 'शक्ति' [कहा जाता] है । अथवा क्रुद्ध हुए शत्रुका [प्रसादन अर्थात्
प्रकर्षेण सादन] धरजन्त बिनाश 'शक्ति' [कहा जाता] है ।

[पहले प्रकारका उदाहरण] जैसे रत्नबल्यामीमें—राजा—

“सद्व्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्या भृशं,
 वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।
 प्रत्यासत्तिमुपागता मम तथा देवी रुदत्या यथा,
 प्रक्षाल्येव तथैव वाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतो यथा ॥”

तथा कत्यारावणे मत्तमांरुस्य पूर्वार्द्धे—

“कण्ठं भोः कष्टम्—

रामेण प्रलयेनेव महामत्त्वेन लीलया ।

पातितोऽयं दशशिराः शृङ्गवानिव पर्वतः ॥” इति ।

अत्र विरोधिनी रावणस्य विनाशनमिति ।

एके तु विरोधप्रशमनं शक्तिमामनन्ति । यथोत्तरचरिते—

“लवः—विरोधो विश्रान्तः प्रमरति रसो निर्वृत्तिघनः,

तद्वैद्वत्यं क्वापि अजति विनयः प्रह्वयति माम् ।

भ्रगित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा,

महार्थस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥” इति ।

एतदप्यत्रैवान्तर्भूतम् । प्रसादने प्रसत्तेरपि भावान् । अस्ति चात्र लवस्य
 वृद्धस्य मनःप्रसत्तिरिति ।

“बहाने पनाकर शपथोंके द्वारा, प्रिय वचनोंके द्वारा, सर्वथा चित्तके अनुसार अनुगमन करनेके द्वारा, अत्यन्त लज्जाके [अनुभय या प्रकाशन] द्वारा, पेरोंपर पडकर घोर बार-बार सलियोंके कहनेपर भी प्रिया [वासवदत्ता] उस प्रकार प्रसन्नताको प्राप्त नहीं हुई जैसी कि स्वयं रोती हुई उसने आमुझोंसे मानो प्रोधको घोकर बहा विया हो [अर्थात् वासवदत्ताके इन आमुझोंने मानो उसका सारा प्रोध बहा दिया हो ।]”

यह प्रथम प्रकारके प्रसादन रूप शक्ति अङ्गका उदाहरण है । दूसरे लक्षणके अनुसार शक्ति अङ्गका उदाहरण आगे देते हैं—

घोर जैसे ‘हृत्पारावण’के सप्तमाकके पूर्वार्द्धमें—

“अरे ! बड़े दु लकी यात है कि—

प्रसयके समान महा-शक्तिशाली रामचन्द्रने शृङ्गोमि पुरत पर्वतके समान इत दश शिरोवाले रावणको घनावास ही गिरा दिया ।”

इसमें विरोधी रावणका विनाश कहा गया है [अतः यह दूसरे लक्षणके अनुसार शक्ति नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

बुद्ध सोर्ग विरोधके प्रथमको ‘शक्ति’ कहते हैं । जैसे ‘उत्तरचरित’में—

“सब—[रामचन्द्रजीके आज्ञानेसे चन्द्रबेतुके साथ होनेवाले युद्धमें हम दोनों अर्थात् सब घोर चन्द्रबेतुका] विरोध सान्त हो गया घोर आनन्द प्रदान करने वाता प्रेम [रस] उत्पन्न हो रहा है । वह उद्वेगता [जो मेरे अन्तर भी] न जाने कहीं चानी गई, घोर विनय मुझे [उसके सामने] विनम्र बना रही है । इनको देखकर न जाने क्यों मैं सुरंग ही परवश-भा हो गया हूँ अथवा तीर्थोंके समान महानुभावोंका बुद्ध अनिर्वचनीय प्रभाव होता है ।

इसमें यह [विरोध-विध्वान्ति] भी इसी [बुद्ध-प्रसादन] में अन्तर्भूत हो जाती है । प्रसादन

प्रकृताभिप्रायविरुद्धाचरणहेतुरभिप्रायो भावान्तरमङ्गं अत्रान्य मन्यन्ते । यथा तापसवत्सराजे पठेऽङ्के—यौगन्धरायणस्य वासवदत्तां मरणाध्यवसायान्निवर्तयितुं भावः । तद्विरुद्धा चित्ताविरचनक्रिया अभिप्रायान्तरात् कृतेति भावान्तरम् । तत्र हि—

“यौगन्धरायणः—भद्र विनीतक ! रचय चित्तम् ।” इति ।

अन्ये तु शक्तेः स्थाने आज्ञां पठन्ति । युक्तयुक्तमविचार्य क्रोधाद् यदाज्ञापनं सा आज्ञा । यथा कृत्यारावणे त्रिजटया दारुणिकमिधाना राक्षसी पृष्ठा—

त्रिजटा—दारुणिके किं तुमं भणसि ।

[दारुणिके ! किं त्वं भणसि । इति संस्कृतम्] ।

दारुणिका—अय्ये तियडे ! अवि नाम अप्पडिह्दा आणा मम सरीरे निवडिस्सइ न उण ईदिसं अरुज्जं करइस्सं ।

[अयि त्रिजटे ! अपि नाम अप्रतिहृता आज्ञा मम शरीरे निपतिष्यति न पुनरीदृशमकार्यं करिष्यामि । इति संस्कृतम्] ।

त्रिजटा—तद्वा वि तुमं दारुणिअ त्ति वुच्चसि ।

[तथापि त्वं दारुणिका इत्युच्यसे । इति संस्कृतम्]

(पुनः क्रमान्नेपथ्ये—) ।

मे [प्रसत्ति] प्रसन्नताके भी आ जानेसे । और यहाँ रुद्ध लवके मनकी प्रसत्ति अर्थात् प्रसन्नता है । [अतः यह रुद्ध प्रसादन रूप शक्तिके भीतर ही आ जाता है । उसका अलग लक्षण करने की आवश्यकता नहीं है] ।

अन्य लोग प्रकृत अभिप्रायके विरुद्ध आचरणके हेतुभूत अभिप्राय-रूप भावान्तरको इसके स्थान पर अङ्ग मानते हैं । जैसे तापसवत्सराजके पठे अङ्कमें यौगन्धरायणका वासव-दत्ताको मरानेसे बचानेका अभिप्राय है । किन्तु उसके विपरीत चित्ता बनानेकी क्रिया दूसरे अभिप्रायसे कराई है । इसलिए यह भावान्तर [अङ्ग] का उदाहरण है । जैसे कि—

यहाँ [यौगन्ध रायण कहते हैं]

“यौगन्धरायणः—हे भद्र विनीतक ! चित्ता बना दो । यह [यौगन्धरायणका धन उनके प्रकृत अभिप्रायके विपरीत होनेसे भावान्तरका उदाहरण है] ।

अन्य लोग शक्तिके स्थानपर आज्ञा [नामक अङ्ग] को रखते हैं । उचित-अनुचितका विचार किए बिना बोधते जो प्राग वे देना है उसको आज्ञा [अङ्ग] कहते हैं । जैसे कृत्यारावणमें त्रिजटा दारुणिका नामकी राक्षसीसे पूछती है ।

त्रिजटा—हे दारुणिके ! तुम क्या कह रही हो ?

दारुणिका—हे प्रायं त्रिजटे ! [रावणकी] अप्रतिहृत आज्ञा मेरे शरीरपर भले ही गिरे [अर्थात् रावण भले ही मुझे जान से मरवा डाले] किन्तु मैं इस प्रकारका अनुचित कार्य नहीं करूँगी ।

त्रिजटा—फिर भी लोग तुमको दारुणिका [नामसे] कहते हैं ।

फिर हमसे नेदप्यमें—

“हा तियडे । एसा दे पियसही सीटा भत्तुणो मायासिग्दहसुप्पत्तीमरण-
निन्द्या अग्गि पविसिड्ढामा । [हा त्रिजटे एषा ते प्रियमग्गी सीता भर्तुर्माया-
शिरोदर्शनोत्पत्तिमरणनिश्चया अग्नि प्रवेष्टुकामा] ।

त्रिजटा-हा हृद्मिम मद्भाङ्गी मा दाणि दिव्वेण भत्तुणो आणा सपादीयदि ।
[हा इतस्मि मन्दभागिनी । मा इदानीं देवेन भर्तुराज्ञा सम्पाद्यते] ।

एतस्माद्वसीयते सीताव्यापादनाय क्रोधाद् रावणेन दाणिकायै आह्वा
दुत्तेति ।

सर्वमन्विष्वपि मतान्तराणि वृद्धोक्त्यान् भणितिभेदाद् वैचित्र्यम्य रक्षक-
त्वाच्च प्रमाणान्येव । अत एव सर्वमन्विष्वप्यगसरथाकरणमुदाहरणपरमिति
मन्तव्यमिति ।

अथ प्ररोचना—

[सूत्र १००]—भानमिद्धिः प्ररोचना ।

निर्दहगमन्धौ भाविनोऽर्थस्य मिद्धि सिद्धत्वेनोपक्रमणं प्रकर्षेण रोच्यते
वीष्यतेऽनया रूपकार्थं इति प्ररोचना । यथा वेणीमहारे—

पाञ्चालक —[‘अह च देवेन चक्रपाणिना’ इत्युपजम्य] कृतं मन्देहेन—
पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
वृष्णात्यन्तचिरोत्मिते च कवरीबन्धे करोतु क्षणम् ।

हा त्रिजटे ! तुम्हारी यह प्रिय सखी सीता स्वामी [रामचन्द्रके] बनावटी शिरको
देखनेके कारण देनेके निश्चय करके अग्निमें प्रविष्ट होना चाहती है ।

त्रिजटा—अरे मैं प्रभागिनी मरी । भगवान् करे इस समय स्वामी [रावण] की
अज्ञातपूर्ण न हो सके ।

इस [सवाव] से प्रतीत होता है कि रावणने दाणिकाको सीताको मार डालनेकी
अज्ञात की थी । [इसलिए यह ‘अज्ञात’ नामक अङ्गका उदाहरण है । क्योंकि यह अज्ञात क्रोधा-
वशमे ही दी गई है ।

सभी सधियोंमें [अङ्गोंके विषयमें] अथ अन्य [सफल प्रस्तुत करनेवाले] मत वृद्धों
द्वारा कथित होनेसे और वरुण संतीके भेदसे उत्पन्न वैचित्र्यके मनोरञ्जक होनेके कारण
प्रमाणभूत [भाग्य] ही है । इसीलिए सभी सधियोंमें अङ्गोंकी गणना केवल उदाहरण-परक
समझनी चाहिए । [अर्थात् उसी प्रकारके अथ अङ्ग भी हो सकते हैं । वरुण सध्या निदिधत
नहीं है यह समझना चाहिए] ।

अथ ‘प्ररोचना’ [नामक विमर्शसधिके दशम अङ्गके लक्षण आदि करते हैं]—

धामे होनेवाली सिद्धि [का कथन] प्ररोचना’ [कहलानी] है ।

निबंहुल सधिये धामे होनेवाले धर्मकी सिद्धि धर्म या उत्तको सिद्ध ही मानकर कथन
करना जिसके द्वारा स्वयंका विषय प्रकर्षसे प्रकाशित या दांस होता है [इस ध्युपसिद्धे धनु-
सार] ‘प्ररोचना’ [कहलानी] है । जंगे देलीसहार’म—

पाञ्चालक —[मुझे देव अथवाणि वृष्ण ने यहमि तेवर] सदेहकी कोई आशय्यकता
नहीं है [इस लिए]—

रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि

क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥

अत्र युधिष्ठिरराज्याभिषेकस्य द्रोपदीकेशसंयमनस्य च भाविनोऽपि सिद्ध-
त्वेन कल्पनम् ।

यथा वा राघवाभ्युदये सप्तमेऽङ्के—

सीताया वदनं विकाशमयता रामस्य शोकानलः

शान्तिं यातु सगीतयश्च भुजैर्नृत्यन्तु शाखामृगाः ।

सन्धानाय विभीषणः प्रयततां लंकाधिपत्यश्रियः

सौमित्रेर्देशकण्ठ-कण्ठविपिनं कालः किर्यांश्चिह्नन्दतः ॥ इति ।

अन्ये तु सत्कारादेशान् प्ररोचनामाहुः । यथा वेणीसंहारे—

युधिष्ठिरः—[पुरुषभवलोक्य] भद्र उच्यतां सहदेवः क्रद्धस्य वृकोदरस्या-
पयुर्पितां दारुणां प्रतिज्ञामुपलभ्य प्रणष्टस्य मानिनः कौरवनाथस्य पदवीमवेक्षितु-
मतिनिपुणमतयः, तेषु तेषु स्थानेषु परात्मवेदिनश्चारा, मन्त्रिणः मचिवाश्च भक्तिमन्तः
पटुपटह्वयक्तघोषणाः सुयोधनसञ्चारवेदिनः प्रतिश्रुतधन-पूजा-प्रत्युपक्रियाः सञ्चरन्तु
समन्तपञ्चकमिति । धन-पूजाप्रतिश्रवणप्रचोदिताः प्रत्युपकारे वर्तिष्यन्ते दुर्योधन-
प्रतिलम्भवार्तायै । इति ।

आप [अर्थात् युधिष्ठिर] अपने राज्याभिषेकके लिए आप रत्नके कलशको जलसे
भरवायें, और द्रोपदीके बहुत दिनोंसे खुले हुए केशपाशको बांधनेका उत्सव करे । क्योंकि तीक्ष्ण
कुठारसे दीप्त करवाले क्षत्रिय रूप वृक्षोंको काटनेवाले परशुराम और क्रोधान्ध भीमके संग्राममें
आ जाने पर [विजयमें] क्या सदेह है ?

इस [पाञ्चालकके कथन] में आगे होनेवाले युधिष्ठिरके राज्याभिषेक तथा द्रोपदीके
केशबंधन रूप अर्थको सिद्ध-सा मान लिया गया है । [अतएव यह 'प्ररोचना' नामक अङ्गका
उदाहरण है] ।

अथवा जैसे राघवाभ्युदयके सप्तम् अङ्कमें—

सीताका मुख प्रसन्नतासे खिल उठे, रामचंद्रजीकी शोकानल शांत हो जाय, वानर
सोग गीत गाते हुए और हाथ हिलाते हुए नाचें, और विभीषण लज्जाकी राज्यतक्ष्मीको प्राप्त
करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दे, क्योंकि लक्ष्मणकी रावणके कण्ठोंके धनको काटनेमें कितनी
वेर लगनी है [तनिक देरमें पाट डालेंगे] ।

इसमें आगे होनेवाली बातोंकी मिद्धवन् वर्णन किया गया है । इसलिए यह 'प्ररोचना'
अङ्गका उदाहरण है ।

अन्य लोग सत्कारकी प्रज्ञाको 'प्ररोचना' कहते हैं । जैसे 'वेणीसंहार'में—

युधिष्ठिर—[पुरुषकी घोर देतकर] भद्र सहदेवसे कहो कि क्रुद्ध भीमकी याती न
होनेवाली [अर्थात् आज ही पूरी होनेवाली दुर्योधनके धपकी] प्रतिज्ञाको सुनकर दिप गए हुए
अभिमानी कौरवराजके स्थानका पता लगानेके लिए उन-उन स्थानोंपर अपने घोर शत्रुपक्षके
पहिचाननेवाले गुप्तचर, मंत्री और भक्तिमान् सखिय और तीव्र पटह माघ द्वारा स्पष्ट हथके
घोषणा पन पूजा आदि पुरस्कारकी सूचना प्राप्त, दुर्योधनके गमनायमन [के स्थानों] की

अन्ये त्वस्य स्थाने युक्ति पठन्ति । युक्तिश्च सविच्छेदोक्तिः । यथा पुष्प-
द्वृत्तिके—

“समुद्रदत्तः—

भर्ता तवाहमिति कष्टदशाविरुद्धं,
पुत्रस्तवैष कुत इत्यनुदारतैषा ।
शस्त्रं पुरः पतति किं करवाणि हन्त,
व्यक्तं विरोमि यदि साभ्युपस्यते माम् ॥” इति ।

(१६) अध्यादानम्—

[सूत्र १०१]—फलसामीप्यमादानम् ।

मुख्यफलस्य दर्शनमादानम् । यथा नागानन्दे—

[नायकमुद्दिश्य] गरुडः—

नागानां रक्षिता भाति गुरुरेष यथा मम ।
तथा सर्पाशानाकांक्षा व्यक्तमशापनेष्यति ॥

अत्र नागरक्षालक्षणस्य मुख्यफलस्य सामीप्यनिबन्ध इति ।

(१७) अथ व्यवसायः—

[सूत्र १०२]—व्यवसायोऽर्थ्यहेतुयुक् ॥ ६० ॥

जाननेवाले लोगोको समंत-पञ्चकके चारों ओर भेज दें । बदलेमे धन पूजा आदिके आश्वात्तन से प्रेरित होकर दुर्योधनको पकड़वानेके [लिए] समाचार देनेको तयार हो जायेंगे ।

इसमें दुर्योधनका पता लगानेवालोकी सत्कार धन आदिका प्रलोभन देनेका जो बचन दिया गया है वही ‘प्ररोचना’ है ।

अन्य लोग तो इस [प्ररोचना] के स्थानपर युक्ति [अज्ञ] को पढ़ते हैं । जैसे पुष्पद्वृत्तिक मे समुद्रदत्त [कहता है]—

“जैसे तुम्हारा स्वामी है यह [कहना इस] कष्टदशाके विपरीत है । यह तुम्हारा पुत्र है [यह कहा जाय] तो फिर यह अनुदारता क्यों ? दारुका प्रहर होतियाला है अब क्या कहें, यदि स्पष्ट रूपसे रोता-घिस्ताता हूँ तो वह मुझको जान लेगी ।”

(१२) अथ ‘अध्यादान’ [नामक विमर्शोपपत्तिके अन्तर्गत् अज्ञान सशय आदि करते हैं]—

[सूत्र १०१] फलका समीप शोचता ‘आदान’ कहलाता है ।

मुख्य फलका [समीप] बोलना ‘आदान’ कहलाता है । जैसे नागानन्दमे नायकको सद्ग्य करने गरुड [कहते हैं]—

“नागोके रक्षक मे [जोमृतवाहन] मेरे मुझे प्रतीत होते हैं इगनिए अब सर्पोंको लाने को [मिरी] इच्छा निश्चय ही समाप्त हो जायगी ।”

इसमे नागोंकी रक्षा रूप मुख्य कार्यके सामीप्यका वर्णन किया गया है । [अत एव यह ‘आदान’ नामक इस अज्ञानका उदाहरण है] ।

(१३) अथ ‘व्यवसाय’ [नामक विमर्शोपपत्तिके अन्तर्गत् अज्ञान सशय आदि करते हैं]—

[सूत्र १०२]—अर्थनीय फलके हेतुका योग ‘व्यवसाय’ [कहलाता] है । ६० ।

‘युगिति’ योजन युक् । अर्थनीयफलस्य हेतुस्तद्योगो व्यवसायः । यथा रत्नावल्याम्—

“ऐन्द्रजालिकप्रवेशादारम्य—‘एको उण खेडओ तए अवसस पेक्किदव्वो’ [एक पुन खेलकस्त्वयावश्यं प्रेक्षितव्य] इति यावत् । अत्र हि यौगन्धरायणेन यद्गोकृतं तन्निष्पादकहेतुसमागमः ।

अन्ये तु ‘व्यवसाय स्वशक्त्युक्ति’ इति पठन्ति । यथा वेणीसहारे—
नून तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभगभीरणा ।

वध्यते केशपाशस्ते स चास्याकर्षणक्षम ॥ इति ।

एतच्च ‘सरम्भ शक्तिर्त्वनम’ इत्यनेनैव सगृहीतमिति ।

केचिदन्यतमाज्ञानङ्गीकारेण द्वादशाङ्गमेवैत सर्वात्मिन्छन्ति । एव गर्भसन्धिमापीति ।

एतान्यधमर्शसन्धेस्त्रयोदशाङ्गानि ।

अथ निर्वहणसन्धेरङ्गानि लक्षयितुमुद्दिशति—

[सूत्र १०३]—सन्धि-निरोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।

उपास्तिः कृतिरानन्दः समयः परिगूहनम् ॥६१॥

‘युक्त’ अर्थात् योजन । अर्थनीय फलका जो हेतु उसका योग ‘व्यवसाय’ [कहलाता] है । जैसे रत्नावलीमें—ऐन्द्रजालिकके प्रवेशसे लेकर मेरा एक खेल आपकी अवश्य देखना चाहिए’ यहाँ तक [अर्थनीय फलका योग होनेसे व्यवसाय अङ्गका उदाहरण है] । इसमें योगधरायणने [उदयन तथा वासववत्ताका सम्बन्ध करानेका] जो निश्चय किया था उसके सम्पादक हेतुका समागम हो रहा है [अत एव यह ‘व्यवसाय’ नामक अङ्गका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो ‘अपनी शक्तिका कथन करना ‘व्यवसाय’ [कहलाता] है’ ऐसा लक्षण करते हैं । जैसे वेणीसहारे—

‘प्रतिज्ञाका भङ्ग न होने पावे इस भयसे यह धीर [भीमसेन] निश्चय ही आज तुम्हारे केशपाशकी बांधेगा और जिस [डु शासन] ने इसको सोंचा था उसको मारेगा ।’

यहाँ ‘वध्यते’ यह पद यथार्थक तथा यथार्थक दोनों धातुओंसे समान रूपमें ही बनता है इसलिए उसका एक पक्षमें बांधना और दूसरे पक्षमें मारना दोनों ही अर्थ होते हैं ।

[बुद्ध लोग व्यवसाय का ‘व्यवसाय स्वशक्त्युक्ति’ ऐसा लक्षण करते हैं] कि तु यह ‘शक्तिका कथन करना सरम्भ [अङ्ग कहलाता] है’ इस [सरम्भ अङ्ग] के भीतर ही आ जाता है [अत व्यवसायका यह लक्षण उचित नहीं है] ।

बुद्ध लोग [विमदांसपिथे तेरह अङ्गोंमेंसे] किसी अङ्गको न मानकर इस सपिथे बारह अङ्ग ही मानते हैं । इसी प्रकार गर्भसपिथे भी [बारह अङ्ग ही मानते हैं] ।

ये अष्टमदांसपिथे तेरह अङ्ग हैं ॥ ६० ॥

निर्वहण सन्धिके चौदह अङ्ग —

एव निर्वहणसपिथे के अङ्गोंके लक्षण करनेकेलिए उनके नाम गिनाते हैं—

[सूत्र १०३ ब]- (१) सपिथ (२) निरोध, (३) घपन, (४) निर्णय (५) परिभाषण, (६) उपागना, (७) इति, (८) आनन्द, (९) समय, (१०) परिगूहना ॥६१॥

भाषणं काव्यसंहार-पूर्वाभाव-प्रशस्तय ।

चतुर्दशाङ्गो निर्वाहः,

विशेषानुपादानात् सर्वाण्यप्येतानि प्रथानानि ॥६१॥

(१) अथ सन्धिः—

[सूत्र १०४]—सन्धिर्योजफलागमः ॥६२॥

मुद्रासन्धौ न्यस्तस्य प्रारम्भावस्थाविषयीकृतस्य बीजस्य उद्घाटनीमुख्याद्यै-
र्विकारैः फले फलागमावस्थायामागमनं ढीकनं सन्धिः । यथा रत्नावल्याम्—

वसुभूति —[अग्निविद्रवानन्तरं सागरिकां निर्वर्ण्य] वाभ्रव्य ! सुसदृशीयं
राजपुत्र्या ।

वाभ्रव्यः—ममाप्येवमेव मनसि । इति ।

अत्र मुखे यदुप्तं बीजं तन्निकटीभूतमिति । इदमङ्गमवश्यं नियन्धनीयम् ॥६२॥

(२) अथ निरोधः—

[सूत्र १०५]—निरोधः कार्यमीमांसा ।

नष्टस्य कार्यस्य युक्तये यदन्वेपणं तन्निरुद्धवस्तुविषयत्वाच्चिरोधः । यथा ह्यलित-
रामे लक्ष्मणेन वद्ध्वा आनीतो लवो यद्यार्थं सीताप्रतिकृतिमुपकल्पितां रामसदृशि
दृष्ट्वा स्वगतमाह—

[सूत्र १०३ ख]—(११) भाषण, (१२) काव्योपसंहार, (१३) पूर्वाभाव तथा (१४)
प्रज्ञप्ता, निर्वहण [सन्धि] के ये चौदह अङ्ग होते हैं ।

[अग्न्य संधिपक्षे समान इनमे गीण और मुख्यका] भेद न किए जानेसे ये सभी मुख्य
अङ्ग हैं [इनमे कोई भी अङ्ग गीण नहीं है] । ६१ ।

(१) अब 'सन्धि' [नामक निर्वहणसंधिपक्षे प्रथम अङ्गका सक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १०४]—बीजका फल रूप तक पहुँचना 'सन्धि' [नामक अङ्ग कहलाता] है । ६२ ।

मुखसंधिमे आरोपित प्रारम्भावस्था बीजरूपका, उद्घाटनोन्मुख्य आदि विकारोंके
द्वारा फल अर्थात् फल प्राप्तिकी अवस्थामें आ जाना अर्थात् पहुँच जाना 'सन्धि' [नामक अङ्ग
कहलाता] है । जैसे रत्नावलीमे—

"वसुभूति—[अग्निदाहके उपद्रवोंके बाद सागरिकाको देखकर] हे वाभ्रव्य ! यह
तो राजपुत्रीके समान मामूम होनी है ।

वाभ्रव्य—मेरे मन मे भी वही बात है ।

यहाँ मुखसंधिमे जिस [सागरिका प्राप्ति रूप] बीजका अणु बिना गया था वह
[प्राप्तिके अर्थात्] निरुद्ध पहुँच गया है । इस अङ्गकी रचना अवश्य ही करनी चाहिए । ६२ ।

(२) अब 'निरोध' [नामक निर्वहणसंधिपक्षे द्वितीय अङ्गका सक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १०५]—कार्यका विचार करना 'निरोध' [कहलाता] है ।

विनष्ट कार्यके बनानेके लिए जो अनुसंधान करना वह निरुद्ध [विनष्ट] वस्तु-विषयक
होनेसे 'निरोध' [कहलाता] है । जैसे ह्यलितराममे [प्रथममेधयज्ञका घोड़ा पकड़नेके कारण]
सक्षमण द्वारा बाँधकर माया हुआ सब रामके सभा भवनमे यज्ञके लिए बनाई हुई सीताकी
गुणार्थमयी प्रतिमाको देखकर अपने मनमे कहता है—

“लवः—अथे कथमियमन्या राजद्वारमागता । [वत्थाय सहसोपसृत्याञ्जलि यद्धवा] अन्ध ! अभिवादये । [निरुप्य] कथमियं काञ्चनमयी । [अपसृत्योपविशति, सर्वे परस्परमवलोकयन्ति] ।

रामः—[दृष्ट्वा] वत्स ! किमियं तव माता ।

लवः—राजन ! ज्ञायते मैवेयमस्मञ्जनेनी, किन्त्वेषा देवी भूषणोष्णवला ।

[रामः सवाष्पं हस्ते गृहीत्वा समीपे उपवेशयति] ।

लक्ष्मणः—[साल्म] आयुष्मन् ! किन्नामधेया सा देवानां प्रियस्य जननी ।

लवः—तां खलु मातामहो अस्माकमभिधत्ते सीतेति ।

लक्ष्मणः—[सवाष्पं रामस्य पादयोर्निपत्य] आर्य ! दिष्ट्या वर्धसे, सपुत्रा जीवत्यार्या ।”

अत्र नष्टय सोताजीवनकार्यस्य युक्त्या भीमांसेति ।

(३) अथ प्रथमम्—

[सूत्र १०६]—ग्रथनं कार्यदर्शनम् ।

कार्यं मुख्यफलम् । ग्रथयते सम्बध्यते व्यापारेण मुख्यफलमनेनेति प्रथमम् । यथा वेणीसंहारे—

“भीमसेनः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिता । तिष्ठतु तिष्ठतु स्वयमेवाहं संहरामि ।” इति ।

“लव—अरे, ये माताजी राजाके द्वारपर कैसे आई ? [उठकर प्रीर सहसा पास जाकर प्रीर हाथ जोड़कर—हे माताजी ! नमस्ते ! [दिलकर] अरे यह तो सोनेकी है । [हटकर बंठ जाता है । सब लोग एक-दूसरेको देखने लगते हैं ।

राम—[दिलकर] हे वत्स ! क्या ये तुम्हारी माताजी हैं ।

लव—हे राजन् ! ऐसा मालूम होता है कि ये हमारी वे माता ही हैं । किन्तु यह बेबी तो भूषण पारण किए हुए है ।

[रामचंद्र रोते हुए हाथ पकड़कर लवको पास बिठातते हैं] ।

लक्ष्मण—[रोते हुए] आयुष्मन् ! तुम्हारी माताजीका क्या नाम है ?

लव—उनको ह्यारे मानाजी सोता कहते हैं ।

लक्ष्मण—[रोते हुए रामचंद्रके पैरोंपर गिरकर] आर्य, भाग्यसे आपकी वृद्धि है । आर्या [सोता] पुत्र सहित जीवित हैं ।”

यहाँ सोताके जीवनरूप विनष्ट हुए कार्यकी पुक्ति द्वारा भीमांसा की है । [प्रतः यह निरोध नामक प्रज्ञका उदाहरण है] ।

(१) अथ 'प्रथन' [नामक निर्वहण संपिके तृतीय अङ्गका सधरण प्रादि करते हैं]—

[सूत्र १०६]—कार्यका दिललाई देना 'प्रथन' [कहलाता] है ।

कार्यं धरति मुख्य फल ! जिस व्यापारके द्वारा मुख्य फल प्रथित धरान् सम्बद्ध होता है वह 'प्रथन' [प्रज्ञ] है । जैसे वेणीसंहारमें—

“भीमसेन—हे पाञ्चालि ! मेरे जीवित रहते दुःशासनके द्वारा खींचे गए बेनीकी धरने हाथसे मत बांधना । ठहरो-ठहरो, मैं स्वयं अभी बांधता हूँ ।”

अत्र द्रौपदीवेशसंयमनकार्यस्य व्यापारेण प्रथममिति ।

(४) अथ निर्णय —

[सूत्र १०७]—निर्णयोऽनुभवख्यातिः ।

ज्ञेयेऽर्थे सन्दिहान् अप्रतिपद्यमान वा प्रति यदनुभवस्यानुभूतस्यार्थस्य निर्णयार्थं कथनं तन् ज्ञेयार्थनिर्णयान् निर्णय । यथा यादवाभ्युदये समुद्रविजय प्रति—

“वसुदेव —[सप्रमोदम्] देव । मया कमप्रतिभयेन कृष्ण गोकुले गोपयता यो महान् क्लेशोऽनुभूतस्तस्य फलमिदानीमभून् । किन्तु लोकपरिज्ञानभयेन यन्मया देवपादानामपि न विद्वत् तत्र देवेन क्षन्तव्यम् ।”

अत्र वसुदेवेन स्यानुभूत कृष्णगोपनक्लेश समुद्रविजयो बोधित ।

यथा वा पुष्पदूतिके प्रकरणे—

‘किन्नामनक्षत्रोऽयं बालकः’ इति समुद्रदत्तेन पृष्ठ सेनापति विशारवानक्षत्रोऽयं बालकः’ इत्याह ।

समुद्रदत्त श्रुत्वा पूर्वानुभूतं नन्दयन्तीसमागम स्मरन्नाह—‘तदा किल नन्दयन्त्या प्रष्टेन मया कथितं यथा—

एनी तौ प्रतिदृश्येते चारुचन्द्रममप्रभौ ।

ख्यातौ कल्याणनामानौ उभौ तिन्यपुनर्सू ॥

तदाधानाद् दशम जन्मनक्षत्रमिति ज्योति शास्त्रसमयविदो यद् द्रुघते तदुपपन्नमेवेति ।

इसमे द्रौपदीके केसोके धार्यनेक रूप कार्यका व्यापार द्वारा प्रथम किया है ।

(४) अथ निर्णय [नामक निर्णहणसंधिके घतुर्धं अङ्गका लक्षण भावि करते हैं]—

[सूत्र १०७]—अनुभवका कथन करना ‘निर्णय’ [कहलाता] है ।

जानने योग्य धर्मके विषयमे सदेहपुरुषत या अज्ञानपुरुषत स्थितिके प्रति जो निर्णयमे लिए अनुभूत धर्मका कथन करना है वह, ज्ञेय धर्मका निर्णय करनेवाला होनेमे ‘निर्णय’ [कहलाता] है । जैसे यादवाभ्युदयमे समुद्रविजयके प्रति यमुदेव करते हैं—

‘वसुदेव—[आनन्दके साथ] देव कसके भयक कारण कृष्णको गोकुलमे द्विपार रक्षने मे मैने जो बट उठाए उनका कत धात्र प्राप्त हो गया । किन्तु लोगोंके मात्स्य हो जानेके भय मे जो मैने धापको भी नहीं बतनाया उसके लिए धाप समा करे ।”

यहाँ वसुदेवने अपने अनुभूत कृष्णके द्विपानेके बनेवाको समुद्रविजयको सूचना दी ।

अथवा जो पुष्पदूतिके [नामक] प्रकरणमे—‘यह बालक किना नक्षत्रमें उत्पन्न हुआ है’ इस प्रकार समुद्रदत्तके द्वारा पूछे जानेपर सेनापति—‘यह बालक किनाया नक्षत्रमेका है’ यह कहते हैं । इसको सुनकर समुद्रदत्त पूर्वानुभूत नन्दयनीक समागमको स्मरण करते हुए कहते हैं कि ‘उक्त समय नन्दयनीके द्वारा पूछे जानेपर मैने उनमे कहा था कि—

धन्त्रमाके समान सुन्दर कांति वाले और प्रतिष्ठ सुन्दर नामवाले मे दोनों निच्य और पुनर्वसूके समान दिगताई देन हैं ।

उनको ध्यानमें रखनेमे ज्योतिशास्त्रके परिचय जो यह करते हैं कि इनका जन्म-जन्मरूप है तो ठीक हो है ।”

(५) अथ परिभाषा—

[सूत्र १०८]—परिभाषा स्वनिन्दनम् ॥ ६३ ॥

स्वापराधोद्घटन परिभाषा । यथा तापसवत्सराजचरिते वासवदत्तां प्रति—

“राजा—[सास्रम्] देवि ! किं ब्रवीषि—

यथा तथा धृतप्राण निस्नेह निरपत्रपम् ।

आनन्दामृतवर्षिण्या दृष्ट्याप्यनुगृहाण माम् ॥

यथा वा नलविलासे दमयन्तीं प्रति नल.—

“न प्रेम निहित चित्ते न चाचारः सता स्मृतः ।

त्यजता त्वां वने देवि ! मया दारुणमाहितम् ॥”

यथा वा राघवाभ्युदये रामः [स्वगतम्]

“वैदेहीं हृतवांस्तदेव मद्गत. सख्ये विपद्य क्लमान्,

चक्रोत्पाटितकन्धरो दशमुप. कीनाशदासीकृतः ।

प्राणान् यद्विरहेऽप्यह विधृतवांस्तेन त्रपापांसुरं,

यत्र दर्शयितुं तथापि न पुरस्तस्या विलक्ष्य क्षम ॥”

एषु वत्सराज-नल-रामचन्द्राणां स्वापराधोद्घटनमिति । एतदङ्गं रञ्जकत्वा-
दत्रावश्य निबन्धनीयम् ।

(५) अथ ‘परिभाषण’ [नामक निर्वहण सधिके पञ्चम अङ्गका लक्षण आदि कहते हैं]—
अपनी निन्दा करना ‘परिभाषण’ [कहलाता] है । ६३ ।

[सूत्र १०८]—अपने अपराधको प्रकाशित करना ‘परिभाषा’ [अङ्ग कहलाता] है ।
जैसे तापसवत्सराज चरितमे वासवदत्ताके प्रति [राजा उदयन कहते हैं]—

“राजा—[रोते हुए] देवि ? क्या कहती हो—

स्नेहरहित और निलंज, जैसे-तैसे अपने प्राण धारण करनेवाले मुझको तुम अपनी
आनन्दामृतको बरसानेवाली दृष्टिसे अनुगृहीत करो ।”

अथवा जैसे नलविलासमे नल दमयतीके प्रति [कहते हैं]—

“मैंने [तुमको वनमे सोता छोड़कर जाते समय] न तुम्हारे प्रेमका मनमे विचार किया
और न सज्जन-पुरुषोंके आचारका । हे देवि ! तुमको वनमे छोड़कर मैंने अत्यन्त निष्ठुरताका
कार्य किया था ।”

अथवा जैसे रामाभ्युदयमे राम [स्वगत कहते हैं]—

“इस [राघव] ने वैदेहीका अपहरण किया था इसलिए युद्धमे नाना प्रकारके बनेशोंको
उठाकर घबरे गये बाटकर उत रावणको यमराजका दास बना दिया । किन्तु तुम्हारे विभोग
में भी जो मैं प्राण धारण किए रहा इस लज्जाके कारण मैं अपने मलिन मुलको तुम्हारे
गामने दिला नहीं पाता हूँ ।”

इन [तीनों उदाहरणों] में [क्रमशः] वत्सराज, नल और रामचन्द्र अपने अपने अपराधों
को प्रकाशित करते हैं [इसलिए ये ‘परिभाषण’ नामक अङ्गका उदाहरण हैं] ।

मनोरञ्जक होने के कारण इस अङ्गको रचना अवश्य ही करने चाहिए ।

कुत्र सोम ‘आपममे यातघीतको परिभाषण’ कहते हैं । इसमें भी यही [वत्सराज

पक्षे तु 'परिभाषा मिथो जल्प' इति पठन्ति ।

अत्रापीदमेवोदाहरणमिति ॥६३॥

(६) अयोपास्ति —

[सूत्र १०६]—सेवोपास्तिः ।

सेवा पर-प्रमत्तिहेतुर्व्यापारः । यथा वेणीसंहारे—

"भीम —[द्रौपदीमपुस्त्य] देवि पाञ्चालतनये ! दिष्टया वर्धसे रिपुकुल-
क्षयेण ।"

अनेन, भीमेन द्रौपद्याः प्रसादितत्वात् पर्युपास्तिः ।

यथा वा रघुविलासे—

"राम [सविनय सीता प्रति]—

प्राणान यदिरहेऽप्यह विवृतवान् देवि । प्रियप्राणित-

मन् चन्तव्यमशेषमेव ममय स्मेराक्षि । नैव क्रुधाम् ।

सौमित्रे कपिभर्तुरस्य च मन प्रीत्यै तदेहि प्रिये,

हस्तिस्फन्धमलकुरुष्व ननु ते पूर्ण प्रतिज्ञायधि ।"

अत्र रामस्य सीताप्रमत्तिहेतुर्व्यापारः ।

अन्ये त्वस्य स्थाने प्रियद्विज्ञाचरणजनिता प्रसक्ति प्रसादमङ्गमाहुः । यथा
सापमवत्सराजे गृहीतपाञ्चालाधिपति रुमएवन्त यौगन्धरायण च प्रति—

नत तथा रामचद्र तीर्णोकी उक्तिर्मां उदाहरणं है । ६३ ।

(६) अथ 'उपास्ति' [नामक निर्वहणसंधिके पठ्ये अङ्गका लक्षण आदि बहते है]—

[सूत्र १०६]—सेवा [का ही नाम] 'उपास्ति' [उपासना] है ।

सेवा अर्पात् दुस्तरको प्रसन्न करनेवाला व्यापार [उपासना उपास्ति कहलाता है] जैसे
वेणीसंहारमे—

'भीम—[द्रौपदीके पास जाकर] हे देवि पाञ्चालतनये ! सौभाग्यसे शत्रुकुलसे नाराते
तुम्हारी वृद्धि हो रही है ।"

इसके द्वारा भीमके द्रौपदीको प्रसन्न करनेसे यह पर्युपासन [का उदाहरण] है ।

अथवा जैसे रघुविलासमे—

"राम [विनयपूर्वक सीताके प्रति]—

हे देवि ! तुम्हारे विरहमे भी अपने जीवनका प्रभो मैं जो प्राण धारण किए रहा उग
सबको क्षमा करो । हे स्मेराक्षि ! यह समय शोधका नहीं है । लक्ष्मण और इस मानदराज
[गुणोक्त] के मनको प्रसन्न करनेके लिए आसो हाथीकी पीठको प्रलङ्घित करो । तुम्हारी प्रतिज्ञा
की अवधि समाप्त हो चुकी है ।"

यहाँ सीताको प्रसन्न करनेवाला रामका व्यापार है [अतः यह भी उपास्ति' नामक
अङ्गका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो इस [उपास्ति] के स्थानपर प्रिय सदा हितके किए जानेके कारण
[होनेवाली मनकी] प्रसन्नता रूप प्रसाद' को अङ्ग करते हैं । जैसे सापमवत्सराजमे पाञ्चाला-
धिपतिके पकड़ लिए जानेके बाद रुमएवन्त और यौगन्धरायणके प्रति —

“राजा—साधु सचिवाग्रेसर ! साधुः—

श्लाघ्या धीर्धिषण्यस्य रावणवर्श यात. सुराणां पतिः,
सर्वं वेत्त्युशना रसातलमहाकालान्धकारे बलि ।
इत्यस्माननपेक्ष्य वैरिविजयप्राप्तौजसो के वयं,
स्तोतार. स्वयमेव वेत्तु युवयोर्लोकस्तयोश्चान्तरम् ॥”

अत्र वत्सराजस्यामात्याभ्यां प्रियहिताचरणजनिता प्रसत्तिरिति ।

(७) अथ कृति —

[सूत्र ११०]—कृतिः क्षेमम् ।

लब्धस्य परिपालनं क्षेमः । यथा रत्नावल्याम्—

“वासवदत्ता—अध्यवृत्त दूरे से शादिल्ल । ता तथा करेसि जधा बहुअणं
न सुमरेदि । [आर्यपुत्र दूरेऽस्या ज्ञातिकुलम् । तत् तथा कुर्या यथा बन्धुजनं न
स्मरति । इति संस्कृतम्] ॥”

अनेन लब्धाया रत्नावल्याः स्थिरीकरणम् ।

अन्ये पुनरस्य स्थाने प्राप्तस्य प्रातिकूल्यशमनं द्युतिमाहुः । यथा मुद्राराक्षसे—

“चाणक्यः—अमात्य राक्षस ! अपीष्यते चन्दनदासस्य जीवितम् ?

राजा—साधु [शाबाश] सचिवोमे अग्रगण्य साधु [शाबाश]—

बृहस्पतिकी बुद्धि बड़ी श्लाघनीय मानी जाती है किन्तु [वे जिन इद्रके मंत्री हैं वह] इन्द्र [अपने शत्रु] रावणके वशमे फंस गया । [लोग कहते हैं] शुकाचार्य सब-कुछ जानते हैं किन्तु [वे जिनके मंत्री हैं वह] बलि पातालके महाअंधकारमे पडा है । इसलिए हमारी अपेक्षा के बिना ही वैरी [पाञ्चालराज] पर विजय प्राप्त कर लेनेके कारण अपरिमित पराक्रमशील आप दोनोंकी प्रशंसा करनेवाला मैं कौन होता हूँ, ससार स्वय ही तुम्हारा और उन दोनों [अर्थात् बृहस्पति तथा शुकाचार्य] के अंतरको समझले । अर्थात् तुम दोनोंकी प्रतिभा बृहस्पति तथा उशना से कहीं अधिक है इसमे कोई सशय नहीं है ।”

इसमे [रुमण्वान् तथा यौगंधरामण] दोनों अमात्योके द्वारा किए गए [वैरिविजय तथा सागरिका सपोजन रूप] प्रिय तथा हितके कारण वत्सराजकी प्रसन्नता [का वर्णन] है [अत यह प्रसाद रूप अङ्गका उदाहरण है] ।

(७) अथ ‘कृति’ [नामक निबंधहणसंधिके सप्तम अङ्गके लक्षण आदि कहते हैं]—

[सूत्र ११०]—क्षेमको कृति कहते हैं ।

प्राप्तको रक्षा करना ‘क्षेम’ [कहलाता] है । जैसे रत्नावलीमे—

“वामवदत्ता—आर्यपुत्र ! इस [सागरिका] के घरके लोग [माता पिता] बहुत दूर रहते हैं । इसलिए आप ऐसा यत्न करें जिससे इसको बधुजनोंकी याद न धाये ।”

इस [वचन] से प्राप्त रत्नावलीको स्थिर किया जा रहा है । [अत यह सभ्य-परिपालन रूप ‘क्षेम’ अङ्गका उदाहरण है] ।

अन्य लोग तो इस [सभ्य-परिपालन रूप क्षेम] के स्थानपर प्राप्तके प्रतिकूलताके शमन रूप द्युतिको [अङ्ग] मानते हैं । जैसे मुद्राराक्षसे—

“चाणक्य—अमात्य राक्षस ! क्या आप चंदनदासके जीवन [की रक्षा] को चाहते हैं ?

राक्षस—भो विष्णुगुप्त ! कुत सन्देह ।

चाणक्य—अग्रहीतशस्त्रेण भवता नानुगृह्यते वृषल इत्यत सन्देह । तद्यदि सत्यमेव चन्दनदासस्य जीवितमिष्यते गृह्यतामिदं शस्त्रम् ।

राक्षस—विष्णुगुप्त ! मा भवम् । अयोग्या वयमस्य । विशेषतस्त्वया ग्रहीतस्य प्रहणे ।

पुनर्नहु प्रशस्य राक्षस चाणक्य आह—

चाणक्य—किमनेन ? भवत शस्त्रग्रहणमन्तरेण न चन्दनदासस्य जीवित-
मस्ति ।

राक्षस—नम सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय । न का गति । एष
गृह्यामि ।”

एतल्लब्धस्य राक्षसस्य साचिन्व्यग्रहणवामताप्रशमनाद् द्युति ।

अपरे तु क्रोधादे प्राप्तस्य शमन द्युतिभामनन्ति । यथा वेणीसंहारे—

“भीमसेन—राजपुत्रि ! अल मामवलोक्य त्रासेन—

कृप्रा येनासि राज्ञा मदसि नृपशुना तेन दुःशामनेन ।

स्त्यानान्येतानि तस्य स्पृश मम करयो पीतशेषाण्यसृब्जि ।

राक्षस—हे विष्णुगुप्त ! [इसमें] क्या सदेह है ?

चाणक्य—शस्त्रको [मंत्रिपद को] ग्रहण करके आप वृषल [खट्वगुप्त] को अनुगृहीत नहीं कर रहे हैं इसलिए सदेह है । इसलिए यदि सचमुच ही चन्दनदासके जीवनको [बचाना] चाहते हैं तो इस शस्त्र [मंत्रिपद] को स्वीकार करो ।

राक्षस—हे विष्णुगुप्त ! न न, ऐसी बात मत करो । हम इसके योग्य नहीं हैं । और विशेषकर तुम्हारे द्वारा ग्रहण किए [शस्त्र या मंत्रिपद] के ग्रहणमें । [हम मिलकुल ही अयोग्य हैं] ।

किं धनेक प्रकारमे राक्षसकी अत्यत प्रशंसा करके चाणक्य कहता है—

चाणक्य—इस सबसे क्या लाभ ? [सीधे सी बात यह है कि] तुम्हारे शस्त्र ग्रहण [मंत्रिपदको स्वीकार] किए बिना चन्दनदासका जीवन नहीं [बच सकता] है ।

राक्षस—[मित्रकी रक्षाके लिए अनिष्ट कार्य भी स्वीकार ही करना पड़ता है इसलिए] सब बायोंको स्वीकार करनेके हेतुभूत मित्र-स्नेहको नमस्कार है । और कोई मार्ग नहीं है । इसलिए इस [मंत्रिपद] को स्वीकार करता हूँ ।

यह प्राप्त हुए राक्षसके सचिव पदके स्वीकार करनेमें विरोधका शमन है इसलिए द्युति [नामक षणका उदाहरण] है ।

अथ सोम तो प्राप्त होनेवाले प्रोष आदिके शमनको 'द्युति' कहते हैं ।

जंते वेणीसंहारमे—

“भीमसेन—हे देवि ! मुझको देखकर इरो मत ।

जिस नरपशु दुःशासनने राजपुत्रोंको सभाके बीच मुझको [यास पकड़कर] खींचा था, उसके, पीनेमें खचे हुए और हाथोंमें जमे हुए इस रक्तको टूटकर देखो । और हे प्रिये ! मेरी पगसे जिसकी जपाने तोड़ डाली गई हैं उस प्रकारके शौर्यको राजा [दुर्योधन] ने

कान्ते राज्ञः कुरूणामतिसरसमिदं मद्गदाचूणितोरोः,
अङ्गेऽङ्गेऽसृद् निपिप्त तव परिभवजस्यानलस्यास्तु शान्त्यै ॥”

अत्र भीमेन द्रौपद्याः क्रोधोपशमः ।

तथा रत्नावल्याम्—

“देव श्रूयताम् । इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धेनादिष्टा । योऽस्या पाणिं
ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति ।” इत्यादेरारभ्य—

परिज्ञाताया स्वभगिन्याः सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम् ।” इति यावत् ।

अनेन स्वाजन्यावगमात् वासवदत्तायाः सागरिकां प्रति ईर्ष्या-कोपाय
शमनमिति ।

(८) अथानन्द —

[सूत्र १११]—अनन्दो वाञ्छितागमः ।

प्रकारशतैर्वाञ्छितमर्थस्य सामत्येन आगम प्राप्ति, आनन्दहेतुत्वात्
आनन्दः ।

यथा रत्नावल्याम्—

“वासवदत्ता—[राजानमुपेत्य] अञ्जुत्त पडिन्छ एद ।

[आर्यपुत्र ! प्रतीच्छताम् । इति मस्कृतम्] ।

राजा—[इत्तो प्रमार्थ] को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते ?

विद्रूपक — ही ही भो जयदु भव । ए पुहवी इदाणि इत्थे भूद य्येव विय-

बिलकुल ताजे रक्तको मॅने अपने प्रत्येक अगमे मला हुआ है उससे तुम्हारे अपमानसे जन्य ताप
को शांति होगी ।”

इसमे भीम के द्वारा द्रौपदीके क्रोधका शमन है [अतः क्षुति का उदाहरण है] ।

और रत्नावलीमे—

“हे देव ! सुनिए । इस सिंहलेश्वरकी पुत्रीके विषयमे सिद्धने कहा था कि जो कोई
इसका पाणिग्रहण करेगा वह सार्वभौम राजा बनेगा ।” यहाँसे लेकर—

“अब पहिचानी हुई अपनी बहिनके विषयमे क्या करना चाहिए इस विषय मे आप
ही प्रमाण है ।” यहाँ तक ।

इस [प्रसंग] से [रत्नावलीको] अपनी बहिन जानकर सागरिकाके प्रति वासवदत्ताकी
ईर्ष्या तथा शोधका शमन पाया जाता है [इसलिए यह क्षुतिका उदाहरण है] ।

(८) अब आनन्द [नामक निर्वहणसधिके अष्ट अगका लक्षण प्रादि करते हैं]—

[सूत्र १११]—वाञ्छित अर्थकी प्राप्ति ‘आनन्द’ [नामक अग कहलाता] है ।

संकेतों प्रकारोंसे वाञ्छित अर्थात् चाहे हुए अर्थका सम्पूर्ण रूपमे आगम अर्थात् प्राप्ति
आनन्दका कारण होगेसे ‘आनन्द’ [कहलाता] है । जैसे रत्नावलीमे—

“वासवदत्ता—[राजाके पास जाकर] आर्यपुत्र ! इस [रत्नावली] को ग्रहण कीजिए ।

राजा—[हाय पंताकर] देवीके प्रसादका कौन आदर नहीं करता है ? [इसलिए मैं
देवीका प्रसाद समझकर रत्नावलीको स्वीकार करता हूँ] ।

विद्रूपक — ही ही धरे आपकी विजय हो । [ज्योतिषियोंके कथनके अनुसार रत्नावली

वयस्सस् इति ।

[ही ही भो । जयतु भवान् ननु पृथिवीदानीं हस्ते भूतैव प्रियवयस्यस्य ।

इति संस्कृतम् ।]”

(६) अथ समयः—

[सूत्र ११२]—समयो दुःखनिर्वासः ।

दुःखनिर्गमयुक्तः कालः समयः । यथा मृच्छकटिकां चारुदत्तं, पालकस्य राज्ञ आज्ञया वध्यत्वेन चाण्डालगोचरगत, तत्क्षणप्राप्तराज्यस्य आर्यकस्याज्ञया शार्वलिक आह—

“शार्वलिक —अपयात अपयात जाल्माः । [दृष्ट्वा सङ्घर्षम्] धियते चारुदत्तः सद् वसन्तसेनया । सम्पूर्णाः खल्वस्मत् स्वामिनो मनोरथाः ।

दिष्ट्या भो ! व्यसनमहार्णवाद्गगाधा-

दुत्तीर्णं गुणवृत्तया मुशीलवत्या ।

त्वामेव प्रियतमया युतं समीक्षे,

व्योत्सनाह्वयं शशिनमिवोपरागमुक्तम् ।”

अत्र चारुदत्तस्य दुःखापगम इति ।

(१०) अथ परिगृहनम्—

[सूत्र ११३]—अद्भुताप्तिः परिगृहनम् ॥६४॥

का पाणिग्रहण कर लेनेके कारण] अथ समझो कि सारी पृथिवी ही प्रिय वपस्कके हाथमे आ गई ।

इसमे सागरिका रूप वाञ्छित अर्थकी प्राप्ति हो जानेसे राजाको अत्यंत आनन्द हुआ ।

इस प्रकार यह आनन्द नामक अगका उदाहरण है ।

(६) अथ 'समय' [नामक निर्वहणसधिके नवम अगका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ११२]—दु ख [के दिनों] का निकल जाना 'समय' [कहलाता] है ।

दुःखके निकल जानेवाला काल 'समय' [नामक अग कहलाता] है । जैसे मृच्छकटिकमे राजा पालककी आज्ञासे बध किए जाने योग्य चाण्डालके आण्डालके हाथमे पहुँच जानेपर [साहसा हुई राज्यव्यतिमे 'पालक' को हटाकर 'आर्यक' के राजा बन जाने पर] उसी समय राज्यके ऐश्वर्ये [अर्थात् राजसिंहासन को] प्राप्त करनेवाले 'आर्यक' की आज्ञासे 'शार्वलिक' कहता है—

“शार्वलिक—हटो आण्डालो हटो । [दिलकर हर्षपूर्वक] शीभाग्यसे वसन्तसेनाके सहित चारुदत्त जोबित है । अथ हमारे स्वामीके सब मनोरथ पूर्ण हो गए ।

शीभाग्यवश गुणो मे परिपूर्ण तथा मुन्दर शील स्वभाववाली [अपनी प्रियतमा वसन्तसेना] के सहित [आर्य चाण्डाल] अपार दुःखसागरको पार कर चुके हैं अथ मैं अट्टालके मुक्त पट्टिकायुक्त अद्रमाके समान तुमको [भी अपनी] प्रियतमासे युक्त देतना चाहता हूँ ।”

यहाँ चारुदत्तके दुःखकी समाप्ति हो जानेसे [यह 'समय' अगका उदाहरण है] ।

(१०) अथ 'परिगृहन' [नामक निर्वहणसधिके दशम अगका लक्षण आदि करते हैं] ।

[सूत्र ११३]—अद्भुत अर्थकी प्राप्ति 'परिगृहन' [कहलाता] है ।

विस्मयस्थायिभावात्मकस्य अद्भुतरसस्य प्राप्तिरुपगृह्णन्म् । यथा रामाभ्युदये
रामेण प्रत्याख्याता सीता ज्वलनं प्रविष्टा । तदनन्तरं—

नेपथ्ये कलकलः—

धूमत्रात वितानीकृतमुपरि शिलादोर्भिरभ्रंलिहाग्नेः,
विभ्रद् भ्राजिष्णु रत्नं ततमुरसि तथा चर्म चामूरवं च ।
भुयस्तेजः प्रतानैर्विरहमलिनतां क्षालयन्नङ्कभाजो,
देव्याः सप्तर्चिराविर्भवति विफलयन् वाञ्छितान्यन्तकस्य ॥”

तत प्रविशति पटाक्षेपेण सीतामादाय बह्वि । सर्वे दष्ट वा मसम्भ्रममुत्थाय
आश्चर्यं आश्चर्यम् । नमो भगवते हुताशनाय इति प्रणमन्ति ।”

अत्राग्निप्रविष्टसीताप्रत्युज्जीवनात् अद्भुतप्राप्ति ।

यथा वा रघुविलासे—

“मध्येऽम्भोधि ब्रभुव विशतिभुजं रक्षो दशास्यं पुन-
स्तत् पाताल-मही-त्रिविष्टपभटाश्चक्राम दर्विक्रमै ।
मर्त्यमनस्य पुनर्मृणालतुलया चिच्छेद कण्ठाटवी,
वैराग्यस्य च विस्मयस्य च पद रामायण वर्तते ॥

विस्मय जिसका स्थायीभाव है इस प्रकारके अद्भुत रसकी प्राप्ति 'परिगृहन' [कह-
लाता] है । जैसे रामाभ्युदयमे रामके द्वारा [प्रत्यारपान अर्थात्] अस्वीकार कर दिए जानेके
बाद सीता अग्निमे प्रविष्ट हो जाती है । उसके बाद—

“नेपथ्यमे कोलाहल [और उसके साथ निम्न वचन सुनाई देते हैं]—

आकाशकी चुम्बन करनेवाली ज्वालारूप बाहुओंसे धूमसमूहकी वितान बनाकर,
छाती पर चमकते हुए रत्नको तथा मृगचर्मको धारण किए हुए अपने तेज समुदायके द्वारा
सीतादेवीके विरहकी मलिनताको दूर करते हुए से गोवमे बंठी हुई सीतादेवीकी विरहजय
मलिनताको दूर करते हुए बह्विदेव कालके मनोरथको विफल करके [सीता सहित] प्रकट हो
रहे हैं ।

उसके बाद सीताको लिए हुए, पटाक्षेपसे बह्विदेव प्रविष्ट होते हैं । सब लोग देखकर
आदरपूर्वक खड़े होकर—आश्चर्यं है, आश्चर्यं है । भगवान् अग्निदेवको नमस्कार है । यह
कहकर प्रणाम करते हैं ”

यहाँ अग्निमे प्रविष्ट हुई सीताके फिर जीवित हो जानेसे अद्भुत रसकी प्राप्ति है
[प्रत यह 'परिगृहन' नामक अगका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे रघुविलासे—

“शैल भुजाग्रौ और दश निरौं धाला राक्षस [रावण] समुद्रके बीचमें या किन्तु
उत्तमे भुजाग्रौके बलसे पाताल, पृथिवी और स्वर्ग सबको आघात कर लिया था । फिर एक
मनुष्यने उसके कण्ठोंके समुदाय को मृणालके समान [अनायास ही] काट डाला । इस प्रकार
रामायण [सत्तारके बल वैभव आदि की व्यर्थताको दिसलानेके कारण] संराग्य और विस्मय
स्थान है ।”

[यहाँ भी अद्भुत रसका यशः होनेसे 'परिगृहन' अङ्ग माना जाता है] ।

पुष्पदूतिके तु निर्णयवर्जितानि सन्ध्यादीन्ध्यानि परिगृह्णान्तानि ष्वस्मि-
न्नेव श्लोकं दृश्यन्ते । तथाहि—

‘समुद्रदत्त — स्वप्नोऽयं ।

सेनापति — न हि !

समुद्रदत्त — विभ्रमो नु मनस ? [१ सन्धि]

सेनापति — शान्तम् ।

समुद्रदत्त — तदेवा त्रया । [२ निरोध]

सेनापति — जाया ते । [३ प्रथमम्]

समुद्रदत्त — रुथमङ्कालतनया ? [४ परिभाषणम्]

सेनापति — पुत्रस्तवाय ।

समुद्रदत्त — मृषा । [५ द्युति]

सेनापति — श्रालम्बाय न एष वेत्ति नियतं सम्बन्धमेतद्गतम् । [६ प्रसाद]

समुद्रदत्त — येनैतद् घटितं विमन्धि [७ आनन्द]

सेनापति — विधिना । [८ समय]

समुद्रदत्त — [सुतरूप दृष्ट्वा] सर्वं समायुज्यते । [९ परिगृह्णन्] इति । ६४।

पुष्पदूतिकमें तो [निर्वहणसधिके अथ तत्र वर्णित इन दस अङ्गोमेते] एव निर्णय
को छोड़कर सधिसे लेकर परिगृह्णन् पर्यन्त [नौ अङ्ग] एक ही श्लोकमे दिलाई देते हैं ।
जैसे—

‘समुद्रदत्त—क्या यह स्वप्न है ?

सेनापति—नहीं ।

समुद्रदत्त—तो क्या मनका भ्रम है ? [यहाँ तत्र सधि नामक प्रथम अङ्ग हुआ]

सेनापति—नहीं-नहीं [शातम्] ।

समुद्रदत्त—तो क्या यह सज्जा है ? [यह निरोध नामक द्वितीय अङ्ग हुआ]

सेनापति—यह घापकी स्त्री है । [यह प्रथम नामक तृतीय अङ्ग हुआ]

समुद्रदत्त—तो इसको गोदम छोटा घञ्चा कैसे है ?

[यह परिभाषण नामक चतुर्थ अङ्ग हुआ]

सेनापति — यह घापका पुत्र है ।

समुद्रदत्त — भूठ ! [यह पाँचवाँ द्युति नामक अङ्ग हुआ]

सेनापति — [इस पुत्रके] ग्रहण करनेके लिए यह निश्चय ही इसके साथ अपने सम्बन्ध

को नहीं जानता है । [यह छठा प्रसाद अङ्ग हुआ]

समुद्रदत्त — इस दूटे सम्बन्धको किसने जोड़ दिया ? [यह सातवाँ आनन्द अङ्ग है]

सेनापति — बँवने । [यह आठवाँ अण समय हुआ]

समुद्रदत्त — [पुत्रके रूपको देखकर] सब कुछ ही सचता है ।

[यह परिगृह्णन् नामक नवम अण हुआ]

इस प्रकार एक ही श्लोकमे निर्वहण सधिसे नौ अणोंका इकट्ठा समावेश इस श्लोकमे
दिखाया गया है । इनोके रूपमे इन सवाइको इस प्रकार लिखा जायगा—

(११) अथ भाषणम्—

[सूत्र ११४]—भाषणं सामदानोक्तिः ।

साम्नो वचनं ददतश्च वचनम् । आभ्यामुपलक्षणपरस्वात् प्रियं हित च गृह्यते ।

“यथा मृच्छकटिक्याम्—आर्यकराजाज्ञया शार्वलिकश्चारुदत्तमाह—

त्वद्यान य समारुह्य गतस्ते शरणं पुरा ।

पशुवद् वितते यज्ञे इतस्तेनाद्य पालक ॥

चारुदत्त—शार्वलिक ! किं योऽसौ राज्ञा पालकेन घोषाढानीय निष्कारण कृटागारे बन्धने बद्ध आर्यरुनामा त्वया मोचितः ?

शार्वलिक—सत्यम् । सिंहासनाधिरोहे अनुष्ठितमात्रे च तेन तव सुहृदा राज्ञा आयकेण उज्जयिन्या च वेलावटे तुभ्य राज्यमतिस्मृम् । तत् प्रतिमान्यतां प्रथम सुहृत् प्रणय । [पुनर्वसन्तसेनामाह] आर्ये वसन्तसेने ! राजा तवोपरि तुष्टो भवती चधूशब्देन अनुगृह्णाति ।

वसन्तसेना—अञ्ज सठवलिय कयत्थ म्हि ।

[आर्य शार्वलिक ! कृतार्थास्मि । इति सस्कृतम्] ।

[पुनश्चारुदत्तमाह—आर्य ! किमस्य भिक्षो क्रियताम् ?

स्वप्नोऽय, न हि, विभ्रमो नु मनस, शान्त, तद्देवा व्रषा

जाया ते, कथमरुवालतनया, पुत्रस्तवाय, मृषा ।

आलम्बाय न एष वेत्ति नियत सम्यन्धमेतद्गतम्

केनैतद् घटितं विसन्धि, विधिना, सर्वं समायुज्यते ॥६४॥

(११) अथ 'भाषण' [नामक निर्वहणसधिके ग्यारहवें अंगका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र ११४] साम-दानके वचन 'भाषण' [कहलाते] हैं ।

सामका वचन और देते हुए [वान] का वचन [भाषण कहलाता है] । इनके उप-लक्षणमात्र होनेसे इनसे प्रिय तथा हित [वचनका ग्रहण होता है] । जैसे मृच्छकटिकमे आर्यक राजाकी आज्ञासे शार्वलिक चारुदत्तसे कहता है—

‘जो तुम्हारे ऊपर चढ़कर [राजा बननेसे चाहते] छिपनेके लिए] तुम्हारी पररणमे प्राया था उस [आर्यक] ने [पहिले राजा] पालकको विस्तृत यत्ने पशुके समान मार डाला ।

चारुदत्त—शार्वलिक ! क्या जिसको राजा पालकने अहोरो की बस्ती से साकर बिना कारण ही तहखानेमे बंद कर दिया था उस आर्यकको तुमने छुड़ा दिया ।

शार्वलिक—हाँ [ठीक है] । और सिंहासन पर बैठनेके साथ ही तुम्हारे उस मित्र राजा आर्यकने उज्जयिनीमे वेलाके किनारे तुम्हें राज्य प्रदान किया है । इसलिए मित्रकी इस प्रथम इच्छाको स्वीकार करो ।

[फिर वसन्तसेनासे कहता है] आर्ये वसन्तसेने ! राजा तुम्हारे ऊपर प्रगन होकर तुमको यधू पद [अर्थात् चारुदत्तकी यधू पद] से सम्बोधित करते हैं ।

वातवदत्ता—आर्ये शार्वलिक ! मैं अनुगृहीत हूँ ।

चारुदत्तः—भिक्षो ! किं तव बहुमतम् ?

भिक्षुः—अणिञ्चत्तर्णां पेकिम्य पव्वजा बहुमारो मंबुत्ते ।

[अनित्यत्वं प्रेक्ष्य प्रमत्त्यावहृमानः संवृत्तः] ।

चारुदत्तः—सखे वृद्धोऽस्य निश्चयः । तन् पृथिव्यां सर्वविहारेषु कुलपति.

क्रियताम् ।

शार्चलिकः—एवमेतम् ।

चारुदत्तः—प्रियं नः ।

वसन्तसेना—संपदं जीविद् म्हि ।

[साम्प्रतं जीवितारिम् । इति संस्कृतम्] ।

शार्चलिकः—स्थावरकस्य किं क्रियताम् ?

चारुदत्तः—मुभृतयोऽयमदासोऽभु ।

शार्चलिकः—एवं, यथा आह आर्यः ।”

अत्र माम्ना दानेन अन्यैश्च प्रियद्वितैरुक्ति । अनयोः पृथगप्युक्तिनिवृत्त्ये ।

इदप्यङ्गमवश्यं निबन्धनीयमिति ।

(१२) अथ पूर्वभावः—

[सूत्र ११५]—प्राग्भावः कृत्यदर्शनम् ।

यथा रत्नाचर्याम्—

“र्योगन्वरायणुः—एवं विज्ञाय भगिन्याः सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम् ।

[शार्चलिकः]—[किं चारुदत्तने कृता है] धार्यं ! इमं भिक्षुका क्या किया जाय ?

चारुदत्तः—हे भिक्षो ! कहिए प्राय क्या चाहते हैं ?

भिक्षुः—[संतारकी] अनित्यताको देखकर मुझे संराग्य हो गया है ।

चारुदत्तः—हे मित्र ! इसका यह निश्चय हृद है । इसलिए श्रुतिशोके सब विहारोंका

इतको कुलपति बना दो :

शार्चलिकः—यह ठीक है ऐसा ही होगा ।

चारुदत्तः—यही एव प्रिय है ।

वसन्तसेना—एक में जीवित हृद [अथ मेरो जानमें जान घाई] ।

शार्चलिकः—स्थावरकका क्या किया जाय ?

चारुदत्तः—इस उत्तम मेवकको दामतामे मुक्त कर दो ।

शार्चलिकः—जैसा धार्य कृते है वंगत ही होगा ।

इसमे सामने, दानमे घोर अग्य प्रचरतेमे प्रिय उत्तम है । इन दोनोंका अलग अलग कथन भी किया जाता है । इस अंगको भी अचर्य ही निवृत्त करना चाहिए ।

(१२) अथ 'पूर्वभाव' [नामक निबन्धादिने चारुदत्तमे अङ्गका सहाय घाई करते है]—

[सूत्र ११५]—धार्यं [धर्यानु मुग्य कान] का रत्नं [करना या बनाना] प्राग्भाव

[या पूर्वभाव कृताता] है । जेमे रत्नाचर्यो में

“योग्यताया—इस सबको जानकर एक अचर्यो इतिवदिति कया करना चाहिए इसमे अर्थ ही प्रमाण है ।

वासवदत्ता—फुडं व्येव किन्न भणसि पडिवाद्देदि से रयणमालं ति ।

[स्फुटमेव किन्न भणसि प्रतिपादयाम्भै रत्नावलीमिति ।

इति संस्कृतम्] ।”

अत्र ‘वत्सराजाय रत्नावली दीयताम्’ इति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनम् ।

यथा वा यादवान्भ्युदये—

“युधिष्ठिरः—देव ! कृष्णोऽयं भारतार्धचक्रवर्ती नवमो वासुदेव इति मुनयः शंसन्ति ।

समुद्रविजयः—जाने भारतार्धराज्ये कृष्णमभिषेक्तुं मामुत्साहयति महाराजः ।

युधिष्ठिरः—एतदेव देवस्य जरासन्धवधप्रयासफलम् ।” इति ।

अत्र युधिष्ठिराभिमतं कृष्णराज्याभिषेककार्यं समुद्रविजयेन दर्शितम् ।

मुखसन्ध्याद्युक्तवाक्यसदृशवाक्यदर्शनम् पूर्ववाक्यं अगमस्य स्थाने केचिदामनन्ति ।

यथा मुद्राराक्षसे—

“चाणक्यः [पुरुषं प्रति]—इदं च वक्तव्यो विजयो दुर्गपालः । अमात्यराक्षसदर्शनप्रीतो देवश्चन्द्रगुप्तः समाज्ञापति, विना हस्तिभ्यः क्रियतां सर्वबन्धनमोक्ष इति । अथवा अमात्यराक्षसे नेतरि किं हस्तिभिः प्रयोजनम् ?

वासवदत्ता—स्पष्ट रूपसे क्यों नहीं कहते हो कि रत्नावली इन [उदयन] को दे दो ।”

यहाँ यौगन्धरायणके अभिप्रायके भीतर अनुप्रविष्ट ‘रत्नावलीको वत्सराजको दे दो’ इस [मुख्य] कार्यका वासवदत्ताके द्वारा दर्शन है [अतः यह पूर्वभावका उदाहरण है] ।

अथवा जैसे यादवान्भ्युदयमें—

“युधिष्ठिर—देव ! मुनि लोग कहते हैं कि वसुदेवके नवम पुत्र यह कृष्ण भारतके आधे भागके चक्रवर्ती राजा होंगे ।

समुद्रविजय—जान पड़ता है कि कृष्णको आधे भारतके राज्यपर अभिविक्त करनेके लिए महाराज मुझको उत्साहित कर रहे हैं ।

युधिष्ठिर—यही आपके जरासन्धके वध करानेके प्रयासका फल है ।”

यहाँ युधिष्ठिरके अभिमत कृष्णके राज्याभिषेक कार्यको समुद्रविजयने दिखलाया है [इसलिए यह पूर्वभाव अङ्गका उदाहरण है] ।

कुछ लोग इस [पूर्वभाव अङ्ग] के स्थानपर मुखसन्धि आदिमे कहे गए वाक्यके सदृश वाक्यके [पुनः] दर्शन रूप पूर्ववाक्य नामक अङ्गको मानते हैं ।

जैसे मुद्राराक्षसमें—

“चाणक्य—[पुरुषके प्रति] और दुर्गपाल विजयसे यह भी कहो कि अमात्य राक्षसके दर्शनसे प्रसन्न हुए देव चन्द्रगुप्त आज्ञा देते हैं कि हाथियोंको छोड़कर दोष सभी बन्धन वालों को मुक्त कर दो । अथवा अमात्य-राक्षसके नेना हो जाने पर अब हाथियोंकी भी क्या आवश्यकता है ?

विना बाह्यनपोताभ्यां मुच्यतां सर्वबन्धनम् ।

पूर्णप्रतिज्ञेन मया केवलं बध्यते शिखा ॥”

अत्र मुखे यदुपचितम्—“बध्य. को नेच्छति शिखां मे” इति तदेव भग्यन्तरेण उपन्यस्तामिति ।

उद्देशोक्तसंज्ञातः संज्ञान्तरेण यत्प्रलक्षणविधानं सर्वत्र तच्छब्दोपरोधादिति ।
(१३) अथ काव्यसंहारः—

[सूत्र ११५]—वरेच्छा काव्यसंहारः ।

ईप्सितं दातुमभिलाषो वरेच्छा । तज्जनितो भूयः क्विंते प्रियमुपकरोमि’ इति प्रश्न इत्यर्थः । स च प्रहीतरि अप्रतीच्छति, प्रतीच्छति च सम्पादयितुं भूयसीमिच्छां दर्शयितुं निबध्यते । तत्र सति सर्वस्मिन्नेवेप्सिते सम्पन्ने प्रभुतं काव्यमेव सद्बिद्यते इति ‘काव्यसंहारः’ ।

यथा ‘कृत्यारावणे’ सीतारक्षणे रामस्य प्रिये द्दिते च महति कर्मणि कृतंऽपि अमन्तुष्यन् अग्निराह—

बाह्यन तया पोत [जहृज] को छोड़कर अग्न्य सबके बधनोंको सोल दिया जाय । प्रतिज्ञापूर्ण हो जानेके कारण बेचल मे अब अपनी चोटी को माँपता हूँ ।”

इसमे मुलसधिये जो यह जो कहा या कि ‘बधने योग्य बोन ध्यवित मेरी शिखाको बधने नहीं देना चाहता है’ उसीको प्रकारान्तरसे फिर कहा गया है [इसलिए यह पूर्ववाक्य रूप अङ्गका उदाहरण है] ।

निर्वहण-सन्धिबे चौदह अंगोबे नाम गिनाते समय पूर्वभाव नामसे बारहवें अंगना निर्देश किया गया था । ‘प्राग्भाव’ नामसे किसी अंगका उल्लेख उद्देश-कारिकाप्रोम नहीं किया गया था । किन्तु यहाँ लक्षण करने समय ‘पूर्वभाव’ का लक्षण न करने ‘प्राग्भाव’ का लक्षण किया गया है । यह ‘प्राग्भाव’ ‘पूर्वभाव’ का ही दूसरा नाम है । अतोक्त ‘पूर्वभाव’ शब्दका प्रयोग अक्षरी दृष्टिसे ठीक नहीं बैठता था इसलिये अर्थकारने उनके स्थानपर ‘प्राग्भाव’ शब्दका प्रयोग कर दिया है । इसी बातको अर्थकार अंगनी पक्तिमे लिखते हैं—

उद्देश [बात] को गताको छोड़कर अग्न्य नामसे लक्षणका कथन करना सर्वत्र अक्षरी अनुरोपते किया गया है ।

(१३) अब ‘काव्यसंहार’ नामक निर्वहणसन्धिके तैरहवें अङ्गका लक्षण धारि कहते हैं]—

[सूत्र ११५] वर [प्रदान करने] की इच्छा काव्यका उपगहार [कहलाता] है ।

अभीष्ट करने प्रदान करनेका अभिलाष वरेच्छा [कहलाता] है । उससे उत्पन्न ‘गुहारा प्रीर बोनता प्रिय कायं क्व’ इस प्रकारका प्रश्न [काव्यसंहार कहलाता है] यह अभिप्राय है । यह (१) गृहीतारे द्वारा पहल न करनेपर प्रीर (२) अथवा रबीचार करने पर देनेवानेकी प्रीर अथवा इच्छाको दिखानेके लिए [हो कारलागे] निबद्ध किया जाता है । उस [वर प्रदानके] होनेके बाद समस्त कामनाओंके पूर्ण हो जानेके काव्य ही समाप्त हो जाता है इसलिये [इसको] ‘काव्यसंहार’ [कहा जाता] है ।

अंगे कृत्यारावणमे रामके प्रिय तथा हिन सीतारक्षण रूप मत्नू कायंके कर बुद्धनेपर

“अग्निः—वत्स ! उच्यतां किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

रामः—भगवन् ! अतः परमपि प्रियमस्ति ? इति ।”

यथा वा ‘यादवाभ्युदये’—

“युधिष्ठिर—देव ! किमतःपरं प्राथ्यते यदनाम ?

समुद्रविजयः—[साश्चर्यम्] किमतः परमपि प्रार्थनीयमस्ति ?

त्रातो घोपभुवां विधृत्य मधुजित्, कंसः क्षयं लम्बितः,

सम्प्रत्येव विनिर्मितं मगधभूभर्तुः कवन्धं वपुः ।

पादाक्रान्तमजायतार्धभरतं तद् ब्रूहि नः किं परं ?

श्रेयोऽस्मादपि पाण्डवेश ! पुनरप्याशास्महे यद्वयम् ॥”

अनयोरप्रतिगृहीते वरे काव्यसंहारः ।

तथा इन्दुलेखायां नाटिकायां राज्ञी नायिकाभिन्दुलेखनामाह—

“ईदिसीए तुह इमाए कुलाणुसरिसीए शीलसंपत्तीए संमुहीकदरस मे हिद-
यस उववन्नो य्येव समुचिदाए पडिवत्तीए अय अवसरो, ता मम य्येव पिय करिती
वरेसु जं ते समी हिदं ।

[ईदृश्या तवानया कुलानुसदृश्या शीलसम्पत्त्या सम्पुरीकृतस्य मे हृदयस्य
उपपन्न एव समुचितया प्रतिपत्त्या अयमवसरस्तत्त ममैव प्रियं कुर्वन्ती वृणुष्व यन्ते
समीहितम् । इति संस्कृतम्] ।

नायिका—ईदिसस देवीपसायस न दाव अधियं सरिसं कि पि भविसदि,
जं वरइसं । तथा वि को देवीए पसादाणं पज्जतकामो ? ता पियदंसण मे
पसादीकरेदु देवी ।

भी सतुष्ट न होकर अग्नि [रामसे] कहता है—

“अग्नि—वत्स ! कहो तुम्हारा और क्या प्रिय कहूँ ?

राम—भगवन् ! क्या इससे भी अधिक प्रिय हो सकता है ।”

[यह वरको स्वीकार न करनेके रूपमें ‘काव्यसंहार’की रचना की गई है] ।

अथवा जैसे यादवाभ्युदयमें—

“युधिष्ठिर—देव ! यदुवशियोकेलिए इससे अधिक और क्या चाहते है ?

समुद्रविजय—[आश्चर्य-सहित] क्या इससे भी अधिक प्रार्थनीय हो सकता है ?

अहीरोके यहाँ रखकर कृष्णकी रक्षा कर लो, कसका नाश कर दिया और अभी
मगधराज [जरासध] के शरीरको [सिर काटकर] कवध [धडमात्र] बना दिया, प्राया भारत
देश अपने अधीन हो गया, तो हे पाण्डवराज ! बतलाइए कि इससे अधिक और क्या कल्याण
हो सकता है जिसकी हम कामना करें ?”

इन दोनों [उदाहरणों] में वरके स्वीकार न करनेमें ‘काव्यसंहार’ हुआ है ।

और इन्दुलेखा नाटकमें रानी नायिका इन्दुलेखासे कहती है—

“रानी—तुम्हारी अपने कुलके अत्रुरूप इस प्रकारकी शील सम्पत्तिसे प्रसन्न हुए मेरे
हृदयमें उपयुक्त विन्यासे यह अवसर प्राप्त हुआ है इसलिए मेरे ही प्रिय कायंकी करती हुई
जो तुम्हारी इच्छा हो वह वर मांग लो ।

[ईदृशस्य देवीप्रसादस्य न तावदधिकं सदृशं किमपि भविष्यति यद्वरिष्यामि ।
तथापि को देव्याः प्रसादानां पर्याप्ततामः ? तत् प्रियदर्शनां मे प्रसादीवरोतु देवी ।
इति संस्कृतम्] ।

राज्ञी—घाटं पडिवादिदा ।

[घाटं प्रतिपादिता । इति संस्कृतम्] ।

नायिका—महंतो पसादो । [स्वगतम्] सपत्नं पमज्जिय भुजिस्सभावं पिय-
दंसणाए इच्छा-गुरुव-नेहस्स अणुसरिसं ववहरिस्सं ।

[महान प्रसादः । साम्प्रतं प्रसादार्थं भुजिष्यभावं प्रियदर्शनाया इच्छा-गौरव-
स्नेहस्यानुमदं द्यवहरिष्ये । इति संस्कृतम्] ।

अत्र वरस्य प्रतिग्रहः । इति ।

इदमङ्गमवश्यं निबन्धनीयं प्रशस्तिनान्तरीयकत्वादिति ।

(१४) अथ प्रशस्तिः—

[सूत्र ११६]—प्रशस्तिः शुभशंसना ॥ ६५ ॥

जगतः कल्याणशंसना प्रशस्तिः । तद्य नायकस्तदभ्यो वा पठति । यथा
कृत्यारावणे—

“रामः—तथापीदमस्तु—

यथायं मम सम्पूर्णं श्रित्ततार्थो मनोरथः ।

एवमभ्यागतो रङ्गः सर्वपापैः प्रमुच्यताम् ॥

अपि च—

नायिका—इस प्रकारके देवीके प्रसादसे अधिक और कुछ नहीं हो सकता है जिसका
मैं वरण करूँ । फिर भी देवीके प्रसादसे जिसको तृप्ति होती है इसलिए [मैं यह वर माँगती
हूँ कि] देवी प्रियदर्शनाको मुझे प्रसाद रूपसे प्रदान करें ।

राज्ञी—अच्छा दे दी ।

नायिका—बड़ी कृपा है । [अपने मनमें] अब प्रियदर्शनाके दासीभावको दूर करके
[उसके साथ उसकी] इच्छा, गौरव और स्नेहके अनु रूप [इसके साथ] व्यवहार करूँगी ।”

इससे वरको स्वीकार किया गया है ।

इम [काव्यसंहार रूप] अङ्गको [अगले] प्रशस्ति [नामक अङ्ग] से अविनाभूत होनेके
कारण अवश्य प्रथित करना चाहिए ।

(१४) अब 'प्रशस्ति' [नामक निबंहुणस्यिने चौवहें अङ्गका लक्षण प्रादि करते हैं]—

[सूत्र ११६]—कल्याणको कामना प्रशस्ति [कहलाती] है ।

सत्कारके कल्याणकी कामना 'प्रशस्ति' [कहलाती] है । उसको नामक अथवा कोई
अर्थ [पात्र] पड़ता है । जैसे वृत्तारावणमें—

“राम—फिर भी यह हो कि

जित प्रकार विचारित अर्थके विषयमें मेरा यह मनोरथ पूर्ण हुआ इसी प्रकार
[नाट्यावलीकृतार्थ] प्राण हुए सब सामाजिक सब प्रकारके दुर्गों [पापों] में मुक्त हो जाये ।

और भी—

निरीतयः प्रजाः सन्तु सन्तः सन्तु चिरायुषः ।

प्रथन्तां ऋषयः काव्यैः सम्यग् नन्दन्तु मातरः ।”

यथा वा यादवाभ्युदये—

“युधिष्ठिरः—तथापि किमपि ऋमो वयम्—

कल्याण भूर्भुवः स्वः प्रसरतु, विपदः प्रक्षयं यान्तु सर्वाः,

सन्त श्लाघा भजन्तामपचयमयतां दुर्मतिदुर्जनानाम् ।

धर्मं पुष्पातु वृद्धिं सकलयदुमन कौरवा रामचन्द्र,

प्राप्य स्वातन्त्र्यलक्ष्मीं मुदमथ बहतां शाश्वतीं यादवेन्द्रः ॥”

इयं चावश्यं निबन्धनीया । तथा इतिवृत्तान्तभूता चेयम् । तेनारया पृथग्-
गणने चतुःपष्टिरपि अङ्गसंख्या भवति ।

सन्धि-निरोध प्रथम - पूर्वभाव - काव्यसंहार - प्रशस्तिभ्योऽन्यांगानां शेष-
सन्धिष्वपि कार्यवशतो निबन्धः । अत्रापि च स्वेच्छया नियोगः । एतानि निर्वहण-
सन्धेश्चतुर्दशाङ्गानि ।

सर्वसन्धीनां चाङ्गानि इतिवृत्ताविच्छेदार्थमुपादीयन्ते । इतिवृत्तस्याविच्छेदश्च
रसपुष्ट्यर्थः । विच्छेदे हि स्थाय्यादेश्चाटितत्वान् कुतस्त्यो रसाम्बादः ? ततो रस-
विधानैकतानचेनम् ऋषेः प्रयत्नान्तरानपेक्षं यदंगमुज्जृम्भते, तदेवोपनिबद्धं सद्दद्यात्

प्रजागण [अतिवृष्टिरनावृष्टिः मूपका शलभा. शुभाः । प्रत्यासन्नाश्च राजानः पडेता
ईतयः स्मृताः ॥ इन छः प्रकार की] इतियोसे रहित हो, सज्जन लोग चिरायु हों और कवि-
गणोंके काव्योंकी अभिवृद्धि हो, तथा माताएँ पूर्णरूपसे आनन्दित हो । [यह जगतकी कल्याण
कामना प्रशस्ति कहलाती है] ।”

अथवा जैसे यादवाभ्युदये—

“युधिष्ठिर—फिर भी हम कुछ कहते हैं कि—

भू भुव स्व [सब लोको] में कल्याणका प्रसार हो, सारी विपत्तियोंका विनाश हो,
सज्जन पुष्टियोंकी प्रशंसा हो, और दुर्जनोकी दुर्मितिका ह्रास हो, धर्म वृद्धिको प्राप्त हो, सब
यादवोंके मनोरूप कौरवोंकी आह्लादित करनेवाले चन्द्रके समान यादवेन्द्र स्वातन्त्र्य लक्ष्मीको
प्राप्त कर चिरस्थायी आनन्दको प्राप्त हो ।”

इस [प्रशस्ति नामक अङ्ग] की रचना अवश्य ही करनी चाहिए । और यह कथावस्तु
के अन्तर्गत भी होनी है इसलिए इसकी गणना न करनेपर [पूर्वोक्त ६५ अङ्गोंके स्थानपर
केवल] अङ्गों की संख्या केवल चौंसठ रह जाती है ।

[निर्वहणसधिके] १ सन्धि, २ निरोध, ३ प्रथम, ४ पूर्वभाव, ५ काव्यसंहार और
६ प्रशस्ति, इन [छ] अङ्गोंको छोड़कर अन्य अङ्गोंका कार्यवशसे शेष सधियोंमें भी प्रयोग हो
सकता है । और यहाँ [अर्थात् निर्वहण सधियों] भी अपनी इच्छाके अनुसार प्रयोग हो सकता
है । ये चौदह निर्वहणसधिके अङ्ग हैं ।

सभी सधियोंके अङ्ग कथाभागके अविच्छेदके लिए ही निबद्ध किए जाते हैं । और
कथावस्तुका अविच्छेद रसकी परिपुष्टिके लिए होता है । [कथावस्तुका] विच्छेद हो जानेपर
तो स्वाधिभाव आदिका भी विच्छेद हो जानेसे रसका प्राप्त्यादन कैसे हो सकेगा ? इसलिए

हृदयमानन्दयति। अङ्गानि च स्वाधि-विभावानुभाव व्यभिचारिरूपाणि द्रष्टव्यानि । अमीषा च स्वमन्थौ सन्ध्यन्तरे च योग्यतया निबन्ध । योग्यता च रसनिवेशक-व्यवसायिन प्रबन्धकत्रयो विदन्ति, न पुन शब्दार्थप्रथनवैचित्र्यमात्रोन्मदिष्णवो मुक्तरुचय ।

तेन एकमर्थात् रसपोषकत्वादेकरिमत्रपि सन्धौ द्विरिर्वा निबन्ध्यते । यथा वेणीसहारे सम्फेड-विद्रवी पुन-पुनर्दर्शितौ वीर-रौद्ररसाबुद्धीपयत । रत्नावल्या च विलास पुन-पुनरुक्त शृङ्गारमुल्लासयति । अत परमपि निबन्धस्तु वैरस्यमा-चक्षतीति ।

तथागद्वयेन भाष्य यदा एकनैव सिद्धयति तदेकमेव निबन्ध्यते । यथा श्री-भोमदेवसूतो वसुनागस्य कृतौ प्रतिमानिकृष्टे परिकरार्थस्य उपक्षेपसौच गतत्वान् न तन्निबन्ध ।

एवमग्रजग्रेष्ठापि । यथा भेज्जलविरचिते राधाविफलम्भे रासकावे परिकर-परिन्यासयोरुपक्षेपसौचैव गतत्वात् तन्निबन्ध । एव परस्परान्तर्भावे चतुर्गङ्गोऽपि कापि मन्थिर्भवति ।

रसके विधानमे ही सर्वात्मना सगे हुए कविये श्रम्य प्रयत्नकी अपेक्षाके जिना [स्वाभाविक रूप से] जो अङ्ग उद्भूत होता है उसकी रचना ही सहृदयोंको आनन्द प्रदान करती है [कृत्रिम रूपसे प्रयत्नपूर्वक सन्निविष्ट अङ्गोंकी रचना उस प्रकार आह्लाददायिनी नहीं होती है] । अङ्ग स्वाधिभाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदि रूप होते हैं । इनका अपना सन्धिमे [अर्थात् जिस जिस सन्धिमे उनके नाम गिनाए गए हैं उस-उस सन्धिमे] तथा श्रम्य सन्धिमें योग्यताके कारण ही सन्निवेश किया जाता है, और उनकी योग्यताकी बेजल रसका सन्निवेश करनेमे तत्पर प्रबन्धकार्योंके निर्माता कवि ही समझते हैं । केवल शब्द और अर्थकी रचना वैचित्र्यसे ही उन्नत हो जानेवाले मुक्तक [निर्गाता] कवि नहीं समझ सकते हैं ।

इसलिए [अर्थात् योग्यता के आधारपर ही] रसका परिपोषण होनेपर एव ही अङ्ग एक ही सन्धिमें दो या तीन बार भी निबन्ध किया जाता है । जैसे वेणीसहारेमें सम्फेड तथा विद्रव अङ्गके बार बार प्रदर्शित किए जाकर वीर तथा रौद्र रसको पुष्ट कर रहे हैं । और रत्नावलीमे विलास नामक अङ्ग बार बार निबन्ध होकर शृङ्गाररसको परिपुष्ट करता है । इससे परिष्क [अर्थत् जहाँ तक उससे रसका परिपोष होना है उससे परिष्क या दो-तीन बार से अधिक] रसनेपर तो विरसताकी प्रकट करनेवाला हो जाता है [इसलिए किसी अङ्गका अर्थाधिक सन्निवेश नहीं करना चाहिए] ।

[इसके विपरीत] जब दो अङ्गोंके द्वारा साध्य कार्य एक ही अङ्ग द्वारा हो सकता हो तब एक हीकी रचना की जाती है । जैसे श्री भोमदेवके पुत्र वसुनागकी प्रतिमानिकृष्ट रचनामे [मुगलविजे] परिकर [अंगके] के अर्थकी उपमेव [अंग] के द्वारा ही गिद्ध हो जाने से उस [परिकर] की अलग रचना नहीं की गई है ।

इसी प्रकार तीन अंगोंके द्वारा [साध्य कार्य जब एक ही अंग द्वारा ही गिद्ध हो सकता है तब उस अंगके प्रतिरिक्त दोष दो अंगोंकी रचना नहीं की जाती है] । जैसे भंजन विरचित साधाविप्रलम्भ नामक राजकीर्णमे परिकर तथा परिष्क [इन दो अंगों] के उपमेव द्वाराही

अत्रान्तरे च केचिदेकविंशतिं सन्ध्यन्तराणि स्मरन्ति—

साम भेदस्तथा दण्डो दान च वध एव च ।

प्रत्युत्पन्नमतिर्वं च गोप्रस्तलितमेव च ॥

साहसं च भयं चैव भी र्माया क्रोध एव च ।

श्रोज सवरणं भ्रान्तिस्तथा हेत्वधारणम् ॥

दूतो लेखस्तथा स्वप्नश्चित्रं मद इति स्मृतः । इति ।

एषु च केपाचित् सामादीना स्वयमंगरूपत्वात्, केपाचिन्मत्यादीना व्यभिचारिरूपत्वात्, दूत-लेखादीनामितिवृत्तरूपत्वात्, अन्येषामुपक्षेपाद्यन्तर्भावाच्च न पृथग् लक्षण-प्रयासः । तथाहि गर्भसन्धौ साम-दानादिरूपसंग्रहोऽङ्गम् । मत्यादयो व्यभिचारिषु लक्ष्यिष्यन्ते । दूत-लेखादीनामितिवृत्तरूपता दृश्यते । तथा उदात्त राघवे हेत्वधारणात्मा उपक्षेप । प्रतिभानिरद्धे स्वप्नरूप । रामाभ्युदये भयात्मा । वेणीसंहारे क्रोधात्मा । एवमन्येष्वप्यनेष्वन्तर्भाव कीर्तनीय इति ॥६५॥

इति श्रीरामचन्द्र गुणचन्द्रविरचिताया

स्वोपज्ञनाट्यदर्पणविवृतौ नाटकनिरणय प्रथमो विवेकः ॥ १ ॥

गताथ हो जानेसे उन दोनोंकी रचना नहीं की गई है । इस प्रकार एक दूसरेके भीतर प्रज्ञोका समावेश हो जानेपर [कभी कभी] केवल चार प्रज्ञोका भी [कोई] सन्धि हो जाता है ।

अथ आचार्योंके मतका लक्षण—

इस प्रसंगमें [हमारे प्रतिपादित पाँच सधियोंके अतिरिक्त] कुछ लोग २१ सधियाँ और मानते हैं । [उनके नाम निम्न प्रकार हैं]—

१ साम, २ भेद, ३ दण्ड, ४ दान, ५ वध, ६ प्रत्युत्पन्नमतिर्वं, ७ गोप्रस्तलित
८ साहस, ९ भय, १० भी भयान् बुद्धि, ११ माया, १२ क्रोध, १३ श्रोज, १४
सवरण, १५ भ्रान्ति, १६ हेत्वधारण, १७ दूत, १८ लेख, १९ स्वप्न, २० चित्र
तथा २१ मद ।

[इन २१ सधियोंको भी कुछ लोग मानते हैं] किन्तु इनमेंसे साम आदि कुछके स्वयं भग रूप होनेसे, मति आदि कि-हीके व्यभिचारिभावरूप होनेसे दूत लेख आदिके कथावस्तु रूप होनेसे और अयोके उपक्षेप आवि रूप होनेसे उनके अलग लक्षण करनेका प्रयत्न हमने नहीं किया है । जैसेकि गर्भसन्धिमें साम, दान रूप संग्रह नामक अंग आया है । मति आदिके लक्षण व्यभिचारिभावमें किए जायेंगे । दूत लेख आदि कथा भाग रूप ही होते हैं । और उदात्त राघवमें उपक्षेप [अंग] हेत्वधारण रूप है । प्रतिभानिरद्धमें [उपक्षेप अंग] स्वप्न रूप है । रामाभ्युदयमें [उपक्षेप] भय रूप है । और वेणीसंहारमें क्रोधरूप [उपक्षेप] है । [अतएव इन अनेक सधियोंके उपक्षेपमें अतर्भूत हो जानेसे उनको भी अलग कहनेकी आवश्यकता नहीं है] इसी प्रकार अथ अंगोंमें भी [इन २१ सधियोंका] अन्तर्भाव समझ लेना चाहिए । [यत इन सधियोंको मानना उचित नहीं है] ।

श्री रामचन्द्र गुणचन्द्रविरचित स्वनिर्मित नाट्यदर्पण की
विवृतिम नाटक निरणय नामक प्रथमविवेक पूर्ण हुमा ॥ १ ॥

अथ द्वितीयो विवेकः

अथ द्वितीयो विवेकः

अथ 'नाटक प्रकरणं च' इत्यन्तो नाटकं लक्ष्यिरया प्रकरणं लक्ष्यते—

अथ नाट्यदर्पण-श्रीपिकाया द्वितीयो विवेकः ।

विवेक-सङ्गति

प्रथम विवेकके आरम्भमे तीसरी तथा चौथी वारिकामे ग्रन्थकारने बारह प्रकार के रूपकोका उद्देश्य धर्यात् नाममात्रेण बधन किया था । उनमे सबसे पहिला स्थान 'नाटक' का और उमके बाद दूसरा स्थान 'प्रकरण' का था । इसलिए प्रथम विवेकके दोष भागमें नाटकके लक्षण आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन किया था । मुख्यरूपसे नाटकका ही विवेचन होनेसे प्रथम विवेकका नाम ग्रन्थकारने 'नाटक निर्णय' रखा है । रूपकोमें नाटक ही सबसे मुख्य है इसलिए उसका लक्षण आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन करनेमें एक पूरा विवेक (प्रध्याय) लगाया गया है । अब इस द्वितीय विवेकमे प्रकरण आदि दोष ग्यारह प्रकारके रूपक-भेदोका विवेचन किया जाएगा । इसलिए ग्रन्थकारने इस 'विवेक' का नाम 'प्रकरणाद्येकादशरूपकनिर्णय' रखा है । इन दोष एकादश रूपकोमें प्रथम और सबसे मुख्य स्थान 'प्रकरण' का है । इसलिए इस विवेकका आरम्भ प्रकरणके निरूपणसे ही करते हैं ।

[सूत्र ११७] 'नाटक प्रकरणं च' इति [रूपक भेदोका उद्देश्य धर्यात् नाममात्रेण करने वाली वारिकामे गिनाए हुए रूपकभेदों] मेंते [प्रथम विवेकमे प्रथम रूपक भेद] नाटकका लक्षण करके [द्वितीय रूपक भेद] अब 'प्रकरण' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र ११७] प्रकरणां वणिग्-विप्र-सचिवस्वाम्यसङ्करात् ।

मन्दगोत्राङ्गनं दिव्यानाश्रितं मध्यचेष्टितम् ॥ १[६६]॥

दास-श्रेष्ठि-विटैयुक्तं वलेशाढ्यं तच्च सप्तधा ।

कल्पेन - फल-वस्तुनामेक-द्वि-त्रि-विधानतः ॥ २ [६७]॥

होता है। वणिक्, विप्र अथवा सचिवमेसे कोई भी 'प्रकरण' का नायक हो सकता है। किन्तु एक 'प्रकरण' में इनमेसे एक ही नायक होगा। इन तीनोंमेसे 'सचिव' पदका अर्थ 'राज्यचिन्तक' किया गया है। राज्यचिन्तकमे मुख्य रूपसे 'अमात्य' आता है किन्तु मुख्य अमात्यके अधीन ही सेनाविभाग भी रहता है और सेनापति भी राज्यकी चिन्ता करने वाला प्रमुख अधिकारी है इसलिए उसका भी ग्रहण इस पदसे किया जा सकता है। इस प्रकार सेनापति तथा अमात्य दोनोंका ग्रहण 'सचिव' पदसे होता है। इनमेसे सेनापति तथा अमात्य ये दोनों धीरोदात्त नायक माने जाते हैं। और विप्र तथा वणिक् ये दोनों धीरप्रशान्त नायक माने जाते हैं। अर्थात् 'प्रकरण'मे मुख्य रूपसे धीरोदात्त तथा धीरप्रशान्त नायक ही होने हैं। धीरोदात्त आदि नहीं। कोई-कोई प्राचीन प्राचार्य अमात्यको धीर-प्रशान्त नायक मानते हैं। और 'प्रकरण' को धीरप्रशान्त-नायक वाला रूपक मानते हैं। किन्तु ग्रन्थकार इस सिद्धान्तसे सहमत नहीं है। उनके मतमे अमात्य धीरोदात्तनायक होता है। विप्र और वणिक् धीरप्रशान्त नायक होते हैं। इसलिए 'प्रकरण' का नायक धीरोदात्त भी हो सकता है और धीरप्रशान्त भी।

'नाटक' और 'प्रकरण' का तीसरा भेद यह है कि 'नाटक' मे दिव्य पात्र भी नायकके सहायक-रूपमे उपस्थित हो सकते हैं। किन्तु 'प्रकरण' मे दिव्य पात्रोंका प्रवेश नहीं हो सकता है। नाटक 'दिव्याङ्गम्' और 'प्रकरण' 'दिव्यानाश्रितम्' है। अर्थात् 'नाटक' मे अंग-रूपमे, नायकके सहायक रूपमे, दिव्य पात्रोंका उपयोग हो सकता है। प्रकरण' मे नहीं। इसका मुख्य कारण 'प्रकरण' का 'वलेशाढ्यम्' वलेश-प्रधान होना है। दिव्य पात्र सुग-प्रधान होते हैं। और 'प्रकरण' के पात्र दुःखाढ्य होते हैं। इसलिए 'प्रकरण' मे दिव्य पात्रोंका प्रवेश उचित नहीं माना गया है। 'नाटक' और 'प्रकरण' के इन मुख्य भेदोंको ध्यानमे रखते हुए ही ग्रन्थकार दो कारिकाओंमे 'प्रकरण' का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत करत हैं—

वणिक्, विप्र तथा सचिव इनमेमे अलग अलग कितो एक नायकसे युक्त, मन्द [मध्यम] कुलकी नायिका बाला, दिव्य पात्रोंका आश्रय न लेनेवाला, मन्द चेष्टाप्रोते युक्त—॥ १[६६] ॥

दास, श्रेष्ठी और विटोसे परिपूर्ण, एव वलेश-प्रधान [हृदय] 'प्रकरण' [कहलाता] है। और यह नेता, पत्न, तथा वस्तुओंमेसे एक-दो अथवा तीनोंके कल्पित होनेके विधान के अनुसार सात प्रकारका होता है ॥ २ [६७] ॥

इस ६४ वीं कारिकाके अन्तमे ग्रन्थकारने नेता, पत्न तथा वस्तुके कल्पित होनेके आधारपर 'प्रकरण' के सात भेद दिग्गताए हैं। नायक, फल तथा वस्तु इन तीनोंके कल्पित होनेके आधारपर 'प्रकरण' के जो सात भेद बनाए गए हैं वे, जामे एक, दो, या तीनोंकी कल्पनाके कारण बन जाते हैं। तीनोंमेमे कितो एकके कल्पित होनेके कारण तीन भेद होते हैं। फिर दो-दो के कल्पित होनेपर भी तीन भेद बनेंगे। इस प्रकार छ भेद हुए। और

प्ररूपेण क्रियते कल्प्यते नेता फलं वस्तु वा समस्त-व्यस्ततयाऽत्रेति 'प्रकरणम्' । प्रसिद्धत्वान् लक्ष्यमनूद्य लक्षणं विधीयते । वाणिजः क्रय-विक्रयकृतः । विप्राः पद-कर्माणः । सचिवो राज्यचिन्तकः । अयं वणिग्-विप्रयोर्मध्यपात्यपि धीरोदात्त-धीर-प्रशान्तौ प्रकरणे नेतारौ भवत इति-प्रतिपादनार्थं पृथगुपात्तः । यस्त्वमात्यं नेतारमभ्यु-पगम्य धीरप्रशान्तनायकमिति 'प्रकरणं' विशेषयति स वृद्धसम्प्रदाय-वन्ध्यः ।

सातर्वा भेद उन तीनोंके कल्पित होनेपर बनेगा । इस प्रकार 'प्रकरण' के सात भेद हो जाते हैं । इसको और अधिक स्पष्ट करनेकेलिए इन भेदोंको निम्न प्रकार दिखलाया जा सकता है :

एकके कल्पित होनेपर तीन भेद :

१. केवल नायकके कल्पित होनेपर प्रथम भेद ।
२. केवल फलके कल्पित होनेपर द्वितीय भेद ।
३. केवल धारयान-वस्तुके कल्पित होनेपर तृतीय भेद ।

दो-दो के कल्पित होनेपर तीन भेद :

४. नायक और फलके कल्पित होनेपर चतुर्थ भेद ।
५. नायक और वस्तुके कल्पित होनेपर पञ्चम भेद ।
६. फल और वस्तुके कल्पित होनेपर षष्ठ भेद ।

तीनोंके कल्पित होनेपर एक भेद :

नायक, फल, तथा वस्तु तीनोंके कल्पित होनेपर सप्तम भेद ।

इस प्रकार 'प्रकरण' के सात भेद दिखलाए माने गए हैं । इनमेंसे जहाँ नायक, फल, तथा धारयान-वस्तु तीनों कल्पित होते हैं वह 'प्रकरण' सर्वथा कल्पित होता है । जहाँ एक या दोके कल्पना की जाती है वहाँ शेष दो या एक भाग इतिहासाश्रित होते हैं यह समझना चाहिए । कवि जिस भागकी कल्पना करता है वही 'प्रकरण' का मुख्य भाग होता है । 'प्रकरण' का चमत्कार उसी भागमें निहित होता है । 'प्रकरण' की इसी कल्पनाकी प्रधानताको दिखलानेकेलिए अन्यकार 'प्रकरण' पदका निर्वचन करते हुए इन कारिकाओंकी व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

जिसमें नायक, फल, अथवा धारयानवस्तु अलग अलग [एक-एक अथवा दो-दो] अथवा सब [अर्थात् तीनों] प्रकृष्ट रूपसे किये जाते अर्थात् कल्पित किए जाते हैं वह 'प्रकरण' [कहलाता] है । [यह 'प्रकरण' शब्दका निर्वचन होता है ; उससे ही 'प्रकरण' की कल्पना-प्रधानता सूचित होती है] । लक्ष्य [अर्थात् 'प्रकरण'] के प्रतिष्ठ होनेसे [कारिकाओंके धारण में सबसे पहले प्रयुक्त, 'प्रकरण' इस परसे] उसका अनुवाद करके [कारिकाओंके शेष भाग में] लक्षण किया गया है ; [प्रागे लक्षणभागमें आए हुए वणिक्, खादि पर्वोंकी धारणा करते हैं] अय-विक्रय करने वाले वाणिक् [कहलाते] हैं । [१ अग्रयण २ अग्र्यापन, ३ यजन, ४ याजन, ५ दान देना और ६ प्रतिग्रह अर्थात् दान लेना इन] ६ कर्मोंकी करने वाले 'विप्र' [कहलाते] हैं । राज्यकी विन्ता करने वाला 'सचिव' [कहलाता] है । यह [सचिव] वणिक् तथा विप्रके अन्तर्गत हो जानेपर भी [अर्थात् शत्रिय राजा होता है और दूध सेवक । ये दोनों सचिव नहीं होते हैं । इगलिए वणिक् या विप्रमें ही सचिव होना है अतः उन दोनोंके मध्यपाती होनेपर भी], धीरोदात्त [सचिव] अथवा धीरप्रशान्त [विप्र]

यदाहु —

‘सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ’ इति ।

‘असंकरात्’ इति व्यक्तिभेदेन वणिगादयो नेतारः । न पुनरेकरयामेव प्रकरणव्यक्तौ समवकारादिवत् त्रयोऽपि ।

‘प्रकरण’ के नेता होते हैं इस बातके प्रतिपादनकेलिए अलग कहा गया है । जो ‘अमात्य’ को नायक मानकर धीरप्रशात-नायक वाला रूपक ‘प्रकरण’ होता है इस प्रकार [‘प्रकरण’ को] विशेषित करते हैं वे वृद्ध-सम्प्रदायको नहीं समझते हैं । [अर्थात् वे प्राचीन आचार्योंकी परम्पराके विपरीत बात करते हैं । क्योंकि प्राचीन आचार्योंके मतानुसार अमात्य या सचिव धीरप्रशात नहीं अपितु धीरोदात्त नायक होता है ।]

जंसा कि कहा भी है—

सेनापति और अमात्य धीरोदात्त [नायक] माने जाते हैं ।

इस अनुच्छेदमें ‘विप्रा पट्कर्माण’ । यह जो लिखा गया है वह मनु आदि स्मृति-कारोंकी व्यवस्थाके आधारपर लिखा गया है । ‘मनु स्मृति’ में ब्राह्मणोंके छ वर्ग निम्न प्रकार गिनाए गए हैं—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनु

आगे कारिकामें आए हुए ‘असकरात्’ पदकी व्याख्या करते हैं । उसका भाव यह है कि यद्यपि ‘प्रकरण’ में विप्र, अमात्य तथा वणिक् तीनों नायक हो सकते हैं किन्तु उनका सकर नहीं होना चाहिए । अर्थात् एक ‘प्रकरण’ में इनमेंसे एक ही नायक होना चाहिए । एक ही ‘प्रकरण’ में तीनों नायक नहीं हो सकते हैं । ‘समवकार’ आदिमें तो एक ही ‘समवकार’ में अनेक नायक भी हो सकते हैं । किन्तु एक ‘प्रकरण’ में अनेक नायक नहीं हो सकते हैं । यह बात अन्वयकारने ‘असकरात्’ पदसे सूचित की है । इसी वानकी प्रगती पवितमें लिखते हैं—

‘असकरात्’ इस [पद] से [यह सूचित किया है कि ‘प्रकरण’ में] व्यक्तिभेदसे [प्रर्थात् अलग-अलग ‘प्रकरण’ में अलग-अलग] वणिक् आदि नायक हो सकते हैं । ‘समवकार’ के समान एक ही ‘प्रकरण’ [रूप व्यक्ति] में तीनों [नायक] नहीं [हो सकते हैं] ।

आगे कारिकाके ‘म-दगोत्राङ्गणम्’ पदका अर्थ करते हैं । इस पदकी दो प्रकारकी व्याख्या की गई है । पहली व्याख्यामें ‘मन्द’ पदकी ‘गोत्र’ पदका विशेषण मान कर ‘मन्द गोत्रा अर्थान् नीचकुलोत्पन्ना वेश्यादि ‘प्रकरण’ की नायिका होती है यह अर्थ किया है । और दूसरी व्याख्यामें पहले ‘गोत्र’ पदका ‘अगना’ पदके साथ समास करने, फिर ‘मन्द’ पद की ‘गोत्रागना’ पदका विशेषण बनाया है । इस प्रक्रियासे ‘मन्दा’ अर्थात् निम्नष्ट आचरण वाली ‘गोत्रागना’ अर्थात् ‘स्ववशोत्पन्ना’ अर्थात् नायकके समान गोत्रकी नायिका ‘प्रकरण’ में होती है यह अर्थ किया है । अर्थात् ‘प्रकरण’ में वही नीचकुलजा वेश्या आदि और वही स्वकुलोत्पन्ना, और वही दोनों प्रकारकी नायिकाएँ होती हैं । इसीलिए नाट्यदर्पणकार ने ‘प्रकरण’ के लक्षणमें लिखा है

‘नायिका कुलजा ववापि, वेश्या ववापि, द्वय वचनम्’ । मा० २० ६-२०६ ।

'मन्दगोत्रा' मन्दकुला, अगनां नायिका यत्र । यद्वा 'मन्दा' मन्दवृत्ता, गोत्रागना यत्र । अत एवात्र नायिकीचिन्त्येन नायकोऽपि मन्दगोत्र एव । एवं च पुष्प-वृत्तिके अशोकदत्तादिशब्दान्तर्यनेन समुद्रदत्तस्य मन्दयन्त्यां या व्यलीकशकोपनिबद्धा, मा न टोपाय । परपुष्पमम्भानाया निर्वहणं यावद्रूपयोगान् । अपरथा उत्तम-प्रवृत्तीना अशुरेण वध्या', पुत्रे दूरे स्थिते निर्वासन', निर्वासितायाश्च शररसेनापतिगृह-ऽवस्थानमनुचितमेव ।

'मन्दगोत्रा' अर्थात् मध्यम कुलकी 'अगना' अर्थात् नायिका जिसमें हो । अथवा 'मन्दा' अर्थात् मध्यम आचरण वाली गोत्राङ्गना अर्थात् कुलजा नायिका जिसमें हो [वह 'प्रकरण' कहलाता है] । इसीलिए नायिकाकी अरुहपताके कारण नायक भी मध्यम कुल का ही होता है । इसलिए 'पुष्पवृत्तिक' में 'अशोकदत्त' आदिके शब्दको सुन कर 'समुद्रदत्त'की 'मन्दयन्ती' के चरित्रके विषयमें जो शका वर्णित की गई है वह दोषाघापक नहीं है । क्योंकि यहाँ निर्वहण सन्धि पर्यन्त परपुष्प [के साथ 'मन्दयन्ती' के सम्बन्ध] की सम्भावनाका उपयोग [दिखलाई देता] है । अन्यथा उत्तमप्रकृति वाले लोगोंमें पुत्रके बाहर दूर गए होने पर श्वशुरके द्वारा पुत्रवधूका घरसे निष्कासन, और निजाल दिए जानेपर [पुत्रवधू का] शरर-सेनापतिके घरमें रहना [जो कि इस 'पुष्पवृत्तिक' प्रकरण' में दिखलाया गया है वह] अनुचित ही हो जाएगा [उसकी सगति तब ही लगती है जब उसके नायक तथा नायिका आदिको उत्तम प्रकृतिका न मान कर मध्यम-प्रकृति माना जाए] ॥

इसका अभिप्राय यह है कि उत्तम प्रकृतिकी नायिकाके प्रति कभी परपुष्प-सम्बन्ध की शका आदि नहीं की जा सकती है । 'पुष्पवृत्तिक' की नायिका 'मन्दयन्ती' के प्रति उसके श्वशुरको परपुष्प सम्बन्धकी शका उत्पन्न हो गई थी इसलिए उसने पुत्रवधूको घर से निजाल दिया था । इसपर यह शका होती है कि जैसे 'पुष्पवृत्तिक' की नायिकाके चरित्र के विषयमें शका हो गई थी इसी प्रकार 'वेणीसहार' में दुर्योधनको भी अपनी पत्नी भानुमती के चरित्रके विषयमें शका हो गई थी । तो क्या भानुमती और दुर्योधनकी गणना भी मध्यम प्रकृतिके नायक नायिकाम की जानी चाहिए ? अथवा उनको उत्तम वर्गके नायक-नायिकामें ही गिनना चाहिए । इस शकाका अन्वकार यह समाधान करते हैं कि 'वेणीसहार' में जो भानुमतीके प्रति शकाका वर्णन किया गया है वह अनुचित है । वे दोनों उत्तम प्रकृतिके नायक-नायिका है । अत एव भानुमतीके चरित्रके प्रति शकाका वर्णन नाटक-कारको नहीं करना चाहिए था ।

वेणीसहारके द्वितीय अंकम इस घटनाका उल्लेख किया गया है । दुर्योधनकी रानी भानुमतीने युद्धके प्रारम्भ होनेके पूर्व एक दिन रातको एक बहुत बुरा स्वप्न देखा था । उसकी सान्त्विकी व्यवस्था करानेकेलिए वह एकान्तमें अपनी सलियोंको उस स्वप्न को सुना रही है । इसी बीचमें दुर्योधन उस स्थानपर पहुँच जाता है और छिपकर उसकी बात सुनने लगता है । स्वप्नमें भानुमतीने यह देखा था कि किसी नेवलेने सी साँपो को मार डाला है । यह सी सत्या कौरवोंके साथ सम्बद्ध हो जाती है इसलिए उसे सी भाइयो सहित दुर्योधनके अनिष्टकी शका हो गई थी । इसी स्वप्नको वह सलियोंको सुना रही है । उसमें नेवलेके लिए 'नकुल' शब्दका प्रयोग किया गया है । इसको सुन कर दुर्योधनको मारीपुत्र

उत्तमप्रकृतीनां राज्ञां तु कुलरित्रयां व्यलीकसम्भावना दुर्योधनस्येव भानुमत्या-
मनुचितैव ।

वर्णिगमात्यविप्राश्च स्ववर्गपिच्छयैवोत्तमाः, न राजापेक्षया । एतदर्थमेव च
मन्दशब्देन गोत्रं विशेषितम् । प्रकरणे हि नायको व्युत्पाद्यश्च मध्यमप्रकृतिरेव ।

नकुलके साथ भानुमतीके अन्वित सम्बन्धकी आशंका हो गई है । उस प्रसंगके शब्द जिन्होंने
दुर्योधनके मनमें इस प्रकारकी शंकाको उत्पन्न किया निम्न प्रकार है—

“भानुमती—ततोऽहं तस्यातिशयितदिव्यरूपिणो नकुलस्य दर्शनेनोत्सुका जाता
हतहृदया च । तदुज्जित्वा तदासनस्थानं लतामंडपं प्रवेष्टुमारब्धा ।

दुर्योधनः—[सवैलक्ष्यमात्मगतम्] किं नामातिशयितदिव्यरूपिणो नकुलस्य
दर्शनेनोत्सुका जाता हतहृदया च । तत्किमनया पापया माद्रीसुतानुरक्तया वयमेवं
विप्रलब्धाः । [सोत्प्रेक्षम् इयमस्मन् २-१० इति पठित्वा] मूढ दुर्योधन ! कुलटाविप्र-
लभ्यमात्मानं बहुमन्यमानोऽधुना किं वक्ष्यसि । [किं कष्टे २-६ इति पठित्वा दिशोऽ-
वलोक्य] अहो एतदर्थमेवास्याः प्रातरेव विविक्तस्थानाभिलापः सखीजनकथासु च
पक्षपातः । दुर्योधनस्तु मोहादविज्ञातवन्वकीहृदयसारः क्वापि परिभ्रान्तः । आः पापे !
मत्परिग्रहपांसुले—

तद् भीरुत्वं तव मम पुरः साहसानीदृशानि,

श्लाघा सात्मद्वेषुपि विनयव्युत्क्रमेऽप्येव रागः ।

तच्चौदार्यं मयि जडमतौ चापले कोऽपि पन्थाः,

स्थायते तस्मिन् वितमसि कुलेऽजन्यकौलीनमेतन् ॥ २-११

सखी—ततस्ततः ?

भानुमती—ततः सोऽपि मामनुसरन्नेव लतागृहं प्रविष्टः ।

उभे—ततस्ततः ?

भानुमती—ततस्तेन सप्रगल्भप्रसारितकरेणापहृतं मे स्तनांशुकम् ।

उभे—ततस्ततः ?

भानुमती—तत आर्यपुत्रस्य प्रभातमंगलनूर्यरवमिश्रेण वारविलासिनीजन-
मंगलरवेण प्रतिव्येभित्वास्मि ।

इस प्रकरणमें भानुमतीके स्वप्न-दर्शनके वृत्तान्तका जो वर्णन किया गया है
उससे दुर्योधनको भानुमतीके चरित्रके विषयमें शंका हो जाना स्वाभाविक था । किन्तु
अन्तमें जब उसको यह मालूम हुआ कि यह स्वप्नका वर्णन है तब स्वयं ही उसकी शंका
का निवारण भी हो गया । किन्तु ग्रन्थकारका कहना यह है कि उस उत्तम प्रकृतिके नायक-
नायिकाके विषयमें इस प्रकारकी शंकाका होना भी उचित नहीं है । इसलिए बतिया यह
वर्णन अनुचित है । इसी बातको वे प्रागे लिखते हैं—

उत्तम प्रकृतिके राजाघोमें तो, कुलसत्रीके प्रति भानुमतीके विषयमें दुर्योधन द्वाराही
गई शंकाके समान, दुर्धरप्रतापी सम्भावना [का वर्णन] भी अनुचित ही है । [एत एव
'केलीसंहार' का यह प्रसंग अनुचित ही है] ।

वर्णिग्य ममात्य धीर विप्र धपने-धपने वर्गकी हृदिते ही उत्तम हो सकते हैं । राजाही

‘दिव्यानाश्रितम्’ इति दिव्यैरनाश्रितम् । नाटके हि अंगत्वेन दिव्यो भवति । प्रकरणे तु तथाभावोऽपि नेष्टः । तस्य सुखवाहुर्येनाल्पदुःखत्वान् । अपरथा दिव्यत्वमेव हीयते ।

मध्यं सर्वोत्तम-हीनप्रकृत्ययोग्यं चेष्टितं विहार-व्याहार-वेष-सम्भोगादिको व्यापारो यत्र । तेन कल्पितवृत्तत्वेऽप्यभ्य न राजोचितान्त पुरादिसम्भोग । कञ्चुकि-प्रभृतिभृत्यवर्गो या । न चाधमपात्रमम्भोगादिर्वा निवन्धनीयः । तथा च वेश्यायां नायिकायां यिनयरहितमपि चेष्टितं निवन्धयते । यथा विशाखदेवकृते ‘देवीचन्द्रगुप्तं’ माणवसेनां समुद्दिश्य कुमारचन्द्रगुप्ततयोक्तिः—

आनन्दाश्रुजलं सितोत्पलरुचोरावध्वना नेत्रयोः,
प्रत्यंगेषु वरानने पुलकिपु म्वेदं समातन्वता ।
कुर्वाणेन नितम्ययोरुपचयं सम्पूर्णयोरप्यसौ,
केनाप्यमपृशताऽप्यधोनिवसनग्रन्थितवोच्छ्वासितः ॥ इति ॥

अपेक्षासे नहीं । इसके लिए भी ‘मन्द’ शब्दसे ‘गोत्र’को विशेषित किया है । अर्थात् ‘मन्दगोत्राङ्गनं’ पदमें जो ‘मन्द’ पदको ‘गोत्र’ पदका विशेषण बनाया गया है उसका यह भी अभिप्राय है कि वणिक् अमात्य विप्र आदि, राजाको अपेक्षासे मन्द गोत्र वाले ही होते हैं । ‘प्रकरण’में नायक और [व्युत्पाद्य अर्थात् जिनकी शिक्षाके लिए ‘प्रकरण’ की रचना की गई है वे] सामाजिक दोनों मध्यम श्रेणीके ही होते हैं ।

आगे वारिकामे आए हुए ‘दिव्यानाश्रित’ पदकी व्याख्या करते हैं—

‘दिव्यानाश्रितम्’ इसका यह अर्थ है कि दिव्यपात्रोंसे रहित । ‘नाटक’में तो अग रूपसे [अर्थात् नायकके सहायक रूपमें] दिव्य पात्र [उपस्थित] होता है किन्तु ‘प्रकरण’में तो उस प्रकारकी [अर्थात् नायकके अग्ररूपमें] स्थिति भी इष्ट नहीं है । उस [दिव्यपात्र] के सुलप्रधान होनेके और अल्पदुःखयुक्त होनेके कारण [व्येसाध्य अर्थात् दुःखप्रधान ‘प्रकरण’में उनकी स्थिति सगत नहीं बनती है] । अन्यथा [अर्थात् यदि दिव्य पात्रोंको सुलप्रधान और अल्प दुःखवाला न माना जाय तो उनकी] दिव्यता ही नष्ट हो जावेगी ।

आगे वारिकामे आए हुए ‘मन्दचेष्टितम्’ पदकी व्याख्या करते हैं—

मध्य अर्थात् सर्वोत्तम अथवा सबसे निकृष्ट प्रकृतिके अयोग्य, चेष्टित अर्थात् विहार, [व्याहार अर्थात्] भाषण, वेष और सम्भोगादि व्यापार जितमें ही [वह मध्यचेष्टित ‘प्रकरण’ होता है] । इसलिए आख्यान-वस्तुके कल्पित होनेपर भी इसमें राजाओंके समान अन्तःपुर आदिका भोग, कञ्चुकी प्रभृति भृत्यवर्ग, अथवा अधमपात्रोका-सा सम्भोगादिका वर्णन नहीं करना चाहिए । [प्रथित सब कुछ मध्य स्थितिके अनुसूप ही होना चाहिए] । इसीलिए वेश्या के नायिका होनेपर शिष्टता-रहित बातेंका भी वर्णन हो जाता है । जैसे विशाखदेवके बनाए हुए ‘देवीचन्द्रगुप्त’में माणवसेना [वेदया] को लक्ष्यसे रखकर कुमार चन्द्रगुप्तको [शिष्टतासे रहित निम्नलिखित] उचित है—

शुभ्र-वमलके समान वान्ति वाली आँखोंमें, आनन्दाश्रुओंको उत्सन्न करने वाले, और हे वराङ्गने ! तुम्हारे रोमाञ्च युक्त सारे अंगोंमें स्वदेशोत्पादन करदेनेवाले, एव भरे हुए नितम्बोंकी वृद्धि करा देने वाले, किम्बे [प्रेमी] ने स्पर्श किए बिना ही तुम्हारे नीचे पहननेके वस्त्रकी नारोंको गँठके छुलवा डाला है ।

व्युत्पाद्योऽपि च प्रकरणे मध्यमप्रकृतिरेव । नेतृचरितस्यापि तथाभूतत्वादिति ।

‘दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तम्’ इति । ‘दासो’ जीवितावधि वेतनक्रीतो, बाल्यान् प्रभृति पोषितो वा । ‘श्रेष्ठी’ वणिक्प्रधानम् । ‘विटो’ धूर्त । तत्र कञ्चुकिस्थाने दासः । अमात्य-स्थाने श्रेष्ठी । विद्रूपकस्थाने विट । उपलक्षणं चैतत्, तेनापरमपि चाटुकार-सहाया-दिकं वणिगाद्यौचित्येन निबन्धनीयम् ।^२ ‘क्लेशाढ्यम्’ इति दुःखदीप्तम् । अपाय-शतान्तरितफलत्वादिति एतावल्लक्षणम् ।

तच्चेति, उत्कलक्षणं ‘प्रकरणं’ सप्तभेदम् । ‘इनो’ नायक । ‘फलं’ मुख्यसाध्यम् । ‘वस्तु’ फलसाधका उपाया । एतेषां एक-द्वि-त्रिविधानेन सप्तभेदं ‘प्रकरणम्’ । तत्र नेतु प्रकल्पने तदितरयोश्चाकल्पने एको भंगः । एवं फल-वस्तुनोरपि । एवमेककल्पविधाने त्रयो भंगा । तथा नायक-फलयो, नायक-वस्तुनो, फलवस्तुनोर्वा कल्पने शेषस्यैकस्य चाकल्पने त्रयो द्विकभंगा । नायक-फल-वस्तूनां त्रयाणामपि समुद्दितानामपि कल्पने एको भंगः । एवं सर्वमेलनेन^३ सप्तधा प्रकरणमिति ॥ १-२ [६६-६७] ॥

यह कुमारचन्द्रगुप्तका वचन विनय-रहित या शिष्टता-रहित है । उत्तम प्रकृतिके पात्रो मे इस प्रकारके वचनोका प्रयोग उपयुक्त नहीं होता है । किन्तु यहाँ वेश्या माधवसेनाके नायिका होनेके कारण ही इस प्रकारके वचनके प्रयोगकी सगति तागई जा सकती है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

नायकके चरित्रके भी [उस प्रकारके अर्थात्] मध्यम-प्रकृतिका होनेके कारण ‘प्रकरण’मे [व्युत्पाद्य अर्थात्] सामाजिक भी मध्यम प्रकृतिके ही होते हैं ।

आगे कारिकामे आए हुए ‘दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तम्’ की व्याख्या करते हैं—

‘दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्तम्’ [इसका यह अभिप्राय है कि] जीवन-पर्यन्तके लिए वेतनसे क्रय किया हुआ अथवा बचपनसे पाला हुआ ‘दास’ होता है । वणिक्कोका प्रधान, अथवा प्रधान वणिक् ‘श्रेष्ठी’ कहलाता है । ‘विट’ [का अर्थ] धूर्त है । उनमेंसे [नाटकके] कञ्चुकीके स्थानपर [प्रकरणमे] ‘दास’ [को समझना चाहिए] । अमात्यके स्थानपर श्रेष्ठी और विद्रूपकके स्थानपर विट [का उपयोग] होता है । [दास-श्रेष्ठि-विटैर्युक्त] यह [वचन] उपलक्षण रूप है । इसलिए वणिक् आदि [नायकी] के औचित्यके अनुसार चाटुकार [चापसूस] सहायक आदि अन्य [पात्रों] का भी वर्णन करना चाहिए । ‘क्लेशाढ्यम्’ इसका ‘दुःख-प्रधान’ यह अर्थ है । क्योंकि उसका फल संकटो कष्ट भोगनेके बाद प्राप्त होता है । [इसलिए ‘प्रकरण’ दुःख-प्रधान रूपक होता है] । यहाँ तक [अर्थात् ६७वीं कारिकाके पूर्वार्द्ध] भाग तक प्रकरणका लक्षण कहा है [आगे उसके भेद दिखलाते हैं] ।

आगे ६७वीं कारिकाके उत्तरार्ध भागकी व्याख्या करते हैं । इसमें ‘क्लेशेन-पल-वस्तूना’ इस पदमे ‘क्लेशेन’ का पदच्छेद ‘क्लेश+इन’ यह किया जाना चाहिए । इस प्रकार का पदच्छेद करके ही उसका अर्थ आगे दिखलाते हैं—

और ‘यह’ अर्थात् पूर्वोक्त लक्षणवाला ‘प्रकरण’ सात प्रकारका होता है । ‘इन’ [शब्दका अर्थ] नायक है । फल [शब्दका अर्थ] मुख्य साध्य है । और फलके साधक उपाय ‘वस्तु’ [कहलाते] हैं । इनमेंसे एक, दो, या तीनके [क्लेशित होनेके] विधानसे ‘प्रकरण’के सात

अथ नायिकायोगद्वारेण भेदसंख्यानमप्याह—

[सूत्र ११८]—कुलस्त्री गृहवार्तायां पण्यस्त्री तु विपर्यये ।

विटे पत्यौ द्वयं तस्मादेकात्रिंशत्तिधाऽप्यदः ॥ ॥ [३]६८ ॥

गृहवार्तायां गार्हस्थ्योचितपुन्यार्थसाधके वृत्ते कुलजीव स्त्री नायिकात्वेन वणिगादीना निवन्धनीया । यथा 'पुण्यवृत्तिके' । विपर्यये तु गार्हस्थ्योचितपुन्यार्थवर्णने वैश्वेय नायिकात्वेन निवन्धनीया यथा 'तरङ्गदत्ते' । उभययोगस्य विट एव विधाना-
दनयोरप्यवधारणम् । विटे गीत-नृत्य-वाद्यविचक्षण्ये चूत-पान-वेरयादिषु प्रसक्ते कला-
कुशलं मूलदेवादी पत्यौ नायकत्वेन विचक्षिते वेश्या कुलस्त्री चेति द्वयं तदुचितगार्ह-
स्थ्यपुरपार्थपेक्षया निवन्धनीयम् । अस्य तु विटत्वादेव पण्यस्त्रीप्रधानम् । कुलस्त्री
तु पितृ-पितामहाद्यनुरोधाद् गौणम् । विटस्य पतित्वानुवादाद् वणिगाद्यन्तर्भूतोऽपि
'प्रकरणे' विटो नेता लभ्यते । वेश्या-कुलजाभ्यां संकीर्णत्वाद्यं भेदोऽशुद्धः । पूर्वां तु
शुद्धौ स्त्रीसंकराभावान् । शुद्धभेदयोरपि विटः ससहाय एकः । संकीर्णं तु वहवः ।
केचित् तु वणिग्नेतृरुपि धूर्तसंकुलत्वान्मृच्छकटिकादिकं संकीर्णं मन्यन्ते ।

भेद हो जाते हैं । उनमेंसे नायकके कल्पित, और शेष दोनो [अर्थात् फल और वस्तु] के कल्पित न होनेपर एक भेद होता है । इसी प्रकार फल और वस्तुमें भी [एकके कल्पित और शेष दोके कल्पित न होनेपर एक एक भेद होता है] । इस प्रकार एककी कल्पनाके विधानसे तीन भेद बनते हैं । इसी प्रकार (१) नायक और फल, (२) नायक और वस्तु तथा (३) फल और वस्तु इन दो-दो के कल्पित, और शेष एकके प्रकल्पित होनेपर दो-दो वाले तीन भेद होते हैं । नायक, फल और वस्तु तीनोंके एक साथ कल्पित होनेपर एक भेद बनता है । इस प्रकार सबको मिलाकर 'प्रकरण' के सात भेद हो जाते हैं ॥ [१-२] ६६-६७ ॥

इस प्रकार ६७ वी कारिकाके उत्तरार्द्धमें नायक आदिके कल्पित होनेके आधारपर 'प्रकरण' के सात भेद दिखलाए हैं । आगे कुलस्त्री, वेश्या तथा दोनो प्रकारकी नायिकाओं के वर्णित होनेपर इन सातों प्रकारके 'प्रकरणों' के तीन-तीन भेद और भी बन सकते हैं । इसलिए 'प्रकरण' के २१ भेद हो जाते हैं । इन भेदोंको भ्रगली कारिकामें दिखलाते हैं—

अथ नायिकाके भेदोंके द्वारं [प्रकरण] के भेदोंकी सख्याको भी कहते हैं—

[सूत्र ११८]—गृहस्थोचित वृत्तमे कुलस्त्री, इसके विपरीत वृत्तमें वेश्या और विट [पुत्र] के, पति [रूपमें वर्णित] होनेपर [कुलस्त्री और वेश्या] दोनो [नायिकाएँ हो सकती हैं] । इसलिए [प्रकरण के पूर्वोक्त सात भेदोंमेंसे प्रत्येकके तीन-तीन भेद हो जानेसे सब मिलकर] यह इक्कीस प्रकारका भी हो सकता है [३] ६८ ।

गृहवार्तामें अर्थात् गृहस्थोचित पुरुषार्थके साधक वृत्त [कथा] में वणिग् आदि [नायको] की कुलजा स्त्री ही नायिका रूपमें रखनी चाहिए । जैसे 'पुण्यवृत्तिक' में । इसके विपरीत अर्थात् गृहस्थ धर्मके उचित पुरुषार्थका वर्णन न होनेपर वेश्याको ही नायिका रूपमें प्रस्तुत करना चाहिए । जैसे 'तरंगदत्त' में । [कुलजा और वेश्या] दोनोंके योग का विटके साथ ही [अर्थात् विटके पति होनेपर] ही विधान होनेसे इन [कुलजा तथा

एषु च भेदेषु नायकवृत्तानुरूप एव व्युत्पाद्यः । अत्र हि वणिगमात्यविप्रासु-
चिता त्रिवर्गप्राप्तिः, तदर्जने स्थैर्य-धैर्यादि, व्यापदि मूढता, कुलस्त्रीवृत्तं, वेश्यामुसम्भोग-
चातुर्यं, विट-वृत्तयो स्वरूपं, नायिकारागापरागल्लिगानि, हृदयग्रहणप्रयोगश्च, नायक-
योरपरागकारणानि, चतुरोत्तममध्यमप्रकृतेर्नायकाय, उत्तममध्यमप्रकृतेर्नायिका-
याश्च स्वरूपम्, सामाद्युपायप्रयोगश्च व्युत्पाद्यानामुपदिश्यते । 'तस्मादिति' यतः शुद्ध-
संकीर्णभेदत्रयरूपं सप्तभेदं 'प्रकरणं', 'तस्मादेकविंशतिधाप्यद' एतत् 'प्रकरणम्' ।
चतुर्दश शुद्धाः, सप्त संकीर्णा प्रकरणभेदा । नायिकायाः कल्पिताकल्पितत्वेनान्येऽपि
भेदाः संभवन्ति । परमदृष्टत्वादुपेक्षिताः ॥ [३] ६८ ॥

वेद्या] दोनोका भी अथधारण [अर्थात् गृहवातामिं केवल कुलजा ही, और उससे भिन्नमें
केवल वेद्या ही नायिका हो सकती है इस प्रकारका नियम] है । 'विट' अर्थात् गीत-नृत्य
और वाद्यमें निपुण छूत, पान और वेद्यादिके सेवनमें तत्पर कला-कुशल मूलदेवादि जैसे
पतियोंके नायक रूपमें विवक्षित होनेपर वेद्या और कुलजा दोनो अपने-अपने योग्य गृह-
स्थोचित पुरपाथकी [और उससे भिन्न पुरुपाथकी] अपेक्षासे [नायिका रूपमें] वेद्या
और कुलजा दोनोकी रचना करनी चाहिए । इस [विट रूप पति] के धूर्त होनेके कारण
ही वेद्या प्रधान है और कुलस्त्री तो पिता पितामह आदिसे अनुरोधसे [रखी हुई होनेके
कारण] गौण होती है । विटके पति रूपमें कथन करनेसे वणिग् आदिके अन्तर्गत होने
पर भी विट नायक हो सकता है यह बात निकलती है । [अर्थात् विट 'प्रकरण' का नेता तो
हो सकता है किन्तु वह पूर्वोक्त वणिग् अमात्य या विप्रोमेसे ही कोई होगा । उनसे अलग
नहीं] । वेद्या तथा कुलजा [दोनों प्रकारकी नायिकाओं] से संकीर्ण होनेके कारण यह भेद
अशुद्ध भेद है । पहले दोनों [अर्थात् जिसमें केवल कुलजा अथवा केवल वेद्या ही नायिका हो
वे] स्त्रीके सकर न होनेके कारण शुद्ध भेद हैं । शुद्ध भेदोंमें भी सहायकोके सहित एक
विट होता है । संकीर्णमें तो अनेक होते हैं । कोई लोग वणिक् जिसका नायक है इस
प्रकार के 'प्रकरण' को भी धूर्तसे व्याप्त होनेके कारण संकीर्ण मानते हैं । जैसे मृच्छकटिक
आदि ।

इन भेदोंमें नायकके वृत्तके अनुसार ही सामाजिक [व्युत्पाद्य] होते हैं । इसमें
वणिक्, अमात्य, विप्र आदिके उचित [धर्म अर्थ काम रूप] १ त्रिवर्गकी प्राप्ति, २ उसके प्राप्त
करनेकेलिए अपेक्षित स्थिरता, धैर्य आदि, ३ आपत्तिकालमें मूढता, ४ कुल-स्त्रियोका
आचार, ५ वेद्याओंके भली प्रकार सम्भोगका चातुर्य, ६ विट तथा विदूषकके स्वरूप
७ नायिकाके अनुराग तथा अपरागके लिंग, ८ हृदयको वशमें करनेके प्रयोग, १० नायक-
नायिका दोनों के परस्पर अपरागके कारण, ११ चतुर उत्तम मध्यम प्रकृतिके नायक, तथा
उत्तम मध्यम अधम प्रकृतिकी नायिकाके स्वरूपोंका और १२ सामाजिक उपायोंके प्रयोग
का उपदेश सामाजिकोंको दिया जाता है । 'तस्मात्' इससे [यह अभिप्राय है कि] क्योंकि
[पूर्वोक्त] सात भेदोंसे युक्त 'प्रकरण' के [एक केवल कुल स्त्रीके नायिका] होनेपर और
दूसरा देशत पण्यस्त्रीके नायिका होनेपर] दो शुद्ध और एक संकीर्ण [अर्थात् जिसमें दोनों
प्रकारकी नायिकाएँ हों इस प्रकार] तीन भेद हो सकते हैं । इसलिए यह 'प्रकरण' ७ × ३ =
२१ प्रकारका भी हो सकता है । उनमेंसे चौदह शुद्ध और सात संकीर्ण भेद होंगे । नायि-

अथाकल्प्यरूपम्' निरूपयति—

[सूत्र ११६]—अत्राकल्प्यं पुरा क्लृप्तं यद्वाऽनार्पमसद्गुणम् ।

अत्र 'प्रकरणे' अकल्प्यं अनुत्पाद्यं यत् तत् पूर्वकविकृतकाव्यादौ क्लृप्तं सन् समुद्रदत्ततच्चेष्टितादिवद् ग्राह्यम् । अथवा यद्वाऽकल्प्यं तत् पूर्वपिंप्रणीतशारङ्गव्यातिरिक्त-बृहत्कथाद्युपनिबद्धं मूलदेव-तच्चरितार्थादिवदुपादेयम् । 'असद्गुणम्' इति । यद्वा-कल्प्यं पूर्वकविकल्पितं बृहत्कथाद्युपनिबद्धं वा चरित्रमपि तदसद्गुणं, पूर्वकविकाव्ये बृहत्कथादौ चासन्तो गुणाः रसपुष्टिहेतवो भणितिविशेषादयो यत्र । यदप्यत्र प्राक्तनं निबद्धयत् तत्रापि कविना रसपुष्टिहेतुरधिकावापो विधेय इत्यर्थः । अत एवार्पस्य वर्जनम् । तत्र ह्यभूतगुणावापे श्राद्धलोकस्य जुगुप्सा स्यादिति ॥

अपवादभूतं कृत्यमुक्त्वा उत्सर्गमतिदिशति—

कामोके कल्पित श्रौर अकल्पित होनेसे श्रौर भी अधिक भेद हो सकते हैं । परन्तु [लक्ष्यग्रन्थोमे] न पाए जानेसे उनका यहाँ वर्णन नहीं किया है [उनकी उपेक्षा कर दी है] ॥ [३]६८ ॥

अथ 'अकल्प्य' [अर्थात् जिसमें नायिकाविकी कल्पना नहीं की जाती है उन] के स्वरूपको कहते हैं—

[सूत्र ११६]—जिसकी कल्पना पहिले [अन्य काव्योंमें] की जा चुकी है अथवा अनार्प ग्रन्थोमे वर्णित किन्तु [असद्गुणम् अर्थात्] नवीन गुणोसे युक्त [नायिकादि यहाँ 'प्रकरण' में] अकल्पित हो सकते हैं ।

यहाँ अर्थात् 'प्रकरण' में जो अकल्पित अर्थात् [कविके द्वारा स्वयं] अनुत्पादित होता है वह पूर्व कवियेके बनाए काव्योंमे कल्पित समुद्रदत्तादिके चरित्रके समान [यहाँ 'प्रकरण' में] ग्रहण किया जाता है । अथवा जो यहाँ अकल्पित होता है वह पूर्ववर्ती ऋषि-प्रणीत शास्त्रादिके भिन्न बृहत्कथादि [अनार्प ग्रन्थों] में उपनिबद्ध मूलदेवचरित्र आदिके समान उपादेय होता है । [किन्तु विशेषतया यह होती है कि यह] 'असद्गुण' अर्थात् पूर्वकवि-कल्पित अथवा बृहत्कथादिमे वर्णित, जो चरित्र यहाँ [प्रकरणमे] अकल्पित रूपमें लिया जाता है वह भी, उसमे जो गुण यहाँ [पूर्व कविके पात्रमे] नहीं होते हैं उस प्रकारके अपूर्व गुणो से युक्त होता है । अर्थात् पूर्व कवियेके काव्योंमें श्रौर बृहत्कथादिमे जो गुण उसमे नहीं दिखलाए गए हैं इस प्रकारके रसके परिपोषक अपूर्व वचन-विशेषादि रूप गुण जिसमे हों इस प्रकारका ['प्रकरण' होना चाहिए] इसमे जो कुछ पुरानी बात कही जाए उसमे भी रस की परिपुष्टिके लिए कविको नई बात श्रौर बढा देनी चाहिए । यह अभिप्राय है । इसी-लिए यहाँ [अनार्प पक्षे] अर्प [चरित्रों] का निबंध किया गया है । क्योंकि उन [अर्प चरित्रों] में नवीन गुणोका वर्णन होनेपर भ्रष्टालु लोगोको घृणा हो जाएगी ॥

[इस प्रकार 'प्रकरण' के लक्षणमे नाटकके भिन्न] अपवादभूत कार्योंको कह कर अथ [नाटकके समान ही जो-जो बातें 'प्रकरण' मे भी पाई जाती है उन] उत्सर्गभूत [सामान्य बातों] का ['प्रकरण' में] प्रतिदेश करते हैं—

[सूत्र १२०]—शेषं नाटकवत् सर्वं कौशिकीपूर्णांतां विना ॥ [४] ६६॥

उक्ताद् वणिक्-विप्र-सचिव-स्वाम्यादिकाल्लक्षणच्छेषं अपरमभिनेयप्रबन्धो-
चितं फल-श्रद्ध-उपाय-दशा-सन्धि-सन्ध्यग-प्रवेशक-विष्कम्भक-अंकावतार-अंकमुख-चूलि-
कावृत्तिभेद-रसादिकं यथा नाटके लक्षितं तथात्रापि सर्वमौचित्यानातिक्रमेणोप्यम् ।
वृत्तिचतुष्टयस्यातिदेशेऽपि कौशिकीवाहुल्यं न निबन्धनीयम् । क्लेशप्राचुर्येण शृङ्गार-
हास्ययोरल्पत्वात् । यथा मृच्छकटिक-पुष्पद्वितिक-तरंगदत्तादिषु । यत्पुनर्भवभूतिना
मालतीमाधवे कौशिकीवाहुल्यमुपनिबद्धं, 'तन्न वृद्धाभिप्रायमनुखाद्वीति ।

तदयं संक्षेपः—यस्य पूर्वप्रसिद्ध एवार्थं कुतूहलं असौ मुनिप्रणीतशास्त्रप्रसिद्ध-
चरितेन नाटकेन राजादिरुक्तमप्रकृतित्व्युत्पाद्यते^३ । यस्य पुनरुत्पाद्येऽर्थं कुतूहलमसौ
वणिग्गादिभिर्मध्यमप्रकृतिः 'प्रकरणेन' । दुर्मधसां हि न्याप्ये वर्त्मनि प्रवृत्त्यर्थं कव्योऽ-
भिनेयप्रबन्धान् प्रधनन्तीति ॥ [४] ६६ ॥

अथ प्रकरणानन्तरोद्दिष्टां नाटिकां लक्षयितुमाह—

[सूत्र १२०]—कौशिकीकी पूर्णांताको छोड़कर शेष सब नाटकके समान 'प्रकरण' में
भी होता है । [४] ६६ ।

[प्रकरणके लक्षणमें विशेष रूपसे कहे हुए] वणिक् विप्र, अथवा अमात्यके
नायकत्वादि रूप विशेष लक्षणके अतिरिक्त अभिनेय प्रबन्धके योग्य अग्य १ फल, २ अंक, ३
उपाय, ४ दशा, ५ सन्धि, ६ सन्ध्यग, ७ प्रवेशक, ८ विष्कम्भक, ९ अंकावतार, १० अंकमुख,
११ चूलिका, १२ वृत्तिभेद और १३ रसादिक सब जैसे नाटकोंमें कहे गए हैं उसी प्रकार
श्रीचरित्यका अतिक्रमण न करते हुए यहां ['प्रकरण' में] भी प्रयुक्त करने चाहिए । [इस
सामान्य नियमसे सान्त्वती आरभती कौशिकी भारती आदि] चारो वृत्तियोंकी प्राप्ति होनेपर
भी ['प्रकरण' में] कौशिकीके वाहुल्यका प्रयोग नहीं करना चाहिए । क्योंकि उसमें बलेशका
आधिपत्य होनेसे शृङ्गार और हास्यका अवसर कम होता है [इसलिए 'प्रकरण' में कौशिकी
वृत्तिका अधिक प्रयोग उचित नहीं होता है] । जैसे मृच्छकटिक, पुष्पद्वितिक और तरंगदत्त
आदि [प्रकरणों] में [कौशिकी वृत्तिका अधिक प्रयोग नहीं किया गया है] । भवभूतिने
जो अपने मालती माधव ['प्रकरण'] में कौशिकीका प्रचुर प्रयोग किया है वह वृद्ध-सम्प्रदाय
[पर्यात् पूर्व आचार्योंके मत] के अनुकूल नहीं है ।

इसका सारांश यह हुआ कि—जिनकी पूर्वप्रसिद्ध चरित आदिमें ही अतिबद्धि
होती है उन राजादि उत्तम प्रकृतिके लोगोको मुनियोंके बनाए हुए शास्त्रादिमें प्रसिद्ध
चरित वाले नाटकादिके द्वारा ही ध्युत्पत्ति कराई जाती है । और जिनको बलिपन अप्रयंमें
अभिरुचि होती है उन मध्यम प्रकृति वाले वणिक् आदिको 'प्रकरण' के द्वारा [ध्युत्पत्ति कराई
जाती है] । क्योंकि मन्दबुद्धियोंको उचित मार्गमें प्रवृत्त करानेकेलिए ही बलिपन अभिनेय
[नाटकादि] प्रबन्धोंकी रचना करते हैं ॥ [४] ६६ ॥

३. तृतीय रूपक भेद 'नाटिका' का लक्षण

अथ 'प्रकरण' में अन्तर बहो हुई 'नाटिका' का लक्षण करनेकेलिए बहते हैं—

[सूत्र १२१]—चतुरंका बहुस्त्रीका नृपेशा स्त्री-मही-फला ।

कल्प्यार्था कैशिकीमुख्या पूर्वरूपद्वयोत्थिता ॥ [५] ७० ॥

अख्याति-ख्यातितः कन्या-देव्योर्नाटी चतुर्विधा ।

‘चतुरंक’इति अवगथात्रयसमाप्तिपरिच्छिन्नाग्रयोऽङ्काः । कथाशिचदवस्थायाः प्रभूतरसेऽवस्थान्तरे समावेशेन युगपदवस्थाद्वयसमाप्त्या अंकविच्छेदे चत्वारोऽङ्काः । अल्पं हि वृत्तं नाटिकायामतो वृत्तसंक्षेपार्थमवस्थायाः समावेशः ।

बहुस्त्रीकता च कैशिकीमुख्यत्वेन शृङ्गाररसबाहुल्यात् । अत एव ललिताभिनयात्मिकाः । स्त्रियश्च देवी-दूती-सखी-चेटी-कन्यकादयः । नृपः कैशिकीप्रधानत्वाद् धीर-ललितो राजा ईशो नेता यस्याम् । अत एवात्र प्रकरणोद्भवत्वेऽपि सर्वो राजोचितो व्यवहारः । नायकानुसारित्वात् सर्वव्यवहारस्य । ‘स्त्री-महीफला’ इति स्त्रीलाभपुरःसरराज्यप्राप्तिफला । ‘कल्प्यार्था’ इति कर्म-करणव्युत्पत्तिभ्यां ‘अर्थः’ फलमुपायाश्च ।

[सूत्र १२१ क]—चार अंकों वाली, अनेक स्त्री पात्रों, राजा रूप नायक, और स्त्री अथवा पृथिवी [की प्राप्ति रूप] फल वाली, कल्पित अर्थ प्रदान, कैशिकी बहुल, पूर्वकथित दोनों रूपको [अर्थात् ‘नाटक’ और ‘प्रकरण’] से उत्पन्न, ‘नाटिका’ होती है । [यह ‘नाटिका’का लक्षण हुआ] । [५] ७० ॥

[सूत्र १२१ ख]—कन्या और देवी [दो प्रकारकी इसकी नायिकाएँ होती हैं उन दोनों] के [भी] अप्रसिद्ध तथा प्रसिद्ध होनेसे [दो-दो भेद हो जाते हैं] । इस प्रकार कुल [मिला-कर] ‘नाटिका’के चार भेद होते हैं ।

‘[नाटक’में सगधारणतः ‘कार्य’की पाँच अवस्थाएँ बतलाई गई हैं और उनमेंसे प्रत्येक अवस्था’का वर्णन एक-एक अंकमें पूरा होनेके कारण ‘नाटक’में कम-से-कम पाँच अंक आवश्यक माने गए हैं किन्तु ‘नाटिका’में चार ही अंक बतलाए हैं । इसका उपपादन करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि—

‘चतुरंक’ इससे तीन अवस्थाओंकी समाप्तिसे युक्त तीन अंक और किसी एक अवस्था का प्रदानभूत अन्य अवस्थामें समावेश कर एक साथ दो अवस्थाओंकी समाप्ति वाला एक [घोषा] अंक, इस प्रकार चार अंक होते हैं । ‘नाटिका’में कथावस्तु कम होनेके कारण कथावस्तुके सक्षेपकेलिए ही एक अवस्थाका [किसी दूसरी अवस्थामें] समावेश कहा गया है ।

[नाटिकामें] कैशिकीकी प्रधानताके कारण शृङ्गाररसकी प्रमुखता होनेसे बहुत स्त्रियाँ [आवश्यक] होती हैं । इसी कारण [वे स्त्रियाँ] ललित अभिनय वाली होती हैं । [नाटिकाकी] स्त्रियाँ देवी, दूती, सखी, चेटी, और कन्या आदि होती हैं । [‘नृपेशा’में] नृप [राज्य] से धीरललित राजा, [का ग्रहण होता है] वह जिसमें स्वामी अर्थात् नायक हो [वह ‘नृपेशा’ नाटिका होती है] । इसीलिए [नाटिकाके] ‘प्रकरण’से उद्भूत होनेपर भी उसमें सारा व्यवहार राजाके योग्य ही होता है । क्योंकि सारा व्यवहार नायकके अनुरूप ही उचित होता है । ‘स्त्री-महीफला’ इससे [यह बात सूचित की है कि] स्त्रीलाभ पुर सर राज्यप्राप्ति [नाटिकाका] फल होता है । ‘कल्प्यार्था’ इसमें [‘अर्थ’इति अर्थः’ इस प्रकारकी कर्मपरक

तेन द्वावप्यत्रोत्पाद्यौ ।

‘कैशिकी’ वक्ष्यमाणलक्षणा, सा ‘मुख्या’ प्रधान यस्याम् । मुख्यत्वं च श्रेय-
वृत्त्यपेक्षया बाहुल्यम् । तत एव गीत-नृत्त-वाद्य-हाम्यादीनां शृङ्गाराङ्गानां प्राचुर्यम् ।
पूर्वरूपद्वयं ‘नाटकं’ ‘प्रकरणं’ च । तस्मादुत्थितमुत्थानं यस्याम् । कैशिकीप्राधान्याच्च यन्
स्त्रीप्रायं कामफलं ‘नाटकं’, ‘प्रकरणं’ च किञ्चिन्, तदिह ब्राह्मम् । अन्येषामनुरूपत्वा-
भावान् । एतद्द्वयोत्थितत्वेन चावस्था-सन्धि-सन्ध्यंग-बीज-विन्दु-पताका-प्रकरी-पताका-
स्थानक-अंक-प्रवेशक-विष्कम्भक-इतिवृत्तभेदादीनि, उभयभेदसाधारणानि लभ्यन्ते । तत्र
‘नृपेशा’ इति नाटकधर्मः । तत एव नायकोऽकल्पितः । ‘कल्प्यार्था’ इति प्रकरणधर्मः ।
एतावल्लक्षणम् ॥ [५] ७० ॥

‘अख्याति-ख्याति’ इति । इह नाटिकाया नायिकाया द्वयं कन्या देवी चेति
युगपत् । अपरिणीता कन्या । अन्तःपुरसंगीतरुभेदभिन्ना । परिणीता तु देवी । तयो
व्युत्पत्तिः तथा ‘अग्र्यंते अनेनेति अग्र्यं’ इस प्रकारकी करण परक व्युत्पत्ति हो सकती है ।
इसलिए कर्म और करण-परक [द्विविध] व्युत्पत्तियोंके कारण फल और उपाय दोनों ‘अग्र्यं’
होते हैं [अर्थात् कर्म व्युत्पत्तिके अनुसार फलको ‘अग्र्यं’ कहा जाता है और करण व्युत्पत्तिके
अनुसार ‘उपाय’ को ‘अग्र्यं’ कहा जा सकता है ।

इसलिए [नाटकामे फल और उपाय] ये दोनों कल्पित होते हैं । [यह अभिप्राय है] ।

‘कैशिकी’ का लक्षण आगे किया जायगा । वह जिसमें मुख्य अर्थात् प्रधान हो [यह
‘कैशिकीमुख्या’ का अर्थ है] । अन्य [भारती अरारभटी और सात्वती] वृत्तियोंकी प्रवेक्षा
[कैशिकीका] बाहुल्य हो [उसकी] मुख्यता है । इसीलिए [नाटकामे] गीत, नृत्त वाद्य और
हास्य आदि शृंगारके घनोकी प्रचुरता रहती है । पहिले कहे हुए जो दो रूपकभेद अर्थात्
नाटक और प्रकरण उनसे जिसकी उत्पत्ति होती है [वह नाटिका होती है यह ‘पूर्वरूप-
द्वयोत्थिता’ पदका अर्थ है] । कैशिकीकी प्रधानता होनेके कारण जो कोई नाटक अथवा प्रक-
रण स्त्री बहुल और कामफल वाला हो उसका ही [नाटिकाकी प्रकृतिके रूपमें] ग्रहण करना
चाहिए । अन्य [नाटक या प्रकरण] के [नाटिकाके स्वरूपके] अनुकूल न होनेसे [अन्य प्रकार
के नाटकादिको नाटिकाकी प्रकृति नहीं माना जा सकता है] । इन [नाटक तथा प्रकरण]
दोनोंसे उत्पन्न होनेके कारण अवस्था, सन्धि सन्ध्यंग, बीज, विन्दु पताका, प्रकरी, पताका-
स्थानक, अंक, प्रवेशक, विष्कम्भक, और कथावस्तुका भेद आदि ‘नाटक’ तथा ‘प्रकरण’
दोनोंसे मिलते-जुलते ही [नाटकामे] लिए जाते हैं । नाटकामे ‘नृपेशा’ [अर्थात् राजा नायक
होता है] यह नाटकका धर्म है । इसीलिए नायक कल्पित नहीं होता है । और ‘कल्प्यार्था’
यह ‘प्रकरण का धर्म है । [‘अग्र्यं’ शब्दसे व्युत्पत्तिभेद द्वारा फल और उपाय दोनोंका ग्रहण
होता है यह बात अभी कह चुके हैं । इस कारण नाटकामे फल और उपाय दोनों कल्पित
होते हैं । यह ‘कल्प्यार्था’ पदका अभिप्राय है । इस प्रकार नाटकामे ‘नाटक’ तथा ‘प्रकरण’
दोनोंके धर्म पाए जाते हैं इसलिए नाटिकाको ‘पूर्वरूपद्वयोत्थिता’ कहा है] इतना ही [नाटिका-
का] लक्षण है [आगे उसके भेद कहे हैं । लक्षणभाग यहीं समाप्त हो गया है] ॥ [५] ७० ॥

‘अख्याति-ख्याति’ इसका यह अभिप्राय है कि—इस नाटकामे कन्या और देवी
दोनों एक साथ नायिकाएँ होती हैं । अपरिणीता [स्त्री] ‘कन्या’ होती है । और वह एतः पुरसे

प्रत्येकं प्रसिद्धि-अप्रसिद्धिभ्यां चतुर्भेदत्वान्नाटिकापि चतुर्विधा। सत्र^१ 'देव्यप्रसिद्धा कन्या प्रसिद्धा इत्येक । देव्यप्रसिद्धा कन्यकाप्यप्रसिद्धेति द्वितीयः । देवी प्रसिद्धा कन्या त्व-प्रसिद्धेति तृतीयः । देवी प्रसिद्धा कन्यापि प्रसिद्धेति चतुर्थः । उभयोः प्रसिद्धन्येऽपि च कल्पितार्थत्वं नाटिकायाः । अन्यथासंविधानस्वरचनान् । नाटयति नर्तयति व्युत्पाद्य-मनांसीति अचि, गौरादेराकृतिगणत्वान्च इत्यां 'नाटी' । अल्पवृत्तत्वाद्दल्पार्थे 'रुपि' नाटिका इत्यपीति । स्त्रीप्रधानत्वान् मुकुमारातिशयत्वान्च^२ स्त्रीलिंगसंज्ञानिर्देशः । एवं प्रकरण्यामपीति ॥

अथ^३ नाटिकागतं कर्तव्यमुपदिशति—

[सूत्र १२२]—अत्र मुख्याकृतो योगः पर्यन्ते नेतुरन्यथा ॥ [६] ७१॥

प्रेमाद्रौ वर्ततेऽन्यस्यां नेता मुख्याभिर्शंकितः ।

संगीत आदि भेदोंके कारण अनेक प्रकारकी होती है । विवाहिता [स्त्री] 'देवी' होती है । उन दोनोंकी प्रसिद्धि तथा अप्रसिद्धिके कारण [नायिकाके] चार भेद हो जानेसे नाटिका भी चार प्रकारकी होती है । उनमेंसे (१) देवी अप्रसिद्ध हो और कन्या प्रसिद्ध हो यह पहला भेद हुआ । (२) देवी अप्रसिद्ध हो और कन्या भी अप्रसिद्ध हो यह दूसरा भेद हुआ । (३) देवी प्रसिद्ध हो किन्तु कन्या अप्रसिद्ध हो यह तीसरा भेद हुआ । (४) देवी प्रसिद्ध हो और कन्या भी प्रसिद्ध हो यह चौथा भेद हुआ । [देवी और कन्या] दोनोंके प्रसिद्ध होनेपर भी [नाटिकामें उनके चरित्र आदि रूप] संविधानकी रचना [प्रसिद्ध कथाकी अपेक्षा] कुछ अन्य ही प्रकार में कर देनेसे नाटिका 'कल्पयार्था' ही जाती है । [आगे नाटिका शब्दकी व्युत्पत्ति दियेजाते हैं । यह शब्द नट नर्तने से घातसे बना है । उसके अनुसार] जो भामाजिकों [व्युत्पादकों] के मनोको नषाती है [आह्लादित करती है] इस विग्रहमें अच्-प्रत्यय करके [विद्गौरादिभ्यश्च सूत्रमें] गौरादि गलने से आकृति गलनेसे डीप् प्रत्यय होनेपर 'नाटी' [यह पद सिद्ध] होता है । [यह नाटी पद नाटिकारा पर्यायवाचक शब्द ही है । नाटी पदसे अल्पार्थमें बच्-प्रत्यय करके 'नाटिका' पद बन जाता है । इस बातको आगे कहते हैं] अल्प कथावस्तु होनेके कारण अल्पार्थमें बच्-प्रत्यय होकर 'नाटिका' यह भी [रूप बनता है] । [नाटिका और नाटी पदोंमें जो स्त्रीलिंगका प्रयोग किया गया है उसका उच्चारण करते हैं] स्त्री-प्रधान होनेके कारण और सीतुमायंका प्रतिशय होनेके कारण स्त्रीलिंगकी समाजे द्वारा निर्देश किया गया है । इसी प्रकार 'प्रवरत्नी' [इस पद] में भी [स्त्रीलिंगके पदका प्रयोग समझ सेना चाहिए] ।

अथ नाटिकामें [आप्त्यात-परतुकी रचना बिना प्रकार करनेकी चाहिए इस] कर्तव्यका उपदेश करते हैं—

[सूत्र १२२]—उत्तम [नाटिका] में अन्तमें [अर्थात् निर्वर्त्य तत्पिने] नायिका मुख्य नायिका द्वारा अन्य [कन्या] के साथ योग करणा जाना चाहिए । [और उनके पूर्व] नायक प्रेमागत होकर भी मुख्य नायिकामें डरता हुआ गा अप [कन्याके साथ प्रत्यक्ष-व्यापार] में प्रयुक्त होता है ।

‘अत्र’ नाटिकायां ‘मुख्या’ नृपवंशजत्व-गम्भीरत्व-परिणीतत्वादिभिः प्रधानं नायिका, तद्वशादन्तःपुरसंगीतकसम्बन्धेन श्रुति-दर्शनाभ्यामासन्नया ‘अन्यया’ ‘कन्यया’ ‘योगः’ सम्बन्धो नायकस्य ‘पर्यन्ते’ निर्वहणसन्धौ दर्शयितव्यः ॥ [६] ७१ ॥

नेता च तल्लाभादर्वाक् प्रवर्धमानानुरागो मुख्यातश्चकितहृदयः कन्यायामुप-
वनादिषु संकेतस्थानेषु संघटते ।

कृत्यान्तरमपि दर्शयति—

[सूत्र १२३]—देवी दक्षाऽपरा मुग्धा समा धर्मा द्वयोः पुनः ॥ [७] ७२ ॥

क्रोध-प्रसाद-प्रत्यूह-रति-च्छद्वादि भूरिशः ।

देवी दक्षा चतुरा निबन्धनीया । अपरा तु कन्या मुग्धा चातुर्यवर्जिता । धर्मा
पुनः क्षत्रियवंशजत्व-नय-विनय-लज्जा-महत्त्व-गाम्भीर्यादयः, तुल्या द्वयोः देवी-कन्य-
योर्निबन्धनीया ॥ [७] ७२ ॥

तथा कन्यानुरागपरिज्ञाने देव्या राजनि क्रोधः । राज्ञा च तस्याः प्रसादनम् ।
देव्या च राज्ञः कन्यासमागमे विघ्नः । राज-कन्ययोः परस्परं रतिः । सर्वेषामान्योन्यं
वञ्चनम् । आदि शब्दादन्यदपि शृंगारांगं भूयो भूयो निबन्धनीयमिति ।

इस नाटिकामे राजवंशमे उत्पन्न होनेके कारण, गम्भीरत्वके कारण और परिणीता
होनेके कारण, मुख्या नायिका ही प्रधान होती है । उसके द्वारा अन्तःपुरके संगीत आदिके
सम्बन्धसे श्रवण या दर्शन द्वारा प्राप्त दूसरी कन्याके साथ नायकका सम्बन्ध अन्तमें प्रयात्
निर्वहण सन्धिमे दिखलाना चाहिए ॥ [६] ७१ ॥

और उसके [अर्थात् निर्वहण सन्धिके] पहिले तो नायक [अन्य कन्याके प्रति क्रमशः]
अनुरागकी वृद्धि होनेपर भी मुख्य नायिकासे डरता हुआ-सा ही उपवन आदिमे कन्यासे
मिलता है ।

अथ [नाटिकामें] करने योग्य अन्य बात भी दिखलाते हैं—

[सूत्र १२३]—देवीको चतुरा रूपमे, और [अन्य अर्थात्] कन्याको मुग्धा रूपमे
[दिखलाना चाहिए] । दोनोंके [कुलजत्वादि] धर्म समान [दिखलाने चाहिए] । ७ [७२] ॥

[और नाटिकाको आख्यानवस्तुके बीचमें] क्रोध, प्रसाद, विघ्न, रति और छल आदि-
का प्रचुर-प्रयोग दिखलाना चाहिए ।

देवी दक्षा अर्थात् चतुरा रूपमें प्रदर्शित करनी चाहिए । और दूसरी कन्या तो मुग्धा
अर्थात् चातुर्यरहित [दिखलानी चाहिए] । क्षत्रियवंशजत्व, नय, विनय, लज्जा, महत्त्व, गाम्भीर्य
आदि धर्म दोनों अर्थात् देवी तथा कन्यामे समान रूपसे दिखलाने चाहिए ।

कन्याके [प्रति राजाके] अनुरागका ज्ञान होनेपर राजाके प्रति देवीका प्रीति,
और राजाके द्वारा उस [देवी] को प्रसन्न करनेका यत्न [दिखलाना चाहिए] । देवीके द्वारा
राजाके कन्याके साथ समागममे विघ्न उपस्थित करना, राजा और कन्याका परस्पर
अनुराग, और सबका एक दूसरेको घोसा [देकर कार्य सिद्ध करनेका प्रयत्न नाटिकामे
दिखलाना चाहिए] । आदि शब्दों शृंगारके अंगभूत अन्य धर्मोंको भी बार-बार द्रष्टव्य
करना चाहिए ।

अथ नाटिकालक्षणातिदेशेन 'प्रकरणी' लक्षयति—

[सूत्र १२४]—एवं प्रकरणी किन्तु नेता प्रकरणोदितः ॥ [८] ७३ ॥

एवं नाटिकोक्त-चतुरंकत्वादिलक्षणासारेण 'प्रकरणी' ग्रथनीया । किन्तु नेता प्रकरणोक्तो वणिगादिः । तेन वणिगाद्युचित एव वेष-संभोगादि सर्वोऽप्यत्र व्यवहारः । न्यपि तज्जात्यनुरूपैव । फलमपि महीलामभ्य वणिगादेरनुचितत्वान् स्त्रीप्राप्तिपुर-सरं द्रव्यलाभादिकं द्रष्टव्यम् ।

कैशिकीवहुलत्वं च नाटकधर्म । प्रकरणस्याल्पकैशिकीत्वान् । मल्पार्थत्वं वणिगादिनायकत्वं च प्रकरणधर्म । तथा नाटकप्रकरणोत्थितत्वेऽपि नाटिका-प्रकरणयो नाटिकोक्तनायकानुसारेण 'नायिकान्यपदेश । नायकानुसारित्वान् सर्वव्यवहारानाम् । प्रकरणेण क्रियते कल्प्यते अस्यामर्थ इति 'प्रकरणी' । अल्पार्थे कपि 'प्रकरणिका' । एते च द्वे अपि मुख्यरूपकद्वयसंकरनिष्पन्नत्वान् संकीर्णभेदरूपे । एवमन्येऽपि संकरभेदा रूपकद्वय-त्रयादि-सांकर्येण सम्भवन्ति परमदृष्टत्वादरञ्जकत्वान्च न ते लक्षयन्ते इति । नाटिकाया च राक्षा, प्रकरणिकायान्तु वणिगादीना विलासप्रधान धर्मार्थाविरोधि घृत्तं नाटक-प्रकरणयोरिव व्युत्पानम् ॥ [८] ७३ ॥

४. चतुर्थ रूपक भेद 'प्रकरणी' का निरूपण

इस प्रकार यहाँ तक नाटिकाके लक्षणका निरूपण कर अब आगे ग्रन्थकार 'प्रकरणी' के लक्षणका निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

अथ 'नाटिका' के लक्षणके 'अतिदेश' द्वारा [अन्यके धर्मका अन्यके साथ सम्बन्ध दिखलाना 'अतिदेश' कहलाता है] 'प्रकरणी' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १२४]—इसी प्रकार [अर्थात् नाटिकाकी रचनाके समान ही] 'प्रकरणी' [की रचना करनी चाहिए] किन्तु उसमें, 'प्रकरण' में कवित्त [वणिक् आदि ही] नायक होना चाहिए ॥ [८] ७३ ॥

इसी प्रकार अर्थात् नाटिकामें कहे चतुरंकत्वादि लक्षणोंके अनुसार 'प्रकरणी' की रचना करनी चाहिए । किन्तु [इस वाक्यका ध्यान रखना चाहिए कि प्रकरणमें] 'प्रकरण' में कहे हुए वणिक् आदिमेंसे ही [कोई] नायक होना चाहिए । इसलिए वणिक् आदिके योग्य ही वेष और संभोग आदि सारा व्यवहार यहाँ दिखलाना चाहिए । स्त्री नायिका भी उसी जातिके अनु रूप होनी चाहिए । वृथिवीलाभ रूप फलके वणिक् आदिके लिए अनुचित होनेसे स्त्रीप्राप्ति सहित द्रव्यलाभादि फल भी ['प्रकरण' के समान ही] होना चाहिए ।

['नाटिका' के समान प्रकरणी' में भी नाटक और 'प्रकरण' दोनोंके धर्मोंका समावेश होता है जिनमेंसे] कैशिकीका बाहुल्य नाटकका धर्म है । क्योंकि 'प्रकरण' में कैशिकी की ग्लानता होती है । ['प्रकरणी में कैशिकी-बाहुल्य रहता है वह धर्म नाटकसे लिया जाता है 'प्रकरण' से नहीं] कल्पित अर्थका होना और वणिगादिका नायकत्व ये दोनों 'प्रकरण' के धर्म [प्रकरणोंमें आते] हैं । नाटक और 'प्रकरण' से उत्पन्न होनेपर भी 'नाटिका' और 'प्रकरणी' दोनोंमें, नाटक [और प्रकरण] में कहे हुए नायकों के अनुसार ही नायिकाका व्यवहार होना चाहिए । क्योंकि सारे व्यवहार नायक के अनुसार ही उचित होते हैं ।

१ नायिकानुसारेण नायक व्यपदेश

अथ पूर्णदशा-संधीनि रूपकाणि लक्षयित्वा न्यूनदशा-संधीनि निरूपयन्ते । तत्रापि मनुष्यनायकप्रत्यासत्त्या प्रथमं 'व्यायोगं' लक्षयति—

[सूत्र १२५]—एकाहचरितैकांको गर्भामर्शविवर्जितः ।

अस्त्रोनिमित्तसंग्रामो नियुद्धस्पर्धनोद्धतः ॥ [६] ७४ ॥

स्वल्पयोपिज्जनः ख्यातवस्तुर्दीप्तरसाश्रयः ।

अदिव्यभूपतिस्वामी व्यायोगो नायिकां विना ॥ [१०] ७५ ॥

एकदिवसनिवर्तनीयकार्य एक एव अङ्को यत्र । एकाहचरितत्वाच्चैकाङ्कत्व-

['प्रकरण' के समान ही 'प्रकरणी' का निर्वचन आगे दिखलाते हैं] जिसमें [आख्यान-वस्तु रूप] अर्थ भली प्रकारसे किया अर्थात् कल्पित किया जाता है वह 'प्रकरणी' कहलाती है [यह 'प्रकरणी' शब्दका अवयवार्थ हुआ] । अल्पार्थमें कप-प्रत्यय करके 'प्रकरणिका' [पद भी बन जाता है] । [नाटिका और प्रकरण] ये दोनों ही [नाटक तथा प्रकरण रूप] मुख्य दो रूपकों के सकारसे उत्पन्न होनेके कारण सकीर्णभेद रूप हैं । इसी प्रकार दो रूपको या तीन रूपकों के सकारसे उत्पन्न अन्य सकार भेद भी हो सकते हैं । किन्तु [लक्ष्य ग्रन्थोके रूपमें] न पाए जातेसे और मनोरञ्जक न होनेसे हमने उनके लक्षण नहीं किए हैं । 'नाटक' और 'प्रकरण' के समान ही नाटकामे राजाओके और 'प्रकरणिका' में वणिगादिके, धर्म एव अर्थके अवरोधी विलास-प्रधान वृत्तका वर्णन करना चाहिए ॥ [८] ७३ ॥

५. पञ्चम रूपकभेद 'व्यायोग' का निरूपण

इस प्रकार नाटक, प्रकरण, नाटिका और प्रकरणी इन चार रूपकभेदोंका निरूपण कर चुकनेके बाद अब पञ्चम भेद 'व्यायोग'के लक्षणका अवसर आता है । यहाँ तक जिन चार रूपका भेदोंका निरूपण किया गया है उन सबसे सम्पूर्ण दशाओ और सन्धियोंका वर्णन था । किन्तु यहाँसे आगे जिन रूपकभेदोंका वर्णन किया जाएगा उनमें दशा तथा सन्धि दोनों न्यून सख्यामें रहेंगे । इसी भेदको दिखलाते हुए ग्रन्थकार आगे 'व्यायोग'-का लक्षण आदि बरने हैं ।

पूर्ण दशाओं और पूर्ण सन्धियोंसे युक्त [१ नाटक, २ प्रकरण, ३ नाटिका और ४ प्रकरणी इन चार] रूपकोंके लक्षण कर चुकनेके बाद अब न्यून दशा और सन्धियोंसे युक्त [रूपक भेदों] का निरूपण [प्रारम्भ] करते हैं । उनमें से भी ['व्यायोग' में नाटकादि पूर्वोक्त चार रूपकभेदोंके समान] मनुष्य नायकका सम्बन्ध होनेसे पहले 'व्यायोग'का निरूपण करते हैं—

[सूत्र १२५ ऋ]—एक दिनेके वृत्तान्तको दिखलाने वाले और एक ही अर्थ से युक्त, गर्भ तथा विमर्श सन्धियोंसे रहित स्त्रोसे भिन्न निमित्तसे संग्राम जिसमें दिखलाया गया हो, मत्स्युद्ध और स्पर्धामे दीप्त ।—[६] ७४ ।

[सूत्र १२५ ख]—बहुत कम स्त्री पात्रों वाला प्रसिद्ध क्या-वस्तु तथा दीप्त रसोंसे सम्पन्न, अदिव्य [दिव्यता तथा राजा आदिसे भिन्न सेनापति आमात्यादि रूप] नायकसे युक्त रूपक 'व्यायोग' [बहत्वात्] है । किन्तु उसमें नायिका नहीं होती है । [१०] ७५ ।

एक दिनमें ही कार्यकी समाप्तिको प्रदर्शित करने वाला, एक ही अर्थ जिनमें ही [बहु रूपकभेद 'व्यायोग' बहत्वात्] है । यह व्यायोगका मुख्य लक्षण है । एक ही दिनके

मस्य । दीप्तरस-नायकयुक्तत्वान् गर्भविमर्शविवर्जनम् । दीप्तरसो हि कालक्षेपास-
हिष्णुतया विनिपातानां शक्या च प्रारम्भ-प्रयत्नानन्तरं फलागम एव यतते ।

एवमीहामृगनायका^१ अपि । डिम-समवकारनायकास्तु बहुतरफलार्थित्वेन
प्राण्याशायुक्ता दीप्तरसत्वेन च विनिपाताशङ्किनो निर्दिमर्शकाः । भाण-प्रहसनयो-
र्नायकस्याधमत्वाद्, उत्सृष्टिकाङ्के शोकार्थत्वाद्, वीथ्यां चासहायत्वान्, सर्वेषामल्प-
श्रुतत्वान् च प्रारम्भानन्तरं फलागमनिबन्ध । नाटकादिनायकस्य तु प्रेक्षापूर्वकारित्वे-
नार्तिसहत्वान्, हित-अहुफलकर्तव्यारम्भित्वेन विनिपातप्रत्ययापाकरणान् च सर्जानरथा-
सम्भवेन पञ्चापि सन्धयो भवन्त्येव ।

श्रुतान्तवा वर्णन होनेसे इसमें केवल एक ही भ्रक होता है । दीप्तरस [रीद्र वीर आदि
रसप्रधान] नायकसे युक्त होनेके कारण [ही] गर्भ तथा अवमर्श सन्धियोंका निषेध किया गया
है । दीप्तरस वाला [नायक] कालक्षेपको [अर्थात् कार्यसिद्धिमें विलम्बको] सहन नहीं कर
सकता है [जल्दबाज होता है] और काम बिगड़ जानेके डरसे [कालक्षेप किए बिना] प्रारम्भ
और प्रयत्न [रूप दो अवस्थाओं] के अनन्तर ही फलको प्राप्त करनेका यत्न करता है ।
[इसलिए इसमें गर्भ तथा विमर्श सन्धियोंका अवसर नहीं आता है] ।

सन्धि तथा अवस्थाओंकी न्यूनताका उपपादन

इसी प्रकार 'ईहामृग' [नामक रूपकभेद] के नायक भी [कालक्षेपको सहन नहीं कर
सकते हैं इसलिए उसमें भी गर्भ और विमर्श सन्धियाँ नहीं होती हैं] । 'डिम' और 'समवकार'
के नायक तो प्रचुर फलकी कामना वाले होनेसे 'प्राप्तयासा' [अवस्थावाली 'गर्भ सन्धि] से
युक्त तो होते हैं किन्तु दीप्तरस [जल्दबाज] होनेसे विनिपात [कार्य विनाश] की शकासे
युक्त होनेके कारण विमर्श रहित होते हैं । [इसलिए 'डिम', 'समवकार' आदि रूपकभेदों में
'गर्भसन्धि' होता है किन्तु 'विमर्शसन्धि' नहीं होता है] । 'भाण' और 'प्रहसन' [नामक रूपक-
भेदों] के नायकोंके अधम होनेसे, और 'उत्सृष्टिकाक' में शोकका प्राधान्य होनेसे, तथा
'वीथी' आदि [रूपकभेदोंमें नायकोंके] सहायक-विहीन होनेसे, और इन सभीके स्वल्प-
श्रुतवाला होनेसे प्रारम्भ [अवस्था] के बाद ही [बीच की यत्न, प्राप्तयासा आदि तीन
अवस्थाओं को छोड़कर] फलप्राप्ति [रूप पञ्चमावस्था] का वर्णन किया जाता है । नाट-
कादिके नायक तो विचारपूर्वक कार्य करने वाले, कष्टसहिष्णु, हितकर और बहुफल वाले
कार्यके प्रारम्भ होनेसे, और विनिपातके कारणों [अर्थात् वाचाओं] के निराकरणमें समर्थ
होनेसे [नाटकादिमें] सारी अवस्थाओंका सम्भव होनेसे पाँचों सन्धि होते ही हैं ।

इस प्रकार इस अनुच्छेदमें ग्रन्थकारने विभिन्न रूपक भेदोंके नायकोंकी मनोवृत्ति
का विश्लेषण करते हुए दीप्त स्वभाव वाले नायक जल्दबाज होते हैं और कार्यमें कोई विघ्न
न आ जाय इस दृष्टिमें तुरन्त ही फल प्राप्तिका यत्न करते हैं इसलिए उम प्रकारके नायकों
से युक्त 'व्यायोग' आदि रूपकभेदोंमें एक, दो या तीन अवस्थाओंको छोड़कर शेष दो
तीन या चार अवस्थाओं और उसीके अनुसार दो, तीन या चार सन्धियोंका प्रयोग किया
जाता है । नाटकादि प्रारम्भिक चार रूपकभेदोंमें ही पाँचों अवस्थाओं तथा पाँचों सन्धियों
का उपयोग होता है । अन्तर्में शेष रूपकभेदों में सारे सन्धियों और सारी अवस्थाओंका

अत्र च गर्भावमर्शसन्धिप्रतिषेधे एतत्सन्धिपरिच्छेदिके प्राप्त्याशा-नियताप्ती अवस्थे अपि प्रतिषिद्धे एव । एवमपरेष्वपि रूपकेषु तत्तत्सन्धिनिषेधे तत्तत्सन्धिपरिच्छेदिकावस्थापि निषिद्धैव द्रष्टव्येति ।

अस्त्रीति अत्यर्थसंप्रामसंयुक्तरच । यथा जामदग्न्यजये परशुरामेण सहस्रा-
जुनवध कृतः । नियुद्धं बाहुयुद्धम् । स्पर्धनं शौर्य-विद्या-कुल-धन-रूपादिकृतः संर्षणं ।
ताभ्यामुद्धतो दीप्तः ।

प्रयोग नहीं होता है । इनमेसे 'व्यायोग'मे 'गर्भ' और 'विमर्श' को छोड़कर केवल तीन सन्धियों और तीन अवस्थाओंका ही प्रयोग होता है । 'डिम', 'समवकार' आदिमे विमर्श सन्धिको छोड़कर शेष चार सन्धियों और चार अवस्थाओंका उपयोग होता है । 'भाण' तथा 'प्रहसन' 'उत्सृष्टिकाक' तथा 'वीथी' इन चारोमे केवल आदि और अन्तकी दो अवस्थाओं और दो सन्धियोंका ही उपयोग होता है । बीच की तीन अवस्थाओं तथा तीन सन्धियोंका उपयोग नहीं होता है । इन वारह प्रकारके रूपके भेदोंकी सन्धि तथा अटस्था आदिके प्रयोगकी दृष्टिसे स्थिति निम्न प्रकार बनती है—

रूपके भेद	प्रयुक्त अवस्था सन्धि	वर्जित अवस्था सन्धि
१ नाटक	पाँचो अवस्था तथा सन्धियाँ	
२. प्रकरण	पाँचो अवस्था तथा सन्धियाँ	
३ नाटिका	पाँचो अवस्था तथा सन्धियाँ	केवल चार अंकों मे
४. प्रकरणी	पाँचो अवस्था तथा सन्धियाँ	केवल चार अंको मे
५ व्यायोग	तीन अवस्था तथा सन्धियाँ	गर्भ, विमर्श रहित
६ ईहामृग	तीन अवस्था तथा सन्धियाँ	गर्भ, विमर्श रहित
७ समवकार	चार अवस्था तथा सन्धियाँ	विमर्श वर्जित
८ डिम	चार अवस्था तथा सन्धियाँ	विमर्श वर्जित
९. भाण	आदि अन्त की दो सन्धि-अवस्था	प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श रहित
१० प्रहसन	भाणवत्	भाणवत्
११ उत्सृष्टिकाक	भाणवत्	भाणवत्
१२ वीथी	भाणवत्	भाणवत्

यहाँ [अर्थात् व्यायोगमे] गर्भ तथा विमर्श सन्धिका निषेध होनेसे इन सन्धियों को व्याप्त करने वाली 'प्राप्त्याशा' और 'नियताप्ति' रूप अवस्थाओंका भी निषेध समझना चाहिए । इसी प्रकार अन्य रूपकोंमे भी उस उस सन्धिका निषेध होनेपर उस उस सन्धि को व्याप्त करने वाली अवस्थाओं को निषिद्ध ही समझना चाहिए ।

'अस्त्री' इत्यादिसे स्त्रीको छोड़कर अन्य निमित्तसे संप्रामयुक्त हो [यह सूचित किया है] जंमे 'जामदग्न्यजय' [नामके व्यायोगमे] परशुरामने सहस्राजुनका वध किया है । 'नियुद्ध' का अर्थ बाहुयुद्ध है । शौर्य, विद्या, कुल, धन और इत्यादिसे कारण होनेवाला सत्त्वं 'स्पर्धा' [वृत्ताता] है । उन दोनों [अर्थात् नियुद्ध तथा स्पर्धा] से उदत्त अर्थात् दीप्त [व्यायोग होता है] ।

१. पुररवपि ।

स्वल्पग्रीपात्रं च वैशिखीरहितत्वान् । एतेन पुत्रपपात्रादुल्लस्य लभ्यते ।
ख्यात प्रसिद्धं वस्तु नायकोपायलक्षणं यस्य । दीप्ताना वीर-रौद्रादीना रसानामाश्रय ।
अत-ग्यात्र गद्य पद्य चौजोगुणयुक्तम् । तथा दिव्यभूपतिवर्जित सेनापत्यमात्यादि-
दीप्तरसानायकसम्पन्न । केचिदस्य द्वावशनेवक-उपान्नासिपु । विशेषेण आ समन्ताद्
युज्यन्ते कार्यार्थं सरभन्तेऽप्रेति 'व्यायोग' । 'नायिका विना' इत्यनेन नायिकाया-
स्तदुचितस्य च दृष्ट्यादे परिजनस्य निषेध । तेन नायकपरिच्छेदभूतारचेद्व्यावयो
भयन्त्येव । अत्र च मन्त्रि-सेनापत्यादीना युद्धादिवहुलं वृत्त व्युत्पाद्यमिति ॥ [६-१०]
७४-७५ ॥

अथ क्रमप्राप्तं समकारं लक्षयति—

[सूत्र १२६]—विज्ञेयः समवकार. ख्यातायोर् निर्विमर्शकः ।

उदात्तदेव-दंत्येशो वीथ्यङ्गी वीर-रौद्रवान् ॥ [११] ७६ ॥

सगतेरवकीर्णार्थं त्रिगोपायं पूर्वप्रसिद्धैरेव क्रियते निरभ्यत इति 'सम-
वकार ।' ख्यातार्थं इति बृहत्त्रयादिप्रसिद्धनायक-उपाय-त्रिगोफलो विमर्शसन्धि-
विनिर्जितश्च ।

[व्यायोगमें] स्त्री पात्रोंकी अल्पना कंसिकी रहित होनेके कारण होती है । इससे
पुरुष पात्रोंका आधिक्य सूचित होता है । जिसमें नायक तथा उपाय रूप वस्तु' ख्यात अर्थात्
प्रसिद्ध हो । वीर रौद्र आदि दीप्त रसोंका आश्रय हो । इसीलिए इसमें गद्य प्रौर पद्य दोनों
भोज गुणसे युक्त होने चाहिए । प्रौर [व्यायोग] दिव्य [अर्थात् देवता रूप नायक] प्रौर
राजाओं [रूप नायकों] से भिन्न, दीप्त रसोंके अनुहय सेनापति अमात्यादि नायकोंसे युक्त
होना चाहिए । कोई लोग इसमें बारह प्रकारके नायक बतलाते हैं । [प्रागे व्यायोग' शब्द
का निबन्धन कर उसका अवयवार्थ दिखलाते हैं] जिसमें विशेष' रूपसे आ समन्तात्' अर्थात्
सब ओरसे युक्त होते हैं अर्थात् कार्यकेलिए प्रयत्न करते हैं । वह 'व्यायोग' [बहुलाता]
है [पह 'व्यायोग पदका अवयवार्थ या निबन्धन है] । 'नायिका विना' इस पदमें नायिका
प्रौर उसके योग्य दूती आदि परिजनोंका निषेध किया गया है । इसलिए नायकके सेवकादि
के रूपमें चेटी आदि होती ही हैं [उनका निषेध नहीं समझना चाहिए । इस सबका फलि-
ताय यह हुआ कि] इसमें [अर्थात् व्यायोगमें] सेनापति अमात्य आदिका युद्ध-अपान चरित्र
प्रदर्शित करना चाहिए ॥ [६-१०] ७४-७५ ॥

६ पण्ड रूपकभेद 'समकार' का निरूपण

[व्यायोग' नामक पण्डक रूपकभेदके निरूपणके बाद] अथ समवकार' [नायक
पण्ड रूपकभेद] का अवसर प्राप्त होनेसे उसका निरूपण करते हैं—

[सूत्र १२६]—प्रसिद्ध आर्याय वस्तुके आधारपर अर्पित, विमर्श सन्धिमें रहित
उदात्त प्रकृतिके देव दंत्य आदि नायकों आत्ता वीर या रौद्ररस प्रधान, धीयोक् अगोसे
युक्त [रूपकभेदकी] समवकार' समझना चाहिए । [अर्थात् समवकार' के लक्षणमें इन
सब बातोंका समावेश होता है] ॥ [११] ७६ ॥

[कारिकाकी धारणा आरम्भ करते हुए अन्यकार सबसे पहले 'समवकार' पदका
निबन्धन कर उसका अवयवार्थ दिखलाते हैं] । कहीं मिले हुए प्रौर कहीं बिलेरे हुए त्रियं

‘उदात्त’ इति उदात्तत्वं महत्त्व-गाम्भीर्यादि । देव-दैत्यानां हि धीरोद्धतत्वं मर्त्यापेक्षयैव, स्वजात्यपेक्षया तु धीरोदात्तत्वमपि ।

अत्र च तत्तद्देव-दैत्यभक्तानां इष्टदेवतादि-कर्मप्रभावादिकीर्तनान् महती प्रीति-र्यात्राजागरादि-प्रेक्षाकरण-तदनुष्ठितोपायादिषु प्रवृत्तिरच भवतीति देव-दैत्यौ नेतारौ । एवमन्येष्वपि अमनुष्यनेत्रकेषु वाच्यम् । वीथ्वङ्गानि व्याहारादीनि वक्ष्यमाणानि । तद्वान् । वीर-रौद्रवान् इत्यतिशायने मत्तु । तेनात्र ‘त्रिशृङ्गारवेऽपि वीर-रौद्रौ प्रधानम् । देव-दैत्यानामुद्धतत्वेन शृङ्गारस्य च्छायामात्रत्वेन निबन्धनादिति ॥ [११] ७६ ॥

के पूर्व-प्रसिद्ध उपायोंके द्वारा जिसको क्रिया अर्थात् बनाया जाता है वह ‘समवकार’ कहलाता है । [अर्थात् समवकार शब्द सम अथ उपसर्ग पूर्वक कृ-धातु से निष्पन्न होता है] । ‘एयातार्थ’ से [यह अभिप्राय है कि] बृहत्कथा आदिमें प्रसिद्ध नायक, उपाय तथा त्रिवर्ग रूप फलसे युक्त, तथा विमर्श-सन्धिसे रहित होना चाहिए ।

[‘उवात्तदेव दंत्येशो’ मे] ‘उवात्त’ इससे महत्त्व गाम्भीर्यादिको उदात्तत्व समझना चाहिए । देवों और दंत्योंका धीरोद्धतत्व मनुष्योंकी अपेक्षासे होता है । अपनी अपनी जाति को अपेक्षासे तो [देवो तथा दंत्यों दोनोमे] धीरोदात्तत्व भी होता है । यहां [सत्तारमे या समवकारमे] उन-उन देवो तथा दंत्योंके भक्तोमे अपने-अपने इष्टदेव आदि, उनके कर्म तथा प्रभाव आदिके कीर्तनसे अत्यन्त प्रानन्द [प्रीति] यात्रा, जागरण, [प्रेक्षाकरण अर्थात्] दर्शन या भाँकी बनाना आदि और उनके द्वारा किए गए उपायोंके अनुष्ठान आदिमें प्रवृत्ति होती है इसलिए देव और दंत्योंको यहां [अर्थात् समवकारमे] नायक माना गया है । इस प्रकार मनुष्योंसे भिन्न नायकों वाले अथ्य रूपकभेदोंके विषयमें भी समझना चाहिए । [‘वीथ्वङ्गवान्’ इस पदमें निदिष्ट] ‘वीथी’ के ‘व्याहारादि’ अथ जो आगे कहे जाने वाले हैं उनसे युक्त [होना चाहिए] । ‘वीर-रौद्रवान्’ इसमें प्रतिशायन अर्थमें मत्तु-प्रत्यय है । इसलिए [समवकारमे] अगली ७७ वां कारिकामें कहे हुए (१) धर्मफलक, (२) अर्थफलक, तथा (३) कामफलक] तीनों प्रकारके शृङ्गारके होनेपर भी, वीर और रौद्र प्रधान [रस] होते हैं । क्योंकि देव और दंत्योंके उद्धत होनेके कारण उनके शृङ्गारका [समवकारमे] छायामात्र रूपसे ही वर्णन होता है । [इसलिए शृङ्गाररस उत्तम प्रधान नहीं होता है । वीर या रौद्ररस ही समवकारमे प्रधान रस होते हैं] ॥ [११] ७६ ॥

इस प्रकार ‘समवकार’का सामान्य लक्षण इस कारिकामें दिया है । ७७ से ८० तक अगली चार कारिकाओंमें उसके सम्बन्धमें अन्य अनेक बातोंका वर्णन करेगे । इनमें ‘समवकार’के द्वादश नायक और तीन अथ वतलाए गए हैं । द्वादश नायकोंकी संख्याका उपादान दो प्रकारसे किया गया है । एक मत तो यह है कि समवकारके जो तीन अथ होने हैं इनमें से प्रत्येकमें चार-चार नायक होते हैं । इस प्रकार तीनों अथोंमें मिलाकर बारह नायक ही जाते हैं । प्रत्येक अथ में जो चार-चार नायक कहे गए हैं उनमें नायक-प्रतिनायक और उन दोनोरे महायक ये चारों नायक माने जाते हैं । तभी चार नायक बनते हैं । दूसरा मतमें ‘समवकार’के प्रत्येक अथमें बारह-बारह नायक होते हैं । यह बारह संख्या भी दूनी प्रकार नायक-प्रतिनायक और उनके अनुरूप महायक।की मित्राकर पूरी होगी ।

१ शृङ्गारवेऽपि ।

अथ कृत्यान्तरमुपदिशति—

[सूत्र १२७]—अत्र द्वादश नेतारः फलं तेषां पृथक् पृथक् ।

अंकास्त्रयः त्रिशृंगाराः त्रिकपटा त्रिविद्रवाः ॥ [१२]७७ ॥

षड्-युग्मैकमुहूर्ताः स्युः निष्ठितार्थाः स्वकार्यतः ।

महावाक्ये च सम्बद्धाः क्रमाद् द्वि-एकैकसन्धयः ॥ [१३]७८ ॥

‘अत्र’ समवकारे नायका द्वादश । तत्र’ प्रत्यङ्क द्वादश । यदि चा’ प्रत्यङ्क नायक-

‘समवकार’को अगली कारिका ‘त्रिशृंगार’ तीन प्रकारके शृंगारोमे युक्त कहा गया है । वैसे तो उनके प्रसंगमे शृंगारके सम्भोगशृंगार और विप्रलम्भशृंगार केवल ये दोनो ही भेद किए गए हैं । किन्तु यहाँ तीन प्रकारके शृंगाररसोकी चर्चा की गई है । यहाँ शृंगार के ये तीन भेद फनकी दृष्टिसे किए गए हैं । (१) धर्मप्रधान शृंगार (२) अर्थप्रधान शृंगार और (३) कामप्रधान शृंगार । इस प्रकार शृंगारके तीन भेद करके ‘समवकार’को ‘त्रिशृंगार’ कहा गया है । शृंगारके ये तीनो भेद ‘समवकार’के तीनो अंकोमे प्रत्येक अंकमे होने चाहिए । एक एक अंकमे एक-एक भेदका निबन्धन नहीं करना चाहिए यह बात भी आगे कहेंगे ।

‘समवकार’के तीनो अंकोकी रचनाके विषयमे भी यह बात विशेष रूपसे निदिष्ट की गई है कि उनकी रचना इस प्रकारसे होनी चाहिए कि उनमेसे प्रत्येक अंक अपनेमे परिपूर्ण हो । उसको अपने अर्थकी पूर्णताके लिए दूसरे अंकके सहारेकी आवश्यकता न हो । इसके साथ ही अन्तमे तीनों अंकोकी एकवाक्यता या परस्पर सम्बन्ध भी प्रतीत हो सके । इसके लिए यह मार्ग बतलाया गया है कि प्रथम अंकके आरम्भमे आमुखके बाद तीनों अंकोके अर्थके उपक्षेपकी अथवा निबन्धन करना चाहिए । उसके बाद तीनों अंकोको इस प्रकारसे बनावें कि उनका आख्यानवस्तु उसी अंकमे समाप्त हो जाय । किन्तु अन्तमे तृतीय अंकमे फिर इस प्रकारकी रचना करनी चाहिए कि जिससे उसका आख्यानभाग अपनेमे परिपूर्ण हो किन्तु साथ ही तीनों अंकोके अर्थका परस्पर सम्बन्ध बन सके । इन्ही सब बातोंको ७७ ७८ अगली दो कारिकाओमे इस प्रकार कहा गया है—

अथ आगे [समवकारमे] किए जान वाले अन्य वर्णोंका उपदेश करत हैं—

[सूत्र १२७ क]—इत [समवकार] मे बारह नायक होते हैं । उनका फल अलग-अलग होता है । तीन प्रकारके शृंगार, तीन प्रकारके कपट और तीन प्रकारके विद्रवते युक्त तीन अङ्क होते हैं । [१२] ७७ ॥

[सूत्र १२७ ख]—[समवकारके तीनों अंक क्रमशः] छ मुहूर्त, दो मुहूर्त और एक मुहूर्त वाले [अर्थात् इतने समयमे जिनका अभिनय हो सके इस प्रकारके] । स्वयमे परिपूर्ण अर्थवाले, और महावाक्य [अर्थात् स्वयमे परिपूर्ण होनेपर भी एकवाक्यतायुक्त अर्थान्तरपर] में सम्बद्ध, तथा क्रमशः दो एक और एक सन्धि वाले होने चाहिए [अर्थात् प्रथम अंकमे मुख प्रतिमुख रूप दो सन्धियाँ, द्वितीय अंकमे केवल एक गमसन्धि तथा तृतीय अंकमे केवल एक निबन्धन सन्धिकी रचना होनी चाहिए] । [१३] ७८ ।

इस ‘समवकार’मे बारह नायक होते हैं । उनमेसे प्रत्येक अंकमे बारह [नायक] होते

प्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चत्वारश्चत्वार । तत सर्वसत्यया द्वादश द्वादश इति मध्यमा वृत्ति । तेन क्वचिन्न्यूनाधिक्येऽपि न दोष । 'तेषाम्' इति द्वादशाना नायकाना पृथग्भूतानि फलानि वध्यन्ते । यथा 'पयोधिमन्थने' हरि-बलिप्रभृतीना लक्ष्म्यादि-लाभा । अत एव सहायका अपि सुप्रीवादिबन्नायकत्वेन व्यपदिश्यन्ते । 'त्रय' इति त्रयोऽङ्का भवन्ति शृङ्गारत्रयादिविशिष्टा न त्वेकैक एकस्मिन्नके शृङ्गारादीनामेकैक-भावादिति । मुहूर्तौ घटिकाद्वयम् । तत्र प्रथम परमुहूर्त । द्वितीयो द्विमुहूर्त । तृतीय परमुहूर्त । एके तु प्रत्येक यथोदितद्विगुण कालमानमाह ।

'निष्ठितार्था' प्रकार्यसाध्यफलरय अक्वन्तरार्थासम्बद्धत्वेन त्वस्मिन्नेव परि-समाप्तार्था । महावाक्ये च परिपूर्णप्रव-न्धार्थसाध्ये फले सम्बद्धा । सकलप्रवन्धसाध्य-फलोपायभूतार्थास्त्रयोऽङ्का इत्यर्थ ।

इह तावदामुत्तान्तर सन्नेपेणाकत्रयार्थोपनेपक बीज निबन्धनीयम् । तद-
नन्तरमकद्वय अवान्तरवाक्यार्थेन परस्परनिच्छिन्नमायोज्यम् । तृतीयस्त्वकर्तृधा
है [यह एक मत है] । अथवा प्रत्येक अकमे १ नायक २ प्रतिनायक, और उन दोनों के सहायक इस प्रकार चार-चार, और फिर [तीनों अकोके चार चार नायकोको] सब मिलाकर बारह [नायक] होते हैं यह मध्यम भाग है । इसलिए किसी अकमे कम और अधिक [नायकों की संख्या] होनेपर भी दोष नहीं होता है । 'तेषाम्' अर्थात् उन बारहों नायकोके फल अलग अलग वर्णित होते हैं । जैसे 'पयोधिमन्थन' में विष्णु और बलि आदि [नायको] के लक्ष्मी आदिकी प्राप्ति आदि रूप [अलग अलग] फल [दिलालाए गए] हैं । इसलिए [सब नायकोके अलग अलग फलोका निबन्धन होनेसे] सुप्रीव आदिके समान सहायक भी नायक रूपसे बड़े जाते हैं । 'त्रय' तीन, इससे तीनों प्रकारके शृंगारोसे विशिष्ट तीन अक होते हैं यह अभिप्राय है । न कि एक एक अकमे एक-एक शृंगारादि होता है [इसका अर्थ यह हुआ कि 'समवकार'के प्रत्येक अकमे तीना प्रकारके शृंगार, तीनों प्रकारके कपट, और तीनों प्रकारके विद्रव दित लाए जाने चाहिए] । एक-एक अकमे एक एक प्रकारके शृंगार, कपट और विद्रवका प्रदर्शन नहीं करना चाहिए] । मुहूर्तसे दो घड़ी [कालका ग्रहण होता] है । उन [समवकार'के तीन अको]मेंसे प्रथम [अक] छ मुहूर्तका, द्वितीय [अक] दो मुहूर्तका और तृतीय [अक] एक मुहूर्तका होना चाहिए [यह कारिकासे प्रमाण हुआ शृङ्गार एकमुहूर्तम् इत्यु] इसका अर्थ है] । इसका अभिप्राय यह है कि इतने कालमें तीनों अकोका अभिनयादि रूप अर्थ समाप्त हो जाना चाहिए । कोई [व्याख्याकार] तो प्रत्येक अकमे इस कालसे दुगुना कालका परिमाण मानते हैं ।

[कारिकामें आए हुए] निष्ठितार्था' इससे उस अककी कथामें साध्य फलका दूसरे अकसे सम्बन्ध न होनेसे अनेक ही अर्थोंकी समाप्ति हो जाय यह अभिप्राय है । [अर्थात् 'समवकार'के तीना अकोमेंसे प्रत्येक अकके कथाभागकी समाप्ति उसमें ही जानी चाहिए] फिर भी महा-वाक्यमें [अर्थात् सम्पूर्ण समवकारमें] पूर्ण प्रवन्धमें कथासे साध्य फलमें परस्पर सम्बन्ध होने चाहिए । अर्थात् सम्पूर्ण प्रवन्धमें साध्य फलक उपायभूत मय वाले तीनों अङ्क होने चाहिए यह अभिप्राय है ।

[इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिए समवकारके अङ्गोंकी रचना इस प्रकारसे करनी चाहिए कि] सबसे पहले आमुखके अनन्तर सक्षेपमें तीनों अङ्गोंके अथवा उपनय करने

निबन्धनीयो यथा श्रवान्तरवाक्यार्थविच्छिन्न. सर्वाङ्गार्थसम्बन्धार्थश्च भवति । एव हि पूर्वापरानुसन्धानावधेयधियो व्यवहितार्थानुसन्धानावहितवृद्धयश्च त्रिवर्गसिद्धयुपाय-व्युत्पत्त्याऽनुगृहीता भवन्ति ।

श्रद्धान्तरार्थानुसन्धायी च परस्परासम्बन्धाङ्गत्वाच्च न विन्दुर्निबन्धते । 'क्रमाद्' इति प्रथम-द्वितीय-तृतीयक्रमेण श्रद्धा द्वि-एक-एकसन्धय । तत्र प्रथमेऽङ्के मुरज-प्रतिमुखा, द्वितीये गर्भः, तृतीये निर्वहणमिति ॥ [१०-१३] ७५-७८ ॥

अथ शृङ्गारादीनि व्याख्यातुमाह—

[सूत्र १२८]—शृङ्गारस्त्रिविधो धर्मकामार्थफलहेतुकः ।

वञ्च्य-वञ्चक-दैवेभ्यः, सम्भवी कपटस्त्रिधा ॥ [१४] ७९ ॥

जीवाजीवोभयोत्थः स्याद् विद्रवस्त्रिरमीषु तु ।

प्रत्येकमकेष्वेकैकः पद्यं च स्वधरादिकम् ॥ [१५] ८० ॥

वाले बीजकी रचना करनी चाहिए । उसके बाद [प्रथम तथा द्वितीय] दोनों श्रद्धोको [स्वयमे समाप्त हो जाने वाले] श्रवान्तर वाक्यार्थके रूपमें एव दूसरेसे विच्छिन्न रूपमें प्रयत्न करना चाहिए । [उसके बाद] तृतीय श्रद्धोकी रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि [प्रथम और द्वितीय श्रद्धो रूप] श्रवान्तर वाक्योके अर्थमें विच्छिन्न होनेपर भी सब श्रद्धोने अर्थसे सम्बद्ध अर्थ वाला हो जाय । इस प्रकार पूर्वापर अर्थरूपको ग्रहण करनेमें और व्यवहित अर्थके अनुसन्धान करनेमें समर्थ बुद्धिवाले [सामाजिक, धर्म अर्थ काम रूप] त्रिवर्गकी सिद्धिके उपायोंके परिज्ञानके द्वारा अनुगृहीत होते हैं ।

यहाँ [समवकारमें श्रद्धोके] परस्पर असम्बद्ध होनेके कारण, दूसरे श्रद्धोके अर्थोंको जोड़नेवाले 'विन्दु' की रचना इसमें नहीं की जाती है । 'क्रमाद्' [द्वि एक एकसन्धय इस कारिका भागमें] क्रमसे, इससे प्रथम द्वितीय तृतीयके क्रमसे श्रद्धो क्रमश दो एक ओर एक सन्धि वाले होते हैं । उनमेंसे प्रथम श्रद्धोमें मुख और प्रतिमुख[दो सन्धि], द्वितीयमें गर्भसन्धि, और तृतीय [श्रद्धो] में निर्वहण सन्धि होता है । [इस प्रकार तीनों श्रद्धोमें क्रमश दो एक तथा फिर एक सन्धि होता है । विमर्श सन्धि समवकारमें नहीं होता है यह बात ७६वें कारिकामें ही 'निविमर्श' पदसे कही जा चुकी है ॥ [१२ १३] ७७-७८ ॥

इन दोनों कारिकाओंमेंसे ७७वीं कारिकामें समवकारके तीनों श्रद्धोको त्रिशृङ्गार, त्रिकपट और त्रिविद्रवसे युक्त कहा गया था । विन्दु इन पदोंका अर्थ वहाँ स्पष्ट नहीं किया गया था । इसलिए अगली दो कारिकाओंमें इन तीनों शब्दोंके अर्थको स्पष्ट बनाना प्रयत्न किया गया है । इसमें 'त्रिशृङ्गार' पदसं धर्म, अर्थ और काम हेतुक तथा तत्पत्रव तीन प्रकारके शृङ्गारोंका, त्रिकपट पदसे वञ्च्योत्थ, वञ्चकोत्थ तथा दैवोत्थ तीन प्रकारके कपटोंका, तथा जीव अजीव और उभयसे उत्पन्न तीन प्रकारके विद्रवोंका ग्रहण होता है इसी बातको ग्रन्थ-कार अगली दोनो कारिकाओंमें दिखलाता है—

[सूत्र १२९ क]—धर्म काम और अर्थ जिसके (१) फल तथा (२) हेतु हैं वह [त्रिशृङ्गार] तीन प्रकारका शृङ्गार होता है । [इसो प्रकार] वञ्च्य, वञ्चक तथा दैवसे उत्पन्न होने वाला कपट [भी] तीन प्रकारका होता है । [१४] ७९ ।

धर्म-काम-अर्थी फल हेतवन्न यस्य । तत्र पत्नीसंयोगरूपस्य शृङ्गारस्य परदार-वर्जनादिको धर्म फलम् । दानादिकस्तु धर्म स्यादित्याभस्य हेतु । काम-शृङ्गार-शब्दाभ्यां स्त्री-पुंसयो रति, तद्धेतुश्च स्त्री-पुंसादिर्गृह्यते । तत्र स्त्री-पुंसादिरूपशृङ्गारस्य रतिरूप काम फलम् । रतिरूपस्य शृङ्गारस्य स्त्री-पुंसादिरूप कामो हेतु । अत्र च कामशृङ्गारे स्त्री परस्त्री कन्या च ग्राह्या । न पुन स्वदारा वेश्या वा । यथा शक्रभ्या-हृत्या । स्वदाराऽऽदौ हि धर्मस्याप्यनुप्रवेशेन केवलस्यैव कामस्य फल-हेतुभावो न स्यात् ।

अर्थी राज्य-सुवर्ण-धन-धान्य-वस्त्रादि । तत्र पण्यादियोपिता, वेपाचित् सुभ-गाना पुंसा चार्थफल शृङ्गार । वेश्यादिषु च पुंसामर्थहेतुक शृङ्गार । देवादीना-मपि गन्धर्व-यक्षादिरूपाणा राज्याद्यर्थसमोहा भवत्येव । तदाराधकाना चार्थप्राप्ति । अत्र च पक्षे कारणे कार्योपचाराद् देवानामर्थशृङ्गारो द्रष्टव्य । अथवा अर्थी अर्थनीय परोपकार-प्रतिज्ञानिर्वाहादिकम् । तच्च देवादीनामपि भवत्येवेति ।

[सूत्र १२६ ख]—जीव अजीव और [जीवाजीव] उनमेसे उत्पन्न होने वाला विद्व [भी] तीन प्रकारका होता है । इनमेसे प्रत्येक अङ्गुल एक एक [अर्थात् एव शृङ्गार, एक कपट और एक विद्व] की रचना करनी चाहिए । और [समवकारमे] लघ्वरादिक वृत्त होना चाहिए । [१५] ८० ।

धर्म, काम और अर्थ जिसके फल [अर्थात् साध्य] तथा हेतु [अर्थात् साधक] हैं [वह धर्म कामार्थफलहेतुक हुआ] । उनमेसे पत्नी-संयोग रूप शृंगारका परदारवर्जन रूप धर्म-फल होता है । और दानादि रूप धर्म उस स्त्री [स्वपत्नी] के लाभका हेतु होता है । [इस प्रकार स्वपत्नी-संयोग रूप शृंगारका फल भी धर्म होता है, और उत्तका हेतु भी धर्म होता है] । काम और शृंगार शब्दोसे स्त्री-पुरुषकी रति [रूप फल] और उसके हेतु स्त्री और पुरुष दोनोंका ग्रहण होता है । उनमेसे स्त्री-पुरुष रूप शृंगारका रति रूप काम फल है । और रति रूप शृंगारका स्त्री-पुरुषादि रूप काम हेतु है । और इस काम-शृंगारके 'स्त्री' परसे पर स्त्री अथवा कन्याका ही ग्रहण करना चाहिए । अपनी पत्नी अथवा वेश्याका ग्रहण नहीं करना चाहिए । जैसे इन्द्र की अहृत्या । अपनी स्त्री आदिमे तो धर्मका भी सम्भव होनेके केवल कामका फलभाव या हेतुभाव नहीं बन सकता है । [इसलिए काम शृंगारमें स्त्रीति परस्त्री या कन्याका ही ग्रहण करना चाहिए यह अभिप्राय है] ।

[अर्थ-शृंगार शब्दमे] 'अर्थ' से राज्य, सुवर्ण, धन, धान्य वस्त्रादि [का ग्रहण होता है] । यहाँ वेश्याओं और किन्हीं सुन्दर पुरुषोका अर्थफलक शृंगार होता है । और वेश्याविके विषयमें पुरुषोका अर्थहेतुक शृंगार होता है । [अर्थात् वेश्याविके शृंगारके द्वारा अर्थ-रूप फलकी प्राप्ति होती है इसलिए उनका शृंगार अर्थफलक होता है । और पुरुषोको अर्थ द्वारा शृंगारकी प्राप्ति होती है अत उनका वेश्या विषयक शृंगार अर्थहेतुक शृंगार होता है] गन्धर्व पक्षादि रूप देवताओंको भी राज्य प्रादि अर्थकी इच्छा होती है । और उनके द्वारा-अर्थकी प्राप्ति होती है । इस पक्षमें कारणमें कार्यका उपचार मानकर देवताओंका अर्थ-शृंगार समझना चाहिए । अथवा परोपकार प्रतिज्ञा निर्वाह प्रादि अर्थनीय 'अर्थ' बटलाता है । और यह देवादिकमें भी होता है । [इसलिए उनका शृंगार अर्थ शृंगार बटलाता है] ।

राज्य-सा प्रतीत होने वाला मिथ्या प्रकल्पित प्रपञ्च कपट [कहाता] है । वर

मिथ्याप्रकल्पित. सत्यानुकारी प्रपञ्च. कपट. । स च यत्र वञ्चनीय. सापराध. स वञ्च्योत्थो वञ्चकस्य वञ्चनेच्छायां सन्यां कपट. । वञ्चकबुद्धयभावे सापराधेऽपि वञ्चये वञ्चनाया. सम्पत्त्ययोगान् । तेन वञ्च्येत्य. कपटो वञ्चकविनाभाव्येव । अत एव उभयजन्तुर्यां न भवति ।

यत्र तु वञ्च्यापराधं विना वञ्चकबुद्धयैव केवलया कपटो भवति स वञ्चक-सम्भवी । यत्र तु द्वयोगतुल्यफलाभिधानवतोः काकतालीयन्यायेन एक उपचीयते ऽपरोऽपचीयते स वञ्च्यापराधाभावेन वञ्चकस्य च वञ्चनाबुद्धययोगेन च देवसम्भवीति ।

विद्वदन्ति त्रस्यन्ति जना यस्मादिति विद्वदोऽनर्थः । 'त्रि' इति प्रकारत्रय-युक्तः । तत्र जीरोत्थो हस्त्यादिजः । अजीवोत्थः शास्त्रादिज । जीवाजीरोत्थो नगरो-परोधज । तत्र हस्त्यादेः शास्त्रादेश्च व्यापारादिति ।

अमीपु तु शृङ्गार-कपट-विद्ववाणां त्रिपु भेदेषु मध्ये एकैको भेदोऽङ्केषु पृथक् पृथक् निवन्धनीयः । तत्र प्रथमेऽङ्केऽन्यतमः कपट उपाये, विद्ववो व्यापत्तिसम्भावनाया, शृङ्गार फलांशे । एवं द्वितीये तृतीये च । प्रथमे चाङ्के शृङ्गार कामशृङ्गार एव । रञ्जनायां साधकनमस्य प्रथममुपादानान् । अत एव प्रहासोऽप्यत्र निवन्धते । 'पञ्च'

(१) जहाँ वञ्चनीय [पुरुष] अपराधी होता है और वञ्चकको धोला देने की इच्छा होती है वहाँ वञ्च्योत्थ कपट कहलाता है । (२) वञ्च्य [पुरुष] के अपराधी होनेपर भी वञ्चक को उस प्रकारका ज्ञान न होनेपर वञ्चना बन ही नहीं सकती है इसलिए वञ्च्योत्थ कपट वञ्चक [जि वञ्चन करनेकी बुद्धि] का अविनाभावी है । इस कारण [वञ्च्य-वञ्चक] दोनों से उत्पन्न जन्तुर्यं भेद नहीं होता है ।

यहाँ तब वञ्च्योत्थ कपटका वर्णन किया । अब आगे वञ्चकोत्थ कपटका वर्णन करते हैं—

जहाँ वञ्च्य [जिसको धोला दिया जा रहा है उस] के अपराधके विना ही केवल वचककी [वञ्चना] बुद्धिसे ही कपट होता है यह वञ्चकोत्थ कपट कहलाता है । [आगे देवोत्थ कपटका संक्षेप करते हैं] जहाँ तुल्य फल और तुल्य कारण [अभिधान] होनेपर भी काक-तालीय-न्यायने अकस्मात् एककी वृद्धि हो जाती है और एकका ह्रास होता है वहाँ वञ्च्य [ह्रास वाले] का अपराध न होने और वञ्चक [वृद्धि वाले] में वञ्चनाबुद्धि न होनेके कारण वह देवोत्थ कपट होता है ।

[आगे कारिकामें आए हुए तीन प्रकारके विद्ववोका वर्णन करते हैं] । जिससे लोग विद्वत होते हैं अर्थात् भयभीत होते हैं उस अर्थको 'विद्वव' कहते हैं । वह तीन प्रकारका होता है । [१ जीवोत्थ, २ अजीवोत्थ और ३ जीवाजीवोत्थ] । उनमेंसे हस्ती आदिके द्वारा उत्पन्न होने वाला [अर्थ] जीवोत्थ है । शास्त्रादिसे होने वाला अजीवोत्थ है । और नगरो-परोध आदिसे उत्पन्न जीवाजीवोत्थ है । उस [नगरोपरोधज-य अर्थ] में हस्ती आदि और शास्त्रादि दोनोका व्यापार होनेसे [उस प्रकारके अर्थको जीवाजीवोत्थ अर्थ कहा जाता है ।

[अमीपु तु] इससे शृङ्गार, कपट और विद्ववोंके तीन-तीन भेदोंमेंसे एक-एक भेद अङ्कमें प्रत्येक अलग निबद्ध करना चाहिए । उनमेंसे प्रथम अङ्कमें [तीनों प्रकारके कपटोंमेंसे]

च स्रग्धरादिकम्'। आदिशब्दाद् बह्वचरं शार्दूलाद्योजोगुणयुक्तं गृह्यते, न पुनर्गायत्र्यादि। तेन हि बह्वर्थाभिधाने क्लिष्टता स्यात्। केचित् पुनरल्पाक्षरं गायत्र्यादिकं अर्धसम-विपमादिकं चात्र पद्यं मन्यन्ते। अनेन च गद्यस्यात्र न निषेधः। पद्यवैशिष्ट्य-विधानार्थत्वादिति।

समवकारे च संक्षिप्तः सहास्यः शृङ्गार, कपटो विद्रवो देवासुरवैरनिमित्तं, सप्र-हारादिकं च दिव्यप्रभावसाध्यम्। लौकिकीभिरूपपत्तिभिर्हीनं माया-इन्द्रजाल-प्लुत-लंघन-उच्छेद्य-पुस्तावपातादिवहुलया आरभट-या वृत्त्या सर्वमपि प्रहसन-कपट-विद्र-वादि कुतूहलिनां परा तुष्टिमुत्पादयितुं व्युत्पाद्यते। यदाहुः—

शरास्तु वीर-रौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।

वाला मूर्खा स्त्रियश्चैव हास्य-शोक-भयदिषु ॥

परितुष्यन्तीति वाक्यशेष इति ॥ [१४-१५] ७६-८० ॥

कोई एक कपट उपाय [के रूप] में, [कार्यमें] आपत्तिकी सम्भावना रूपमें एक विद्रव, और फल रूपमें [कोई एक] शृङ्गार विललाना चाहिए। इसी प्रकार द्वितीय तथा तृतीय अङ्कमें [भी एक कपट उपाय रूपमें, आपत्तिकी सम्भावना रूपमें एक-एक प्रकारका विद्रव, और फल रूपमें एक-एक प्रकारके शृङ्गारका वर्णन करना चाहिए। किन्तु इस घातका विशेष रूपसे ध्यान रखना चाहिए कि] प्रथम अङ्कमें काम-शृङ्गार ही रखा जाय। मनोरञ्जनमें उस [काम-शृङ्गार] के साधकतम होनेसे उसका प्रथम ग्रहण किया जाता है। इसी कारण इसमें प्रहासकी रचना भी की जाती है। पद्यमें स्रग्धरा आदि [लम्बे पद्य ही समवकारमें प्रयुक्त करने चाहिए] आदि शब्दसे अधिक अक्षरों वाले और ओजो गुणयुक्त शार्दूलतमित्रीद्वित आदि [वृत्तों] का ग्रहण होता है। [अल्प अक्षरोंवाले] गायत्री आदि [छन्दों] का ग्रहण नहीं होता है। उस [गायत्री भादि अल्पाक्षर छन्दों] के ग्रहण करनेसे लम्बे अर्थका वर्णन करनेमें बटि-नाई होगी। [इसलिए स्वल्पाक्षर छन्दोंका ग्रहण समवकारमें नहीं करना चाहिए]। कोई लोग स्वल्पाक्षर गायत्री आदि और अर्धसम तथा विषम आदि छन्दोंका इसमें ग्रहण मानते हैं। इस [पद्योंका विशेष रूपसे नाम लेने] से यहाँ गद्यका निषेध [अभिप्रेत] नहीं है। पद्योंके प्राधिक्यका विधान करनेके लिए ही [स्रग्धरादिका] विधान होनेसे।

समवकारमें हास्य सहित संक्षिप्त शृङ्गार, और देशो तथा अगुरोके चरके कारण होने वाला कपट, विद्रव तथा दिव्य प्रभावसे साध्य युद्धादिक [का वर्णन पाया जाता] है। लौकिक्य मुक्तिपोंसे रहित [अर्थात् लौकिक उपायोंसे सिद्ध न होने वाला] माया, इन्द्रजाल, उदलना बूदना [उच्छेद्य अर्थात् नष्ट करने योग्य] द्रव्यके पुतले आदिवा गिराना आदि, जिसमें मुख्य रूपसे किया जाता है इस प्रकारकी आरभटो वृत्तसे सम्पादित प्रहसन, कपट, विद्रव आदि सभी कुछ कौतूहलोरुभुज जनताको अत्यन्त आनन्द प्रदान करते हैं [इसलिए उनका वर्णन किया जाता है]। जैसा कि कहा भी है कि—

सुर लोग वीर रौद्र रसोंमें, मल्लपुट और युद्धोंमें [आनन्द अनुभव करते हैं] और बानस मूलं तथा स्त्रियां हास्य, शोक, भय आदिमें [आनन्दका अनुभव करते हैं]।

'प्रमत्त होते हैं' यह वाक्य लेय है [अर्थात् इस वाक्यको ऊपरमें जोड़ लेना चाहिए]

॥ [१४-१५] ७६-८० ॥

अथ भाणस्य क्रमप्राप्तो लक्षणवसर.—

[सूत्र १२६]—भाणः प्रधानशृङ्गार-वीरो मुख-निर्वहवात् ।

एकाङ्को दशलास्याङ्गः प्रायो लोकानुरञ्जकः ॥ [१६] ८१॥

भण्यते व्योमोक्त्या नायकेन स्वपरवृत्तं प्रकाशयतेऽत्रेति 'भाण' । शौर्य-सौभाग्य-वर्णना वाहल्येनात्र वीरशृङ्गारयोः प्राधान्यम् । शृङ्गाराङ्गत्वाद् ह्याम्योऽप्यत्राङ्गतया वर्णनीय । तथा मुख-निर्वहणसन्धिसम्पूर्णं एकाहनिवर्तनीयत्वादेकाङ्क । दश चात्र लास्याङ्गानि नियध्यन्ते । तानि चैतानि यथा च—

गेयपदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।

प्रच्छेदकं^१ त्रिगुहं च सैन्धवाख्यं^२ द्विगुहकम् ॥

उत्तमोत्तमकं चैवमुक्त-प्रत्युक्तमेव च । इति ।

प्रायेण लोकात्म्यं पृथग्जनस्य विट-वेश्यादिवृत्तात्मकत्वाद् रञ्जनात्मकं । विट-धूर्त-कुट्टिन्याद्विचेष्टितं राजपुत्रादीनामपि चातुर्थार्थं ज्ञेयमेवेति प्रायोऽप्रहणमिति ॥

[१६] ८१ ॥

७. सप्तम रूपक भेद 'भाण' का लक्षण—

अथ वससे भाणका लक्षण करनेका अवसर आता है [इसलिए भाणका लक्षण करते हैं ।

[सूत्र १२६] शृङ्गार या वीर रस प्रधान, मुख सन्धि तथा निर्वहण [दो ही सन्धियों] से युक्त, दश लास्याङ्गोसे पूर्ण, एक अङ्क वाला, और प्राय साधारण जनोका मनोरञ्जन करनेवाला [रूपकभेद] 'भाण' [कहलाता] है ॥ [१६] ८१॥

जिसमे नायक [अथ किसी पात्रके रङ्गभूमिमे उपस्थित न होनेसे] आकाशोक्ति द्वारा अपने और दूसरेके घृत्को कहता या प्रकाशित करता है । वह [भण्यते यत्रेति भाण' इस श्रुतिसे अनुसार] 'भाण' कहलाता है । इसमे शौर्य या सौभाग्यका अधिक वर्णन होनेके कारण वीर तथा शृङ्गारका प्राधान्य होता है । शृङ्गारका अङ्क, होनेसे हास्यरसका भी इसमे अङ्क रूपसे वर्णन होता चाहिए । और एक ही दिनमे पूर्ण [होनेवाले कथाभागसे युक्त] होनेसे एक अङ्क वाला, तथा मुख और निर्वहण [दो ही] सन्धियोंसे युक्त [भाण' होता है] । इसमे दश लास्याङ्गोंका भी वर्णन होता है । वे [दश लास्याङ्ग] निम्न प्रकार बहे गए हैं—

१ गेयपद, २ स्थित, ३ पाठ्य, ४ पुष्पगण्डिका, ५ प्रच्छेदक, ६ त्रिगुह, ७ सैन्धव नामक द्विगुहक, ८ उत्तमोत्तमक, ९ उत्त और १० प्रत्युक्त [ये दश लास्याङ्ग बहे गए हैं । [इन सबका प्रयोग भाणमें होता है] ।

[कारिकामे आए हुए 'प्रायो लोकानुरञ्जक' इस भागको व्याख्या करते हैं] प्रायः लोकका अर्थान्तु विट धूर्त, और वेदया आदिके वृत्तमे युक्त साधारण लोगोंके मनोरञ्जनका कारण होता है [उच्च कोटिके लोगोंके मनोरञ्जनका कारण नहीं होता है] । विट, धूर्त कुट्टिनी आदिका चरित्र चातुर्थ्यकी दिशाके लिए राजपुत्रादिको भी जानना चाहिए इसलिए [कारिकामे] 'प्राय' पदका ग्रहण किया गया है ॥ [१६] ८१ ॥

१. एष त्रिगुह । २. द्विगुहक ।

अथ कर्तव्योपदेशेन नायकमुद्दिशति—

[सूत्र १३०]—एको विटो वा धूर्तो वा वेश्यादेः स्वस्य वा स्थितिम् ।

व्योमोक्त्या वर्णयेदत्र वृत्तिमुख्या च भारती ॥ [१७] ८२ ॥

एको द्वितीयपात्ररहितः । विटः पल्लवकः, धूर्तश्चौरः द्यूतकारादिः, वेश्यादेः पण्यस्त्री-कुलटा-शम्भल्यादेः । स्वस्यात्मनो वा स्थितिं चरितं व्योमोक्त्या रङ्गाप्रविष्ट-द्वितीयपात्रसम्बन्धवचनानुवादेन वर्णयेदङ्गविकारैः सामाजिकानवगमयेत् । अत्र भाणे । भारती चात्र वृत्तिः प्रभूततया प्रधानम् । वीर-शृङ्गारयोः प्रधानत्वेऽपि व्योमोक्त्या वाचिक एवात्राभिनयो न सात्त्विकाङ्गकाविति, न सात्त्वती कैशिकी वा प्रधानम् । अत्र विटादीनां परवञ्चनात्मकं वृत्तं प्रेक्षकाणामवञ्चनीयत्वापादनार्थं व्युत्पाद्यत इति । अत्र केचित् विटाकल्पितं वृत्तं, नायकं च विटमेव मन्यन्ते ॥ [१७] ८२ ॥

अथ प्रहसनस्य समयः—

[सू० १३१]—वैमुख्यकार्यं वीथ्यङ्गिः ख्यातकौलीनदम्भवत् ।

हास्याङ्गिः भागसन्ध्यङ्क-वृत्ति प्रहसनं द्विधा ॥ [१८] ८३ ॥

अथ [नायकके] कर्तव्यके प्रदर्शनं द्वारा नायकका वर्णन करते हैं—

[सूत्र १३०]—एक विट या धूर्त [नायक] वेश्यादिषु अथवा अपना स्थितिको 'आकाशभाषित' के द्वारा इसमें वर्णन करता है और इसमें भारती वृत्तिकी प्रधानता होती है ॥ [१६] ८२ ॥

एक अर्थात् दूसरे पात्रसे रहित विट अर्थात् [पल्लवक अर्थात्] वेश्यासक्त और धूर्त चोर जुआरी आदि [भागका नायक होता है] । वेश्यादि अर्थात् बाजारू औरत, कुलटा [दिनाल, व्यवचारिणी स्त्री] और [शम्भली अर्थात्] कुट्टिनी, दूती आदिके [चरितको], अथवा अपनी स्थितिको या चरितको रंगमे प्रविष्ट न होने वाले द्वितीय पात्रके बचनोंवा अनुवाद करके [अर्थात् रंगमें अनुपस्थित किसी अन्य पात्रके साथ वार्तालापके रूपमे किए जाने वाले] आकाशभाषितके द्वारा वर्णन करे, और अङ्ग विकारोंके द्वारा सामाजिको उसे समभावे । 'अत्र' इसमें अर्थात् भाणमें । और प्रचुरमात्रामे होनेसे इस [भाण] मे भारती वृत्ति प्रधान होती है । वीर और शृङ्गार रसोंकी प्रधानता होनेपर भी आकाश-भाषित [के रूपमें प्रयुक्त] होनेसे वाचिक ही अभिनय होता है । सात्त्विक या आङ्गिक नहीं । इसलिए सात्त्वती अथवा कैशिकी वृत्तिकी प्रधानता [भाणमें] नहीं होती है । इसमें विट आदि का दूसरोंको ठगने वाला चरित्र भी, प्रेक्षक ठगे न जा सकें इस प्रकारकी शिक्षा देनेकेलिए, दिलाया जाता है । कुछ लोग इस [भाण] में क्याभागको [सर्वथा] विट द्वारा कल्पित तथा नायक [गदा] विट ही होना चाहिए ऐसा मानते हैं ॥ [१७] ८२ ॥

अष्टम रूपक भेद—प्रहसनका लक्षण—

अथ प्रहसनं वा [लक्षण करनेका] अथवा अथा है—

[सूत्र १३१]—[पालण्डियों आदिके प्रति] उदासीनताको उत्पन्न करनेवाला, चौकोने अङ्गोंसे युक्त, प्रसिद्ध जनापवाद और गिण्या बम्भते युक्त, और भाणके समान [युक्त निबंहुए

चैमुग्यं बहुमानाभावः कार्यं प्रयोजनं यम्य । प्रहसनेन हि पाखण्डिप्रभृतीनां चरितं विज्ञाय त्रिमुरः पुरुषो न भूयस्तान् वच्यक्रानुपमर्षति । वीथ्यङ्गैर्ध्याद्वारादिभिर्यथायोगं संयुक्तं च विधेयम् । कौलीनं जनवादः तन् ग्यालं प्रसिद्धम् । दम्भश्च आत्मन्यतथ्यसाधुत्वारोपणरूपः । तयातोऽत्र विधेयः । यथा शाक्यानां स्त्रीसम्पर्कौ गर्हणीयो न चौर्यम् । एवं दम्भोऽपि । हास्यो रसो अङ्गी मुरयो यत्र । भाण्यच्च सन्धी मुरनिर्वहृणौ । एकोऽङ्कः भारती वृत्तिश्च निवन्धनीया । हास्यरसप्राधान्येऽप्यत्र न केशिकी वृत्तिः । निन्द्यापाखण्डि-प्रभृतीनां शृङ्गारस्थानीचित्येनाभावान् केवलहास्यविषयत्वमेव । अत एव लास्याङ्गान्यत्र अल्पान्येवेति । 'द्विधा' द्विप्रकारकं शुद्धं सङ्कीर्णं चेति ॥ {१८} ८३ ॥

अथ नायककथनद्वारेण शुद्धमाह—

[सूत्र १३२]—निन्द्यापाखण्डि-विप्रादेरश्लीलासम्भवाजितम् ।

परिहासवचःप्रायं शुद्धमेकस्य चेष्टितम् ॥ {१९} ८४ ॥

निन्द्याः शीलादिना गर्हणीया, पाखण्डिन शाक्य-भगवत्तापसादयः, विप्रा रूप दो] सधियों [एक] अङ्क, तथा [भारती] वृत्ति वाला हास्यप्रधान [रूपकभेद] 'प्रहसन' [शुद्ध तथा संकीर्ण भेदते] दो प्रकारका होता है । [१८] ८३ ।

[पाखण्डियों आदिके प्रति] वैमुग्य अर्थात् आदरका अभाव [उसका उत्पादन] जिसका कार्य अर्थात् प्रयोजन है । प्रहसनके द्वारा पाखण्डी आदिके चरितको समझकर, मनुष्य उन ठगोंके पास फिर नहीं जाता है [इसलिए प्रहसनको पाखण्डियोंके प्रति वैमुग्यकारी कहा गया है] । व्यवहारादि वीथ्यङ्गैर्ध्याद्वारादि युक्त [प्रहसनको] बनाना चाहिए । कौलीन अर्थात् लोकापवाद । वह जिसमें स्यात् अर्थात् प्रसिद्ध हो । और अपनेमें भूटे साधुत्वके प्रदर्शन रूप दम्भको इसमें प्रकाशित करना चाहिए । जैसे बौद्धोंमें स्त्री-सम्पर्क निवन्धीय है चोरी नहीं [इस प्रकार का जनापवाद रूप कौलीन प्रसिद्ध है] । इस प्रकार [अतथ्य साधुत्व प्रदर्शन रूप] दम्भ भी [प्रसिद्ध करना चाहिए] । हास्यरस जिसमें अङ्गी अर्थात् मुख्य हो [इस प्रकारका प्रहसन होता है] । भाणके समान मुख तथा निर्वहण नामक दो ही सधि [इस प्रहसनमें भी होते हैं] । एक ही अंक, और भारती वृत्ति [भी भाणके समान ही] निबद्ध करनी चाहिए । हास्य रसकी प्रधानता होनेपर भी इसमें केशिकी वृत्ति नहीं होती है । क्योंकि निवन्धीय पाखण्डी आदिमें शृङ्गाररसका अनौचित्य होनेसे उनमें केवल हास्य विषयत्व ही होता है । इसीलिए [प्रहसनमें शृङ्गारकी प्रधानता न होनेके कारण] इसमें घोड़े ही लास्याणोंका वर्णन होता है । वह दो प्रकारका अर्थात् शुद्ध और सङ्कीर्ण दो प्रकारका होता है ॥ {१८} ८३ ॥

अथ नायकके कथन द्वारा शुद्ध [प्रहसन] को कहते हैं—

[सूत्र १३२]—निन्द्या योग्य पाखण्डी ब्राह्मण आदि किसी एकका अश्लीलता तथा असम्पत्तासे रहित परिहास वचनोंसे पूर्णं चेष्टित [जिसमें ही वह] शुद्ध प्रहसन कहलाता है । [१९] ८४ ।

निवन्धीय अर्थात् गहित आचार वाले, पाखण्डी अर्थात् बौद्ध और ब्राह्मण तपस्वी आदि [प्रयकार जैन हैं] इसलिए उन्होंने बौद्ध तथा भगवत्तापस अर्थात् ब्राह्मण तापस आदि १. स्पर्को ।

जातिमात्रोपजीविनो द्विजन्मान । आदिशब्दादन्यस्याप्येवविधस्य दुष्टस्यैकस्यैव कस्यचिन्चेष्टितं वृत्त, अश्लीलेन ग्राम्येण जुगुप्सा-अमङ्गलहेतुना च, असभ्येन^१ च व्रीडाकारिणा रहितम् । परिहासप्रधानवचनवहुलं च । एतदभिधायि रूपकमपि चोपचाराद्^२ शुद्धं प्रहसनम् । द्वितीयवेश्या^३दिचरितसाङ्ख्यैरहितत्वादिति ॥ [१६] ८४॥

अथ सङ्कीर्णम्—

[सूत्र १३३]—सङ्कीर्णमुद्धताकल्प-भाषाचार-परिच्छेदम् ।

बहूनां बन्धकी-चेष्ट-वेश्यादीनां विचेष्टितम् ॥ [२०] ८५ ॥

बहूनां चरितैः सङ्कीर्णत्वान् सङ्कीर्णम् । अत्युल्लवण्वेषव्यवहाराचारपरिजनम् । उद्धतत्वं च सतामनुचितत्वान् । बन्धकी स्वैरिणी, चेटो दास, वेश्या पर्ययत्री । आदिशब्दान् शम्भली-धूर्त-वृद्ध-परुड-पारुण्डि-विप्र-भुजग-चार-भटादयो विकृतवेष-भाषाचारा गृह्यन्ते । विगर्हणीयं हास्यजनकं चेष्टितमनुष्ठानम् । एकस्य बन्धक्यादे कस्यचिन् द्वारेण यत्रानेक एवंविध एव प्रकर्षेण हस्यते तत् सङ्कीर्णचरितविषयत्वान् सङ्कीर्णम् । शुद्धे तु पारुण्ड्यादेरेकस्यैव चरित प्रहस्यते इति पूर्वस्माद् भेद ।

दोनोंको निम्न पात्रण्डो कहा है] विप्र [विद्यादि ब्राह्मणोचित गुणोसे रहित होनेपर भी] केवल जातिसे जीविका-निर्वाह करने वाले द्विज । 'प्रादि' शब्दसे इस प्रकारके किसी ग्राम्य एक ही दुष्टके जुगुप्सा और अमङ्गल जनक अश्लीलता अर्थात् ग्राम्यतासे और व्रीडाजनक असभ्यता [रूप अश्लीलता] से रहित व्यापारका वर्णन [प्रहसनमे होना चाहिए] । परिहास प्रधान वचन अधिक मात्रामे पाए जाते हैं । इस लिए इत [इस परिहास प्रधानवचन] को बहने वाला रूपक भी उपचारसे 'शुद्ध' 'प्रहसन' कहलाता है । वेश्यादि किसी द्वितीयके चरित का सङ्कर न होनेसे [इस प्रकारका प्रहसन 'शुद्ध' कहलाता है ॥ [१६] ८४॥

अथ सङ्कीर्णं प्रहसनका लक्षण करते हैं—

[सूत्र १३३]—अत्यन्त उद्धत वेष, भाषा, आचार और परिजनोसे युक्त, वेश्या तथा स्वैरिणी [व्यभिचारिणी स्त्री] आदि बहूतोंके चरित्रसे युक्त [प्रहसन] सङ्कीर्ण [प्रहसन कहलाता] है । [२०] ८५ ।

बहूतोंके चरित्रसे व्याप्त होनेके कारण [इस प्रकारका प्रहसन] सङ्कीर्ण कहलाता है । [वेष, भाषा, आचार आदिका] उद्धतत्व [उस प्रकारके वेष आदिके] सज्जनोचित न होनेके कारण [कहा जाता] है । बन्धकी अर्थात् स्वैरिणी चेट अर्थात् दास, वेश्या, बाजार स्त्री । 'प्रादि' शब्दसे शम्भली [दिनाल], धूर्त, वृद्ध, हिजडा, पालण्डो, ब्राह्मण, भुजग, [विन्यासोनि सेवक], चार तथा भोट प्रादि विकृत वेष, भाषा और आचार यात्रोका ग्रहण होता है । [प्रागे 'विचेष्टित' शब्दका अर्थ करते हैं] विशेष रूपसे गर्हणीय अर्थात् हास्यजनक चेष्टित अर्थात् व्यापार [अनुष्ठान] । बन्धकी प्रादिमेसे किसी एकके द्वारा जहाँ इत प्रकारके ग्राम्य घनक लोगोका उपहास किया जाता है यह सङ्कीर्ण चरितोंका विषय होनेसे सङ्कीर्ण [प्रहसन कहलाता] है । शुद्ध [प्रहसन] मे तो पालण्डो प्रादि किसी एकके ही चरित्रका उपहास किया जाता है यह विद्वाने [शुद्ध प्रहसन] से [सङ्कीर्णव्य प्रहसनका] भेद है ।

अन्ये तु—स्वभावशुद्ध-पारमण्ड्यादेश्चरित प्रहस्यते तन् सङ्कीर्णचरितविषयत्वात् सङ्कीर्णमित्याहुः । सङ्कीर्णमनेकाङ्कं केचिदनुस्मरन्ति । अत्र च प्रथमेन श्लोकेन सामान्यलक्षणम् । द्वितीयेन शुद्धस्य, तृतीयेन च सङ्कीर्णस्य लक्षणम् । उभयत्र तु विट-चेष्टागदे परिजनस्य भूयस्त्वमिति । प्रहसनेन च बालस्त्रीमूर्खाणां हास्य-प्रदर्शनेन नाट्ये प्ररोचना क्रियते । ततः सञ्जातनाट्यरचय शेषरूपकैर्धर्मार्थकामेषु व्युत्पाद्यन्ते । तथा वृत्तन्युतस्य पारमण्डिप्रभृतेर्वृत्त शुद्ध, बन्धक्यादेश्च धूर्तादिमकुलं सङ्कीर्णं वृत्तं त्याज्यतया व्युत्पाद्यते इति ॥ [२०] ८५ ॥

अथ डिमस्य लक्षणम् —

[सूत्र १३४]—अशान्त-हास्य-शृङ्गार-विमर्शः ख्यातवस्तुकः ।

रौद्रमुख्यश्चतुरङ्कः सेन्द्रजाल रगो डिमः ॥ [२१] ८६ ॥

शान्त हास्य शृंगाररूपरमयैण विमर्शाख्यचतुर्थसन्धिना च रहितत्वान् शेषरसैरन्यसन्धिभिश्च युक्त । शान्तस्य कर्णहेतुस्त्वनोपलक्षणत्वान् कर्णोऽपि निषिध्यते तु रम्यप्रर्पात्मकत्वान् ।

सङ्कीर्णं प्रहसनका दूसरा लक्षण—

अथ लोग तो—स्वभावशुद्ध [अर्थात् पवित्र आचारवाले होनेपर भी पाखण्डी आदि [अर्थात् अन्य धर्मोंके अनुपाथी ब्राह्मणादि] के चरितका जिसमे उपहास किया जाता है वह चरितका सङ्कर [शुद्ध चरितमे अशुद्धता] का विषय होनेसे सङ्कीर्ण [प्रहसन] होता है यह कहते हैं । कुछ लोगोंका कहना यह है कि सङ्कीर्ण [प्रहसन] अनेक अङ्को वाला होता है । और शुद्ध प्रहसनमें केवल एक अङ्क होता है यह उन दोनोंका भेद है । प्रहसनके लक्षणमे ८३-८५ तक तीन श्लोक आए हैं इनमेसे प्रथम श्लोकसे [प्रहसनका] सामान्य लक्षण, द्वितीयसे शुद्धका लक्षण, तथा तृतीय श्लोकसे सङ्कीर्ण [प्रहसन] का लक्षण किया गया है । [शुद्ध तथा सङ्कीर्ण] दोनोंमे विट, चेष्ट आदि परिजनोका बाहुल्य रहता है । प्रहसनके द्वारा हास्य प्रदर्शित करके मूर्खों और स्त्रियोकी नाट्यके विषयमे अभिरुचि उत्पन्न की जाती है । उससे नाटकके विषयमे रुचि हो जानेपर शेष रूपकभेदोंके द्वारा उनको धर्म, अर्थ और काम की शिक्षा प्रदान की जाती है । और साथ ही आचारहीन पाखण्डी आदि [किसी एक] का शुद्ध वृत्त तथा धूर्तादिसे व्याप्त बन्धकी आदिका सङ्कीर्ण चरित त्याज्य रूपसे दिखलाया जाता है । [यह प्रहसनकी उपयोगिता है] ॥ [२०] ८५ ॥

६ नवम रूपक भेद 'डिम' का लक्षण—

[प्रहसनके लक्षणके बाद आगे] अब 'डिम' के लक्षणका अथसर प्राप्त है—[अतः 'डिम' का लक्षण करते हैं]

[सूत्र १३४]—शान्त, शृङ्गार और हास्य रसो सहित विमर्श संधि विहोत, प्रसिद्ध आख्यात-वस्तु वाला, तथा रौद्ररस प्रधान, इन्द्रजाल एव युद्धादिसे परिपूर्ण चार अर्थों वाला [रूपकभेद] 'डिम' [कहलाता] है ॥ [२१] ८६ ॥

शान्त, शृङ्गार और हास्य रूप तीन रसोंसे तथा विमर्शनामक चतुर्थ सन्धिसे रहित होनेसे अथ रसों तथा सन्धिओंसे मुक्त [डिम होता है] । शान्त रससे [यही] कथल नव

इह च कर्ण-रौद्र-भयानक-वीभत्सरचत्वारो रसा दुःखात्मान । शृङ्गार-हास्य-वीर-अद्भुत-शान्ता पञ्च सुखात्मका । दिव्यानां च सुखपाहुल्येनाल्पदुःखत्वादन्यथा दिव्यत्वमेव न स्यादित्येषा तत्प्रभावानानुगृहीतानामन्येषां च दुःखात्मानो रसा अप्रयोज्या एव । समवकारादौ तु यद् रौद्रादिवर्णनं तद् दिव्यहेतुकस्वाभाविकसुखावाधकत्वाद्दुष्टमेव । मर्त्याद्यज्ञादिसमुत्थो हि रौद्र । स्वाधिकक्रोधादिसम्भवो भयानक । मर्त्याद्यशुचिशरीराश्रयलोकनाद् वीभत्सरच दिव्यानामागन्तुक एव । कर्ण पुनरिष्ट-त्रियोगप्रभवशोकप्ररूपरूपत्वान् स्वाभाविकसुखपरिपन्थी सर्वदैपामवर्णनीय एव । शान्तोऽपि विषयासक्तिमत्त्वादिसम्भव्येव ।

अत्र च द्विमे हास्य-शृङ्गारवर्जनमिन्द्रजालादिवहुलत्वाद्दुःखितमेवेति । स्यात्

रूपसे उपलक्षण होनेके कारण [शा त पदसे ही] कर्णरसका भी निषेध किया गया है [यह समझना चाहिए] । [कर्णरसके] दुःखकर्पात्मक होनेसे ।

रसोंकी सुख दुःखात्मकता—

कर्णरसकी दुःखात्मकताके बचनके प्रसंगसे रसके सुखात्मक तथा दुःखात्मक द्विविध विभागको दिखलाते हैं—

यहाँ कर्ण, रौद्र, भयानक और वीभत्स ये चार रस दुःखात्मक रस हैं । शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त ये पाँच रस सुखात्मक रस हैं । दिव्य पात्रोंमें सुखप्रधान होनेके कारण उनमें दुःखकी न्यूनता होनेसे, अर्थात् यदि उनमें सुखकी प्रधानता न मानी जाय तो] उनमें दिव्यता ही नहीं बनेगी । इसलिए इन [देवताओं] और उनके प्रभावसे अनुगृहीत अर्थात् उनके भक्तगणों के साथ दुःखात्मक रसोंका प्रयोग नहीं करना चाहिए । इसपर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि [यदि दिव्य पात्रोंके साथ दुःखप्रधान रसोंके प्रयोगका निषेध किया जाता है तो रौद्ररस-प्रधान समवकारमें दिव्य पात्रोंकी तगति कैसे लगेगी इस शकाका उत्तर प्रागे देते हैं कि] समवकारादिमें [दिव्य पात्रोंके होते हुए भी] जो रौद्ररसका वर्णन कहा गया है वह [उन पात्रोंके] दिव्यताजन्य स्वाभाविक सुखका वाधक न होनेसे दोषावाधक नहीं है । [प्रागे विभिन्न रसोंके कारण तथा स्वरूपका उपपादन प्रसंगत करते हैं] मनुष्य आदिके द्वारा की जाने वाली प्रवृत्ता आदिके रौद्र [रसका स्थायिभाव क्रोध] उत्पन्न होता है । अपनेसे अधिक [शक्तिशाली पुरुष] के क्रोधादिसे भयानक [रसके स्थायि भाव भय] की उत्पत्ति होती है । और मनुष्यादिके अपवित्र शरीर आदिके भ्रयलोकनसे वीभत्स [रसका स्थायिभाव जुगुप्सा] दिव्य पात्रोंमें [वास्तविक नहीं] आगतुक ही होता है । [अर्थात् दुःखात्मक रौद्र भयानक और वीभत्सरसोंका देवताओंके साथ वर्णन आगतुक रूपमें ही किया जा सकता है । वास्तविक रूपसे नहीं । कर्णरसका वर्णन तो उनके साथ किसी भी रूपमें नहीं करना चाहिए इस बातको प्रागे कहते हैं] किन्तु प्रियजनके विद्योगसे उत्पन्न शोकके प्रवर्ध रूप होनेके कारण स्वाभाविक सुखके विरोधी कर्ण रसका इन [देवताओं] के साथ कभी भी वर्णन नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार [देवताओंके] विषयासक्ति प्रधान होनेके कारण उनमें शान्तरस भी प्रसम्भव ही है [अर्थात् देवताओंके चरितमें शान्तरसका भी वर्णन नहीं करना चाहिए] ।

यहाँ 'द्विमे' में इन्द्रजालादिका यादृश्य होनेसे हास्य तथा शृङ्गारका वर्जन उचित ही

पूर्वप्रसिद्धं वस्त्वितिवृत्तं नायकोपायफललक्षणमत्र । रौद्रो मुरयोऽङ्गी यत्र । गोपा रसा पुनरंगानि । अवस्थाचतुष्टयविशिष्टं चतुसन्धित्वेन चतुर्दिननिवर्तनीयेतिवृत्तत्वेन च चतुरङ्गवान् । अङ्गावताररूपारचात्र अङ्गा विधेया । नूलिकाङ्गमुखयोरपि युद्धाद्विवर्णने निवन्धो भवत्येव । 'सेन्द्र' इति सहेन्द्रजाल-रणाभ्या वर्तते । विद्यमानता चात्र सहाय । इन्द्रजालमनां शब्द-रसादीनां प्रकाशनम् । अन्यथापादनं वा । रणसग्राम, बाहुयुद्ध-बलात्कारपराभवादिरूप । डिमो डिम्नो विप्लव इत्यर्थः । तयोगाढ्यं डिम । डिमे सघातार्थं त्वादिति ॥ [२१] ८६ ।

अथ कृत्यान्तरं नायकं चोपदिशिति—

[सूत्र १३५]—अत्रोल्कापात-निर्घाताश्चन्द्रसूर्योपरक्तयः ।

सुरासुरपिशाचाद्याः प्रायः योऽश नायकाः ॥ [२२] ८७ ॥

है । [लक्षणमे घ्राए हृए एपातवस्तुक 'पदका अर्थ करते हैं कि] जिसमे नायक, फल, तथा उपाय रूप अर्थ 'वस्तु' अर्थात् इतिवृत्त एपात अर्थात् पूर्व-प्रसिद्ध है । [इस प्रकारका डिम होना चाहिए] । रौद्ररस जिसमे अङ्गी अर्थात् प्रधानरस है । श्रेय रस अङ्ग अर्थात् अग्रधान होते हैं । [विमर्शसन्धि-रहित कहनेसे श्रेय] चार सन्धियों वाला होनेके कारण चार अवस्थाओंसे युक्त, तथा चार दिनोंमे सम्पादित कथा-भाग वाला होनेसे चार अंकोसे युक्त [डिम को कहा गया है] । इसमे अङ्गोकी रचना अकावतारके रूपमे करनी चाहिए [अकावतारका लक्षण 'सोऽङ्गावतारो यत् पार्श्वरङ्गान्तरमसूचनम्' यह २७वें कारिकामे किया जा चुका है । इसके अनुसार पूर्व अङ्गके पात्रों द्वारा ही बिना किसी अन्य सूचनाके नवीन अङ्गका आरम्भ होता है उसको अङ्गावतार कहते हैं । डिमके अङ्गोकी रचना इसी प्रकारसे करनी चाहिए यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है । अर्थात् डिमके अङ्गोमे प्रथम अङ्गके पात्रों द्वारा ही द्वितीय अङ्ग आदिका आरम्भ होना चाहिए । और उसमे विष्कम्भक प्रवेशक आदि अर्थोपशेषकोका प्रयोग नहीं करना चाहिए] । किन्तु युद्धादिके वर्णनमे नूलिका तथा अङ्गमुख दोनों [अर्थोपशेषको] का प्रयोग होता ही है । [विष्कम्भक प्रवेशक आदिका प्रयोग नहीं होता है] । 'सेन्द्रजालरणो डिम' इसका अर्थ यह है कि इन्द्रजाल और युद्धसे युक्त ही । यहाँ 'सह' पदका अर्थ विद्यमानता है । [अर्थात् सेन्द्रजालमे सहायक 'स' आया है उससे इन्द्रजाल और युद्धको डिममे विद्यमानता सूचित होती है] । अविद्यमान शब्द और रूपादिको प्रकाशित करना 'इन्द्रजाल' [कहलाता] है । बाहुयुद्ध, बलात्कार पराभवादि रूप सग्राम रण [शब्दका अर्थ] है । डिम अर्थात् डिम्ब या विप्लव डिम' शब्दका मुख्य अर्थ है उसके योगसे [रूपकभेदका नाम] डिम है । 'डिम' घातुके सघातायका होनेसे [विप्लवादिप्रधान रूपकभेद डिम कहलाता है । यह डिम शब्दका निर्वचन है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है] ॥ [२१] ८६ ॥

अथ [डिममे] करने योग्य अन्य बातोंका, और नायकका निर्देश करते हैं—

[सूत्र १३५]—इस [डिम] मे उल्कापात, भूकम्प चन्द्रमा और सूर्यके उपराग [अर्थात् प्रहण मयथा परिवेष] दिखलाए जाने चाहिए । [सूर्य तथा चन्द्रमाके चारों ओर कभी-कभी एक गोल घेरा बिललाई देता है इसीको परिवेष' कहते हैं] मुर, अमुर, पिशाच आदि प्रायः सोलह

‘अत्र’ डिमे उल्कापात-निर्घात-चन्द्रसूर्यपरिवेपाः । उपलक्षणपरत्वाच्चास्य लेप्य-
किलिञ्ज-चर्म-वस्त्र-काष्ठकृतानि रूपाणि च प्रदर्शयन्ते । ‘सुरासुर’ इत्याद्यशब्दाद् यक्ष-
राक्षसभुजगेन्द्रादिग्रहः । प्रायोग्रहणात् न्यूनाधिकत्वेऽपि न दोषः । दिव्यानामुद्धतत्वाद्
धीरोद्धता एते द्रष्टव्याः । स्वजात्यपेक्षया तु धीरोदात्तत्वमपि न विरुध्यते । एषां च
परस्परविभिन्ना भावाः स्थायि-व्यभिचार्यादयोऽपि वर्णनीयाः । समवकारवत् तत्तद्
देवताभक्तप्रीतिकार्यत्वाद् दिव्यनायकत्वं दिव्यचरितानुष्ठानव्युत्पत्तिश्च द्रष्टव्या ।
एवमीहामृगोऽपि ॥ [२८] ८७ ॥

अथ क्रमप्राप्तमुत्सृष्टिकाङ्कं निरूपयति—

[सूत्र १३६]—उत्सृष्टिकाङ्कः पुंस्वामी ख्यातपुद्धोत्थवृत्तवान् ।

भासोक्तवृत्तिसन्ध्यङ्को वाग्मुद्धः करुणाङ्गिकः ॥ [२३] ८८ ॥

प्रकारके नायक होते हैं । [२२] ८७ ।

इस [डिममे] उल्कापात, भूकम्प, सूर्यग्रहण, चन्द्रोपराग और इनके उपलक्षणमात्र होनेसे
[इनके सहस्र] लेप्य [अर्थात् प्लास्टर करने योग्य द्रव्यसे बनी हुई] अथवा किलिञ्ज [अर्थात्
हरी चट्टाई अथवा पतले तह्तेसे बनी हुई] चर्मसे, वस्त्रसे तथा काष्ठसे बनी हुई प्रतिमाओं प्रादि
[रूपों] को दिखलाया जाता है । [कारिकामें आए हुए सुरासुरपिशाचाद्या पदमें] ‘आद्य’
शब्दसे यक्ष, राक्षस, भुजगेन्द्र, आदिका ग्रहण करना चाहिए । [‘प्रायः पौडगनायका’ में]
‘प्रायः’ पदसे यह सूचित होता है कि कभी-कभी इससे अधिक या कम होनेपर भी दोष नहीं
है । [अर्थात् साधारणतः डिममें सोलह नायक होते हैं, किन्तु कभी-कभी इस सहायमे न्यूना
धिक्य हो जानेपर भी कोई दोष नहीं होता है] । दिव्यजनोंके उद्धत होनेसे ये [डिमके
सोलहों नायक] धीरोद्धत समभने चाहिए । [मनुष्योंकी अपेक्षासे ही ये धीरोद्धत कहे गए हैं]
अपनी जातिकी अपेक्षासे तो इनका धीरोदात्तत्व भी विरुद्ध नहीं है [अर्थात् अपनी जातिकी
अपेक्षासे तो वे धीरोदात्त भी कहे जा सकते हैं] । इन [सोलहों नायकोंके] के स्थायिभाव
व्यभिचारिभाव आदि भी परस्पर पृथक्-पृथक् ही वर्णन करने चाहिए । समवकारके समान
उन-उन देवताओंके भक्तोंके प्रति उपकारी [आनन्ददायक] होनेसे [डिममें भी] दिव्य
नायक होते हैं और दिव्य चरितके अनुष्ठानका परिज्ञान [रूप उसका फल] समझना चाहिए ।
इसी प्रकार ‘ईहामृग’ में भी [दिव्य नायकोंकी स्थितिका समर्थन समझना चाहिए] ।

समवकारमें तीन अङ्गोंमें बारह नायक दिखलाए थे । प्रत्येक अङ्गमें नायक, प्रति-
नायक और उनके दो सहायक इस प्रकार चार नायकोंके होने से तीन अङ्गोंके समवकारमें
कुल मिलाकर बारह नायक माने थे । इसी प्रकार चार अङ्गों वाले डिमके प्रत्येक अङ्गमें
चार-चार नायक होनेसे कुल मिलाकर सोलह नायक माने गए हैं । इन सबके विभाव अनुभाव
और फल आदि पृथक्-पृथक् ही वर्णन करने चाहिए ।

१०. दशम रूपक भेद ‘उत्सृष्टिकाङ्क’ का लक्षण—

अथ क्रमसे प्राप्त उत्सृष्टिकाङ्कका निरूपण करते हैं—

[सूत्र १३६] [‘डिम’ और ‘समवकार’ में दिव्य नायक कहे गए थे उनके विपरीत]
पुरुष नायक बाला, प्रसिद्ध पुद्धसे जन्म [अर्थात् प्रसिद्ध पुद्धोपाख्यानपर आधारित] कथावस्तु

उत्तमगोणमुखा सृष्टिर्जीवित यासा वा उत्सृष्टिका, शोचन्त्य स्त्रिय । ताभिरङ्गित्वाद् 'उत्सृष्टिकाङ्क' । पुमासो मर्त्या अत्र स्वामिनो, न दिव्या दुष्कात्मन्य कर्णरसस्यात्र प्राधान्यात् । दिव्याना च सुखग्राह्येन तत्सम्बन्धायोगान् । ग्यात भारतादौ प्रसिद्ध यद् युद्ध तत्र सम्भवि, कर्णरसग्रहणं चद् वृत्तं तन्, स्वयं प्रसिद्ध वाऽऽसन्नं निरन्धनीयम् । भाणप्रतिपादितं मुख-निर्वहणस्थसन्निवद्धयम् । परिदेनितग्राह्यत्वान्मुखा भारती वृत्ति । एकाहनिर्तनीयचरितत्वादेकाङ्कश्चात्र कर्तव्य । शौर्यादिमदानलिप्तानां परस्पर दोषोद्धृष्टं वाग्युद्ध, तद्गुह्यं । मत्वर्थीयिनो भूम्यत्र विधानान् । वाग्युद्धं चानुशोचनपरायणानामिति रौद्राप्रवेगेन न कर्णम्याङ्गित्व-व्याघात । कर्णो रसोऽङ्गी प्रधानं वाह्यनिरन्धनादत्र विधेय । ग्यातयुद्धोत्थवृत्ते ध-प्रन्वादिमद्भावेनेष्ट्रियोगादिप्राचुर्यादिति ॥ [२३] ८८ ॥

वाला भाणमे वहे हुए [मुख तथा निर्वहण रूप दो] सन्धियों [भारती] वृत्ति तथा [एक] अङ्कसे युक्त, कर्णरस प्रधान वाग्युद्ध प्रदशक, [रूपकभेद] उत्सृष्टिकाङ्क [कहलाता] है ॥ [२३] ८८ ॥

इस कारिकाकी व्याख्या आरम्भ करनेसे पहले प्रथकार 'उत्सृष्टिकाङ्क' पदका निर्वाचन दिखलात है—

जिनकी सृष्टि अर्थात् जीवन उत्तमगोणमुख है इस प्रकारकी शोकग्रस्त स्त्रियों 'उत्सृष्टिका' [कहलाती है] उनसे अङ्कित [अर्थात् उनकी चर्चा करन वाला रूपकभेद] उत्सृष्टिकाङ्क [कहलाता] है । पुस्वामी' कहनेसे इसमें पुरुष अर्थात् मर्त्य ही नायक होते हैं । दुष्कात्मक कर्णरसकी प्रधानता होनेके कारण [उत्सृष्टिकाङ्कमें] दिव्य नायक नहीं होते हैं । क्योंकि दिव्यजनोंके सुखप्रधान होनेसे उनके साथ उस [दुष्कात्मक कर्णरस] का सम्बन्ध नहीं होता है [अतः इसमें दिव्य नायक नहीं होते हैं] । 'एषात्' अर्थात् महाभारत आदिमें प्रसिद्ध जो युद्ध, उसमें होन वाले कर्णरससे परिपूर्ण जो आख्यान वस्तु अथवा [महाभारतादिके आधारके बिना] स्वयं प्रसिद्ध जो विद्यमान या अविद्यमान आख्यान-वस्तु, उसकी रचना इसमें करनी चाहिए । भाणमें प्रतिपादित मुख तथा निर्वहण नामक दो संधि विलाप आदिका बाहुल्य होनेसे भारती मुख्य वृत्ति, तथा एक दिनमें समाप्त चरित वाला होनेसे एक अङ्क इसमें रखना चाहिए । शौर्य आदिके मर्त्य मत्त जनोंका एक दूसरेपर दोषारोपण वाग्युद्ध [कहलाता] है । उसका बाहुल्य [इस उत्सृष्टिकाङ्कमें] होना है । यहाँ मत्वर्थीय प्रत्ययके बाहुल्यार्थमें विहित होनेसे [वाग्युद्ध का अथ वाग्युद्धग्रहण करना चाहिए] । और यह वाग्युद्ध अनुशोचनपरायण जनोंका है इसलिए [वाग्युद्धम युद्ध पदके होनेसे] रौद्र का प्रवेश नहीं होता है इसलिए कर्णरसकी प्रधानताका व्याघात भी नहीं होता है [अर्थात् उत्सृष्टिकाङ्कमें अनुशोचनपरायण स्त्रियोंका वाग्युद्ध होनेपर भी उसमें रौद्ररस नहीं अपितु कर्णरस ही प्रधान रहता है] । इसमें अधिकांशमें वर्णित करके कर्णरस ही प्रधान रूपसे निबद्ध करना चाहिए । प्रसिद्ध युद्धात्मक इतिवृत्तमें वप-च-पदिके होनेसे इष्ट विधागादिका प्राचुर्य होनेके कारण [कर्णरस ही उत्सृष्टिकाङ्कका प्रधानरस होता है] ॥ [२३] ८८ ॥

अथ कृत्यशेषमुपदिशति—

[सूत्र १३७]—निर्वेदवाचो भूमनात्र योषितां परिदेवितम् ।

नरा निवृत्तसंग्रामाश्चेष्टाश्चित्रा विसंस्थुलाः ॥ [२४] ८६ ॥

अत्र उत्सृष्टिकाङ्के यामु श्रुतासु निर्वेदो जायते, ता निर्वेदवाचो बाहुल्येन निबन्धनीयाः । देवोपालम्भ आत्मनिन्दादिरूपानुशोचनारम्भं परिदेवितं च योषितां बहुधा वर्णनीयम् । पुनांशश्चोपरतोद्धतप्रहार-बन्ध-बन्ध-ताडनादिरूपसंग्रामाः पात्रत्वेन नियोज्याः । भूमिनिपात विवर्तितोरः शिरस्ताडन ख्येशत्रोटनादिका नानाप्रकाराश्चेष्टा विसंस्थुला दर्शनीयाः ।

अत्र चोत्सृष्टिकाङ्के उत्तमानां मध्यमानां च बहुविधव्यसनपातेन वैरस्यादितानां महाविपद्यपि अविपादिनां स्थिराणां च पुनश्चन्निर्दिष्टं श्यते इत्यविपादं चित्तस्यैव च विधातुं स्त्रीपरिदेवितवहुलं वृत्तं व्युत्पाद्यत इति ॥ [२४] ८६ ॥

अथेहामृगस्य लक्षणप्रपञ्चे पर्यायः—

[सूत्र १३८]—ईहामृगः सवीर्यङ्गो दिव्येशो दृप्तमानवः ।

एकाङ्कुश्चतुरङ्गो वा ख्याताख्यातेतिवृत्तवान् ॥ [२५] ९० ॥

अथ [उत्सृष्टिकाङ्के] करने योग्य अन्य बातोंका निर्देश करते हैं—

[सूत्र १३७]—इसमें मुख्य रूपसे स्त्रियोंके विलाप तथा [सत्तारकी अनित्यता दुःखमयत्वादिके प्रतिपादन द्वारा] वैराग्यकी जनक बातोंका वर्णन करना चाहिए । पुरुषोंकी संग्रामसे निवृत्ति और [भूषतन उरस्ताडन केशत्रोटनादि रूप] नाना प्रकारकी विशृङ्खल चेष्टाएँ प्रदर्शित करनी चाहिए ॥ [२४] ८६ ॥

उत्सृष्टिकाङ्के जिन [बातों] के सुननेसे वैराग्य उत्पन्न होता है इस प्रकारकी वैराग्यजनक बातें नियत करनी चाहिए । देवकी उपालम्भ देना, आत्मनिन्दा, और अनुशोचन रूप स्त्रियोंका विलाप, प्रबुर मात्रामे वर्णन करना चाहिए । और पुरुषोंकी उद्धत प्रहार बन्ध, बन्ध, ताडन आदि रूप संग्राम व्यापारोंसे उपरत पात्रके रूपमें दिखलाना चाहिए । भूमिपर लोटना, छाती पीटना, शिर फोडना, बाल नोचना, आदि नाना प्रकारकी विशृङ्खल चेष्टाएँ [स्त्रियोंकी] दिखलानी चाहिए ।

इस उत्सृष्टिकाङ्के नाना प्रकारकी व्यापत्तियोंके आ पडनेसे, दुःखसे पीड़ित, किन्तु महान् विपत्तिकालमें भी न घबडाने वाले, एव स्थिर रहने वाले, उत्तम तथा मध्यम-लोगोंकी फिर दुबारा उन्नति होती है इसलिये [मनुष्यको दुःखमें पड जानेपर भी] घबडाना नहीं चाहिए तथा चित्तको स्थिर रखना चाहिए इस बातकी शिक्षा देनेके लिए [अथवा विपत्तिग्रस्त पुरुषोंको धर्म तथा उत्साह प्रदान करनेके लिए] शिष्योंके विलापादिसे पूर्ण कथा प्रस्तुत की जाती है ॥ [२४] ८६ ॥

११ एकादश रूपक भेद 'ईहामृग' का लक्षण—

अथ 'ईहामृग' के लक्षण आदि करनेका प्रथम [प्राह] है—

[सू० १३८]—वीर्यङ्गसे युक्त, दिव्य नायक, तथा इस मानवप्रायो धाला, एक प्रह्व अथवा चार अङ्गुली वाला प्रतिष्ठ प्रथवा प्रसिद्ध कथापर आधारित—[२५] ९० ।

दिव्यस्त्रीहेतुसंग्रामो निविश्वासः सविड्वरः ।

स्त्र्यपहार-भेद-दण्डः प्रायो द्वादशनायकः ॥ [२६] ६१ ॥

ईहा चेष्टा मृगम्येव स्त्रीमात्रार्थो अत्र इति ईहामृग । सद्यः वीथ्यङ्गैर्व्याहारा-
दिभिर्वर्तते । दिव्येशो दिव्यनायक । द्वा उद्धता मानवा मर्त्यपुण्यपात्राण्यत्र । एकाङ्क-
म्यसुरद्वो वेति । अत्र च वृत्तमक्षेप-प्रित्तारानुरोधनी कर्मिणेन्द्रा प्रमाणम् । म्नाङ्कत्ये
म्नाङ्कनिर्वर्त्यमेव चरितम् । चतुरद्वये तु चतुर्दिननिर्वर्त्यम् । ग्याताग्यातं प्रसिद्धा-
प्रसिद्धं यदिति वृत्तं तद्वान । प्रशाम्यां च मनुमन्तं चतुरद्वये परस्परान्कसम्बद्धमिति-
वृत्तम् न तु समवकारवध्मम्यद्धम् ।

दिव्यस्त्रीहेतु संग्रामो यत्र । अत्र हि दिव्या नायकप्रियमनिच्छिन्ती प्रति-
नायकोऽपहरति । ततस्तन्निमित्ततो नायक-प्रतिनायकयोः संग्रामो निजन्धनीय ।
निर्गतो जिज्ञास परस्मिन् प्रत्ययो यस्मान् । श्रायेगानर्थपरम्परमर्धादयो विड्वर,
तन्मुक्त । स्त्रीनिमित्तमपहार-भेद-दण्डा यत्र । त च यथासम्भवं स्त्रीविषया अन्य-
विषया वा । भेद सामदानादिना विश्लेषोपपादम् । दण्डो बन्धादि । प्रायोऽग्रहणं
नायिकान्युनाधिकत्वग्यापनार्थम् ॥ [२५-२६] ६०-६१ ॥

दिव्य स्त्रीके कारण जिसमे संग्रामका प्रदर्शन किया जाय, परस्पर विश्वास रहित,
परस्पर स्पर्धादि रूप [विड्वरों] से युक्त, स्त्रियोंके अपहरण, भेद अथवा दण्डका प्रदर्शक,
श्रीर प्रायः बारह नायको वाला [रूपकभेद] ईहामृग होता है ॥ [२६] ६१ ॥

जिसमे 'मृग'के समान केवल स्त्रीके लिए 'ईहा' अर्थात् चेष्टा होती है वह 'ईहामृग'
[कहलाता] है [यह 'ईहामृग' शब्दका निर्वचन ठूपा] । यह व्याहारादि रूप धीम्यङ्गोंसे
युक्त होता है । दिव्य नायक तथा इस अर्थात् उद्धत मानवपात्र जिसमे हों । एक अथवा चार
अङ्क वाला हो । इस विषयमें [अर्थात् अङ्कोंकी संख्याके विषयमें] कथाभागके सक्षेप अथवा
विस्तारका अनुसरण करनेवाली पथिकी इच्छा ही प्रमाण है [कवि श्रायान वस्तुके सक्षेप
विस्तारक अनुसार अङ्कोंकी संख्या रत्नमे स्वतः प्र है] । एक अङ्क होनेपर एक दिनमे
समाप्त होने वाला ही अतिप्र रतना चाहिए । श्रीर चार अङ्क होनेपर चार दिनमे समाप्त
होने वाली कथा होनी चाहिए । प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध जो कथा, उत्तर पर आधारित । इसमे
प्रशंसा अर्थम मनुष्य प्रत्यय है । इसलिए चार अङ्क होनेपर उनकी कथा परस्पर सम्बद्ध होनी
चाहिए, समवकारके समान असम्बद्ध नहीं । ['समवकार'के लक्षण मे उसक अङ्कोंकी स्वयं
'निष्ठितार्थ' कहा था । 'ईहामृग'के अङ्क उससे भिन्न परस्पर सम्बद्ध होते हैं] ।

दिव्य स्त्रीके कारण जिसमे संग्राम हो । इसमे नायककी [प्रतिनायककी] न चाहने
वाली दिव्य स्त्रीकी प्रतिनायक [बलात्] अपहरण करता है । श्रीर उसके कारण नायक
तथा प्रतिनायकमे संग्राम दिखलाया जाता है । जिसमे दूसरेपर विश्वास न रहा हो । आवेग,
अनर्थ, परस्पर स्पर्धा आदि विड्वर' [कहलाते] हैं । उनसे युक्त स्त्रीके कारण जिसमे
अपहरण भेद श्रीर दण्ड होते हैं । ये यथासम्भव स्त्री के विषयमे अथवा अ-यके विषयमे
[होते हैं] । भेद अर्थात् साम या दानादिके द्वारा कूट डालना । दण्ड अर्थात् बन्ध आदि ।
प्रायः पदका ग्रहण [संख्याके] मूलत्व श्रीर अधिकत्वके सूचित करनेके लिए है ॥ [२५-२६]

अथ कृत्यशेषमुपदिशति—

[सूत्र १३६]—व्याजेनात्र रणाभावो ब्रधासन्ने शरीरिणि ।

ध्यायोगोक्ता रसाः सन्धि-वृत्तयोऽनुचिता रतिः ॥ [२७] ६२ ॥

ब्रधासन्ने समरानन्तरं भाविबधयोभ्ये शरीरिणि ध्याजेन पलायनादिना रणा-
भावो विधेयः । आस्तां साक्षान्, नेपथ्येऽपि बधो न वर्णनीयः । रसा वीर-रौद्राद्या
दीप्ताः । सन्धयो गर्भावमर्शवर्जितास्त्रयः । वृत्तयश्च कैशिकीहीना तिस्र एव । 'सन्धि-
वृत्तयः' इतीतरेतरयोगो द्वन्द्वः । अनुचिता रति रत्याभासः । स च प्रतिनायकस्य निष्प्रे-
मस्त्रीविषयत्वादिति ॥ [२७] ६२ ॥

अथ क्रमप्राप्तां वीथीं लक्षयति—

[सूत्र १४०]—सर्वस्वामि-रसा वीथी त्वेकाङ्का द्वचेकपात्रिका ।

मुखनिर्वाहसन्धिः स्यात्, सर्वरूपोपयोगिनी ॥ [२८] ६३ ॥

नाटकादिसर्वरूपकाणामेतदुक्तम् । वक्रोक्तिमार्गेण गमनाद् वीथीय वीथी ।

अथ [उत्सृष्टिकाङ्कमे] करने योग्य शेष बातोको कहते हैं—

[सूत्र १३६]—इसमें ब्रधासन्न व्यक्तिके [पलायन आदिके] बहानेसे युद्धकी समाप्ति
तथा ध्यायोगमें कहे हुए [वीर रौद्रादि दोस] रस सन्धि एव [कंशिकीको छोड़कर भारती,
सात्वती, आरभटी तीन] वृत्ति [होनी चाहिए], तथा एवं अनुचित रतिका वर्णन होना
चाहिए ॥ [२७] ६२ ॥

ब्रधासन्न अर्थात् बादमें शीघ्र ही जिसका बध होने वाला हो इस प्रकारके शरीरी
अर्थात् व्यक्तिके पलायन आदिके बहानेसे इसमें युद्धकी समाप्ति दिखलानी चाहिए । अर्थात्
साक्षात् [बध दिखलाए जानेकी] की बात तो दूर रही नेपथ्यमें भी बधका वर्णन नहीं करना
चाहिए । [ध्यायोगोक्त] रस अर्थात् वीर रौद्रादि दोस रस [होने चाहिए] । गर्भ और अथ-
मर्श सन्धिपयोको छोड़कर [मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण रूप तीन] सन्धि [होने चाहिए] ।
और कैशिकीको छोड़कर [भारती, सात्वती, आरभटी आदि] तीन ही वृत्तियाँ होनी चाहिए ।
'सन्धि-वृत्तय' इस पदमें इतरेतरयोगमें द्वन्द्व समास है अनुचित रति अर्थात् रत्याभासका
वर्णन होना चाहिए और वह प्रतिनायकके सन्नपूरक्त स्त्री-विषयक [रति प्रदर्शन] होनेसे
होता है ॥ [२७] ६२ ॥

द्वादश रूपक भेद 'वीथी'का लक्षण—

अथ क्रमप्राप्त 'वीथी' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १४०]—[उत्तम, मध्यम अधम] सब प्रकारके नायकोंसे और समस्त रसोंसे
युक्त, एक अङ्क और एक या दो पात्रों वाली, मुख तथा निर्वहण [रूप दो] सन्धिपयोंसे युक्त,
[अपने त्रयोवक्ष अङ्को द्वारा नाटक आदि] समस्त रूपकोंकी उपकारिणी 'वीथी' [कहलाती]
है ॥ [२८] ६३ ॥

[सर्वरूपोपयोगिनी] यह बात नाटकादि सभी रूपकोंके विषयमें कही गई है ।
[अर्थात् वीथीमें कहे जानेवाले तरह अङ्क नाटक सहित सभी रूपकोंमें होते हैं] । वक्रोक्तिमार्गसे
१. वीथीति ।

सर्वे स्वामिन उत्तम-मध्यम-अधमरूपाः । सर्वे रसारच शृङ्गारादयः पर्यायेणात्र विधात-
व्या । यदाह कोह्लः—

उत्तमाधममध्याभि-युक्ता प्रकृतिभिस्त्रिधा ।

एकहायां द्विहायां वा सा वीथीत्यभिसंज्ञिता ॥ इति ॥

शंकुकस्त्वधमप्रकृतेर्नायकत्वमनिच्छन् प्रहसन-भाणार्थं हास्यरसप्रधाने विटा-
देर्नायकत्वं प्रतिपादयन् कथमुपादेयः स्यादिति ?

‘एकांकां’ इत्यनेन एकदिवसप्रयोज्यमितिवृत्तमत्रेति दर्शयति । द्वाभ्यां पात्राभ्यां
उक्ति-प्रत्युक्तिवैचित्र्यविशिष्टाभ्यां, एकेन वा पात्रेण आकाशभाषितसमन्वितेन युक्ता
वीथी कविना स्वेच्छया विधेया । मुग्ध-निर्वाहाद्यौ मन्वी यस्याम् । सर्वेषां रूपकाणां
नाटकादीनां बक्रोक्त्यादिसंकुल-त्रयोदशाङ्गप्रवेशेन उपयोगिनी वैचित्र्यकारिका । अत
एवान्ते लक्षिता । बक्रोक्तिसहस्रसंकुलत्वेन शृङ्गार-हास्ययोः सूचनामात्रत्वान् कौशिकी-
वृत्तिहीनत्वम् । अत्र च बहुविधा बक्रोक्तिविशेषा उत्तम-मध्यम-अधमनायकानां
व्युत्पाद्यन्ते इति ॥ [२८] ६३ ॥

[इसमें कहे हुए प्रयोदश अङ्गोंके नाटकादि सारे रूपकोंमें] जानेसे वीथीके समान होनेके कारण
यह ‘वीथी’ कहलाती है । उत्तम, मध्यम, अधम रूप सारे स्वामी अर्थात् नायक [इसमें होते
हैं] । और शृङ्गार आदि सारे रस एक-एक करके पर्यायने इसमें वर्णन किए जाते हैं । जंसा
कि कोहलने कहा है—

उत्तम, अधम और मध्यम तीनों प्रकारके पात्रोंसे युक्त एक पात्रके द्वारा अथवा दो
पात्रोंके द्वारा सम्पादित [रूपक भेद] ‘वीथी’ कहलाती है ।

शंकुक जो अधम प्रकृतिको नायक नहीं मानना चाहते हैं । वे भाए, प्रहसन आदि
हास्यरसप्रधान [रूपकों] में बिट आदि [अधम पात्रों] को नायक [बनाने] का प्रतिपादन
करके कैसे शक्य य वचन हो सकते हैं ? [अर्थात् शंकुक एक ओर तो यह कहते हैं कि अधम
प्रकृतिका नायक नहीं होना चाहिए । दूसरी ओर भाए प्रहसन आदिमें अधम प्रकृतिके
विटादिको ही नायक बनानेका विधान करते हैं । ये दोनों बातें परस्पर विपरीत हैं इसलिए
उनका कथन उपादेय नहीं हो सकता है । इसलिए वहाँ वीथीमें जो अधम प्रकृतिके भी नायक
होने की बात कही गई है वह अनुचित नहीं है] ।

‘एकांका’ इस पदसे एक दिनमें समाप्त होनेवाले आख्यान-भागका ही इसमें वर्णन
होना चाहिए यह दिखलाया है । उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा वैचित्र्य युक्त दो पात्रोंसे, अथवा
आकाशभाषितका अवलम्ब करने वाले एक ही पात्रसे युक्त ‘वीथी’ कवि अपनी इच्छाके अनु-
सार बना सकता है । मुख तथा निर्वहण नामक दो ही सन्धि इसमें होते हैं । बक्रोक्ति आदिसे
युक्त प्रयोदश शीर्षकके नाटकादि [समस्त] रूपकोंमें उपयुक्त होनेसे उन सबकी उपयोगिनी
अर्थात् वैचित्र्यसम्पादिका [वीथी] होती है । इसीलिए सबके अन्तमें उत्तमका लक्षण किया गया
है । सहस्रों प्रकारकी बक्रोक्तियोंसे युक्त होनेके कारण हास्य तथा शृङ्गारकी सूचनामात्र
होनेसे इसको कौशिकीवृत्तिहीन कहा जा सकता है । इसमें उत्तम, मध्यम तथा अधम नायकों
के [अपनी अपनी] शक्तिके अनुकूल] अनेक प्रकारके बक्रोक्ति-भेदोंका [सामाजिक] ज्ञान

अथास्या अङ्गान्यभिधीयन्ते—

[सूत्र १४१]—व्याहारोऽधिबलं गण्डः प्रपञ्चास्त्रिगतं छलम् ।

असत्प्रलापो वाक्केली नालिका मृदवं मतम् ॥ [२६] ६४ ॥

उद्धात्यकावलगिते अथावस्पन्दितं स्मृतम् ।

भारतीवृत्तिवर्तनीं वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥ [३०] ६५ ॥

एतानि त्रयोदश वीथ्यङ्गानि विविधवक्रोक्त्यादिरूपत्वाद् भारत्यां वृत्तौ वर्तनशीलानि । अत एव वीथ्यप्येषामङ्गानां अङ्गीभूता भारतीवृत्त्येकदेशः ॥ [२६-३०] ६४-६५ ॥

(१) तत्र प्रथमं व्याहारः—

[सूत्र १४२]—अन्यार्था भाविदृष्टिर्वा व्याहारो हास्यलेशगीः ।

अन्योऽर्थः प्रयोजनं यस्याः, भाविनी वा भविष्यन्ती दृष्टिर्दृशितविषयोऽर्थो यस्याः सा । हास्ये लेशप्रधाना गो-वाणी । विविदोऽर्थ आह्वियतेऽनयेति व्याहारः ।

तत्रान्यार्थो यथा मालविकाग्निमित्रे तास्यप्रयोगावसाने मालविका निर्गन्तु-
मिच्छति ।

कराया जाता है ॥ [२८] ६३ ॥

अब इस [बीथी] के [तेरह] अङ्ग कहते हैं—

[सूत्र १४१]—१. व्याहार, २. अधिबल, ३. गण्ड, ४. प्रपञ्च, ५. त्रिगत, ६. छल, ७. असत्प्रलाप, ८. वाक्केलि, ९. नालिका, १०. मृदवं, ११. उद्धात्यक, १२. अवलगित, १३. अवस्पन्दित भारती-वृत्तिमें होने वाले ये तेरह बीथीके अङ्ग हैं ॥ [२६-३०] ६४-६५ ॥

ये तेरहों अङ्ग विविध प्रकारकी वक्रोक्ति रूप होनेसे । [वाग्ध्यापार रूप] भारती वृत्तिमें रहने वाले होते हैं । इसीलिए इन वीथ्यङ्गोंको अङ्गीभूत 'बीथी' भी भारती-वृत्तिका ही एक भाग है ॥ [२६-३०] ६४-६५ ॥

(१) व्याहार नामक प्रथम वीथ्यङ्ग—

उन [तेरह वीथ्यङ्गों] मेंसे पहला 'व्याहार' है [उसका संक्षेप निम्न प्रकार करते हैं]—

[सूत्र १४२]—[कथित प्रयोजनसे] अन्य प्रयोजन वाली अथवा आगे होने वाले [किसी विशेष] प्रयोजनसे हास्यके लेशसे युक्त कही गई वाणी 'व्याहार' [कहलाती] है ।

[सामान्य कथित प्रयोजनसे] अन्य अर्थ, अर्थात् प्रयोजन जिसका हो अथवा भाविनी अर्थात् आगे होने वाली दृष्टि अर्थात् दिखलाए जाने वाला अर्थ जिसका विषय हो, इस प्रकार की, हास्यके सम्पर्कसे युक्त वाणी, [व्याहार कहलाती] है । [व्याहार शब्दका निर्वचन दिखलाते हैं]—जिस [वाणी] के द्वारा विविध अर्थोंका आहरण किया जाता है वह व्याहार [कहलाती] है ।

उनमेंसे अर्थार्थ विषयक व्याहारका उदाहरण जैसे मालविकाग्निमित्रमें नृत्यप्रयोगके समाप्त होनेपर मालविका बाहर जाना चाहती है । [उस समय विदूषक उसको रोक्ता हुआ कहता है कि—

“विदूषक — भोदि ! चिह्न दाव, विसुमरिदं खु वो किंचि तं ताव पुच्छिस्सं ।

[भवति ! तिष्ठ तावद् विस्मृतं खलु व किञ्चिन् तन् तावन् प्रक्ष्यामि] ।

गणदास.—वत्से ! तिष्ठ तावदुपेशविशुद्धौ गमिष्यसि । [मालविका स्थिता] ।

धारणी—गोदमवयसं पि अज्जो हियए पमाणीकरेदि ।

[गोतमवचनमपि श्रार्यो हृदये प्रमाणीकरोति] ।

गणदास—देवि मा मैवम । देवप्रत्ययान् सम्भाव्यते सूक्ष्मदर्शी गोतम ।

परश—

मन्दोऽप्यमन्दतां याति संसर्गेण विपश्चित ।

पङ्कच्छिदः फलस्येव निरुपेणाविलं पय ॥

[विदूषकं विलोक्य] कि विवक्षितमार्यस्य ?

विदूषक—पढमं दाव पेक्खगे पुच्छ । पच्छा जो मए कम्मभेदो लक्खिन्दो तं भण्णिस्सं । [प्रथमं तावन् प्रेक्षकान् पृच्छ, परचाद् वो मया क्रमभेदो लक्षितम्तं भणिष्यामि] ।

गणदास—भगवति ! गुणो वा दोषो वा यथादृष्टमभिधीयताम् ।

परित्राजिका—यथा मे दर्शनं तथा सर्वमनवद्यम् ।

गणदास—देव कथं मन्यते ?

विदूषक—आप जरा ठहरिए । आप कुछ भूल गई हैं उसके विषय मे पूछता हूँ ।

गणदास—[मालविकाका नृत्य-शिक्षक गुण है, वह कहता है] वत्से ! ठहर जाओ ।

[विदूषक जो कुछ पूछना चाहता है उसका उत्तर देकर] उपदेशकी शुद्धता हो जानेपर जाना ।

[मालविका रुक जाती है] ।

धारणी—[राजाकी प्रधान रानी है वह मालविकाका अधिक देर राजाके सामने रहना पसन्द नहीं करती है इसलिए कहती है कि] क्या इस [गोतम] मूर्ख [विदूषक] के वचनको भी श्रायं अपने हृदयमे प्रमाण मानेंगे । [श्रयत् इत मूर्खकी बात ध्यान देने योग्य नहीं है] ।

गणदास—देवि ! ऐसा मत कहिए । महाराजके सम्बन्धसे [गोतम विदूषकमे भी नृत्यकी बारीकियोंको समझ सकनेकी क्षमता हो सकती है । इसलिए] गोतम सूक्ष्मदर्शी हो सकता है । देखिए—

विद्वान्के ससर्गसे मूर्ख भी विद्वत्ताको प्राप्त कर सकता है । [जलकी] मलिनताको दूर करने वाले [कतकवृक्षके] फलके ससर्गसे जैसे मलिन जल भी शुद्ध हो जाता है ।

[विदूषकको देखकर] आप क्या कहना चाहते हैं ?

विदूषक—पहिले [जिसको इस नृत्यकी परीक्षामे निर्णायक नियत किया गया है उन] प्रेक्षक-महोदयसे पूछो, उसके बाद मैंने जो कमी देखी है उसको बतलाऊंगा ।

गणदास—[परित्राजिकासे] भगवति ! [इस मालविकाके नृत्यमे] गुण या दोष जो आपने देखा हो उसे कहिए ।

परित्राजिका—जहाँ तक मे समझतो हूँ सब कुछ ठीक है ।

गणदास—[राजासे] महाराजकी क्या सम्मति है ?

राजा—धयमपि स्वपक्षं प्रति शिथिलाभिमानाः संवृत्ताः ।

गणदासः—देव ! अथ नर्तयिताऽस्मि ।

धारणी—दिट्ठ्या पेक्खगाराधरणेण [गणदासमवलोक्य] अञ्जो बड्ढदि ।
[दिट्ठ्या प्रेक्षकाराधनेन आर्यो वर्धते ।

गणदासः—देवीपरिमहो मे वृद्धिहेतुः । [विदूषकं विलोक्य] बवेदानी, यत् ते मनः कर्पति ।

विदूषकः—पठमोवदेसदंसणे पढमं थंभणस्त पूया इच्छिदव्वा, सा सण लंघिदा ।

[प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मण्य पूजा पृथ्व्या, सा त्वया लंघिता ।]

परिव्राजिका—अहो प्रयोगाभ्यन्तरः प्रश्न !

[सर्वे प्रहसन्ति मालवी स्मितं करोति ।]

इत्ययं नायकस्य विश्वधनायिकादर्शनार्थं प्रयुक्तो हास्यलेशकारित्वाद् व्याहारः ।

भाविदृष्टिर्वथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के—

राजा—हमारा भी अपने पक्षमें [अर्थात् मालविकाकी प्रतिद्वंद्विनीके विषयमें] अभिमान नहीं रहा [मालविकाकी जीत हुई] ।

गणदास—देव ! आज मैं नर्तयिता [सच्चा नृत्य-शिक्षक कहलानेका अधिकारी] हूँ । [क्योंकि आप मेरे कार्य से सन्तुष्ट हुए हैं] ।

धारणी—सौभाग्यसे प्रेक्षक [अर्थात् निर्णायक] को प्रसन्न करके आपकी [वृद्धि] विजय हो रही है ।

गणदास—आपका सेवक होना ही मेरी वृद्धिका कारण है । [विदूषककी ओर देखकर], अच्छा, अब तुम्हारा मन क्या कहता है सो बताओ ?

विदूषक—पहिली बार उपदेशका प्रदर्शन करते समय [अर्थात् अपने कलाकी परीक्षा देते समय] पहिले ब्राह्मणवेवताकी पूजा करना चाहिए सो आपने नहीं की है ।

परिव्राजिका—अहो ! प्रयोगकी बड़ी बारीकीका प्रश्न है ।

[सब लोग जोरसे हँसने लगते हैं । मालविका मुस्कराती है ।]

यह नायक [राजा] को विश्वध रूपसे [अधिक काल तक] नायिका को दिखलाने [रूप अन्याय] के लिए [विदूषक द्वारा] तनिक हास्यकारी [चमक कहा गया है इसलिए यह] व्याहार [का उदाहरण] है ।

भाविदृष्टि [रूप द्वितीय प्रकारके व्याहारका उदाहरण] जैसे रत्नावलीके द्वितीय अङ्क में राजा [कहते हैं]—

यह श्लोक श्लेषयुक्त है । इसमें दिए गए विशेषण लता और नारी दोनों पक्षोंमें लगते हैं । राजा समदना नारी-सी दीखनेवाली लताको देखकर कह रहे हैं कि इसकी ओर देखनेसे महारानी समदना नारीका प्रबलोकन मानकर अवश्य नाराज होगी । ओर भागे चलकर इसी प्रसंगमें समदना सागरिकाके साथ राजाको देखकर महारानीका मुख क्रोधसे लाल हो जाता है । इसलिए इस दलोकमें जो 'कोपविपाटलक्षुति मुख देभ्याः करिप्याभ्यहम्' कहा है वह भाविदृष्टि विषयक हास्यलेशोक्ति होनेसे व्याहार नामक वीच्यङ्गका उदाहरण है । इसी

राजा—उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुरमचि प्रारब्धजृम्भां कृष्णा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीभात्मन ।

“अयोद्यानलतामिमां समदर्ना नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलश्रुति मुखं देव्या करिष्याम्यहम् ॥”

अत्र राज्ञा वासवदत्तां प्रति भाव्यर्थदर्शनं ह्यस्येनोक्तम् ।

अन्ये तु वर्तमानप्रत्यक्षार्थवाचकं हास्यलेशकरं वचो व्याहारमिच्छन्ति ।
यथा मृच्छकटिका विदूषको गणिकाया वसतसेनाया गृहं प्रविशान वसतसेनाया मातरं
दृष्ट्वा पृच्छति ।

“विदूषक — का एसा बंधुला ?

[का एपा बंधुला ?]

चेटी—एसा अज्जुआए जणखी अत्तिया ।

[एपा आर्याया जननी अत्तिका] ।

विदूषक — जदि मरे ता सीयालसहस्सगस पज्जत्तिका । अथ कि एद पवेसिय’

दुवारसोहा निम्मविदा ? आदु उक्खं देवेण पवेसिदा ?

वा अर्थ निम्न प्रकार है—

“प्रचुर उत्कलिकाभो [नारी पक्षमें प्रियमिलनकी उत्कण्ठाओ और लतापक्षमें कलियों]
से परिपूर्ण, [नारी पक्षमें प्रियवियोगके कारण और लतापक्षमें फूलोंसे लदी होनेके कारण]
घवलकान्तिवाली, जृम्भायुक्त [और ‘प्रारब्धजृम्भा’ में ‘जृम्भा’ पदसे नारी पक्षमें जम्भाई तथा
लतापक्षमें कुसुमोंका विकास अर्थ लेना चाहिए] और निरन्तर होनेवाले वायुके भोंकोंसे
[नारी पक्षमें ‘श्वसनोद्गम’ का अर्थ दीर्घ निश्वास और लतापक्षमें इसका अर्थ वायुके भोंके
लेना चाहिए] से अपने आयास [नारी पक्षमें अपने दुःख तथा लतापक्षमें अपने कष्ट] को
प्रकाशित करती हुई अन्य नारीके समान [तुल्य विशेषणोंवाली] इस उद्यानलताको देखता
हुआ आज में निश्चय ही देवी [महारानी] के मुखको क्रोधसे आरत्तयण कर दूंगा ।”

इसमें राजाने वासवदत्ताके प्रति भावी अर्थका दर्शन [अर्थात् आगे होनेवाली घटना]
को हास्यके रूपमें कहा है । [इसलिए यह भाविदृष्टि रूप ‘व्याहार’ नामक वीच्यञ्जका उदा-
हरण है] ।

अन्य लोग तो वर्तमान प्रत्यक्ष अर्थके बोधक हास्यमय वचनको व्याहार कहते हैं ।
जैसे मृच्छकटिकामें वसन्तसेना देव्याके घरमें प्रविष्ट होते समय वसन्तसेनाकी माताको देख-
कर विदूषक पूछता है—

‘विदूषक — यह [बंधुला] रडी कौन है ?

चेटी—यह आर्या [वसन्तसेना] की माता अत्तिका है ।

विदूषक—यदि [यह] मरे तो हजारो शृङ्गालोंकेलिए [भोजनार्थ] पर्याप्त है । और
[यह तो बतनाओ कि] क्या इसको [मकानके भीतर] प्रविष्ट करनेके बाद द्वारकी शोभाका
निर्माण करवाया या अथवा ऊपरसे उठाकर भीतर लाये थे [योंकि यह इतनी अधिक मोटी
है कि द्वारमेंसे तो यह भीतर आ नहीं सकती है] ।

१. पविसि ।

[यदि भ्रियेत तदा शृंगालसहस्रस्य पयोजा । अथ किमेतां प्रवेश्य द्वारशोभा निर्मापिता ? अथचावस्कंदेन प्रवेशिता ?]

चेटी—अव्य ! मा एतित्वं अनेकरसु । अत्तिका चाउत्थिण्णं धाधीयदि ।

[आर्य ! मा ग्तावदन्वीक्ष्व । अत्तिका चातुर्थिकेन वाध्थते]

विदूषकः—भयवं चाउत्थिय मं पि वंभणं अणुकपेहि । इति

[भगवन् चातुर्थिक ! मामपि ब्राह्मणमनुकम्पस्व] ।”

यथा वा नलविलासे लम्बस्तनीकापालिकीं प्रति विदूषकः—

“एकं दाव मे संसयं भंजेहि । मह वंभणीण माया शूलकुट्टिणी जा पाडलिपुत्ते वसदि सा किं तुमं, आदु अन्ना का वि । इत्यादीति ।

[एकं तावन्मे संशयं भङ्ग्व । मम ब्राह्मण्या माता शूलकुट्टिनी या पाडलिपुत्ते वसति, सा किं त्वम् ? उतान्या कापि ?]

(२) अथाधिवलम्—

[सूत्र १४३]—मित्यो जल्पे स्वपक्षस्य स्थापनाधिवलं बलात् ॥

॥ [३१] ६६ ॥

मित्यः परस्परं जल्पे उक्ति-प्रत्युक्तिक्रमे क्रियमाणे स्वपक्षस्य स्वाभ्युपगमस्य परस्परप्रज्ञोपजीवनबलान् स्थापना सुघटितत्वं क्रियते यत्र तदधिकबलसम्बन्धाधिवलम् ।

चेटी—आर्य ! इतना ही [मोटा इनको] मत समझो । माताजी [ब्राह्मणकी] चातुर्थिक [चौथे दिन आनेवाले चर] से घोटित है [इसलिए डुबली हो गई है] ।

विदूषक—हे भगवन् चातुर्थिक ! [यदि आपकी कृपासे यह इतनी मोटी है तो फिर] मुझ ब्राह्मणके ऊपरभी कृपा कीजिए ।”

यह वर्तमान प्रत्यक्ष अर्थका बोधक हास्यकर वचन है ।

[अथवा] जैसे नलविलासमे लम्बस्तनी कापालिकाके प्रति विदूषक [कहता है]—

‘विदूषक—मेरे एक संशयको दूर करो । [यह बताओ कि] मेरी ब्राह्मणीकी [अर्थात् मेरी पत्नीकी] शूलकुट्टिनी नामकी माता जो पटनामे रहती है वह क्या तुम ही हो, अथवा कोई और है ? इत्यदि [भी वर्तमान प्रत्यक्ष अर्थं विषयक हास्यकर वचन होनेसे इस प्रकारके व्याहारका उदाहरण है ।’

(२) ‘अधिवल’ नामक द्वितीय धीश्यङ्ग—

अथ अधिवलं [नामक द्वितीय विष्यङ्गका लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १४३]—परस्पर वार्तालापमें बलपूर्वक अपने पक्षकी स्थापना करना ‘अधिवल’ [कहाता] है । [३१] ६६ ।

‘मित्यः’ अर्थात् परस्पर, ‘जल्पे’ अर्थात् उक्ति प्रत्युक्तिके क्रममे [कपनोपकरणके करनेमें] अपने पक्ष अर्थात् अपने सिद्धांतका परस्पर बुद्धिका अथवा लम्बन कर जो स्थापन अर्थात् युक्ति-युक्ततत्त्व सिद्ध किया जाता है वह अधिक बलका सम्बन्ध होनेसे ‘अधिवल’ [कहाता] है ।

१. वाणी ।

२. मूल ।

यथा कृत्यारावणे प्रथमेऽङ्के मीतावेपधारिण्या 'शूर्पणख्या सह मन्दादे
[नेपथ्ये]—

“हा भ्रातर्लक्ष्मण ! परित्रायस्व मा परित्रायय ।

[इति श्रुत्वा 'शूर्पणखा मोहमुपगता । तस्या च मढाया]

लक्ष्मण—आर्ये ! ममाश्वसिद्धि समाशसिद्धि ।

शूर्पणखा—[अच्छिणी उन्मील्य सन्नेध] आ अणज्ज ! अज्ज पि तुम चिट्ठमि
ग्येव । अहो ! दाणि सि तुम निम्ससो निग्घणो य चिट्ठु दाप भादुयसिणेहो, क्व
णाम इकराडकुलसभवेण महारत्तिण्ण भविय प्व तण पयसिय ? ए भणामि प्प-
मक्कन्दतो सत्तु पि न उवेक्कीयदि किं पुण अज्जउत्तो ?

[आ अनार्य ! अद्यापि त्व लिप्टस्येव । अहो इदानीमसि त्व नृशसो निर्घृणश्च
लिप्टतु तावद् भ्रातृग्नेह, कथं नाम इत्थाडकुलसम्भवेन महारत्तिरेण भूत्वैव त्वया
व्यपसितम् ? ननु भणामि प्पमाक्कन्दन् शानुरपि नोपेक्ष्यत किं पुनरार्यपुत्र ।

इति मन्वृतम्] ।

लक्ष्मण—आर्ये ! ननु त्वदर्थं पत्र आर्येण स्थापितोऽग्निम् ।

शूर्पणखा—कुमार ! पत्र मम अर्थो कत्रो होदि । एवं च अह् परिरेक्किज्जा
होमि । ता सन्नेधा अत्र ग्येव दे अणिट्ठ अग्निपपाय लक्खेमि । इत्थादि ।

[कुमार ! पत्र ममार्थं कृतो भवति । एवं चाह परिरेक्षिता भवामि ? तत्सर्व-
थान्यमेव तेऽनिष्टमभिप्रायं लक्ष्यामि । इति संम्वृतम्] ।”

यथा वा रघुविलासे—

जैसे कृत्यारावणे प्रथम अङ्कमें सीताका घेव धारण किए हुए शूर्पणखारू साथ
सयादमे [अर्थात् सवादके शवसरपर] नेपथ्यमें—

“हे भाई लक्ष्मण ! मुझे बचाओ बचाओ ।

[ऐसा मुनकर शूर्पणखा मूर्च्छित हो जाती है]

श्रीर उसक मूर्च्छित हो जानेपर लक्ष्मण [कहते हैं]—आर्ये ! घब धारण करो ।

शूर्पणखा—[आँखें खोलकर क्रोधपूर्वक कहती है] अरे दुष्ट अनाथ ! तुम अभी खड
हुए हो हो । अरे ! तब तो तुम बड क्रूर श्रीर निलज्ज [प्रतीत होते] हो । भाईके स्नहकी
यात जाने भी दो, तो भी इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न महान् क्षत्रिय हाकर तुमने यह कैसे किया ?
[अब तक तुम गए क्यों नहीं ?] मैं कहती हूँ कि इस प्रकार पुकारनेपर शत्रुकी भी उपेक्षा
नहीं की जा सकती है [शत्रुकी रक्षाके लिए भी तुरन्त जाना चाहिए या] फिर श्रापपुत्रकी तो
यात ही क्या है ?

लक्ष्मण—आर्ये ! आपकी ही रक्षाकेलिए मुझ श्राप [रामचन्द्र]ने नियुक्त किया है ।

शूर्पणखा—कुमार ! क्या इस प्रकार मेरा काम होगा । और क्या इस प्रकार मेरी
रक्षा होगी । इसलिये मैं तुम्हारा कुछ श्रीर ही अनिष्ट अभिप्राय देखती हूँ । [जिसके कारण
तुम अभी तक नहीं गए] ।

यथा वा जमे रघुविलासमें—

“मय — देव ! सीतापहारमतिररा जुगुप्सते लङ्कालोक ।

रावण — [मात्सेपम्] सीतापहारमतिररा जुगुप्सते लङ्कालोक ?

मय — [मभयम्] अथ किम् ।

रावण — [सावहेलम्] —

अविदितपथ प्रेम्णा वाह्यानुदागरजा जडो,

चटतु दयितामैत्रीवन्ध्यो यथाप्रतिभं जन ।

मम पुनरिय सीता राज्य सुगं विभय प्रिय,

हृदयमसरो मित्रं मन्त्री रतिर्धृतिस्तस्य ॥

[पुन सरोवटम्] आर्य ! किमेकमस्य पामरप्रकृतेर्लङ्कालोकस्य विचारचातुरी-
वैमुख्यमुद्गावयामि—

अस्या प्रेम ममेव चाङ्गमनसयोर्त्तीर्णमन्यस्य चेद्,

वैदेह्या नयनैरुल्लेखलवणप्रारोहभूमौ भवेन् ।

कापेय परिरुच्य स प्रन्दयन्नुल्लुण्ठभूयं हठान्,

किञ्चिन् कामितमादधीत, कृतवान् वेधाम्तु मा रावणम् ॥

अपरथा पुनराये ।

अहयुनिन्ऱाप्रणीरवगणय्य धर्मार्गला,

प्रमह्य यदि जानकीमभिरमेत लङ्कापति ।

‘मय—[रावणसे] देव । लङ्कावासी लोग सीताके अपहरणकी अत्यन्त निन्दा करते हैं ।

रावण—[क्रोधपूर्वक] आर्य ! क्या लङ्कावासी लोग सीताके अपहरणकी अत्यन्त निन्दा करते हैं ?

मय—[डरता हुआ] और क्या ।

रावण [अनादर पूर्वक]—

प्रममागको न समभनेवाले, अनुरागकी पीडाका अनुभव करनेमे अक्षम और प्रियजन की मैत्रीसे रहित, मूल लोग अपनी समभके अनुसार चाहे जो कहें । पर मेरे लिए तो यह सीता ही राज्य, सुख, वैभव प्रिय, हृदय, प्राण, मित्र, मन्त्री, धर्म और आनन्द सब कुछ है ।

[फिर खेदपूर्वक कहता है] आर्य ! इन पामर-प्रकृति वाले लङ्कावासियोंकी अविचार-
शीलताको क्या कहें—

यदि वाणी और मनकी सीमाको पार कर जाने वाले मेरे [प्रेमके] समान किसी औरका केवल नेत्रोसे आस्वादन करने योग्य लावण्यके अकुरकी जन्मभूमि सीतामे [मेरा जैसा] प्रेम हो जाय तो वह निश्चय ही [उसको] जबरदस्ती पकडकर आन दातिरेक पूर्वक धानरता [धानरके समान काम-प्रवृत्ति] को प्रकट करता हुआ कुछ [अद्भुत] काम व्यापार करने लगता । यह तो कहा कि विघाताने मुझे [अत्यन्त धर्मशाली] रावण बनाया है [कि मैंने अपने हाथमे होने और उसके लिए इतना काट उठानेपर भी अभी तक उसके साथ बलात्कार नहीं किया है] ।

नहीं तो हे आर्य !—

अभिमानियोंका अग्रणी लङ्कापति, धर्ममर्यादाका परित्याग करके जानकीके साथ

अमुष्य ननु रोदसीत्रिजयनिष्णदोष्ण समि-
न्मग्न्यरसिन्सदा क इव नाम वैतण्डित् । ॥

मय — [अपवार्यं मन्दोदरीं प्रति] वत्से । यथाप्रथितमभिधाने लङ्कापतीं
किमतं परं विद्वापयामि । इति ।”

केचित्तु ‘अन्योऽन्यत्राख्यायिकयोस्मिन् गपर्याऽधिबल भवेन्’ इति पठन्ति ।
एतदप्यर्थाभेदादनेन सगृहीतमिति ॥ [३१] ६६ ॥

(३) अथ गण्ड —

[सूत्र १४४]—गण्डोऽकस्माद् यदन्यार्थं प्रस्तुतानुगतं वचः ।

अन्याभिप्रायेणास्मान् प्रत्युक्तं प्रतिवचनतयानुच्चारितमपि प्रतिवचनरूपतया
प्रदान्तेन यन् सम्यद् वचनं, तद् दुष्टार्थगर्भत्वाद् दुष्टशोणितगर्भगण्ड इव ‘गण्ड’ ।
यथोत्तरचरिते—

“राम — [सीतामवलोक्य]—

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो —

रमायम्या रपशीं वपुषि बहुलश्चन्द्रनरम ।

अथ बाहु कण्ठे शिशिरमग्गो मौक्तिकर

किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यन्तु विरट् ॥

बलान् रमण करने लगे तो छाया-पृथिवीकी विजय करनेमें समर्थ भुजदण्ड वाले, उसके साथ
पुष्ट मृगयाका रसिक कौन बाधक बन सकता है ?

मय—[श्रीर कोई न सुन सके इस प्रकार—अपवार्यं—मन्दोदरीके प्रति वत्से । [यह
यात तो] लङ्कापति ठीक ही कह रहे हैं तब मैं श्रीर क्या कहूँ ?”

यहां परस्पर सवादमें रावणने युक्तिपोंके बलसे प्रबलताके साथ अपने पक्षकी स्थापना
की है। अतः यह ‘अधिबल’ नामक द्वितीय बोध्यङ्गका उदाहरण है ।

कोई लोग स्वर्षाके कारण एक दूसरेमें घडकर वाक्योंके वचनकी ‘अधिबल’ कहते हैं ।
अपने भेद न होनेसे [स्वर्षात् अयंत इसी पूर्व लक्षण वाले अधिबलके समान होनेसे] उसका
भी अतर्भाव इसी [पूर्वोक्त लक्षणमें] हो जाता है ॥ [३१] ६६ ॥

(३) गण्ड नामक तृतीय बोध्यङ्ग

३—अथ गण्ड [नामक तृतीय बोध्यङ्गका लक्षणदि करते हैं]—

[सूत्र १४४] अन्यार्थक होनेपर भी प्रस्तुतसे सम्यक् हो जाने वाला जो वचन
अकस्मात् कहा जाय वह ‘गण्ड’ कहलाता है ।

अन्य अभिप्रायसे अकस्मान् वाला गया जो वचन प्रत्युत्तरके रूपमें उच्चारित न
होनेपर भी, प्रकृतके साथ प्रत्युत्तर रूपमें सद्गत हो जाता है वह, अनिष्ट अर्थकी अपने भीतर
लिए हुए होनेसे गन्दे खूनसे गरे हुए फोड़के समान गण्ड’ कहनाता है । जैसे उत्तर-
रामचरितमें—

“राम [सीताको देखकर]—

यह [सीता] घरमें लक्ष्मीके समान है यह नेत्रोंके लिए अमृतकी शनाकाके समान
[मुसब] है । इसका यह [सीता] स्वर्षा शरीरमें प्रचुर घटन रसके लेपके समान है । इसका

प्रविश्य—[प्रतीहारी] देव उपस्थितो

[देव उपस्थितः ।]

रामः—अयि ! क. ?

प्रतीहारी—देवस्य आसन्नपरिचारञ्चो दुम्सुहो इति

[देवस्य आसन्नपरिचारको दुम्सुः.] इति ॥”

अत्राकरमात् प्रतीहारवचनमन्याभिप्रायप्रयुक्तं प्रस्तुतरामवचसा संयुज्यमानत्वाद्
'गण्डः' ।

यथा वा बालिकावञ्चितके—

कंस.—रिष्टस्तावदुदग्रशृंगविकट. शैलेन्द्रकल्पो वृषः,

सप्रद्वीपसमुद्रजस्य पयस. शोपक्षमा पूतना ।

केशी वाजितनुः खुरैर्विघटयेदापन्नगान्मेदिनीं,

साथं बन्धुभिरेवमूर्जितवर्लं कः कंसमास्कन्दति ।

[नेपथ्ये]

जो अन्नञ्चो पसूञ्चो अन्नेण य वडिदञ्चो महुप्पहवो ।

कण्हो सो परउट्ठो मारेइ न कोइ धारेइ ॥

[योऽन्यत. प्रसूतोऽन्येन च वर्धितो मधुप्रभवः ।

कृष्ण. स परपुष्टो मारयति न कोऽपि न धारयति ।]”

यह बाहु गलेमे शीतल और चिकना हार है । इसका कौनसा भाग प्रिय नहीं है ? [सब कुछ ही प्रिय है] । किन्तु यदि कुछ असह्य है तो वह इसका वियोग है ।

[प्रविष्ट होकर] प्रतीहारी—देव ! उपस्थित है ।

राम—अरे कौन ? [उपस्थित है] ।

प्रतीहारी—प्रापका आसन्न परिचारक दुम्सुः ।”

इस [संवाद] में अन्य अभिप्रायसे प्रयुक्त [अर्थात् दुम्सुः]के आगमनकी सूचना देनेके अभिप्रायसे कहा गया भी प्रतीहारीका वचन [‘यदि परमसह्यस्तु विरह.’ इस] प्रस्तुत राम वचनके साथके-साथ मिल जानेसे ‘गण्ड’ [नामक बोध्यङ्गका उदाहरण बन गया है] ।

अथवा जैसे ‘बालिकावञ्चितकं’ में—

“कस—बडे बडे सींगोंसे भयङ्कर रिष्ट, महान् पर्वतके समान वृष, रातों द्वीपोंके लमुद्रोंमे होनेवाले सारे जलको सोख जानेमे समर्थ पूतना, [ये सब मेरे सहायक हैं] । और अश्व-रूपधारी केशी अपने खुरोंसे पाताल तक भूमिको खोद डाल सकता है इस प्रकारके बन्धुओं [सहायकों] के कारण अत्यन्त शक्तिशाली कसको कौन पराजित कर सकता है ?

[नेपथ्ये]

जो किसी दूसरेसे उत्पन्न हुआ और किसी दूसरेसे पाला गया [अर्थात् देवकी-वसुदेव का पुत्र और नन्दके द्वार पाला गया कृष्ण] वह अत्यन्त बलशाली [परिपुष्ट, मधुसे उत्पन्न] मायव कृष्ण भार रहा है और कोई बचानेवाला नहीं है ।”

रगभूमिमे प्रविष्ट [कस रूप] पात्रके द्वारा पठित वचनके साथ मिल जाने वाला यह नेपथ्य-पठित अनिष्टार्थ सूचक वचन गण्ड [का उदाहरण बन गया] है ।

इदं रंगमध्यप्रविष्टपात्रपठितेन वचसा नेपथ्यपठितमनिष्टार्थसूचकं संयुज्यमानं
चूलिकागण्डः ।

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

“राजा—कपिञ्जल ! पुरो गत्वा विलोकय, आश्रम. कियति दूरे ?
[‘यदादिशति देव इत्यभिधाय कपिञ्जलो निष्क्रान्तः.]

राजा ! [सखेदम्]—

विद् मां भ्रूणविधातिनं सकलपुं धिग् जीवितं मेऽयिल—

क्षोणीलोककरोपतापजनिता धिग् धिग् ममैता श्रिय ।

पुण्यास्ते कर्णामृतार्द्रमनसो ये नाम वाचंयमा ,

हस्तारोपितशर्मणि प्रतिकर्ल वृत्ता शुभे कर्मणि ॥

कुन्तल ! वयमिदानीं सर्वस्वपरित्यागमीहामहे ।

[प्रविश्य] कपिञ्जल —देव प्रत्यासन्नं परय—

राजा—किं सर्वस्वपरित्यागम् ?

कपिञ्जल.—नहि, मुनीनामाश्रमम् ॥” इति ।

इस दलोकमें मुख्य रूपसे वनन्तमे होनेवाले कोकिलके वियोगियो को मार डालनेवाले भर्षात् अत्यन्त सन्तापदायक कलरवका वणन है । परन्तु प्रवृत्तमे वसको मारनेवाले कृष्ण के साथ भी उसका सम्बन्ध है । ‘अन्यत प्रसूत’, ‘अन्येन वर्धित’, ‘परपुष्ट’ आदि सब पद कोकिलके वाचक भी होते हैं और कृष्णपरक भी । कोकिलका नाम ‘परभृत’ भी है । वयोकिक कोकिल अपने बच्चोका पालन कोप्रोके द्वारा कराता है । कृष्ण भी परभृत दूतरेके द्वारा पाले हुए हैं । ‘कृष्ण’ तथा ‘मधुप्रभव’ पद भी कोकिल पक्ष तथा कृष्ण दोनोंमें लगते हैं । यह कोकिल वियोगी जनो को सन्तापदायक हाता है । मुख्य रूपसे यहाँ उसका ही उल्लेख है । किन्तु अन्यायक होनेपर भी वह वाक्य प्रस्तुत वसके वचनके साथ मिल गया है । इसलिये यह गण्डका उदाहरण बन गया है ।

अथवा जैसे सत्य हरिश्चन्द्रमे—

“राजा—कपिञ्जल जरा आगे बढ़कर देखो कि आश्रम कितनी दूर है ?

[जो आना, कहकर कपिञ्जल बाहर चला जाता है] ।

राजा—[खेदपूर्वक]—

भ्रूणहत्या करने वाले मुझको धिक्कार है । मेरे पापी जीवनको धिक्कार है । सारे भ्रमण्डलके सोर्गोको करों द्वारा सन्ताप देकर प्राप्त की गई मेरी इस लक्ष्मीको धिक्कार है । कर्णामृत आर्द्र हृदय वाले और मौन धारण करने वाले जो [मुनिगण] अनायास सुख प्रदान करनेवाले [हस्तारोपितशर्मणि] शुभ कामोंमें प्रतिक्षण लगे रहते हैं वे धन्य हैं ।

कुन्तल ! अब हम सर्वस्व दरित्याग कर [मुनिव्रत ग्रहण करना] चाहते हैं ।

कपिञ्जल—[प्रविष्ट होकर] देव ! समीप आ गया है उसको देखिए ।

राजा—क्या ! सर्वस्व परित्यागको [देखो] ?

कपिञ्जल—जी नहीं, मुनिव्रतके आश्रमको ।”

इतने अन्य अभिप्रायसे बहा गया कपिञ्जलका वचन, प्रस्तुत राजकि वचनके साथ

(४) अथ प्रपञ्च —

[सूत्र १४५]—प्रपञ्च. सस्तव हास्य मिथो मिथ्यैकलाभकृत् ॥ [३२] ६७ ॥

यथा रत्नावलीया राजा कदलीगृहे चित्रगता सागरिका पश्यन् सुसङ्गताया दर्शने फलकं प्रच्छाद्य तामाह—

“राजा—सुमङ्गत कथमिहमिथ्यो भवत्या ज्ञात ?

सुसङ्गता—भट्टा न केवलं तुवं, समं चित्तफलण्यं सः यो वृत्ततो मग जायिदो, ता गडुय देवीग निवेदडग्सं । [भर्त ! न केवलं त्वं, समं चित्रफलयेन सर्वो वृत्तान्तो मया ज्ञात, तद् गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि । इति संस्कृतम्] ।

वसन्तक —(अपरायं) भो ! सर्व्व संभवीयति । मुहरा खु ण्सा गभदासी, ता किंचि दडय परिदोसेहि णं । [भो ! सर्व्व सम्भाव्यते । मुहरा खनु ण्सा गर्भदासी, तन् किंचिद् त्वा परितोपय णनाम] ।

राजा—[सुमङ्गताया अलभान् प्रमार्जयन्] सुसंगत । त्रीडामात्रकमेवैतन् । तथापि नाकारणे त्रया देवी खेदयितव्या । इदं च त पारितोषिकम् । [इति कर्णाभरण ददाति] ।

सुसङ्गता—[प्रणम्य सरिमतम्] भट्टा पसादो मे कर्णाभरणेण ।

भर्त ! प्रसादो मे कर्णाभरणेण ।” इत्यादि ।

अत्र राज-सुमङ्गतयोर्मिथो ‘देव्यै निवेदयिष्यामि’ इति हास्यम् । ‘भट्टा पसादो’ इति स्तनसहितमेकस्य राज्ञ सागरिकासङ्गमलाभकारण प्रपञ्चोऽसद्भूतत्वात् । सुसङ्गताकर्णाभरणलाभस्तु मुख्यसाध्य प्रत्यनुपयोगित्वान्न विवक्षित ।

मिलकर भावी अनिष्टका मूचक हो गया है । इसलिए यह भी गण्वा उदाहरण है । इसने पूव पताका स्थानके रूपम भी इसका वगान आ चुका है ।

४ अथ प्रपञ्च [नामक चतुय बोध्यङ्गका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४५]—किसी एकको लाभ प्रदान करने वाला, स्तुति सहित मिथ्या हास्य प्रपञ्च [कहलाता] है ॥ [३२] ६७ ॥

जसे रत्नावलीमे कदलीगृहमे सागरिकाके चित्रको देखते हुए राजा सुसंगताको देख कर चित्रफलकको ठककर [उससे कहते हैं]—

राजा—सुसंगते ! हम यहाँ बठ हैं यह तुमको कसे मालूम हुआ ?

सुसंगता—हे स्वामिन् ! न केवल आप अपितु चित्रफलकके सहित समस्त वृत्तान्त मुझको मालूम हो गया है । सो मैं जाकर देवीसे कहूँगी ।

वस तक —[इतरा न सुन पाए इस प्रकार—अपवाय—राजासे कहता है] अरे ! सब कुछ हो सकता है । यह गभदासी बडी वाचाल है इसलिए इसे कुछ देकर स तुष्ट करो ।

राजा—[सुसंगताके बालोंको सवारता हुआ] सुसंगते ! यह सब तो केवल खेल मात्र है फिर भी तुम देवीको व्यथ ही कष्ट मत देना । लो यह तुम्हारा पारितोषिक है । [यह कहकर कानोका आभूषण देता है] ।

सुसंगता—[मुस्कराती हुई प्रणाम करके] हे स्वामिन् ! यह कर्णाभरण मुझ पुरस्कार मे दे रहे हैं । इत्यादि ।

इसमे देवीसे जाकर निवेदन करूँगी [यहाँसे लेकर] भत ! यह [कर्णाभरण मेरा]

केचित् त्वसद्भूतेन पारदार्यादिनैपुण्यादिना योऽन्योऽन्यत्तवो हास्यहेतुस्तं प्रपञ्चमाहुः । यथा—

“रंडा चंडा दिक्खिदा धम्मदारा
मज्जं मंसं राज्जए पिज्जए वा ।
भिकखा भोज्जं चम्मरंडं च सेज्जा
कोलो धम्मो कस नो भादि रम्मो ।

[रण्डा चण्डा दीक्षिता धर्मदारा, मद्यं मांसं राजतं पीयते वा ।

भिक्षा भोज्यं चर्मखण्डं च शय्या, कौलो धर्मः कस्य नो भाति रम्यः ॥”

इति संस्कृतम्]

अन्ये तु द्वयोर्लाभं विना मिथ्यारूपं ह्यार्यं मन्तवयुक्तं प्रपञ्चन्वेन मन्यन्ते । यथा प्रयोगाम्युदये—

“तरङ्गदत्तकचेटी—अम्मो अयं नु एसो संचारिमं उवहामपट्टणं अय्यभंडीरवो इदो ख्येवा गच्छदि ।

[अहो अयं स्वल्पेण संचरिष्णुपहासपत्तनं आर्यभण्डोरिव इत एवागच्छति ।

इति संस्कृतम् ।

विदूषक—उपसृत्य भोदी ! सागदं ते ।

[भवति ! स्वागतं ते] ।

चेटी—[स्वगतम्] परिहासइम्मं दाव णं । [प्रकाशम्] को दाणि एमो अम्हाणं

पुरस्कार है' [यहाँ तक] यह स्तुति सहित, राजा और सुसगताका परस्पर हास्य है । एक अर्थात् राजाको सागरिकाकी प्राप्ति रूप लाभका कारण है । और मिथ्या व्यवहार रूप होनेसे प्रपञ्च है । सुसगताको कर्णभरणकी प्राप्ति [प्रपञ्चके लक्षणमें कहे हुए 'एकलाभवृत्' वदसे यहाँ] मुख्य साध्यके प्रति अनुपयुक्त होनेसे विवक्षित नहीं है ।

कुछ लोग असद्भूत परदार्याभिगमन आदिके नैपुण्यके द्वारा जो एक-दूसरेकी स्तुति हास्यका कारण है उसको प्रपञ्च कहते हैं । जैसे—

उत्कट [कामवेग वाली] रडियाँ [जिस धर्ममें] वीक्षाप्राप्त धर्मदारा [समझी जाती] हैं, मद्य और मांस [स्वेच्छा-पूर्वक] खाया-पिया जाता है । [जिस धर्ममें] भिक्षा ही भोजन है, और चर्मका टुकड़ा ही शय्या है ऐसा कौल [वाममार्गी सम्प्रदायका] धर्म किसको सुन्दर [आकर्षण करने वाला] नहीं लगता है ।

इसमें कौल धर्मके अनुयायी किसी माथीका उपहास करते हुए उनमें परदार्याभिगमन आदि दिखलाकर उसकी हास्यकर स्तुति की गई है अतएव यह दूसरे-दक्षक अनुगार प्रपञ्चका उदाहरण है ।

अन्य लोग तो दोनों [मैसे किसी] के लाभके विना ही प्रशंसायुक्त मिथ्या हास्यको प्रपञ्च कहते हैं । जैसे प्रयोगाम्युदयमें—

“तरंगदत्तकी दासी—अरे सञ्चरणशील उपहास-नगर रूप यह आर्य भण्डोरक इधर ही पा रहे हैं ।

विदूषक—[पास आकर] आपका स्वागत है ।

पेसण्यारओ चेडउ त्ति ।

[परिहामयिप्यामि ताउदेनम् । क इदानीमेपोऽग्माकं प्रेपणफारकचेटक इति ।

विदूषक —अहं घडदासीण सामिगो ।

[अहं घटदासीना स्वामिक] ।

चेटी—कि चेडउ त्ति भण्णिदे कुविदो तुम ।

[किं चेटकःइति भणित कुपितस्त्वम्]

विदूषक —को दाणि विसेसो घडदासीण कुभदासीणं च ?

[क इदानीं विशेषो घटदासीना कुभदासीना च] ?

चेटी—मा कुप्प भट्टउत्तो त्ति भाण्णस्स ।

[मा कुप्य, भर्तृपुत्र इति भणिप्यामि] ।

विदूषक —भोदी ! तुवं पि मा कुप्प अज्जा इति भण्णस्स ।

[भवति ! त्वमपि मा कुप्य, आर्या इति भणिप्यामि] ।

चेटी—अहो, भट्टउत्तस्स गदी ।

[अहो भर्तृपुत्रस्य गति] ।

विदूषक —अहो अदिरूआ अज्जया ।

[अहो अतिरूपा आर्यका]” इति ॥ [३०] ६७ ॥

(५) अथ त्रिगतम्—

[सूत्र १४६]—त्रिगत शब्दसाम्येन भिन्नस्वार्थस्य योजनम् ।

भिन्नस्य प्रस्तुतादन्यस्य । त्रिगतमनेकार्थगत शब्दत्यानेकार्थत्वान् । तेन द्वयर्थ-

चेटी—[स्वगत] इससे तनिक मजाक कर लूं । [प्रकाश] यह हमारा प्रपण कराने वाला कौन दास है ।

विदूषक—मैं घटदासिधोका स्वामी हूँ । [घटदासीका अथ ज मसे दासी है] ।

चेटी—क्या घेठ कहनेसे आप नाराज हो गए ?

विदूषक—घटदासी और कुम्भदासीमे क्या भेद है ?

चेटी—नाराज न हों अब भर्तृपुत्र कहूँगी ।

विदूषक—आप भी नाराज न हो अब आर्या कहा कहूँगा ।

चेटी—ओहो भट्टपुत्रकी चाल [कसी सुंदर है] ।

विदूषक—अहो आर्याका रूप कता सुंदर है ।

दोनोंमेंसे किसीके भी लाभके बिना यह मिव्या सस्तवयुक्त हास्य वचन है । यह दूसरे मतसे प्रपञ्च नामक वीथ्यङ्गका उदाहरण है ॥ [३२] ६७ ॥

५ त्रिगतनामक पञ्चम वीथ्यङ्ग—

अथ त्रिगत [का लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १४६]—शब्दकी समानताके कारण [अनेकायक शब्दकी प्रस्तुत अथसे] भिन्न अर्थ निकलना त्रिगत [कहलाता] है ।

शब्दोंकी समानताके कारण [अनेकायक शब्दोंसे] अथ अथकी योजना त्रिगत [कहलाता] है । जैसे 'देवीचन्द्रगुप्त के द्वितीय अक्षमे प्रजाप्रीके आश्वत्थानके लिए राजा राम

मपि । यथा देवीचन्द्रगुप्ते द्वितीयेऽङ्के प्रकृतीनामाख्यामनाय शक्यं ध्रुवदेवीमम्प्रदाने
अभ्युपगमं राजा रामगुप्तेनारियवार्थं विद्यामु, प्रतिपन्नध्रुवदेवीनेपथ्यं कुमारचन्द्रगुप्ते
विद्वान्पचन्नुच्यते—

यथा—

“राजा—प्रतिष्ठोक्तिषु न गन्धर्वा र्वां परित्यक्तनुमुत्सहं ।

प्रत्यमयौवनविभूषणमङ्गमेतद्,
रूपप्रियं च तत्र यौवनयोग्यरूपम् ।

मवितं च मध्यनुपमामनुगन्ध्यमानो

देवीं त्यजामि घलनाम्बयि मेऽनुराग ॥

अन्यग्रीशक्या ध्रुवदेवी—यदि भक्तिं श्रवेण्यमि ततो म मन्दभाङ्गिणि परि-
च्यमि ।

[यदि भक्तिमपेक्षसे ततो मां मन्दभाङ्गिणीं परित्यजामि] ।

राजा—अपि च, त्यजामि देवीं वृणुतु त्वदन्तरे ।

ध्रुवदेवी—अहं पि जीविदं परिच्यती श्रज्जउत्त पदमयं व्येव परिच्यताम् ।

[अहमपि जीवितं परित्यजन्ती आर्यपुत्रं प्रथमतः परित्यक्ष्यामि ।]

राजा—त्वया विना राज्यमिदं हि निष्फलम् ।

ध्रुवदेवी—ममायि मपद निष्फलो जीवलाश्रो सुहृपरिषयलीश्रो भविमसि ।

[ममापि माम्प्रतं निष्फलो जीवलोऽ मुग्धपरित्यजनीयो भविष्यति ।]

गुप्तके द्वारा ध्रुवदेवीको शकराजको दे देना स्वीकार कर लेनेपर ध्रुवदेवीका वैष धारण
करके शत्रुके बंधके लिए जाने वाले कुमार चन्द्रगुप्तको लक्ष्य करके कहते हैं—

राजा—प्रतिष्ठा-वचनोंके प्रवृत्तरपर मैं तुमको भुला नहीं सकता हूँ ।

मैं [यद्यपि] देवीका परित्याग करने जर रहा हूँ किन्तु अभिनव यौवनसे रमणीय
तुम्हारी यह देह, यौवनके अनुरूप इस रूप तो-दयं और अपने प्रति अनुपम प्रेमको देखकर
तुम्हारे प्रति मेरा प्रवृत्त अनुराग है ।

ध्रुवदेवी—[चन्द्रगुप्तको दूसरो दृष्टी समझ कर] यदि इसके प्रेमकी अपेक्षा है तो
[इसका अर्थ यह है कि अपने प्रति अन-य अनुराग रखने वाली] मुझ मन्दभाङ्गिनीका परि-
त्याग कर रहे हैं ।

राजा—और तुम्हारे कारण [अर्थात् तुम देवीकी रक्षा कर ही सोभे ऐसा मानकर
दूसरे पक्षमे तुम्हारे प्रेमके वशीभूत होकर] मैं तुलके समान देवीका परित्याग कर रहा हूँ ।
[अर्थात् शकराजको देवीके दे देनेको स्वीकार कर रहा हूँ] ।

ध्रुवदेवी—[आपके इस परित्यागमे लिप्त होकर] मैं भी अपने जीवनका परित्याग
करके आर्यपुत्रको पहिले ही छोड़ दूंगी ।

राजा—[चन्द्रगुप्तके प्रति] तुम्हारे विना मेरा यह राज्य ध्वंश है ।

ध्रुवदेवी—मेरे लिए भी अब यह जीवलीक निष्फल है । उसे मैं सरलतासे परित्याग
कर सकूंगी ।

राजा—किंतु देवी मेरी विवाहिता पत्नी है इसलिए उनके प्रति मुझे दया आती है ।

राजा—उठेति देवीं प्रति मे दयालुता ।

ध्रुवदेवी—इय अज्जउत्त । ईदिसी दयालुटा, जं अणवरद्धो जणो अणुगदो एव परिच्चइयादि ।

[इयमार्यपुत्र । ईदृशी दयालुता यदनपरद्धो जनोऽनुगत एवं परित्यज्यते] ।

राजा—त्वयि स्थित स्नेहनिग्रन्धन मन ॥

ध्रुवदेवी—अदो व्येव मदभागा परिच्चइयामि ।

[अत एव मन्दभागा परित्यज्ये] ।

राजा—त्वय्युपारोपितप्रेम्णा त्वदर्थे यशमा सह ।

परित्यक्त्वा मया देवी जनोऽय जन एव मे ॥

ध्रुवदेवी—हजे । इय सा अप्यउत्तस करणदा ।

[हजे । इय सा आर्यपुत्रस्य कर्मणा] ।

सूत्रधारी—देवि । पडति चदमडलाउ चुडुलीओ, कि एत्थ करीयदि ।

[देवि । पतन्ति चन्द्रमण्डलादप्युलका, किमत्र त्रियते] ?

राजा—देवीत्रियोगदु सार्तास्त्वमस्मान् रमधिष्यसि ।

ध्रुवदेवी—वियोगदुक्ख पि दे अकरणस अस्थि व्येव ?

[वियोगदु खमपि तेऽकरणस्यात्येव] ?

राजा—त्वद्दु सस्थापनेतु सा शताशेनापि न क्षमा ॥” इति ॥

एतत् स्त्रीवेपथारिचन्द्रगुप्तबोधनार्थमभिहितमपि विशेषणसाम्येन देव्या स्त्रीविषय प्रतिपन्नमिति भिन्नार्थयोजनम् । एव त्र्यर्थमपि श्लोपादिवशादुदाहार्यम् ।

ध्रुवदेवी—हे आर्यपुत्र । यह [आपको] ऐसी दयालुता है कि अपने प्रति अनुरक्त और अनपराधी सेविका [मुझ] को छोड़ रहे हैं ।

राजा—[चन्द्रगुप्तके प्रति] किन्तु तुम्हारे प्रेमके कारण मेरा मन तुममें लगा हुआ है ।

ध्रुवदेवी—इसीलिए मुझ मन्दभागिनीया परित्याग कर रहे हैं ?

राजा—तुम्हारे ऊपर प्रेम [विश्वास] करके तुम्हारे लिए [अर्थात् तुम देवीकी रक्षा दात्रवध करके अवश्य कर सकोगे ऐसा मानकर, देवीपरित्यागका वचन देकर] यशके साथ-साथ मैंने देवीका परित्याग कर दिया और यह प्रजाजन तो मेरे प्रजाजन ही ठहरे ।

ध्रुवदेवी—हजे । यह आर्यपुत्रकी यह कण्ठता है [जो मेरे प्रति रखते हैं] ।

सूत्रधारी—देवि । चन्द्रमण्डलसे भी यह उल्कापात हो रहा है ध्रुव इसमें क्या किया जा सकता है ।

राजा—देवीके वियोगके दुःखमें दुःखी हमको अब [शुक्रका वध करने देवीकी रक्षा द्वारा] तुम ही सुखी बनाओगे ।

ध्रुवदेवी—कण्ठ-रहित आपको वियोग दुःख बना ही है ?

राजा—तुम्हारे दुःखको दूर कर सकनेमें यह तनिक भी समर्थ नहीं है ॥”

स्त्री वधधारी चन्द्रगुप्तको बोधित करनेके लिए कहे हुए भी ये सब वचन विशेषणोंकी समानताके कारण ध्रुवदेवीके अर्थ स्त्री परक समझ लिए हैं इसलिये यह भिन्नापनें उनकी योजना [होनेसे प्रगत नामक बोध्यज्ञया उदाहरण] है । इसी प्रकार इतेषादिने द्वारा तीन

अथवा श्रुतिसामर्थ्येणैकस्यैव प्रश्नरूपतया सत प्रतिबचनतया भिन्नार्थस्य योजनम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

सर्वक्षितिभृतां नाथ ! दृष्टा सर्वाङ्गमुन्दरी ।

रामा रम्ये वनान्तेऽग्निम् त्वया विरहिता मया ॥

अत्र प्रश्ने महीभूत प्रतिशब्देनैतदेवोत्तरम् ।

यद्वा शब्दोऽन्वयवत्त्वनिमात्रं, तन्माभ्येनानेकार्थयोजनं 'त्रिगतम्' । यथा इन्दु-
लेखायां वीथ्याम्—

“राजा—वयस्य—

किं नु कलहंसनादो मधुरो ? मधुपायिना नु ऋङ्कारः ?

हृदयगृहदेवतायाम्तम्या नु सनपुरश्चरण ? ॥ इति ॥”

(६) अथ छलम्—

[सूत्र १४७]—वचोऽन्यार्थं छलं हास्य-वञ्चना-रोपकारणम् ॥ [३३] ६८ ॥

अप्येति सम्बद्ध]त्रिगत] का उदाहरण समझ लेना चाहिए ।

अथवा प्रश्न रूपसे स्थित एक ही वचनको शब्दकी समानतासे उत्तरके रूपमें लगानेसे भिन्नार्थमे योजना ['त्रिगत' कहलाती] है । जैसे विक्रमोर्वशी में—

[उर्वशीके चले जानेपर उसके विद्योग दुःखसे पागल हुआ राजा इधर-उधर उसको खोजता फिरता है और वह हिमालय पर्वतसे उर्वशीके विषयमें प्रश्न करता हुआ कहता है] हे समस्त पर्वतोंके स्वामिन् ! इस सुन्दर वन-भागमें मुझमें अलग हुई सर्वाङ्ग-सुन्दरी स्त्री [अर्थात् उर्वशी] को क्या आपने देखा है ?

इस प्रश्नके करनेपर प्रतिध्वनि द्वारा पर्वतका यही उत्तर है ।

पर्वतकी ओरसे उत्तरके रूपमें इन शब्दोंका अर्थ यह होगा कि—हे ममस्त राजाश्रावणं अधिपति [महाराज] ! 'त्वया विरहिता' सुमसे वियुक्त हुई सर्वाङ्ग-सुन्दरी स्त्रीको 'मया' मैंने इस सुन्दर वन भागमें देखा है । इसमें प्रश्न वाचक मया विरहिता त्वया दृष्टा यह अन्वय होता है । और उत्तर-पक्ष में 'त्वया विरहिता मया दृष्टा यह अन्वय होता है । इसी प्रकार 'गर्वक्षितिभृता नाथ' का अर्थ दोनों पक्षोंमें भिन्न ही जगता है । प्रश्न पक्षमें क्षितिभृत् का अर्थ पर्वत और उत्तर पक्षमें क्षितिभृत् का अर्थ राजा होता है ।

अथवा शब्दसे अन्वयवत्त्वनिमात्र [लेना चाहिए], उसकी समानतासे अनेकार्थकी योजना 'त्रिगत' [नामक वीथ्यङ्ग कहलाता] है । जैसे इन्दुलेखा [नामक] वीथीमें—

राजा—हे मित्र !

क्या कलहंसोंका नाद या मधुरोंका ऋङ्कार मधुर है अथवा मेरे हृदयमन्दिरकी उस देवताके नूपुर [की ध्वनिसे मुक्त] चरण [अधिक मधुर हैं] ?

(६) छल नामक छटा वीथ्यङ्ग—

अथ 'छल' [नामक अन्य पठ वीथ्यङ्गका लक्षण करते हैं] ।

[सूत्र १४७]—दूसरेके लिए प्रयुक्त, हास्य वञ्चना या रोपके जनक वचनका प्रयोग 'छल' [कहलाता] है । [३३] ६८ ।

प्रयोजनान्तरेण प्रयुक्तं यद्वचनमन्यस्य, अन्यस्य हास्य-वञ्चना-रोपकारणं तद्वञ्चनाहेतुत्वाच्छ्लमम् । यथा—

“कस्त व न होइ रोसो ददूण पिवाए सव्यणं अहरं

सभमरपउमग्वाइरि वारियवामे सहसु इण्हं ॥

[कस्य वा न भवति रोपो दृष्ट्वा प्रियायाः सुव्रणमधरम् ।

सभ्रमरपद्मात्राविणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥

इति संस्कृतम् ।”

एतद्वचः सख्या भर्तृप्रत्यायनप्रयोजनेनोक्तं विदग्धजनस्य हास्यं श्वशुरा-
देर्वञ्चनां सपत्न्या रोपं जनयतीति ॥ [३३] ६८ ॥

(७) अथासत्प्रलाप.—

[सूत्र १४८]—असत्प्रलापस्तत्त्वेन हितं यन्नावगम्यते ।

परमार्थतो हितमुपकारपर्यवसायि यद्वचनं अविवेचकत्व-मौर्त्याभ्यां तत्त्वेन
हितत्वेन नैवावयुष्यते अविवेचकैर्मुखैश्च, तन् तो प्रति असतो असाधुभूतस्य
प्रलपनमसत्प्रलापः ।

तत्राविवेचकं प्रति यथा रामाभ्युदये द्वितीयेऽङ्के—

“रावण.—प्रायशः श्रुतमेव भवद्भिर्यथा कलत्रमात्रसाधनोऽसौ तापसगतदपहार
एव तावन्निरूप्यताम् । न च कलत्रापहरणादृते पुरुषाम्यापरं परिभवस्थानमस्ति ।
तत्र मारीचेन साहायकं क्रियमाणमिच्छामि ।

अन्य प्रयोजने प्रयुक्त किया गया दूसरे व्यक्तिका जो वचन दूसरेके लिए हास्य वञ्चना
अथवा रोपका कारण हो वह वञ्चनाका हेतु होनेसे ‘छल’ कहलाता है । जैसे—

अपनी प्रियाके अघरमे [दन्तक्षतका] घाव देखकर किसको क्रोध नहीं आता है ?
इसलिए मवा करनेपर भी न मानने वाली, और अमर-युक्त कमलको सूँघने वाली अब
[अमरके काट लेनेसे बने अघरब्रणके कारण अपने पतिके क्रोध को] भोग ।

यह वचन सखीने [नायिकाकी रक्षाके लिए उसके] स्वामीको [यह] विदवात दिलाने
के लिए [कि इसके परपुरुष-द्वारा अघरब्रण नहीं हुआ है अपितु अमरके काट लेनेसे ब्रण
हुआ है] कहा जानेपर भी विदग्ध लोगोंमें हास्य, श्वशुरादिकी वञ्चना तथा सपत्नीमें रोप
उत्पन्न करता है ॥ [३३] ६८ ॥

(७) असत्प्रलाप नामक सातवाँ वीथ्यंग :—

अथ असत्प्रलाप [नामक सप्तम वीथ्यङ्गका लक्षणवि कहते हैं] ।

[सूत्र १४८]—जिस हितकारी वचनको यथार्थ रूपमें ग्रहण नहीं किया जाता है वह
‘असत्प्रलाप’ है ।

वास्तवमें हितकारी अर्थात् लाभ पहुँचाने वाला होनेपर भी [सुनने वालेके] अवि-
वेकत्व अथवा मूर्खताके कारण हितकारी रूपसे ग्रहण नहीं किया जाता है यह उन दोनोंके
प्रति असत् अर्थात् अहितकर प्रलापके समान होनेसे ‘असत्प्रलाप’ [कहलाता] है ।

उनमेंसे अविवेचकके प्रति [असत्प्रलापका उदाहरण] जैसे रामाभ्युदयके द्वितीयांशमें-
रावण—तुमने यह तो नायद मुना ही है कि उस तापसके पास बैशत एव स्त्री

भारीचः—स्वामिन ! जीवतो रामस्य परिभव इत्यशक्यमेतन् । न ग्लु तापस इति तमवज्ञानुमर्हति देवः । अन्यदेव वस्त्वन्तरं किमपि तन् ।

रावणः—[सक्रोधम्] आः किं नाम वस्त्वन्तरं तन् ? मूढ !

युक्त्यैव च्छत्रबन्धोः परिभवमममं जीवतः कर्तुमिच्छन्,

मायासाहायके त्वं निपुणतर इति प्रार्थये नासमर्थः ।

यच्चान्यत् तत्र यच्चप्रहृतिमसृष्टिस्फारकेयूरभाजः,

मञ्जास्त्रैलोक्यलक्ष्मीदृढहरणामहा बाहवो रावणस्य ॥”

अत्र भारीचवचनं परमार्थतो हितमपि रावणेन नावगतम् ।

मूर्खं प्रति, यथा भीमटविरचिते 'मनोरमावत्सराजे' वत्सराजाभ्युदयशंसी स्मरणान् पांचालमुच्छेत्तुकामगतस्य कृतकभृत्यतां श्रितो विश्वासोत्पादनार्थं वत्सराजा-न्तर-पुरमादीप्य यौगन्धरायणप्रमुखानाह—

“कौशास्त्री मम हृत एव परया शक्त्या मया स्वीकृत ,

पांचालाधिपतिः प्रभु स भवतां न ज्ञायते क्वाधुना ।

नन्वादीपित एष मोहितपरानीकेन लावाणको,

देवी सम्प्रति रक्ष्यतामयमर्हं प्राप्तो रुमएवान् म्वयम् ॥”

ही है। इसलिये उसका अपहरण ही सबसे पहले करना चाहिए। स्त्रीके अपहरणसे अधिक पुरुषके लिए अपमानका दूसरा स्थान नहीं है। इसमें भारीच सहायता करे ऐसा मैं चाहता हूँ।

भारीच—स्वामिन् ! रामके जीते रहते उसका अपमान हो सके यह असम्भव है। वह कोई साधारण तापस है यह समझकर उसकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए। वह कुछ और ही चीज है।

रावण—[सक्रोध होकर] अरे वह कीतनी दूसरी चीज है ? मूर्ख—

उस नीच क्षत्रियके जीते रहते ही मुझसे उसका अपमान करनेके लिए ही, तू धोखा देनेके अधिक चतुर है ऐसा समझकर तुमसे कहा था, मैं असमर्थ हूँ ऐसा मत समझना। और वह जो कुछ और है उसके लिए ब्रह्मके प्रहारोसे बचने हुए बाजूबन्दोको धारण करने वाले और तीनों लोकोंकी लक्ष्मीको बलान् हरणकर सङ्गनेमे समर्थ, मेरे [रावणके] बाहुसंपार हूँ।

यहाँ भारीचका वचन वास्तवमें हितकर होनेपर भी रावणने [हितकर] नहीं समझा।

मूर्खके प्रति—जैसे भीमट [कवि] विरचित मनोरमावत्सराजमे वत्सराजकी उन्नति की कामना करने वाले [मन्त्री] रुमएवान् पाञ्चालराजको नाश करनेकेलिए उसके बनावटी भूय वनकर उसको विश्वास दिलानेके लिए वत्सराजके [लावाणक बनमे स्थित होनेके समय] अन्त पुरमे प्राग लगाकर यौगन्धरायण आदिसे कहते हैं—

कौशास्त्रीकी मेरे हाथमे ही समझे। अत्यन्त शक्तिशाली होनेके कारण [उसपर नीतिमे ही विजय प्राप्त करनी होगी ऐसा मानकर] मैंने पाञ्चालराजको [बनावटी रूपमे] अपने स्वाधी रूपमे स्वीकार दिया है। आपके वे प्रभु [उदयन] न मालूम कहीं हैं। शत्रुकी नेताकी भ्रममे डालने वाले मैंने इस लावाणक [वन] को प्राग लगा दी है, घब [इस लावा-

१ मर्हति ।

एतच्च परमार्थतः पांचालोच्छेदपरं यौगन्धरायणेनावबुद्धम् । वासवदत्तया सम्भ्रमकनाम्ना यौगन्धरायणानुचरेण च मौल्यान्नावगतम् ।

यथा वा व्यसनिना राजपुत्रेण किं सुखमिति पृष्टे मन्त्रिपुत्रेणोन्यते—

“सर्वदा योऽज्ञविजयी सुरासेवनतत्परः ।

तस्यार्थानां सुखानां च समृद्धिः करगामिनी ॥”

एतदपि मूर्खत्वात् प्रियांशो पाशकविजय-मद्यपानरूपे गृह्यते, न त्विन्द्रियविजय-देवताराधनरूपे द्वितांशो इति ।

अन्ये तु बालोत्कण्ठितादीनामसम्बद्धकथाप्रायमसत्प्रलापमिच्छन्ति । यथा—

“एकं त्रीणि नवाष्ट सप्त पडिति व्यालुप्तसंख्याक्रमा,

वाचः क्रौंचरिपोः शिशुत्वविकलाः श्रेयांसि पुष्पन्तु वः ॥”

यथा वा रघुविलासे सीताविरहितो रामः—

“अरण्ये मां त्यक्त्वा हरिण ! हरिणाक्षी क्व नु गता,

पराभूतो दृष्ट्वा कथयसि न चेन्मा स्म कथय ।

अरे क्रीडाकीर ! त्वमपि वहसे कामपि रूपं,

यदेवं तूष्णीकामनुसरसि वाचंयम इय ॥” इति ।

एकके शिविरमे स्थित] देवीको आप लोग बचा लो [इस बातका समाचार देनेके लिए मैं] हमण्वान् स्वयं प्राया हूँ ।

पाञ्चालराजके नाशके लिए यह [रुमण्वान्का प्रयोग है] इस बातको यौगन्धरायणने समझ लिया किन्तु वासवदत्ता तथा यौगन्धरायणके सम्भ्रम नामक अनुचरने मूर्खतावश नहीं समझा ।

अथवा [जसी मनोरमावत्सराजमे] ध्यसनी राजपुत्रके द्वारा सुप्त बया है यह पूछे जाने पर मन्त्रिपुत्र कहता है—

जो सर्वदा अपनी इन्द्रियोपर विजय प्राप्त करने वाला है और देवताओंकी सेवामें तत्पर रहता है उसके लिए अर्थ और सुप्तकी समृद्धि हस्तगत रहती है ।

[यह इस श्लोकका विवक्षित अर्थ है किन्तु ध्यसनी राजपुत्र] अपनी मूर्खताके कारण अपने प्रिय अशमें [अशविजयी पदसे] छूतकी विजय, तथा [सुरासेवन पदसे] मद्य-सेवन अर्थ को लेता है । इन्द्रियविजय और देवताराधन रूप हिताशको नहीं ।

दूसरे लोग तो असम्बद्ध कथायुक्त बालकोंकी उत्कण्ठा प्रादिके वर्णनको अतत्प्रताप मानते हैं । जैसे—

क्रीञ्चारि कार्तिकेयकी शिशुत्वके कारण असम्बद्ध एक, तीन, नौ, द्वाद, सात, द्वाद प्रादि संख्या के क्रमसे रहित वाणी तुम्हारा कल्याण करें ।

अथवा जैसे रघुविलासमे सीतासे विरहित राम [कहते] हैं—

हे हरिण ! हरिणाक्षी [सीता] यन्में मुझको छोड़कर कहाँ चली गई है ? क्या तुम मुझको देखकर डर जानेसे नहीं कह रहे हो, यदि ऐसी बात हो तो डरो मत, बतला दो । अरे क्रीडाके तोते ! क्या तुम भी नाराज हो गए हो कि मौनियोंके ममान इस प्रकार चुपों पारण किए हुए हो ।

(८) अथ वाक्केली—

[सूत्र १४६]—प्रश्नोत्तरं तु वाक्केली हास्या वाक्-प्रतिवागपि ॥

[३४] ६६॥

प्रश्नस्य प्रश्नयो. प्रश्नानां चोत्तरं प्रश्नोत्तरम् । सहासा छेकोक्ति-प्रत्युक्तिर्वा । द्वयमप्येतद् वचनत्रीडारूपत्वाद् वाक्केली । यथा—

“नदीनां भेगविगमे का शोभा प्रतिभासते ? ।

वाह्यान्तरा विजेतव्या के नाम कृतिनाऽरय. ? ॥”

अत्र ‘अरय’ इति एकत्र रयाभावो, अपरत्र शत्रय इति एकं प्रतिवचनम् ।

एवं बहुनामपि द्रष्टव्यम् । एतदप्रश्नोत्तरम् ।

छेकोक्ति-प्रत्युक्तिर्यथा—

‘कोऽयं द्वारि ? हरि., प्रयाह्यु पवनं शारामृगम्यात्र कि,

कृष्णोऽहं दयिते, विभेमि सुसरां कृष्णात् पुनर्यानरान् ।

मुग्धेऽहं मधुसूदनो, ब्रज लतां तामेव तन्धीमलं,

मिथ्या सूचयसीत्युपेत्य धनिकां ह्यतो हरि पालु व ॥”

(८) वाक्केली नामक अष्टम वीथ्यङ्ग—

अथ ‘वाक्केली’ [का लक्षणादि करते हैं]—

[सूत्र १४६]—प्रश्नोत्तर अथवा हास्यपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर ‘वाक्केली’ कहलाती है

[३४] ६६ ।

एक प्रश्नका, दो प्रश्नका, अथवा बहुत प्रश्नोंका उत्तर [यहाँ पर] प्रश्नोत्तर [कहलाता] है । अथवा हास्ययुक्त, चातुर्यपूर्ण, उक्ति-प्रत्युक्ति [ये दोनोंही वचनोंकी क्रीडा रूप होने से वाक्केली है] । जैसे—

बरसातके बाद नदियोंकी कौसी शोभा होती है ? और किन बाह्य तथा आन्तरोंकी विजय करना चाहिए ? [ये दो प्रश्न हैं । इन दोनों प्रश्नोका एक ही उत्तर देते हैं कि] ‘अरय.’ ।

इसमें एक पक्षमें [अर्थात् प्रथम प्रश्नके उत्तरमें] ‘अरय’ का अर्थ रयका अभाव अर्थात् बेपाभाव और दूसरे पक्षमें ‘शत्रु’ यह [दोनों प्रश्नोंका] एक ही उत्तर है । इसी प्रकार बहुत प्रश्नोंका भी [एक ही उत्तर] हो सकता है । यह प्रश्नोत्तर [रूप वाक्केलीका उदाहरण है] ।

चातुर्यपूर्ण उक्ति-प्रत्युक्ति [का उदाहरण] जैसे—

अरे दरवाजेपर यह कौन है ? [यह धनिका राधिकाका प्रश्न है । इसका उत्तर कृष्ण देते हैं] हरि [अर्थात् मैं कृष्ण हूँ । ‘हरि’ शब्दका अर्थ कृष्ण भी होता है और वानर भी । कृष्णने तो हरि शब्दसे कृष्ण अर्थ लेकर अपना परिचय दिया था । किन्तु राधाने उसका वानर अर्थ लेकर कृष्णकी उत्तर दिया कि यदि तुम वानर होतो] उपवनमें बने जाओ । यहाँ बन्दरका क्या काम ? [इस पर कृष्ण फिर] हे प्रिये ! मैं [बन्दर नहीं भविष्यु] कृष्ण हूँ । [इस पर राधा उसका काला बन्दर अर्थात् लगूर अर्थ लेकर कहती है कि] काले बन्दरोंमें तो मैं बहुत डरती हूँ । [इस पर कृष्ण फिर मधुसूदन नाममें अपना परिचय देते हुए कहते हैं] अरी भोती प्रिये ! मैं [लगूर नहीं] मधुसूदन हूँ । [राधा मधुसूदनका अमर

केचित्तु साकांक्षस्य वाक्यस्य विनिवर्तनं वाक्फेलीमधीयते । यथोत्तरचरिते—

“त्वं जीवितं त्वमसि मे दृढयं द्वितीयं,

त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्ग ।

इत्यादिभिः प्रियरातैरनुबुध्य मुग्धां,

तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥” [३४] ६६ ॥

(६) अथ नालिका—

[सूत्र १५०]—हास्याय वञ्चना नाली—

परविप्रतारणकारि यदुत्तरं हास्याय हास्यनिमित्तं निगूढार्थत्वाद् भवति सा नाली व्याजरूपा प्रणालिका । यथा रत्नावल्यां सागरिका चित्रफलकार्यमागता कदलीगृहे वत्सराजं दृष्ट्वा वहिः स्थिता मुसङ्गतयोच्यते—

“मुसङ्गता—सहि जस्स कए तुवं आगदा सो एत्थ यूयं चिट्ठदि ।

[सखि यय कृते त्वमागता सोऽत्रैव तिष्ठति । इति संस्कृतम्] ।

सागरिका—[सकोपमिय] सहि कस्स ?

[सखि कस्य] ?

मुसङ्गता—[सहासम्] अयि अप्पसंकिदे णं पउत्तमहूसवे चित्तफलहयस्स ।

अर्थ लगाकर कहती है कि; तो फिर उसी कोमल लताके पास जाओ मुझे बयो घोला देते ही इस प्रकार धनिका) राधा के पास जाकर लज्जित हुए कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ।

कोई लोग साकांक्ष [अपरिसमाप्त] वाप्य वापिस कर लेने [अर्थात् कहते-कहते] को रोक लेनेको वाक्फेली कहते हैं । जैसे उत्तरचरितमे—

तुम [अर्थात् सीता] मेरो प्राणस्वरूप हो, तुम ही मेरा दूसरा हृदय हो, तुम नेयोके लिए कौमुदीरूप और अंगोके लिए प्रमृतरूप हो । इस प्रकारके संकडो प्रिय बचनोसे उत भोली [सीता] को घ्राडवासान देकर अब उसको [तुमने घरसे निकाल दिया । इस बातको वासन्ती आगे कहना चाहती है, किन्तु उसको बीचमे ही रोक देती है] प्रयवा चुप रहो इसके आगे कहनेसे क्या लाभ ? ॥ ६६ ॥ [३४]

(६) नालिका नामक नवम वीथ्यङ्ग—

अथ 'नालिका' [नामक नवम वीथ्यङ्गका संक्षेप करते हैं]—

(सूत्र १५०) मन्दाक करनेके लिए घोला देना 'नाली' [कहलाता] है ।

घोला देने वाला जो उत्तर हास्यके लिए अर्थात् सूदार्थ होनेसे हास्यका जनक होना है वह नाली अर्थात् बहाना रूप [हास्यरी] प्रणालिका [होनेसे 'नाली' कहाता है] । जैसे रत्नावलीमे चित्रफलरूपके लेनेके लिए आई हुई सागरिका बदलीगृहमें वत्सराज उदयनको बंठा देपकर बाहर रक जाती है । तब मुसगता उसमे कहती है—

मुसङ्गता—हे सखि ! जिनके लिए तुम आई थी यही स्थित है ।

सागरिका—[कूट होती हुई सी] हे सखि ! जिसके लिए [मैं आई थी] ?

मुसङ्गता—[हंसकर] घरी घपने आप मञ्जा कर लेने वाली ! इस घानरके बदतर पर चित्र-फलरूपके लिए ।

[अथि आत्मशक्तिं ननु प्रवृत्तमधूत्सवे चित्रफलकम्] ।

केचिन् तु हार्यहेतुनोपेतां^१ निगूढार्थरूपा प्रहेलिकां नालीं मन्यन्ते । यथा 'बालिकावञ्चितके' पारिपार्श्विक —

"तपनीयोज्ज्वलकरकं कुवलयामुचि भासमानभाशने ।

तेजोमयं दिनकराद् द्वितीयमाचक्ष्व मे भूतम् ॥"

अत्र निगूढो नारदलक्षणोऽर्थं सूत्रधारेणारिमन्नेव श्लोके 'द्वितीयमेतं मुनि पश्य' इति चतुर्थपादान्वयाकरणेन व्याख्यात इति ।

(१०) अथ मृदवम्—

[सूत्र १५१]—व्यत्ययो गुण-दोषयोः । मृदवम्

गुणानां दोषत्व, दोषाणां च गुणत्वं येनोत्तरेण व्यत्ययो निपर्यास क्रियते, तन्मृदा परपक्षमर्दनेन स्वपक्षमवति रक्षतीति मृदवम् ।

गुणस्य दोषीकरणं यथा वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के—

"जयद्रथमाता—जाद । ते गु वंधुवधामरिसुदीपिकोवा समरे अणवेकिप्रय-सरीरा परिकमिम्मति ।

[जात । ते रत्नु तन्धुवधामर्पोद्दीपितकोपा समरेऽनपेक्षितशरीरा परित्रमियन्ति ।
इति सम्युक्तम्]

द्रुद्ध लोम हास्यके हेतु रूपमे प्राप्त होने वाली निगूढार्थ वाली 'प्रहेलिका' को 'नाली' बतलाते हैं । जैसे बालिकावञ्चितके पारिपार्श्विक [कहता है] ।

सौनेके समान चमकते हुए करीं [किरणों और दूसरे पक्षमे हाथों] वाले, आकाशमे चमकते हुए और पृथिवी-मण्डलपर रत्न न रखने वाले, सूर्यको छोड़कर तेजोमय किसी अन्य भूत [प्राणी] को मुझे बतलाओ ।

यहाँ नारद रूप अर्थ छिपा हुआ है । सूत्रधारने [सूर्यसे भिन्न तेजोमय] 'इन मुनिको देखो' इन प्रकार चतुर्थ पादको बदलकर [अर्थात् 'द्वितीयमाचक्ष्व मे भूतम्' के स्थानपर द्वितीय-मेन मुनि पश्य' ऐसा पाठ करके] बतलाया है ।

(१०) मृदव नामक दशम वीथ्यङ्ग—

यव मृदव' [नामक दशम वीथ्यङ्गका लक्षणदि कहते हैं]—

[सूत्र १५१]—गुण और दोषको बदल देना [अर्थात् गुणको दोष, और दोषको गुण बना देना] 'मृदव' कहलाता है ।

जिस उदाहरण गुणोका दोषत्व और दोषोका गुणत्व इस प्रकारका परिवर्तन हो जाता है यह मृदा अर्थात् दूसरे पक्षमे मर्दन द्वारा अपने पक्षकी रक्षा [अवयव] करनेके कारण 'मृदव' कहलाता है ।

गुणको दोष बना देने [रूप 'मृदव' का उदाहरण] जैसे वेणीसंहारके द्वितीय अक्षरों—
जयद्रथकी माता—अरे बेटा ! बन्धु [अभिमान] के वधके कारण अत्यन्त क्रुद्ध हुए थे [पाण्डव लोग] अपने शरीरका भी मोह छोड़कर [युद्धभूमिमे] विचरने लगे [इसलिए उनसे सावधान होकर लड़ना चाहिए] ।

राजा—[सोपहासम्] एवमेतन् । सर्वजनप्रसिद्धमेवामर्षित्वं पाण्डवानाम् ।

पश्य—

हस्ताकृष्टविलोकेशवसना दुःशासनेनाज्ञया,
पांचाली मम राजचक्रपुरतो गौर्गौरिति व्याहृता ।
तस्मिन्नम्व स किं न गाण्डिववरो ? नासीत् पृथानन्दनो,
यून क्षत्रियवशजस्य कृतिन क्रोधास्पदं किं न तन् । ?”

अत्र धनुर्धरत्वादयो गुणा दोषीकृता ।

यथा नलविलासे—

“राजा—देवि ! उपालभ्यसे आभ्यन्तर परिजनापराधेन ।

दमयन्ती—कह विय ?

[कथमिव] ?

राजा—वक्त्रेन्दु रिमतमातनोदधिगते दृष्टी विकासश्रियं,
वाहू कण्टककोरकाण्यविभृतां प्राप्ता गिरो गौरवम् ।
किं नाङ्गानि वयातियेयमसृजन् स्वस्थापतेयोचितं,
सम्प्राप्ते मयि नैतदुज्भक्ति कुचद्वन्द्वं पुन स्तब्धताम् ॥”

अत्र स्तब्धता स्तनगुणो दोषीकृत ।

राजा—[उपहास करता हुआ] अच्छा यह बात । [पाण्डवोंके कोपसे हमें डरना चाहिए] किन्तु पाण्डवोंका कोप तो सब लोग जानते हैं [कि वे कोप बरके भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते हैं] । देखो—

मेरी आज्ञासे तु शासनके द्वारा राजाओंकी सभाके बीचमें द्रौपदीके बेश और बत्नोंके हाथसे खींचे जानेपर [मैं तुम्हारी गौ हूँ मेरी रक्षा करो इस प्रकार अनेक बार] द्रौपदीसे गौ-गौ [ये दोनतापूर्ण शब्द] कहलवा लिए । [द्रौपदी गौ-गौ कहकर चित्तलाती रही] उस समय क्या गाण्डीवधारी अर्जुन नहीं था ? अथवा क्षत्रियवशसे उत्पन्न हुए मनस्वी युवकोंके लिए क्या वह [अपनी पत्नीका ऐसा घोर अपना] लज्जा जनक नहीं था ?

यहाँ[अर्जुनके] धनुर्धरत्व आवि गुणोंको दोष बना दिया है ।

अथवा जैसे नलविलासमें—

राजा—अपने भीतरी परिजनोंके अपराधके कारण तुमको उलाहना मिल रहा है ।

दमयन्ती—कैसे ?

राजा—[मेरे जानेपर तुम्हारा] मुलचन्द्र मुस्कराने लगा, दोनों नेत्र [वियामकी प्राप्त हो गए] गिल उठे, बाहुओंमें रोमाञ्च हो आया और बाणो भारी हो गई । इस प्रकार क्या तुम्हारे अङ्गोंने अपनी अपनी क्षमताके अनुसार मेरा आतिथ्य या स्वागत नहीं किया ? [अर्थात् मेरे जानेपर तुम्हारे अग्य सारे अङ्गोंने मेरा स्वागत किया] किन्तु मेरे जाने पर भी यह तुम्हारा स्तन पुगल अपनी स्तब्धता [अर्थात् बटोरता [और दूसरे पक्षमें जड़ता] को नहीं दोष रहा है ।

यहाँ स्तब्धता [बटोरता] स्तनोंका गुण है किन्तु उसको दोष बना दिया है ।

१ गाण्डिववरो ।

अपि चास्मदुपशे 'सुधाकलरो'—

"लच्छो गिहीण भूसा अपत्तत्रिज्जाण सा पुणो गम्हं ।

तत्तो पडेज्ज विज्ज आजम्मदुहंकर सकन्तो ॥

[लक्ष्मीगृहिणा भूषा, अप्राप्तत्रिद्याना सा पुनर्गुर्वी ।

तत् पठेद् विद्यामानन्मदु सकरा सकर्ण । इति मस्कृतम्]"

अत्र निर्वेदाद् विनुधैत्रिया गुणोऽपि दोषीकृत ।

दोषस्य गुणीकरणं यथा वेणीसहार कञ्चुकिना सह विवादे—

'दुरोधन—सूक्तमिदं कन्यापि—

गुणं साक्षात् महानरूपं स्वयमन्येन वा कृत ।

करोति महतीं प्रीतिमपकारोऽपकारिणाम् ॥

येनाद्यद्रोण-कर्णं जयद्रथादिनिहतमभिमन्युमुपश्रुत्योच्छ्वसितमिव नश्चेतसा।'

अत्र क्षत्रधर्मं त्यक्त्वा अभिमन्युनिहत इत्ययं दोष, स्वप्रीतिहेतुत्वेन गुणीकृत ।

यथा वा नलविलासे—

"सर्वेषामपि सन्ति वेगमसु कुत कान्ता कुरङ्गीशो,

न्यायार्थी परदारविप्लवश्च राजा जन धाधत ।

आज्ञा कारितवान् प्रजापतिमपि स्या पञ्चमाणस्ततः,

कामार्तं क्व जनो व्रजेत् परहिता पण्याङ्गना स्युर्न चैत् ॥"

श्रीर जैसे हमारे बनाये हुए सुधाकलशमे भी—

लक्ष्मी गृहस्थोंका भूषण है श्रीर विद्या न पढ़ हुआ वह श्रीर भी बड़ा भूषण है ।

इसलिए आज्ञा न दुख देने वाली विद्याको [सकल बड़ कानोंवाला गदहा] मूल ही पढ़गा ।

यहाँ विद्या रूप गुणोंको भी देवोंन निर्वेदके वगीभूत होकर दोष बना दिया है ।

दोषको गुण बना देना जैसे वेणीसहारम कञ्चुकीके साथ विवादमे—

दुरोधन—यह किसोका कथन बड़ा सुन्दर है कि—

अपन [अपकारियों अर्थात्] शत्रुओंके प्रति गुप्त रूपसे अथवा साक्षात् रूपसे छोटा या

बड़ा स्वयं या दूसरेके द्वारा किया जाने वाला अपकार भी अत्यन्त आनन्ददायक होता है ।

इसलिए आज्ञा द्रोण कल जयद्रथ आदि [सात महारथियों] के द्वारा अभिमन्युके

मार जानेका समाचार सुनकर हमारा चित्त प्रसन्न हो उठा है ।

यहा क्षात्र धर्मका परित्यागकरके [सात महारथियोने मिलकर] अभिमन्युको मार दिया

यह [धर्मविरुद्ध होनेसे] दोष होनेपर भी अपनेलिए आनन्ददायक होनेसे गुण बना दिया गया है ।

अथवा जैसे नलविलासमे—

सब लोगोंके घरमे तो मृगनयनी [सुन्दरी] स्त्रियों कहाँसे हो सकती हैं श्रीर न्यायकारी

राजा दूसरोंकी स्त्रियोंको बिगाडनेवाले लोगोंको दण्ड देता है । श्रीर कामदेवने स्वयं प्रजापतिसे

भी अपनेकी आज्ञा पालन करवा ली [अर्थात् प्रजापति सहज भी जब कामपर विजय प्राप्त

न कर सके तब सामान्य मनुष्य कामपर विजय प्राप्त कर सकगा यह तो असम्भव ही है ।

ऐसी दशाँमे यदि बध्याए न हों तो कामात-जन [अपनी तृप्ति के लिए] कहाँ जाय ?

१ उपसृतेऽसितमिव ।

अत्र पण्यस्त्रीत्वं दोष. शृङ्गारपुष्ट्यर्थं गुणीकृतः ।

अपि च यथा 'सुधाकलशे'—

ताण नमो निगुणसेहृराण गुणिसलहिज्जजन्ममाणं ।

निअगुणविहलत्तभवा सिविणे वि न जाण अरईउ ॥

[तेभ्यो नमो निर्गुणशेखरेभ्यो गुणिश्लाघ्यमानजन्मभ्यः ।

निजगुणविफलत्वभवाः स्वप्नेऽपि न येषामरतयः ॥ इति संस्कृतम्]”

अत्र निर्वेदाद् गुणिभिर्निर्गुणत्वं दोषोऽपि गुणीकृतः ।

उभयमेकत्र यथा—

“मन्तः सच्चरितोदयव्यसनिन. प्रादुर्भवयन्त्रणाः,

सर्वत्रैव जनापवादचकितास्तिष्ठन्ति दुःखं सदा ।

. अय्युत्पन्नमति. कृतेन न सता नैवासता व्याकुलो,

युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जनः प्राकृतः ॥

अत्र सत्त्वं गुणोऽपि दोषीकृतः । प्राकृतत्वं तु दोषोऽपि गुणीकृत इति ।

(११) अथोद्घात्यकम्—

[सूत्र १५१]—परस्परं स्याद्दुद्घात्यं गूढभाषणम् ॥ [३५] १०० ॥

प्रच्छक-प्रतिवक्तोरन्योन्यं गूढार्थमुक्ति-प्रत्युक्त्यात्मकं भाषणं उद्घाते प्रश्नात्मके साधु उद्घात्यम् । यदा प्रश्ना विवक्षितोत्तरदानसमर्थः किन्तु यन्ममाभिप्रेतं तद् युक्तमयुक्तं वेत्यभिसन्धाय पृच्छति, प्रतिवक्ता चोचितमभिधत्ते तदा उद्घात्य-मित्यर्थः ।

यहाँ धेइयात्व रूप दोष भी शृङ्गारकी पुष्टिके लिए गुण बना दिया गया है ।

और भी जैसे सुधाकलशमे—

गुणजन भी जिनके जन्मकी प्रशंसा करते हैं उन निर्गुण-शिरोमणियोंको नमस्कार है । क्योंकि अपने गुणके विफल हो जानेका दुःख उनको स्वप्नमे भी नहीं होता है ।

यहाँ गुणियोंने बंराग्यके कारण निर्गुणत्व रूप दोषको भी गुण बना दिया है ।

[दोषको गुण बना देना और गुणको दोष बना देना इन] दोनोंका एकसाय उदाहरण जंते—

उत्तम कार्योंके करनेके श्रम्याती सज्जन पुरुष लोकापवादके भयसे यन्त्रणप्रस्त और सदा कष्टमे रहते हैं । किन्तु उचित-अनुचितके विचारसे रहित, इतलिए की हुई भलाई-बुराईते ध्याकुल न होने वाले मूर्ख साधारण लोग धन्य हैं ।

यहाँ सज्जनता रूप गुणको भी दोष बना दिया गया है और मूर्खता रूप दोषको भी गुण बना दिया गया है ।

(११) उद्घात्यक नामक ग्यारहवाँ वीथ्यङ्ग—

जब 'उद्घात्यक'का [का लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १५१]—परस्परं गूढभाषणको 'उद्घात्यक' कहते हैं । १०० ॥

प्रश्नकर्ता और उत्तर देने वाले दोनोंके बीच परस्पर गूढार्थयुक्त उत्तर-प्रत्युत्तर रूप भाषण प्रश्नात्मक उद्घातमे साधु होनेसे 'उद्घात्यक' कहलाता है । जब पूछने वाला स्वयं विवक्षित उत्तर देनेमे समर्थ होनेपर भी, जो मेरा अभिप्रेत अर्थ है वह उचित है या अनु-

यथा 'पाण्डवानन्दे' सूत्रधार-पारिपार्श्विकयोक्त-प्रत्युक्ती—

“का भूपा वलिनां क्षमा परिभव. को यः म्वकुल्यैः कृतः,
किं दुखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते ।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः,
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरच्छत्रस्थितैः पाण्डवैः ॥”

इति ॥ [३५] १०० ॥

(१२) अथावलगितम्—

[सूत्र १५२]—तच्चावलगितं सिद्धिः कार्यस्यान्यमिषेण या ।

विवक्षितप्रयोजनस्यान्यकार्यकरणव्याजेन सम्पत्तिर्वत्र तदन्यकार्यावलगनादवल-
गितम् । यथोत्तरचरितं समुत्पन्नवनविद्वारदोहदायाः सीताया दोहदकार्यमिषेण
जनापवादादरख्ये त्यागः ।

केचिन् तु पात्रान्तरे स्वव्यापारं निक्षिप्य यन् कार्यान्तरकरणं तदवलगित-
मित्याहुः । यथा कृत्यारावणस्यामुखे—

“सूत्रधार.—[नि.श्वस्य] आर्ये ! ननु भवीमि—

चित इत अभिप्रायसे [दूसरेमे] पूछना है, और उत्तर देने वाला उचित उत्तर देता है वह
'उद्धारक' होता है ।

जैसे पाण्डवानन्दमें सूत्रधार और पारिपार्श्विकके उक्ति-प्रत्युक्ति [निम्न प्रचार] है—
बलवानोंका भूषण क्या है ? [यह सूत्रधारका प्रश्न है] । क्षमा [बलवानोंका भूषण है
यह उत्तर] । अपमान कौनसा है ? [यह प्रश्न है] जो अपने कुलके लोगों द्वारा किया जाय वही
अपमान है [यह उत्तर हुआ] दुःख क्या है ? [यह प्रश्न है] दूसरोंका आसरा लेना [दुःख
है यह उत्तर हुआ] । संसारमे प्रशंसनीय कौन है ? [यह प्रश्न है] जिसका लोग आश्रय लेते
हैं [यही श्लाघ्य है यह उत्तर हुआ] मृत्यु क्या है ? [यह प्रश्न है] व्यसन [ही मृत्यु है यह
उत्तर हुआ] । शोकसे कौन बचता है ? [यह प्रश्न है] जिन्होंने शत्रुघोषपर विजय प्राप्त
कर ली [वै ही दुःखके पार हो जाते हैं यह उत्तर हुआ] । इत सबको किसने समझ लिया
है ? [यह प्रश्न है] विराटके नगरमे द्विपञ्चर रहने वाले पाण्डवोंने [इन सब बातोंको ठीक
तरहसे समझ लिया है यह उत्तर है] ।

(१२) अवलगित नामक वारहवाँ अध्याय—

अथ अवलगित [का लक्षणादि करते हैं]—

[सूत्र १५२]—जहाँ अग्यके बहानेमे कार्यकी सिद्धि हो उसको 'अवलगित' कहते हैं ।

जहाँ अग्य कार्यके करनेके बहानेसे विवक्षित प्रयोजनकी सिद्धि हो जाय वह अग्य
कार्यक अवलम्बन करनेसे 'अवलगित' कहा जाता है । जैसे उत्तररामचरितमे सीताके मनमें
वनविहारकी इच्छा उत्पन्न होनेपर सीताके इच्छा [दोहद] रूप कार्यके बहानेसे जनापवादके
करण सीताको वनसे छोड़ देना [अवलगितका उदाहरण है] ।

कुछ लोग अपने कार्यको दूसरे पात्रके ऊपर डालकर अग्य कार्यमें लग जानेको
'अवलगित' कहते हैं । जैसे कृत्यारावणके आमुलमे—

सूत्रधार—[निश्वास लेकर] अरे आर्ये ! मैं तो यह कहता हूँ नि

वाक्प्रपञ्चैकसारेण निर्दिशेपाल्पवृत्तिना ।

स्वामिनेव नटत्वेन निर्दिष्टाः सर्वथा वयम् ॥

तद् गच्छतु भवती पुत्रं मित्रं वा कमपि पुरस्कृत्य क्रमागतामिमां कुजीविका-
मनुवर्तयितुम् ।”

ततः क्रमादाह—

“परिग्रहोरुप्राहौघाद् गृहसंसारसागरान् ।

बन्धुस्नेहमहावर्तादिदमुत्तीर्य गम्यते ॥”

अत्र स्वजीविकां दारेषु निक्षिप्य परलोकहेतुकार्यकरणं स्वयमाश्रितम् ।

अपरे तु प्रस्तुतेऽन्यस्मिन् कार्ये यदन्यत् स्वयमेव सिद्धयति तदवलगितम् ।

यथा छलितरामे—

“रामः—लक्ष्मण ! तातविप्रयुक्तामयोध्यां विमानस्थो नाहं प्रवेष्टुं शक्नोमि ।

तदवतीर्य गच्छामि ।

कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः ।

जटावानक्ष्वलयी चामरीव विराजते ॥

अत्र भरतदर्शनकार्यान्तरस्थैवमेव सिद्धिरिति ।

(१३) अथावस्पन्दितम्—

[सूत्र १५३]—स्वेच्छोक्तस्यान्यथास्यानं यदवस्पन्दितं तु तत् ॥[३६]

१०१॥

बात बनाना ही जिसका सार है इस प्रकारके, और साधारण सी अल्प वृत्तिवाले स्वामी जैसे नट-व्यापारसे हम सर्वथा खिन्न हो गए हैं ।

इसलिए पुत्र या किसी मित्रको लेकर तुम कुलक्रमागत इस कुजीविकाका अनुसरण करनेके लिए जाओ [मैं तो नहीं जाऊंगा] ।

उसके बाद फिर क्रमसे [आगे चलकर] कहता है—

परिधार रूप महान् प्राहींसे भरे हुए और बन्धुस्नेह रूप भयंकर भवर्षो वाले इस गृहस्थ रूप संसार सागरको पार करके मैं तो जाता हूँ ।

यहाँ अपनी जीविकाको स्त्रीके ऊपर छोड़कर [नट] स्वयं परलोकके हेतुभूत कार्यके करनेमे लग जाता है ।

दूसरे लोग तो जहाँ अन्य कार्यके प्रस्तुत होनेपर अन्य कार्य स्वयं ही सिद्ध हो जाय उसको 'अवलगित' कहते हैं । जैसे छलितराममे—

राम—हे लक्ष्मण ! विनाजीसे शून्य अयोध्यामे, मैं विमानपर बंठा हुआ नहीं जा सकता हूँ इसलिए उतरकर चलूंगा ।

[भरे यहाँ तो] सिंहासनके नीचे पादुकाओके सामने जटाधारण किए हुए, घशमाता-युक्त, और घमर-युक्त-सा कोई बंठा हुआ है ।

(१३) अवस्पन्दित नामक तैरदृष्यो वीथ्यङ्ग—

अथ 'अवस्पन्दित' [का लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १५३]—स्वेच्छासे [अर्थात् उक्त विशेष घमिप्रायसे न] बटे हुए [अथवा] का

स्वेच्छया वर्णनाभिप्रायमात्रेण उक्तम्यान्यधारयानं यदवस्पन्दितं अन्यार्थकथन-
रूपं यन् तदवस्पन्दितम् । चक्षुःस्पन्दनादिवत् अन्तर्गतसूचनीयसम्भवान् । यथा वेणी-
संहारे—

“सत्पक्षा मधुरगिरः प्रमाधिताशा मद्योद्धतारम्भाः ।

निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ॥”

अत्र स्वेच्छया शरद्वर्णनाथ हंसवर्णनं सूत्रधारणोक्तम् । एतन् पारिपाश्विकेन
धृतराष्ट्रसुतानां दुर्योधनादीनाममङ्गलार्थकथनेन अन्यथाख्यातम् ।

यथा या छलितरामे—

“भीता—जादृ ! पद्भ्याम् तुन्मेहि अउङ्गात् गंतव्यं । सो अ राया विगुण्ण
पणमिदव्यो ।

[जात ! प्रभाते युवाभ्यामयोध्यायां गन्तव्यम् । म च राजा विनयेन प्रणन्तव्य]

लय.—अम्ब ! किमावाभ्यां राजोपजीविकाभ्यां भाव्यम् ?

अन्य प्रकारसे कथन करना 'अवस्पन्दित' कहलाता है । [३६]१०१ ।

स्वेच्छासे अर्थात् साधारण वर्णनके अभिप्रायसे कहे हुएका अर्थ प्रकारसे कथन करना
अर्थात् अन्य अर्थका कथन जो होता है वह अर्थके फडकनेसे अन्तर्गत अभिप्रायके सूचनके
समान होनेसे 'अवस्पन्दित' कहलाता है । जैसे वेणीसंहारमें—

शरद्वर्णनके अभिप्रायसे सूत्रधारने 'सत्पक्षा' आदि श्लोक पढ़ा है । उसमें 'धार्तराष्ट्रा'
पद हंसोंके लिए आया है । किन्तु उससे कौरवोंके पतन रूप अन्य अर्थकी भी प्रतीति होती है ।
यद्यपि सूत्रधारने इस अभिप्रायसे नहीं कहा है किन्तु पारिपाश्विकने कौरवोंके नाश-रूप
अमङ्गलार्थमें उसकी व्याख्या कर ली है । अतः यह 'अवस्पन्दित' नामक बोध्यङ्गका उदाहरण
है । श्लोकका अर्थ दोनों पक्षोंमें निम्न प्रकार लगता है —

सुन्दर पक्ष वाले [हस और दुर्योधनके पक्षमें 'सत्पक्षा'का अर्थ भीष्म, द्रोण आदि
उत्तम पुरुष जिसके पक्षमें हैं इस प्रकारके कौरव यह होगा] जिन [हसों] ने [अपनी स्थिति
से] दिशाश्रोको अलकृत कर दिया है [और कौरवोंके पक्षमें जिन्होंने सारी दिशाश्रोको अपने
पक्षमें कर लिया है ।] मदके कारणही उद्धत आरम्भ [ध्यावार] करने वाले धार्तराष्ट्र [अर्थात्
हस और कौरव दोनों] काल [हसपक्षमें शरद्वर्णन रूप काल, तथा कौरव पक्षमें मृत्यु रूपकाल]
के वशीभूत होकर पृथिवीपर गिर रहे हैं ['पतन्ति'का अर्थ हस पक्षमें उतरना और कौरव
पक्षमें गिरना है ; हस शरद्वर्णनके पृथिवीपर उतरते हैं] ।

यहाँ सूत्रधारने शरद्वर्णनके वर्णनके लिए स्वेच्छासे हसका वर्णन किया है । इसको पारि-
पाश्विकने दुर्योधन आदि धृतराष्ट्रके पुत्रोंके अमङ्गल-परक अर्थमें अन्य प्रकारसे समझ लिया
है । [इसलिए यह 'अवस्पन्दित' का उदाहरण है] ।

अथवा जैसे छलितराममें—

शोभा—हे पुत्रो ! कत सवेरे तुम दोनों अयोध्या जाना, और उस राजाको विनय-
पूर्वक प्रणाम करना ।

लय—माताजी ! क्या हम दोनोंको राजाका सेवक बन जाना चाहिए ? [किर हम
उसको विनयपूर्वक नमस्कार क्यों करें ?]

सीता—सो खु तुम्हाण पिता ।

[स खलु युवयो पिता] ।

लव —किमावयो रघुपति पिता ?

सीता—[साशङ्कम्] न खु तुम्हाण सयलाइ ज्येव पुह्वीए ।

[न खलु युवयो , सकलाया प्य पृथिव्या] ।” इति ।

एतानि च त्रयोदश वीथ्यङ्गानि सर्वरूपकाणां सर्वसन्धिषु निबन्धनीयानि । सर्वसन्धिसाधारण्यादामुपि भावान्च सन्ध्यङ्गेभ्य पृथमुक्तानीति ॥[३६]१०१॥

अथ व्यायोगादौ रूपकान्तरे सामान्यनाटकलक्षणतिदेशामाह—

[सूत्र १५४]—स्वां स्वां वैशेषिकी हित्वा सन्धि-वृत्त्यादिकां स्थितिम् ।

सामान्या नाटकस्यान्या विज्ञेया रूपकान्तरे ॥[३७]१०२॥

वैशेषिकीमसाधारणी सन्धि-वृत्त्यादिका इति आदिशब्दादङ्कपरिमाण-रस-नायकादिपरिग्रह । ‘अन्या’ इति पात्रोक्तिवैचित्र्य अङ्कोपाय-दशा-सन्ध्यङ्गलक्षणनायकादिप्रकृत्यौचित्यादिका स्थितिर्व्यायोगादौ रूपकान्तरे नाटकप्रतिपादिता-प्राप्तव्या । प्रकरणे तु नाटकसमानत्वमुक्तमेव । नाटिका-प्रकरणयो पुनर्नाटक-प्रकरणान्तेभू तत्वात् किञ्चिन् पृथग् वाच्यमिति सर्व समञ्जसम् ॥ [३७] १०२ ॥

इति रामचन्द्र-गुणचन्द्रनिरचिताया रघोपज्ञ-नाट्यदर्पणविवृतौ

प्रकरणशेकादशरूपनिर्णयो द्वितीयो निरुक्त समाप्त ॥

सीता—बह तुम्हारे पिता हैं ।

लव—क्या रघुपति हम दोनोंके पिता हैं ?

सीता—[साशङ्क] केवल तुम्हारे ही नहीं सारी पृथिवीके [बह पिता हैं] ।

इन तेरह वीथ्यङ्गोके सारे रूपकोके सब सन्धियोंमें दिखलाना चाहिए । सब सन्धियों में साधारण होनेसे, और प्रामुखमें भी निबद्ध होनेसे इनको सन्ध्यङ्गोसे अलग कहा गया है ॥[३६]१०१॥

अथ व्यायोग आदि अन्य रूपकोमें सामान्य, नाटक लक्षणका प्रतिदेश करते हुए [प-थकार] कहते हैं—

[सूत्र १५४]—अपनी अपनी सधि तथा वृत्ति आदि विषयक विशेष स्थितिके छोड़ कर नाटककी शेष स्थिति अन्य रूपकोमें भी समान रूपसे समझ लेनी चाहिए ॥[३७]१०२॥

‘वैशेषिकी’ अर्थात् प्रसाधारण । ‘सन्धि-वृत्त्यादिकां’ इसमें आदि शब्दसे अङ्क-परिमाण, रस और नायक आदिका ग्रहण करना चाहिए । ‘अन्या’ इस पदसे पात्रोक्तिवैचित्र्य, अङ्क उपाय, दशा, सन्ध्यङ्ग, लक्षण तथा नायकादि प्रकृतिका औचित्य आदि रूप स्थिति व्यायोगादि अन्य रूपकोमें भी नाटकमें प्रतिपादित [स्थितिके समान] समझ लेनी चाहिए । प्रकरणमें तो नाटककी समानता कही ही जा चुकी है । और नाटिका तथा प्रकरणोके अतन्त होनेमें [उन दोनोंके विषयोंमें] अलग कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं रहती है । इस प्रकार सब विषय स्पष्ट हो जाता है ॥[३७]१०२॥

धो रामचन्द्र गुणचन्द्र विरचित स्वप्रणीत नाट्यदर्पणको विवृतिम् प्रकरणादि,

गृहदश रूपकरिणामक द्वितीय विवेक समाप्त हुआ ।

अथ तृतीयो विवेकः

अथ तृतीयो विवेकः

अथ रूपकोद्देशश्लोकोद्दिष्टा. क्रमप्राप्ता वृत्तयः. प्रपञ्चयन्ते—

[सूत्र १५५]—भारती सात्त्वती कंशिवयारभटो च वृत्तयः ।

रस-भावाभिनयगाश्चतस्रो नाट्यमातरः ॥ [१] १०३ ॥

पुरुषार्थसाधको विचित्रो व्यापारो वृत्तिः । रस-भावाभिनया वक्ष्यमाणा । तात्-मयत्वेन गच्छन्ति । रस-भावाभिनयसम्भिन्नो हि सर्वो नाट्ये व्यापारः । 'चतस्र' इति चतुर्भेदत्वमन्यतमचेष्टांशप्राधान्यविवक्षया, अपरथाऽनेकव्यापारमवलितमेकमेव वृत्तितत्त्वम् । न नाम प्रबन्धेषु व्यापारान्तरासंवलित कोऽप्येकाकी कायिको वाचिको मानसो वा व्यापारो लक्ष्यते । कायिक्यो हि व्यापृतयो मानसैर्वाचिकैश्च व्यापारैः सम्भिद्यन्ते । शब्दोल्लिखितं मन प्रत्यय विना रञ्जकम्य कायव्यापारपरिष्पन्दग्याभावान् । वाचिक्यो मानस्यश्च कायपरिष्पन्दाविनाभाविन्य ण्व । तात्त्वादिव्यापाराभावे

अथ नाट्यदर्पणदीपिकायां तृतीयो विवेक

वृत्तिनिरूपण—

[प्रथम द्वितीय विवेकमे रूपकके समस्त भेदके लक्षण आदि कर चुकनेके बाद] अब रूपकोंका उद्देश [अर्थात् नाम-परिगणन] करानेवाले [अर्थात् ३४] श्लोकोमें [सर्ववृत्तय ' तथा 'त्रिवृत्तय शब्दोंके प्रयोग द्वारा] कही हुई वृत्तियो [को व्याख्या] का अबसर प्राप्त होनेसे वृत्तियोंका निरूपण [प्रारम्भ] करते हैं ।

[सूत्र १५५]—रस, भाव, अभिनय विषयक भारती, [सात्त्वती, कंशिकी और आर-भटो चार प्रकारकी वृत्तियां नाट्यकी माता [के सदृश] होती हैं । [१] १०३ ।

पुरुषार्थके साधक नाना प्रकारके व्यापारको 'वृत्ति' कहते हैं । रस, भाव और अभिनय [का लक्षणादि] आगे कहेंगे । [भारती आदि वृत्तियां] तन्मय [अर्थात् रसभावादिमय] होनेसे उनका अनुगमन करती है [इसलिए इस कारिकामे उनके विशेषणके रूपमें 'रसभावाभिनयगा' इस विशेषणपदका प्रयोग किया गया है । इसका यह अभिप्राय है कि] नाट्यमे सारा ही व्यापार रस, भाव और अभिनयसे युक्त होता है । [कारिकामे आए हुए] 'चतस्र' इस पदसे कहा हुआ चतुर्भेदत्व किसी एक व्यापाराशकी प्रधानताकी विवक्षासे कहा गया है प्रथमया [वास्तवमे तो] अनेक व्यापारोंसे मिलर हुआ वृत्ति-तत्त्व [अर्थात् व्यापार] एक ही होना है । क्योंकि नाटकादि [रूप प्रबन्धों] मे [कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारोंसे] कोई भी व्यापार अन्य व्यापारोंके योगके बिना नहीं होता है । कायिक व्यापार मानसिक तथा वाचिक व्यापारोंसे मिश्रित होते हैं । क्योंकि शब्द द्वारा निदिष्ट मानसिक ज्ञानके बिना कोई सुन्दर कायिक व्यापार सम्भव नहीं है और मानसिक तथा वाचिक व्यापार तो कायिक व्यापारके बिना ही ही नहीं सकते हैं । क्योंकि तात्त्व्यादिके व्यापारके बिना शब्दका

वचनानुच्चारणात्, प्राणादिरूपकायपरिस्पन्दाभावे मनोव्यापृत्यनुपलक्षणाच्च । मन-
शून्यश्च व्यापार-कायिको वाचिको वाऽरञ्जकत्वादिनिबन्धनीय एव । त्रिदूषकोऽपि
हास्यार्थं बुद्धिपूर्वकमेव विसंस्थुलं विचेष्टते । अतः संकीर्णत्वेऽपि अंशप्राधान्यापेक्षया
वृत्तयश्चतस्रः ।

नाट्यस्य अभिनेयकाव्यस्य मातर इव मातर । आभ्यो हि वर्णनीयत्वेन कवि-
हृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते । 'नाट्य' इति च प्रस्तावापेक्षम् । तेनानभिनेयेऽपि
काव्ये वृत्तयो भवन्त्येव । न हि व्यापारशून्यं किञ्चिद्दर्शनीयमस्ति । रङ्गानन्तरं च
नाट्यमिति रङ्गस्य व्यापारशून्यत्वेनावृत्तित्वेऽपि न कश्चिद् दोषः । मूर्च्छादीं तु
व्यापाराभावेन वृत्त्यभावेऽपि न नाट्यस्य वृत्तिमयत्वहानि । बाहुल्यापेक्षया वृत्तिमयत्व-
स्याभिमतत्वादिति ॥ [१] १०३ ॥

उच्चारण नहीं हो सकता है । और प्राणादि रूप कायिक व्यापारके अभावमे मनोव्यापारोंका
भी परिज्ञान नहीं हो सकता है । [इसलिए मानसिक तथा वाचिक व्यापार दोनों कायिक
व्यापारके साथ निहित होते हैं । अकेले नहीं हो सकते हैं । इसी प्रकार] मनोव्यापारसे
रहित कायिक या वाचिक व्यापार नीरस [अरञ्जक] होनेसे [नाटकदिमें] वर्णन करनेके योग्य
नहीं होता है । विदूषक भी हास्यके लिए बुद्धिपूर्वक ही अटपटी चेष्टाएँ करता है । इसलिए
[कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार रूप भारती आदि चारो वृत्तियोंके परस्पर] सकीर्ण
होनेपर भी [उस उस] अंशकी प्रधानताकी दृष्टिसे चार प्रकारकी वृत्तियाँ [कही गई] हैं ।

[आगे कारिकामें आए हुए 'नाट्यमातर' पदका अर्थ करते हैं] नाट्यकी अर्थात् अभिनेय
काव्यकी माताके समान [जननी] होनेसे [वृत्तियाँ नाट्यकी] माता [कहलाती] है । क्योंकि
कविके हृदयमे वर्णनीय रूपसे स्थित [कायिक-वाचिक-मानसिक व्यापार रूप] इन [भारती
आदि चारों वृत्तियों] से ही काव्यकी उत्पत्ति होती है [अर्थात् कवि अपने काव्यमे कायिक,
वाचिक और मानसिक व्यापारोंका ही वर्णन करता है । वह त्रिविध व्यापार ही काव्यका
जनक होता है और भारती आदि वृत्तियाँ कायिक वाचिक, मानसिक व्यापार रूप ही
हैं । इसलिए काव्यकी जननी होनेसे उनको काव्यकी माता कहा गया है । 'नाट्यमातर'
इसमे] 'नाट्य' यह पद प्रकरणकी दृष्टिसे आया है । [अर्थात् इस समय नाटकका निरूपण
किया जा रहा है इसलिए 'नाट्यमातर' कहा गया है । घंसे ये वृत्तियाँ केवल नाट्य
अर्थात् अभिनेय काव्यकी ही नहीं अपितु अनभिनेय अथवाकाव्यकी भी माता हैं । क्योंकि अथ-
वाक्यमे भी कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापारोंका ही वर्णन होता है] इसलिए अन-
भिनेय [अर्थात् अथवा] काव्यमे भी [भारती आदि] वृत्तियाँ होती ही हैं । क्योंकि व्यापार-
रहित किसी अर्थका वर्णन नहीं होता है । मुख्य नाटकका आरम्भ पूर्व [नाट्यदीपाठ आदि
रूप] पूर्वरङ्गके बाद होता है इसलिए पूर्वरङ्गके [नाट्यमे वर्णनीय] व्यापारसे रहित होने
पर भी कोई दोष नहीं है [क्योंकि वह पूर्वरङ्ग वाला भाग वास्तवमे नाटकका अंश नहीं है ।
इसी प्रकार मुख्य नाटकके बीचमे आने वाले] मूर्छा आदि [के प्रसंगों] में व्यापारादि न होने
से वृत्तियोंका अभाव होनेपर भी नाट्यके वृत्तिमयत्वकी हानि नहीं होती है । क्योंकि [वृत्तियों
के] बाहुल्यकी दृष्टिसे वृत्तिमयत्वका अर्थ न किया गया होनेसे [जहाँ धोरेसे भागमें व्यापार-
शून्यता होनेसे कोई हानि नहीं होती है । मूर्छादि प्रसंगोंमें वृत्त्यभाव होनेपर भी नाट्य

अथ भारत्या लक्षणमाह—

[सूत्र १५६]—सर्वरूपकगामिन्यामुख-प्ररोचनोत्थिता ।

प्रायः संस्कृतनिःशेषरसाढ्या वाचि भारती ॥ [२] १०४ ॥

सर्वरूपकेषु अभिनेयानभिनेयेषु गमनशीला प्रायस्तन्मयत्वाद् वर्णनाया ।
आमुषप्ररोचनयोः स्थितः सम्भवो यत् । प्रायो द्वाहुन्येन संस्कृतेन सर्वरसैरच दीप्ता ।

वृत्तिमय ही माना जाता है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ॥ [१] १०३ ॥

(१) भारतीवृत्तिका निरूपण—

इस प्रकार पिछली कारिकामे वृत्तियोंका सामान्य लक्षण करनेके बाद अब आगे भारती आदि चारो वृत्तियोंमेंसे एक एक वृत्तिका लक्षण करेंगे । पिछली कारिकामे यह कहा था कि चारो वृत्तियाँ काव्यिक, वाचिक तथा मानसिक व्यापार-रूप है इसी दृष्टिसे आगे इन चारोंके लक्षण करेंगे । इस इनमेंसे भारती वृत्ति वाचिक व्यापार-रूप और सात्वती वृत्ति मानसिक व्यापार रूप होती है । दोष कंशिकी तथा धारभट्टी दोनों वृत्तियाँ काव्यिक व्यापार-रूप होती हैं । काव्य और नाट्यमें वाचिक व्यापारकी प्रधानता होनेके कारण सबसे पहले वाचिक-व्यापार रूप भारती-वृत्तिना लक्षण निम्न प्रकार करते हैं—

अथ भारती [वृत्ति] का लक्षण कहते हैं—

[सूत्र १५६]—समस्त रूपकोंमें रहने वाली, आमुष तथा प्ररोचनासे उत्थित [अर्थात् नाट्य के प्रारम्भिक भागोंमें विशेष रूपसे उपस्थित] सम्पूर्ण रसोंसे परिपूर्ण, तथा प्रायः संस्कृत [भाषा] का अथलम्बन करने वाली, वाग्व्यापार-प्रधान वृत्ति 'भारती' [वृत्ति कहलाती] है । [२] १०४

[कारिकामें आए हुए 'सर्वरूपकगामिनी' पदका अभिप्राय यह है कि यह भारती वृत्ति अभिनेय और अनभिनेय [अर्थात् दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य] सब रूपकोंमें जाने वाली [सब प्रकारके काव्योंमें विद्यमान रहने वाली] है । क्योंकि सारा वर्णन प्रायः उससे युक्त [भारतीवृत्तिमय] होता है । ['आमुष प्ररोचनोत्थिता' का अर्थ करते हैं कि] आमुष तथा प्ररोचना [रूप काव्य या नाट्य भागों] का उदय जिससे होता है । [आमुष और प्ररोचना किसको कहते हैं यह प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है । इसका लक्षण प्रगती दो कारिकाओंमें करेंगे] । प्रायः अर्थात् अधिकतर संस्कृत भाषा और सब रसोंसे युक्त [भारती वृत्ति होती है] ।

भारतीवृत्तिके इस लक्षणमें मुख्यरूपसे आमुष तथा प्ररोचना भागोंमें भारतीवृत्ति का निर्देश किया गया है और उसको प्रायः संस्कृतभाषा तथा सब रसोंसे युक्त कहा गया है । यही 'प्रायः' शब्दका जो प्रयोग किया गया है उसकी ग्रन्थकार यह व्याख्या करते हैं कि यद्यपि भारतीवृत्तिका मुख्य स्थान आमुष तथा प्ररोचना भागोंमें माना गया है किन्तु इनमें निम्न स्थानापर भी इसका स्थान पाया जाता है । इसी प्रकार मुख्य रूपसे भारतीवृत्तिमें संस्कृत-भाषाका ही प्रयोग होता है किन्तु वह एकदम अनिवार्य नहीं है । कभी-कभी संस्कृतमें निम्न प्राकृतभाषाका भी भारतीवृत्तिमें प्रवृत्तमयन किया जा सकता है । इसी बातको ग्रन्थकार प्रगती पवित्रमें निम्न प्रकार कहते हैं

प्ररोचना-आमुखयोरन्यत्रापि च रूपकैकदेशे प्राकृतादिपाठेन भारतीदर्शान् प्रायोग्रहणं अर्थवत् । सर्वरूपकभावित्वाद् रसानां च वाग्जन्यत्वाद् सर्वरसात्मकत्वम् । ये तु भारत्यां बीभत्स-करुणौ प्रपन्नास्तै सर्वरसप्रधानवीथी-शृङ्गारवीरप्रधानभाण-हास्यप्रधानप्रहसनानि स्वयमेव भारत्यामेव वृत्तौ नियन्त्रितानि नावेक्षितानि ।

‘प्ररोचना’ और ‘आमुख’ [भागों] से अन्यत्र भी रूपकोंके किसी एकदेशमे [भारती वृत्तिके देखेजानेसे] और [सस्कृतभाषाको छोड़ कर] प्रकृत आदि [भाषा] के पाठसे भी भारती-वृत्तिके देखे जानेसे [कारिकामे किया गया] ‘प्राय.’ शब्दका प्रहण सार्थक है । रसोंके सब रूपकोंमें व्यापक होने और वाणी द्वारा ध्वस्त होनेसे [वाग्वापारप्रधाना भारती वृत्ति] सर्व-रसात्मक होती है । जो [दशरूपककार घनञ्जय] भारतीवृत्तिमे [सब रस न मान कर] केवल बीभत्स और करुण रस मानते हैं उन्हेने स्वय [अपने आप] ही भारतीवृत्तिमें नियन्त्रित सर्व-रसप्रधान [बीथी] शृङ्गार और वीररस प्रधान [भाण], तथा हास्यरस-प्रधान [प्रहसन क्रमश] बीथी भाण तथा प्रहसनो की और ध्यान नहीं दिया है [इसीलिए वे भारतीवृत्तिमे केवल बीभत्स और करुणरसको ही मानते हैं । किन्तु उनका यह सिद्धान्त ठीक नहीं है] ।

इसका अभिप्राय यह है कि घनञ्जय जो केवल बीभत्स तथा करुणरसमे भारतीवृत्तिका प्रयोग मानते हैं उन्हेोंने भी ‘बीथी’, भाण तथा प्रहसनके लक्षणों मे भारतीवृत्ति का समावेश माना है । सूत्र १४० में ‘बीथी’ का लक्षण करते हुए ‘सर्वस्वानिरसा बीथीत्त लिखकर प्रकृत ग्रन्थकारने बीथीमें समस्त रसोंके रखनेका विधान किया है । १४१ वें सूत्रमे बीथीके तेरह श्रगोका वर्णन करते हुए फिर ‘भारतीवृत्तिवर्तीनि वीथ्यगनि प्रयोदश’ लिखकर बीथीमें ‘भारती’ वृत्तिका समावेश किया है । इस प्रकार बीथीमे समस्त रसोंके साथ भारतीवृत्तिका प्रयोग माना जाता है । इसके प्रतिरिक्त ११९वें सूत्रमें ‘भाण-प्रधानशृङ्गार-वीरी’ लिखकर भाणमे शृङ्गार तथा वीररसकी प्रधानताका प्रतिपादन किया गया है । और उसके साथ ही १३०वें सूत्रमे ‘वृत्तिं मुं श्या च भारती’ लिखकर भाणमे भारतीवृत्तिकी मुख्यता प्रतिपादन की है । इसलिए वीर तथा शृङ्गारके साथ भारतीवृत्तिका सम्बन्ध भाणके लक्षणमे प्रतिपादन किया है । फिर सूत्र १३१ वें ‘हास्याद्भि भाणसन्ध्यञ्जवृत्ति प्रहसन द्विधा’ इस प्रहसनके लक्षणमे हास्यरसको प्रहसनका प्रधानरस तथा भाणके समान सन्धि, अक् तथा वृत्तियोंका प्रतिपादन कर प्रहसनमें भी भारतीवृत्तिकी प्रधानता निर्दिष्टकी है । इसलिए हास्यरसके साथ भी भारतीवृत्तिका समावेश पाया जाता है । इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीवृत्तिका सम्बन्ध प्रहसनके लक्षणके अनुसार हास्यरसके साथ, भाणके लक्षणके अनुसार वीर और शृङ्गार रसोंके साथ, और बीथीके लक्षणके अनुसार सभी रसोंके साथ होता है । बीथी, भाण और प्रहसनके ये लक्षण सर्वसम्मत लक्षण हैं । जो दशरूपककार घनञ्जय आदि भारतीवृत्तिका सम्बन्ध केवल बीभत्स और करुण रससे बतलाते हैं, वे भी बीथी भाण और प्रहसनके इसी प्रकारके लक्षण करते हैं । इन लक्षणोंके अनुसार उन्हेोंने भी बीथी, भाण तथा प्रहसनोको भारती वृत्तिमे नियन्त्रित कर दिया है । फिर भी वे भारतीवृत्तिका सम्बन्ध केवल बीभत्स और करुण रससे बतलाते हैं । यह बात उनके अपनेही कथनके विपरीत हो जाती है । इसी बातको ग्रन्थकारने यहाँ ‘तं’ बीथी, भाण, प्रहसनानि स्वयमेव भारत्यां वृत्तौ नियन्त्रितानि नावेक्षितानि’ इस रूपमें लिखा है ।

‘वाचि’ वाग्ब्यापारविषये वाग्ब्यापारात्मिकेत्यर्थः । भारती वाग्ब्यापारविषय एवेत्ययोगव्यवच्छेदः । तेन वाचिकाभिनयात्मिका सात्त्वत्यपि भवति । वृत्त्यन्तराणि तु सर्वथाभिनयविषयाणि । भारतीरूपत्वाद् व्यापारस्य भारतीति ॥ [२] १०४ ॥
अथ भारतीसम्भवमामुखं लक्षयति—

[सूत्र १५७]—विदूषक-नटी-मार्यैः प्रस्तुताक्षेपि भाषणम् ।

सूत्रधारस्य वक्रोक्त-स्पष्टोक्तैर्यत् तदामुखम् ॥ [३] १०५ ॥

पारिपाश्विक एव विदूषकवेषधारी विदूषकः ।

इस स्थलका पाठ कुछ अस्पष्टता है । पूर्व सस्करणोमे ‘सर्वबोधीप्रधानभृङ्गारवीर भाणप्रधानहास्यप्रहसनानि’ इस प्रकारका पाठ छपा था । उसकी कोई सङ्गति नहीं लगती है । इसमे ‘सर्वरसप्रधानबोधीभृङ्गारवीरप्रधानभाण-हास्यप्रधानप्रहसनानि’ इस प्रकार पाठ होना चाहिए था, अतः हमने यही पाठ मूल में दिया है ।

‘वाचि’ अर्थात् वाग्ब्यापारके विषयमें होने वाली अर्थात् वाग्ब्यापारात्मक वृत्ति ‘भारती’ ही होती है । भारती वाग्ब्यापारके विषयमें ही होती है यह अयोग-व्यवच्छेद [का नियम] है । [इसका अभिप्राय यह है कि भारती वृत्ति वाग्ब्यापारके विषयमें ही होती है । अन्यत्र नहीं । इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल भारती वृत्ति ही वाग्ब्यापार-विषयक होती है, अन्य वृत्तियोंका वाग्ब्यापारसे सम्बन्ध नहीं हो सकता है ।] इसलिए सात्त्वती वृत्ति भी वाग्ब्यापारात्मिका होती है । भारती तथा सात्त्वती वृत्तिको छोड़कर अन्य वृत्तियाँ तो सर्वथा [कायिक] अभिनय रूप ही होती हैं । [भारतीवृत्तिमें] व्यापारके [पूर्णतया] भारती रूप [अर्थात् वाचिकरूप] होनेसे [इस वृत्तिके नाम] ‘भारती’ [रखा गया] है ।

इस कारिकाकी व्याख्यामें ‘भारती वाग्ब्यापारविषय एव इत्ययोगव्यवच्छेदः’ यह वाक्य आया है । इसे विशेष रूपसे समझनेकी आवश्यकता है । ‘एव’ पदके अयोग-व्यवच्छेद, अन्ययोग-व्यवच्छेद और अत्यन्तयोग-व्यवच्छेद ये तीन अर्थ माने गए हैं । ‘पार्थ एव धनुर्धरः’ आदि वाक्योंमें जब ‘एव’ पद विशेष्यके साथ सगत होता है तब वह ‘विशेष्यसगतस्त्वेवकार अन्ययोगव्यवच्छेदकः’ इस नियमके अनुसार अयोगका व्यवच्छेदक होता है । ‘पार्थ एव धनुर्धरः नान्य’ यह उसका अर्थ होता है । इसके विपरीत जब ‘पार्थो धनुर्धर एव’ इस रूपमें उसका सम्बन्ध विशेषणके साथ होता है तो ‘विशेषणसगतस्त्वेवकारो अयोग-व्यवच्छेदकः’ इस नियमके अनुसार उसका अर्थ अयोग-व्यवच्छेद होता है । अर्थात् पार्थमें धनुर्धरत्व भवत्य है । उसमें धनुर्धरत्वका अयोग-प्रभाव-नहीं है । इसी प्रकार यहाँ ‘भारती वाग्ब्यापारविषय एव’ में विशेषणके साथ सगत होनेसे एवकार अयोग व्यवच्छेदक है । ॥ [२] १०४ ॥

भारती वृत्तिसे सम्बद्ध आमुखाका लक्षण—

अथ भारती [वृत्ति] निमित्त [अथवा भारती वृत्तिके निर्माता] आमुखाका लक्षण करते हैं—

[सूत्र १५७]—सूत्रधारका विदूषक, नटी अथवा पारिपाश्विकके साथ स्पष्ट रूपसे अथवा वक्र मार्गसे, प्रस्तुत [अर्थात् नायकावि मुख्यपात्रके प्रवेश] का सम्पादन करनेवाला जो वार्तासाप होता है वह ‘आमुख’ [कहलाता] है ॥ [३] १०५ ॥

[नटका मुख्य सहायक] पारिपाश्विक ही विदूषकका वेष धारण कर लेनेमें यह!

मार्ग. पारिपाश्विकः । विदूषक-नटी-मार्पैर्व्यस्तैः समस्तैर्वा सह सूत्रधारस्य रङ्गसूत्रणाकर्तुः, सूत्रधारगुणानुकारस्य वा नाट्यस्थापनाकर्तुः स्थापकस्य, प्रस्तुतस्य काव्यार्थस्याक्षेपि उपस्थापकं भाषणं वक्तव्यम् । साक्षाद् विवक्षितार्थस्याप्रतिपादकैः, स्पष्टोक्तैः साक्षाद् विवक्षितार्थस्य प्रतिपादकैश्च यत् स्वस्याभिप्रायोत्कीर्तनं तदामुल्लम् । 'आड् मर्यादायाम्' तेन मुखसन्धिं प्राप्य निवर्तते । 'ईपदर्थे वा' तत् ईपमुखं मुखसन्धिमुखकत्वाद्धारम्भ । प्रस्तावनाशब्दे नाप्येतदुच्यते ।

इदं तावदामुल्लं नाट्यात् पृथग्भूतम् । तत्र कदाचित् रङ्गसूत्रयितैव आमुल्लार्थमनुतिष्ठति, तथा च दृश्यते—'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' । 'नान्द्यन्ते' इत्यवयवे समुदायोप-

विदूषक कहा गया है । [वैसे नायक राजा आदिका सहायक विदूषक होता है उस विदूषकका यहाँ ग्रहण नहीं समझना चाहिए। अपितु सूत्रधारका सहायक, जो पारिपाश्विक भी कहलाता है वही नाटकविके प्रारम्भमे मुख्यपात्रका रङ्गमञ्चपर प्रवेश करानेके लिए विदूषकका वेध धारण करके सूत्रधारके साथ धार्तालाप करता है । उसी पारिपाश्विककेलिए यहाँ विदूषक शब्दका प्रयोग हुआ है यह ग्रंथकारका अभिप्राय है । मार्गका अर्थ भी] पारिपाश्विक [अर्थात् सूत्रधार या नाटक मुख्य सहायक] है । [यहाँ पारिपाश्विक अपने मुख्य रूपमे अभिप्रेत है । पहिले उसीकी विदूषक रूपमे उपस्थिति बतलाई थी] विदूषक, नटी और पारिपाश्विकके साथ अलग-अलग अथवा एक साथ सूत्रधार अर्थात् रङ्गकी आयोजना करनेवाले [प्रधाननट] का, अथवा नाट्यार्थको स्थापना करने वाले और सूत्रधारके गुणोका अनुकरण करने वाले [किन्तु सूत्रधारसे भिन्न] 'स्थापक'का प्रस्तुत काव्यार्थको उपस्थित करानेवाला जो भाषण, वक्तव्यसे अर्थात् साक्षात् रूपसे विवक्षित अर्थका प्रतिपादन न करनेवाले [वचनोक्ते], अथवा स्पष्टोक्तियोंसे अर्थात् साक्षात् रूपसे विवक्षित अर्थका प्रतिपादन करने वाले वाक्योक्ते जो [भाषण अर्थात्] अपने अभिप्रायका कथन करता है वह 'आमुल्ल' कहलाता है । [आमुल्ल शब्दमे आड् उपसर्ग है । उसके दो अर्थ होते हैं एक मर्यादा और दूसरा अभिविधि । ये दोनों शब्द सीमा अर्थके वाचक हैं । उनमे भेद यह है कि जो सीमा बतलाई जाती है वह यदि सीमित होने वाले भागके अन्दर ही समाविष्ट होती है तो उसे 'अभिविधि' कहते हैं । और यदि उस तक ही, अर्थात् उसको बाहर छोड़कर उसके पहिले-पहिले सीमा मानी जाती है तो उसको 'मर्यादा' कहते हैं । जैसे यहाँ आमुल्लकी सीमा मुखसन्धि पर्यन्त कही है । उसमे मुखसन्धिको भी आमुल्लके भीतर माना जाय तो आड् अभिविध्यर्थक और यदि मुखसन्धिको आमुल्लमे प्रलग रखना अभिप्रेत है तो 'आड्' का अर्थ मर्यादा होगा । यहाँ आड् मर्यादा अर्थमे है इसलिए [आमुल्ल] मुखसन्धि तक पहुँचकर [अर्थात् मुखसन्धिसे आरम्भ होनेसे पहिले] समाप्त हो जाता है । अथवा [यहाँ आड्] 'ईपत्' अर्थमे है इसलिए ईपमुख [अर्थात् छोटा मुख अर्थात्] मुखसन्धिकका सूचक होनेसे आरम्भ [आमुल्ल कहलाता है] । इसीकी 'प्रस्तावना' नामसे भी कहा जाता है ।

यह आमुल्ल [मुख] नाट्यसे अलग होता है [मुख नाटकका भाग नहीं होता है] । उसमे कभी [रङ्गसूत्रयिता अर्थात्] सूत्रधार ही स्वयं आमुल्लमे किए जाने वाले [धार्तालाप आदि रूप] कार्यको करता है । जैसा कि [भास आदिके नाटकोंके आरम्भमे] 'नाट्योक्ते अन्तमे सूत्रधार' [प्रविष्ट होकर आमुल्लका आरम्भ करता है यह सिद्धा हुआ] दितलाई देता

चारान् पूर्वज्ञान्ते इति द्रष्टव्यम् । नान्दी हि पूर्वज्ञस्याङ्गम् । अत्र च पक्षे आमुरार्थस्य सूत्रधारविषयत्वान्मुरसन्धेः प्रभृति कवेर्व्यापार ।

है । यहाँ 'नान्द्यन्ते' इस पदमे श्रवणवमे समुदायका उपचार होनेसे [नान्दी पद समस्त पूर्व-रङ्गका बोधक है यह समझना चाहिए] । क्योंकि नान्दी पूर्वरङ्गका अङ्ग है । [किन्तु यहाँ उस अङ्ग या श्रवणवशाचक 'नान्दी' पदमे जिसका यह अङ्ग या श्रवणव है उस अङ्गी-रूप समस्त पूर्वरङ्गका ग्रहण होता है । अर्थात् समस्त पूर्वरङ्गका विधान समाप्त हो जानेपर सूत्रधार प्रविष्ट होकर मुख्य नाटकके पात्रके प्रवेशकी प्रस्तावना आरम्भ करता है] इस पक्षमें ग्रामुलका [प्रतिपाद्य] अर्थ सूत्रधारसे सम्बन्ध रखता है, इसलिये मुखसन्धिसे पहिले-पहिले [अथवा मुखसन्धिके आरम्भ होनेसे पूर्व तक जो कुछ वर्णन होता है वह सब] कविका व्यापार होता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि मुखसन्धि, मुख्य नाटकका अङ्ग है, इसलिये मुखसन्धिसे मुख्य नाटकका आरम्भ होता है । उन मुख्य नाटक वाले भागमे जितना व्यापार होता है वह कविके द्वारा वर्णित होनेपर भी कविका व्यापार नहीं होता है अपितु जिन पात्रोंके द्वारा उसका कथन होता है उन पात्रोंका व्यापार होता है । कवि केवल उन व्यापारकी सुनानेका निमित्त बनता है । किन्तु मुखसन्धि या मुख्य नाटकका आरम्भ होनेसे पहिले 'ग्रामुल' तक का जो व्यापार होता है वह सब कविका अपना व्यापार होता है । वाच्यनास्त्रके लक्षण-ग्रन्थोमे ध्वनि-भेदोंके निरूपणके प्रसङ्गमे 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' और 'कविनिबद्धवक्त्रप्रौढोक्तिसिद्ध' दोनों व्यङ्ग्योंको अलग-अलग माना है । यद्यपि कविनिबद्ध वक्ताकी उक्ति कविके द्वारा ही निबद्ध होनेसे कविप्रौढोक्तिमे आ सकती है किन्तु स्वयं कविकी उक्तिमे कविनिबद्ध वक्ताकी उक्तिही अलग माना गया है । इसी प्रकार यह कविव्यापार और कविनिबद्ध-वक्त्र-व्यापारको अलग अलग मानकर ग्रन्थकारने 'ग्रामुल' तकके व्यापारको कवि व्यापार कहा है । उसके धामे मुख्य नाटकके भीतर होनेवाला सारा व्यापार कविके द्वारा वर्णित होनेपर भी कवि-व्यापार नहीं अपितु कवि-निबद्ध पात्रों या वक्ताओंका व्यापार है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

'ग्रामुल' के इस प्रसङ्गमे ग्रन्थकारन सूत्रधार नया स्थापक, नटी, विदूषक, पारिपादिक कर्मादि धनेक पक्षोंका प्रयोग किया है । नाटकका अभिनय करनेवाले नटवर्गका प्रधान तथा नाट्यके मार [सूत्र]का कार्य मन्वाचन करता है इसलिये उनको 'सूत्रधार' कहा जाता है । दश वाच्यमे सूत्रधारके दो प्रधान सहायक होत हैं । एक नटी और दूसरा पारिपादिक । नटी सूत्रधारकी स्त्री है जो उसके वाच्यमे उसकी प्रमुख महायिका होती है । नट नटीमेने जो सूत्रधारका प्रधान सहायक होता है वह 'पारिपादिक' कहनाता है । सूत्रधार बार्तालाप करते समय नटीको 'धार्वा' कहकर और पारिपादिकको 'माप' कहकर सम्बोधन करता है । यह सूत्रधार, नटी तथा पारिपादिक तथा 'माप' पक्षोंके व्याख्या हो गई । इसी पारि-पादिकके लिए 'विदूषक' पदका प्रयोग भी किया गया है । वंश नाटकमे राजा धादि मुख्य नाटकका प्रधान महायक विदूषक होता है । उसका कार्य राजाके मुख प्रत्येक व्यापार धादिमे उगरी महायका करना, और हर समय राजाका मनोरञ्जन करना होता है । यहाँ ग्रामुलके प्रथम दो विदूषकका नाम दिया गया है यह उन मुख्य विदूषकका आह्व नहीं है । किन्तु

कदाचित् तु सनान्दीकं रङ्गमनुष्ठाय विश्रान्ते सूत्रधारे, तनुल्यगुणाकृति स्थापक आमुत्तमनुतिष्ठति । तथा चानङ्गवत्यां नाटिकायां दृश्यते—‘पूर्वरगस्यान्ते स्थापक’ । अत्र च पक्षे आमुरगानुष्ठानेऽपि कवेर्व्यापारः । स्थापकस्य सूत्रधारानुकारिणो रामानुकारिणो नटस्येव कविर्नैव प्रवेशात् । ‘वक्रोक्त’ इति च वीथ्यङ्गानामेवंविधरूपाणां व्याहारादीनां सद्भावमाहेति । स्पष्टोक्तस्त्वेवं यथा—‘नागानन्दे नाटयितव्ये किमित्यकारणमेव श्यते ?’ इति ॥[३]१०५॥

सूत्रधारका मुख्य सहायक या पारिपाश्विक भी कभी विदूषकका सा वेप धारण करके उसीके समान कार्य करता हुआ सामने आता है इसके लिए ही यहाँ विदूषक शब्दका प्रयोग किया गया है ।

अब एक शब्द और रह जाता है ‘स्थापक’ । सूत्रधारके समान ही वेप तथा कार्यको करने वाला उसका कोई सहायक स्थापकके रूपमें नाटककी प्रस्तावना करता है उसको ‘स्थापक’ कहते हैं । मुख्य नाटकके प्रारम्भ होनेसे पहिले अनेक प्रकारकी तैयारी करनी होती है । उसको पूर्वरङ्ग कहा गया है । पूर्वरङ्गके १५ अङ्ग भरतनाट्यशास्त्रमें कह गए हैं । इन्हींमें नान्दी पाठ भी एक अङ्ग है । प्रायः नाटकोने प्रारम्भमें सबसे पहल ‘नान्दी’ के श्लोक लिखे मिलते हैं । भामकविके नाटकोम उन नान्दी श्लोकोका उल्लेख नहीं रहता है । नान्दी वाले श्लोक नाटकमें लिखे गए हो अथवा न लिखे गए हो किन्तु उनका पाठ किया अवश्य जाता है । नान्दी पाठ तकका साग पूर्वरङ्गका कार्य निश्चित रूपसे सूत्रधार ही करता है । उसके बाद आमूल या प्रस्तावनाका अवसर आता है । इस प्रस्तावनाके विषयमें दो प्रकारकी व्यवस्था पाई जाती है । कभी तो सूत्रधार स्वयं ही प्रस्तावनाका कार्य भी करता है । अर्थात् प्रस्तावना या आमूल द्वारा स्वयं ही मुख्य पात्रोंका प्रवेश करवाकर सूत्रधार रङ्गमञ्चमें बाहर जाता है । किन्तु दूसरे प्रकारकी यह व्यवस्था भी पाई जाती है कि नान्दीपाठ तकका कार्य सूत्रधार स्वयं करता है । नान्दीपाठके समय सारा नटव्य उपस्थित रहता है । अभिनय करनेवाले सारे नट मिलकर प्रार्थना आदि करते हैं । उसमें सूत्रधार भी अवश्य उपस्थित रहता है । किन्तु उसके बाद सूत्रधार स्वयं निवृत्त हो जाता है । उसके स्थानपर उसके सहस्र दूसरा व्यक्ति आकर प्रस्तावना या आमूलका कार्य करता है उसका ‘स्थापक’ कहते हैं । इसी बातको ग्रन्थकार आगे लिखते हैं—

कभी तो नान्दी सहित पूर्वरङ्गको समाप्त करके सूत्रधारके विश्राम कर लेनेपर उसके तुल्य गुरो और आकृतिवाला स्थापक [आकर] ‘आमूल’का सम्पादन करता है । जैसे कि ‘अनङ्गवती’ नाटिकामें पूर्वरङ्गके बाद स्थापक [प्रविष्ट होता है यह लिखा है] । इस पक्षमें आमूलके अनुष्ठानमें भी कविका व्यापार होता है । रामका अनुकरण करनेवाले नटके [प्रवेशके] समान सूत्रधारका अनुकरण करनेवाले स्थापकका भी प्रवेश कविके द्वारा ही कराए जानेके कारण [‘आमूल’ भी कविका व्यापार होता है, लक्षणमें दिए हुए] ‘वक्रोक्त’ इस परसे इस प्रकारके [अर्थात् अभी द्वितीय विवेकके अन्तमें कहे हुए] व्यवहारादि रूप वीथ्यङ्गों की सत्ता [‘आमूलमें] सूचित की है । स्पष्टोक्ति तो इस प्रकार होती है जैसे कि ‘नागानन्दका अभिनय करते समय बिना बातके क्यों रोते हो’ ॥ [३]१०५]

अथामुखाङ्गभूत नौत्र्यपात्रप्रवेशविधिमाह—

[सूत्र १५८]—वाक्यार्थसमयाह्वानं भविवक्तैः पात्रसंक्रमः ।

समय काल । आह्वान सज्ञा । एते सूत्रधार-स्थापनाभ्यामुक्तैर्हेतुभूते पात्रस्य मुख्यनायकादिभूमिकाधारिणो नटादिलोकस्य सङ्गम प्रवेश । वाक्यार्थयोरन्यमानतया पात्रप्रवेशहेतुत्वम् । समयाह्वानयोस्तु सूचकत्वेनेति ।

वाक्येन यथा हरिश्चन्द्रे—

“सत्त्वैकतानृत्तीना प्रतिज्ञातार्थकारिणाम् ।

प्रभविष्णुर्न देवोऽपि किं पुन प्राकृतो जन ॥”

एतदेव पठन हरिश्चन्द्र प्रविशति ।

अर्थेन यथा वेणीसंहारे—

“निर्वाणवैरदहना प्रशमादरीणा,

नन्दन्तु पाण्डुतनया सह माधवेन ।

रक्तप्रसावितभुज क्षतविप्रहाराच

स्वस्था भवन्तु कुमराजमुता सभृत्या ॥”

आमुख्ये अङ्गभूत पात्रप्रवेशये नियम—

अथ आमुख्ये अङ्गभूत नौत्र्यके पात्रोंके प्रवेशके विधिको कहते हैं—

[सूत्र १५८]—[भाष्य अर्थात्] सूत्रधार अथवा स्थापकके द्वारा कहे हुए वाक्य [अथवा उसके] अर्थ, [अथवा] काल, [अथवा] नामके द्वारा [नौत्र्यके मुख्य] पात्रका प्रवेश होता है [या करना चाहिए] ।

समय अर्थात् काल । आह्वान अर्थात् सज्ञा [नाम] । सूत्रधार अथवा स्थापकके द्वारा कहे गए इन [वाक्य, अर्थ, समय तथा नाम] के द्वारा पात्र अर्थात् मुख्य नायक आदिके घेव को धारण करनेवाले नटादिका सङ्गम अर्थात् प्रवेश होता है । वाक्य तथा अर्थका अनुवाद द्वारा पात्रप्रवेशके प्रति हेतुत्व होता है और काल तथा नामका, सूचक होनेसे ।

वाक्यके द्वारा [प्रवेश] जैसे हरिश्चन्द्रे—

‘एकमात्र सात्त्विक वृत्तियाँ, और प्रतिज्ञात अर्थको पूर्ण करनेवालो [अथवा कार्य] का भगवान भी बाधक नहीं हो सकता है, तब साधारण मनुष्यों [के बाधक बन मजने] की तो बात ही क्या है ।’

[आमुख्ये सूत्रधार पठित] इसी वाक्यको घोलत हुए [अथवा पात्र] हरिश्चन्द्र प्रवेश करता है ।

अर्थके द्वारा [प्रवेशका उदाहरण] अतो वेणीसंहारम्—

“जानुअरे मष्ट हो जानेसे जिनका वर रूप अग्नि नात हो गया है इस प्रकारके पाण्डव लोग कृष्णके साथ अज्ञान मनाने । और रक्तमे भूमिको मुग्धोभित करनेवाले [अथवा रक्तमे प्रिय करनेवाले] प्रमाथिता रत्ता भूर्वे, ते रक्तप्रसावितभुज] अपने प्रिय सेवकोंको भूमि प्रदान करनेवाले, तथा जिनके विषह अर्थात् शरीर घायत हो गये हैं [अथवा जिन्होंने विप्रह अर्थात् मुष्ट समाप्त कर दिया है] इस प्रकारके औरव लोग अपने भृग्योंके महिम्न स्वर्गम स्थित [अथवा स्वर्ग शरीर] हों ।”

इत्यस्य चाक्यम्य छन्दसा प्रथितस्य चतुर्थपादेन 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' इत्यनेनार्थं गृहीत्वा भीमः ।

समयेन यथा छलितरामे—

“आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः,
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः ।
उत्वाय गाढतमसं घनकालमुग्रं,
रामो दशास्यमिव ममृतबन्धुजीवः ॥”

अत्र समानविशेषणै रामशब्दकीर्तनाच्च रामप्रवेशसूचना ।

आह्वानेन यथा अभिज्ञानशाकुन्तले—

“तवारिमि गीतरागेण ह्यारिणा प्रमथं हृतः ।
एष राजेव दुप्यन्त सारंगेणातिरहसा ॥”

छन्द रूपमें प्रथित इस वाक्यके चतुर्थ चरणके अर्थको लेकर 'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' मेरे जीते रहते कौरवगण कभी स्वस्य बंध सकते हैं ? यह कहते हुए भीमका प्रवेश होता है ।

समय [के वर्णन] से [मुह्यपात्रका प्रवेश] जैसे छलितराममें—

इस श्लोकमें शरत्कालके वर्णनके द्वारा रामचन्द्रका प्रवेश कराया गया है । श्लोकमें कहे हुए विशेषण शरत्काल और रामचन्द्र दोनों पक्षोंमें लगेंगे । प्रथम चरणमें 'चन्द्रहास' शब्द दिलष्ट है । शरत्काल पक्षमें उसका अर्थ चन्द्रमाका हास यह होता है । और रामचन्द्र के पक्षमें चन्द्रहासका अर्थ तलवार होता है । चतुर्थ चरणमें 'समृतबन्धुजीव' में शरत्पक्षमें 'बन्धुजीव' पुष्पविशेषका नाम है, और रामचन्द्रपक्षमें उसका अर्थ बन्धु अर्थात् लक्ष्मणके जीवनको बचा लेनेवाला है । तृतीय चरणमें 'घनकालमुग्र' में शरत्पक्षमें घनकालका अर्थ वर्षाकाल है और रामचन्द्रपक्षमें उसका अर्थ रावण है । श्लोकका अर्थ निम्न प्रकार है—

“[मेघोंके बाहर] प्रकाशित निर्मल चन्द्रमाके हासको प्राप्त करने वाला, [रामपक्षमें नंगी तलवारको हाथमें लिए हुए] विशुद्ध कान्ति वाला, यह शरत्समय, गाढ अन्धकारपुस्त [रामपक्षमें गहन अज्ञानागमकारसे युक्त] भयंकर अर्थरत्त [रामपक्षमें अर्थकालके समान उग्र] को विनष्ट करके बन्धुजीव पुष्पको धारण करता हुआ इस प्रकार आ गया है जैसे निर्मल नङ्गी तलवारको लिए हुए विशुद्धकान्ति और बन्धु अर्थात् लक्ष्मणके जीवनकी रक्षा कर लेने वाले रामचन्द्र भयंकर रावणको मारकर घाए हो ।”

इसमें [शरत्समय तथा रामचन्द्र दोनों पक्षोंमें लगने वाले] समान विशेषणोंसे और राम शब्दका कथन करनेसे रामचन्द्रके प्रवेशकी सूचना मिलती है ।

[आह्वान अर्थात्] नामसे [पात्रप्रवेशकी सूचनाका उदाहरण] जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल, मे—

“[आमुखमें सूत्रधार नटीसे कहता है] तुम्हारे मनोहर गीतरागसे यह मैं ऐसे हरणकर लिया गया हूँ जैसे मनोहर और अत्यंत वेगवान् इस भृगके द्वारा यह राजा दुप्यन्त [हरणकर लिया गया है] ।”

अत्र नाट्य-आमुखयोः सम्यन्धनार्थं कविना भाविप्रवेशस्य पात्रस्य युक्त्या नामग्रहणम् । पूर्वत्र समानविशेषणबलान्नामागतमित्यनयोर्विशेष इति ।

एषां च नाट्यपात्रप्रवेशप्रकाराणामन्यतम एवैकरचमत्कारी निबन्धनीयः । अन्यथा पात्रप्रवेशप्रथवाहुल्येन प्रस्तुतार्थविघातः स्यादिति । शब्दव्यापारवाहुल्याच्च भारत्यंशभूतत्वमस्य ।

एवं प्ररोचनायाः पूर्वरङ्गाद्भूताया अपीति । पात्रप्रवेशस्य पूर्वो भाग आमुखम् । उत्तरं पुनर्नाट्यमिति ॥

अथ प्ररोचनां व्याचष्टे—

[सूत्र १५६]—पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या सम्योन्मुख्यं प्ररोचना ॥[४]१०६॥

पूर्वं नाट्यात् प्रथमं, गीत-ताल-वाद्य-नृत्यानि नाट्यादिकं च पाठ्यं व्यस्तं समस्तं च प्रयुज्यते यत्र रङ्गे रञ्जनाहेतौ नाट्यशालायां स पूर्वरङ्गः । अस्य च पूर्व-रङ्गस्य प्रत्याहारादीनि आसारितान्तानि नव अन्तर्जवनिकं, गीतकादीनि प्ररोचनान्तानि च दश बहिर्जवनिकं अङ्गानि प्रयोज्यानि पूर्वाचार्यैर्लक्षितानि । अस्माभिस्तु स्वतो लोका-

इस [उदाहरण] में नाट्य तथा आमुखका सम्बन्ध जोड़नेके लिए कविने प्रागे होने वाले पात्रके प्रवेशके लिए युक्तिपूर्वक [दुष्यन्तके] नामका ग्रहण किया है [अतः यह आह्वान द्वारा पात्रप्रवेशका उदाहरण है] पहिले [‘आसारित प्रकट निर्मलचन्द्रहास’ आदि उदाहरण में] तो समान विशेषणके बलसे नाम प्राप्त हो जाता है [मुख्यरूपसे उसमें समयका ही वर्णन है । किन्तु इसमें मुख्य रूपसे दुष्यन्तके नाम ही कथन है] यह इन दोनों उदाहरणोंका भेद है ।

पात्रप्रवेशके इन [चार] प्रकारोंमें से किसी एक ही चमत्कार-जनक प्रकारका अवलम्बन करना चाहिए । अन्यथा [सब प्रकारोंका अवलम्बन करनेपर तो] पात्रप्रवेश विषयक ग्रंथका विस्तार हो जानेसे प्रस्तुत विषयमें विघ्न पड़ेगा । इस [आमुख] में शब्द-व्यापारको प्रचुरता होनेके कारण यह भारती वृत्तिका अशभूत है ।

इसी प्रकार पूर्वरङ्गकी अङ्गभूत प्ररोचनामें भी [शब्द-व्यापारके बहूल होनेसे भारतीय वृत्तिका अशभूत] है । [मुख्य] पात्रके प्रवेशके पहिलेका भाग ‘आमुख’ [कहलाता] है और [पात्रप्रवेशके] बादका भाग नाट्य [कहलाता] है ।

प्ररोचना निरूपण—

अथ [भारतीय वृत्तिते सम्बद्ध] ‘प्ररोचना’ की व्याख्या करते हैं—

[सूत्र १५६]—पूर्वरङ्गमें [कवि, नाट्य, सूत्रधार आदि] गुणोंकी स्तुति द्वारा सम्योको [नाट्य दर्शनकेलिए] उन्मुख करना ‘प्ररोचना’ [कहलाती] है । [४] १०६ ।

[पहिले कारिकामें आए हुए पूर्वरङ्ग शब्दका निबन्धन दिललाते हैं] नाट्यके पहिले गीत, वाद्य, नृत्य नाट्यादि और पाठ्यका अलग अलग अथवा मिलाकर जिस [भाग] में रंग प्रर्षात् रञ्जनाके कारणभूत नाट्यशास्त्रामे प्रयोग किया जाता है वह पूर्वरङ्ग कहलाता है । इस पूर्वरङ्गके ‘प्रत्याहार’से लेकर ‘आसारित’ पर्यन्त नौ जवनिकाके भीतर, और गीतकादिते लेकर प्ररोचना पर्यन्त दस जवनिकाके बाहर किए जानेवाले अणोंके लक्षण पूर्व आचार्यों ने किए हैं । हमने तो उनके १ स्वतः लोकसिद्ध होनेका कारण, २ उनके वर्णनक्रमके

प्रसिद्धत्वात्, तन्न्यासक्रमस्य निष्फलत्वाद्, विविधदेवतापरितोषरूपस्य तत्फलस्य च श्रद्धालुप्रतारणमात्रत्वादुपेक्षितानि । प्ररोचना तु पूर्वरङ्गमभूतापि नाट्ये प्रयुक्ता प्रधानमिति लक्ष्यते ।

तत्र पूर्वरङ्गे गुणस्तुत्या प्रस्तुतप्रबन्धार्थस्य प्रीत्यादिहेतुत्वप्रशसनेन सामाजिकाना श्रवणावलोकनोत्साहोत्पादनं प्रकृतोऽर्थः प्रकर्षेण रोच्यते उपादेयतया ध्रियतेऽनयेति प्ररोचना । यथा क्षीरस्वामिविरचिते अभिनवराघवे—

“स्थापकः—[सहर्षम्] आर्ये ! चिरस्य स्मृतम् ।
 अस्त्येव राघवमहीनकथापवित्रं,
 काव्यं प्रबन्धघटनाप्रथितप्रथिम्न ।
 भट्टेन्दुराजचरणान्जमधुव्रतस्य,
 क्षीरस्य नाटकमनन्यसमानसारम् ॥”

यथा वा रघुविलासे—

“सीतां काननतो जहार विहितव्याज पुरा रावण—
 स्तं व्यापाद्य रणेन तां पुनरथो राम. समानीतवान् ।

निष्फल होनेके कारण, और ३ विविध देवताओंको प्रसन्न करने रूप उनके फलके केवल; श्रद्धालुओंको धोखा देने मात्र वाला होनेसे, उनकी उपेक्षा कर दी है । [पूर्वरङ्गके उन १६ अर्णोंमेंसे] प्ररोचना' तो पूर्वरगका अग होनेपर भी नाट्यमें प्रवृत्ति करानेमें मुख्य है इसलिए उसका लक्षण [हम भी] कर रहे हैं ।

उस पूर्वरग [के १६ अर्णों] में, गुणोंको स्तुति द्वारा प्रस्तुत प्रबन्धके अर्थकी आनन्द आदिके जनक रूपमें प्रशंसा करके सामाजिकोमें उसके देखनेका उत्साह उत्पन्न करनेकेलिए प्रकृत अर्थ जिसके द्वारा [प्रकर्षेण रोच्यते] प्रत्यन्त रोचक बनाया जाता है अर्थात् उपादेय सिद्ध किया जाता है वह 'प्ररोचना' [कहलाती] है ।

जैसे क्षीरस्वामी विरचित अभिनवराघवमें—

“स्थापक—[सहर्षं] आर्ये ! बड़ी देर बाद याद आई—

रामचन्द्रकी परमोत्कृष्ट कथासे पवित्र, और नाटक रचनानामे प्रसिद्ध सामर्थ्य वाले, भट्ट इन्दुराजके चरणकमलोके चञ्चरीक, क्षीरस्वामीका अद्वितीय महत्त्व वाला [अभिनव राघव नामक काव्य अर्थात्] नाटक तो विद्यमान है ही [फिर चिन्ता किस बातकी है । सामाजिकोंको प्रसन्न करनेके लिए आज हम लोग उसी अद्वितीय नाटकका अभिनय प्रस्तुत कर सकते हैं] ।”

इसमें रामचन्द्रके चरित्र और क्षीरस्वामीकी नाटक रचना-सामर्थ्यादिकी प्रशंसा द्वारा सामाजिकोंमें नाटक-दर्शनका उत्साह उत्पन्न करनेका यत्न किया गया है इसलिए यह पूर्वरग की अगभूत 'प्ररोचना' का उदाहरण है ।

यथावा जैसे रघुविलासमें—

“पूर्वकालमें छल करके रावण सीताको वनसे हरण कर ले गया था, उसको मारकर रामचन्द्र फिर उसको छुड़ाकर लाए थे । कवियोंकी सूचित रूप भोवितक मणियोंके [उत्पादक के लिए स्वाति जलके समान तथा भू, भुय, स्व तीनों लोकोंको मोहित करने वाले मोहन-

एतस्मै कविसूक्तिमौक्तिकमणिशावत्यम्भसे भूर्भुवः—
स्वर्णामोहनकार्मणाय सुकथारत्नाय नित्यं नमः ॥

यथा वा नलविलासे—

“कविः काव्ये रामःसरसवचसामेकयसति—

नैलस्येदं हृद्यं किमपि चरितं धीरललितम् ।

समादिश्रो नाट्ये निखिलनटमुद्रापदुरहं,

प्रसन्नः सभ्यानां कटरि ! भगवानद्य स विधिः ॥” इति ।

इयं प्ररोचना पूर्वरद्गात् प्रथमं परचाच्य निबध्यते । निबन्धे चाम्या नावर्य-
म्भावनियम इति ॥ [४] । १०६ ॥

अथोद्देशप्राप्तं सात्त्वती लक्ष्यति—

[सूत्र १६०]—सात्त्वती सत्त्व-वागङ्गाभिनेयं कर्म मानसम् ।

साजंवाधर्ष-मुद्-धैर्य-रौद्र-वीर-शमाद्भुतम् ॥ [५] १०७ ॥

कर्मके समान [रामायणकी] इस सुन्दर कथारत्नकी नमस्कार है ।

इसमें कथा भागकी प्रशंसा द्वारा उस कथाके आधारपर विरचित ‘रघुविलास’ नाटकके
देखनेके लिए सामाजिकोंको प्रोत्साहित करनेका यत्न किया गया है ।

अथवा जैसे नलविलासमें—

“[इस नलविलास नामक नाटकका निर्माता] सरस वचनोंका निधान रामचन्द्र इस
काव्यका [निर्माता] कवि है, नलका मनोहर धीरललित श्रीर श्रद्धभूत चरित्र [इस काव्यका
वर्ण्य विषय] है, श्रीर समस्त नाट्यकलाप्रोमे निपुण मुझको नाट्य करनेकी प्राप्ता मिली
है, [इससे सिद्ध होता है कि] हे सुन्दर कटि वाली [आर्ये] ! आज भगवान् सभ्योंके ऊपर
प्रसन्न हो रहे हैं ।”

इसमें प्रत्यकारने अपने बनाए हुए नलविलासकी ‘प्ररोचना’की उद्धृत किया है । इस
प्ररोचना भागमें कविकी भी प्रशंसा की गई है । नाटकके आधारभूत धारणान-वस्तु, श्रीर
उसका अभिनय करने वाले नटकी भी प्रशंसा की गई है । इन सबकी प्रशंसा द्वारा सामा-
जिकों में इस नाटकके देखनेके लिए उत्साह एवं अभिरुचि उत्पन्न करनेका यत्न किया गया
है । इसलिये यह भी प्ररोचनाका उदाहरण है ।

यह प्ररोचना पूर्वरगके पहिले श्रीर पीछे [दोनों रूपोंमें] निबद्ध की जा सकती है ।
श्रीर इसके रखे जानेका कोई आवश्यक नियम नहीं है । [अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि
प्रत्येक नाटकमें प्ररोचना अवश्य ही रखी जाए । कवि इस विषयमें स्वतन्त्र है । यह चाहे
तो प्ररोचना रखे चाहे न रखे । यह प्रत्यकारका अभिप्राय है फिर भी अधिकांश नाटकोंमें
‘प्ररोचना’ पाई ही जाती है ॥ १०६ ॥ [४] ।

२ सात्त्वती वृत्तिका निरूपण—

अब उद्देशकममें प्राप्त सात्त्वती [वृत्ति] का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १६०]—मातृसिक, याचिक तथा कायिक अभिनयोसि सूचित, प्राजंब, डाट-
पटकार, [प्राधर्ष] हर्ष और धैर्यसे युक्त, तथा रौद्र, वीर, शान्त एवं श्रद्धभूत रसोसि सम्बद्ध
मानस व्यापार ‘सात्त्वती’ वृत्ति कहलाता है । [५] १०७ ।

सन् सत्त्व प्रकाश, तद्यत्राम्नि तत् सत्त्वं मन, तत्र भवा सात्त्वती । सञ्ज्ञा-
शब्दत्वेन बाहुलकात् स्त्रीत्वम् । सत्त्व-वाग्ङ्गाभिनेय सत्त्व-वाग्ङ्गाभिनेयैर्ज्ञाप्यम् । सत्त्वा-
भिनेयवाग्ङ्गाभिनेय-अङ्गाभिनेययुक्तं मानस कर्म सात्त्वतीत्यर्थ । अभिनेयत्रयाभिधानेऽपि
मानसव्यापारस्य सत्त्वप्रधानत्वान् सत्त्वाभिनेय एवात्र प्रधानमितरौ गौणी । अत एव
सत्त्वेशब्द प्रथममुपात्त । आर्जवमकौटिल्यम् । आघर्षो वाचा न्यकार । मुदु हर्ष
धैर्य व्यसनेऽप्यकातर्यम् । एतै रौद्रादिभिश्च सह वर्तमानो मनोव्यापार सात्त्वती ।
आर्जवस्योपादानादत्र कपटाभाव । आघर्षरयापनादुद्धतपुरुषसद्भाव । मुदुप्रतिपादना
-च्छोक-रुण-निर्वेदाभाव । धैर्याभिधानात् रुग्णादिसङ्गमौत्सुस्याभावश्चाभिहितो भवति ।

रौद्ररसयोगेऽपि केषाञ्चिन् सत्त्व प्रकाशरूप दृश्यत एवेति रौद्रोपादानम् । वीर-
रसश्चात्र युद्ध-दान-दयानीरादिरूप, सत्त्वनाहुल्याद् गृह्यते । 'शम' इति च शम-स्थायि-
भाव शान्तो रसो द्रष्टव्य । अरिपड्वर्गजयस्य सत्त्वैकनिबन्धनत्वान् । अद्भुतोऽप्यन्य-
सत्त्वानल्लोकनात् सात्त्विकाना दृश्यत एवेति । इदं च मानस कर्म विचित्राभिर्गम्भीरो-
क्तिभि प्रारब्धकार्यापरित्यागान्, कार्यान्तरपरिग्रहेण, सप्रामाण्य परोत्साहनेन, सामादि-
प्रयोग-दैवादिना अरिसघातभेदजननेनान्यैश्च यद्गुभि प्रकारैर्लक्ष्यते इति ॥ [५] १०७॥

सन् अर्थात् सत्त्व या प्रकाश [का नाम है] वह जिसमे रहता है वह मन सत्त्व हुआ ।
उसमें रहनेवाली [मानस व्यापार रूप] सात्त्वती वृत्ति होती है । सत्ता शब्द होनेसे बहुत करके
[सात्त्वती शब्दसेमें] स्त्रीलिङ्ग [वाचक डोप प्रत्यय हुआ] है । 'सत्त्ववाग्ङ्गाभिनेय' [का अर्थ]
मानस वाचिक तथा कायिक अभिनयोके द्वारा ज्ञाप्य [व्यापार है] । मानसिक अभिनय
वाचिक अभिनय और कायिक अभिनयसे युक्त मानसिक व्यापार 'सात्त्वती' वृत्ति [कहलाता]
है, यह अभिप्राय है । [मानसिक, वाचिक तथा कायिक] तीनों प्रकारके अभिनयोंके कहे
जानेपर भी मानस व्यापारके ही सत्त्व-प्रधान होनेसे इन [तीनों] में सत्त्वाभिनेय ही प्रधान
है और शेष दोनों गौण हैं । इसीलिए सत्त्व शब्दका सबसे पहले ग्रहण किया गया है ।
[कारिकामें आए हुए 'आजव' आदि शब्दोंका अर्थ करते हैं] 'आजव' अर्थात् कुटिलताका अभाव
आघर्ष' अर्थात् वाणीके द्वारा तिरस्कार [डाँट फटकार] । 'मुदु' अर्थात् हर्ष । 'धैर्य' अर्थात्
विपत्तिकालमें भी न घबराना । इनसे और रौद्रादिते युक्त मानस व्यापार 'सात्त्वती' वृत्ति
[कहलाता] है । आर्जवके ग्रहणसे इसमें कपटका अभाव [सूचित होता है] । 'आघर्ष'के
कथनसे उद्धत पुरुषोंका सद्भाव [सूचित होता है] । हर्षका प्रतिपादन होनेसे शोक, करुण
निर्वेदका अभाव [सूचित होता है] । 'धैर्य' के कथनसे स्त्री आदिके सङ्गमके प्रति अतिमुक्तका
अभाव सूचित होता है ।

रौद्ररसका योग होनेपर भी किन्हीं किन्हींमें प्रकाश रूप सत्त्व दिखलाई देता है । इस
लिए रौद्रका ग्रहण किया है । और इस [सात्त्वती वृत्ति] में वीररससे युद्धवीर वानवीर
दयावीर आदिका ग्रहण सत्त्व प्रधान होनेसे होता है । 'शम' पदसे शम जिसका स्थायिभाव है
उस शातरसका ग्रहण होता है । क्योंकि [शातरसमें किए जानेवाले काम शीघादि] छ मानस
शत्रुओंके सत्त्व प्रधान होनेसे [शमका ग्रहण किया है] । अर्थात् सत्त्वको देखनेसे सात्त्विक
वृत्तियोंके लोगोमें अद्भुत भी पाया जाता है । [इसलिए इसका भी ग्रहण किया गया है] ।
यह मानस-व्यापार नामा प्रकारको गम्भीर उत्तियों द्वारा, प्रारब्धकार्यके [संकटों विघ्न घटने

अथ कैशिकी—

[सूत्र १६१]—कैशिकी हास्य-शृङ्गार-नाट्य-नर्मभिदात्मिका ।

अतिशायिन केशा सन्त्यासामिति केशिका स्त्रियः । 'स्तनकेशनतीव्रं हि स्त्रीणां लक्षणम्' । तत्प्रधानत्वान् तासामिर्यं कैशिकी । हास्य-शृङ्गाराभ्यां स्त्रीबाहुल्य-विधिप्रकारेणैवपथ्य-कामव्यवहाराणां सद्भावमाह । नाट्यं नृत्त-गीत-यादिप्राणि । अप्राम्य इष्टजनावर्जनरूपो वाग्-वेष चेष्टाभि परिहासो नर्म । वाचा यथा—

“पत्यु शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सरया परिहासपूर्वम् ।

सा रञ्जयित्वा चरणीं कृताशीर्मान्येन तां निर्वचनं जघान ॥”

यथा वा सत्यहरिश्चन्द्रे—

“राजा—[विद्वस्य] विद्वद्भारज । नि शेषवेश्याचक्रवर्तिनीमेनां लम्बस्तनीमुप-
रलोकय ।

शुक—पुण्यप्रागल्भ्यलभ्याय वेश्यापण्याय मङ्गलम् ।

यत्र प्रतीपा शास्त्रस्य, कामादर्थप्रसूतयः ॥”

पर भी] न छोडनेसे, नए कार्योंका [भी] स्वीकार कर लेनेसे, सप्रापादिके लिए दूसरोंको उत्साहित करनेसे, साम आदिके प्रयोग अथवा बंधादिबश शत्रु-समुदायमें भेद डालनेसे और इसी प्रकारके अन्य बहुतसे प्रकारोंसे लक्षित हो सकता है ॥[५]१०७॥

३ कैशिकी वृत्तिका निरूपण—

अथ कैशिकी [वृत्तिका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६१]—हास्य, शृङ्गार [नृत्य, गीत आदि रूप] नाट्य तथा [नर्म अर्थात् शिष्ट परिहास आदिके भेदोंसे युक्त कैशिकी [वृत्ति] होती है ।

अतिशय युक्त केग जिनके हो वे स्त्रियों कैशिकी हुई [अर्थात् कैशिकी वृत्तिकी उत्पत्ति केश शब्दसे हुई है । लम्बे केशोंसे युक्त होनेके कारण स्त्रीको 'केशिका' कहा जाता है] क्योंकि 'स्तनकेशयती स्त्री' यह स्त्रीका लक्षण है । उनका प्राधान्य होनेसे उनकी यह वृत्ति 'कैशिकी' कहलाती है । उसमें हास्य और शृङ्गार शब्दोंसे स्त्रीजनोंकी अधिकता, नग्न प्रकारके वेष विन्यास, तथा कामव्यवहारोंकी उर्वस्थिति सूचित की है । 'नाट्य' से नृत्य, गीत, पाद्यका ग्रहण होता है । इष्टजनोंको आकर्षित करनेवाला, वाणी, वेष तथा चेष्टा आदिकेद्वारा किया जानेवाला शिष्ट [अप्राम्य] परिहास नर्म [बहलाता] है । वाणीके द्वारा [नर्मका उदाहरण] जैसे—

“दरोंमें महावर लगा चुम्बनेपर सखीके द्वारा परिहासपूर्वक इस [चरण] से पति [शिव] के तिरपर स्थिति [सपत्नी रूप] चन्द्रकलाका स्पर्श करना इस प्रकार आशीर्वाद किएजाने पर बिना उत्तर दिए हुए ही उसने [अर्थात् पार्वतीने] उस [सखी] को मालासे मार दिया ।”

अथवा जैसे सत्यहरिश्चन्द्रमें [वाचिक नर्मका उदाहरण निम्न प्रकार है]—

'राजा—[हंसकर] हे विद्वद्भारज ! [मन्त्रिन् शुकदेव] समस्त वेश्याओंकी अश्रवनिनी इस सम्भारतनीकी प्रसादा तो करो ।

शुक—पुण्य सम्भारते प्राप्त होनेवाले वेश्या-व्यापारका भला हो जिसमें शास्त्रीय विधानके विपरीत, कामसे अर्थकी प्राप्ति होती है [शास्त्रमें तो अर्थमें कामकी प्राप्ति

वेपथु यथा—नागानन्दे विदूषक-शोररव्यतिकरे ।

चेष्टानर्म यथा मालविकाग्निमित्रे—

निपुणिका विदूषकस्योपरि सर्पविभ्रमकारि दण्डकाण्डं पातयति । इति ।

एतच्च कचिन्मानान्, कचिद्दाम्यान्, कचित् शृङ्गार-हास्यात्, कचिद् भय-हास्यात्, कचित् सापराधप्रिय-प्रतिभेदनात्, कचित् पूर्वनायिका-प्रतिभयात्, इत्याद्य-नेकधा द्रष्टव्यम् ।

अत्र शृङ्गाररसेन रत्याख्यो मानसो, हाम्येन नर्मभेदश्च वाचिको, नाट्येन कायिकरच व्यापार सगृहीत इति व्यापारत्रयसङ्करात्मिकेयमिति ।

अथारभटी—

[सूत्र १६२]—आरभट्यनृत-द्वन्द्व-छद्म-दीप्तरसान्विता ॥ [६] १०८ ॥

आरेण प्रतोदकेन तुल्या भटा उद्धता पुर्या आरभटा । ते सन्त्यस्यामिति 'ज्योत्स्नादित्वादर्णि' आरभटी । अनृतमसत्यम् । द्वन्द्वयुद्धमनेकप्रकारम् । छद्म यश्चर्ना-हेतु प्रयोग । अनेन इन्द्रजाल-पुस्तप्रयोग-द्वन्द्व-भेदादिग्रह । दीप्ता रसा रीद्राद्य कहो गई है किन्तु वेश्या-व्यापारमे इसके विपरीत कामसे अर्थकी प्राप्ति वेश्याप्रको होती है ।

वेपथु द्वारा [परिहास रूप नर्मका उदाहरण] जैसे नागानन्दमें विदूषक और शोरर के सम्पर्कमें [हुआ है] ।

चेष्टाके द्वारा परिहासका [उदाहरण] जैसे मालविकाग्निमित्रमे—

निपुणिका विदूषकके ऊपर सर्पकी आति उत्पन्न करने वाले लकड़ीके [टेंडे भेदे] डण्डेको डाल देती है ।

यह [परिहास या नर्म] कहीं मानके कारण, कहीं हास्यके कारण, कहीं शृंगारजनक हास्यके लिए कहीं भयजनक हास्यके लिए, कहीं अपराधी प्रियके प्रतिभेदनेके कारण, और कहीं पूर्व नायिकाके भयके कारण, इस प्रकार अनेक तरहका होता है ।

यहां [कारिकामे आए हुए] शृङ्गाररससे रति रूप मानस-व्यापारका, हास्य [पद] से और परिहासके [पूर्वोक्त] भेदोंसे वाचिक-व्यापारका, तथा 'नाट्य' [पद] से कायिक व्यापार का सग्रह होता है । इसलिए यह [कंशिकी वृत्ति] तीनों प्रकारके व्यापारोंके सङ्कर रूप है । [अर्थात् कंशिकी वृत्तिमें तीनों प्रकारके व्यापारोंका समावेश रहता है] ।

४ आरभटी वृत्तिका निरूपण—

यत्र आरभटी [वृत्तिका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६२]—अनृतभाषण, छल-अपञ्च, द्वन्द्वयुद्ध, तथा [रीद चादि] दोसरसोंसे युक्त [वृत्ति] आरभटी [वृत्ति कहलाती] है । [६] १०८ ।

'आर' अर्थात् चाबुकके समान, जो भट अर्थात् उद्धत पुरुष, वे 'आरभट' हुए । वे जितने प्रचुर मात्रामे हो वह [आरभट शब्दको] ज्योत्स्नादि गणपठित मानकर अणु-प्रत्यय करनेपर आरभटी [वृत्ति कहलाती] है । [लक्षणमे प्राए हुए अनृतादि शब्दोंका अर्थ करते हैं] अनृत अर्थात् असत्य भाषण । द्वन्द्वयुद्ध अनेक प्रकारका हो सकता है । घोला देनेकेलिए किए जाने वाला प्रयोग छद्म कहलाता है । इसके द्वारा इन्द्रजाल [पुस्त लेप्यादि निर्मित] पुतली आदिका

श्रीद्वत्यावेगादिहेतवः । अत्रानृतादिभिर्विचित्रनेपथ्य किलिञ्जहस्तिप्रयोग-मायाशिरो-
दर्शनादिकं, भय-हर्षातिशयाकुलितपात्रप्रवेशः, पूर्वनायकावस्थायाः परित्यागेन
नायकावस्थान्तरग्रहो अवस्कन्द-अग्न्यादिकृतविद्रवादिकं, विविधस्थाधि-व्याभिचारि-
भावयुक्तं प्रसंगागतकार्यादिकं बाहुयुद्ध-शस्त्रप्रहारादिकं च संगृह्यते । अत एवेवं सर्वा-
भिनयात्मिका सर्वव्यापारात्मिका च ।

तत्र विचित्रं नेपथ्यं वेणीसंहारे अश्वत्थाम्नः । उदयनचारितं किलिञ्जहस्ति-
प्रयोगः । मायाशिरोदर्शनं रामाभ्युदये । बलीमुखेन पात्रप्रवेशो रत्नावल्याम् । हर्षेण
वामनचेष्टयाः प्रवेशः सत्यहरिश्चन्द्रे । वालिनेतृत्यागेन सुप्रीयनेत्रन्तरग्रहणम् । परशु-
रामस्यौद्वत्यावस्थात्यागेन शान्तावस्थान्तरग्रहणम् । विचित्रभाषं कार्यान्तरं कृत्यारावणे ।
तथा हि अंगदेनाऽभिद्रूयमाणया मन्दोदर्या भयम् । अंगदस्योत्साहः । अस्यैव
रावणदर्शनेन 'पत्नेनापि सुराजिताः' इत्यादि वदतो हासः । 'यस्तातेन निगृह्य बालक इव
प्रक्षिप्य कक्षान्तरे' इति च जल्पतो जुगुप्सा-हास-विस्मयाः । रावणस्य रति-क्रोधौ ।
नियुद्धादि तु रामायणीयेषु इन्द्रजित्त्वदमणयोरिति ॥[६]१०८॥

प्रयोग तथा छेद्य-भेद्य आदिका ग्रहण होता है । श्रीद्वत्य, आवेगादिके कारणभूत रीदादिरस
रोप्तरस [कहलाते] हैं । इसमें अनृताविसे, नाना प्रकारके वेप विन्यास, [किलिञ्जहस्तिप्रयोग
पर्यन्त] चटाई आदिसे बने हुए [बनावटी] हाथीका प्रयोग, तथा [मायाशिरोदर्शन पर्यन्त]
बनावटी शिर आदिका दिखलाना [गृहीत होता है], भय तथा हर्षके अतिशयसे ध्याकुल
पात्रका प्रवेश, नायककी पूर्वावस्थाको छोड़कर नायककी दूसरी अवस्थाका ग्रहण, आक्रमण
या अग्नि आदिके द्वारा किए जानेवाली भगदड, आदि रूप नाना प्रकारके स्थायि-व्यभिचारि-
भावसे युक्त प्रासंगिक कार्यादि, बाहुयुद्ध और शस्त्रप्रहारादिका संग्रह हो जाता है । इसलिए
पह [प्रारम्भटी वृत्ति काविक, वाचिक तथा मानसिक] सब प्रकारके अभिनयसे युक्त और सब
प्रकारके ध्यापारों वाली [वृत्ति] है ।

उनमें विचित्र वेप-विन्यास [का उदाहरण] जैसे वेणीसंहारमें अश्वत्थामाका
[विचित्र वेप-विन्यास वर्णित है] । उदयनके चरित्रमें बनावटी हाथीका प्रयोग पाया जाता
है । बनावटी शिरका दर्शन जैसे रामाभ्युदयमें [रामके बनावटी बटे हुए शिरका दर्शन सीता
को कराया गया] है । [बलीमुख अर्थात्] बन्दरके भयसे प्रवेश [का उदाहरण] जैसे ररना-
बली में [पाया जाता है] । हर्षसे जैसे सत्यहरिश्चन्दमें वामनचेटीका प्रवेश [वर्णित है] ।
बालीके नेतृत्वकी छोड़कर सुप्रीयके नेतृत्वको स्वीकार करना । परशुरामकी उदतावस्थाको
छोड़कर दूसरी शान्तावस्थाका वर्णन [ये दोनों नामकान्तर और अवस्थान्तरके ग्रहणके उदा-
हरण हैं] । विचित्र प्रकारके [प्रासङ्गिक] अन्य कार्य [का उदाहरण] जैसे कृत्यारावणमें
[निम्न प्रकार पाया जाता है] अङ्गदके द्वारा पीछा किए जानेपर मन्दोदरीका भय, अङ्गदका
उत्साह, इस [अङ्गदके द्वारा ही रावणको देखनेपर 'प्रच्छा इस [रावण] ने भी देवताओं
को जीता था' इस प्रकार कहते हुए [रावणका] हास्य बनाना, और 'जिसको [रावण]
पिताजी [अर्थात् अङ्गदके पिता वाली] ने बालकके समान पकड़कर कीटरीमें [बन्द कर दिया
था]' इस प्रकार कहते हुए [रावणके प्रति अङ्गदकी] घृणा, हास्य और विस्मय [का वर्णन]
तथा रावणके रति, क्रोध [ये सब प्रासङ्गोचित कार्योंके उदाहरण हैं] । रामायणके आचारपर

अथ 'रसभावाभिनयगाः' इत्यतो वृत्तिलक्षणात् प्रथमं रसमाचष्टे—

[सूत्र १६३]—स्थायी भावः श्रितोत्कर्षो विभाव-व्यभिचारिभिः ।

स्पष्टानुभावनिश्चयः सुख-दुःखात्मको रसः ॥[७]१०६॥

प्रतिक्षणमुदय-व्ययधर्मकेषु बहुष्वपि व्यभिचारिष्वनुयायितयावश्यं तिष्ठतीति स्थायी । यद्वा तद्भाव एव भावान् अभावे चाभावान् रत्यादिव्यभिचारिणं ग्लान्यादिकं प्रत्यवश्यं स्थायी । उपचयं प्राप्य रसरूपेण रत्यादिर्भवतीति भावः । विभावैर्ललितो-द्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनरूपैर्वाह्यैर्ह्येतुभिः सत एवाविर्भावाद्, व्यभिचारिभिर्ग्लान्या-दिर्भी रसिकमनः-शरीरवर्तिभिः परिपोषणाच्च श्रितोत्कर्षः । स्वीकृतसाक्षात्कारित्वात्-भूयमानावस्थो, यथासम्भवं सुख-दुःखत्वभावो रस्यते आस्वाद्यते इति रसः ।

तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृंगार-हास्य-वीर-अद्भुत-शान्ताः सुखात्मानः । अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुण-रौद्र-वीभत्स भयानकारव-त्वारी दुःखात्मानः ।

बने नाटकादिमे लक्षणं और मेघनादके नियुद्धं आदि [के उदाहरण हैं] ॥[६] १०८ ॥
रस निरूपण—

[इस प्रकार भारती आदि चारों वृत्तियोंके लक्षण हो जानेके बाद] अब वृत्तिके [सामान्य] लक्षणमे आए हुए 'रस-भावाभिनयगा.' इस पदमेंसे सबसे पहिले रसका वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

[सूत्र १६३]—विभाव तथा व्यभिचारिभाव आदिके द्वारा परिपोषको प्राप्त होने वाला, स्पष्ट अनुभावोंके द्वारा प्रतीत होनेवाला, स्थायिभाव [रूप ही] सुख दुःखात्मक [अर्थात् केवल सुखात्मक अथवा केवल दुःखात्मक न होकर उभयात्मक] रस होता है । [७] १०६ ।

[यह ग्रन्थकारने रसका लक्षण किया है । अब उसमें आए हुए स्थायिभावादिके स्वरूप दिखलाते हैं] प्रतिक्षण उदय तथा अस्त होने वाले अनेक व्यभिचारिभावोंमे जो अनु-गतरूपसे अवश्य विद्यमान रहता है वह 'स्थायिभाव' [कहलाता] है । अथवा उस [स्थायि-भाव] को विद्यमानतामे ही होने और उसकी अविद्यमानतामे [व्यभिचारिभावोंके] न होनेसे, व्यभिचारिभाव ग्लानि आदिके प्रति, रत्यादि अवश्य स्थायिभाव होता है । [यह स्थायी शब्दका अर्थ हुआ अब आगे स्थायीके आगे जुड़े हुए भाव शब्दका अर्थ करते हैं । [व्यभिचारि-भाव आदि सामग्रीके द्वारा] परिपोषको प्राप्त करके रत्यादि, रसरूप हो जाता है इसलिए ['भवतीति भाव इस व्युत्पत्तिके अनुसार रत्यादि] 'भाव' [कहलाता] है । विभावों अर्थात् ललना और उद्यान आदि [रूप] आलम्बन तथा उद्दीपन विभावरूप बाह्य हेतुओंके द्वारा पूर्वसे ही विद्यमान [रत्यादि स्थायिभाव] का प्राविर्भाव होनेसे, और रसिकोंके मनमे विद्यमान ग्लानि आदि व्यभिचारिभावोंके द्वारा परिपुष्ट होनेके कारण, उत्कर्षको प्राप्त [अर्थात्] साक्षात्कारात्मक अनुभूयमानावस्थाको प्राप्त होनेवाला, यथासम्भवं सुख-दुःखोभयात्मक [स्थायि-भाव 'रस्यते इति रस' इस व्युत्पत्तिके] आस्वाद्यमान होनेसे रसपदसे वाच्य [बोधित] होता है । [रसके इस लक्षणमें रसको सुख-दुःखात्मक अर्थात् उभयात्मक माना है । उन दोनों प्रकारके रसोंका विभाग आगे दिखलाते हैं] उनमेंसे इष्ट विभावादिके द्वारा स्वरूपसम्पत्तिको

यन् पुनः सर्वरसानां मुख-दुःखात्मकत्वमुच्यते तन् प्रतीतिवाधितम् । आस्तां नाम मुख्यविभावोपचिताः, काव्याभिनयोपनीतविभावोपचितोऽपि भयानको वीभत्सः करणो रौद्रो वा रसास्वादवतामनारयेयां कामपि क्लेशदशामुपनयति । अतएव भयानकादिभिरुद्विजते समाज । न नाम मुग्धाभ्यादादुद्वेगो घटते ।

यन् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसाभ्यादविरामे सति यथावस्थितवस्तु-प्रदर्शकेन कवि-नटशक्तिकौशलेन । विग्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणापि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः । अनेनैव च सर्वाङ्गाह्लादकेन कविनटशक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानन्दरूपतां दुःखात्मकेष्वपि कर्णादिषु सुमेधसः प्रतिजानन्ते । एतदास्यादलौल्येन प्रेक्षका अपि गतेषु प्रवर्तन्ते । क्वयन्तु मुख-दुःखात्मकमंसारानुरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्त मुख-दुःखात्मकरमानुविद्वमेव ग्रथन्ति । पानकमाधुर्यमिव च तीक्ष्णाभ्यादेन दुःखाभ्यादेन सुतरां मुग्धानि स्वदन्ते इति । अपि च मीतायाः हरणं, द्रौपद्या. कचाम्यराकर्षणं, हरिश्चन्द्रस्य चाण्डालदास्यं, रोहिताश्वम्य मरणं,

प्रकाशित करने वाले शृङ्गार, हास्य, वीर, प्रदुभुत और शांत [ये पाँच] मुखप्रदान रस हैं । और अग्निष्ट विभावादिके द्वारा स्वरूप लाभ करने वाले करण, रौद्र, वीभत्स और भयानक ये चार दुःखात्मक रस हैं ।

[कुछ आचार्योंके द्वारा] जो सब रसोंको सुखात्मक बतलाया जाता है वह प्रतीति के विपरीत [होनेसे भ्रमान्य असंगत] है । मुख्य [अर्थात् वास्तविक] विभावोंसे उत्पन्न [करण आदिकी दुःखात्मकताकी तो बात ही जाने दो, काव्यके अभिनयमे प्राप्त [बनावटी] विभाव आदिसे उत्पन्न हुआ भी भयानक, वीभत्स, करण अथवा रौद्ररस आस्वादन करने वालोंकी कुछ भ्रवर्णनीयसी क्लेशदशाको उत्पन्न कर देता है । इसी लिए भयानक आदि [दृश्यों] से सामाजिकको घबराहट होती है । [यदि सब रस सुखात्मक ही होते तो] सुखास्वादसे तो किसीको उद्वेग नहीं होता है । [इसलिए करणादि रस दुःखात्मक ही होते हैं] ।

और जो इन [करणादिरसों] से भी सहृदयोंमें चमत्कार दिखलाई देता है वह रसास्वादेके समाप्त होनेके बाद पथास्थित जैसे-तैसे पदार्थोंको दिखलाने वाले कवि और नटजनोंके कौशलके कारण होता है । क्योंकि वीरताके अभिमानो जन भी [एक ही प्रहारमे] सिरको काट डालने वाले, प्रहार-कुशल वरी [के कौशलको देखकर, उस] से भी विस्मय [और तज्जन्य चमत्कार] को अनुभव करते हैं । सम्पूर्ण अङ्गोंको आनन्द प्रदान करने वाले [सब इन्द्रियोंके आह्लादक], कवि और नटजनोंकी शक्ति [कौशल] से उत्पन्न चमत्कारके द्वारा थोड़ेमे आकर बुद्धिमान लोग भी दुःखात्मक करणादि रसोंमें भी परमानन्द रूपता समझने लगते हैं । और इनका आस्वादन करनेके लोभका सबरण न कर सबनेके कारण प्रेक्षक सामाजिक भी इन [के आस्वादन]मे प्रवृत्त होते हैं । कविगण तो मुख-दुःखात्मक ससारके अनुद्वेष ही रामादिके चरित्रकी रचना करते समय मुख-दुःखात्मक रसोंसे युक्त ही [काव्य नाटक आदि की] रचना करते हैं । पने वा माधुर्य जैसे [उसमे पडो हुई भिचंके] तीसे आस्वादाने और अधिक अच्छा प्रतीत होता है इसी प्रकार [करणादि दुःखप्रदान रसोंमे] दुःखके [तीसे] आस्वादाने मिलकर सुखोंकी अनुभूति और भी अधिक आनन्ददायिनी धन जाती है । और [नाटकादिमे] सीतसे हरण, द्रौपदीके केश एव वस्त्रोंके लोभे जाने, हरिश्चन्द्रकी चाण्डालके

लक्ष्मणस्य शक्तिभेदन, मालत्या व्यापादनारम्भणमित्याद्यभिनीयमानं पश्यतां सहृदयानां को नाम सुखास्वाद ?

तथानुनार्यगताश्च कर्णादय परिदेवितानुकार्यत्वात्^१ तावद् दुःखात्मका एव । यदि चानुकरणं सुखात्मानं स्युर्न सम्यगनुकरणं स्यात् । विपरीतत्वेन भासनादिति । योऽपीष्टादिदिनाशदुःखता कर्णे वर्यमानेऽभिनीयमाने वा सुखास्वादोऽपि परमार्थतो दुःखास्वाद एव । दुःखी हि दुःखितमार्तया सुरमभिमान्यते । प्रमोदवार्तया तु ताम्यतीति कर्णादयो दुःखात्मानं एवेति ।

विप्रलम्भशृङ्गारस्तु दाहाधिकार्यत्वाद् दुःखरूपोऽपि सम्भोगसम्भावनागर्भत्वात् सुखात्मकः ।

यहां दासता, रोहिताश्वके मरण, लक्ष्मणके शक्तिभेदन, मालतीके मारनेके उपक्रम आदिके अभिनयको देखने वाले सहृदयोंको सुखवा आस्वाद कैसे हो सकता है ? [इसलिए कर्णादिरसोंको सुखात्मक मानना उचित नहीं है । इसी बातके समर्थनकेलिए आगे और भी युक्ति देते हैं] ।

और अनुकार्यगत [अर्थात् रामचन्द्र आदिके वास्तविक जीवनमें सीताश्रियोगके समय] कर्णादि विलापादिपुत्र होनेके कारण निश्चित रूपसे दुःखात्मक ही होते हैं । यदि उनको अनुकरण [रूप नाटक] में सुखात्मक माना जाय तो वह सम्यक् अनुकरण नहीं हो सकता है । [वास्तविक दुःखात्मक प्रतीतिसे] विपरीत रूपमें [नाटक] में प्रतीत होनेसे [नाटक] में रामके वृत्तका यथायं अनुकरण नहीं बनेगा । इस कारण भी कर्णादिको दुःखात्मक ही मानना पड़ेगा ।

कभी कभी किसी इष्टजनके विनाशके समय उसको सान्त्वना देनेकेलिए लोग किसी अन्यके इसी प्रकारके दुःखका वर्णन आदि करते हैं । और उस प्रकारके दूसरेके दुःखको सुनकर या देखकर दुःखित व्यक्तिको कुछ सान्त्वना और अपने कष्टको सहनेका बल मिलता है परन्तु वह सुख नहीं है । वह दुःखास्वाद ही है । दुःखी व्यक्तिके सामने दूसरोंके उसी प्रकारके दुःखके वर्णनसे तो उसको सान्त्वना मिलती है किन्तु यदि उस दुःखके समय उसके सामने नाच-रग आदि आनन्द वार्ताकी चर्चा की जाय तो वह उसको बुरी मालूम होती है । इसलिए कर्णादिरस दुःखात्मक ही है इस बातको आगे ग्रन्थकार इस प्रकार लिखते हैं—

और इष्टजनके विनाशसे दुःखियोंके सामने कर्णादिका वर्णन किए जाने अथवा अभिनय किए जानेपर जो सुखास्वाद होता है वह ही वास्तवमें दुःखास्वाद ही होता है । दुःखी व्यक्ति दूसरे दुःखी व्यक्तिको दुःख वार्तासे सुख सा [सान्त्वना] सी अनुभव करता है । और प्रमोदकी वार्तासे [उस समय] उद्विग्न होता है । इसलिए भी कर्णाद आदि रस दुःखात्मक ही होते हैं [उनको सुखात्मक रस नहीं माना जा सकता है] ।

विप्रलम्भ शृङ्गार तो [इष्टजनके] दाहादि [द्वारा विनाशको प्रतीति] से जय होनेके कारण दुःखरूप होनेपर भी उसमें पुनर्मिलन [सम्भोग] की सम्भावना बनी रहनेसे सुखात्मक [बहा गया] है ।

इस पवित्रमें ग्रन्थकारने कर्णाद तथा विप्रलम्भ शृङ्गारका भेद दिखलाया है । कर्णाद

रसरच मुख्यलोकगत प्रेक्षरुगत काव्यस्य श्रोतृ-अनुसन्धायकद्वयगतो वेति ।
'स्पष्टा' इति स्पष्टा सम्यङ् निर्णीता । असन्दिग्धं हि लिङ्गं भवति । अनुभावयन्ति

रसको दुःखात्मक और विप्रलम्भ शृङ्गारको सुखात्मक रस माना है । इस भेदका कारण यह है कि विप्रलम्भ शृङ्गारमे पुनर्मिलनकी सम्भावना बनी रहती है । किन्तु कष्टमे पुनर्मिलनकी सम्भावना नहीं रहती है । रामचन्द्रके जीवनमे सीता हरणके बादका प्रसंग विप्रलम्भ शृङ्गार का प्रसंग है और सीतानिष्कासनके बादका प्रसंग कष्टरसका प्रसंग है । इसी भेदको महाकवि भवभूतिने उत्तर रामचरितमे इस प्रकार दिखलाया है—

उपायाना भावाविरलविनोदव्यतिकरै,
विमर्दैर्वीराणां जनितजगत्यदुःखतरस ।
वियोगो मुग्धाद्या स रत्न रिपुघातावधिरभूत्,
कष्टस्तूष्णीं सहो निरवधिरयं तु प्रविलय ॥

कष्ट तथा विप्रलम्भ दोनोंमे प्रियजनका वियोग होता है । उस वियोगमे दोनों जगह दुःखी व्यक्ति रुदन विलाप आदि करता है । पर इन दोनोंका भेद कराने वाली सीमा रेखा मृत्यु है । मृत्युके पहले वाला वियोग विप्रलम्भका क्षेत्र है और मृत्युके बादका वियोग कष्ट का क्षेत्र है । विप्रलम्भशृङ्गारमे पति-पत्नीका वियोग होता है, पर किसीका मरण नहीं होता है । इसलिए उस वियोगकी अवस्थामे किया जाने वाला रुदन और विलापादि सब विप्रलम्भशृङ्गारकी सीमामे आता है । किन्तु जहाँ किसी एककी मृत्यु हो जानेके बाद उसा प्रकारका रुदन और विलाप पाया जाता है वह सब कष्टकी सीमामे आता है । कष्टरसकी सीमाका निर्धारण करने वाला यह मृत्यु कभी वास्तविक भी होता है और कभी अवास्तविक भी हो सकता है । अवास्तविक मृत्युका अभिप्राय यह है कि वास्तवमे मृत्यु तो नहीं हुई है किन्तु किसी कारणसे पति पत्नी दोनोंमेंसे किसी एकने अपने दूसरे साथी की मृत्यु समझ ली है । जैसे रामचन्द्रने सीताको वनमे भिजवा देनेके बाद यह समझ लिया है कि 'कव्याद्भ्रूललतिका नियत विसृप्ता' सीताके शरीरको निश्चय ही जगलके मासमक्षी सिंहादि प्राणो खा गए हैं । यद्यपि सीता मरी नहीं है किन्तु रामचन्द्रने उसको मरा हुआ समझ लिया है । फलत उत्तररामचरितमे किया गया रामचन्द्रका सारा विलाप कष्टरसका विषय, और उत्तररामचरितको कष्टरस प्रधान नाटक माना जाता है । इसीलिए उत्तररामचरितमे सीताके इस वियोगको 'निरवधिरयं तु प्रविलय' कहा गया है ।

रसका आश्रय—

इस प्रकार प्रथकारने यहाँ तक रसको सुखात्मक और दुःखात्मक दो वर्गोंमे विभक्त करते हुए सारे रसको सुखात्मक माने जानेके सिद्धांतका विस्तारपूर्वक सण्ठन किया है । अब आगे और व्याख्या प्रारम्भ करते हैं । इसमे भी पहिली पक्तिमे रसके आश्रयका निरूपण करते हुए लिखते हैं कि—

और रस [मुख्य लोकगत अर्थात्] अनुकार्यगत [अर्थात् रागादिगत] होता है अथवा समाजिकगत होता है [अर्थात् मुख्य रूपसे नटके रस नहीं रहता है] और काव्यमे [काव्यके] होता अथवा निर्माता [अनुसन्धायक] इन दोनों रहता है । [आगे चरित्रके आगे हुए 'स्पष्टानुभावनिश्चये' पदकी व्याख्या करते हैं] 'स्पष्टा' इससे स्पष्ट अर्थात् भली प्रकारसे निर्णीत

परमथानपि रसानवयोरवयन्तीति अनुभावा । स्तम्भ-स्वेद-अश्रु-रोमान्च-भ्रूक्षेप-आदयः । तैर्यथासम्भवं सत्तया निश्चयः ।

इह तावत् सर्वलोकप्रसिद्धा परस्थस्य रसस्य प्रतिपत्तिः । सा च न प्रत्यक्षा चेतो-धर्माणामतीन्द्रियत्वात् । तस्मात् परोक्षैव । परोक्षा च प्रतिपत्तिरविनाभूताद् वस्तुन्तरान् । अत्र च रसेऽन्यस्य वस्तुन्तरस्यासम्भवात् कार्यमेवाविनाकृतम् ।

[अनुभावोके द्वारा रसका निश्चय होता है] । क्योंकि अतंदिग्ध ही लिङ्ग [अनुभापक] होता है । [आगे इस पदमे आए हुए 'अनुभाव' पदकी व्युत्पत्ति दिखलाते हैं] अनुभव कराते हैं अर्थात् दूसरेमे रहने वाले रसोंको लक्षित करते हैं इसलिए ['अनुभावयन्ति इति अनुभावाः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार] स्तम्भ, स्वेद, अश्रु, रोमान्च, भ्रूक्षेप आदि 'अनुभाव' [कहलाते] हैं । उनके द्वारा यथासम्भव सद्रूपमे निश्चय किया जानेवाला [रस्यादि स्थायिभाय रस कहलाता है] ।

यहाँ [काव्य नाटक आदिमे] दूसरे [रामादि] मे रहने वाले रसकी प्रतीति सारे लोक मे प्रसिद्ध है । [वह अन्त करणवर्तिनी होती है] और अन्तःकरणके धर्मके इन्द्रियप्राह्य न होनेसे प्रत्यक्ष नहीं कही जा सकती है । इसलिए परोक्ष रूप ही है । और परोक्ष प्रतीति उससे अविनाभूत [अर्थात् जिसके बिना वह प्रतीति नहीं बन सकती है इस प्रकारके] शब्द या लिङ्ग आदि रूप] अन्य वस्तुके द्वारा होती है । और रसमें [इस प्रकारको] अन्य वस्तुका सम्भव न होनेसे उसका कार्य [अर्थात् अनुभावादि] ही [रसके] अविनाभूत है । इसलिए उन्हींके द्वारा रसकी प्रतीति होती है] ।

इस पक्षिमे अर्थकारने यह कहा या कि अनुभावादि कार्य ही रसके अविनाभूत या नान्तरीयक होते हैं इसलिए उनके द्वारा ही रसकी प्रतीति होती है । इसपर यह शका उपस्थित की जा सकती है कि अनुभावादिको रसका नान्तरीयक या अविनाभूत नहीं कहा जा सकता है । इसका कारण यह है कि रसका अविनाभूत केवल उनको कहा जा सकता है जो रसके बिना हो ही न सकें । स्तम्भ स्वेदादि अनुभावोकी वह स्थिति नहीं है । वे तो रसके बिना भी हो सकते हैं । जैसे अभी ऊपर कहा जा चुका है कि रस या तो मुख्य लोक अर्थात् रामादिमे रहता है अथवा प्रेक्षक अर्थात् सामाजिकमे रहता है नटमे रस मुख्य रूपसे नहीं रहता है । किन्तु रसका अभाव होनेपर भी नटमे स्तम्भ-स्वेदादि अनुभाव पाए जाते हैं । इसलिए वे रसके अविना-भूत या नान्तरीयक नहीं है । तब उनसे रसकी प्रतीति कैसे हो सकती है ?

इस शकाका समाधान ग्रन्थकार दो प्रकारसे करते है । पहिला समाधान तो यह है कि हम नटगत स्वेदादि अनुभावोके द्वारा रसकी अनुभूति नहीं मानते हैं । क्योंकि हमने 'कार्य-मेवाविनाभूत' कहा है । हम रसके कार्यरूप अनुभावोको रसका अविनाभूत कहते है । नटगत स्तम्भादि रसके कार्य नहीं अपितु कारण है । नटगत स्तम्भ-स्वेदादिको देखकर प्रेक्षक या सामाजिकमे रसानुभूति होती है । इसलिए नटगत स्तम्भ स्वेद अश्रु आदि सामाजिकगत रसके कारण हैं, कार्य नहीं । प्रेक्षकगत अश्रु आदि उसके कार्य हैं । उन प्रेक्षकगत अनुभावादिको देखकर दूसरोको परस्थ रसकी प्रतीति होती है । यह ग्रन्थकारके द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रथम समाधानका अभिप्राय है ।

इस समाधानके विषयमे एक बात विशेष रूपसे ध्यान देनेकी यह है कि यहाँ ग्रन्थकार ने प्रेक्षकगत अनुभावादिको कार्यरूप कहा है, और उनके द्वारा 'परस्थ' रसकी प्रतीतिका

परगतविभावाद्यनुक्रियायां च पररञ्जनार्थं प्रवृत्तस्य नटस्य रमाभावेऽपि स्तम्भ-
स्वेदादयो भवन्तीति, तेषां रसनान्तरीयकत्वमाशङ्कनीयम् । तेषां परगतरसजनकत्वेना-
कार्यत्वान् । नटगता हि स्तम्भादयः प्रेक्षकगत रसानां कारणम् । प्रेक्षकगतानु कार्याणि ।
परोक्षं चार्थं बुभुत्सुना परोक्षार्थ-नान्तरीयके लिङ्गस्वरूपे निपुणेन प्रतिपत्त्रा
भाष्यम् ।

उपपादन किया है । यह सिद्धात अन्य सिद्धातोसे विलक्षण है । अन्य सिद्धातोमे रसको
साक्षात्कारात्मक ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है । परन्तु यहाँ रसकी परोक्षात्मक और
परस्य प्रतीतिका उपपादन किया गया है ।

पत्तियो वा अर्थं निम्न प्रकार है—

दूसरोके मनोरञ्जनकेलिए, दूसरोमे [अर्थात् अनुकार्यं राम आदिये] रहनेवाले
विभावके अनुकरणमे प्रवृत्त होनेवाले नटमे रसका अभाव होनेपरभी स्तम्भ स्वेवादि [अनुभाव]
होते हैं इससे उनके रसके अविनाभूत न होनेकी शङ्का नहीं करनी चाहिए । क्योंकि ये
[अर्थात् नटगत स्तम्भ स्वेवादि अनुभाव] परगत [अर्थात् सामाजिकमे रहनेवाले] रसके
जनक होनेसे [रसके] कार्य नहीं [अपितु कारण] होते हैं । नटगत स्तम्भ आदि सामाजिकगत
रसके कारण होते हैं । सामाजिकगत [स्तम्भ आदि] के [रस के] कार्य होते हैं ।

अनुमितिवाद—

अन्यकारने यहाँ यद्यपि नामत किसीके मतका उल्लेख नहीं किया है किन्तु उनके
इस लेखसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस विषयमे शकुन्कके अनुमितिवादका अनुसरण कर रहे
हैं । परन्तु इनका अनुमितिवाद भी भरत सूत्रके व्याख्याता आचार्य शकुन्कके अनुमितिवादेसे कुछ
भिन्न-सा है । शकुन्कके मतमे नटगत अनुभावादिसे रसकी अनुमति मानी गई है । परन्तु यहाँ
सामाजिकगत अनुभावादिके द्वारा उसकी अनुमतिवा प्रतिपादन किया गया है ।

परोक्ष अर्थको जाननेकी इच्छा रखने वालेको परोक्ष अर्थके अविनाभूत लिंगके स्वरूपके
समझनेमे निपुण्य जाता होना चाहिए ॥

इस पत्तिका अभिप्राय यह है कि परस्य रसका अनुमान करने वाला व्यक्ति इस
विषयको भली प्रकार समझता हो कि अमुक प्रकारके अनुभाव अमुक प्रकारकी मन स्थिति
मे होते हैं । तभी वह सामाजिक या प्रेक्षकगत विशेष प्रकारके अनुभावोको देखकर उसमे
शृङ्गार वीर आदि विशेष रसोका अनुमान कर सकता है । इस प्रकार अन्यकारने यहाँ
परगत रसके अनुमानका प्रकार तो दिखला दिया । किन्तु प्रेक्षकगत अनुभावादिसे रसकी
प्रतीति किसको होती है यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है । सभी प्रेक्षकोको एक-दूसरेमे रहने
वाले रसकी परोक्ष प्रतीति होती है यही एक समाधान इस प्रश्नका हो सकता है किन्तु वह
कुछ उचित प्रतीत नहीं होता है । रसकी प्रतीति सामाजिकको साक्षात्कारात्मक होती है तभी
उसका आस्वादन बन सकता है । परोक्ष ज्ञानको आस्वादन नहीं कहा जा सकता है । अत
यह सिद्धांत युक्तिसंगत नहीं है ।

दूसरा समाधान, नटमे अनुभावोंकी स्थिति—

अनुभावोके द्वारा रसकी प्रतीति होती है इस सिद्धातके विषयमे यह कहा उठाई गई
थी कि अनुभावोको रसोका अविनाभूत या नाग्तरीयक नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि

नटोऽपि च रसं गमयन्त्येव यदा रसकार्या भवन्ति । न च नटस्य रसो न भवतीत्येकान्त । पण्यस्त्रियो हि धनलोभेन पररत्यर्थं रतादि विपञ्चयन्त्य कदाचित् स्वयमपि परा रतिमनुभवन्ति । गायनाश्च परं रञ्जयन्त कदाचित् स्वयमपि रञ्जयन्ते । एवं नटोऽपि रामादिगत विप्रलम्भाद्यनुकुर्वाण कदाचित् स्वयमपि तन्मयीभावमुपयात्येवेति तद्गता अपि रोमाञ्चादयस्तत्र रसं गमयेयुरेव । अत एव 'स्पष्टानुभाव' इत्युक्तम् ।

रोमाञ्चादयश्च ये स्त्री-पुंस-नट-काव्यस्थास्ते परेषां रसजनकत्वाद् विभाव-मध्यवर्तिन । प्रेक्षक-श्रोत्र-अनुसन्धात्रादिस्थितास्तु रसस्य कार्याणि सन्तो व्यवस्थापका ।

यत्र विभावा परमार्थेन सन्त प्रतिनियतविषयमेव स्थायिन रसत्वमापादयन्ति, तत्र नियतविषयोल्लेखी रसास्वादप्रत्यय । युवा हि रागवती युवतिमवलम्ब्य तद्विषयामेव रतिं शृङ्गारतयास्वादयति ।

नटमे रसके न होनेपर भी अनुभाव उत्पन्न होते हैं । तब जिन अनुभावोकी रसके साथ व्याप्ति या अविनाभाव ही नहीं है उनसे रसकी प्रतीति या अनुमिति कैसे हो सकती है ? इस शकाका एक समाधान ग्रन्थकारने यह दिया कि नटगत अनुभावोसे रसकी प्रतीति नहीं होती है अपितु प्रेक्षकगत कार्यभूत अनुभावोसे रसकी प्रतीति होती है । अब इसी विषयमे दूसरा समाधान यह दे रहे हैं कि नटमे रस नहीं होता है यह बात भी नहीं है । नटमे भी रस हो सकता है । इसलिए नटगत अनुभाव भी उनके अविनाभूत है । इसी बातको ग्रन्थकार अगनी पक्तियोम निम्न प्रकार लिखते हैं—

[नटमे रहने वाले अनुभावादि] जब [नटगत] रसके कार्य [अर्थात् नटगत रससे उत्पन्न] होते है तब वे नटमे भी रसका अनुमान कराते हैं । और नटमे रस होता ही नहीं है यह कोई नियम नहीं है । वेध्याएँ जो धनके लोभसे दूसरोंको [भोगके लिए] रति आदिका प्रवसर देती हैं कभी स्वय भी अत्यन्त प्रानन्दका अनुभव करती हैं । और गाने वाले दूसरोंके मनोरजनके लिए गाते हुए कभी स्वय भी आनन्द मग्न हो जाते हैं । इसी प्रकार नट भी रामादिगत विप्रलम्भशृङ्गारका अनुकरण करते हुए कभी स्वय भी तन्मयीभावको प्राप्त हो जाता है । इसलिए उसमे रहने वाले रोमाच आदि [अनुभाव] भी [उसके भीतर रहने वाले] रसका अनुमान कराते हैं । इसीलिए [कारिका] 'स्पष्टानुभावनिश्चेय.' यह कहा गया है । [अर्थात् प्रेक्षकमे या नटमे जहाँ भी रसके कार्यभूत अनुभव स्पष्ट रूपसे प्रतीत हो वहाँ वे रसका अनुमान करा सकते हैं] ।

[लोकमे] स्त्री, पुरुष, नट, तथा काव्यमे स्थित जो रोमाञ्च आदि [अनुभाव] होते हैं वे प्रयोगे [स्थित] रसके जनक होनेसे [रसके कारणभूत] विभावोंमे [गिने जाते] हैं । [इसके विपरीत नाटकादि दृश्य-काव्यके] प्रेक्षक [अध्य-काव्यके] श्रोता तथा [उन दोनोंके] अनुसन्धाता [अर्थात् निर्माता कवि]मे स्थित [रोमाञ्चादि] तो रसके कार्य रूप होनेसे [रसके व्यवस्थापक अर्थात्] निश्चापक होते हैं ।

जहाँ [अर्थात् लोकमे] वास्तविक रूपमे स्थित विभाव [सीता राम आदि] निश्चित व्यक्ति-विशेषमें [रति आदि रूप] स्थायिभावको रसरूपताको प्राप्त कराते हैं वहाँ रसका आस्वाद नियत व्यक्तिविशेषमे होता है । जैसे कि [लोकमें कोई] युवक किसी युवतिको देख

यत्र तु परानुक्तानां ज्वनितामयलम्ब्य सामान्यविषया रतिरुपचयमुपैति, तत्र न नियतविषय शृङ्गाररसास्वादः। विभावानां सामान्यविषये स्याद्याविर्भावकत्वात्। वन्द्युशोकार्ता च रुदती स्त्रियमवलोक्य सामान्यविषय एव करुणरसास्वादः। एवमन्येष्वपि रसेषु विशेष-सामान्य-विषयत्वं द्रष्टव्यम्।

उसके विषयमे अपने रतिको शृङ्गाररसके रूपमे आस्वादन करता है। [इसी प्रकार लोकमें वास्तविक रूपसे विद्यमान सीता-रामादि रूप विभावमे नियत विशेषसे सम्बद्ध रूपमें ही रसास्वादको अनुभूति होती है। यहाँ रसकी प्रतीति विशेष-विषयक और लौकिकी हुई। आगे सामान्य-विषयक रसकी प्रतीतिकी अलौकिकता का उपपादन करते हैं]।

जहाँ [लोकमें वास्तविक रूपमे स्थित, पर] अन्यमे अनुभवत वनिताको [अर्थात् परकीया नायिका] को लेकर [अनेक व्यक्तियोंमें] सामान्य विषयक रति परिधेयण होता है वहाँ नियत व्यक्तिविशेषसे सम्बद्ध रूपमें शृङ्गाररसका आस्वाद नहीं होता है [अर्थात् एक स्त्रीसे अनेक व्यक्तियोंको सामान्यरूपसे शृङ्गारानुभूति होती है] क्योंकि [ऐसे उदाहरणोंमें स्त्री प्रादि रूप] विभावसे सामान्य रूपसे [अनेक व्यक्ति विषयक रतिका प्रादि] स्थाविभाव का प्राविर्भाव होनेसे [सामान्य-विषयक ही रसास्वाद होता है]। इसी प्रकार अपने किसी प्रिय वन्द्युके वियोगसे पीड़ित युवतिको रोते हुए देखकर [देखने वाले अनेक व्यक्तियोंको] सामान्य विषयक ही करुणरसका आस्वाद होता है। [इस प्रकार इन दो उदाहरणोंके द्वारा ग्रन्थकारने यह दिखलाया है कि शृङ्गार और करुण दोनों रसोंकी सामान्य-विषयक तथा विशेष-विषयक दोनों प्रकारकी स्थिति होती है। यही बात अन्य रसोंके विषयमें भी समझनी चाहिए। इसी बातको अगली पंक्ति में लिखते हैं]। इसी प्रकार अन्य रसोंमें भी सामान्य-विषयक और विशेष-विषयक समझ लेना चाहिए।

यह जो रसोंका सामान्य-विषयक तथा विशेष-विषयक दिखनाया है वह वास्तविक रूपसे विद्यमान 'परमार्थेन सन्त' विभावादिके द्वारा उत्पन्न रसोंके विषयमें कहा गया है। 'परमार्थसत्ता' वास्तविक रूपमे विद्यमान विभावादिकी स्थिति लोकमें ही होती है, काव्य नाटक प्रादिमें नहीं। इसलिए यह सामान्य और विशेषगत द्विविध रसोंकी स्थिति भी लोक में ही हो सकती है। काव्य या नाटकमें नहीं। काव्य और नाटकमें माधारीकरण व्यापार द्वारा सामान्य रूपसे अनेक व्यक्तियोंमें रसकी अनुभूति होती है। इस बातको अगले प्रकरणमें दिखला रहे हैं। किन्तु यहाँ एक बात विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है और वह यह बात है कि अन्य प्राचार्योंने रसको अलौकिक माना है। लोकमें होने वाली स्त्री-पुरुषकी परस्पर रतिको अन्य प्राचार्योंने रम नहीं माना है। काव्य नाटकमें होने वाले विभावादिको ही उन लोगोंने विभावादि शब्दसे कहा है। उनके मतमें विभावादि शब्द भी लोकके नहीं काव्य नाटकके क्षेत्रमें ही सीमित शब्द है। यहाँ ग्रन्थकारने लौकिक स्त्री-पुरुष प्रादिको भी 'विभावादि' शब्दोंसे और उनकी रति प्रादिको भी 'रस' शब्दसे निर्दिष्ट किया है। इसीलिए उन्होंने सामान्य-विषयक और विशेष-विषयक द्विविध रसोंकी स्थिति मानी है। उनका यह सिद्धान्त अन्य प्राचार्योंसे विनक्षण है।

इस प्रकार लौकिक रसादि-विषयक विवेचना करनेके बाद अब ग्रन्थकार अगले प्रकरणमें काव्य-नाटकगत रसोंकी विवेचना करते हुए लिखते हैं—

ये पुनरपरमार्थसन्तोऽपि काव्याभिनयाभ्यां सन्त इवोपनीता विभावास्ते श्रोतृ-
अनुसन्धातृ-प्रेक्षकाणां सामान्यविषयमेव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति । अत्र च विषय-
विभागानपेक्षी रसास्वादप्रत्ययः । न हि रामस्य सीतायां शृङ्गारेऽनुक्रियमाणे सामाजिकस्य
सीताविषयः शृङ्गारः समुल्लसति । अपि तु सामान्यस्त्रीविषयः । नियतविषयरमरणा
दिना स्थायिनः । प्रतिनियतविषयतायां तु प्रतिनियतविषय एव रसास्वादः ।

तथा अपरमार्थसतां, अभिनय-काव्यार्पितानां च विभावानां बहुसाधारण-
त्वाद् य एकस्य रसास्वादः सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मा, इत्ययोगव्यवच्छेदेन न पुनरन्ययोग-
व्यवच्छेदेन ।

श्रीर वास्तविक रूपमें न होनेपर भी काव्य या अभिनय [नाटक] के द्वारा विद्यमानसे
प्रतीत होनेवाले जो विभावादि हैं वे [काव्यके] श्रोता, अनुसन्धाता [अर्थात् निर्माता] तथा
प्रेक्षक [तीनोंमें] सामान्य विषयक स्थायिभावको ही रसरूपताको प्राप्त करते हैं । यहाँ
[अर्थात् काव्यनाटकमें] विषय-विभागकी अपेक्षा न करने वाला रसास्वाद होता है । [अर्थात्
काव्य नाटक आदिमें सामान्य-विषयक श्रीर विशेष-विषयक दो प्रकारका रसोद्बोध नहीं होता
है] । रामके सीता-विषयक शृङ्गारका अनुकरण होनेपर सामाजिकमें सीता विषयक [अर्थात्
व्यक्ति विशेषसे सम्बद्ध] शृङ्गारानुभूति नहीं होती है अपितु सामान्य स्त्री-विषयक [शृङ्गारको
ही अनुभूति होती है । लोकमें नियत विषयके विद्यमान न होनेपर भी] नियत विषयके स्मरणदि
से नियत-विषयक [अर्थात् उस स्मर्यमाण व्यक्ति-विशेषसे सम्बद्ध] ही रसास्वाद होता है ।

अर्थात् लोकमें भी विभावादिकी वास्तविक रूपसे विद्यमान श्रीर वास्तविक रूपसे
अविद्यमान होनेपर भी स्मर्यमाण, दो रूपोंमें स्थिति हो सकती है । श्रीर उनसे विशेष-विषयक
अर्थात् विशेष-व्यक्तिसे सम्बद्ध रूपमें भी रसानुभूति हो सकती है । किन्तु काव्य श्रीर नाट्य
में विभावादि वास्तविक रूपमें विद्यमान नहीं होते हैं । केवल काव्य तथा अभिनयके द्वारा
समर्पित होते हैं । इसलिए उनसे विशेष-विषयक रसानुभूति न होकर सामान्य-विषयक रसा-
नुभूति ही होती है । इस बातको अगली पवित्रयोको इस प्रकार लिखते हैं—

श्रीर वास्तवमें अविद्यमान किन्तु [केवल] काव्य तथा अभिनयकेद्वारा समर्पित विभावोंके
अनेक पुरुषोंके लिए समान होनेसे [बहुसाधारणत्वात्] जो [उन बहुतसे सामाजिकोंमेंसे] किसी
एकका रसास्वाद है वह अन्यका प्रतिक्षेपक रूप [अर्थात् अन्यको रसानुभूतिमें बाधक] न होने
से [उस विशेष सामाजिकमें] प्रयोगव्यवच्छेदसे [अर्थात् अवश्य] रहता है, अन्ययोग-व्यवच्छेदक
[अर्थात् अन्यमें उसकी स्थितिमें बाधक बनकर] नहीं रहता है ।

यहाँ 'य एकस्य रसास्वादः सोऽन्याप्रतिक्षेपात्मा इत्ययोगव्यवच्छेदेन न पुनरन्ययोग-
व्यवच्छेदेन' यह सारी पक्ति तनिक विलग्न पक्ति है । पक्तिके धारम्भमें 'तथा परमार्थसता'
पद भी सदिग्ध-सा या भ्रमजनक हो सकता है । उसमें 'तथा' के प्राये 'परमार्थसता' पदच्छेद
न करके 'तथा अपरमार्थसता' इस प्रकारका पदच्छेद करना चाहिए । क्योंकि काव्य नाटक
आदिमें जो विभावादि होते हैं वे 'परमार्थसत्' वास्तविक रूपमें विद्यमान नहीं होते हैं । इस-
लिए यहाँ 'तथा अपरमार्थसता' यही पदच्छेद करना उचित है । इसके बाद 'य एकस्य रसा-
स्वादः सोऽन्यान् प्रति क्षेपात्मा' इस प्रकारका पाठ पूर्व संस्करणमें द्यवा था । पूर्व पाठके समान

अत्र च रत्यादेर्विभावैराविभूतस्य पोषकारिणो व्यभिचारिणो रसिकगता एव
 प्राप्ताः । यदा हि विभावैः स्याद्विभिः, काव्यनाट्यगतैर्वा अन्यस्य रत्यादयो रसोन्मुख-
 त्वेनोन्मील्यन्ते, तदा यथायोगं व्यभिचारिणोऽपि तत्र प्रादुःपन्ति । न हि स्याद्विचिन्तां
 शृङ्गारो, धृति हास्यो, विपादं करुणो, अमर्षं रौद्रो, हर्षं वीरः, त्रासं भयानकः, शंकां
 वीभत्सः, श्रौत्सुक्यमद्भुतो, निर्वेदं शान्तः सहचारिणं विना प्रादुर्भवति ।

अन्यगतचेतसो विरक्तचेतसो वा, वाक्यार्थावयोधे वनितादिदर्शनेऽपि वा
 चिन्ताद्यभावे रसाभावात् । सौक्ष्म्यादाशुभावाच्च क्वचिदनुपलक्षणेऽपि न दोषः ।
 प्रादुर्भूताश्च व्यभिचारिणो रसोन्मुखं स्थायिनं पोषयन्तो रसत्वमापादयन्ति । अत एव
 रसत्वोन्मुखानां स्थायिनां व्यभिचारिणः सहचारिणो, विभावास्तु प्राग्भाविनः ।

है । जिसकी चित्तवृत्ति ही वह व्यक्ति उस चित्तवृत्तिका आधार हुआ ।] चित्तवृत्ति-विशेष ही
 रस है । [इसलिए इस प्रतीतिमें उसके आधारभूत रसिकका सम्बन्ध प्रवश्य रहता है । यह
 प्रत्यक्षकारका अभिप्राय है] ।

और यहाँ विभावोंसे आविभूत होने वाले रसि आदि [स्याद्विभाव] को पुष्ट करने
 वाले व्यभिचारिभाव रसिकगत ही लेने चाहिए । [नटगत या अनुकार्यगत व्यभिचारिणोंसे
 सामाजिकगत रत्यादिकी पुष्टि नहीं होती है यह अभिप्राय है] । जब [लोकमें] स्त्री आदि
 विभावोंसे, अथवा काव्य नाट्यगत विभावोंसे दूसरोंको रत्यादिका रसोन्मुख रूपसे जन्मीतन
 होता है तब [उन सामाजिकों] के भीतर यथोचित व्यभिचारिभावोंका भी आविर्भाव होता
 है । क्योंकि स्त्री आदिकी चिन्ता [रूप व्यभिचारिभाव] के विना शृङ्गाररस, धृति [रूप
 व्यभिचारिभाव] के विना हास्य, विपाद [रूप व्यभिचारिभाव] के विना करुण, अमर्षके
 विना रौद्र, हर्षके विना वीर, त्रास [रूप सहचारी] के विना भयानक, शंका [रूप सहचारी]
 के विना वीभत्स, श्रौत्सुक्य [रूप सहचारी] के विना मद्भुत, और निर्वेद [रूप सहचारी]
 के विना शान्तका आविर्भाव नहीं हो सकता है । क्योंकि चित्तके दूसरी ओर लगे होनेपर
 अथवा विरक्तचित्तको चिन्तादि [सहचारिणों] के अभावमें [काव्य नाट्यके] वाक्योंके प्रपञ्च
 ज्ञान होने अथवा [साक्षात् रूपमें] स्त्री आदिके दर्शन होनेपर भी शृङ्गार रसकी अनुभूति या
 उत्पत्ति नहीं होती है । [कहाँ यदि चिन्तादिके विना भी रसकी प्रतीति अनुभव हो तो यहाँ
 यह सम्भना चाहिए कि] सूक्ष्म होनेके कारण अथवा अत्यन्त शीघ्रताके कारण [उन सह-
 चारिणोंकी स्थिति होनेपर भी] उनके न दिखलाई देनेके कारण उसमें कोई दोष नहीं आता
 है । [इस प्रकार लौकिक स्त्री आदि विभावों अथवा काव्य नाट्यगत विभावोंसे रसिकोंमें]
 प्रादुर्भूत होने वाले व्यभिचारिभाव रसोन्मुख स्याद्विभावको पुष्ट करते हुए [उसको] रसत्वकी
 प्राप्त कराते हैं । इसीलिए व्यभिचारिभाव रसोन्मुख स्याद्विभावोंके सहचारी [बहलादे] हैं ।
 और विभाव तो [स्याद्विभावोंके] पूर्ववर्ती [अर्थात् कारण बहलाते] हैं ।

रसके लक्षणकी वारिकामें प्रपञ्चकारने 'अतौत्कर्षो विभावव्यभिचारिभिः' यह कहा
 या । इनमें व्यभिचारिभावसे प्रपञ्चकार रसिकगत व्यभिचारिभावोंका प्रत्यक्ष करना चाहते हैं ।
 यद्यपि व्यभिचारिभाव नटादिमें भी हो सकते हैं किन्तु उन सबको वे केवल विभाव मानते हैं ।
 नटगत अनुभाव व्यभिचारिभाव प्रत्यक्षकारकी दृष्टिमें विभावकीदिके ही अन्तर्गत होते हैं ।
 इसलिए यहाँ व्यभिचारिभाव सामाजिकगत ही लेने चाहिए । इसी बातको और स्पष्ट तो-

ये पुनः ख्यादिगताः काव्याभिनयोपदर्शितारच व्यभिचारिणोऽनुभावा वा ते परस्मिन् रसोन्मुखत्वेन स्थायिनमुन्मीलयन्ति । ते विभावा एव जनकत्वान् । व्यभिचारि-अनुभावव्यपदेशः पुनरंतेपां ख्याद्यपेक्षया, वर्णनीयानुकार्यपेक्षया च ।

यद्युच्यते—‘विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः’ इति तत्राप्यनुभावा व्यभिचारिण्यख ख्यादिवर्णनीयानुकार्यपेक्षयैव द्रष्टव्याः ।

तदेवं स्व-परयोः प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यां गम-सुख-दुःखात्मा (?) लोकस्थ (२) नटस्य (३-४) काव्य-श्रोतृ-अनुसन्धात्रोः (५) प्रेक्षकस्य च रसः । कैवलं मुख्यस्त्री-पुंसयोः स्पष्टेनैव रूपेण रसो, विभावानां परमार्थसत्त्वात् । अत एव व्यभिचारिणोऽनुभावारच

कर आगे लिखते हैं—

श्रीर [लोकमे] जो स्त्री आदिमे रहने वाले अथवा [काव्य तथा नाटकमे] काव्य तथा अभिनयके द्वारा स्थापित व्यभिचारिभाव अथवा अनुभाव होते हैं वे दूसरोंके भीतर [अर्थात् सामाजिकोंके हृदयमे] स्थायिभावको रसोन्मुख बनाते हैं । इसलिए [रसानुभूतिके] कारण रूप होनेसे विभाव ही कहलाते हैं । उनके लिए व्यभिचारिभाव या अनुभाव शब्दका प्रयोग [सामाजिककी दृष्टिसे नहीं] होता है अपितु लोकमे केवल स्त्री आदिकी अपेक्षासे श्रीर [काव्य नाटकमे] वर्णनीय अनुकार्यकी अपेक्षासे ही होता है । [अर्थात् अनुकार्य रामादिमे अथवा नटमे अथवा लोकमें स्त्री आदि निष्ठ जो अनुभाव या व्यभिचारिभाव होते हैं वे उन लोगोंकी दृष्टिसे तो अनुभाव या व्यभिचारिभाव कहे जा सकते हैं किन्तु सामाजिककी दृष्टिसे वे सब रसके कारण रूप होनेसे विभाव ही कहे जाते हैं । स्थायिभावोंकी पुष्टिके लिए यहाँ जिन अनुभावों तथा व्यभिचारिभावोंका ग्रहण किया गया है वे रसिकगत अर्थात् सामाजिकगत अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव ही हो सकते हैं ।

श्रीर [भारतमुनिमे] जो “विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावोंके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है” यह कहा है यहाँ भी अनुभाव और व्यभिचारिभाव [लोकमे] स्त्री आदि [और काव्य नाटकमे] वर्णनीय अनुकार्यकी अपेक्षासे ही समझने चाहिए ।

इस प्रकार ग्रन्थकारके मतमें रसकी प्रतीति मा रसानुभूतिके आधार वार होते हैं । लोकमे (१) स्त्री आदि विभावोमे भी रसकी प्रतीति होती है और (२) उनको देखने वाले प्रेक्षकोंको भी । स्त्री आदिकी रसानुभूति स्वगत और प्रत्यक्षात्मक होती है । प्रेक्षकोंकी रस-प्रतीति परगत और परोक्षात्मक होती है । नाटकमे (३) नटको स्वगत प्रत्यक्षात्मक, रसप्रतीति और (४) प्रेक्षकोंको उस नटगत या परगत रसकी परोक्षात्मक प्रतीति होती है । इसी बात को धरुने अनुच्छेद मे निम्न प्रकार कहते हैं—

इस प्रकार (१) [लोकस्थ] लोकको [अर्थात् लौकिक रूपमे स्थित पुरुषको], (२) [नटस्थ अर्थात्] नटको, (३) काव्य [तथा नाटक दोनों] के श्रोता, तथा (४) अनुसन्धाता [अर्थात् कर्ता] को एवं (५) प्रेक्षक [सामाजिक] को [इन पाँचोंको दो भागोंमें विभक्त करने पर पहिले चारको एक कोटिमें रखनेसे उन चारोंके एक वर्गको स्वतः प्रत्यक्ष रूपमे तथा पाँचवों प्रेक्षक अर्थात् सामाजिकको परगत और परोक्ष रूपमे रसकी प्रतीति होती है । इसी बातको यहाँ ‘स्व परयोः प्रत्यक्ष-परोक्षाभ्यां’ शब्दसे कहा है] स्व तथा परको [प्रमत्तः] प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूपसे सुख-दुःखात्मक रस प्रतीत होता है । इसमेंसे भी [लोकमें] कैवलं मुख्य स्त्री-

रसजन्याः तत्र स्पष्टरूपाः । अन्यत्र तु प्रेक्षकादीं ध्यामन्तेनैव रूपेण । विभावानाम-
परमार्थसतामेव काव्यादिना दर्शयन्तु । अत एव व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसानु-
सारेणास्पष्टा एव । अत एव प्रेक्षकादिगतो रसो लोकोत्तर इत्युच्यते ।

काव्यस्य च रसाविर्भावकविभाववत्त्वात् सरसत्वम् । न पुनः काव्यमेव रसः,
काव्ये आधारे वा रसः । श्रितोत्कर्षो हि चेतोवृत्तिरूपः स्थायी भावो रसः । स चाचे-
तनस्य काव्यस्यात्मा आधेयो वा कथं रयात् ? ततः काव्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तरं प्रतिपत्तुणां
रसाविर्भावः ।

प्रतिपत्तारश्चात्मस्थं सुखमिव रसमास्थादयन्ति । न पुनर्वहिरर्थं रसं मोदक-
मिव प्रतीयन्ति । अन्यो हि मोदकस्यात्वादोऽन्यश्च प्रत्ययो रसस्य । न हि वहिस्थस्य
रसस्य प्रत्ययमात्रेण रसात्त्वाद्दर्शयन्त्यात्मकः संगच्छते । भयानक-कल्याणविभावादि
काव्यार्थात् प्रतिपत्तुश्चेतोर्धर्मतया स्थितौ भय-शोकौ भयानक-कल्याणया परिणमतः ।
यदि च प्रतिपत्तुः स्थायी एव न रसतया भवति तदा वहिःस्थस्य रसस्य प्रत्ययोऽपि न

पुरुषमे विभावोके वास्तविक होनेसे रसकी स्पष्टरूपसे प्रतीति होती है । इसलिये जनमे रससे
उत्पन्न होने वाले [रसके कार्यभूत] अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव स्पष्टरूप होते हैं । अन्वय
प्रेक्षक आदिमे [ध्यामन्त अर्थात्] अस्पष्ट रूपमे ही [अनुभाव व्यभिचारिभाव होते हैं] काव्या-
दिके द्वारा वास्तवमे अविद्यमान विभावादिके ही उपस्थित किए जानेसे [जनके द्वारा होनेवाली
रसप्रतीति भी अस्पष्ट ही होती है] । इसीलिये [प्रेक्षकादिमे] व्यभिचारिभाव तथा अनुभाव
भी रसके अनुसार अस्पष्ट ही होते हैं । अत एव प्रेक्षक आदिमे रहने वाला रस [अस्पष्ट
विभावोसे उत्पन्न और अस्पष्ट अनुभाव व्यभिचारिभाव युक्त होनेसे] लोकोत्तर कहलाता है ।

रसके प्राविर्भाव करानेवाले विभावादिके युक्त होनेसे काव्यको सरस माना जाता है ।
न तो काव्य ही रस है और न काव्य रूप आधारमे रस रहता है । [इसलिये काव्यकी सर-
सताका उपपादन रसके प्राविर्भावक विभावादिके उसमे विद्यमान होनेके कारण ही किया जा
सकता है] । परिपुष्ट द्वेषाद्विद्युत्ति रूप स्वाधिभाव ही रस [कहलाता] है । यह प्रवेतन
काव्यका धारता या आधेय नहीं हो सकता है । इसलिये काव्यके धर्मको समझ लेनेके बाद
समझने वाले [प्रेक्षक या धोता] के भीतर रसका प्राविर्भाव होता है ।

और अनुभव करने वाले [प्रेक्षकादि] अपने भीतर रहने वाले सुखके समान, रसका
प्रास्वादन करते हैं । मोदक प्रादिके समान बाहर रहने वाले रसका ग्रहण नहीं करते ।
मोदक प्रादिका प्रास्वादन अन्य प्रकारका होता है और रसका ज्ञान और तरहका । बाहर
रहने वाले रसके ज्ञानमात्रसे धर्मणात्मक रसात्त्वात्का उपपादन नहीं हो सकता है [अर्थात्
यदि मोदकादिके समान रसको वहिस्थ बाहर रहनेवाला मान लिया जाय तो उसकी धर्मणाका
उपपादन नहीं हो सकता है] । इसलिये बाह्य रसका अनुभव नहीं होता है अर्थात् अनुभव करने
वालेके हृदयमे भीतर रहने वाले सुखादिके समान ही रसका धारवादन होता है । क्योंकि
भयानक तथा कल्याण विभावोका वर्णन करने वाले काव्यके धर्मसे ज्ञाता [सामाजिक] के
विषय धर्मके रूपमे स्थित भय तथा शोक [स्वाधिभाव] भयानक तथा कल्याण रसके रूपमे परि-
णत हो जाते हैं । यदि सामाजिकका स्वाधिभाव ही रस रूप न माना जाय तो फिर बाहर
रहनेवाले रसकी प्रतीति भी नहीं हो सकती है । क्योंकि काव्य या नटने या नहीं अन्यत्र रस

प्राप्नोति । काव्ये नटेऽन्यत्र वा रसस्यासत्त्वात् । असत्त्रचापि प्रत्यये अहृदयस्यापि प्रतीति स्यात् । ततो विभावप्रतिपादककाव्यप्रतिपत्तेरनन्तरं प्रतिपत्तुरेव स्थायी रसो भवति । वद्धेतुत्वाच्च काव्यं रसवदिति ॥ [७] १०६ ॥

अथ रसभेदकथनावसरेऽपि प्रस्तावागतानामनुभावादिसंज्ञानां विषयं लक्षयति—

[सूत्र १६४]—कार्य-हेतुः सहचारी स्याद्यादेः काव्यवर्त्मनि ।

अनुभावो विभावश्च व्यभिचारी च कीर्त्यते ॥ [८] ११० ॥

म्यायिना आदिशब्दाद् रसभावाना च यथासम्भवं ये लोकसिद्धा कार्य-हेतु-सहचारिण, ते काव्यवर्त्मनि अभिनेयानभिनेयभेदभिन्ने यथासंख्यं अनुभाव-विभाव-व्यभिचारिसंज्ञामि कीर्त्यन्ते । काव्यसंस्कारविरस्कृतात्मभि कदाचिह्लोकेऽप्येवं व्यव-हियन्ते । तत्र अनु लिंगनिश्चयात् पश्चाद् भात्रयन्ति गमयन्ति लिङ्गिनं रसमित्यनुभावा, स्तम्भादय । वासनात्मतया स्थितं स्थायिन रसत्वेन भवन्तं विभावयन्ति आविर्भावना-विशेषण प्रयोजयन्ति इति आलम्बन-उद्दीपनरूपा ललनोद्यानादयो विभावा । रसोन्मुखं स्थायिनं प्रति विशिष्टेनाभिमुख्येन चरन्ति वर्तन्ते इति व्यभिचारिण । आभिमुख्यं

रहता ही नहीं है । [तो फिर उसकी प्रतीति हो कैसे हो सकेगी ? और [सामाजिकके भीतर] अविद्यमान [रस]की प्रतीति माननेपर तो असहृदयकोभी होने लगेगी । इसलिये विभावादिके प्रतिपादक काव्यको समझनेके बाद प्रतिपत्ता सामाजिकके भीतर रहने वाला स्थायिभाव ही रस बन जाता है । और उसका कारण होनेसे काव्य रसवत् कहलाता है ॥ [७] १०६ ॥

अब रसके भेदके कथनका अवसर होनेपर भी प्रकरणमें प्राण्डे अत्रुभाव आदि सनाश्रोका विषय बतलाते हैं [अर्थात् अनुभाव आदिका लक्षण करते हैं] ।

स्थायिभाव आदिके [लोकसिद्ध] कार्य, कारण और सहचारियोंको काव्यभागमें क्रमशः अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारिभाव कहा जाता है । [८] ११० ।

स्थायिभावोंके, और आदि-शब्दसे रस तथा [रतिद्वैधादिविषया भाव आदि लक्षणके अनुसार देवादि-विषयक रति-रूप] भावोंके जो लोकसिद्ध यथासम्भवं कार्य, कारण और सहकारी होते हैं वे अभिनेय और अनभिनेय दोनों प्रकारके काव्यभागमें क्रमशः अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारिभाव नामोंसे बहे जाते हैं, और काव्यसंस्कारसे प्रभावित लोगोके द्वारा कभी कभी लोकमें भी इसी प्रकार [अर्थात् अनुभाव आदि नामोंसे] बहे जाते हैं । [प्रागे इन तीन शब्दों का अर्थव्याख्यं दिलाताते हैं] उनमेंसे अनु' अर्थात् लिङ्गके निश्चयके बाद [रसको] भावित अर्थात् घोषित करने वाले होनेसे [कार्य रूप] स्तम्भ आदि [रसके कार्य] 'अनुभाव' कहलाते हैं । [यह अनुभाव शब्दका अर्थव्याख्यं हुआ । प्रागे विभाव शब्दका निर्ध्वन करते हैं] । वासना रूपसे स्थित, रसरूपताको प्राप्त होनेवाले, [रत्यादि] स्थायिभावको विशेष रूपसे भावित करते हैं अर्थात् विशेष रूपसे आविर्भूत करते हैं वे ललना और उद्यानादिरूप [रसके अर्थ] आलम्बन तथा उद्दीपन रूप [कारण] 'विभाव' कहलाते हैं । [प्रागे व्यभिचारिभाव शब्दका निर्ध्वन करते हैं] । रसोन्मुख स्थायिभावके प्रति विशेष प्रकारके आभिमुख्यसे चरण करनेवाले अर्थात् विद्यमान होनेवाले होनेसे 'व्यभिचारिभाव' कहलाते हैं । ['आभिमुख्येन चरन्ति'में] 'आभिमुख्य'का अर्थ बोधकत्व है । [प्रागे व्यभिचारिभाव शब्दका दूसरे प्रकारका

च पोपकत्वम् । यद्वा व्यभिचरन्ति स्थायिनि सत्यपि केऽपि कदापि न भवन्तीति व्यभिचारिणः, स्वविभावव्यभिचारिणः भावे भावात्, अभावेऽभावाच्च । रसायनमुपयुक्तत्वतो हि ग्लानि-श्रालस्य-श्रमप्रभृतयो न भवन्त्येव ।

तत्र स्थायिनो रत्यादयः संविदात्मकत्वादजडा एव । धैर्यादीनां स्वेदादीनां चानुभावानां वनितादीनां पर्वतादीनां च विभावानां, निर्वेदादीनां व्याध्यादीनां च व्यभिचारिणां यथासंख्यं संविन्मयत्व-शरीरधर्मत्वादिना जडाजडात्मकत्वम् ।

एते चानुभावादयः स्थायिनं प्रति कार्य-कारण-सहचारिरूपत्वादेवाप्रधानम् । स्थायी तु प्रकर्षप्राप्त्या एषां प्रच्छादकत्वात् प्रधानम् । तथा व्याघ्रादेर्विभावस्य क्रोध-

निर्वचन करते हैं] स्थायिभावके विद्यमान होनेपर भी कभी कोई [व्यभिचारिभाव] नहीं होता है इसलिए [स्थायिभावके साथ अनिषत् अर्थात्] व्यभिचारी होनेसे व्यभिचारिभाव [कहलाते हैं] अर्थात् अपने विभावके होनेपर भी न होनेसे और [अपने विभावादि रूप कारणके] न होनेपर भी होनेसे [ये] अपने विभावके व्यभिचारिभाव [कहलाते] हैं । क्योंकि रसायनका उपभोग करनेवालोको ग्लानि, श्रालस्य, थकावट आदि नहीं होते हैं [इसलिए जो अपने कारणके होनेपर अवश्य होता है और उसके न होनेपर नहीं ही होता है वह 'अव्यभिचारी' कहलाता है । और जो कारणके न होनेपर भी हो या कारणके होनेपर भी न हो वह 'व्यभिचारी' कहलाता है ।

उनमेसे रत्यादिरूप स्थायिभाव ज्ञानस्वरूप होनेसे चेतनात्मक ही होते हैं । धैर्यादि [रूप मानस] अनुभाव ज्ञानरूप होनेसे अजड तथा स्वेदादि [रूप शारीरिक] अनुभाव जडात्मक [होते] हैं । वनितादि [विभाव चेतन रूप] तथा पर्वतादि विभाव [अचेतन रूप होते हैं] और निर्वेदादि [व्यभिचारिभाव ज्ञान रूप होनेसे अजड] तथा व्याध्यादि रूप व्यभिचारिभाव [शरीरधर्म होनेसे जडात्मक होते हैं] अतः ये क्रमशः ज्ञानरूप [अजड] तथा शरीरधर्मादि रूप [जड इस प्रकार] जड और चेतन उभयरूप होते हैं ।

इस अनुच्छेदमे ग्रन्थकारने स्थायिभावको केवल चेतनस्वरूप तथा अनुभाव, विभाव एव व्यभिचारिभावको चेतन अचेतन उभयविध माना है । स्थायिभावको चेतनस्वरूप मानने का यह हेतु दिया है कि वे ज्ञानात्मक होते हैं । वेदान्तादि शास्त्रोके अनुसार ज्ञानात्मकता ही चेतनका स्वरूप है । स्थायिभाव ज्ञानात्मक 'संविन्मय' होनेसे चेतन स्वरूप ही है यह ग्रन्थकारका आशय है । न्याय सिद्धान्तमे ज्ञान चेतन आत्माका गुण है । स्वयं चेतन नहीं है । नैवायिक गुण और गुणी अर्थात् ज्ञान और आत्माका भेद मानते हैं । किन्तु वेदान्ती गुण-गुणीका भेद नहीं मानते हैं । इसलिए उनके मतमें ज्ञान चेतनका गुण नहीं अपितु चेतन-स्वरूप ही है । इस सिद्धान्तको लेकर ग्रन्थकारने यहां स्थायिभावको ज्ञानस्वरूप होनेसे चेतन ही माना है । और अनुभाव, विभाव व व्यभिचारिभावोंमेसे कुछ ज्ञानरूप भी होते हैं और कुछ ज्ञानसे भिन्न शरीरधर्मभूत भी होते हैं इसलिए उनको जड अजडात्मक अर्थात् उभयरूप माना है । आगे स्थायिभावकी प्रधानता तथा अनुभाव विभाव आदिकी अग्रप्रधानताका हेतु दिलाते हुए उनके गुण-प्रधानभावका निरूपण करते हैं—

ये अनुभावादि स्थायिभावके प्रति कार्य, कारण तथा सहकारी रूप होनेसे अग्रप्रधान माने जाते हैं । स्थायिभाव प्रकर्षको प्राप्त होकर इन [अनुभावादि] का प्रच्छादक होने जानेसे

भयाविर्भावनकत्वात् श्रम-चिन्तादेश्च व्यभिचारिणो भयोत्साहादिपोषकत्वात्, स्तम्भ-
घेषथु-स्वेदादेश्चानुभावस्य शृङ्गार भयानकद्विजत्वात् क्वचिदपि न पार्थक्ये नियमः ।
सामग्रीपतितस्य तु नियम इति सामग्री एवैषामाविर्भाविका पोषिका ज्ञापिका
चेति ॥[८]११०॥

अथ प्रस्तुतानेव रसभेदानाह—

[सू० १६५]—शृङ्गार-हास्य-करुणाः रौद्र-वीर-भयानकाः ।

वीभत्साद्भुत-शान्ताश्च रसाः सद्भिन्नं च स्मृताः ॥

॥[९]१११॥

तत्र कामस्य सर्वजातिसुलभतया अत्यन्तपरिचिततया च मर्यान् प्रति दृश्येतेति
पूर्वं शृङ्गार । ततः शृङ्गारानुगामित्वद्वा हास्य । ततो हास्यविरोधित्वान् करुण । कामस्य
चार्यजत्वात् ततोऽर्थप्रधानो रौद्रः । कामार्थयोश्च धर्मजन्यत्वान् ततो धर्मप्रधानो वीर ।
अस्य च भीताभयप्रदानसारत्वात् ततो भयानक । भीतस्य च मास्त्विकैर्जुगुप्सनीय-

प्रधान माना जाता है । (१) व्याघ्रादि विभावोके [रौद्र रसके स्थायिभाव] क्रोध, तथा
[भयानक रसके स्थायिभाव] भयके आविर्भावक होनेसे, (२) धम तथा चिन्तादि व्यभिचारि-
भावोंके [भयानकके स्थायिभाव] भय और [वीररसके स्थायिभाव] उत्साहादि दोनोंका
पोषक होनेके कारण, (३) [इसी प्रकार] स्तम्भ, घेषथु आदि अनुभावोंके शृङ्गार तथा भया-
नक दोनोंसे जग्य होनेके कारण अलग-अलग [रसोंके विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों
के निश्चित रूपसे अलग] होनेका कोई नियम नहीं है । [चित्तो विदोष रसको] सामग्रीमें आ
जानेपर तो नियम है । इसलिए सामग्री ही इनकी उत्पन्न करनेवाली, पोषण करनेवाली और
शापन करनेवाली होती है [यह समझना चाहिए] ॥[८]११०॥

अथ [घाते] प्रस्तुत रसभेदोंका ही वर्णन [प्रारम्भ] करते हैं—

[सूत्र १६५]—१ शृङ्गार, २ हास्य, ३ करुण, ४ रौद्र, ५ वीर, ६ भयानक,

७ वीभत्सा, ८ अद्भुत और ९ शान्त ये नौ रस सहृदयोंके माने हैं ॥[९]१११॥

उनमेंसे कामके साथ जातियोंके सुलभ, और अत्यन्त परिचित होनेसे तथा सबके प्रति
उसकी मनोहरता होती है इस कारण सबसे पहिले उसका ग्रहण किया गया है । शृङ्गारका
अनुगामी होनेके कारण उसके बाद हास्य [कहा] है । हास्यका विरोधी होनेसे उस [हास्य]
के बाद करुण रखा गया है । [इस प्रकार हास्य और करुणका कामसे सम्बन्ध दिखलाकर
अथ रौद्रका भी कामसे सम्बन्ध दिखलाते हैं] । कामके अयंज होनेसे उस [करुण] के बाद
धर्मप्रधान रौद्र [रखा गया है] काम और धर्म दोनोंके धर्मजन्य होनेके कारण उस [रौद्ररस]
के बाद धर्मप्रधान वीररस रखा गया है । यह वीर रस मुख्य रूपसे भयभीतोंके धमय प्रदान
करनेवाला होता है इसलिए [अपके साथ सम्बद्ध होनेसे] उसके बाद भयानकका ग्रहण किया
गया है । सास्त्विक वृत्तिके लोग भयभीत निन्दा करते हैं इसलिए [अपका जुगुप्साके साथ
सम्बन्ध होनेसे उसके बाद [जुगुप्सा स्थायिभाव वाला] वीभत्सा रस रखा गया है । वीभत्सा
का विस्मयके द्वारा नाश हो जाता है इसलिए [वीभत्साका विस्मयके साथ सम्बन्ध होनेसे]
उसके बाद [विस्मय स्थायिभाव वाला] अद्भुत रस रखा गया है । धर्मका मूल कारण धम

त्वान् ततो वीभत्सः । वीभत्सस्य च विस्मयेनापनीयमानत्वान् ततोऽद्भुतः । धर्मस्य च शममूलत्वात् तदन्ते शमः । इति । एते शृङ्गारादयो नवैव रसा रञ्जनाविशेषेण पुरुषार्थोपयोगाधिक्येन च सद्भिः पूर्वाचार्यैरुपदिष्टाः । सम्भवन्ति त्वपरेऽपि । यथा—
गर्द्वस्थायी लौल्यः । आर्द्रतास्थायी स्नेहः । आसक्तिस्थायि व्यसनम् । अरतिस्थायि दुःखम् । सन्तोषस्थायि सुखामित्यादि । केचिदेषां पूर्वेष्वन्तर्भावमाहुरिति ॥६॥११२॥
अथ समेदं शृंगारं निरूपयति—

[सूत्र १६६]—सम्भोग-विप्रलम्भात्मा शृङ्गारः प्रथमो बहुः ।

मान-प्रवास-शापेच्छा-विरहैः पञ्चधाऽपरः ॥[१०]११२॥

विलासिनोरन्योन्यानुकूलवर्तिनो प्रेमपरयोर्वद् दर्शन-स्पर्शनादिः, स सम्भोगः । परस्परानुरक्तयोरपि विलासिनोः पारतन्त्र्यादेरघटनं चित्तविरलेपो वा विप्रलम्भः । एतौ द्वावप्यवस्थाविशेषौ आत्मा स्वभावो यस्य अवस्थातु-दर्शाद्व्यानुयायिनः आत्मा-वन्धात्मकरतिप्रकर्षरूपस्य शृंगारस्य । तेन शृंगारस्य नेमी भेदौ गोत्वस्येव शाबलेय-वाहुलेयौ, अपितु सम्भोगेऽपि विप्रलम्भसम्भावनासद्भावात्, विप्रलम्भेऽपि मनसा सम्भोगानुवेधाद् उभयसंवलितस्वभावः शृंगारः । उक्तदृष्टत्वाच्चैकदेशेऽपि सम्भोग-शृंगारो विप्रलम्भशृंगार इति चोपचारेणोच्यते । अवस्थाद्वयमीलननिबन्धने च सातिशयश्चमत्कार । यथा—

हे इसलिये सबसे अन्तमें शम [स्थायिभाव वाला शान्तरस] रखा गया है । विशेषरूपसे मनोरञ्जक तथा पुरुषार्थकी सिद्धिमें उपयोगी होनेके कारण शृंगार आदि ये नौ रस ही पूर्ववर्ती सहृदय आचार्योंने निर्दिष्ट किए हैं । किन्तु इनसे भिन्न और रस भी हो सकते हैं । जैसे तुष्णा रूप स्थायिभाववाला लौल्य, आर्द्रतारूप स्थायिभाववाला स्नेह, आसक्तिरूप स्थायिभाववाला व्यसन, अरति रूप स्थायिभाववाला दुःख और सन्तोष रूप स्थायिभाव वाला सुख इत्यादि [अन्य रस भी हो सकते हैं] । कुछ लोग [इनको रस तो मानते हैं किन्तु] इनका अन्तर्भाव पूर्वोक्त नौ रसोंमें ही कर लेते हैं ॥६॥१११॥

अब आगे भेदों सहित शृंगार रसका निरूपण [प्रारम्भ] करते हैं—

[सूत्र १६६]—सम्भोग और विप्रलम्भात्मक दो प्रकारका शृंगाररस होता है । उनमेंसे पहिला [प्रथम] सम्भोग शृंगार] अनन्त प्रकारका [बहुः] होता है । दूसरा [विप्रलम्भ शृंगार] १. मान, २. प्रवास, ३. शाप, ४. ईर्ष्या तथा ५. विरह रूप पाँच प्रकारका होता है । [१०]१११ ।

एक-दूसरेके अनुकूल पड़नेवाले और एक-दूसरेको प्रेम करने वाले [स्त्री-पुरुष रूप] दो विलासियोंके जो परस्पर दर्शन स्पर्श आदि है वह सम्भोग [शृंगार कहलाता] है । परस्पर अनुरक्त होनेपर भी परतन्त्रता आदिके कारण [स्त्री-पुरुष रूप] दोनों विलासियोंका परस्पर मिलन न हो सफना प्रयया चित्तका विलग हो जाना विप्रलम्भ शृंगार [कहलाता] है । ये दोनों अवस्था विशेष जिस प्रयथावात् प्रेमबन्ध रूप रतिके उत्कर्ष रूप शृंगारका आत्मा प्रथम स्वभावमूल है वह [सम्भोग-विप्रलम्भात्मा] है । यह इत शब्दका अर्थ है । इसलिये गोत्रोक्ति चित्तकबरी और काली [शाबलेयत्व और वाहुलेयत्व] भेदोंके समान ये [सम्भोग तथा विप्रलम्भ] दोनों अलग-अलग भेद नहीं है । अपितु सम्भोगमें भी विप्रलम्भो

“एकस्मिन् शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तर ताम्यतो—
रन्योन्य इन्द्रयस्थितेऽप्यनुनये सरक्षतोर्गौरवम् ।
दम्पत्यो शनकैरपाग्नलनामिश्रीभवञ्चतुपो—
भूमो मानकलि सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहम् ॥”

अत्र ईर्ष्याविप्रलम्भ-सम्भोगयोर्विर्भावादिकृता सातिशया चमत्कृति । प्रथम सम्भोगाख्यो वह । परस्परावलोकन-चुम्बन-विचित्रत्रक्रोक्त्यादिभेदतोऽनन्तप्रकार-। यथा—

“किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा—
दधिरलितरूपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
अशिशिलपरिरम्भव्यापृतैकैरुद्रोप्रयो—
रविदितगतयामा रत्रिरेव व्यरंसीत् ॥”

अपरो विप्रलम्भ । ईर्ष्या-प्रणयभगाभ्या वमनस्य मान । यथा—

“यातं द्वारवतीं तदा मधुरिपौ तद्वत्तभम्पानता,
कालिन्दीतटरूढवजुललितामालिभ्य सोत्कण्ठया ।

सम्भावना बने रहने घोर विप्रलम्भमें भी मनमें सम्भोगका [इच्छात्मक] सम्बन्ध विद्यमान रहनेसे शृगाररस उभयात्मक होता है । किन्तु [किन्ती एक प्रशङ्गी] प्रधानताके कारण सम्भोग शृगार, विप्रलम्भ शृगार इस प्रकार कहा जाता है । दोनों अवस्थाओंके सम्मिश्रणका यहाँ होनेपर विशेष चमत्कार होता है ।

जैसे—

“हठे होनेके कारण एक ही पलंगपर लेटे होनेपर भी चुपचाप दु ली होते हुए घोर मनमें एक दूसरेके मनानेकी इच्छा होते हुए भी अपने अपने गौरवकी रक्षा करनेमें लगे हुए दम्पतियोंके धीरेसे आँखें घुमाकर देखते समय आँख-से आँख मिल जानेपर उनका प्रणय-बलहृ स्वयं ही समाप्त हो गया और [दोनों] हँसते हुए वेगसे एक-दूसरेका [कण्ठग्रह] आनिगन कर लिया ।”

इसमें ईर्ष्याविप्रलम्भ घोर सम्भोग दोनोंकी [एक साथ मिश्रित रूपमें] विभावादिके कारण अत्यन्त चमत्कारयुक्त प्रतीति होती है ।

पहिला सम्भोग नामक शृगार बहुत प्रकारका होता है । अर्थात् एक दूसरेके अवलोकन, चुम्बन घोर नाना प्रकारके सुन्दर वातालाप आदि भेदसे अनन्त प्रकारका होता है । जैसे—

अत्यन्त प्रेमके कारण गालसे गाल मिलाए हुए, गात्र आतिगनमें जिनकी एक एक भुजा सगी हुई है इस प्रकारके [हम दोनों सीता घोर रामचन्द्रके] बिना कभके [सगत अगत सभी प्रकारकी] बात करते हुए ही सारी रात बीत गई ।”

यह उत्तररामचरितना द्शोक है । इसमें सम्भोग शृङ्गारके अनन रूपोका प्रदर्शन कराया गया है ।

दूसरा विप्रलम्भ शृगार [पाँच प्रकारका होता है यह बात बही जा चुकी है । उन पाँच भेदोंमें] ईर्ष्या अथवा प्रणय बलहृके कारण होनेवाला वमनस्य मान कहलाता है । [मनिषा उदाहरण] जैसे—

तद् गीतं गुरुवाष्पगद्गदगलत्तारस्वरं राधया,
येनान्तर्जलचारिभिजलचरैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥”

सन्निहितदेशस्यापि रूपान्तरापादनं शाप । यथा कादम्बर्या महाश्वेतया
वशम्पायनस्य शुकरूपापादनम् ।

मातापित्रादिपारतंत्र्याद् भाविनवसंगमयोः संगमामिलाप इच्छा । यथा—

“उद्धच्छो पियइ जलंजह जह विरलंगुली चिरं पद्मिओ ।

पावालिया वि तह तह धारं तगुअं पि तगुअइ ॥

[ऊर्वाक्ष पिबति जलं यथा यथा विरलांगुलिश्चिरं पथिकः ।

प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुकामपि तनयति ॥”

इति संस्कृतम् ।]

यथा वास्माकं सुधाकलशे—

“रथ्याइ संचरंतं नियच्छिउं पाडिवेसियजुयाणं ।

कम्मयरीकम्मं पि हुं धणवइधूआ सवं कुणइ ॥

[रथ्यायां संचरन्तं दृष्ट्वा प्रतिवेशिमकुयुवानम् ।

कर्मकरीकर्मापि खलु धनपतिदुहिता स्वयं कुरते ॥”

इति संस्कृतम् ।]

“तव कृष्णजीके द्वारका घले जानेपर विरहाकुल हुई राधाने उन [कृष्ण] के द्वारा भोका दिए जानेके कारण भुकी हुई यमुनाके किनारेकी वेतसलताकी पकड़कर बड़े-बड़े भाँपू ढरकाते हुए धीरे धीरे गलेसे उच्च स्वरसे इस प्रकार रुदन किया कि जिसको सुनकर [यमुनाके] जलके भीतर रहनेवाले जलजन्तु भी गर्दन उठाकर रोने लगे ।

यह [प्रणयभंगजन्य मानरूप विप्रलम्भ-भृगारका उदाहरण है] ।

[विप्रलम्भका दूसरा भेद या कारण शाप है । उसका लक्षण करते हैं] समीपय रहनेवालेका भी अन्य रूप करा देना शाप कहलाता है । जैसे कादम्बर्यो महाश्वेताने द्वारा वशम्पायनको शुक्-रूपमें बना देना [शापका उदाहरण है] ।

माता-पिता आदिके परतन्त्र होनेके कारण [इस समय जिनका मिलन नहीं हो पा रहा है विन्तु] आगे जिनका प्रयत्न मिलन होनेवाला है उनकी परतन्त्र मिलनकी इच्छा अभि-साय (बहलाती) है [उसके कारण दो प्रेमियोंका जो मिलनका अभाव है वह अभिसायजन्य विप्रलम्भ कहलाता है] । जैसे—

“[पानी पिलानेवालीके पास देर तक रहनेके लिए] ऊपर देखते हुए पथिक प्रजातरी अगुनियोंको विरल अर्थात् खोसकरके जंते-जंते पानी पी रहा है उसी प्रकार प्याऊवाली पहलेसे ही पत्नी धाराको धीरे धीरे अथिअ पतली करती जाती है [अर्थात् पानी पीनेवाले पथिक धीरे पिलानेवाली प्रपापालिका दोनों ही अथिअने अथिक कासतअ एव-दूसरेके पास रहना चाहते हैं] ।”

अथवा जैसे हमारे [पनाये हुए] सुधाकलशमें [अभिसायका उदाहरण]—

‘पड़ोसी पुवकको गलोमें धूमता हुआ देखकर धनपतिकी पुत्री नौरानीके करने योग्य कामोंको भी अपने-आप कर रही है [जिससे उस पुवकको देखनेका अवनत मिल सके] ।”

सम्भूतभोगयोर्माताद्यभावेऽपि कार्यान्तरव्यापृततया अननुसर्पणं विरह ।
यथा—

“अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुदृत्,
यो मा नेच्छति नागतश्च हृद्वा कोऽयं विधेः प्रकम ?
इत्यल्पेतरकल्पना-कवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे,
बाला वृत्तविवर्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रा निशि ॥”

इति ॥ [१०] ११२ ॥

अथोभयात्मनोऽपि शृंगारस्य विभावानुभावौ प्रतिपादयति—

[सूत्र १६७]—स्त्री-पुंस-काव्य-गीतर्तु-माल्य-वेपेष्ट-केलिजः ।

अभिनेयः स चोत्साह-चाटु-तापाश्रु-मन्युभिः ॥

[११] ११३ ॥

इह शृङ्गारे स्त्री-पुंसौ परस्परं मुख्यविभावौ । तयोश्चोत्तमप्रकृतिकयोरुपयोगी
काव्यादि । काव्यं च सरसमभिनेयानभिनेयभेदभिन्नम् । गीतेन वाद्यनृत्ताद्यपि
गृह्यते । श्रुतयो वसन्ताद्या । माल्येन विलेपन-साम्यूल-विशिष्टभचनादि लक्ष्यते । वेपो

जितका सम्मिलन पहिले हो चुका है इस प्रकारके प्रेमियोंका माता पिता आदिके प्रति-
कथके बिना भी अन्य कार्योंके कारण परस्पर मिलन न हो सकना विरह [बहलाता] है ।
जैसे—

“मिरे पति] कहीं घोर चला जाय ऐसा तो सोचना भी असम्भव है, घोर उका कोई
ऐसा मित्र भी नहीं है जो मुझे न चाहता हो [अर्थात् किसी मित्रने उनको रोषकर मुझे बट
दिया हो ऐसी बातभी नहीं हो सकती है] किन्तु फिरभी असोतक आए नहीं, हाय, भगवन् ।
यह क्या खेल कर रहे हैं [जो वे अबतक नहीं आए] इस प्रकारकी अनेक भीषण कल्पनाओंमें
दूरी हुई बाला रातको बरबट बदसती हुई पड़ी है घोर उत्सरो नींद नहीं आ रही है ।”

यह [विरह-रूप विप्रलम्भका उदाहरण है] ॥[१०]११२]

अथ [सम्भोग घोर विप्रलम्भ रूप] दोनों प्रकारके शृंगारके विभाव तथा अनुभावोंका
वर्णन करते हैं ।

[सूत्र १६७]—स्त्री पुंस्य [शृंगारके मुख्य विभाव हैं] काव्य, गीत, श्रुतु, मास्य, वेप
पय इष्ट वस्तु तथा [वन-विहार जलक्रीडा आदि रूप] केलियोंके [शृंगार] उत्पन्न होता है ।
ये सब शृंगारके कारण विभाव हैं । नाटकमें उस्ताह [एक-दूसरेकी] चाटुचारिता, सताप,
रदन तथा मान आदिके द्वारा उत्तका अभिनय करना चाहिए । [११]११३।

इनमेंसे स्त्री-पुंस्य एष-दूसरेके प्रति मुख्य विभाव हैं । उत्तम प्रकृतियाने उन दोनोंके
उपयोगी काव्यादि [भी गीत कारण होनेसे गीत विभाव बड़े जा सकते हैं] । काव्य पदमें
अभिनेय घोर अनभिनेय [अर्थात् हृदयकाव्य तथा आद्यकाव्य] भेदसे युक्त सरस काव्यका
ग्रहण करना चाहिए । ‘गीत’ पदसे [उत्तके सहचारी] वाद्य घोर मृग्य आदि भी ग्रहण होता
है । ‘श्रुतु’ पदसे वस्तुतादि [अभिनेय हैं] । मास्य पदसे विलेपन, साम्युल घोर विशेष भजन
आदि भी ग्रहण सम्भन्ध चाहिए । ‘वेप’ पदमें विशेष प्रकारके वाद्य वस्तुतादि रूप

विशिष्टवस्त्राभरणादि नेपथ्यम् । इष्टो विदूषक-चन्द्रोदय-चक्रवाक-हसालेरयादि । यद्वा नयन-पदन-प्रसाद-स्मित-मनोज्ञागविकार-यत्रोक्त्यादयो ग्लान्यालस्य-श्रमादयश्चेष्टा । एवविधा हि विकारा परस्पर स्त्री पुंसयोरिष्टा भवन्ति । केलय पुष्पावचय-उपवन-गमन-जलक्रीडादयश्चेष्टाविशेषा । एवमन्येऽप्युपलक्षणादेवविधा विभावा द्रष्टव्या । एभ्यो यथायोगमुभयात्मापि जायते रतिस्थायी शृंगार ।

स च शृंगारो लब्धसत्ताक सन्नभिनेयो वाचिक-सात्त्विक-आगिक-आर्हाय-भिनयैर्नटेन सामाजिकाना साक्षाच्चर्चणागोचर उत्साहादिभि कर्तव्य ।

उत्साहो नयन-पदनप्रसादकारी चित्तोल्लास । अयं च स्थाय्यपि वीरस्य अत्रा-गन्तुकत्वाद् अनुभास । एव रसान्तर प्रति व्यभिचारित्वमपि स्थायिना सहचारितया भवत्येव । अस्य च स्थाय्यनुभावाभिनय-द्वारेणात्राभिनयहेतुत्वम् । एव रत्यादावपि वाच्यम् । तापोऽभिमताप्राप्ते काय-मन-पीडा । मन्युरीर्ष्याप्रणयभगाभ्या चित्तोद्वेग । उत्साह-चाटुभ्या नयनचातुर्य-भ्रूक्षेप-परस्यागविकारादि सम्भोगशृंगारस्यानुभाव सूचित । ताप-अश्रु-मन्युभि पुन पुन परिदेवनादिर्विप्रलम्भशृंगारस्यनुभावो लक्षित । तत्र सम्भोगे सुरमया धृत्यादयो व्यभिचारिण । विप्रलम्भे त्वालस्यौग्य-जुगुप्सावर्जा निर्वेदादयो दुःखप्राया इति ॥[११]११३॥

नेपथ्यका ग्रहण करना चाहिए । 'इष्ट' पदसे विदूषक चन्द्रोदय, चक्रवाक, हस और प्रालेख्य [चित्र] आदिको भी लेना चाहिए । अथवा [इष्ट पदसे] नेत्रो और चेहरेकी प्रसन्नता मुस्कराहट, सुन्दर अगविकार, सुमनोहर वक्तवियाँ आदि और ग्लानि, भालस्य श्रम आदि चेष्टा लेनी चाहिए । [वयोकि] इस प्रकारके विकार स्त्री-पुरुषोंको परस्पर इष्ट होते हैं । केलियों से पुष्पावचय, वनविहार, जलक्रीडा आदि चेष्टाप्रोका ग्रहण होता है । [इन सबके] उपलक्षण रूप होनेसे इसी प्रकारके अयं विभाव भी ले लेने चाहिए । इनके द्वारा यथायोग्य [सम्भोग तथा विप्रलम्भ रूप] दोनों प्रकारका रतिरूप स्थायिभाववाला शृंगार उत्पन्न होता है ।

उस उत्पन्न शृंगारको उत्साह आदिके द्वारा अभिनय करना चाहिए अर्थात् वाचिक सात्त्विक [मानसिक], आगिक तथा शेषादिपिथिक [आर्हायं] अभिनयोंसे नटके द्वारा सामाजिकोंके साक्षात् चर्चणावा विषय बनाया जाना चाहिए ।

नेत्रों और चेहरेको प्रफुल्लित करनेवाली चित्तही प्रसन्नता उत्साह [कहलाता] है । यह [उत्साह] वीररसका स्थायिभाव होनेपर भी यहाँ शृंगाररसमें प्रागतिक गौरव होनेसे [स्थायिभाव न होकर] अनुभाव होता है । इसी प्रकार [अयं] स्थायिभावोंका भी दूसरे रसोंमें सहकारी होनेके कारण व्यभिचारित्व भी होता ही है । इस [वीररसके] स्थायिभाव और [शृंगाररसके] अनुभावका अभिनय [के प्रति प्रयत्न] द्वारा यहाँ [शृंगाररसमें] अभिनयके प्रति हेतुत्व होता है । इसी प्रकार रत्यादिमें भी [अयं रसोंके प्रति व्यभिचारि भावस्य आदि] समझना चाहिए । ['ताप' शब्दकी व्याख्या करते हैं] । प्रियजन [अभिमत] के प्राप्त न होनेपर होने वाली शारीरिक और मानसिक पीडा 'ताप' कहलाती है । 'मग्न' पदसे ईर्ष्या तथा प्रणय बलहृके द्वारा होनेवाला चित्तका उद्वेग [गृहीत] होता है । चारित्र्यमें धाए हुए] उत्साह तथा 'चाटु' शब्दोंसे नयनघातुयं और भ्रूक्षेप करने वाले [स्त्री पुरुष रूप विभाव] के अगविकारादि रूप सम्भोगशृंगारके अनुभावोंको सूचित किया गया है । और

अथ हास्यः—

[सूत्र १६८]—विकृताचार-जल्पांगाकल्पविस्मापनोद्भवः ।

हास्योऽस्याभिनयो नासास्पन्दाश्रुजठरग्रहैः ॥ [१२] ११४ ॥

विकृतः प्रकृति-देश-काल-वयोऽवस्थादिविपरीत । अंगस्य च विकृतत्वं विरूपो व्यापारः, खञ्ज-कुण्टत्वादि वा । उपलक्षणाच्च धाष्टर्य-स्तौल्यादीनामनुचितानां मर्मोद्घाटन-अन्यहसनावलोकनादेश्च ग्रहः । विस्मापनं कच्चानासावादन-प्रीवा-कर्ण-चूडा-भ्रूनुर्तन-परभाषाद्यनुकरणादिकं च विटचेष्टितम् । एभ्यः स्वपरस्थेभ्यो हासस्थायी हास्यरसः प्रादुरस्ति । नासया गण्डौष्ठादयो, अश्रुणा चाकुञ्चन-प्रसारणादयो नेत्र-विकाराः, जठरग्रहेण पार्श्वग्रह-करताडन-मुखरागादयः संगृह्यन्ते । व्यभिचारिणश्चास्य अयद्वित्या-दृषोत्साह-विम्भयादय इति ॥ [१२] ११४ ॥

[कारिकामे आए हुए अंगले] ताप, अथु तथा मग्यु पदोंके द्वारा विप्रलम्भभृंगारके परिदेवन प्रादि रूप अनुभावोंको सूचित किया गया है । उनमेंसे सम्भोग-भृंगारमे सुप्त रूप धृत्यादि व्यभिचारिभाव होते हैं और विप्रलम्भभृंगारमे भ्रातस्य, उप्रता और कुपुस्ताकी छोड़कर दुःख-प्रधान निर्वेदादि [व्यभिचारिभाव होते हैं] ॥१२॥

हास्यरस—

अथ आगे हास्यरसका निरूपण करते हैं—

[सूत्र १६८]—विकृत आचरण, वातचीत, वेद-विन्यास और [नाक बजाना, बगल बजाना आदि रूप विस्मापन अर्थात्] आश्चर्यजनक चेष्टाओंसे हास्यरस उत्पन्न होता है । नाक सिकोड़ने अथु और पेट पकड़ने प्रादिके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है । [१२] ११४ ॥

विकृत अर्थान् प्रकृति [स्वभाव] देश, काल, प्राणु और अवस्था प्रादिके विपरीत [आचार हास्यजनक होता है] । अर्गोंका विकृतत्व [वे प्रकारका हो सजता है । एक तो] विरूप व्यापार [का किया जाना], अर्थान् [दूसरा] एञ्जत्व [संगड़ापन] या निर्वलता प्रादि रूप होता है । [कारिकामे गिनाए गए विकृताचार प्रादिके] उपलक्षण रूप होनेसे [उनसे भिन्न] अनुचित छटता लालच आदि और मर्म भागोंको दिखलाना, दूसरोंका सजाक बनाना, और [विशेष प्रकारसे] देखने आदिवा भी पहल होता है । [कारिकामे आए हुए] 'विस्मापन' पदमे बगल और नाकका बजाना, गर्दन, शान, सिर या भौहोंका पटकाना और दूसरोंकी बोलीका अनुकरण करना प्रादि रूप व्यापारका पहल होता है । अपनेमे अपनेवा जित्ती दूसरेमे स्थित इन [विकृताचार प्रादिके देखने] से हासस्थायिभाव आते हास्यरसको उत्पत्ति होती है । [कारिकामे आए हुए नासास्पन्दके 'नासा' शब्दमे गान और घोट प्रादि [के बसने] का भी पहल होता है । अथु' पदमे [नेत्रोंके] सिकोड़ने और फलाने प्रादि रूप नेत्रविकारोंका भी पहल समझना चाहिए । [कारिकामे] 'जठरग्रह' शब्दसे [पेट पकड़नेके साथ ही] पार्श्वग्रह हस्य वीटना, मुखराग प्रादिवा भी गपह होता है । 'अयद्वित्या' [अर्थान् आचरणोपेन] हयं, उत्साह, विरमय प्रादि इस [हास्यरस] के व्यभिचारिभाव होते हैं ॥ [१२] ११४ ॥

अथास्य भेदानुपदिशति—

[सूत्र १६६]—विहासश्चोपहासश्च मध्ये ज्येष्ठे स्मितं हसः ।

अपहासोऽतिहासश्च नीचे प्रायोऽधमे रसः ॥ [१३] ११५ ॥

तत्र हसनं मधुरस्वरम् । सास्वराग-समयप्राप्तं च विद्वसितम् । सांसशिर कम्प-
मुपहसितम् । एतौ भेदौ मध्यमप्रकृतौ । अलक्षितद्विजं स्मितम् । किञ्चिल्लक्ष्यदन्तं
हसितम् । इमौ भेदौ उत्तमप्रकृतौ । अनवसरप्राप्तं साश्रुनेत्रमुत्कम्पितांस-शिरश्चाप-
हसितम् । करोपगृहपार्वं विक्रुष्टस्वरमुद्धतं चातिहसितम् । अमू भेदावधमप्रकृतौ ।

एवं पठेते ह्यास्यभेदाः । अथं च ह्यास्यो रसः प्रायो बाहुल्येनाधमप्रकृतौ पामर-
प्राये भवति । स्ववर्गापेक्षया च स्त्रियाः प्राधान्येऽपि पुरुषापेक्षयाधमत्वैवेति तस्यामपि ।
एवं करुण-भयानक-वीभत्स-अद्भुता अप्यधमप्रकृतौ भूयस्त्वमनुभवन्ति । पामरप्रायः
सर्वः प्रकर्षेण हसति, शोचति, विभेति, परनिन्दामाद्रियते, स्वरूपेनापि सुभाषितेन
सर्वत्र विस्मयते इति ॥ [१३] ११५ ॥

अथ आगे इस [हास्यरसके] भेदोंको दिखलाते हैं—

[सूत्र १६६]—मध्यम [प्रकृतिके पात्रों] में [हास्यरसके] विहास और उपहास [रूप
दो भेद पाए जाते हैं], उत्तम [श्रेष्ठ प्रकृतिके पात्रों] में स्मित और हास [रूप दो हास्य भेद
पाए जाते हैं] और नीचे [प्रकृतिके पात्रों] में अपहास तथा अतिहास [रूप दो हास्य-भेद पाए
जाते हैं] । और यह हास्यरस प्रायः अधम पात्रोंमें पाया जाता है ॥ [१३] ११५ ॥

[हास्यके जो छः भेद कारिकामें दिखलाए हैं] उनमेंसे समुचित अक्षरपर जिसमें
गाल लाल हो जाएँ इस प्रकारका मधुर स्वरसे हँसना 'विहसित' [कहलाता] है । कन्धे और
सिर जिसमें हिलने लगें [इस प्रकारका हँसना] 'उपहसित' कहलाता है । ये [विहसित
और उपहसित रूप] दोनों भेद मध्यम प्रकृति [के पात्रों] में होते हैं । जिसमें दाँत दिखलाई
न दें इस प्रकारका हास्य 'स्मित' [मुस्कराना] कहलाता है । और जिसमें दाँत थोड़े-थोड़े
दिखलाई देने लगें [इस प्रकारका हास्य] 'हसित' [कहलाता] है । [स्मित और हसित] ये
दोनों भेद उत्तम प्रकृति [के पात्रों] में होते हैं । बिना अक्षरके जिसमें आँखोंमें आँसू आ जाएँ
कन्धे और सिर हिलने लगें, इस प्रकारका हँसना 'अपहसित' कहलाता है । और हाथोंसे
धगलोंकी धामकर जोर-जोरसे उद्धततापूर्वक हँसना 'अतिहास' कहलाता है । [अपहसित और
अतिहसित] ये दोनों भेद अधम प्रकृति [के पात्रों] में होते हैं ।

इस प्रकार हास्यके छः भेद हो जाते हैं । यह हास्यरस अधिकतर अधम प्रकृतिके
नीचे पुरुषोंमें होता है । अपने वर्गकी अपेक्षासे [किसी विशेष] स्त्रीकी उत्तमता [प्रधानता]
होनेपर भी पुरुषोंकी अपेक्षा उस [उत्तम स्त्री] में भी अधमता ही होती है इसलिए उन
[स्त्रियों] में भी हास्यरस अधिकतर पाया जाता है । इसी प्रकार करुण, भयानक, अद्भुत
तथा वीभत्स रस भी अधिकतर अधम प्रकृति [अर्थात् नीचे पात्रों]में होते हैं । इसलिए नीचे
प्रकृति वाले सभी लोग प्रायः जोरसे हँसते, अधिक शोक करते, अधिक डरते और अधिकतर
दूसरों की निन्दा करते हैं तथा तनिक-से भी सुभाषितको सुनकर आश्चर्य करने लगते हैं ।
॥ [१३] ११५ ॥

अथ करण—

[सूत्र १७०]—मृत्यु-बन्ध-धनभ्रंश-शाप-व्यसन-सम्भवः ।

करुणोऽभिनयस्तस्य वाष्प-वैवर्ष्य-निन्दनः ॥ [१४] ११६ ॥

शापोऽभिमतवियोगहेतुर्द्वि-यप्रभावयत आक्रोश । व्यसनमनर्थ । अनेन देशो-
च्चाटनादेर्जात निप्लवजात संगृह्यते । ण्यो विभावेभ्य शोकस्थायी करुणो रस
सम्भवति । वाष्प-वैवर्ष्याभ्या निश्वास-मुत्परोप-स्मृतिलोप-स्रग्गारात्तादयोऽनुभावा
सूचिता । निन्दनमात्मनो वैवस्यान्यस्य चोपालम्भ । अनेन रदित-प्रलपिता-उरस्ता-
डनादि गृह्यते । व्यभिचारिणस्तस्य निर्वेद-ग्लानि-चिन्ता औत्सुक्य मोह भ्रम भय
विषाद दैन्य-व्याधि जडता उन्माद अपममार आलस्य मरण-स्तम्भ वेपथु वैवर्ष्य अश्रु
मरभेदादय इति ॥ [१४] ११६ ॥

अथ रौद्र—

[सूत्र १७१]—प्रहारासत्य-मात्सर्य-द्रोहाधर्षापनीतिज ।

रौद्र-स चाभिनेतव्यो घातदन्तोष्ठपीडनैः ॥ [१५] ॥ ११७ ॥

परमरिदारयतो रिदारयतश्च शस्त्रादिज्यापारणं प्रहार । अनेन गृहभृत्या-
द्युपमर्दनस्य ग्रह । असत्येन घ-वन्धागभिधायकवाक्पान्थ्यस्य ग्रह । गुणेष्वसूया
मात्सर्यम् । द्रोहो जिवासा । मारादिपलीकार-विद्या-कर्म-देश-जत्यादिनिन्दा-राज्य-

अथ प्रागे करण [रसवा निरूपण करते हैं]—

[सूत्र १७०]—[किसी प्रियजनके] मृत्यु-घ-घन, धननाश, प्राप तथा विपत्ति आदि
[को देखने]से बहुरस उत्पन्न होता है । आसूषों, [चिहरेकी] विवर्णता तथा [भाग्यकी]
निन्दा आदिके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है । [१३] ११६ ।

प्रियजनके विषयको कराने वाली विषय प्रभाव वाले व्यवहारी अप्रसन्नता 'शाप'
कहताता है । धनघ्न [का नाम] 'व्यसन' है । इससे वेग-नागसे होने वाले विप्लव-समुदायका
ग्रहण होता है । इन विभावोंके द्वारा शोक एवं व्याधिभाव वाला बहुरस उत्पन्न होता है ।
आसू [चिहरेकी] विवर्णता निश्वास, मुल मूलना स्मृतिवा सोद, शरीरकी निम्नता आदि
अनुभाव भी सूचित होते हैं । निन्दासे अपनी निन्दा भाग्यकी घयवा अपनों उलाहना देना
[अभिप्रत है] । इससे रोने प्रलाप करने और दाती पीटनेका भी सग्रह होता है । निर्वेद, ग्लानि,
चिन्ता, औत्सुक्य मोह, भ्रम भय विषाद दैन्य, व्याधि जडता, उन्माद अपममार आलस्य,
मरण, स्तम्भ वेपथु, वैवर्ष्य, अश्रु स्वभेद आदि इससे व्यभिचारभाव होते हैं ॥ [१४] ११६ ॥

अथ प्रागे रौद्रस [का लक्षणदि करते हैं]—

[सूत्र १७१]—प्रहार, असत्य, मात्सर्य द्रोह वाष्पण तथा धवनीतिमे रौद्रस होना
है और मारने, डाँत तथा धोटोके व्यवहारे द्वारा इसका अभिनय किया जाता है । [१३] ११७ ।

दूगरेको बाट देने वाला या न बाटने वाला नश्यका ध्यानार 'प्रहार' कहताता है ।
इसमे पर और मृत्यु आदिके उपमर्दनका भी दर्शन होता है । असत्य परने कप, कथ
आदि कहने वाले कठोर वाक्यों आदिका सग्रह होता है । गुणोंके अग्रुना [बाधाविपकरण]
'मात्सर्य' कहताता है । मारनेकी इच्छा 'द्रोह' [कहताती] है । निम्नो आदिका अपमान,

सर्वस्वापहरणादिराधर्षः । अन्यायोऽपनीतिः । अनेनौद्धत्यं सूचितम् । एतेभ्यो विभा-
वेभ्यः क्रोधस्थायी रौद्रो रसो जायते । घातेन छेदन-भेदन-रुधिराकर्षणादिरनुभावो
गृह्यते । दन्तौष्ठपीडनेन गण्डौष्ठस्फुरण-हस्ताप्रतिष्पेपाद्यनुभाववृन्दं सूच्यते । व्यभि-
चारिणश्चास्य मोह-उत्साह-आवेग-अमर्ष-चापल-आंग्म्य-स्वेद-वेपथु-रोमाञ्चादय
इति । स्थायिनोऽपि चोत्साहादयो रसान्तरं प्रति व्याभिचारितां स्वीकुर्वन्ति । स्तम्भ-
स्वेदादयश्च न रसकार्या व्यभिचारिणः, किन्तु स्थायिकार्या इति ॥ [१५] ११७ ॥

अथ वीर.—

[सूत्र १७२]—पराक्रम-बल-न्याय-यशस्तत्त्वविनिश्चयः ।

वीरोऽभिनयनं तस्य धैर्यं-रोमाञ्च-दानतः ॥ [१६] ११८ ॥

पराक्रम-परकीयमण्डलाद्याक्रमणसामर्थ्यम् । बलं हस्त्यश्व-रथ-पदाति-धन-
धान्य-मन्त्र्यादिसम्पत् । शारीरिकी शक्तिर्वा । न्याय-सामादीनां सम्यक् प्रयोग ।
अनेनेन्द्रियजयो गृह्यते । यशः सार्वत्रिकी शौर्यादिगुणरथातिः । अनेन शत्रुविषये सन्ताप-
कर्तृत्वप्रसिद्धिरूपः प्रतापो गृह्यते । तत्त्वं याथात्म्यं तस्य विनिश्चयः । एवमादिभिर्वि-
भावैरुत्साहस्थायी वीररसः सम्भवति । स चानेकधा, युद्ध-धर्म-दान-गुण-प्रतापावर्जन-

विद्या, कर्म, वेदा, जाति आदिकी निन्दा और राज्य या सर्वस्वका अपहरण आदि घ्राप्यं
[कहलाता] है । अन्यायका नाम 'अपनीति' है । इसके द्वारा ओद्धत्यको भी सूचित किया है ।
इन विभावोंसे क्रोध रूप स्थायिभाव वाला रौद्ररस उत्पन्न होता है 'घात' पदसे छेदन-भेदन
और रक्त बहाने आदि अनुभावोका ग्रहण होता है । वाँतोके पीसने और घोंठ चवानेसे गालों
और ओष्ठोके फटकने, हाथके अप्र भागके मलने, आदि अनुभाव-समुदायका ग्रहण होता है ।
इस [रौद्ररस] के व्यभिचारभाव मोह, उत्साह, आवेग, अमर्ष, चापलता, उग्रता, स्वेद, वेपथु
और रोमाञ्चादि होते हैं । उत्साहादि [वीररसमें] स्थायिभाव होनेपर भी [रौद्रादि] दूसरे रसों
में व्यभिचारी बन जाते हैं । स्तम्भ और स्वेदादि रसके कार्यरूप होनेसे [यहाँ] व्यभिचारिभाव
नहीं कहलाते हैं अतः स्थायिभावके कार्य होनेसे व्यभिचारिभाव कहलाते हैं ॥ [१५] ११७ ॥

अथ वीररस [का लक्षण आदि करते हैं]—

[सूत्र १७२]—पराक्रम, बल, न्याय, यश, और तत्त्वविनिश्चय आदिते वीररस होता
है, और धैर्य, रोमाञ्च तथा दानके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है । [१६] ११८ ।

दूसरेके राज्य आदिपर आक्रमणकी सामर्थ्य पराक्रम [कहलाता] है । हाथी, घोड़े,
रथ, पदाति, धन-धान्य और मन्त्री आदिकी सम्पत्ति बल [पदसे अभिप्रेत] है । अथवा शारी-
रिक शक्ति [बल कहलाती है] । सामादि [उपायों] का समुचित प्रयोग 'न्याय' [कहलाता]
है । इसके द्वारा इन्द्रिय-जयका ग्रहण होता है । शौर्यादि गुणोकी सर्वत्र प्रसिद्धि 'यश' [कह-
लाता] है । इसके द्वारा शत्रुओंके भीतर सन्ताप करनेकी प्रसिद्धि रूप प्रतापका [भी] ग्रहण
होता है । तत्त्व अर्थात् यथायथा, उत्तमा विनिश्चय [तत्त्वविनिश्चय कहलाता है] । इस
प्रकारके विभावोंसे उत्साह रूप स्थायिभाववाला वीररस उत्पन्न होता है । और युद्ध, धर्म,
दान, आदि गुणों तथा प्रतापावर्णन आदि उपायोंके भेदसे [युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर
आदि रूपसे] अनेक प्रकारका होता है । महान् शत्रु-संन्य अथवा महान् विपत्तिके उपस्थित

आद्युपाधिभेदात् । धैर्यं महत्यपि परसैन्ये विपदि वा अकातर्यम् । अनेन सैन्यो-
त्तेजन-परात्पेपादेरनुभावस्य प्रहृ । दानेन प्रमोद-माध्यस्थ-शान्तचेष्टादे । व्यभिचा-
रिणश्चास्य धृति-मति-गर्व-आवेग-औप्रथ-अमर्ष-मृति-रोमाञ्चादय । वीररसे च युद्धा-
दिभावेऽपि न रौद्रत्वम्, उत्साह-न्यायप्रधानत्वात् । रौद्रे तु मोह-अहङ्कार-अपन्याय-
प्राधान्यमित्यनयो न साङ्ख्यमिति ॥ [१६] ११८ ॥

अथ भयानक. —

[सूत्र १७३]—पताका-कीर्ति-रौद्रआजि-शून्य-तस्कर-दोषजः ।

भयानकोऽभिनेतव्यः स्तम्भ-रोमाञ्च-कम्पनैः ॥

[१७] ११९ ॥

रौद्रा स्वराकारवैकृत्येन भीषणा पिशाचोलुकादय । आजि शस्त्राघात । अयं
चोपलक्षणं वध-बन्धयो । शून्यं निर्जनं गेहारण्यादि । दोषो गुम्फपादेरपराध । एभ्यो
रुद्र-श्रुतेभ्यश्चिन्त्यमानेभ्यो वा विभावेभ्यो भयस्थावी भयानको रसो जायते ।
गात्रस्याचलन स्तम्भः । कम्पनं करचरणादीना प्रवेपनम् । गभिर्गात्र-मुख-ऋषिकार-
गलशोष-बैवर्ष्य-भूर्द्धा दयोऽनुभावा संगृह्यन्ते । व्यभिचारिणश्चाम्य शङ्का-मोह-
दैन्य-आवेग-चपलता-प्रास-अपस्मार-मरण-स्तम्भ - ग्वेद - रोमाञ्च - वेपथु - स्वरभेद-
बैवर्ष्यादय इति ॥ [१७] ११९ ॥

होनेपर भी न घबडाना 'धैर्यं' कहलाता है । इसके द्वारा [अपनी] सेनाको उत्तेजित करने
और दूसरेपर आक्षेप आदि अनुभावोंका प्रहण होता है । 'दान पदसे प्रमोद मध्यस्थता
और शांत चेष्टादिका प्रहण होता है । इस [वीररस]के व्यभिचारभाव धृति, मति, गर्व, आवेग,
अमर्ष, उग्रता, स्मृति तथा रोमाञ्च आदि होते हैं । वीररसमें युद्धादिके होनेपर भी रौद्रत्व
नहीं आता है । क्योंकि उसमें उत्साह तथा न्यायकी प्रधानता रहती है । रौद्ररसमें तो मोह
अहङ्कार और अन्याय आदिकी प्रधानता रहती है इसलिए [वीर और रौद्र] ये दोनों एक
साथ नहीं रह सकते हैं ॥ [१६] ११८ ॥

अथ भयानक [रसका वर्णन करते हैं]—

[सूत्र १७३]—पताका, कीर्ति, भयोत्पादक [पिशाच उलुकादि], युद्ध [आजि], निर्जन
स्थान, और और आक्षेप आदि तथा [गुरु आदिके] दोषोंसे भयानकरस उत्पन्न होता है । स्तम्भ-
रोमाञ्च तथा कम्पनके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए । [१७] ११९ ॥

स्वर तथा आकारकी विकृति द्वारा भयोत्पादक पिशाच उलुकादि रौद्र [पदसे गृहीत]
होते हैं । यह [रौद्रपद] अथ तथा बन्धनका भी उपलक्षण [प्राक्] है । निर्जन घर या अरण्यादि
'शून्य' पदसे लिया जाता है । श्रेय अपर्णात् गुरु अथवा राजा आदिवा अपराध । इन विभावोंके
बेखने या सुननेसे भयरस स्थाविभाव वाले भयानक रसकी उत्पत्ति होती है । अर्षोंकी हिलने-
डुलनेका अभाव 'स्तम्भ' कहलाता है । मरण-प्रास आदिवा हिलना कम्पन कहलाता है । इसके
द्वारा दारोद, मुख या दृष्टिका विचार, गनेका सूत्र जानना, विवर्णन और मुर्दा आदि अनुभावों-
का [भी] प्रहण होता है । शङ्का, मोह, दैन्य, आवेग चपलता, प्रास, अपस्मार, मरण, स्तम्भ,
स्वेद, रोमाञ्च, कम्पन, स्वरभेद, वैवर्ष्य आदि इसके व्यभिचारिभाव हैं ॥ [१७] ११९ ॥

अथ वीभत्स. —

[सूत्र १७४]—जुगुप्सनीयरूपादि-परश्लाघासमुद्भवः ।

वीभत्सोऽभिनयश्चास्य निष्ठेवोद्वेग-निन्दनः ॥ [१८] १२० ॥

जुगुप्सनीया मालिन्य-कुथितत्व-दुर्गन्धित्व-कर्कशत्वादिभिरमनोहाः । रूपादयो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दलक्षणा विषया । परस्य विषयस्य श्लाघा गति । एभ्यो दृष्ट-श्रुतेभ्यो विभावेभ्यो जुगुप्सास्थायी वीभत्सो रसः समुद्भवति । परश्लाघायां हि विशेषतो दोषदर्शनेन जुगुप्सते । निष्ठेवः कफनिरसनम् । उद्वेगो गात्रधूननम् । निन्दनं दोषोद्घनम् । एभिर्गात्रसङ्कोचन-मुराविकृणन-नासाकर्णप्रच्छादन-द्वल्लेखादिरनुभावः सूच्यते । व्यभिचारिणश्चास्य व्याधि-मोह-आवेग-अपस्मार-मरणायः इति ॥ [१८] १२० ॥

अथाद्भुतः—

[सूत्र १७५]—दिव्येन्द्रजाल-रम्यार्थ-दर्शनाभीष्टसिद्धितः ।

अद्भुतः, सोऽभिनेतव्यः श्लाघा-रोमाञ्च-हर्षतः ॥

[१९] १२१ ॥

दिव्याः शक्रादयः । इन्द्रजालं मन्त्र-दिव्य-हस्तयुक्त्यादिना असंभवद्वारा प्रदर्शनम् । रम्य-सातिशयत्वेन हृद्योऽर्थः शिल्पकर्म-रूप-वाक्य-गन्ध-रस-स्पर्श-नृत गीतादिकः, तस्य दर्शनं साक्षात्कारः । अनेन स्वयं कीर्तनं श्रवणं च गृह्यते । अभीष्टमत्य-

अथ वीभत्स [रसका वर्णन करते हैं]—

[सूत्र १७४]—वृणित रूप आदि तथा शत्रुकी प्रशंसा आदिते उत्पन्न वीभत्सरस होता है । यूपने, नाक-भीं सिकोडने और निन्दाके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है ॥ [१८] १२० ॥

मलिनता सङ्घा, दुर्गन्ध अथवा कर्कशता आदिके कारण अरुचिकर [अर्थ] 'जुगुप्सनीय' [अर्थ] कहलाते हैं । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्दादि रूप विषय 'पर' अर्थात् विषय [शत्रु] की प्रशंसा ['परश्लाघा' पदसे अभिप्रेत है] । इन विभावोके देखने या सुननेसे जुगुप्सा रूप स्याधिभाव वाला वीभत्सरस उत्पन्न होता है । शत्रुकी प्रशंसामे विशेष रूपसे दोषोको देखकर उससे घृणा करता है । 'निष्ठेव' पदका अर्थ कफका निकलना [अर्थात् यूपना] है । हाय-पेर आदिका चलाना उद्वेग [का सूचक] है । निन्दा अर्थात् दोष निषालना । इनसे अङ्गों के सिकोडने, मुँहके विचकाने नाक-कान आदिके बन्द करने और जो निघलाने, आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है । व्याधि, मोह, आवेग, अपस्मार, मरण आदि इसके व्यभिचारि-भाव है ॥ [१८] १२० ॥

अथ अद्भुत [रसका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र १७५]—देवताधर्म, अथवा इन्द्रजाल, सुन्दर वस्तु आदिके देखने तथा अभीष्ट अर्थों [साकस्मिक] सिद्धिते उत्पन्न होने वाला अद्भुत रस होता है । प्रशंसा रोमाञ्च तथा हर्षके द्वारा उसका अभिनय करना चाहिए ॥ [१८] १२१ ॥

दिव्य अर्थात् इन्द्रादि देवता । मन्त्र अथवा किसी द्रव्य अथवा हायकी घातारों आदिके द्वारा असम्भव यातको दिखला देना 'इन्द्रजाल' कहलाता है । रम्य अर्थात् अत्यन्त सुन्दर लगने वाला अर्थ अंते शिल्प-रचना, अथवा रूप या वाक्यरचना, अथवा गन्ध, रस,

न्तमीप्सितम् । तस्य सिद्धिः प्राप्तिर्निष्पत्तिर्वा । एवमादिभ्यो विभावेभ्यो विस्मय-
स्थायी श्रद्धभुतो रसो भवति । हर्षेण स्वानुभावाः सूच्यन्ते । एभिर्नयनविस्तार-गात्रोल्लु-
कसन-श्रनिमिपप्रेक्षण-चेलोऽगुलिभ्रमण-गद्गद्-वचन-वेपथु-स्वेदादेरनुभावस्य ग्रहः ।
व्यभिचारिणश्चास्य श्रावेग-जडता-सम्भ्रम-स्तम्भ-श्रुश्रु-गद्गद्-रोमाञ्चादय इति ॥
[१६] १२१ ॥

अथ शान्तः —

[सूत्र १७६]—संसारभय-वैराग्य-तत्त्व-शास्त्र-विमर्शनैः ।

शान्तोऽभिनयनं तस्य क्षमा-ध्यानोपकारतः ॥ [२०] १२२ ॥

देव-मनुष्य-नारक-तिर्यग्भूषेण बहुधा परिभ्रमणं संसारः, तस्माद् भयम् । वैराग्यं
विषयवैमुख्यम् । तत्त्वस्य जीवाजीव-पुण्य-पापादिरूपस्य, शास्त्रस्य मोक्षहेतुप्रतिपाद-
कस्य विमर्शनं पुनः पुनश्चेतसि न्यसनम् । एवमादिभिर्विभावैः, काम-क्रोध-लोभ-मान-
मायाद्यनुपरक्त-परोन्मुखतावियजिताकिलष्टचेतोरूपशमस्थायी शान्तो रसो भवति ।
तर्जन-वध-ग्रन्धादिसहनं क्षमा । ध्यानं जीवाजीवादितत्त्वभावनम् । अनेन स्वानुभावा

स्पर्श, गूत, गीतादि, उत्सका दर्शनं अर्थात् माक्षाकार करना । इससे स्वयं कहना या सुनना
भी गृहीत होता है । अभीष्ट पदसे अत्यन्त चाहने योग्य अत्यन्त प्रिय अर्थ गृहीत होता
है । उत्सकी सिद्धि अर्थात् प्राप्ति अथवा उत्पत्ति । इस प्रकारके विभावोंसे विस्मय रूप स्थापि-
भाववाला श्रद्धभुत रस उत्पन्न होता है । [कारिकामें प्राए हए] 'हर्ष' पदसे अपने अनुभाव
सूचित होते हैं, इनसे नेत्रोंका विस्तार, अंगोंको तोड़ना-मोड़ना टकटकी लगाकर देखना,
कपड़ा अथवा अंगुलियोंका घुमाना, गद्गद् वचन, कम्पन और स्वेदादि अनुभावोंका ग्रहण
होता है । श्रावेग, जडता, स्तम्भ, श्रु, गद्गद् और रोमाञ्चादि इसके व्यभिचारिभाव
होते हैं ॥ [१६] १२१ ॥

अथ शांत [रसका निरूपण करते हैं]—

[सूत्र १७६]—जन्म-मरण [रूप संसार] ते भय, वैराग्य, [आत्मा-परमात्मा धादि]
तत्त्वों और शास्त्रादिके चिन्तनसे उत्पन्न होने वाला शांतरस होता है । और क्षमा, ध्यान
तथा उपकार के द्वारा इसका अभिनय किया जाता है । [२०] १२२ ॥

देव मनुष्य नारक या तिर्यक् [पशु-पक्षी] आदि रूपमें घूमना [अर्थात् बार-बार जन्म
मरण करना] 'संसार' कहलाता है । उससे भय [शांतरसका कारण होता है] । विषयोंसे
विमुक्तता 'वैराग्य' कहलाता है । तत्त्व अर्थात् जीव और अजीव अथवा पाप और पुण्य धादि
रूप, तथा मोक्षके उपायोंके प्रतिपादक शास्त्रका विचार करना, चित्तमें बार-बार लाना ।
इस प्रकारके विभावोंसे काम, क्रोध, मोह, अभिमान, माया धादिके सम्बन्धसे रचित विषयोन्मु-
क्ततासे रचित क्लिष्ट चित्तवृत्ति रूप शमस्थायिभाव वाला शांतरस उत्पन्न होता है । डाँट-
पटकार [तर्जन], वध, ग्रन्थन धादिसे सह तेना 'क्षमा' कहलाता है । जीव-अजीव धादि
तत्त्वोंका विचार करना 'ध्यान' कहलाता है । इससे अपने निदबलदृष्टिता धादि अनुभाव
सूचित होते हैं । 'उपकार' पदसे मंत्री, मुदिता [प्रमोद] कष्टना, और उपेक्षा [माध्यम्य]
धादि अनुभाव सूचित होते हैं । निर्वै, मति, स्मृति, एति धादि इसके व्यभिचारिभाव हैं ।
[पनञ्जय धादि जेते] बिग्री [वाषायो] ने इन [शांतरस] को नहीं माना है । उनके मतसे

निश्चलदृष्टितादयः सूचिता । उपकारेण मैत्री प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यादयोऽनुभावा
गृह्यन्ते । व्यभिचारिणश्चास्य निर्वेद-मति-स्मृति-धृत्यादयः । अयं च कैश्चिन्नोक्तः,
तेषां सकलकलेशविमोक्षलक्षणमोक्षपुरुषार्थपराडमुत्पत्त्वमेव दूषणमिति ॥ [२०] १२२॥

अथ काव्येषु रसनिबन्धनेऽवहितैर्भाव्यमिति उपदिशति—

[सूत्र १७७]—अर्थ-शब्दवपुः काव्यं रसैः प्राणैर्विसर्पति ।

अञ्जसा तेन सौहार्दं रसेषु कविमानिनाम् ॥ [२१] १२३॥

शब्दार्थौ अभिनेयानभिनेयभेदस्य काव्यस्य वपुः शरीरम् । रसा पुनः प्राणा ।
तैर्विभावोपनिबन्धनकरणोपनीतौ सहृदयहृदयेषु काव्यं विसर्पति । तेन हेतुना कवि-
मम्मन्यानां अञ्जसा मुख्यतो रसेषु सौहार्दं प्रीतिः । रसाविर्भाविना प्रयत्नेनैवोपनीतस्य,
अलंकारस्यापि निबन्धः । स चैतरश्चमत्कारोत्येव इति अञ्जसा इत्युक्तम् । यथा—

“कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता,

निपीतो निश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः ।

सकल फलेशोके छुड़ाने वाले मोक्ष रूप पुरुषार्थसे पराङ्मुख होना ही दूषण है । [इसलिए उन
का मत उचित नहीं है । इसका अभिप्राय यह है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिए शातरसको स्थिति
आवश्यक है । जो लोग शातरसको नहीं मानना चाहते हैं उनके मतमें मोक्षको सिद्धिका मार्ग
हो घन्द हो जाता है । फिर मोक्षकी सिद्धि किस प्रकार होगी । इसलिए सकल पुरुषार्थके
शिरोमणिभूत मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धिके एकमात्र हेतुभूत शातरसका मानना अनिवार्य है यह
पण्यकारका अभिप्राय है ।] ॥ [२०] १२२ ॥

अथ काव्यो [को रचना] में [कवियोंको] रसका समावेश करनेमें विशेष रूपसे
सावधान रक्षना चाहिए इस बातको [अगली कारिकामें] कहते हैं—

[सूत्र १७७]—शब्द और अर्थ रूप शरीर वाला काव्य, रस रूप प्राणोंसेही चलता है
इसलिए अपनेको कवि समझने वाले [सुकवियों] का रसोंके प्रति घनायास प्रेम होता
है । [२१] १२३ ।

अभिनेय तथा अनभिनेय भेद वाले काव्यका शरीर शब्द और अर्थ है । और रस
उनका प्राण है । विभावोंके समावेश रूप साध्यतामें प्राण जन [रसों] के द्वारा काव्य सहृदयों
के हृदयोंमें प्रवेश पाता है [विसर्पति] । इस कारण अपनेको कवि समझने वाले सुकवियोंका
रसोंमें प्रधान रूपसे प्रेम होता है । [मुख्य रूपसे] रसको आविर्भूत करने वाले प्रयत्नसे ही
प्राप्त होने वाले अलंकारकी भी रचना करनी चाहिए । [अलंकारोंकी रचनाके लिए अलगसे
प्रयत्न सुकवि नहीं करते हैं । रसके सन्निवेशमें जो यत्न करते हैं उसीसे स्वाभाविक रूपसे
अलंकार भी उनके काव्योंमें आ जाते हैं] और वे विलम्बे चमत्कार उत्पन्न करते हैं । इस
बातके सूचन करनेके लिए [कारिकामें] 'अञ्जसा' पदका ग्रहण किया है ।

जंते—

हे भानिनि प्रिये ! तुम्हारे गालोंपरकी पत्राली [चन्द्रनादिके द्वारा बनाई गई
सौन्दर्यापायक रेखाएँ, नाराज हो जानेके कारण गालोंके ऊपर रते गए] हाथोंकी रगड़
से मिट गई [किन्तु तुमने हमें उनके छुटोका अग्रसर नहीं दिया] अमृतके समान गुग्गर तुम्हारे

मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति वाष्पः स्तनतटं,
प्रियो मन्युर्जातस्तथ निरनुरोवे न तु वयम् ॥”

यथा राघवाभ्युदये—

“तल्लावण्यमनन्यद्युत्तिवचसां तत् कौशलं पेशलं,
तत् सौभाग्यमभाग्यमर्त्यविमुरां तद् यौवनं पावनम् ।
एकेन प्रियसङ्गमेन मनसो विश्रामधाम्ना विना,
व्यर्थं सा हृदि सर्वमेव मनुते व्यालोलनेत्रोत्पला ॥”

यथा वास्मदुपह्वे मल्लिकामकरन्दे प्रकरणे मकरन्दः—

“आस्यं हास्यकरं शशाङ्क्यशसां विम्व्याधरः सोदरः,
पीयूषस्य, वचांमि मन्मथमहाराजस्य तेजांसि च ।
दृष्टिर्विष्टपचन्द्रिका स्तनतटी लक्ष्मीनटीनाट्यभूः,
श्रौचित्याचरण विलासकरणं तस्या प्रशस्यावधे ॥”

यथा वास्मदुपह्वयां वनमालाया नाटिकायाम्—

“राजा—[दमयन्ती प्रति]—

“दृष्टिः कथं जरठपाटलपाटलेयं कम्पः किमेव पदमोष्ठदले वचन्ध ।
नारङ्गरङ्गहरणप्रवणः प्रियेऽस्य वक्रस्य कुंकुममृतेऽरुणिमा कुतोऽयम् ॥”
एषु रसप्रयत्नेनैव शब्दार्थालंकारलाभः ॥ [२१] १२३ ॥

इन अक्षरोंके रसको उल्लेख निःश्वासिते पो डाला [पर हमे न मिल सका] घोर मुंहारे धाँपू गलेमें निपटते हुए स्तनोंके [ऊपर गिरकर उनके] तटको पम्पित कर रहे हैं [पर हम उसके छूनेके लिए तरस रहे हैं] जान पड़ता है कि [प्राज्ञ] क्रोध ही मुंहारा प्रिय बन गया है, हम नहीं ।”

अथवा जंते 'राघवाभ्युदय' में—

“वह झञ्जल नेत्रों वाली [व्यालोलनेत्रोत्पला, अर्पने] उस [सौबीत्तर] लावण्यको, अग्नय न पाए जाने वाले ध्वनियोंके उस सुन्दर बीजलको, अभाग्यवाली पुष्पोंको प्राप्त न हो सकने वाले उस सौभाग्यको, घोर उस ववित्र [अर्पने] यौवनको, हृदयको विश्राम देने वाले एवमात्र प्रियसङ्गमके विना इस सयको व्यर्थ ही समझती है ।”

अथवा जंते हमारे बनाए हुए 'मल्लिकामकरन्द' नामक प्रकरणमें मकरन्द—

“सौन्दर्यकी धरम सीमा [प्रशस्यावधे] रूप उस [नायिका] का मुल अङ्गमाही कीर्ति का उपहास करने वाला है, विम्व्याधर अमृतका सटोदर है, वालो मन्मथ महाराजके तेजके समान है, दृष्टि स्वर्णकी चाँदनी सी है, स्तनतटी लक्ष्मी रूप नटीकी श्रीदाम्भूमि है घोर उचित आचरण विलासको उत्पन्न करने वाला है ।”

अथवा जंते हमारी बनाई हुई 'वनमाला' नाटिकामें—

“राजा [दमयन्तीके प्रति]—

[हे प्रिये ! मुंहारो] दृष्टि पुराने लोभ [पाटल वृक्ष विदोष] के समान सात बरों हो रही है ? मुंहारे छोटमे कम्प क्यों हो रहा है ? घोर बिना हो कुंकुमके लगाए मुंहारे मुसपर नारणोंके रगको भी पराजित करने वाली यह सातिमा क्यों हो रही है ?

अमुमेवार्थं द्रढयात्—

[सूत्र १७८]—न तथार्थशब्दोत्प्रेक्षाः श्लाघ्याः काव्ये यथा रसः ।

विपाककम्रमप्याम्रं उद्वेजयति नीरसम् ॥ [२२] १२४ ॥

न हि नवनवार्थव्युत्पन्नशब्दग्रथनमेव काव्यं, तर्कव्याकरणयोरपि तथाभाव-
प्रसंगात् । किन्तु विचित्ररसपवित्रशब्दार्थनिवेशः । विपाककमनीयमपि सहकारफलं
विरसमुद्वेगमावहति । अतः शब्दार्थमात्रशरणाः शुष्ककवयो यमकरलेपादीनामेव
निबन्धमर्हन्ति । न तु रसैकशरणस्य नाट्यस्येति ॥ १२४ ॥

अथ विरुद्धरसानां विरोधे व्यवस्थामाह—

[सूत्र १७९]—एकत्र स्वैरिणोस्तुल्यशक्तयोर्योगे विरुद्धता ।

एकस्मिन्नाश्रये नायकादौ तस्मिन्नेव प्रक्रमे परस्परविरुद्धयो रसयोर्विरुद्धता,
न तु भिन्ने । यथाऽऽर्जुनचरिते—

इनमें रसके लिए किसे गए प्रयत्नसे ही [स्वाभाविक रूपसे] शब्दालङ्कार तथा अर्था-
लङ्कारोका समावेश हो गया है [उनके लानेके लिए कविने धृक् प्रयत्न नहीं किया है ।]

इसी बातको पुष्ट करते [हुए आगे कहते] हैं—

[सूत्र १७८]—काव्यमें शब्द तथा अर्थकी कल्पना उतनी प्रशस्तनीय नहीं होती है
जितनी रसकी स्थिति । जैसे एक जानेके कारण सुन्दर लगने वाला आमका फलभी रस-रहित
होनेपर बुरा मासूम होता है ॥ [२२] १२४ ।

नए-नए अर्थोंको प्रकाशित करने वाले शब्दोंकी रचना कर देना मात्र ही काव्य नहीं
कहलाता है । क्योंकि न्याय तथा व्याकरणादिमें भी यह [नए-नए अर्थोंके प्रकाशक शब्दोंकी
रचना] हो सकता है । किन्तु [विचित्र] घमत्कारजनक, रससे पवित्र शब्द और अर्थका सन्नि-
वेश [ही काव्य कहलाने योग्य होता है] । जैसे परिपाक हो जानेके कारण सुन्दर दिखलाई
देने वाला भी आमका फल रसशून्य होने पर बुरा लगता है । इसलिए केवल शब्द तथा अर्थ
का अवलम्बन करने वाले शुष्क कवि यमक अनुप्रास आदिकी ही रचना कर सकते हैं, रस-
प्रधान नाटककी [रचना] नहीं कर सकते हैं ॥ [२२] १२४ ॥

अब विरुद्ध रसोंका विरोध [उपस्थित] होनेपर उसके परिहारके मार्ग [व्यवस्था]
को बतलाते हैं—

[सूत्र १७९]—एक ही स्थानपर दो स्वतन्त्र और तुल्यशक्ति वाले रसोंमें विरोध होता
है । [अर्थात् (१) भिन्न आश्रयोंमें रहने वाले अथवा (२) स्वतन्त्र न रहने वाले, अथवा (३)
तुल्य बल न रहने वाले रसोंमें विरोध नहीं होता है । अत एव (१) दो विरोधी रसोंमें आश्रय-
भेदसे, (२) एकको दूसरेके अंग बना देनेपर, अथवा (३) दोनोंको किसी तीसरे अविरोधी
रसका अंग बना देनेसे और गौण रूपसे वर्णन करनेपर विरोध नहीं रहता है । यही उनके
विरोध-परिहारके मार्ग हैं ।]

एक ही आश्रय अर्थात् नायकादिमें और उसी प्रसंगमें परस्पर विरोधी रसोंका विरोध
होता है । भिन्न आश्रयोंमें अथवा भिन्न प्रसंगोंमें [उसी नाटकमें विरुद्ध रसका वर्णन] होने
पर विरोध नहीं होता है । जैसे अर्जुनचरितमें—

समुत्थिते धनुर्ध्वनी भयावहे किरीटिनः ।
महानुपप्लवोऽभवत् पुरे पुरन्दरद्विपाम् ॥”

अत्र नायकस्य वीरः, प्रतिपक्षाणां तु भयानकः ।

यथा वा—

“दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि,
प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे ।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजयध्वा
जातस्थुर्हैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि ॥”

अत्र तस्मिन्नेव प्रक्रमे मुनि-कामुकयोर्भिन्नयोर्न शृङ्गार शान्तौ विरुद्धाविति ।
तथा स्वैरिणोः स्वतन्त्रयोः मतोर्विरुद्धयो रसयोर्विरुद्धता, न तु परतन्त्र-
गततन्त्रयोः, मुख्यस्थायन्तयोर्वा यथा—

“कुरवक ! कुचाघातक्रीडामुखेन वियुज्यसे,
वकुलविटपिन् ! स्मर्तव्यं ते मुग्धासवसेचनम् ।
चरणघटनाशून्यो यास्यस्यशोक ! मशोकतां,
इति निजपुरत्यागे यस्य द्विपां जगदुःस्त्रियः ॥”

अनुंभके भयावह धनुषके ध्वनिके उदय होनेपर इन्द्रके शत्रुघोके नगरमें घड़ी पबराहट फँस गई ।

इसमें [वीर तथा भयानक दो रसोका बणन है । ये दोनों रस एकाधयमें होनेपर विरोधी माने जाते हैं । यहाँ उन दोनोंके आश्रयका भेद कर दिया गया है । इसलिए उनके विरोध नहीं रहता है] । नायक [अनुंभ] से वीर रस है और शत्रुघोमें भयानक रस है [इसलिए आश्रयभेद हो जानेसे उनमें विरोध नहीं रहा] ।

अथवा जैसे—

रक्तपानकी इच्छा करने वाली [दूसरे पक्षमें अनुरागपूर्णा मन वाली] मृगराजकी ययु [सिंहनो दूसरे पक्षमें किसी राजाकी पत्नी] ने आपके रोमाञ्चयुक्त शरीरके ऊपर जो दन्त-प्रहार और नखोंसे विपाटनके चिह्न बनाए हैं उनको मुनिपोंने भी सस्पृह होकर [अर्थात् हम भी इन दन्तप्रहार नखाक्षतोसे विमुषित होते इस इच्छासे] देखा ।

यहाँ उसी प्रसङ्गमें मुनि और कामुक दो भिन्न आश्रयोंमें रहने वाले शक्ति और शृङ्गार रसोंका विरोध नहीं है ।

इसी प्रकार [दो विरोधी रसोंके] स्वतन्त्र रूपसे [बलित] होनेपर ही विरोध होता है एवम् परतन्त्र और स्वतन्त्र होनेपर अथवा दोनोंके किसी तीसरे मुख्य रसके अधीन होनेपर [उनका विरोध] नहीं होता है । जैसे—

हे कुरवक ! [वृष विरोध, हमारे यहाँसे चले जानेपर] तुम [हमारे द्वारा प्राप्त होने वाले] कुचाघातके मूलसे बलित हो जाओगे । हे बकुल ! [मीलघोके वृष] तुम्हें [हमारे द्वारा प्राप्त होने वाले] मद्यके कुत्ले द्वारा सेवनकी याद प्राप्ता करेगी । हे मशोक ! हमारे चरण प्रहारसे बञ्चित हो जानेपर तुम शोकयुक्त हो जाओगे । जिसके [अथके चरण उतारने] शत्रुघोकी स्त्रियां इस प्रकार [इन वृषोंको सम्बोधित करके] बहती थीं ।

अत्रोद्दीपनविभावैः कुरयकादिभिर्गृहीप्यमानः शृङ्गारो विशेषतः करुणं स्वतन्त्र-
मङ्गिनं द्विपत्नीणां पोषयति ।

यथा वा—

“अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्युरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥

अत्र भूरिश्रवसः समरभुवि पतितवाहुदर्शनेन तत्प्रियाणां शृङ्गारः स्मर्यमाण-
करुणं पोषयति ।

मुख्यस्यायत्तौ यथा—

“क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽशुकांतं,
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः,
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शान्भवो वः शराग्निः ॥”

अत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशय करुण-शृङ्गारावङ्गभूतौ । परस्परविरोधेऽपि चान्य-
मुखप्रेक्षितपारतन्त्र्यदुःखाभिघातेन स्वात्मपुष्टिमलभमानयो-नृपसमीपस्थित-आतता-
यिद्वयवत् कुतः करुण-शृंगारयोर्घात्य-घातकभावः इति ?

इसमें कुषवक आदि रूप उद्दीपन विभावोंके द्वारा उद्दीप्त किया जाने वाला शत्रु
स्त्रियोंका शृङ्गार रस उनके भीतर रहनेवाले प्रधान और स्वतन्त्र करुणरसको पुष्ट करता है ।
अथवा जैसे—

[हमारी रक्षना अर्थात्] तगड़ीको हटाने वाला, पीन स्तनोंका मर्दन करने वाला तथा
नाभि जंघाओं और नितम्बोंका स्पर्श करने वाला तथा नारको खोलने वाला [हमारे प्रियतम
भूरिश्रवाका] यह वही [आनन्ददायक] हाथ है ।

इसमें समरभूमिमें पड़े हुए भूरिश्रवाके हाथको देखकर उसको पत्नियोंका स्मर्यमाण
शृङ्गार रस [भूरिश्रवाकी मृत्युके बाद वर्तमान] करुण रसका परिपोषण कर रहा है । [इस-
लिए शृंगार करुण रसका अंग होनेसे उसका विरोधी नहीं है] ।

[किसी तीसरे] मुख्य रसके अधीन रहने वाले [दो विरोधी रसोंके अविरोधका
उदाहरण] । जैसे—

शिवजीके द्वारा किए गए त्रिपुरदाहके समय त्रिपुरकी स्त्रियोंकी दुर्दशाका वर्णन
करते हुए कविने इस श्लोकमें अग्निका कामीके साथ सादृश्य इस प्रकार दिलाया है—

[आर्द्रापराध कामीके समान स्त्रियोंका] हाथ पकड़नेपर भटक दिया गया, बलात्
हटाए जानेपर भी वस्त्रोंको ग्रहण करनेवाला, केशोंको छूते समय दूर हटाया गया, परंमि
गिरनेपर भी [अग्नि पक्षमें] भयके कारण [और कामी पक्षमें सम्भ्रम अर्थात् आदरपूर्वक]
न देखा गया, और [परस्त्री गमन आदि रूप नुरगत किए हुए अपराधके कारण] ताजे अपराध
वाले कामीके समान आँखोंमें आँसू भरे हुए त्रिपुरकी युवतियोंने आलिगन करते हुए जिसे
[अग्नि] को भटक दिया है इस प्रकारका शिवजीके भारणोका अग्नि तुम्हारे दुःखों या पापों
को नाश करे ।

इसमें करुण और शृंगार [दोनों परस्पर विरोधी रस] त्रिपुरारि [शिवजी] के प्रतापा-

तथा एकाश्रययोरपि तुल्यबलयोर्विरोधो, न तु हीनाधिकबलयोः । यथा पुरु-
रवाः प्राह—

“क्वाकार्यं शशलदमणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा,
द्वोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यत्यपकलमपाः कृतधियः म्यज्नेऽपि सा दुर्लभा,
चेतः ! स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽघरं धास्यति ॥”

अत्र शृङ्गार-शांतयोर्न परस्परमङ्गाङ्गिभावो अपोष्य-वोपकृतवान् । तृतीयम्या-
भावान् अङ्गभावोऽपि नास्ति, किन्तु स्वतन्त्रौ । तथापि न विरोधः, शांतस्यागन्तुकत्वेन
अल्पबलत्वान् । अत एवात्र पर्यन्ते शृङ्गारे विश्रान्तिः । एयमन्यत्राप्युदाहार्यम् ।

तथा एकाश्रययोः स्वैरिणोस्तुल्यशक्त्योर्विबुद्धयोर्योगे नैरन्तर्ये विरोधो न त्य-

तिशयके अंग हैं । इसलिए परस्पर विरोधी होनेपर भी दूसरे [प्रधानभूत शयके प्रतापाति-
पाय] का मुख देखने वाले होनेसे परतन्त्रताके दु क्षसे आक्रांत होकर स्वयं अपने परिपोषणको
न प्राप्त कर सकने वाले कछल और शृंगारमे, राजाके समीपमें स्थित दो आततायियोंके
समान एक दूसरेके लिए घात-घातक भाव नहीं हो सक्ता है । [इसलिए यहाँ इन दोनों रसों
का परस्पर विरोध नहीं है] ।

इसी प्रकार एक ही [नायक आदि रूप] आधयमें रहने पर भी दोनोंके तुल्य बल
होनेपर ही विरोध होता है । दुर्बल और प्रबल होनेपर नहीं । जैसे [विक्रमोर्वशीयमें] पुरु-
रवा कहता है—

(१) वहाँ यह अनुचित कार्य और वहाँ [हमारा उज्ज्वल] चन्द्रवंश [तर्क] ।

(२) क्या वह फिर कभी देखनेको मिलेगी [प्रोत्सुषय] ।

(३) [घरे] सेंने तो दोषोंपर विजय प्राप्तके लिए ही शस्त्रोंका प्रप्ययन किया है
[फिर इस कुमार्गपर क्यों जा रहा हूँ] [मति] ।

(४) [प्रोहो] प्रोषमे [नाराज होनेपर] भी उसका [सान-सान] मुल कितना सुन्दर
लगता है । [स्मरण] ।

(५) [घरे मेरे इस व्यवहारको देखकर] विद्वान् एव धर्मात्मा लोग मुझको क्या
कहेंगे [संकर] ।

(६) यह तो । अथ स्वप्नमे भी दुर्लभ हो गई । [द्वय]

(७) अरे मन तनिक घोरज रत्तो । [धर्म]

(८) न जाने बीन सीभाग्यशास्त्री युवक उसके अपराधुतका पान करेगा [विगता] ।

इसमें शांत और शृंगार रसोंका बोध्य-वोपकभाव न होनेसे अंगंगिभाव [धर्मान् गुण-
प्रदानभाव] नहीं है । और विगी तीसरे [रस] के न होनेसे [दोनोंका तीसरेके प्रति] अंगभाव
भी नहीं है । किन्तु दोनों स्वतन्त्र रस हैं । फिर भी यहाँ शांत रसके आगन्तुक होनेसे दुर्बल
[तथा शृंगारके प्रबल होनेके कारण प्रबल] होनेसे [उन दोनोंका] विरोध नहीं है । इसलिए
यहाँ अन्तमे शृंगार रसमें ही विधागित होती है । इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझ लेने
आहि ।

और एकाधयमें रहने वाले दो स्वतन्त्र तथा तुल्य बल रसोंका भी नैरन्तर्य [धर्मान्

विरुद्धेन रसान्तरेण व्यवधाने । यथा नागानन्दे—

“रागस्यास्पदमित्यवैमि न हि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः ।”

इत्यादिनोपक्षेपात् प्रभृति शांते रसस्तस्य विरुद्धो मलययतीविषयः शृङ्गारः—
‘अहो गीतमहो वादित्रम्’ इत्यादिना अद्भुतमन्तरे कृत्वा निवद्धः । एवमन्ये-
ष्वप्युदाहार्यमिति ।

विभाव-व्यभिचारिणां तु रसानुरोधेन विरोधः परिहारश्च द्रष्टव्यः ।

अथ रसदोषानाह—

[सूत्र १८०]—दोषोऽनौचित्यमङ्गैश्च अरपोऽत्युक्तिरङ्गिभित्

॥ [२३] १२५ ॥

(अ) सहृदयानां विचिकित्साहेतु कर्मानौचित्यं तच्छानेकधा ।

(क १) तत्र क्वचित् प्रतिकूलविभाव-मात्रनिवन्धो यथा—

“त्यजत मानमलं वत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।

परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते रमते स्म वधूजनः ॥”

अव्यवधानसे वर्णन] होतेपर ही विरोध होता है । [दोनोंके] अविरोधी अन्य रसके व्यवधान होनेपर विरोध नहीं होता है । जैसे नागानन्दमें—

[हि मित्र आत्रेय ! यह यौवन] विषय-वासनाका घर है यह बात में जानता हूँ और यह सदा रहने वाला नहीं है यह बात भी मुझे मालूम है [प्रथमांक श्लोक संख्या ४] ।

इत्यादि [मुखसन्धिके] उपक्षेप [नामक अंग] से लेकर ज्ञात रस [प्रारम्भ हो गया] है । उसका विरोधी मालती विषयक अनुराग [प्रथमांकके १४ वें श्लोकके पूर्व कहे गए] ‘अहो गीतं अहो वादित्रम्’ इत्यादि [वाक्य] से बीचमें अद्भुत रसका समावेश करके [व्यवधानसे] वर्णन किया गया है । [इसलिए यहाँ ज्ञात तथा शृंगार रसोंका विरोध नहीं रहता है] । इसी प्रकार अग्य रसोंमें भी समझ लेना चाहिए ।

[विरोधी रसों] के विभावों तथा व्यभिचारिभावोंमें रसके [विरोध-प्रविरोधकी व्यवस्थाके] अनुसार ही विरोध तथा उसका परिहार समझ लेना चाहिए ।

अथ रसके दोषोंका वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

[सूत्र १८०]—(क) [रसोंका] अनौचित्य, (ख) अंगोंकी उग्रता [अर्थात् अप्रधानभूत रसका प्रधानरसकी अपेक्षा विस्तारपूर्वक वर्णन] (ग) [मुख्य रसकी] पुष्टिका अभाव, (घ) [मुख्य रसका भी आवश्यकतासे] अधिक विस्तार (ङ) [अंगिभित् अर्थात्] प्रधान रसकी भुला देना [ये पाँच प्रकारके रसके] दोष होते हैं । [३३] १२५ ।

(क) सहृदयोंके [मनमें] झट्टा या मदेह [उत्पन्न] करने वाला कर्म अनौचित्य कहलाता है । और वह अनेक प्रकारका हो सकता है । [रसका अनौचित्य] कहीं (क १) प्रतिकूल विभावाधिके वर्णन रूप होता है । जैसे—

इस मानको छोड़ दो, [अधिक काल तक] प्रणय-कलह करना उचित नहीं है । यह [यौवनकी] सुन्दर अवस्था [एक घार समाप्त हो जानेपर] फिर लौटकर नहीं आती है । फोकिन्नोंके [कहू शब्द द्वारा] मानो इस प्रकारकी सूचना देनेपर वधूजन कामोत्सुक पतिपोंके

अत्र शृङ्गारप्रतिकूलस्य शातस्यानित्यताप्रकाशरूपो विभावो निरुद्ध ।

(क ०) क्वचिदकाण्डे प्रथमम् । यथा चेण्णिसंहारे धीरोद्धतप्रकृतेरपि दुर्चोवनस्य भीष्म-प्रमुखमहावीरलक्ष्मणकारिणि प्रवृत्ते समरसरम्भे भानुमती प्रति शृङ्गारवर्णनम् ।

(क ३) क्वचिदकाण्डे विच्छेदो यथा वीररचिते राघव-भार्गवयोर्धाराविरुद्धे वीररसे 'कङ्कणमोचनाय गन्धामि' इति राघवस्योक्त ।

(क ४) क्वचिदुत्तमाधम-मध्यमाना प्रकृतीनामन्यथा वर्णनम् । यथा—
उत्तमाना हास्य-धीमत्स-कर्मण-भयानक-अद्भुतप्रवर्ष ।

(क ५) मध्यमाऽधमाना तु अप्राम्य शृंगार, वीर-रौद्र-शातप्रकर्षश्च ।

(क ६) उत्तमेष्वपि दिव्येषु सम्भोगशृंगारवर्णनपित्रो सम्भोगवर्णनमम यथा कुमारसम्भवे उमा-महेश्वरयो ।

(क ७) अदिव्येषुत्तमेष्वपि सद्यफलदक्रोवनम-पातालगमन-समुद्रलघनागुन्माह-वर्णनम् ।

साय रमण करने लगीं ।

(क १) इसमें शृंगार रसके प्रतिकूल अनित्यता प्रकाशन रूप शात रसके विभावोक्त वर्णन [प्रकृत शृंगार रसके] विपरीत है ।

(क २) वहाँ वेनीके विस्तार कर देना [भी रस दोष होता है] जैसे चेण्णिसंहार [के द्वितीयाङ्क]में धीरोद्धत प्रकृतिके [नायक] होनेपर भी भीष्म आदि साखों वीरोंका नाश कर डालने घाले [भयङ्कर] युद्धके धारम्भ होनेपर भी भानुमतीके प्रति शृंगारका वर्णन [अकाण्ड प्रथम रूप रसदोषका उदाहरण है] ।

(क ३) कहीं अक्सरके बिना ही रसका विच्छेद [कर देना भी रसदोष होता है] जैसे—महावीरचरित्रमें रामचन्द्र तथा परशुरामजीके बीच वीररसके पूर्ण प्रवाहपर आ जानेपर [अच्छा अथ में] 'कगन लोलनेके लिए जा रहा हूँ' यह रामचन्द्रका कथन [अकाण्डमें रसका विच्छेदक होनेसे रसदोष है] ।

(क ४) वहाँ उत्तम अधम तथा मध्यम प्रकृतियों [घाले पात्रों] का विपरीत रूपमें वर्णन [प्रकृति विषयय नामक रसदोष है] जैसे उत्तम [प्रकृति घाले पात्रों]के वर्णन हास्य भीमत्स कहल भयानक और अद्भुत रसोंका अत्यधिक वर्णन [अनुचित है] ।

(क ५) मध्यम तथा अधम [प्रकृतिके नायकादि] के [साय अप्राम्य पर्याप्त] शुद्ध शृंगार वीर, रौद्र और शांतिरसके प्रकथनका वर्णन [अनुचित होनेसे ये दोनों प्रकारके वर्णन प्रकृति विषयय नामक रस दोषोंमें घाले हैं] ।

(क ६) उत्तम [प्रकृतियों] में भी दिव्य [पात्रों] के शृंगारका वर्णन [अपने] माना-पिनाके शृंगार रसके वर्णनके समान [होनेसे अनुचित] है । जैसे कुमारसम्भवे पार्वती और शिवके [शृंगारका वर्णन] ।

(क ७) देवताओंके रौद्रकर उत्तम प्रकृतियोंमें भी तुरन्त फल देने वाले दोष, स्वर्ग या पातालमें गमन, समुद्रलघनादिके उत्साहका वर्णन [भी अनुचित होनेसे इसी प्रकृति विषयय रूप रसदोषकी धरणीमें घाला है] ।

(क ८) धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित-धीरशांतेपूत्तमेपु वीर-रौद्र-शृंगार-शांतानामवर्णनं, विपरीतवर्णनं वा । मध्यमाधमेपु ष्वेषु वीरादिरसप्रकर्षवर्णनम् ।

(क ९) क्वचिद् वर्ण-समासान्यथाप्रथमम् । तत्र दीप्तेषु रसेषु संयुक्तैर्मूर्धन्यैश्च वर्णैः समासदैर्ध्येण च प्रायः प्रसन्नो मस्त्रणश्च बन्धः । अदीप्तेषु तु शृंगार-हास्य-करुण-शान्तेषु मूर्धस्थवर्गापञ्चमैर्ह स्वैश्च वर्णैः असमासेन मध्यमसमासेन च प्रायः प्रसन्नो बन्धः । सर्वेषु च प्रसिद्धैरक्लिष्टैरग्रान्यैः पुष्ट्यै पदैर्न्यासः ।

(क १०) क्वचिदुत्तमस्य उत्तमनायिकायां व्यलोकसम्भावना ।

(क ११) क्वचिन्नायिकापादप्रहारादिना नायकस्य कोपः ।

(क १२) क्वचिद् वयो-वेष-देश-काला-अवस्था-व्यवहारादीनामन्यथा वर्णनम् ।

(क १३) एवमन्यदपि यमक-श्लेष-चित्रादिकं ऋतु-समुद्रादि-चन्द्रार्कोद्यांस्तादिप्रकर्षवर्णनं च रसानङ्गमनौचित्यं द्रष्टव्यमिति ।

(ख) अथाङ्गौप्रथम् । अंगस्य मुख्यरसपोषकतया अवयवभूतस्य औप्रथं विस्तरेणोत्कटत्वं दोषः । यथा कृत्यारावणे जटायुवध-लक्ष्मणशक्तिभेद-सीताविपत्ति-

(क ८) धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरशांत रूप उत्तम प्रकृतियोंमें भी वीर, रौद्र, शृंगार तथा शांत रसोंका वर्णन न करना अथवा विपरीत वर्णन [प्रकृति-विपर्यय नामक रस दोष होता है] और मध्यम तथा अधम प्रकृतियोंमें तो इन [धीरोदात्तादि] में वीरादि रसोंके प्रकर्षका वर्णन [भी अनुचित होनेसे प्रकृति-विपर्यय नामक रसदोषमें धाता है] ।

(क ९) कहीं वर्णों तथा समासोंका [रसके विपरीत रूपमें] अग्यथा प्रयोग [भी रसदोष में गिना जाता है] । जैसे [वीर रौद्रादि] दोष रसोंमें सयुक्त और मूर्धन्य [अर्थात् ऋतुरवाणों मूर्धा-र, प, तथा टवर्ग] वर्णों तथा लम्बे-लम्बे समासोंसे सुन्दर और मनोहारिणी रचना बनती है । और शृङ्गार, हास्य, करुण, तथा शांत जैसे अदोष रसोंमें तो वर्णोंके पञ्चम अक्षर से युक्त लृस्व वर्णों और समास-रहित अथवा अल्प समासके द्वारा सुन्दर तथा मनोहारिणी रचना होती है । और सभी रसोंमें प्रसिद्ध अक्लिष्ट ग्राम्यता-रहित तथा पुष्टार्थक पदोंका विन्यास होना चाहिए । [इसके विपरीत होनेपर दोष हो जाता है] ।

(क १०) कहीं उत्तम [प्रकृति] के [नायक] को उत्तम नायिकाके प्रति व्यभिचार-सम्भावना [भी अनौचित्य माना जाती है क्योंकि उत्तम प्रकृतिकी नायिकामें इस प्रकारके दोषकी सम्भावना भी नहीं करनी चाहिए] ।

(क ११) कहीं नायिकाके पादप्रहारादिसे नायकके कोपका वर्णन [अनौचित्यके है] ।

(क १२) कहीं आयु, वेष, देश, काल, अवस्था तथा व्यवहारादिका अग्यथा-वर्णन [भी अनौचित्य माना जाता है] ।

(क १३) यमक, इसी प्रकार [अनुचित रूपसे प्रयुक्त] श्लेष, चित्र, ऋतु, समुद्रादि, सूर्य तथा चन्द्रके उदयास्तादिके जो कि रसके अंग नहीं हैं उन [रसके अङ्ग] के प्रकर्षका वर्णन [अर्थात् अत्यधिक विस्तारके साथ वर्णन] अनौचित्य समझना चाहिए ।

(ख) अथ [अङ्गोंकी] उपमा [दोषका निरूपण करते हैं] अङ्ग अर्थात् मुख्य रसके पोषक होनेसे अवयव रूपकी उपमा अर्थात् अत्यन्त विस्तारके कारण उत्कट हो जाना भी दोष है । जैसे कृत्यारावणमें जटायुके वध, लक्ष्मणके शक्ति तगने, और सीताकी विपत्तिको सुनने

श्रवणेषु रामस्य सुदुर्मुहु कस्याधिक्यम् । अगभूतो हि रसो न धाराधिरोहमर्हति,
अन्यथाऽङ्गिन वीररस तिरोदधीत ।

केचिदत्र ह्यप्रवीवकवे ह्यप्रवीवर्णनमुदाहरन्ति । स पुनर्वृत्तदोषो वृत्तनायक
स्थाल्पवर्णनात् । तत्र हि वीरो रसः स विशेषतो वध्यस्य शौर्य-विभूत्वतिशयवर्णनेन
भूष्यत इति ।

(ग) 'अपोप' इति धाराधिरोहण अपोपो दोष । यथा—

“धीमत्सा त्रिपया, जुगुप्सिततम कायो, वचो गत्वर,
प्रायो बन्धुभिरध्वनीव पथिकैर्योगो त्रियोगावह ।
हातव्योऽयमसम्भवाय विरस संसार इत्यात्क,
सर्वस्यापि हि वाचि, चेतसि पुन कस्यापि पुण्यात्मन ॥”

अत्र कविना 'वाचि' इत्युपनिर्धनता विषयत्रीमत्सत्वातीना शान्तजनन प्रति
मन्दत्वमुक्तम् । अन्यथा सर्वस्य चेतस्यपि स्यात् । अपोपरचागिनो अगागिभात्रनि
तस्य वा मुक्तकोपात्तस्य । अगभूतस्यापोप पुनरदोष एवति ।

(घ) 'अत्युक्ति' इति धाराधिरूढस्यापि रसस्य नेर-तरेण पुन पुन उद्दीप्ति

पर रामचंद्रके बार बार करुण [विलापादि] का अधिक्य [इस श्रौत्रय नामक रसदोषका उदा
हरण है] । अगभूत [अप्रधान] रसका अत्यंत विस्तार नहीं होना चाहिए । अथवा यह
प्रधान भूत वीररसको दबा देगा ।

कुछ लोग हृद्यप्रवीवक ने हृद्यप्रवीवके वर्णनको इसका उदाहरण बतलाते हैं । किंतु
[हमारी सम्मतिमें तो] यह वृत्तदोष है [रसदोष नहीं है] । क्योंकि उसमें वृत्त [अर्थात् कथा
भाग] के नायकका वर्णन कम [शौर्य प्रतिनायक हृद्यप्रवीवका वर्णन अधिक हो गया है] । अतः यह
वृत्तदोष है रसदोषमें उसका उदाहरण नहीं देना चाहिए । उसमें वीररस [मूढ्य रस] है शौर्य
वध्य [हृद्यप्रवीव] के शीघ्र तथा विभूति आदिबे प्रतिपाद्य वर्णनसे यह शोभित [परिपुष्ट] ही होता
है [अतः उसमें रसदोष नहीं माना जा सकता है] । यह वृत्तदोष अर्थात् कथाभागका दोष है ।

(ग) अपोप अर्थात् [मूढ्य रसका] प्रवाहपर न आना [अपोप नामक रसदोष होता
है] । जैसे—

विषय अत्यंत भीमरस है यह शरीर [मल-भूत्र आदिकी खान होनेसे] अत्यंत पृथित
है प्रायु विनष्ट होने वाली है शौर्य व-पु बा-घर्षोंसे माय मिलन रातमें मिनने बाल पथिका
के समान अत्यंत विषोगम पयसित होनेवाला ही होता है [असम्भवाय अर्थात्] पुनज-मसे घचनेसे
लिए [मुक्तिकी प्राप्तिसेलिए] इस वीररस संसारको त्याग देना चाहिए इत्यादि [अराग्यपूरण
वाचें] सब लोगोंके बचत बचनमें रहती है मनमें तो किसी पुण्यात्माकी ही धाई जाती है ।

इसमें वाचि [वाणीमें ही] होती है मनमें नहीं] ऐसा बहकर बचने द्विपयाकी
भीमरसता आदिकी शान्तरसकी उपस्थिति प्रति मन्दता सूचित की है । अथवा [यदि इनमें
प्रबलता होती तो] सबसे मनमें भी [उनकी स्थिति] होती [इसलिए यहाँ रसका अपरिपोप
रूप रसदोष है] । यह अपरिपोप (१) प्रधान रसका अथवा (२) मुक्तकोंमें रसक रूपका
वर्णितका होता है । अगभूत [प्रधान रस] का अपरिपोप दोष नहीं होता है ।

(घ) अत्युक्ति अर्थात् रसके प्रवाहपर बहुत जानेपर भी उसका बार-बार उद्दी

दोषो यथा कुमारसम्भवे रतिप्रलापेषु । लब्धपरिपोषो हि रसः पुनः पुनः परामृश्यमानो
मालती-माल्यमिव म्लायति । अत एव प्रकर्षप्राप्त रसविशिष्टानां कवीनामल्पीयानेव
वाग्बिलास इति ।

(ङ) 'अङ्गिभित्' इति बहुरसे प्रबन्धे अवयवभूतरसापेक्षया अङ्गिनोऽवयव-
भूतस्य रसस्य 'भिद्' अनुसन्धानं दोषः । अनुसन्धिर्हि सर्वैस्व रसपोषस्य । स्मृत्यभावे
पुनरपोष एव । यथा रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के वाभ्रव्यागमनान् सागरिकाविस्मृतिरिति ।
अङ्गीग्यादयश्च दोषाः परमार्थतो अनौचित्यान्तःपातिनोऽपि सहृदयानामनौ-
चित्यव्युत्पादनार्थमुदाहरणत्वेनोपात्ताः ।

केचित्तु व्यभिचारि-रस-स्थाधिनां स्वशब्दवाच्यत्वं रसदोषमाहुः, तदयुक्तम् ।
व्यभिचार्यादीनां स्ववाचकपदप्रयोगोऽपि विभावपुष्टौ—

“दूरादुत्सुकमागते विवर्तितं सम्भाषिणि स्फारितं,
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चित्भ्रूलतम् ।

पन [करनेका प्रयत्न] करनो [प्रधान रसका अति-विस्तार 'अत्युक्ति' नामक रसदोष कहलाता
है] । जैसे कुमारसम्भवमें रतिके विलापोंमें [बार-बार कहण रसको उद्दीप्त करनेका यत्न
किया गया है । इसलिए वह दोष है । क्योंकि] रसका पूर्ण परिपोष हो जानेके बाद उसको
बारम्बार स्पर्श करनेसे वह [बार-बार घुई गई] मालतीकी मालाके समान काँतिहीन हो जाता
है । इसलिए प्रकर्ष-प्राप्त रसविशिष्ट कवियोंका वाग्बिलास थोड़ा ही होता है । [अर्थात् उत्तम
कवि रसका पूर्ण परिपोष हो जानेके बाद रसका अनावश्यक विस्तार नहीं करते हैं] ।

(ड) 'अङ्गिभित्' अर्थात् अनेक रसों वाले प्रबन्ध [काव्य नाटकदि] में अवयवभूत
[प्रधान] रसकी अपेक्षासे अङ्गी [अर्थात् प्रधान] अवयवभूत [प्रधान] रसका भेदन अर्थात्
विस्मरण [अनुसन्धान, अङ्गिभित् नामक रस] दोष होता है । क्योंकि [हर समय मुख्य] रस-
का ध्यान रखना ही उसके परिपोषणका प्राण है । उसको भुला देनेपर तो उसका परिपोष
ही नहीं बनता है । [इसलिए प्रधान रसको भुला देना रसका अपरिपोष-जनक 'अङ्गिभित्'
नामक दोष कहलाता है] जैसे रत्नावलीके चतुर्थ अङ्कमें वाभ्रव्यके आ जानेपर [नाटककी
प्रधान नायिका] सागरिकाको विस्मृति [होनेसे मुख्य रसको ही विस्मृति हो गई है] । अतः उस
में 'अङ्गिभित्' नामक रसदोष माना जाता है] ।

[उक्त ५ रस दोषोंमें से प्रथम अनौचित्यको छोड़कर] अङ्गोंकी उपरता आदि [दोष
चारों] दोष वास्तवमें तो अनौचित्य [रूप प्रथम दोष] के भीतर ही आ जाते हैं फिर भी
सहृदयोंको अनौचित्य [के विविध प्रकारों] का परिचय करनेकेलिए ही यहाँ दिखलाए गए हैं ।

कुछ लोग व्यभिचारिभाव, रस, तथा स्थायिभावोंके नामतः ग्रहण [स्वशब्दवाच्यत्व]
को भी रसदोष मानते हैं । [हमारी अर्थात् ग्रन्थकार रामचन्द्र गुणचन्द्रकी सम्मतिमें] यह
उचित नहीं है । व्यभिचारिभाव आदिके वाचक अपने पदों [नामों] का प्रयोग होनेपर भी
विभाव आदिकी पुष्टि होनेपर [रसकी अनुमृति होती ही है] । उसमें कोई बाधा नहीं होती
है । इसलिए व्यभिचारिभावादिकी स्वशब्द-वाच्यता कोई दोष नहीं है । जैसे इस प्रकारके
उदाहरणके रूपमें ग्रन्थकार अग्रन्ता श्लोक उद्धृत करते हैं]—

[नायकके] दूर रहनेसे [उसके दर्शनके लिए] उत्सुक, [पास] आनेपर नीचे झुक

मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे वाष्पान्मुपपूर्णेक्षणं,
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥”

इत्यादौ रसोत्पत्तेरदोष एवायम् । तस्मादव्युत्पन्नोक्तिरवाद्यत्रोक्तिरेवेयम् ।
एयमुभयरससाधारणविभावपदानां कष्टेन नियतविभावाभिधायित्वाधि-
गमोऽपि सन्दिग्धत्वलक्षणो वाक्यदोष एव । यथा—

“परिहरति रति मति लुनीते स्प्रलतितरा परिवर्तते च भूय ।

इति वत विपमा दशा स्वदेहं परिभवति प्रसभ किमत्र कुर्म ॥”

अत्र मतिपरिहारादीनां विभावानां करुणादावपि सम्भवान् शृंगारं प्रति भाव-
त्वसन्देह इति ॥ [२३] १२५ ॥

अथ वृत्तिलक्षणे रसानन्तरमुद्दिष्टानां भावानामवसरस्तत्रापि रसानुरोपेन प्रथमं
स्थायिन उच्यन्ते ।

[सूत्र १८१]—रति-र्हासश्च-शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।

जुगुप्सा-विस्मय-शमा रसानां स्थायिनः क्रमात् ॥

[२४] १२६ ॥

जाने वाले, उसके बात करनेपर [प्रसन्नतासे] फटे हुए, धूलिगन करने लगनेपर [शोषसे]
लाल हुए, और थपडा पकड़नेपर भौंहें टेढ़ी किए तथा चरणोंमें प्रणाम करने लगनेपर
भ्रांतुप्रांसे भरे, मानिनीके नेत्र प्रियतमके [परस्त्री-सम्भोग रूप अपराधके] अपराधी होनेपर
नाना प्रकारकी प्रपञ्च-रचनामें घनुर हो गए हैं यह प्राश्चर्यकी बात है ।

इत्यादिमें [उत्सुकता आदि रूप व्यभिचारिभावोंके स्वशब्दवाच्य अर्थात् नामतः
पूहोत होनेपर भी] रसको उत्पत्ति होनेसे यह [व्यभिचारिभावादिकी स्वशब्दवाच्यता] दोष
नहीं होता है । इसलिए अविद्वानोंके द्वारा कथित होनेसे यह [स्यादिभावादिकी स्वशब्दवा-
च्यताको दोष ठहराने वाली] उचित ठीक उचित नहीं है [अर्थात् व्यभिचारिभावादिकी स्व-
शब्दवाच्यताको दोष नहीं मानना चाहिए] ।

इसी प्रकार दो रसोंमें समान रूपसे पाए जाने वाले विभावादि वाचक पदोंसे किसी
एक नियतरसके विभावादिकी कठिनतासे प्रतीति भी [जितेकि मम्मट आदिने रसदोषोंमें
गिनाया है वह रसदोष न होकर] सन्दिग्धत्वरूप वाच्यदोष ही है । जैसे—

[इस नायिकाको] बड़ी घंघनी हो रही है, इसकी बुद्धि ठिपाने नहीं है, बार-बार
गिर पड़ती है, और निरी करघटे घदल रही है । इस प्रकार इसके देहकी बड़ी विषम व्यवस्था
हो रही है इसका क्या उपाय करना चाहिए ।

इसमें रतिका परिहरण आदि रूप विभाव[शृंगारमें तो होते ही हैं]उत्पत्ते प्रतिरिक्त]
कहलादिमें भी हो सकते हैं इसलिए उनके शृंगारके प्रति भाव होनेमें सन्देह है [इसे ध्येय लोप
रगदोष मानते हैं । परन्तु प्रयत्नकरके मतमें यह वाच्यदोष है रसदोष नहीं] ॥[२३] १२५ ॥

एव वृत्तियोंके सहायमें रसोंके बाद बहे हुए भावोंके प्रतिपादनका यद्यपि व्यवहार है
किन्तु रसोंके प्रत्यूहमें वहिले स्यादिभावाओंकी कहने हैं ।

[सूत्र १८१]—रति, हास, शोक, शोष, जमाह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और ताम [ये
नौ शृंगारारि पूर्वोक्त नौ] रसोंके प्रथम रसाविभाष तः । [२४] १२६ ।

स्त्री-पुंसयोरास्थाघन्धापरपर्यायोऽन्योन्यमभिष्वंगो 'रतिः' । एषा च कामावस्थानुवर्तिन्या अभिलाषमात्रसाराया व्यभिचारिण्याः, देवतादिषु बन्धुषु मनोहरवस्तुषु च प्रीतिरूपायाश्च रतेर्विलक्षणैव । रञ्जनोन्मादानुविद्धरिचत्तस्य विकासो 'हासः' । निर्वेदानुविद्धं दुःखं 'शोकः' । अपचिकीर्षा-जुगुप्साहेतुः परितापवेशः 'क्रोधः' । धर्म-दान-युद्धादिकर्मण्यनालस्यं 'उत्साहः' । वैकल्यं 'भयम्' । कुत्सितत्वाध्यवसायो 'जुगुप्सा' । उत्कृष्टत्वाध्यवसायो 'विस्मयः' । निःस्पृहत्वं 'शमः' । रसानां शृंगारादीनां स्थायिन परिणामिकारणानि । 'क्रमात्' इति रसोद्देशक्रमेण । तेनामी रसान्तराणां व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च भवन्ति । तत्रैषामागन्तुकत्वेन स्थायित्वाभावात् । सहभावित्वेन पोषकत्वे व्यभिचारिता । कार्यस्वे त्वनुभावता । तथैषां विभावा अनुभावाश्च ये शृंगारादिषु रसेषूक्तास्त एवेति न पृथक् उच्यन्ते ॥ [२४] १२६ ॥

[सू० १८२]—निर्वेद-ग्लान्यपस्मार-शङ्का-ऽसूया-मद-श्रमाः ।

चिन्ता-चापलमावेगो मति-व्याधिःस्मृति-धृतिः ॥

॥ [२५] १२७ ॥

स्त्री और पुरुषका एक-दूसरेके प्रति प्रेम, जिसको दूसरे शब्दोंमें 'आस्थावध' भी कहते हैं, 'रति' कहलाता है । यह [रति] कामावस्थामें रहनेवाली अभिलाषमात्र रूप व्यभिचारिभावात्मक रतिसे, तथा देवतादिके प्रति [प्रेम], बन्धुओंके प्रति प्रेम, और मनोहर वस्तुओंके प्रति प्रीति रूप रतिसे भिन्न प्रकारकी होती है । मनकी प्रसन्नता और उन्माद आदिसे उत्पन्न चित्तका विकास 'हास' कहलाता है । निर्वेदसे युक्त दुःख 'शोक' कहा जाता है । [दूसरेके] अपकार करने तथा [दूसरेसे] घृणा करनेका हेतुभूत सन्तापका आवेश 'क्रोध' कहलाता है । धर्म, दान और युद्धादि कार्योंके प्रति आलस्यका अभाव 'उत्साह' कहलाता है । घबराहटका नाम 'भय' है । कुत्सित होनेका निश्चय 'जुगुप्सा' कहलाता है । उत्कृष्ट होनेका निश्चय 'विस्मय' कहा जाता है । [किसी वस्तुकी प्राप्ति आदिकी] इच्छाका अभाव 'शम' कहलाता है । रसोंके अर्थात् शृङ्गारादिके प्रति स्थायिभाव [अर्थात् रत्यादि परिणामके जनक] परिणामिकारण होते हैं । 'क्रमात्' [यह जो कारिकामें कहा है] इससे रसोंके नाम कोतनके क्रमसे इन [स्थायिभावों]की समझना चाहिए । इसलिए [ये रत्यादि जिस रसके स्थायिभाव माने गए हैं] उससे भिन्न रसोंमें वे व्यभिचारिभाव नथा अनुभाव रूप भी हो सकते हैं । उन [दूसरे रसों] में इन [रत्यादि] के आगन्तुक होनेसे स्थायिभावत्व [इनमें] नहीं बनता है । [रत्यादिके] सहचारी रूपसे रस-पोषक होनेपर उनको व्यभिचारिभाव कहा जाता है । और कार्यरूप होनेपर उनको अनुभाव कहा जाता है । इन [रत्यादि] के विभाव और अनुभाव जो शृंगारादि रसोंमें कहे हैं वे ही [यहाँ स्थायिभावोंमें] होते हैं इसलिए अलग नहीं कहे गए हैं । [अर्थात् शृंगारादि रसोंमें जो विभाव अनुभाव कहे जा चुके हैं वे ही रत्यादि स्थायिभावोंके भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव होते हैं इसलिए यहाँ उनको दुबारा नहीं कहा है] ॥ [२४] १२६ ॥

स्थायिभावोंके बाद अगली तीन कारिकाओंमें व्यभिचारिभाव दिखलाते हैं—

[सूत्र १८२]—१. निर्वेद, २. ग्लानि, ३. अपस्मार, ४. शङ्का, ५. असूया, ६. मद, ७. धम, ८. चिन्ता, ९. चापलता, १०. आवेग, ११. व्याधि, १२. मति, १३. स्मृति, १४. धृति ।

अमर्षो मरणं मोहो निद्रा सुप्तौग्य-दृष्टयः ।

विषादोन्माद-दैन्यानि व्रीडा त्रासो वितर्कणम् ॥

॥ [२६] १२८ ॥

गर्वोत्सुक्यावहित्यानि जाड्यालस्य-विवोधनम् ।

त्रयस्त्रिंशद् यथायोगं रसानां व्यभिचारिणः ॥

॥ [२७] १२९ ॥

‘त्रयस्त्रिंशान्’ इति द्वन्द्वानुवादमात्रम् । अन्येऽपि पुन सम्भवन्ति । यथा क्षुत्-
कृष्णा मैत्री मुदिता श्रद्धा-दया-उपेक्षा रति सन्तोष क्षमा मार्दव - आर्जव - दाक्षिण्यादयः,
तथा म्थायिनोऽनुभावाश्चेति । ‘यथायोगम्’ इति रसोचित्यानतिक्रमेण । तेन कैचित्
साधारणा , कैचित् पुनरसाधारणा । एतच्च यथारसं निर्णयितमेवेति ।

॥ [२५ २७] १२७-१२९ ॥

(१) अर्थेषां प्रत्येकशः स्वरूपप्रतिपादकं लक्षणमुच्यते—

[सूत्र १८३]—निर्वेदस्तत्त्वधीः क्लेशैर्वैरस्यं श्वासतापकृत् ।

क्लेशा दारिद्र्य-ध्याध्यपमानेर्ष्या भ्रमाद्वोशा ताडनेऽप्रियोग परविभूतिदर्श-

१५ अमर्ष, १६ मरण, १७ मोह, १८ निद्रा, १९ सुप्ति, २० हर्ष, २१. उग्रता,
२२ विषाद, २३ उन्माद, २४. दैन्य, २५ व्रीडा, २६ त्रास, २७. वितर्क ।

२८ गर्व, २९ श्रोतसुक्य, ३० अर्थाहित्या [आचार-गोपन], ३१. जडता, ३२.
मालस्य, शौर ३३ विवोध—ये संतीत शोचित्यने अनुसार [यथायोग] रसोके व्यभिचारि-
भाव होने हैं । [२५-२७] १२७-१२९ ।

संतीत कहनेसे इस [तीस और तीन] द्वन्द्व [समाससे संतीत सत्यावा] अनुवादमात्र
किया गया है । किन्तु इनके प्रतिरिक्त अर्थ [व्यभिचारिभाव] भी हो सकते हैं । जैसे—भूल,
प्यास, मंत्रो, मुदिता, श्रद्धा, दया, उपेक्षा, रति, सन्तोष, क्षमा, श्रुतता, सरलता, दाक्षिण्य
आदि । और स्याविभाव तथा अनुभाव [भी व्यभिचारिभाव हो सकते हैं । ये सब इन ३३
से अलग हैं । इसलिए ३३ सत्या केवल पूर्ववर्षित सत्यावा अनुवादमात्र है] । ‘यथायोगम्’
इतका अभिप्राय यह है कि रसके शोचित्यके अनुसार [इनमेसे कौन कहां किस रसमें व्यभि-
चारिभाव है इसका निर्णय करना चाहिए] । इसलिए कुछ [व्यभिचारिभाव अपने-
अपने रसोंमें
तमान रूपसे विद्यमान रहनेके कारण] साधारण होते हैं और कुछ [निश्चित रूपसे किसी
विशेष रसमें ही रहनेके कारण] असाधारण होते हैं । इस बातका निर्णय रसोंके प्रसङ्गमें कर
ही चुके हैं ॥ [२५-२७] १२७-१२९ ॥

(१) अर्थ वचना इनके स्वरूपके प्रतिपादक सञ्ज्ञा करते हैं—

[सूत्र १८३]—तद्व्यस्तान् [परक वित्तवृत्ति] ता नाम ‘निर्वेद’ है । यह क्लेशोक्ति
अपन विरक्तानके कारण होता है और श्वासा तथा तापका कारण होता है ।

क्लेश अर्थान् दरिद्रता, व्याधि, अपमान, ईर्ष्या, भ्रम, पतवार [पाशोन्], मार,
दृष्टिविषय, दुस्तरोंके देखवय दर्शन आदि । तद्व्यस्तानादि अर्थ विभावोंके जो संरस्य यह ‘निर्वेद’

नादयः । तत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैर्यद् वैरस्यं स निर्वेदः । स च निःश्वास-सन्तापयो-
रुपलक्षणत्वादन्येषां च चिन्ताश्रु-वैषर्ण्य-दैन्यादीनांमनुभावानां कारक इति । अयं च
रसेष्वनियतत्वात् कादाचित्कत्वाच्च व्यभिचारी न स्थायी । एवमन्येष्वपि वाच्यम् ।

मम्मटस्तु व्यभिचारिकथनप्रस्तावे निर्वेदस्य शान्तरसं प्रति स्थायितां, 'प्रतिकूल-
विभावादिपरिग्रहः' इत्यत्र तु तमेव प्रति व्यभिचारितां च, ब्रुवाणः स्वयचनविरोधेन
प्रतिहत इति ।

(२) अथ ग्लानिः—

[सूत्र० १८४]—ग्लानिः पीडा जराऽऽयासैः, अशक्तिः कार्श्यं—

कम्पभाक् ॥ [२८] १३० ॥

'पीडा' व्याधि-यमन-विरेक-क्षुत्-पिपासादिभिरनेकधा काय-मनोदुःखम् । 'आ-
यासो' व्यायामाध्वगति-सुरतादिभिः कायक्लेशः । पीडा-जराऽऽयासैरुपलक्षणादन्यैश्च ।
निद्रोच्छेदमनस्तापादिभिर्विभावैर्याऽशक्तिः सामर्थ्याभावः सा 'ग्लानिः' । कार्श्यं काय-
क्षामता । कार्श्यं-कम्पावुपलक्षणत्वात् क्षामवाक्य-मन्दपद्मोत्तेप-वैषर्ण्य-अनुत्साहा-
दींश्चानुभावान् भजत इति ॥ [२८] १३० ॥

कहलाता है । और वह निश्वास और सन्तापका, तथा उनके उपलक्षणरूप होनेसे चिन्ता,
अश्रु-विवर्णता दैन्यादि अन्य अनुभावोका भी जनक होता है । यह [निर्वेद] रसोंमें नियत न
होनेसे और कादाचित्क होनेसे व्यभिचारिभाव होता है । इसी प्रकार अन्य [व्यभिचारिभावों]
में भी [अनियतत्व और कादाचित्कत्व होनेके कारण ही उनका व्यभिचारिभावत्व] समझना
चाहिए ।

[काम्यप्रकाशकार] मम्मटने तो व्यभिचारिभावोके निरूपणके प्रसङ्गमें निर्वेदको
शान्तरसका स्थायिभाव कहा है और 'प्रतिकूलविभावादिग्रह' रूप रस बोधके प्रसंगमें उसी
[शान्तरस] के प्रति [निर्वेद] के व्यभिचारिभावत्वका प्रतिपादन करके स्वयं ही अपने कथनका
लण्डन कर लिया है ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि निर्वेद स्थायिभाव नहीं होता है । सदा व्यभिचारिभाव
ही होता है । मम्मटने जो व्यभिचारिभावोके निरूपणके प्रसङ्गमें निर्वेदको स्थायिभाव माना
है वह अनुचित है । और आगे स्वयं उनके कथनसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि निर्वेद शान्-
तरसका स्थायिभाव नहीं अपितु केवल व्यभिचारिभाव है । उस दशममें शान्तरसका स्थायिभाव
'शम' होगा । इसलिए यहाँ ग्रन्थकारने शमको ही शान्तरसका स्थायिभाव माना है ॥

(२) [सूत्र १३४]—अथ ग्लानि [का लक्षण करते हैं]—

पीडाका नाम ग्लानि है । यह धार्ढ्य और थम आदि विभावों [कारणों] से उत्पन्न
होती है और कृशता तथा कम्प आदि [अनुभावों]को उत्पन्न करनेवाली होती है ॥ [२८] १३० ॥

व्याधि, यमन, विरेचन, भूख, प्यास आदिके द्वारा अनेक प्रकारसे शारीरिक, मान-
सिक दुःखका नाम 'पीडा' है । व्यायाम, मार्गमन और सुरतादिसे होनेवाला शारीरिक क्लेश
'आयास' [कहलाता] है । पीडा, धार्ढ्य और प्रायासादिसे तथा उनके उपलक्षणरूप होनेसे
निद्रा न घाने, मानसिक सन्ताप आदि अन्य विभावोंसे जो अशक्ति होती है वह 'ग्लानि'
कहलाती है । कृशता धर्मात् शारीरिक दुर्बलता । [और वह कम्पकी जनक होती है] ।

(३) अथापस्मार —

[सू० १८५]—वैकल्यं ग्रह-दोषेभ्योऽपस्मारो निन्द्यचेष्टितः ।

‘ग्रहा’ परग्रहणशीला पिशाचाद्या । धातुवैषम्य दोष । बहुवचनादुच्छिष्ट-
शून्यस्थानसेवनाशुचिसम्पर्कवैर्यद् वैकल्य कृत्याकृत्याविवेकत्व सोऽपस्मार । निन्द्य
विगदितं सहसा भूमिपतन-फेनमोक्ष नि श्वसन धावन प्रवेपन स्तम्भ स्वेदादिक चेष्ट
तमत्रेति ॥

(४) अथ शका—

[सू० १८६]—शङ्का स्व-परदौरात्म्याद् दोलनं श्यामतादियुक्

॥ [२६] १३१ ॥

दौरात्म्यमकार्यकरणम् । उपलक्षणत्वान्चास्य सादृश्यादयोऽपि विभावा ग्राह्या ।
दोलन क्षीम-सन्देहाभ्यामनवस्थित्व चेतस । आदिशन्दान् मुहुरवलोकन-अवगुण्ठन-
मुखौष्ठ-कण्ठशोष-जिह्वापरिलेहन-बेषधु चलदृष्टित्वाद्योऽनुभावा गृह्यन्ते इति ।
॥ [२६] १३१ ॥

(५) अथासूया—

काश्यं तथा कम्पके उपलक्षणरूप होनेसे आवाज न निकलना, पैर धीरे उठना, विवरंता और
प्रनुत्साह आदि अनुभावोंको भी बोधित करते हैं ॥ १३० ॥

(३) अथ अपस्मार का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १८५] [पिशाचादि रूप] ग्रहों तथा [वात-पित्तादि रूप] दोषोंको विषमतासे
उत्पन्न बेषधेनो ‘अपस्मार’ कहलाता ही और वह [भूमिपतन आदि रूप] गहित ध्यापारसे
युक्त होता है ।

दूसरोंको पकड़ लेनेवाले पिशाचादि ‘ग्रह’ कहलाते हैं । वात, पित्त, कफ रूप धातुघ्नो-
की विषमता ‘दोष’ कहलाती है । [दोषेभ्यो इति] बहुवचनसे उच्छिष्ट खाने, निर्जन स्थानमें
रहने, और गन्धे पदार्थोंसे सम्पर्क रखनेसे जो विकलता मर्यादा कर्तव्य और अकर्तव्यका निश्चय
न कर सकना वह ‘अपस्मार’ कहलाता है । ‘निन्द्य’ अर्थात् गहित सहसा भूमिपर गिर पड़ना,
फेन गिराने लगना, जोरसे इबास लेने लगना, दोड़ना, काँपना, कडा पड़ जाना और पत्तीना
पाने लगना आदि चेष्टाएँ इसमें होती हैं ॥

(४) अथ ‘शङ्का’ [रूप अविचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १८६]—अपने या दूसरेके दुष्प्रसंगे [मनका] कम्पन शङ्का कहलाती है । और
वह श्यामता आदिको उत्पन्न करनेवाली होती है ॥ [२६] १३१ ॥

‘दौरात्म्य’ अर्थात् अनुचित कार्योंका करना [दौरात्म्य पदके] उपलक्षण रूप होनेसे
[सर्पादिसे उत्पन्न शङ्कामें रज्जु आदि रूप] सादृश्य आदि विभावोंका भी ग्रहण करना
आहिये । इस तथा गन्धेहके कारण मनकी अस्थिरता ‘दोलन’ कहलाती है । आदि शब्दसे
बार-बार देहना, मुँह टक सेना, मुख, ओष्ठ बण्ठना भूल जाना, जीभ घसाना, काँपना,
पचल दृष्टि आदि अर्थ अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ॥ [२६] १३१ ॥

(५) अथ ‘असूया’ [का लक्षण करते हैं]—

[सू० १८७]—द्वेषादेः सद्गुणाक्षान्तिरसूया दोषदर्शनी ।

आदिशब्दादपराध-गर्व-परसौभाग्य-पेशवर्य-विद्या-लीलादर्शनादिग्रहः । सद्गुणा ज्ञान-क्रियादयो विशिष्टधर्माः । एषा च दोषान् वञ्चकत्वादीनसतः सती वा दर्शयति । उपलक्षणात् भ्रूंसंग-अवज्ञा-गुणनिहव-मन्यु-क्रोधादयोऽनुभावा गृह्यन्ते इति ॥

(६) अथ, मदः—

[सू० १८८]—ज्येष्ठौ मुग्धो मद्यात्, निद्रा-हास्याश्रु कृत् क्रमात्

॥ [३०] १३२ ॥

ज्येष्ठ उत्तमः । आदिशब्दान्मध्यमाधमौ गृह्येते । निद्रया रिमत-मधुरास्वराग-रोमहर्ष-ईषद्व-याकुलवचन-सुकुमारगत्यादयः, हास्येन स्वलन-धूर्णन-बाहुसू-सन-कुटिल-गमनादयः, अश्रुणा च निष्ठीवन-जिह्वास्वलन-स्मृतिनाश-मतिभ्रंश-छर्दित-हिक्का-कफादयो गृह्यन्ते । 'क्रमात्' इति उत्तमादौ यथासंख्यं निद्रादयोऽनुभावाः । नाट्ये च रञ्जनां निमित्तमापानमपि क्वचिदभिनीयते । तत्र च मदो व्यभिचारी सम्भवति । यत्र पुनः पात्रं पीतमद्यमेव प्रविशति, तस्य त्रासादिना मदोऽपनेयोऽन्यथा कार्यव्याघातः स्यादिति ॥ [३०] १३२ ॥

[सूत्र १८७]—द्वेषादिके कारणे [किसी दूसरेके] सद्गुणोंको सहन न कर सकना 'असूया' कहलाता है और यह [सदा दूसरेके] दोषोंको देखने वाली होती है ।

आदि शब्दसे अपराध, गर्व, दूसरेके सौभाग्य, या विद्या, या लीला आदिके दर्शनका ग्रहण होता है । सद्गुण अर्थात् ज्ञान, क्रिया आदि विशिष्ट धर्म । यह [असूया] विद्यमान या अविद्यमान वञ्चकत्वादि दोषोंको देखने वाली होती है । [दोषदर्शनी पदके] उपलक्षण रूप होनेसे भ्रू-भङ्ग, अपमान, गुणोंका छिपाना, मन्यु तथा क्रोध, आदि [असूयाके] अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ।

(६) अब मद व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र, १८८]—ज्येष्ठ आदि [अर्थात् उत्तम, मध्यम या अधम प्रात्रों] में मद्य-जन्य और निद्रा, हास्य तथा रोदनको उत्पन्न करनेवाला आनन्द 'मद' कहलाता है ॥ [३०] १३२ ॥

ज्येष्ठ अर्थात् उत्तम । आदि शब्दसे मध्यम तथा अधमका भी ग्रहण होता है । निद्रा पदसे मुस्कराहट, चेहरेपर हलकी लालिमा, रोमांच हो आना, अस्त-व्यस्त वचन और सुकुमार गति आदिका, 'हास्य' पदसे गिरना चक्कर खाना, हाथ ढीले हो जाना और लड़खड़ाना आदि, तथा 'अश्रु' पदसे यूकना, जीभ चटकारना, स्मृतिनाश, गतिभ्रंश, वमन, हिक्की, कफ आदिका ग्रहण भी होता है । 'क्रमात्' इससे यह अभिप्राय है कि उत्तम आदि में क्रमशः निद्रा आदि अनुभाव होते हैं । [अर्थात् मदसे उत्तममें निद्रा, मध्यममें हास्य तथा अधममें रोदन होता है] । स्वामीके मनोरंजनके लिए कभी मद्यपानका भी अभिनय किया जाता है । उनमें मद व्यभिचारिभाव होता है । जो पात्र मद्यपान किए हुए ही अभिनय करने के लिए आता है उसका मद तो भयादि द्वारा दूर कर देना चाहिए नहीं तो [अभिनय] कार्य में विघ्न पड़ेगा ॥ [३०] १३२ ॥

(७) अथ श्रमः—

[सूत्र १८६]—श्रमो रत्तादिभिः सादः स्वेद-श्वासादिकारणम् ।

आदिशब्दादध्वगति-ध्यायामादेर्विभावस्य ग्रहः । सादोऽङ्गादीनां शोषः । द्वितीयादिशब्दान्मुखविकृण्ण-विजृम्भण-श्रममर्दन-मन्दपदोत्क्षेपादेरनुभावस्य ग्रह इति ॥

(८) अथ चिन्ता—

[१६०]—प्राधिश्चिन्ता प्रियानाप्लेः शून्यता-श्वास-काश्ययुक्

॥ [३१] १३३ ॥

आधिर्मानसी पीडा । प्रियस्येष्टन्याप्राप्तिः अप्रियाप्राप्तिर्वा प्रियानाप्लि । शून्यता विकृतेन्द्रियता । उपलक्षणत्वादेकाग्रदृष्टिच-स्मृत्यादयोऽप्यनुभावा इति ॥ [३१] १३३ ॥

(९) अथ चापलम्—

[सूत्र १६१]—चापलं साहसं राग-द्वेषादेः स्वैरितादिमत् ।

साहसमविमृश्यकारिता । आदिशब्दाज्जाड्यादेर्महः । स्वैरित्वं स्वच्छन्दा-धारः । आदिशब्दाद् वाक्पारुष्य-ताडन-वध-वन्धादेरनुभावस्य ग्रह इति ।

(७) अथ श्रम [रूप व्यवहारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १८६]—रमण करने आदिके कारण उत्पन्न यकायट 'श्रम' कहलगाता है ।

घोर यह स्वेद तथा श्वासादिका कारण होता है ।

[रत्तादिमें] 'आदि' शब्दसे मार्गमन घोर व्यायाम आदि विभावोंका ग्रहण होता है । 'सादः' अर्थात् शरीरादिका शोष । [श्वासादिकारणम् मे आण्टुए] दूसरे 'आदि' शब्दसे पुह सिक्कना, जन्माई, झङ्गोंकी मलिनता, घीरे-घीरे पर उठाना आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है ।

(८) अथ चिन्ता [रूप व्यवहारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६०]—इष्ट वस्तुकी प्राप्ति न होने [अथवा अनिष्टकी प्राप्ति होने] से उत्पन्न मानसी पीडाको 'चिन्ता' कहते हैं । यह इन्द्रियोंकी विकसता श्वास और श्रुता आदिकी जननी होती है । [३१] १३३ ॥

'प्राधि' अर्थात् मानसिक पीडा । प्रिय अर्थात् इष्टकी अप्राप्ति अथवा अप्रियकी प्राप्ति [बोनेसे ही चिन्ता उत्पन्न होती है] । शून्यताका अर्थ इन्द्रियोंकी विकसता है । घोर उप-सक्षणभूत होनेसे यह उससे टकटकी लगाना, याद घाना आदि अनुभावोंका भी ग्रहण होना है ॥ [३१] १३३ ॥

(९) अथ चापलता [नामक व्यवहारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६१]—रागद्वेषादिके [अतिरेकसे] कारण बिना विचारे जो कार्य करने लगना है वह [अविमृश्यकारिता रूप साहस] 'चापलता' कहलाता है । घोर यह स्वैरिच्छाधरिता धारिकी जननी होती है ।

'साहस' अर्थात् बिना सोचे-सपने कार्य करना । [पहले] 'आदि' शब्दसे जडना आदिका ग्रहण होता है । स्वच्छन्द आधरता 'स्वैरिता' है । [दूसरे] 'आदि' शब्दसे बगोर

(१०) अथावेगः—

[सूत्र १६२]—आवेगः सभ्रम्मोऽतर्क्यात् विकर्ताऽङ्ग-मनो-गिराम् ॥

[३२] १३४ ॥

सभ्रमः संक्षोभः । अतर्क्यं अचिन्तितोपनतमिष्टमनिष्टं वा । तत्रेष्टं देवता-गुरु-मान्य-वल्लभ-सम्पच्छरण-दृष्ट्यादि । अनिष्टमग्नि-भूकम्पाद्युत्पात-वात-वर्ष-कुञ्जर-चोर-सर्पामनोऽश्रवणदर्शनादि । तत्राभ्युत्थान-पुलकालिङ्गनवस्त्रादिप्रदानादयः प्रियाः, सर्वाङ्गस्ततामुखवैवर्ष्य-पिण्डीभाव-प्रधावन-आकुलनेत्रता- त्वरितापसरण - पश्चादवलोकन-शस्त्रादिग्रहण-उर्वोपतन-कम्प-स्वेद-स्तम्भादयो अप्रियाश्चाङ्गिका । हर्ष-विस्मयादयः प्रियाः, शंका-विपाद-भयादयोऽप्रियाश्च मानसाः । स्मृति-चाटुकारांसावाक्यादयः प्रियाः, क्रन्दन-परिदेवन-असम्बन्धवचनादयश्चाप्रिया वाचिका विकारा यथायोगं प्रियाप्रियातर्क्यवस्तुजावेगस्यानुभावाः । सर्वेऽप्येते विकारा उत्तमस्य स्थैर्यानुविद्धाः, नीचस्य तु चापलानुविद्धा इति ॥ [३२] १३४ ॥

(११) अथ मतिः—

[सूत्र १६३]—प्रतिभानं मतिः शास्त्र-तर्काद् भ्रांतिच्छिदादिकृत् ।

यवन, मार-पीट करने और बध-बन्धन आदिका ग्रहण होता है ।

(१०) अब आवेग [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६२]—अकस्मात् उपस्थित हो जाने वाले [इष्ट या अनिष्ट] से उत्पन्न क्षोभ 'आवेग' कहलाता है । और शरीर, मन तथा वाणीमें विकारका जनक होता है ॥ [३२] १३४ 'सभ्रम' अर्थात् संक्षोभ । 'अतर्क्य' अर्थात् जिसको सोचा भी नहीं या इस प्रकारके इष्ट या अनिष्टका अकस्मात् उपस्थित हो जाना । उसमें [अतर्वर्षोपनत] 'इष्ट' से देवता, गुरु, मान्य, प्रिय अथवा सम्पत्तिकी प्राप्तिका सुनना आदि [गृहीत होता है] । 'अनिष्ट'से प्राप लग जाना, भूकम्प आदिका उत्पात, सर्पों-पानी, हाथी, चोर, साँप और अरुचिकर बातका सुनना या [अरुचिकर दृश्यका] देखना आदि [गृहीत होता है] । उनमें भी अभ्युत्थान रोमाञ्च, आलिङ्गन और वस्त्र-प्रदान आदि प्रिय, और सारे अङ्गोंका शिथिल हो जाना, मुख पीला हो जाना, पिण्डीभाव, दीङ्गन, नेत्रोंमें धवराहट बोलना, जल्दोसे हट जाना, लोट-लोटकर पीछे देखना, शस्त्रादि उठाना शृण्वीपर गिर जाना, कम्पन, स्वेद और शरीरकी निष्क्रियता आदि अप्रिय अङ्गिक [अनुभव] होते हैं । हर्ष-विस्मय आदि प्रिय, शंका, विपाद, भय आदि अप्रिय मानसिक [अनुभव] होते हैं । प्रशंसा, चापलूसी शुभांकांक्षाके वाक्य आदि प्रिय, तथा और असम्बद्ध प्रलाप करना आदि वाचिक विकार, यथायोग्य प्रिय-अप्रिय रूप [अतर्क्य रोना-विलाप करना अर्थात्] अकस्मात् उपस्थित होने वाले वस्तुओंसे उत्पन्न आवेगके अनुभाव होते हैं । ये सभी विकार उत्तम पुरुषोंमें धर्मसे युक्त और नीच [पात्रों] में चपलतासे युक्त रहते हैं ॥ [३२] १३४ ॥

(११) अब मति [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६३]—शास्त्र [के चिन्तन] तथा तर्कसे उत्पन्न होने वाली नयनबोग्गेश-आलिनी प्रजा 'मति' कहलाती है । और वह भ्रमोच्छेदन आदिकी जननी होती है ।

नवनयोल्लोमशालिनी प्रह्ला प्रतिभानम् । शास्त्रं शास्त्रविषयं चिन्तनम् । तर्कं
विधि-निषेधविषयो सम्भावनाप्रत्ययो अन्वय-व्यतिरेकप्रत्ययो वा । भ्रान्तिः मंशयो
विषययो वा । आदिशब्दादुपदेशादिग्रहः इति ॥

(१२) अथ व्याधि—

[सूत्र १६४]—दोषेभ्योऽङ्ग-मनःबलेषु व्याधिः स्तनित-कम्पवान्

॥ [३३] १३५ ॥

दोषाः कफत्यात-पित्त-सन्निपातादयः । स्तनितमार्तस्वरः । उपलक्षणान्मुग्शोप-
दन्तरीणावादन-शीताभिलाप-विक्षिप्तांगता-संतापादयोऽप्यनुभाषा गृह्यन्ते इति ॥
[३३] १३५ ॥

(१३) अथ मृतिः —

[सूत्र १६५]—दृष्टाभासः स्मृतिस्तुल्यदृष्ट्यादेभ्रं न्ततिक्रिया ।

दृष्टाभासः पूर्वं दृष्टमिति ज्ञानम् । तुल्यदृष्टिः सदृशदर्शनम् । आदिशब्दान्
मदृशाश्रयण-चिन्ता-संस्कार-रात्रिपश्चाद्भागनिद्रोच्छेद-प्रणिधान-पुनःपुन परिशीलन-
पूर्वं दर्शनपाटवादेर्विभावस्य ग्रहः । भ्रं न्तनेर्ध्रुव उर्ध्वक्षेपस्य । उपलक्षणान्द्विर-कम्पना-
यलोरुनादेश्चानुभावस्य क्रिया निष्पत्तिर्यस्याः, मा तथेति ॥

(१४) अथ धृतिः —

[सूत्र १६६]—धृतिज्ञानिष्टलाभादेः सन्तुष्टिर्देहपुष्टिक्त् ॥ [३४]

१३६ ॥

ज्ञानं विवेकज्ञानं ब्राह्मश्रुत्यं वा । इष्टस्येप्सितस्य लाभः प्राप्तिः । आदिशब्दान् शौचाचरण-क्रीडा-देवतादिभक्ति-विशिष्टशक्त्यादेर्विभावस्य ग्रहः । देहपुष्टिरुपलक्षणं गताननुशोचनादीनामनुभावानामिति ॥ [३४] १३६ ॥

(१५) अधामर्षः —

[सूत्र १६७]—क्षेपादेः प्रतिकारेच्छ्याऽमर्षोऽस्मिन् कम्पनादयः ।

क्षेपस्तिरस्कारः । आदिशब्दादपमानादेर्विभावस्य ग्रहः । अपकारिणि स्वयमपकरणाभिलाषः प्रतिकारेच्छा । परस्यापकाराभावेऽपि परानर्थकरणाभिप्रायरूपः क्रोध इत्यनयोर्भेदः । अस्मिन्नमर्षे । आदिशब्दाद्दोधोमुखचिन्तन-प्रस्वेद-उत्साह-ध्यानोपायान्वेषण-तर्जन-ताडनादीनामनुभावानां ग्रह इति ॥

(१६) अथ मरणम्—

[सूत्र १६८]—व्याध्यादेर्मृत्युसङ्कल्पो मरणं विकलेन्द्रियम् ॥ [३५]

१३७ ॥

(१४) अथ धृति [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४६]—ज्ञान अथवा इष्टप्राप्ति आदिसे उत्पन्न सन्तोष 'धृति' है । और वह शरीरकी पुष्टि आदिका करने वाला होता है । [३४] १३६ ।

ज्ञान अर्थात् विवेकज्ञान अथवा बहुश्रुतता । इष्ट अर्थात् मनचाही वस्तुका लाभ अर्थात् प्राप्त होना । आदि शब्दसे शुद्धाचरण क्रीडा [मनोरंजन], देवताओंकी भक्ति, विशेष शक्ति आदि कारणों [विभाव] का ग्रहण होता है । देहपुष्टि शब्द, बीती बातका शोक न करने आदि अनुभावोंका भी उपलक्षण है ॥ [३४] १३६ ॥

(१५) अथ अमर्ष [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४७]—तिरस्कार आदिके कारण उत्पन्न बदला लेनेकी इच्छा 'अमर्ष' है । इससे कम्पन आदि [अनुभाव] होते हैं ।

क्षेप अर्थात् तिरस्कार । आदि शब्दसे अपमानादि विभावोंका ग्रहण होता है । अपकारीके प्रति स्वयं उसका अपकार करनेकी इच्छा 'प्रतिकारेच्छा' कहलाती है । दूसरेके द्वारा अपकार न किए जानेपर भी दूसरेको हानि पहुँचानेका अभिप्राय 'क्रोध' कहलाता है । यह इन दोनोंका भेद है । इसमें अर्थात् अमर्षमें । आदि शब्दसे सिर नीचा करके सोचना, पसीना धरना, उत्साह, ध्यान, उपायोंके खोजने, फटकारने, पीटने आदि अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ।

(१६) अथ मरण [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १४८]—व्याधि आदिके कारण मरनेकी इच्छा करना 'मरण' कहलाता है [अर्थात् यहाँ मरण शब्दसे प्राण निकल जाने रूप वास्तविक मरणका ग्रहण नहीं होता है । क्योंकि नाटकमें वास्तविक मरणका दिखलाना निषिद्ध माना गया है] । और वह इन्द्रियोंको विकल करने वाला होता है । [३५] १३७ ।

व्याध्यादयो वात-पित्त-श्लेष्मण्यैषम्य-ज्वर-विचचिका-पिटकादयः । आदि-
शब्दान् शस्त्राभिघात-विषपान-अहिदंश-श्वापद-राज-नुरगाद्याक्रमण-वाह्नोच्चस्थान-
पतनादेर्विभावस्य ग्रहः ।

‘मृत्युसंकल्पो’ दुष्प्रतिकारोऽयमनर्थस्तरमादवश्यं मरिष्यामीत्यध्यवसायः ।
विकलानि स्वविषयग्रहणं प्रत्यममर्थानीन्द्रियाणि यस्मिन् । उपलक्षणाद् विह्वलचेष्टित-
हृिकका-निःश्वास-परिजनानवेक्षण - अव्यक्ताक्षरभाषण - वदनदैन्य-सदसामूमिपतन-
कम्पन - स्फुरण-कार्य - फेन-जाड्य - हस्तम्बन्धभङ्गानपेक्षितगात्रसञ्चारादयोऽनुभावा
गृह्यन्ते । प्राणनिरोधरूपं तु मरणं न नाट्ये प्रयोज्यमिति, न तस्य विभावानुभावस्य-
रूपाणि प्रतिपाद्यन्त इति ॥ १३७ ॥

(१७) अथ मोहः —

[सूत्र १६६]—अचैतन्यं प्रहारादेर्मोहोऽप्राधूर्णनादयः ।

‘अचैतन्यं’ प्रवृत्ति-निवृत्तिज्ञानाभावो न तु सर्वथा गतचेतनत्वम् । ‘प्रहारो’ मर्म-
ण्यभिघातः । आदिशब्दान् तीव्रवेदना-अशक्यप्रतिकार-चौर-राजा-अहि-व्याघ्राणा-
क्रमण-देशविप्लव-अग्न्युदकाशुपघात-वैरिदर्शन-श्रवणादेर्विभावस्य ग्रहः । अत्र मोहे ।
आदि शब्दान् भ्रमण-पतनेन्द्रियाव्यापारादेरनुभावस्य ग्रहः ।

व्याधि अर्थात् वात, पित्त कफके वषट्पते उत्पन्न ज्वर विचचिका साज और फोडा-
कुन्तो आदि । आदि शब्दसे शस्त्रप्रहार, विषपान, साँपके काटने, हिल जन्तुओं, हाथी, घोड़े
आदिके आक्रमण, सवारों अथवा ऊँचे स्थानसे गिरने आदि विभावोंका ग्रहण होता है ।

[वास्तवमें तो मरनेको इच्छा भी कोई नहीं करता है इसलिये] मृत्युसंकल्पसे यहाँ,
यह प्राप्त होती है जिसका प्रतिकार असंभव है इसलिये अथव्य ही मर जाऊँगा इस
प्रकारका निश्चय [मृत्युसंकल्प पदसे गृहीत होता है] । विकल अर्थात् अपने विषयको ग्रहण
करनेमें असमर्थ इन्द्रियाँ जिसमें हो जाती हैं [यह मृत्युसंकल्प विकलेन्द्रिय मरण रूप हुआ] ।
उसके उपलक्षण रूप होनेसे विह्वल चेष्टाओं, हिचकी, निश्वासा, परिश्रमोंको न देखने, अस्पष्ट
शब्दोंका उच्चारण, चेहरेकी बीनता, सहसा पृथिवीपर गिर पड़ने, कानोंसे लगने, फट्फटने, कृशता,
फेन डालने, जडता, हाथ कण्ठ आदिके टूटने-फूटनेकी चिन्ता न करके अज्ञानोंके संचालन आदि
अनुभावोंका ग्रहण होता है । प्राण बन्द हो जाना रूप [वास्तविक] मरण तो नाटकमें नहीं
दिलसलाना चाहिए । इसलिये उसके विभाव और अनुभावोंके स्वरूपोंको यहाँ प्रतिपादन नहीं
किया है ॥ [३४] १३७ ॥

(१७) अथ मोह [रूप व्यभिचारिभाव का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र १६६]—प्रहार आदितो उत्पन्न अचैतन्य ‘मोह’ बहुलाता है । इममे अक्षर-
पाना आदि होता है ।

अचैतन्यका अर्थ [अर्थात् य अचैतन्ये] प्रवृत्ति निवृत्तिके ज्ञानका न रहना है । सर्वथा
अज्ञानका अभाव [अचैतन्य शब्दसे विवक्षित नहीं है] प्रहार अर्थात् मर्मस्थलपर घाघात ।
आदि शब्दसे तीव्र वेदना, जिनका प्रतिकार असंभव न हो इन प्रकारके चौर, राजा, गरुड़, व्याघ्र
आदिके आक्रमण, देश-विप्लव, आग-पानी आदिके उपद्रव, शत्रुके शिथिलताई देने अथवा मुनाई
देने आदि विभावोंका ग्रहण होता है । इममें अर्थात् मोहमें । आदि शब्दसे अक्षर-
पाना

(१८) अथ निद्रा —

[सूत्र २००]—इन्द्रियाव्यापृतिनिद्रा, खेदादेर्मुर्द्धकम्पनी ॥

[३६] १३८ ॥

इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, न तु मनः, तस्य निद्रायामपि व्यापारात् । 'अव्यापृति'-विषयग्रहणोपरतिः । आदिशब्दादालस्य-दौर्बल्य-रात्रिजागरण-अत्याहार-मद-श्रम-क्लम-चिन्ता-शयालतादेर्विभावस्य ग्रहः । मूर्द्धकम्पनेन जृम्भण-वदनविकास-निःश्वास-नेत्रघूर्णन-अङ्गभङ्ग-अक्षिमीलन-सर्व क्रियामम्मोहादयोऽनुभावा उपलक्ष्यन्त इति ॥ [३८] १३८ ॥

(१९) अथ सुप्तम्—

[सूत्र २०१]—सुप्तं निद्राप्रकर्षोऽत्र स्वप्नायित-खमोहने ।

'प्रकर्षो' गाढतमावस्था । स्वप्नस्य तात्कालिकविषयज्ञानस्य आयितं प्रतीति-र्यतस्तत् 'स्वप्नायितं' प्रलपितम् । खानां मनःपष्ठानामिन्द्रियाणां मोहनमतिशयेन विषयवैमुख्यम् । निद्रायां मनसोऽवधानमस्ति । अत्र तु तदपि मनागुपकृत्यत इति भेदः । विभावास्तु निद्रागता एवात्र प्राह्याः ॥

गिरने और इन्द्रियोंके व्यापारके अभाव आदि अनुभावोका ग्रहण होता है ।

(१८) अब निद्रा [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २००] यकावट आदिसे उत्पन्न इन्द्रियोंके व्यापारका अभाव 'निद्रा' कहलाता है । उससे सिर हिलने लगता है । [३६] १३८ ।

इन्द्रियोसे त्वचा आदि [जानेन्द्रियोंका ही ग्रहण करना चाहिए] मनका नहीं । क्योंकि उसका व्यापार तो निद्राकालमें भी होता रहता है । व्यापारका अभाव अर्थात् [इन्द्रियोंका] विषयोंके ग्रहणसे हट जाना । आदि शब्दसे आलस्य, दौर्बल्य, रातमें जगने, अधिक भोजन, मदके सेवन, परिश्रम, यकावट, चिन्ता, सोनेके स्वभाव आदि [निद्राके विभावों अर्थात्] कारणोंका ग्रहण होता है । सिर हिलानेसे जम्हाई घाने, लम्बी निःश्वास छोड़ने, आँखें घुमाने, अंगड़ाई घाने, आँखें भपकने और सारी क्रियाओंको भूल जाने आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है ॥ [३६] १३८ ॥

(१९) अब सुप्त [नाम व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०१]—प्रबल निद्राका अना 'सुप्त' [नामक व्यभिचारिभाव] कहलाता है । इस में बराना-[स्वप्नायित] और मन सहित सब इन्द्रियोंका विषयोसे अत्यन्त वैमुख्य [मोहन] हो जाता है ।

[निद्राका] प्रकर्ष अर्थात् गाढतम अवस्था । स्वप्नकी अर्थात् उस समय [स्वप्नमें होने वाले] ज्ञानकी 'आयित' अर्थात् प्रतीति जिसमें ही उस बरानेको 'स्वप्नायित' कहते हैं । 'ख' अर्थात् मनके सहित [पाँचों कुल मिलाकर] छहों इन्द्रियोंका 'मोहन' अर्थात् विषयोसे अत्यन्त विमुखता । निद्रामें मनकी वृत्ति रहती है यहाँ [सुप्तमें] तो वह भी बिल्कुल निरुद्ध हो जाती है । यह [निद्रा और सुप्त इन दोनोंका] भेद है । निद्रामें कहे हुए विभाव ही यहाँ [सुप्तके भी कारण] समझने चाहिए ॥

(२०) अर्थीप्रथम —

[सूत्र २०२]—दुष्टेऽपराधान्नेर्घृण्यं श्रौत्र च' बन्ध-वधादिभिः

॥ [३७] १३६ ॥

'दुष्टे' हिंस्रत्वानृतवादित्व-व्यञ्जकत्वादियुक्ते । अपराधात्कार्यकारित्वाद् दौर्मुग्य-चौर्यादिरूपाद् विभावाद् यद् राजादेर्नेर्घृण्यं निर्दयत्वं तदर्थप्रथम । तन्व्य बन्ध-वधाभ्याम् । आदिशब्दान् ताडन-निर्भर्त्सन-म्बेद-शिरःकम्पादिभिरनुभावैरभि-नेतव्यमिति ॥ [३७] १३६ ॥

(२१) अथ हर्ष. —

[सूत्र २०३]—हर्षः प्रसत्तिरिष्टाप्तेरत्र स्वेदाश्रु-गद्गदाः ।

'प्रसत्ति'श्चेतोविक्राम । 'दुष्ट' प्रियमयोगाप्रियमयोगनिवृत्ति-देव-गुरु-राज-भर्तृ प्रसाद-भोजनान्छादन धन पुत्रादिलाभ पुत्रादिगतहर्ष विषयोपभोगोन्मथार्द्रि । 'गद्गदो' वाष्पस्त्रद्धकण्ठस्य वात् । उपलक्षणान् पुलक प्रियभाषण नेत्रमुखप्रसादादेर-नुभावस्य ग्रह इति ।

(२२) अथ विपाद —

[सूत्र २०४]—विपादस्तान्तिरिष्टस्यानाप्तेनिश्वासचिन्तनैः ॥

[३८] १४० ॥

(२०) अथ उपता [रूप व्यभिचारिभावज्ञा लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०२]—अपराधके कारण दुष्ट पुरुषके प्रति वध-वन्धादि द्वारा जो निर्दयता [का प्रकाशन है] वह 'उपता' कहलाती है । [३७] १३६ ।

दुष्ट अर्थात् हिंसा करने वाले, भूट डोलने वाले, अथवा धोखा देने वाले [के प्रति] अपराधके कारण अर्थात् अनुचित कार्य करने, ऊटपटांग बात करने, चोरी, धादि रूप कारणाँसे जो राजा धादि की निष्ठुरता अर्थात् निर्दयता, उसकी 'उपता' कहा जाता है । उपता अभिनय वध तथा वन्धनके द्वारा किया जाता है । धादि शब्दसे मारने-घटकारने पगोना घोर सिर हिसाने धादि अनुभावोंके द्वारा उपता अभिनय होता है ॥ [३७] १३६ ॥

(२१) अथ 'हर्ष' [व्यभिचारिभावज्ञा लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०३]—इहकी प्राप्तिके कारण [मनकी] प्रसन्नता हर्ष होता है । इससे स्वेद, पशु घोर गद्गदता हो जाती है ।

प्रसन्नता अर्थात् विलसा विक्राम । इह अर्थात् प्रियता मयोग अथवा अप्रियके मयोग की निवृत्ति, देवता, गुरु, राजा अथवा स्वामीकी कृपाकी प्राप्ति, भोजन, दानदान, अन्न, धन, पुत्रादिकी प्राप्ति, पुत्रादिकी प्रसन्नता विषयोके उपभोग घोर उत्तम धादि [का उत्पन्न होता है] । धादिधोसे तथा भरे हुएकी धानी 'गद्गद' कहलाती है । उसमें उत्पन्न हुए होनेके रोमाँच, प्रिय भावना, धानो घोर मुनकी प्रसन्नता धादि अनुभावोंका उत्पन्न भी होता है ।

(२२) अथ विपाद [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०४]—इह धानुके न विमनेमे [विलसा] अनुभावात् 'विपाद' कहलाता है । निश्वास तथा चिन्तनेके द्वारा [उपता अभिनय किया जाता है] । [३८] १४० ।

(१८) अथ निद्रा —

[सूत्र २००]—इन्द्रियाव्यापृतिनिद्रा, खेदादेर्मूर्द्धकम्पिनी ॥

[३६] १३८ ॥

इन्द्रियाणि ग्पर्शनादीनि, न तु मन', तस्य निद्रायामपि व्यापारात् । 'अव्यापृति' विषयग्रहणोपरति । आदिशब्दादालस्य-दौर्बल्य-रात्रिजागरण अत्याहार-मद-श्रम-क्लम-चिन्ता-शयालतादेर्विभायस्य ग्रह । मूर्द्धकम्पनेन जृम्भण-वदनत्रिकास-नि श्वास-नेत्रवर्णन-अङ्गभङ्ग-अक्षिमीलन-सर्वक्रियासम्मोहादयोऽनुभावा उपलक्ष्यन्त इति ॥ [३८] १३८ ॥

(१९) अथ सुप्तम्—

[सूत्र २०१]—सुप्तं निद्राप्रकर्षोऽत्र स्वप्नायित-समोहने ।

'प्रकर्षो' गाढतमावस्था । स्वप्नस्य तात्कालिकविषयज्ञानस्य आयित प्रतीति-र्यतस्तन् 'स्वप्नायितं' प्रलपितम् । राजान मन पठानामिन्द्रियाणां मोहनमतिशयेन विषयवैमुख्यम् । निद्राया मनसोऽवधानमस्ति । अत्र तु तदपि मनागुपस्थित इति भेद । विभावास्तु निद्रागता एवात्र प्राह्या ॥

गिरने और इन्द्रियोंके व्यापारके अभाव आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है ।

(१८) अब निद्रा [रूप व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २००] यकावट आदिसे उत्पन्न इन्द्रियोंके व्यापारका अभाव 'निद्रा' कहलाता है । उसमें सिर हिलने लगता है । [३६] १३८ ॥

इन्द्रियोंसे त्वक्ता आदि [ज्ञानेन्द्रियोंका ही ग्रहण करना चाहिए] मनका नहीं । क्योंकि उसका व्यापार तो निद्राकालमें भी होता रहता है । व्यापारका अभाव अर्थात् [इन्द्रियोंका] विषयोंके ग्रहणसे हट जाना । आदि शब्दसे आलस्य, दौर्बल्य, रातमें जगने, अधिक भोजन, मदके सेवन, परिश्रम, यकावट, चिन्ता, सोनेके स्वभाव आदि [निद्राके विभावों अर्थात्] कारणोंका ग्रहण होता है । सिर हिलानेसे जम्हाई आने, लम्बी निश्वास छोड़ने, आँखें घुमाने, अगडाई आने, आँखें भ्रमकने और सारी क्रियाओंको भूल जाने आदि अनुभावोंका ग्रहण होता है ॥ [३६] १३८ ॥

(१९) अब सुप्त [नाम व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०१]—प्रबल निद्राका अना 'सुप्त' [नामक व्यभिचारिभाव] कहलाता है । इस में बराना [स्वप्नायित] और मन सहित सब इन्द्रियोंका विषयोंसे अत्यन्त संमुख्य [मोहन] हो जाता है ।

[निद्राका] प्रकर्ष अर्थात् गाढतम अवस्था । स्वप्नकी अर्थात् उस समय [स्वप्नमें होने वाले] ज्ञानकी 'आयित' अर्थात् प्रतीति जिसमें हो उस बरानेको 'स्वप्नायित' कहते हैं । 'स' अर्थात् मनके सहित [पाँचों कुल मिलाकर] एहो इन्द्रियोंका 'मोहन' अर्थात् विषयोंसे अत्यन्त विमुक्तता । निद्रामें मनकी धृति रहती है यहाँ [सुप्तिमें] तो यह भी बिल्कुल निरुद्ध हो जाती है । यह [निद्रा और सुप्ति इन दोनोंका] भेद है । निद्रामें कहे हुए विभाव ही यहाँ [सुप्तिके भी कारण] सम्भन्ने चाहिए ॥

'आपदो' दौर्गत्य-न्यकारादेः । स्वान्तनीचत्वं मन क्लैब्यम् । काप्यर्थं वदन-
श्यामता । अवगुण्ठनं शिरो-भात्रवरणम् । बहुवचनान्द्विरीरासंस्कार-गौरवपरिहार-
यस्त्रमालिन्याद्यैश्चानुभावैरभिनेतव्यमिति ॥ [३६] १४१ ॥

(२५) अथ व्रीडा—

[सूत्र २०७]—व्रीडाऽनुताप-गुवदिरघाष्टच्च गात्रगोपकम् ।

अकृत्यकरणादनु पश्चात् तापो मानसो विवेकः । गुरुर्मातापित्रादि । आदि-
शब्दान् प्रतिज्ञातानिर्वहण-गुरुव्यतिक्रम-अवज्ञान-असंस्तवादेर्विभावस्य प्रहः । अघा-
ष्ट्यमवैयात्यम् । गात्रगोपनेनोपलक्षणाद् अधोमुखचिन्तन-नरप्रनिस्तोदन-भूविलेखन-
यन्त्रांगुलीयस्पर्शनादेरनुभावस्य प्रह इति ॥

(२६) अथ त्रासः—

[सूत्र २०८]—घोराच्चकितता त्रासः काय-सङ्कोच-कम्पितः ।

॥ [४०] १४२ ॥

'घोरं' भीषणं निर्घाताशनिपात-महाभैरवनाद-महारौद्रमत्त्व-शब्ददर्शनादि ।
'चकितता' उद्वेगकारी चमत्कारः । अनर्थमम्भावनात् मत्त्वभ्रंशो भयमित्यनयोर्भेदः ।
बहुवचनान् स्तम्भ-रोमाञ्ज-भूर्च्छी-गद्गद्वचनादिभिरचायमनुभावैरभिनीयते इति ॥

॥ [४०] १४२ ॥

घापत्तिसे अर्थात् दुर्गति या घपमान आदिके कारण, अघने मनको नीचता अर्थात्
बिबलता । कृप्यता अर्थात् मुलका काला पड जाना । अवगुण्ठन अर्थात् सिर घोर शरीरका
ढक सेना । बहुवचनसे शरीरका [शुद्धि आदि हय] सस्कारका अभाव, गौरवको भुला देना घोर
वस्त्रको मलिनता आदि अनुभावोके द्वारा उसका अभिनय होता है ॥ [३६] १४१ ॥

(२५) अथ व्रीडा [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०७]—पश्चात्ताप अथवा माता-पिता आदि गुरुजनों [को उपस्थिति]के कारण
पश्चात्ताप न करना 'व्रीडा' कहलाती है घोर उससे मुल शरीरादिको छिपाता है ।

अनुचित कार्यके करनेके कारण बादको होनेवाला ताप अर्थात् मानसज्ञान [अनुताप
कहलाता है] । माता-पिता आदि गुरु हैं । आदि शब्दसे प्रतिज्ञाको पूरा न कर सजने, गुप्तको
की मर्यादाका उल्लंघन, अघमान घोर अपरिचय आदि विभावोंका पहलू होता है । अघाष्ट्यं
अर्थात् उद्वेगइत्याका अभाव । गात्रगोपनके उपलक्षण होनेसे, उससे सिर भुकाकर सोचने, नासून
बसाने, भूमि कुदेदने, बपड़े या धंगूठा आदिके टूटने आदि अनुभावोंका पहलू होता है ।

(२६) अथ त्रास [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०८]—भयकर वस्तुको देखकर खिन्न हो जाना 'त्रास' कहलाता है । शरीर
के तिकोडने घोर काँपनेके द्वारा [उसका अभिनय किया जाता है] ॥ [४०] १४२ ॥

भयकर गर्जन, बिजली गिरना, महाभयकर दग्ध अस्पृष्ट भीषण प्राणीका दर्शन
आदि 'घोर' पड़ने लिए जाते हैं । भयको उत्पन्न करनेवाला आश्चर्य 'चकितता' कहलाता है ।
[उस घोर दर्शनादिसे त्रास होता है । घोर] धनघंटी होनेकी सम्भावनासे मानसिक बलका
पादा 'भय' होना है । यह भय घोर त्रासका भेद है । बहुवचनसे स्तम्भ, रोमांच, भूर्च्छी,

'तान्ति'रनुत्साहाग्रन्तश्चित्तसन्तापः । 'इष्टं' प्रारब्धनिर्वहणं देवाप्रतिवृल-
त्वादि । तस्यानापितरलाभो विपरीतलाभो वा । चिन्तनमुपायानाम् । बहुवचनान्
सहायान्वेषण-वैमनस्यादिभिर्मध्यमोत्तमगतैर्मुद्रशोप-निद्रा-ध्यान जिह्वापरितेहार्दिभ
स्त्वधमगतैरनुभावैरभिनीयत इति ॥ [३८] १४० ॥

(२३) अथोन्मादः—

[सूत्र २०५]—मनोविप्लुतिरुन्मादो ग्रहदोषैरयुक्तकृत् ।

विप्लुतिर्विसंस्थुलता, क्यचिदप्यविश्रान्तिरिति यावत् । ग्रह-दोषौ अपस्मारं
व्याख्यातौ । अयुक्तमनुचितं गीत-नृत्त-पठितोत्थित-शयित-प्रधाचित-रुदित-आक्रुष्ट-
असम्बद्धप्रलापन - अनिमित्तहसित-भस्मपांस्त्रवधूलन- निर्माल्य - वीरघटवक्त्रशरावा-
भरणोपभोगादि । अयं चोत्तमस्य विप्रलम्भे, अधमस्य करुणे व्यभिचारी । अपस्मारस्तु
बीभत्स-भयानकयोः । म च मनोवैकल्यम्, अयन्तु मनोऽनवस्थितिरिति भेद इति ।

(२४) अथ दैन्यम्—

[सूत्र २०६]—आपदः स्वान्तनीचत्वं दैन्यं काष्ण्याविगुण्ठनैः ॥

॥ [३६] १४१ ॥

तान्ति अर्थात् अनुत्साहसे युक्त चित्तका सन्ताप । इष्ट अर्थात् प्रारम्भ किए हुए कार्यकी
समाप्ति भाग्यकी अप्रतिफलता आदि । उसका प्राप्त न होना प्रयथा विपरीत [अर्थात् अनिष्ट]
की प्राप्ति । चिन्तन अर्थात् उपायोके चिन्तनद्वारा [उसका अभिनय होता है । 'चिन्तनैः पदमै']
बहुवचनके प्रयोगसे सहायकोंकी सोज और बंमनस्य आदि मध्यम तथा उत्तम पात्रगत [अनुभावों
के द्वारा तथा] और मुख सूखने, नीद, ध्यान, जीभ फेरने आदि अधमपात्रगत अनुभावोंकेद्वारा
उसका अभिनय किया जाता है ॥ [३८] १४० ॥

(२३) अब उन्मादका [लक्षण करते हैं]—

[भूत-पिशाचादि रूप] ग्रह तथा [वात पितादि रूप] दोषोके कारण मनका पपग्रह
हो जाना 'उन्माद' कहलाता है और उसमें अनुचित कार्य करने लगता है ।

[सूत्र २०५]—'विप्लुति' अर्थात् अस्थिरता, कहीं भी चित्तका न लगना । ग्रह तथा
दोष दोनोंकी व्याख्या अपस्मारमें की जा चुकी है । अयुक्त अर्थात् अनुचित गाना, नाचना,
पढ़ना, उठना, भागना, रोना, चिढ़लाना, असम्बद्ध बकवाद करना, बिना बातके हँसना,
राख या दूल फेंकना, देवताओंकी वस्तुओं [निर्माल्य] पीपल आदिके वृक्षोपर टंगे हुए घड़ो,
[वीरघट] करवा, सकोरे आदि और आभरणादिका उपभोगादि । यह [उन्माद] उत्तमके
विप्रलम्भमें और अधमके कष्टमें व्यभिचारिभाव होता है । और अपस्मार बीभत्स तथा
भयानक रसोंमें [व्यभिचारिभाव] होता है । [यह उन्माद तथा अपस्मारका एक भेद है ।
उनका दूसरा भेद यह भी है कि] यह [अर्थात् अपस्मार]मनकी विकलतामय होता है और यह
[उन्माद] मनकी अस्थिरतारूप होता है यह इन [उन्माद तथा अपस्मार] का [दूसरा] भेद है ।

(२४) अब दैन्य [नामक व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०६]—आपत्तिगोके कारण मनकी विकलता 'दैन्य' कहलाती है । [चिहरेकी]
कृष्णता और ढङ्गेके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है । [३६] १४१ ॥

• आभिमुख्यमौत्सुक्यम् । स्मरणमिष्टस्य । आशशब्दान्मनोहृदिदृष्ट्वा-अभिप्लव-
लोभादेर्विभावस्य ग्रहः । त्वरा मनो-याक्-कायदृष्टि चापलम् । आदिशब्दान् कृत्य-
विस्मरणं दीर्घनिश्वास-असम्बद्धवचन-भेद-हृत्तापादेरनुभावस्य ग्रह इति ।

(३०) अथावहित्या—

[सूत्र २१२]—धाष्टचर्दिविक्रियारोधोऽवहित्याऽत्र क्रियान्तरम् ॥

॥ [४२] १४४ ॥

‘घाष्ट-च’ प्रागल्भ्यम् । आदिशब्दाद् भय-लज्जा-गौरव-कुटिलाशयत्वादेर्वि-
भावस्य ग्रहः । मर्धानुगतत्वख्यापनार्थं धाष्ट्यं प्रथममुपात्तम् । मभयादिरपि ह्यप्रागल्भो
न शक्नोत्याकारं संवरीतुम् । ‘विक्रिया’ भ्रुविकार - मुखरागादिका, तस्या रोधः
संवरणम् । रोधकारकत्वेनोपचाराच्चित्तविशेषोऽपि रोधः । न यद्विभ्या चित्तवृत्तिरिति
पृषोदरादित्वाद् ‘अवहित्या’ । अत्रावहित्यायां प्रस्तुतक्रियातोऽन्यकथनावलोकनकथा-
मङ्गकृतकर्मैर्यादिकं क्रियान्तरमिति ॥ [४२] १४४ ॥

(३१) अथ जाड्यम्—

[सूत्र २१३]—जाड्यमिष्टादितः कार्याज्ञानं मोनानिमेपणः ।

आभिमुख्यमौत्सुक्यं बहुलाता है । स्मरण इष्टया [अभिप्रेत है । ‘स्मरणात्तात्’ मे]
‘घाष्ट’ शब्दसे सुन्दर वस्तुके देखनेकी इच्छा, प्रेम और लोभादि विभावों [कारणों] का ग्रहण
होता है । त्वराका अभिप्राय मन, वाली तथा शरीर और दृष्टिकी चपलता है । आदि शब्दसे
शामको भूल जाने, सम्बन्धी श्वास छोड़ने, असम्बद्ध बात करने, स्वेद, और हृदयकी जलन आदि
अनुभावोंका ग्रहण होता है ।

(३०) अथ अर्थाहृत्या [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१२]—एष्टता आदिते उत्पन्न विकारको द्विपानेका यत्न ‘अवहित्या’ बहुलाता
है । इससे [आकार-विकृतिको द्विपानेके लिए] दूसरी क्रिया की जाती है । [४२] १४४ ।

एष्टता अर्थात् प्रगल्भता आदि शब्दसे भय, लज्जा, गौरव, कुट्टाभिप्राय आदि कारणों
[विभावों] का ग्रहण होता है । [घाष्ट्यके] सबसे अनुत्पन्न होनेके कारण सबसे पहले एष्टता
का ग्रहण किया है । समय आदि व्यक्त भी यदि प्रगल्भ न हो तो आकारकी द्विपानेके
समर्थ नहीं हो सकता है । विक्रिया अर्थात् भौहोका टेंडा होना या मुपका लस आदि हो
जाना आदि, उसका रोध अर्थात् द्विपाना । [बाह्य विकारको] द्विपानेका कारण होनेसे उस
अभिप्रायको चित्तवृत्ति-विशेषको भी ‘रोध’ कह सकते हैं । बाहर प्रकटित न होने वाली चित्त-
वृत्ति ‘न यद्विभ्या’ होनेसे ‘अवहित्या’ बहुलाती है [यह अवहित्या पदका निबंधन है]
‘पृषोदरादिगण’ पठित नियमसे इसको सिद्धि होती है । इससे अर्थात् अवहित्यामे प्रस्तुत
क्रियासे भिन्न बचन, अवलोकन, घात समाप्त कर देना, बनावटी स्थिरता दिखलाना आदि
दूसरी क्रियाएँ की जाती हैं ॥ [४२] १४४ ॥

(३१) अथ जाड्य [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१३]—इष्ट आदिते [अर्थात् इष्टप्राप्तिकी प्रसन्नतामे] शामको भूल जाना ‘जाड्य’
बहुलाता है । मोन और टकटकी सगाकर देखनेके द्वारा [उत्तका अभिनय किया जाता है] ।

(२७) अथ तर्कः—

[सूत्र २०६]—एकसम्भावनं तर्को वादादेरङ्गनर्तकः ।

‘वादो’ विप्रतिपत्तिस्तम्भात् । आदिग्रहणान् सन्देहवाधकबलोद्भूतपक्षान्त-
राभावज्ञानविशेष-प्रतीत्यभिलापादेर्विभावाद् यद्येकस्य पक्षस्य सम्भावनं भवितव्यमने-
नेति प्रत्ययः स तर्कः । अङ्गस्य भ्रू-शिरोऽङ्गुल्यादेर्नर्तक इति ॥

(२८) अथ गर्वः—

[सूत्र २१०]—आत्मन्याधिकषधीर्गर्वो विद्यादेरन्यरीढया ॥

॥ [४१] १४३ ॥

‘आधिक्यधीः’ परजुगुप्साक्रान्त स्वस्मिन् बहुमानः । आदिशब्दाज्जाति-कुल-
लाभ-वृद्धि-वाल्लभ्य-यौवनैश्वर्यादेर्विभावस्य ग्रहः । ‘रीढा’ अवज्ञा । तथा । उपलक्षणानि
पारुष्य-असूया-आधर्षण-अनुत्तरदान - अज्ञावलोकन- उपहसन - अलङ्कारव्यत्यासादि-
भिरचानुभावैरभिनेतव्य इति ॥ [४१] १४३ ॥

(२९) अथोत्सुक्यम्—

[सूत्र २११]—इष्टाभिमुख्यमौत्सुक्यं स्मरणाद्यात् त्वरादिभिः ।

गद्गदवचन आदिके द्वारा भी इसका अभिनय किया जाता है ॥ [४०] १४२ ॥

(२७) अथ तर्कं [व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २०६]—वाद आदिके द्वारा एक पक्षकी सम्भावना ‘तर्क’ कहलाता है । उससे
अगोका नचाना [रूप अनुभाव उत्पन्न होता है] ।

वाद अर्थात् मतभेद [विप्रतिपत्ति] । उससे [तर्क होता है] । आदि शब्दसे सन्देहके
निवारक [प्रबल प्रमाण] के बलसे उत्पन्न दूसरे पक्षके अभावका ज्ञान और विशेष प्रतीतिकी
इच्छा आदि विभावसे जो किसी एक पक्षकी सम्भावना, अर्थात् यह बात ऐसी होनी चाहिए
इस प्रकारकी प्रतीति, वही ‘तर्क’ कहलाता है । अथ अर्थात् भीह, सिर या अगुलि आदिका
नचाने वाला होता है ।

(२८) अथ गर्वं [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१०]—विद्या आदिके कारण अन्धकी अवज्ञा करके अपनेको बड़ा समझना
‘गर्व’ कहलाता है । [४१] १४३ ।

‘आधिक्यधी’ अर्थात् [अग्यके प्रति] घृणाके सहित अपने आपको बड़ा समझना ।
[विद्यादे. में प्रयुक्त] आदिशब्दसे जाति, कुल, लाभ, वृद्धि, [किसीकी] बलभता यौवन,
ऐश्वर्य आदि विभावोंका ग्रहण होता है । ‘रीढा’ अर्थात् अवज्ञा । उससे उपलक्षण द्वारा
पारुष्य, असूया, रोष जमाने [घर्षण] उत्तर न देने, [प्रपने] अगोका देखने, [दूसरेका]
उपहास करने और अलङ्कारोका भिन्न स्थानोपर प्रयोग करने आदि अनुभावोंके द्वारा उसका
अभिनय किया जाता है ॥ [४१] १४३ ॥

(२९) अथोत्सुक्यं [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २११]—[इष्टके] स्मरण आदिके कारण इष्टके प्रति शीघ्रता आदिसे अभिमुख
प्रवृत्त होना ‘ओत्सुक्य’ कहलाता है ।

अथ विवोधः—

[सूत्र २१५]—निद्राच्छेदो विवोधश्च शब्दादेरङ्गभङ्गवान् ।

आदिशब्दान् स्पर्शं स्वप्नान्त-आहारपरिणामादेर्विभावस्य प्रह्. । उपलक्षणान् जृम्भा-अन्तिविमर्दनं शयनमोक्षणं भुजाक्षेपं अंगुलित्रोटनादिरनुभावो द्रष्टव्यः । पर्यन्ते चकारः सर्वव्यभिचारिसमुच्चयार्थः इति ।

अर्थेषां रसादीनां मध्ये केषांचित् परस्परं कार्यकारणतामाह—

[सूत्र २१६]—केषाञ्चित् तु रसादीनामन्योन्यं हेतुकार्यता ॥

[४४] १४६ ॥

आदिशब्दाद् व्यभिचारिणाम् । यथा वीरादद्भुत । महापुरुषोत्साहो हि जगद्विस्मयं फलं साक्षादनुसन्धत्ते । तथा द्रौपदीम्वयम्बरादौ वीराच्छृङ्गारोऽपि । रौद्राद्यवध-यन्धादिफलानन्तरं करुण भयानकौ । तथा सर्वरसेभ्योऽनन्तरं सर्वे सजातीयारसा भवन्ति । यथा शृङ्गारिणं दृष्ट्वा शृङ्गार, हसन्तं दृष्ट्वा हास्यः । इत्येवं सर्वरसेषु हेतु फलभावो वाच्यः । सर्वरसानां चाभासा अनीचित्यप्रवृत्तत्वान् हास्यरसस्य कार-

(३३) अथ विवोध [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१५]—शब्द आदिके कारण होने वाला निद्राभङ्ग 'विवोध' बहलाता है और उसमें अगडाई आदि [धनुभाव] होते हैं ।

प्रादि शब्दसे घूने, स्वप्नकी समाप्ति, भोजनका परिपाक हो चुकने आदि [विभावो] कारणोंका ग्रहण होता है । [अगभगवान् पदके] उपलक्षण रूप होनेसे जम्भाई, झल्लें मलनां किर सो जाने, छाट परसे उठ बँठने, हाथ फँलाने, अगुलियों चटकाने आदि धनुभावोंको समझना चाहिए । [विवोधके वर्णनके साथ व्यभिचारिभावोंका वर्णन समाप्त होता है । इसलिए 'विवोधश्च' इस पदमें आया हुआ] अतमें प्रयुक्त चकार व्यभिचारिस्वके समुच्चयकेलिए है । [प्रपत्ति यहाँ तक सारे व्यभिचारिभावोंका वर्णन समाप्त हो गया इस बातका सूचक है] ।

अथ इन रसादिमेंसे किन्हींके परस्पर एक-दूसरेके प्रति कार्य-कारणभावका कथन करते हैं—

[सूत्र २१६]—रसादिकोंमेंसे किन्हींका परस्पर एक-दूसरेके प्रति कार्य-कारणभाव होता है ॥ [४४] १४६ ॥

प्रादि शब्दसे व्यभिचारियोंका ग्रहण होता है । [रसोंके परस्पर कार्य-कारणभावका उदाहरण देते हैं] जैसे वीररससे दद्भुत रस [उत्पन्न होता है] । महापुरुषोंका उत्साह [जो वीररसका स्वाधिभाव होता है] साक्षात् रूपसे जगत्के विस्मय रूप फलको [प्रपत्ति दद्भुत रसके स्वाधिभावको] उत्पन्न करता है । वीर द्रौपदी स्वयम्बरादिमें [धनुंनके पराक्रमको देखकर द्रौपदीके मनमें] वीररससे शृङ्गाररसकी भी उत्पत्ति होती है । वीर रौद्ररससे उसके वध या वधु रूप फलोंको देखकर करुण तथा भयानक रसोंकी उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार सब रसोंसे उनके बाद होनेवाले सजातीय रस उत्पन्न होते हैं । जैसे शृङ्गारप्रयुक्तको देखकर [इससेमें] शृङ्गार, हँसते हुएको देखकर [दूसरेमें] हास्य [उत्पन्न होता है] । इन प्रकार सारे रसोंमें कार्य-कारणभाव समझना चाहिए । [अनीचित्यसे प्रवृत्त होनेवाले रस, रसाभास

‘इष्ट’ प्रियं, तस्य दर्शन-श्रवणे अपीष्टे । आदिशब्दाद्निष्टदर्शन-श्रवण-व्या-
ध्यादेर्विभावस्य ग्रहः । कार्याज्ञानं नेत्राभ्यां पश्यतोऽपि श्रोत्राभ्यां श्रृण्वतोऽपि चेदानीं
किं कृत्यमित्यनिश्चयः । नेदं वैकल्य-अचैतन्यस्वभावमित्यपरस्मार-मोहाभ्यां भिन्नम् ।
‘मौनं’ तूष्णीम्भावः । ‘अनिमेषणं’ अनिमेषनिरीक्षणम् । बहुवचनान् परवशत्वादिभि-
रनुभावैरभिनेतव्यमिति ।

(३२) अथालस्यम्—

[सूत्र २१४]—कर्मानुत्साह आलस्यं श्रमाद्याज्जृम्भितादिभिः

॥ [४३] १४५ ॥

आदिशब्दान् सौहित्य-स्वभाव-व्याधि-नर्भादिभिर्विभावैः स्त्री-नीचानामनुद्यम-
रूपमालस्यं भवति । श्रमस्य व्यभिचारित्वेऽपि अन्यव्यभिचारिणं प्रति विभावत्वे न
दोषः । व्यभिचारिता तु परस्परं व्यभिचारिणां स्थायित्वप्रसङ्गाद् दुष्टैव । एवं व्यभि-
चारिणाम् अनुभावत्वमपि भवत्येव । जृम्भितेन, आदिशब्दाद् आसितेनाहारवर्जित-
पुरुषार्थान्तरम्भादिभिश्चानुभावैस्तदभिनेतव्यम् । अलसोऽपि ह्यवश्यमाहारं करोत्ये-
वेति ॥ [४३] १४५ ॥

इष्ट अर्थात् प्रिय, उसका दर्शन और श्रवण भी इष्ट [पदसे अभिप्रेत] है । आवि
शब्दसे अनिष्टके दर्शन, श्रवण, व्याधि आदि कारणों [विभावों] का भी ग्रहण होता है । कार्य
का ज्ञान न होना अर्थात् आँखोंसे देखते हुए और कानोंसे सुनते रहनेपर भी, अब क्या करना
चाहिए इसका निश्चय न कर सकना । यह [जाद्व] न विकलता रूप है और न अचंचल्य रूप
इसलिए [वंचक्य रूप] अपस्मार तथा [अचंचल्य रूप] मोह दोनोंसे भिन्न है । मोन अर्थात्
चुप रहना । अनिमेषण अर्थात् टकटकी लगाकर देखना । बहुवचनसे परवशता आदि प्रनु-
भावोंके द्वारा इसका अभिनय किया जाता है ।

(३२) अब आलस्य [व्यभिचारिभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१४]—श्रम आदिके कारण कार्यमे उत्साहका न होना ‘आलस्य’ कहलाता है ।
जम्भाई आदिके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है । [४३] १४५ ।

[जृम्भितादिभिः मे प्रयुक्त] आदि शब्दसे पेट भरा होना, [आलस्यका] स्वभाव, रोग,
या गर्भ आदि कारणेसि स्त्री और नीचोंकी उद्यमहीनता आलस्य कहलाता है । श्रमके
व्यभिचारिभाव होनेपर भी दूसरे व्यभिचारिभावके प्रति विभाव [कारण] होनेमे कोई दोष
नहीं है । व्यभिचारिभावोंकी परस्पर व्यभिचारिता [उनमेसे एकके] स्थायिभाव वन
जानेके कारण दूषित ही है । [अर्थात् व्यभिचारिभाव तो किसी स्थायिभावका ही होता है ।
यदि एक व्यभिचारिभावको दूसरेका व्यभिचारिभाव माना जाय तो पहला व्यभिचारी, व्यभि-
चारिभाव नहीं अपितु स्थायिभाव हो जायगा । इसलिए किसी व्यभिचारिभावको दूसरे
व्यभिचारीका व्यभिचारिभाव नहीं माना जा सकता है । हाँ उनको विभाव और प्रनुभाव
माना जा सकता है] इसी प्रकार व्यभिचारिभाव प्रनुभाव भी हो सकते हैं । जृम्भित
शब्दसे और आदि शब्दसे बँठे-बँठे खानेके अतिरिक्त कोई काम न करने आदि अनुभावोंके
द्वारा उसका अभिनय किया जाता है । आलसी भी भोजन तो अवश्य ही करता है [इसलिए
खानेको छोड़कर अन्य कोई काम न करना आलस्य कहलाता है ॥ [४३] १४५ ॥

अथ ते प्रत्येकशो लक्ष्यन्त । तत्र (१) वैपथु —

[सूत्र २१८]—भयादेवैष्युर्गात्रस्पन्दो वागादिविक्रियः ।

आदिशब्दाद् रोग-हर्ष शीत-रोप-प्रियस्पर्शादेरिभावस्य प्रहृ । स्पन्द किञ्चि-
चलनम् । वागादेरादिशब्दाद् गति-चेष्टादेर्विक्रिया यस्मान् । इत्यनुभावकथनम् ॥

(२) अथ स्तम्भ —

[सूत्र २१९]—यत्नेऽप्यङ्गाक्रिया स्तम्भो ह्यपदिः, हा । विपादवान् ॥

॥ [४६] १४८ ॥

अङ्गानां हस्त-पादादीनामन्तपरिस्पन्देऽप्यक्रिया चलनाभाव स्तम्भ । आदि-
शब्दाद् विस्मय भय-मद-रोगादेरिभास्य प्रहृ इति ॥ [४६] १४८ ॥

(३) अथ रोमाञ्च —

[सूत्र २२०]—रोमाञ्च प्रियदृष्ट्यादे रोमहर्षोऽङ्गमार्जनैः ।

आदिशब्दाद् व्याधि-शीत क्रोध स्पर्शादेरिभावस्य प्रहृ । बहुवचनादङ्गमन्दुर
प्रसुग नेत्रविकास दन्तवीणावादनविभिरभिनेतय ॥

रसोके स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभावोके घोर अनुभावोके भी यथायोग्य सहस्रो अनुभाव
हो सकते हैं ॥ [४५] १४७ ॥

(१) अथ जन अनुभावोके प्रत्येकका प्रसंग प्रसंग लक्षण करते हैं । उनमें सबसे पहले
वैपथु [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१८]—भय आदिके कारण शरीरका किञ्चित् विचलित हो जाना वैपथु
कहलाता है और उसमें वाली आदिमें विकार आ जाता है ।

आदि शब्दसे रोग हर्ष शीत क्रोध, प्रियके स्पन्द आदि विभावोंका प्रहण होता है ।
स्पन्द अर्थात् सन्निकता हित जाना । 'वागादे' इसमें आदि शब्दसे गति घोर चेष्टा आदिमें जिससे
विकार आ जाता है । यह [वैपथु] अनुभावका कथन किया है ।

(२) स्तम्भ [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २१९]—यत्ने आदिके कारण यत्न करनेपर भी अङ्गोंको बियाका न होना
'स्तम्भ' कहलाता है । घोर उनमें 'हाय' आदि शब्दोंमें बियाद प्रकट होता है । [४६] १४८ ॥

अङ्गोंका अर्थात् हाथ-पद आदिके भीतर गति होनेपर भी बाह्य जनका न कस सजना
स्तम्भ कहलाता है । आदि शब्दसे विस्मय भय मद घोर रोगादि [अथ कारणों] विभावों
का प्रहण होता है ॥ [४६] १४८ ॥

(३) अथ रोमाञ्च [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२०]—प्रियके देखने आदिमें उत्पन्न होनेवाला रोमहर्ष 'रोमाञ्च' कहलाता
है । अङ्गोंका लक्षणेकेद्वारा उसका अभिनय किया जाता है ।

आदि शब्दसे व्याधि शीत क्रोध स्पन्द आदि विभावोंका प्रहण होता है । बहुवचनसे
अङ्गोंके कस जाने, आँसुओं निकल जाने घोर दंतवीणाके बजाने आदि अनुभावोंकेद्वारा उसका
अभिनय करना चाहिए ।

णम् । रावणस्य ह्यविषयप्रवृत्तत्वात् न शृङ्गाराभासः सतां हास्यमुपजनयति । हास्याभासादपि हास्यो भवति यथा—

लोकोत्तराणि चरितानि न लोक एवः

मम्मन्यते यदि किमद्भु वदाम नाम ?

यन् त्वत्र हासमुग्रत्वममुष्य तेन,

पार्श्वोपपीडमिह को न विजाहसीति ॥

व्यभिचारिणामपि उत्पाद्योत्पादकभावो यथा व्याधेर्निर्वेदः, चिन्ताविद्यो धाम्यां स्मृतिः, श्रमादालस्यमित्यादि । व्यभिचारिणामनादप्यनौचित्यप्रवृत्तत्वाद् हास्यो भवतीति ॥ [४४] १४६ ॥

अथ रसानां स्थायिनां व्यभिचारिणामनुभावानां च कार्यभूताननुभावान प्रति पाठयति—

[सूत्र २१७]—वेपथुः-स्तम्भ-रोमाञ्चः स्वरभेदोऽश्रु-सूच्छ्रंनम् ।

स्वेदो वैवर्ण्यमित्याद्या अनुभावा रसादिजाः ॥ [४५] १४७ ॥

आशब्दात् प्रसाद-उच्छ्रंवास नि श्रवाम क्रन्दन परिदेवित - उल्लुकसन - भूमि विलेपन विवर्तन-उद्धर्तन नरपनिस्तोदन-भ्रुकुटि कटाक्ष - तिर्यग्धोमुपनिरीक्षण - प्रशंसन हसन-दान-चातुकार-आस्वरागादय । क्वचिन् स्थायिनो व्यभिचारिणश्च । यथायोगं रसानां स्थायिनां व्यभिचारिणानुभावानां च सहस्रसंख्या अनुभावा इति ॥ [४५] १४७ ॥

कहलाते हैं] अनौचित्यसे प्रवृत्त होनेके कारण सारे रसोके रसाभास हास्यरसके कारण होते हैं । जैसे रावणका [सीताके अनुरक्त होनेके कारण] अविषयसे प्रवृत्त शृङ्गाराभास, सहृदयोंके भीतर हास्य उत्पन्न करता है । [अन्य रसाभासोंसे ही नहीं अपितु] हास्याभाससे भी हास्य-रस उत्पन्न होता है । जैसे—

[रावणके] लोकोत्तर चरित्रोंको यदि यह लोक उचित नहीं समझता है तो हम क्या कह सकते हैं । किन्तु [अनुचित कर्म करने भी बेशर्माकी तरह] जो वह अट्टहास करता हुआ हँसता है उसको देखकर ऐसा कौन है जो कोस पकड़कर नहीं हँसता है । [हँसते-हँसते किस की कोलोमे दर्द नहीं होने लगता है] ।

व्यभिचारिभावोंसे भी परस्पर उत्पाद्य-उत्पादकभाव होता है । जैसे व्याधिसे निर्वेद उत्पन्न होता है । चिन्ता तथा विबोधसे स्मृति, और श्रमसे आलस्य उत्पन्न होता है । अनौचित्यसे प्रवृत्त होनेवाले व्यभिचारिभावोंसे भी हास्यरसकी उत्पत्ति होती है ॥ [४५] १४६ ॥

अब रसोंके, स्थायिभावों और व्यभिचारिभावोंके [तीनोंके] कार्यभूत अनुभावोंका प्रतिपादन करते हैं—

[सूत्र २१७]—कम्प स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वरभेद, आसू, मूर्च्छा, स्वेद, विवर्णता इत्यादि रसादिसे उत्पन्न होनेवाले अनुभाव होते हैं । [४५] १४७ ।

आद्य शब्दसे प्रसन्नता, उच्छ्रंवास, निश्वास, रोमाञ्चिलाना, [उल्लुकसन] बाल मोचना, भूमि लोचना, सीटना पोटना, नाखून चवाना, भ्रुकुटि कटाक्ष, इधर-उधर या नीचे देखना, प्रशंसा करना, हँसना, दान, चापसूती और मुलका लाल पद जाना आदि [अनुभाव भी गृहीत होते हैं] । वहीँ स्थायिभाव तथा व्यभिचारिभाव भी [अनुभाव हो सकते हैं] ।

(७) अथ स्वेद —

[सूत्र २२४]—स्वेदो रोमजलस्रावः श्रमादेर्व्यजनग्रहैः ।

आदिशब्दाद् भय हर्ष-लज्जा-रोग ताप-ग्रह-दुःख धर्म व्याधामादेर्विभावस्य ग्रह । बहुवचनाद् वाताभिलाप-स्वेदापनयनादिभिरप्यभिनेतव्य इति ।

(८) अथ वैवर्त्यम्—

[सूत्र २२५]—छायाविकारो वैवर्त्यं क्षेपादेर्दिङ्निरोक्षणैः ॥

॥ [४६] १५२ ॥

छाया शोभा तस्या विकारो विरूपत्वम् । क्षेपन्तिरस्कार । आदिशब्दान् मन्ताप भय क्रोध व्याधि शीत-श्रम-स्त्रीवाशुकरादेर्विभावस्य ग्रह । बहुवचनान् नर निस्तोदन प्रीडादिभिरप्यभिनेतव्यमिति ॥ [४६] १५१ ॥

अथ रसभान्तरोद्दिष्ट्याभिनयस्यावसर । स च वाचिक आङ्गिक सार्विक आहार्यभेदैश्चतुर्धा । तत्र प्रथम वाचिकं लक्षयति—

[सूत्र २२६]—वाचिकोऽभिनयो वाचा यथाभावमनुक्रिया ।

वागनुकार्यो प्रयोजन हेतुरस्येति 'प्रयोजनम्' [हिम० ६४११७] इति 'इकण्'

(७) अथ स्वेद [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२४]—श्रम आदिके कारण उत्प न होनेवाला रोमजलका स्राव 'स्वेद' कहलाता है । घोर पक्षा हायमे लेने आदिके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है ।

प्रादि शब्दसे भय हर्ष, लज्जा रोग, स ताप, ग्रह, दुःख, व्याधाम आदि कारणों [विभावों] का ग्रहण होता है । बहुवचनसे हवाकी इच्छा, पत्थोना पोंछना आदि अनुभावोंके द्वारा भी उसका अभिनय किया जाता है ।

(८) अथ वैवर्त्यता [रूप अनुभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२५]—प्रपमान आदिके कारण उत्पन्न होनेवाला मुखकी कान्तिका विकार 'वैवर्त्य' कहलाता है । इधर उधर देखने आदिके द्वारा उसका अभिनय किया जाता है ।

। [४६] १५१ ।

छाया अर्थात् [मुखकी] शोभा । उसका विकार अर्थात् विगड जाना । क्षेप अर्थात् तिरस्कार । प्रादि शब्दसे सन्ताप, भय, क्रोध, रोग, शीत, थकावट घोर घृप आदि विभावों का ग्रहण होता है । बहुवचनसे नागून चमामे घोर लज्जा आदिके द्वारा भी इसका अभिनय किया जाता है यह सूचित किया है ॥ [४६] १५१ ॥

अथ रस घोर भावोंके अनन्तर कहे हुए अभिनय [के निरूपण] का प्रवसर आता है । वह [अभिनय] वाचिक आङ्गिक सार्विक घोर आहार्य [अर्थात् वेप भूपादि रूप] चार प्रकारकी होता है । उनमेंसे सबसे पहले वाचिक [अभिनय] का लक्षण करते हैं—

[सूत्र २२६]—[वक्ताके] भावके अनुसार [उसकी] वाणीका अनुकरण वाचिक [अभिनय] कहलाता है ।

अनुकरण की जाने वाली वाणी [का अनुकरण] जिसका 'प्रयोजन' हेतु है । वह हेम 'अनुकूल' हेम आकारणके 'प्रयोजनम्' इस सूत्रसे 'इकण्' प्रत्यय होकर 'वाचिक' पर बनता

(४) अथ स्वरभेद.—

[सूत्र २२१]—स्वरभेदः स्वरान्यत्यं मदादेर्हर्ष-हास्यकृत् ॥

॥ [४७] १४६ ॥

अन्यत्वमुपचयापचयाभ्यां भेदः । आदिशब्दाद् भय जरा-हर्ष-क्रोध-राग
रौदयादेर्विभावस्य ग्रहः । उपलक्षणाद् व्रीडा-निर्वेदादयोऽप्यनुभावा द्रष्टव्या इति ।

॥ [४७] १४६ ॥

(५) अथाश्रु—

[सूत्र २२२]—अश्रु नेत्राम्बु शोकाद्यंनसास्पन्दाक्षिरूक्षणैः ।

आद्यशब्दादनिमेषप्रेक्षा - आनन्द-अमर्ष-धूम अञ्जन-जृम्भण-भय-पीडा हास्या-
देर्विभावस्य ग्रहः । नासायाः स्पन्दः श्लेष्मस्रवणम् । बहुवचनामिच्छीयन गद्गदस्वरा-
देरनुभावस्य ग्रह इति ॥

(६) अथ मूर्च्छनम्—

[सूत्र २२३]—मूर्च्छनं घात-कोपाद्यैः खग्लानिभूर्भूमिपातकृत् ॥

॥ [४८] १५० ॥

आद्यशब्दाद् मदादेर्विभावस्य ग्रहः । खग्लानिरिन्द्रियक्षामभिभवः । उप
लक्षणात् स्वेद-रवासादयोऽप्यनुभावा इति ॥ [४८] १५० ॥

(४) अथ स्वरभेद [रूप अनुभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२१]—मद आदिके कारण होनेवाली शब्दकी भिन्नता 'स्वरभेद' कहलाता है ।
और वह हर्ष तथा हास्यकी उत्पन्न करनेवाला होता है । [४७] १४६ ।

[स्वरको] अग्र्यता अर्थात् उसके तीव्र या मन्द हो जानेसे होनेवाला भेद । अर्थात्
शब्दसे भय, बुढापा, हर्ष, क्रोध, राग और हसता आदि विभावोंका ग्रहण होता है । उपलक्षण
रूप होनेसे व्रीडा तथा निर्वेद आदि अनुभाव भी समझ लेने चाहिए । [४७] १४६ ॥

(५) अथ अश्रु [रूप अनुभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२२]—शोक आदिके कारण उत्पन्न होनेवाले नयनजलका नाम 'अश्रु' है ।
नयने कड़कने और आँसुके पोंछनेकेद्वारा [उसका अभिनय करना चाहिए] ।

आद्य शब्दसे टकटकी लगाकर देखना, आनन्द, क्रोध, धुआँ, अञ्जन, जृम्भाई, भय,
पीडा, हास्य आदि विभावोंका ग्रहण होता है । नाकका स्पन्दन अर्थात् उससे श्लेष्माका
प्रवाहित होना । बहुवचनसे शून्ये और गद्गद स्वर आदि अनुभावोंका भी ग्रहण होता है ।

(६) अथ मूर्च्छा [रूप अनुभावका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२३]—प्रहार या कोप आदिके कारण उत्पन्न इन्द्रियोंकी असमर्थता 'मूर्च्छा'
कहलाती है । और वह [मुच्छित व्यक्तिको] भूमिपर गिरा देने वाली होती है । १५० ।

आद्य शब्दसे मद आदि कारणोंका भी ग्रहण होता है । खलानि अर्थात् इन्द्रियोंका
असमर्थ हो जाना । उपलक्षण होनेके कारण स्वेद और श्वात् आदि अनुभावोंका भी ग्रहण
होता है । [४८] १५० ॥

देश-कालभेदेनातथाभूतेष्वप्यभिनेयचतुष्टयान्छादनात् तथाभूतत्रिव नटेषु रामा-
दीनध्यवस्यति । अत एव तामु तामु सुख-दुःखरूपासु रामाद्यवस्थासु तन्मयीभवति ।

अपरे तेषु तु नामसकैत-सगीतकाभिनयेषु रामाद्यध्यवसायहेतुषु उपदेशपरमेत
दिति मन्यमाना हेयोपादेय-हानोपादानैकतानचेतसो जायन्ते ।

अथवा इह तावत् इत्यमाकृति, इत्यं गति, इत्थं जल्पित, इत्थं क्रोधादिललित
इत्येवमशेषमपि रामादिललित ऋषीणा कालदर्शना ज्ञानेन निश्चित कथयो नाटके
निबधन्ति । तत्र चार्थे मुनिज्ञानविशवासान्णटस्य साक्षाद् दर्शनमेव ।

अपि च कदाचिन्मासदृशो वस्तुस्वरूपे भ्राम्यन्ति न पुनर्ज्ञानदृश । तत्र मुनि
ज्ञानदर्शितं अर्थं दर्शनादप्यधिकतरमवगत वस्तुत प्वानुकुर्वाणो दुर्विदग्धबुद्धिभि कथ
ङ्कारमपान्रियत चराको नट ? प्रेक्षकाणा तु सत्यसति च स्वदर्शने नटेषु रामाद्यध्यवसाय
एव । अन्यथा तु कृत्रिममेतदिति जानन्तो न रामान्मुख-दुःखेषु तन्मयीभवेयु ।
उन्मिपन्ति च भ्रान्तरपि शृङ्गारादय । कामिनी-चैरि-चौरादीनधिस्वप्नमभिपश्यत पुस
कथमपरथा रसप्ररोहरोहिणस्त्र स्तम्भादयोऽनुभावा प्रादुर्भवेयुरिति ।

मनोहर सगीतको मुनने आदिके कारण विवश होकर, स्वरूप देश और कालका भेद होनेसे
उस प्रकारके [अर्थात् रामादि रूप] न होनेपर भी [वाचिक, आंगिक, सात्त्विक तथा आहाय
रूप] चारा प्रकारके अभिनयोंके द्वारा [नटके] स्वरूपका आवरण कर लिए जानेसे उस
प्रकारके [अर्थात् रामादि रूप] बने हुए नटोंमें रामका निश्चय कर लेते हैं । इसीलिए उस
प्रकारकी मुल दुःखमयी राम आदिकी अवस्थाओं मे तमय सा हो जाता है ।

दूसरे लोग [यह कहते हैं कि नटमें] राम आदिका निश्चय कराने वाले नामके सकेत
सगीत और अभिनय आदि हेतुओंके उपस्थित होनेपर यह [अभिनय आदि सब सामग्री
मनोरञ्जनके साथ साथ कतव्यके] उपदेश देनेके लिए है ऐसा मानकर हेय तथा उपादेयके
परिचयार्थ प्रथम ही तत्पर हो जाते हैं ।

अथवा [तीसरा मत यह है कि राम आदि] अनुकाय पुष्टको इस प्रकारकी आकृति
इस प्रकारकी गति इस प्रकार की बात बीत और इस प्रकारका क्रोधादिकी वाचता थी । इस
प्रकार रामादिके सम्पूर्ण चरित्रको श्रुतियोंके त्रिकालदर्शी ज्ञानके द्वारा निश्चय करके ही
कथिगण नाटकमे उसकी रचना करते हैं । और उसके विषयमे मुनिजनेके विद्वत्ताके कारण
नटका [राम रूपमें वक्षन] साक्षात् [रामका ही] वक्षन है ।

और दूसरी बात यह भी है कि इन चर्म-चक्षुओंसे देखने वाले लोग भ्रात हो सकते
हैं किन्तु ज्ञान चक्षुओंसे देखने वाले [मुनिगण भ्रात] नहीं [हो सकते हैं] । इसलिये मुनियों
के सहस्र कथियों के ज्ञान द्वारा प्रदर्शित [अर्थ] वास्तविक देखे हुए अर्थमे भी अधिक अच्यो
तरहमे अथगत अर्थको वास्तविक रूपमें अनुकरण करने वाले विचारे नटको अल्पबुद्धि [यह
अनुकरण नहीं है इस प्रकार] निराकरण कैसे कर सकते हैं ? प्रक्षकों ने [अनुकायको] देखा
हो या न देखा हो किन्तु उनकी [रामादिका अभिनय करते समय] नटोंम राम आदि [कि
तादात्म्य] का निश्चय होता ही है । अथवा यह बनावटी [राम] है इस प्रकारका ज्ञान होने
पर रामादिके मुख-दुःखोंमे तमयताका प्राप्त नहीं कर सकते हैं । [इस प्रकार नटमें रामादि
बुद्धिको चाहे अम ही क्यों न माना जाय किन्तु उससे समाजिकमें शृङ्गारादिकी प्रतीति

वाचिक । सामाजिकानामभिमुख्येन साक्षात्कारेण नीयते प्राप्यते अर्थोऽनेनेति अभि
नयः । वाचा संस्कृत प्राकृतादीनां सार्थिकानामनर्थिकानां वा । यथाभावं क्रोध अहङ्कार
जुगुप्सा उत्साह विस्मय हास-रति-भय-शोक - सुख दुःख-मोह-लोभ माया असूया शङ्का
ऽऽदीनां, वेपथु स्तम्भ रोमाञ्च मूर्च्छा वैवर्ष्य-प्रसादादीनां वा भावानामनतिक्रमेण ।
तथा च कथय 'सप्तोद्य' 'सावेग' इत्यादीन्यनुकार्यभावप्रकाशकानि क्रियाविशेषणान्यु
पनिवधन्ति । तेनैकेनोक्तमपरस्य यथाभावं अनुवदतोऽनुवाद एव न वाचिकोऽभिनय
इति । अनुक्रिया च वागादीना तद्व्यवसायवशान् न पुनर्वस्तुतः । रामादेरनुकार्यस्य
नटो प्रेक्षकैर्वा स्वयमदृष्टवान् । अनुकर्ता ह्यनुकार्यमदृष्ट्वा नानुक्तुं शक्नुते । प्रेक्षकोऽपि
चादृष्टानुकार्यो नानुक्तुं शक्नुते त्वमनुमन्यते । तदयं नटो रामादेश्चरित कविनिन्दम-
धीत्य अत्यन्ताभ्यासवशत स्वयं दृष्टमनुमन्यमानो अनुकरोमि इत्यध्यवस्यति ।
परमार्थस्तु लोकव्यवहारमेवायमनुवर्तते । प्रहृष्टोऽपि हि रामेण रदिते रोदिति, न
तु हसति । विपण्योऽपि च हसिते हसति, न तु रोदितित्यादि ।

प्रेक्षकोऽपि रामादिशब्दसंकेतश्रवणादतिदृष्टसंगीतकाहितवैषम्याच्च स्वरूप-

है । [आगे अभिनय शब्दका निर्वचन करते हैं] । अभिमुख्येसे अर्थात् साक्षात्कारात्मक रूप
से [अभिनेतव्य] अर्थ जिसके द्वारा सामाजिकोंके पास पहुँचाया जाता है वह [अभिनीयते
इस निर्वचनके अनुसार] अभिनय कहलाता है । वचनोका अर्थात् संस्कृत अथवा प्राकृत भाषा
मय वचनोंका अथवा सार्थक या अनर्थक वचनोंका । [पक्षाके] मनके अनुसार 'यथाभाव'
अर्थात् क्रोध अहङ्कार, जुगुप्सा, उत्साह, विस्मय, हास्य, रति, भय, शोक, सुख-दुःख, मोह-लोभ
माया, असूया, शंका आदि [भावों] का, तथा कम्प, स्तम्भ, रोमाञ्च, मूर्च्छा, वैवर्ष्य तथा
प्रसन्नता आदि रूप भावोंका प्रतिक्रमण किए बिना [अभिनय करना 'यथाभावमनुक्रिया'
कहलाती है] । इसीलिए कश्चिण 'सावेग' सकोष' इत्यादि अनुकार्य भावके प्रकाशक पदोंका
प्रयोग करते हैं । इसीलिए एकके द्वारा कहे गएका, दूसरेके द्वारा यथोचित भावका अनुकरण
किए बिना जो [अनुवाद करना] बयन करना है वह केवल 'अनुवाद' कहलाता है उसको
वाचिक अभिनय नहीं कहा जाता है । क्योंकि वाचिक अभिनयमें यथाभावानुक्रिया भावोंका
अनुकरण आवश्यक है । और याणी आदिका अनुकरण [यह रामका बयन है] इस प्रकारके
निश्चयके कारण होता है वास्तविक रूपमें नहीं । क्योंकि नटने अथवा प्रेक्षकोंके बिलीने भी
अनुकार्य रामादिको स्वयं नहीं देखा है । अनुकरण करने वाला [नट] अनुकार्य [रामादि]को
देखे बिना उसका अनुकरण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है । और प्रेक्षक भी अनुकार्यको
देखे बिना अनुकरण करने वालेको अनुकर्ता नहीं मान सकता है । इसीलिए यह नट बलिके
द्वारा नियुक्त राम आदिके चरित्रको पढ़कर प्राप्त अभ्यासके द्वारा स्वयं देखा जता मान
कर 'मैं [इस समय] उसका अनुकरण कर रहा हूँ' ऐसा निश्चय करता है [इसी समय
साथके कारण उसके ध्यापारको अनुकरण कहा जाता है] वास्तवमें तो यह [रामके ध्यापार
का नहीं अपितु] लोक-व्यवहारका ही अनुकरण करता है । क्योंकि स्वयं प्राप्त होनेपर भी
रामके रोनेपर रोता है हँसता नहीं है । और स्वयं बुझो होनेपर भी [राम आदिके] हँसने
पर हँसता है, रोता नहीं है । इत्यादि

और प्रेक्षक भी [नटके विषयमें] राम आदि शब्द-संकेतको समझने तथा अत्यन्त

दृष्टे कान्ताभयानकादय पट्प्रिशात् ।

नेत्रतारकयो भ्रमण वलनादयो बहव क्रियाभेदा समसान्यादयो दर्शन प्रकाराश्च ।

अक्षिपुटयोरन्मेष निमेषादयो बहव ।

ध्रुवोरुत्क्षेप पतनादय सप्त । नासिकाया नता-मन्टादय पट । गण्डयो क्षाम

उनका उल्लेख नाट्यशास्त्रम इस प्रकार किया गया है—

मुरजोऽभिनये विप्रा नानाभावरसाश्रये ।

शिरस प्रथम कर्म गदतो मे निबोधत ॥ ८ १७ ॥

आकम्पित कम्पित च ध्रुत विध्रुतमेव च ।

परवाहितमाधूत अवधूर्त तथाचितम् ॥ १८ ॥

निहंचित परावृत्तमुत्क्षिप्त चाप्यधोगतम् ।

ललित चेति विज्ञेय त्रयोदशविधं शिर ॥ १९ ॥

दृष्टिके कान्ता, भयानका आदि दृष्टीस प्रकार होते हैं ।

भरतमुनिने दृष्टिके इन छत्तीस प्रकारके नाम निम्न प्रकार गिनाए हैं—

कान्ता भयानका हास्या करुणा चाद्भुता तथा ।

रौद्रा वीरा च बीभत्सा विज्ञेया रसदृष्टय ॥ ४१ ॥

लिंग्धा हृष्टा च दीना च क्रुद्धा दीप्ता भयान्विता ।

जुगुप्सिता चिस्मिता च स्थायिभावेषु दृष्टय ॥ ४२ ॥

शून्या च मलिना चैव श्राता लज्जान्विता तथा ।

बु चिता चाभितप्ता च जिह्वा सललिता तथा ॥ ४३ ॥

वितर्कितार्धमुकुला विश्राता विलुप्ता तथा ॥ ४४ ॥

आपेकरा विकोशा च त्रस्ता च मदिरा तथा ।

पटत्रिंशद् दृष्टयो होतास्तासु नात्र प्रतिष्ठितम् ॥ ५५ ॥

नेत्र घोर तारकोंके भ्रमण, चलन आदि बहुतसे क्रियाभेद होते हैं ।

सम घोर धरु [साची] आदि दशनके प्रकार हैं ।

इस सम आदि दशन प्रकारोंका वर्णन करते हुए भरतमुनिने लिखा है—

अथात्रैव प्रवक्ष्यामि प्रकारान् दर्शनस्य तु ।

समं साच्यनुवृत्ते च ह्यालोकित विलोकिते ।

प्रलोकितोल्लोकिते चाप्यवलोकितमेव च ॥ १०६ ॥ ८ ॥

[अक्षि] नेत्रपुटोंके उन्मेष निमेष आदि बहुतसे भेद होते हैं ।

भरतमुनिने इन नेत्रपुटोंके अभिनय भेदाका निरूपण निम्न प्रकार किया है—

तारागतोऽस्यानुगत पुटकर्म निबोधत ।

उन्मेषश्च निमेषश्च प्रसून शुच्यत समं ।

विवर्तितं सस्फुरित पिहितं सविताडितम् ॥

भौहोंको उठाना गिराना आदि सात [अभिनय प्रकार होते हैं] । नासिकाके नता मन्टा आदि छ । ठोड़ीके कुट्टन लण्डन आदि बहुतसे [अभिनय प्रकार होते हैं] । नाथोंके

अथाङ्गिकः—

[सूत्र २२७]—कर्मणोऽङ्गैरुपाङ्गैश्च साक्षाद् भावनमाङ्गिकः ॥

॥[५०]१५२॥

कर्मणोऽनुकार्यचेष्टाया अङ्गैः शिरो-हस्त-वक्षः-कटी-पार्श्व-पादादिभिः, उपाङ्गैश्च नेत्र-भ्रू-पद्म-अधर-कपोल-चिबुकादिभिः । साक्षाद् भावनं परोक्षस्यापि सामाजिकेभ्यः साक्षादिव करणमाङ्गिकः । अङ्गानि प्रयोजनं हेतवो यस्येत्याङ्गिकः । 'यथाभाव' इति, अत्रापि स्मर्यते । तेन रामादेरनुकार्यस्य ये क्रोध-उत्साह-आवेग-वैमनस्य-हर्ष-वैचर्य-आत्यराग-भ्रुकुट्यादयश्चेष्टाविमिश्रा भावाः, तैरनस्यूतस्य कर्मणः साक्षादिव भावनं न तु केवलस्येति ।

तत्रोत्तमाङ्गस्याकम्पित-कम्पितादयस्त्रयोदश ।

होती ही है । क्योंकि] भ्रातृते भी शृङ्गारादिकी उत्पत्ति हो सकती है । अथवा स्वप्नमें कामिनी, वंदी चोर आदिको देखने वालोंके भीतर रसके चरम सीमापर पहुँच जानेपर [रसोंके अनुकूल] स्तम्भादि अनुभाव कैसे होते हैं ?

अथ आंगिक [अभिनयका वर्णन करते हैं]—

[सूत्र २२७]—अंगों और उपाङ्गोंके द्वारा कार्योंका साक्षात्कार कराना आंगिक [अभिनय कहलाता] है । [५०] १५२ ।

कार्योंका अर्थात् अनुकार्य [रामादि] की देखाका । अंगोंके द्वारा अर्थात् तिर हाथ छाती कमर पार्श्व और पैर आदि रूप [मुख अंगों] के द्वारा । और उपांगों अर्थात् नेत्र भौंह, पलक, अधर, कपोल, ठोड़ी आदि [गोण] उपांगोंके द्वारा । साक्षात् भावन अर्थात् परोक्ष अर्थको भी सामाजिकोंके लिए साक्षात्-सा द्रमा देना । आंगिक [अभिनय कार्य] है । अङ्ग जिसका प्रयोजन अर्थात् हेतु है वह आङ्गिक है [यह आङ्गिक कर्मका निवर्धन हुआ] । इस कारिकाके पूर्वाङ्गमें पठित 'यथाभावानुक्रिया'मेंते] 'यथाभाव' यह भाग यहाँ [आङ्गिकके लक्षणमें] भी संगत होता है । इसलिए रामादि अनुकार्यके जो क्रोध, उत्साह, आवेग, वैमनस्य, हर्ष, वैचर्य, मुखराग और भ्रुकुटि आदिके युक्त चेष्टाविमिश्रित भाव हैं उनसे समन्वित कार्योंका सा साक्षात्करण [होना आवश्यक है], केवल [आयानुकरण रहित कर्म] का नहीं ।

इस प्रकार आङ्गिक अभिनयका लक्षण करनेके बाद अथ संयकार भरत मुनिके नाट्यशास्त्रके आधारपर आङ्गिक अभिनयोंका संक्षिप्त विवेचन करते हैं ।

भरतमुनिके नाट्यशास्त्रके आठवें अध्यायमें इन आङ्गिक अभिनयोंका विशेष वर्णन किया गया है उसीका संकेत करते हुए संयकार आगे प्रतिपादन करते हैं ।

संयकारने यहाँ अङ्गों और उपाङ्गोंके द्वारा किए जाने वाले अभिनयको आङ्गिक अभिनय कहा है । भरतमुनिने इन अङ्गों तथा उपाङ्गोंका विभाजन किन्तु प्रकार किया ?—

“तत्र शिरो हस्तोरः पार्श्वकटीपादतः पङ्क्तानि ।

नेत्र-भ्रू-नामाधर - कपोल - चिबुकानुपाङ्गानि ॥ ८-१५ ॥

उनमेंसे गिरके कम्पित आकम्पित आदि तेरह प्रकार [के अभिनय होने] हैं ।

इन १५ अङ्गोंमेंसे गिरके तेरह प्रकारके अभिनयोंका संकेत यहाँ संयकारमें किया है ।

तलपुष्प पुटवर्तितादीनि करणान्यष्टोत्तरं शतमित्वादि. मर्जोऽपि चेष्टाविषयो
अङ्गोपाङ्गप्रभवत्वाद्-आङ्गिक एवाभिनयः ।

गतयोऽप्येवम् । तत्रोत्तम-मध्यम-नीचाना क्रमेण धीरा मध्यमा द्रुता च
सामान्येन गतिः । विशेषस्तु बृद्ध-व्याधित-क्षयित-श्रान्त-नप-क्लात क्षुभित-सावहित्य-
शोक-शृङ्गारान्वित-स्वच्छन्दादीनां मन्थरा । हर्ष-आवेग-कुतूहल-भय-अस्त्रुक्कादि-
मतां त्वरिता । प्र-दन्तकामुक-वैरि-चौर-रौद्रमन्त्रादिशाङ्कतादीनां नि-शङ्कपदसञ्चारा
उन्मार्गा दिगवल्लोम्नवती च । शीत-वर्षादितयो रुम्पमाना मर्षादिताङ्गा । घर्मात्म्य
स्वेदापनयना द्यावावल्लोम्नवती । प्रहागत-स्थूलयोरङ्गास्पर्श-श्वामयती स्थिरा च ।
वातनां नेत्रचापल्य-पुरतो युगमात्रनिरीक्षणवती । उन्मत्त-मत्तयोर्विधूर्णितनेत्रा स्थलित्वा

समोत्साग्निमनस्ली मन्स्ली चेति षोडश ।

एता भौम्यः स्मृताश्चार्य शृङ्गुलाशशिरी पुन ॥ १८ ॥

इत मोनह भोमी चारियोके नाम गिनानेके बाद भयनमुनिन मोनह प्रकारकी भाषा-
गिरी चारियोके नाम दिए हैं जो निम्न प्रकार हैं—

अतिक्रान्ता ह्यप्रताता पार्श्वभ्रान्ता नर्थव च ।

उर्ध्वजानुश्च मृची च तथा नृपुष्पादिका ॥ ११ ॥

ढोलापादा तथाजिन्ता आरिद्वोद्भृत्तमजिने ।

विशुद्धभ्रान्ता हलाला च भुर्जगत्रामिना तथा ॥ १२ ॥

मृगप्लुता च शरहा च भ्रमरी चेति षोडश ।

आकाशिक्य स्मृता द्योता लक्षणं च निनेधत ॥ १३ ॥

फुल्लादयः पट् । अधरस्य विवर्तन-कम्पादयः पट् । चिबुकस्य कुट्टन-खण्डनादयो बहवः । प्रीवायाः समा नतादयो नव । हस्तयोः पताक-त्रिपताकादयश्चतुःपट्टि ।

वक्षस आभुग्न-निर्भुग्नादयः पञ्च । पार्श्वयोर्नत-समुन्नतादयः पञ्च । उदरस्य क्षाम खल्ल-पूर्णलक्षणस्यः । कट्याश्लिङ्गानिवृत्तादयः पञ्च । उर्वो- कम्पन-धलनादयः पञ्च । जङ्घयोरावर्तित-नतादयः पञ्च । पादयोर्दृघटित-समादयः पट् । तथैकपादप्रचार-रूपाः समपादा-स्थितावर्तिकादयो भीम्यः षोडश । अतिक्रात-अपक्रांतादयः षोडश आकाशिक्यञ्च 'चार्यः' । स्थिरहस्त-पर्यस्तकादयो अङ्गद्वारा द्वात्रिंशत् ।

पिचक जाना, या फूल जाना आदि छः, अधरके फडकना, कांपना आदि छ, ठोड़ीके कुट्ट, खण्डन आदि बहुतसे [अभिनय प्रकार होते हैं] । गर्दनके समा, नता आदि नौ, हाथोंके पताका, त्रिपताकादि १४ प्रकार होते हैं ।

छातीके आभुग्न, निर्भुग्ना आदि पांच, पादयोर्नत, समुन्नत आदि पांच, उदरके दुर्बल, खाली और भरा आदि तीन, बमरके छिन्न अनिवृत्त आदि पांच, जांघो के कम्पन, लपेटना आदि पांच, जघाघोके आवर्तित नत आदि पांच [अभिनय प्रकार होते हैं] । पैरोंके उद्वृत्त, सम आदि छ [अभिनय प्रकार होते हैं] । और एक पैरसे चलने रूप समपाद, स्थित, आवर्तित आदि सोलह प्रकारकी भूमिपर की जाने वाली 'चारी' तथा अतिक्रांत अपक्रान्त आदि सोलह प्रकारकी आकाशोप 'चारी' एक स्थिर हस्त पर्यस्तक आदि बत्तीस प्रकारके अङ्गहार [ये सब आङ्गिक अभिनयके अन्तर्गत आते हैं] ।

इसमे ग्रन्थकारने जिन 'चारी', 'अङ्गहार' आदि आङ्गिक अभिनय भेदोका उल्लेख किया है उनका वर्णन नाट्यशास्त्रके दशम अध्यायमे विस्तारपूर्वक दिया गया है । उसमे 'चारी'का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

एक पादप्रचारो यः सा चारीत्यभिसंज्ञिता ।

द्विपादक्रमणं यत्तु करणं नाम तद्भवेत् ॥ १०-३ ॥

अर्थात् एक पैरकेद्वारा चलनेका नाम 'चारी' और दोनो पैरोंसे परिक्रमण करनेको 'करण' कहते हैं । नाटकमे 'चारी'के महत्त्वका प्रदर्शन करते हुए भरतमुनिने लिखा है—

चारीभिः प्रसृतं नृत्तं चारीभिश्चेष्टितं तथा ।

चारीभि शस्त्रमोक्षश्च चार्यो युद्धे च कीर्तिता ॥ ५ ॥

यदेतत् प्रस्तुत नाट्यं तच्चारीष्वेव संस्थितम् ।

न हि चार्या विना किञ्चिन्नाट्येऽङ्गं सम्प्रवर्तने ॥ ६ ॥

नाट्यमे चारीके महत्त्वका प्रतिपादन करनेके बाद भरतमुनिने प्रायः सोलह प्रकारकी भीमी और सोलह प्रकारकी आकाशिकी चारियोंके नाम गिनाकर उनके लक्षण विस्तारपूर्वक दिखनाए हैं । इन सबको देखना चाहे तो नाट्यशास्त्रके दशम अध्यायमे देखना चाहिए । यहाँ ग्रन्थकारने उनके नामोका संकेतमात्र किया है । वे नाम निम्न प्रकार गिनाए गए हैं—

समपादा स्थितावर्ता शरुटाख्या तथैव च ।

अध्यर्धिका चापगतिर्विच्यवा च तथा परा ॥ ८ ॥

एडकाश्रीडिता बद्धा उरुद्वृत्ता तथाकिता ।

उत्पन्दिताथ जनिता स्यन्दिता चापस्यन्दिता ॥ ९ ॥

अवहित मन सत्त्व, तत् प्रयोजन हेतुरस्येति सात्त्विक । मनोऽनवधाने हि न शक्यन्त एव स्वरभेदादयो नटेन दर्शयितुम् । आदिशब्दाद् वेपथु स्तम्भ-रोमाञ्च-मूर्च्छन-स्वेद वैवर्ण्य-अश्रु-निश्वासोच्छ्वास-सन्ताप-शैत्य-जृ भा कार्ण्य - मेदुरत्व उल्लुक सन अवहित्य-सावधानता-लाला फेनमोक्ष-गात्रमसन हिकादेर्ग्रह । नायमभिनयो वाचिक, शब्दानुकारान् । नाप्याङ्गिक अङ्गोपाङ्गसाध्य-स्पष्टचेष्टाया प्रभावादिति । स्वरभेदाद्यनुभावप्रदर्शन रसोत्तम-मध्यम-अधमप्रकृत्याद्यौचित्यानुसारतो द्रष्टव्य-मिति ॥

अथाहार्य —

[सूत्र २२६]—वर्णाद्यनुक्रियाऽऽहार्यो बाह्यवस्तुनिमित्तकः ॥

[५१] १५३ ॥

वर्णं श्वेतादि । आदिशब्दाद् रस-गन्ध-आकल्प-आयुध-वाहन-अङ्गाधिक्य-देश-नदी-नगर-वन-पक्षि-द्विपद-चतुष्पद-अपद-प्रासाद-पर्वतादेर्ग्रह । बाह्य शरीरव्यतिरिक्त भस्म धातु-जतु राग-हरिताल मपी-मृत्तिका यस्त्र चेणु दलादिकं निमित्तमस्येति । वाचिकादयस्तु शरीरनिमित्ता इति भेद । अथ च देश-काल कुल प्रकृति दशा-स्त्रीत्व

एकाग्रमनका नाम सत्त्व है । वह सत्त्व जिसका प्रयोजन अर्थात् हेतु है वह सात्त्विक [अभिनय] होता है । मनकी स्थिरता न होनेपर नट स्वरभेदादिका प्रदर्शन नहीं कर सकता है [इसलिए स्वरभेदादि अनुभावोका प्रदर्शन सात्त्विक अभिनय कहलाता है] । आदि शब्दसे कम्पन, स्तम्भ, रोमाञ्च, मूर्च्छा, स्वेद, विवर्णता, प्रासू निश्वास, उच्छ्वास, स ताप, शय जम्भाई, कृशता, स्थूलता, उल्लुकसन, आकारगोपन [अवहित्या] सावधानता, सार गिराना/या फेन गिराना, शरीरका शिथिल कर देना और हिककी आदिका ग्रहण होता है । इन सबका यह अभिनय शब्दानुकरण रूप न होनेसे वाचिक नहीं कहा जा सकता है और अगोप्यया उपयोगसे साध्य स्पष्ट चेष्टारूप न होनेसे आंगिक भी नहीं कहा जा सकता है । [इसलिए यह तीसरे प्रकारका सात्त्विक अभिनय कहलाता है] । स्वरभेद आदि अनुभावोका प्रदर्शन रस तथा उत्तम मध्यम अधम आदि प्रकृतियोंके औचित्यके अनुसार किया जाना चाहिए ।

अथ [वेप भूयादित्ते साध्य चोपे प्रकारके] आहार्य [अभिनयका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २२६]—बाह्य वस्तुप्रोक्ते द्वारा किया जाने वाला वर्ण आदिका अनुकरण आहार्य [अभिनय कहलाता] है । [५१] १५३ ।

वर्णं अर्थात् श्वेतादि । आदि शब्दसे रस, गन्ध, वेप [आकल्प] दास्त्र, वाहन, आगोकी अपिचता देश, नदी नगर, वनपक्षी, द्विपद चतुष्पद, पदरहित [सर्प आदि] प्रासाद और पर्वत आदिका ग्रहण होता है । बाह्य अर्थात् शरीरसे भिन्न भस्म धातु लाल आदिका राग, हरिताल, स्याही, मिट्टी, यस्त्र, धातुरी और पत्रादि जिसका निमित्त अर्थात् प्रयोगक है [वह सब आहार्य अभिनय कहलाता है] । और वाचिक आदि [पहले बहे हुए] तीनों प्रकारके अभिनय] तो शरीर निमित्तक होते हैं यह [उन तीनोंके इन आहार्य अभिनय का] भेद है । देश, काल, प्रकृति, दशा, स्त्रीत्व पु स्त्र, पशुत्व आदिक औचित्यके अनुसार इस [आहार्य अभिनय]की करना चाहिए ।

च । विद्रूपकस्य असम्बद्धेक्षणवती । जले पादविकर्षवती, प्रतरणे जठर-शयकाया-
वाहुभ्यां जलविपाटनवती च । जलद्वियमाणस्य विसंस्थुलाङ्ग-केश-धसनवती । अन्ध-
अन्धकारगतयोः श्राकृष्यमाणमन्दपदा पुरःप्रसारितविलोलहस्ता च । आरोहणे
उर्ध्वावलोकनपरा, विपरीता त्ववरोहणे । आकाशे समाभ्यां पादाभ्यां, वाहनैः, पद्मा-
भ्यां वा । आकाशान्यतो विसंस्थुलाङ्गकेश-श्रशुका । इत्याद्यनेको गतिप्रकार इति ।

तथा रूपस्य शिरसि दृष्टौ कृत्वा किञ्चिदास्यचालनानिमिषप्रेक्षणाभ्याम्,
शब्दस्य शिरसा पार्श्वनतन, स्पर्शस्य नेत्राकुञ्चनेन, रस-गन्धयोश्चैकोच्छ्वासेनाभि-
नयः । सर्वोऽपि चाभिनय इष्टो, मध्योऽनिष्टश्चेति त्रिप्रकारः । तत्रेष्टः सौमुख्य-पुलक-
गात्र-नेत्रविकासदिना क्रियते । मध्यो माध्यस्थेन । अनिष्टः शिरःपरावर्तन-नेत्र-
नासाविकोणनादिति । चतुर्विधश्चात्र मुखरागः, प्रसन्नः, स्वाभाविको, रक्तः, श्यामरचेति
रसौचित्यानतिक्रमेण भवति । यदपि सर्वशरीरसाध्यं भूपातादिकं तदप्याङ्गिक एव ।
अङ्गोपाङ्गरूपत्वान्द्वरीरस्येति ॥ [५०] १५८ ॥ -

अथ सात्त्विकः—

[सूत्र २२८]—सात्त्विकः स्वरभेदादेरनुभावस्य दर्शनम् ।

होती है । विद्रूपककी गति प्रसम्बद्ध बातकी देखते हुए होती है । पानीमें, पेरोंकी घसीटते हुए,
तेरते समय पेट, हाथ, शरीर तथा बाहुओंसे जलको चीरते हुए, धीरे जलमें यहते हुएकी प्रत-
व्यस्त हाथ-पंर, केश तथा वस्त्रोंसे युक्त गति होती है । अन्धो और अन्धकारमें चलने वाली
की धीरे-धीरे पेरोंकी खचेड़ते हुए धीरे आगेकी धीरे फंसे हुए हाथको हिलाते हुए [गति
होती है] । ऊपर चढ़ते समय ऊपरकी धीरे देखते हुए और उतरते समय उसके विपरीत
[अर्थात् नीचेकी धीरे देखते हुए गति होती है] । आकाशमें दोनों पंर एकसे किए अथवा
वाहनोके द्वारा अथवा पंखोंके द्वारा [गति होती है] । आकाशको छोड़कर अन्ध्र अस्त-व्यस्त
केश वस्त्रादिसे युक्त अनेक प्रकारका गमनविधि कहा गया है ।

धीरे रूप [के दर्शन] का [अभिनय] सिरके ऊपर हाथ रखकर तनिक सिर हिलाते
हुए टकटकी लगाकर देखते हुए नेत्रोंसे, शब्द [के ध्वरण] का [अभिनय] एक धीरेकी
सिर भुकाकर सुननेसे, विशेष प्रकारके स्पर्शका [अभिनय] घ्राँलें बन्द कर लेनेसे, धीरे रस
तथा गन्धका एक सम्बे साँस लेनेके द्वारा होता है । सभी अभिनय इष्ट, मध्यम तथा अनिष्ट
तीन प्रकारका होता है । उनमेंसे इष्ट अभिनय मनकी प्रसन्नता, शरीरके रोमाच तथा नेत्रोंके
विकास आदिके द्वारा [प्रदर्शित] किया जाता है । मध्य अभिनय मधप्रस्थताके द्वारा धीरे
अनिष्ट अभिनय [का प्रदर्शन] मुँह फेर लेने धीरे नेत्र एवं नाकके सिकोडनेके द्वारा किया
जाता है । इस अभिनयमें प्रसन्न, स्वाभाविक रक्त, लाल तथा काला चार प्रकारका मुखराग
होता है । जो रसके औचित्यके अनुसार होता है । धीरे पृथिवीपर गिर पड़ना आदि जो सारे
शरीरसे साध्य व्यापार है वह भी शरीरके ही अङ्गोपाग रूप होनेसे प्रागिक अभिनयके अन्तर्गत
ही होता है ॥ [५०] १५२ ॥

अथ सात्त्विक [अर्थात् मानसिक अभिनयका दर्शन करते हैं]—

[सूत्र २२८]—स्वरभेदादि अनुभावोंका प्रदर्शन सात्त्विक [अभिनय] कहलाता है ।

अथ चतुर्थो विवेकः

पुंस्त्व-परदत्वाद्यौचित्यानुसारतो विधेय इति ।

यस्तु पञ्चमश्चित्राभिनय प्रोक्त. सोऽप्यङ्गोपाङ्गकर्मविशेषरूपत्वादांगिक
ग्वान्तर्भवति ।

अभिनयद्वय-त्रय-चतुष्टयसन्निपातरूपः सामान्याभिनयः पुनर्वाचिकादिलक्षणे-
नैव चरितार्थ इति ॥ [५१] १५३ ॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितायां स्वोपज्ञनाट्यदर्पणविवृतौ
वृत्ति-रस भाव-अभिनयविचारस्तृतीयो विधेकः ॥ ३ ॥

श्रीर जो पाँचवें प्रकारका चित्राभिनय [नाट्यशास्त्रमे] कहा गया है वह भी संगी
तया उपागोंके विशेष कर्म-रूप होनेसे आंगिक अभिनयके भीतर ही आ जाता है ।

दो, तीन या चार अभिनयोंका सन्निपात रूप जो सामान्याभिनय [नाट्यशास्त्रमे]
कहा गया है वह भी वाचिक आदिके लक्षणोंके अन्तर्गत ही हो जाता है ॥ [५१] १५३ ॥

श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र विरचित स्वनिमित नाट्यदर्पणकी विवृतिमे

वृत्ति-रस-भाव-अभिनय-विचार नामक

तृतीय विधेक समाप्त हुआ ॥३॥

अथ चतुर्थो विवेकः

अतः परं सर्वरूपकोपयोगि किञ्चिदुच्यते—

[सूत्र २३०]—देव-भूप-सभा-भर्तृ मुख्यानां मङ्गलाभिधा ।

नित्या रूपमुखे नान्दी पदं पङ्क्तिरथाष्टभिः ॥

[१] १५४ ॥

‘मुख्य’ ग्रहणं सरस्वती-कविप्रभृतीनामुपलक्षणार्थम् । ‘मङ्गलाभिधा’ सङ्कृत-
गुणोत्कीर्तनं, आशीर्वचनं वा । ‘नित्या’ एवंविधरूपैव । अपरेषां तु पाठ्यानामुत्थापना-
दीनां पूर्वैरङ्गाङ्गानां प्रयोगवशादन्यथात्वमपि भवति । अवरयम्भावाद्वा नित्यत्वम् ।
शेषाणां हि रङ्गाङ्गानां नावरयम्भावः । अहरहः प्रयोज्यत्वाद्वा नित्यत्वम् । यावद्वि रूप
कस्याभिनयस्तावदेषा नान्दी प्रयोक्तव्यैव । ‘रूपकस्य’ नाटकादेः, ‘मुखे’ प्रारम्भे,
नान्दी । प्रयोगस्थानकथनमेतत् । नान्दीत्वं च मङ्गलाभिधाया प्रत्यूहापसारणेन समृद्धि-
जनकत्वात् । ‘पदानि’ वाक्याङ्गानि । केचित्तु पूर्णवाक्यापेक्षयावान्तरवाक्यानि ‘पदानि’
इत्याहुः । तथा च भरतमुनिर्नान्दीं पठति—

अथ नाट्यदर्पणदोषिकां चतुर्थो विवेक

अथ सव प्रकारके रूपकोंमें उपयोगी कुछ बातें कहते हैं—

[सूत्र २३०]—देवताओंकी, राजाओं, सभाकी तथा स्वामी आदिकी मंगल-कामना
रूप, छ पदोंसे युक्त अथवा आठ पदोंसे युक्त ‘नान्दी’ प्रत्येक रूपकके प्रारम्भमें नित्य ही
करनी चाहिए । [१] १५४ ।

‘मुख्य’ पदका ग्रहण सरस्वती और कवि आदिका उपलक्षण है । ‘मंगलाभिधा’ अर्थात्
विद्यमान सद्गुणोंका कथन करना, अथवा आशीर्वचन । ‘नित्या’ अर्थात् (१) सदा इसी
प्रकारकी [मंगलाभिधा रूप] होती है । पुँसरगके, पढ़े जाने वाले ‘उत्थापना’ आदि अन्य
अंगोंमें तो प्रयोगके भेदसे परिवर्तन भी हो जाता है । [किन्तु नान्दीका सभी रूपकोंमें एक ही
स्वरूप रहता है । यह ‘नित्या’ पदका अभिप्राय है] । (२) अथवा [सब रूपकोंमें नान्दीका]
अवयवभाव होनेसे नित्यत्व कहा है । रंगके अन्य अंगोंका होना आवश्यक नहीं है । अथवा
(३) प्रतिदिन प्रयोग किए जानेके कारण नान्दीका नित्यत्व कहा है । जब तक रूपकोंका
अभिनय रहेगा तब तक इस नान्दीका प्रयोग किया जाना चाहिए । [यह ‘नित्या’ पदका
अभिप्राय है] । ‘रूपक’ अर्थात् नाटकादिके ‘मुख’ अर्थात् प्रारम्भमें नान्दी होती है । यह प्रयोगके
स्थानका कथन किया गया है । विघ्नके विनाश द्वारा समृद्धिजनक होनेके कारण मंगल-कामना
मंगलाचरणको ‘नान्दी’ कहा गया है । ‘पद’ अर्थात् वाक्यके अवयव । कुछ लोग पूर्ण वाक्यकी
दृष्टिसे अवान्तर लण्ड-वाक्योंको ‘पद’ कहते हैं । जैसाकि [पवान्तर लण्ड वाक्योंको पद मानकर]
भरतमुनिने [नाट्यशास्त्र अ०५, ११०-११३ में] इस प्रकार नान्दीका पाठ लिखलाया है ।

कृत्यारम्भस्येति लक्षिता । अत एव कवयो रूपाकारम्भे 'नान्यन्ते सूत्रधार' इति पठन्ति । यत्र तु कविकृता नान्दी न दृश्यते तत्रापि रङ्गसूत्रणकृतकृता द्रष्टव्या । नां दी-पाठकारश्च सूत्रधार-स्थापक-पारिपादिक इति ॥ १५४ ॥

अथ ध्रुवा लक्ष्यते—

[सूत्र २३१]—प्रवेश-निष्क्रमाक्षेप-प्रसादान्तरसङ्गतम् ।

चित्रार्थं रूपकं गेयं पञ्चधा स्यात् कविध्रुवा ॥

[२] १५५ ॥

'रूपकं कविध्रुवा' इति सम्बन्धः । प्रविशतः पात्रम्य रम-भाव प्रकृति अवस्था-दिकं प्रवेशशब्देनोच्यते । तदनुसारेण श्लेष-ममासौक्त्याद्यलंकृतं यद् रूपकं गीयते सा, 'प्रवेशः' प्रयोजनमन्या इति 'ईकरिण' प्रावेशिका ।

(१) यथा अनर्घराघवे—

(क)—"दिणयरकिरणक्करो पिपायरो को वि जीवलोयस्म ।

कमलमउलंकवाली-कय-महुअर-कड्डणवियड्डो ॥

[अर्थात् नान्दी सम्पादनके वाच सूत्रधार प्रविष्ट होता है] इस प्रकार लिखते हैं । [भास आदि के नाटकमें] जहाँ कवि द्वारा को गई नाग्दी उपलब्ध नहीं होती है वहाँ भी रगकी व्यवस्था करने वाले सूत्रधारकी धोरते को गई नान्दी समझ लेना चाहिए । नाग्दी-पाठ करने वाले सूत्रधार, स्थापक तथा पारिपादिक ये तीन होते हैं ॥ [१] १५४ ॥

अथ 'ध्रुवा' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १८१]—[पात्रोंके] प्रवेश, निष्क्रमण, [रसान्तरके] आक्षेप, [प्रस्तुत रसके] उज्ज्वलीकरण धोर [नटोंके किसी छिद्र अर्थात्] श्रुति [को छिपानेके लिए इन सब] के साथ सम्बद्ध जो पद [रूपक] गाए जाते हैं वे 'ध्रुवा' कहलाते हैं और वह [पूर्वोक्त प्रवेश निष्क्रमण आदि पाँचके साथ सम्बद्ध होनेसे] 'कविध्रुवा' पाँच प्रकारकी होती है । [२] १५५ ।

[कारिकाके] 'रूपकं कविध्रुवा' इस प्रकारका अन्वय करना चाहिए । [रूपकं अर्थात् गेय पदोंको ध्रुवा कहते हैं यह अभिप्राय है] । उसका प्रयोजन पात्रोंका प्रवेश निष्क्रमण आदि पाँच प्रकारका होता है इसलिए ध्रुवा भी पाँच प्रकारकी बही गई है । उनमेंसे पहले पात्रोंके प्रवेशसे सम्बद्ध प्रावेशिकी ध्रुवा लिखलाते हैं] आगे प्रविष्ट होने वाले पात्रके रस, भाव, प्रकृति, अवस्था आदिको यहाँ 'प्रवेश' शब्दसे कहा गया है । उसके अनुसार श्लेष समा-सोक्ति आदिके द्वारा जिस [रूपक अर्थात्] गेय पदका गान किया जाता है वह प्रवेश जिसका प्रयोजन है । इस अर्थमें [आचार्य हेमचन्द्रद्वारा व्याकरणके अनुसार] 'ईकम् प्रत्यय करने पर' प्रावेशिकी [पद सिद्ध होता है] ।

(१) प्रावेशिकी ध्रुवा—

[प्रावेशिकी ध्रुवाका उदाहरण] जैसे अनर्घराघवमें—

(क) सूर्यदेवका हिरण समुदाय जो कमल-कमिवापोंको धोरते धीरोंका आश्चर्य करनेसे विहाय है, समस्त जीवलोकेसिए कृष्ण अशुभं धान्यदायक है ।

“नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्यश्च वै नमः ।
जितं सोमेन वै राज्ञा शिवं गो ब्राह्मणाय च ॥
ब्रह्मोत्तरं तथैवाम्नु हृता ब्रह्मद्विपस्तथा ।
प्रशाम्बिमां महाराजः पृथिवीं च ससागराम् ॥
राष्ट्रं प्रवर्धतां चैव रङ्गम्याशा समृध्यतु ।
प्रेक्षाकर्तुर्महान् धर्मो भवतु ब्रह्मभाषितम् ॥
काव्यकर्तुर्यशश्चापि धर्मश्चापि प्रवर्धताम् ।
इज्यया चानया नित्यं प्रीयन्तां देवता इति ॥” .

ना० अ० ४, ११०-११३ ॥

अत्र द्वादशावान्तराशीर्वाक्यानि । पङ्क्तिभिरिति त्र्यम्ब, अष्टभिरिति चतुरम्बं
रङ्गमपेक्ष्य मध्यमनान्द्या निर्देश । त्र्यम्बरङ्गे चोत्तमा द्वादशभिः, अधमा त्रिभिः पदै-
र्नान्दी । चतुरम्बरङ्गे पुनरुत्तमा षोडशभिः, अधमा चतुर्भिरिति । नान्दी च पूर्वरङ्गा-
ज्ञानां द्वादश मङ्गं सकलपूर्वरङ्गाङ्गोपलक्षिका । तेन ‘नान्द्यन्ते सूत्रधार’ इत्यम्य । सकल-
पूर्वरंगानि तु केषाञ्चित्लोकप्रसिद्धत्वान्, केषाञ्चिन्निरूपणत्वान्, केषाञ्चिद्वनवश्यम्भा
वित्वान्च न लक्ष्यन्ते । नान्दी त्वयर्थ्यम्भावित्वान्, मंगलाभिधानपूर्वरक्तत्वान्च शुभ

समस्त देवताओंको और द्विजातियोंको हमारा नमस्कार है । सोम रूप राजा [अथवा
प्रकाशमान चन्द्रमा] की विजय हो तथा गौओं एव ब्राह्मणोंका कल्याण हो ।

इसी प्रकार ब्राह्मणोंकी वृद्धि यह ब्रह्मविद्याकी वृद्धि हो । तथा ब्रह्मदेवियोंका विनाश
हो । और महाराज सागरों सहित इस पृथिवीका शासन करें ।

राष्ट्रकी समृद्धि हो और रंगशालाओंकी प्राप्ति पूर्ण हो । नाट्यकी व्यवस्था कराने
वाले [राजा आदि] को महान् धर्मकी प्राप्ति हो और [उनके द्वारा] वेदोंका पाठ होता रहे ।

तथा काव्यकी रचना करने वाले [कवियों] को यशकी प्राप्ति हो, उनके धर्मकी सदा
वृद्धि होती रहे । तथा इस यज्ञके द्वारा सर्व देवगण प्रसन्न होते रहे ।

इसमें प्राचीर्वाह्यमक बारह अवांतर वाक्य हैं । [कारिकामें] ‘पङ्क्ति’ इस पदसे
त्रिभुजात्मक रगको लक्ष्यमें रखकर मध्यम नान्दीका निर्देश किया गया है और ‘अष्टभि’
पदसे चतुरस्र मण्डपको ध्यानमें रखकर मध्यम नान्दीका निर्देश किया गया है । त्रिभुजात्मक
मण्डपमें उत्तम नान्दी बारह पदोंकी [मध्यम ६ पदोंकी] और अधम [नान्दी] तीन पदोंकी
होती है । और चतुरस्र मण्डपमें उत्तम [नान्दी] सोलह पदोंकी [मध्यम आठ पदोंकी] तथा
अधम [नान्दी] चार पदोंकी होती है । नान्दी, पूर्वरगके अगोंमें बारहवाँ अंग है और यहाँ
वह पूर्वरगके सारे अगोंकी उपलक्षण रूप है । इसलिए ‘नान्द्यन्ते सूत्रधार’ [यह जो नाटकोंमें
लिखा जाता है] इसकी भी उपलक्षिका है । [पूर्वरगके अंगोंमेंसे] कुछ लोक-प्रसिद्ध होनेसे, कुछसे
निष्कल होनेसे और किन्हींके प्रावश्यक न होनेसे होनेसे पूर्वरगके समस्त अगोंका लक्षण
हमने यहाँ नहीं किया है । नान्दीका होना तो प्रावश्यक है इसलिए, और प्रत्येक शुभ कार्यके
प्रारम्भमें मंगलाचरण करना ही चाहिए इसलिए नान्दीका लक्षण किया है । इसीलिए
[अर्थात् प्रत्येक शुभकार्यके प्रारम्भमें मंगलाचरणके प्रावश्यक होनेके कारण जो लोग नान्दी
को नाटकका अंग नहीं मानते हैं वे] कवियण [भी] नाटकके प्रारम्भमें ‘नान्द्यन्ते सूत्रधार’

कृत्यारम्भस्येति लक्षिणा । अत एव षड्वयो रूपकारम्भे 'नान्द्यन्ते सूत्रधार' इति पठन्ति । यत्र तु कविकृता नान्दी न दृश्यते तत्रापि रङ्गसूत्रणकृतकृता द्रष्टव्या । नांटी-पाठकारश्च सूत्रधार स्थापक पारिपाश्विका इति ॥ १५४ ॥

अथ ध्रुवा लक्ष्यते—

[सूत्र २३१]—प्रवेश-निष्क्रमण-प्रसादान्तरसङ्गतम् ।

चित्रार्थं रूपकं मेयं पञ्चधा स्यात् कविध्रुवा ॥

[२] १५५ ॥

'रूपकं कविध्रुवा' इति सम्बन्धः । प्रवेशान्तरसङ्गतस्य रस-भावे प्रकृति अवस्था-दिकं प्रवेशशब्देभ्योच्यते । तदनुसारेण ज्ञेय-समासोक्त्याद्यलङ्कृतं यद् रूपकं गीयते सा, 'प्रवेशः' प्रयोजनमस्या इति 'ईकण्' प्रावेशिकी ।

(१) यथा अनर्घराघवे—

(क)—'दिलयरकिरणुक्करो पियायरो को वि जीवलौयस्स ।

कमलमउलंनवाली-कय-मट्टअर-कड्डणवियड्डो ॥

[अर्थात् नाट्ये सम्पादनके वाच्य सूत्रधार प्रविष्ट होता है] इस प्रकार लिखते हैं । [भास आदि के नाटकमें] जहाँ कवि द्वारा की गई नाट्ये उपलब्ध नहीं होती है वहाँ भी रसकी व्यवस्था करने वाले सूत्रधारकी ओरसे की गई नाट्ये समझ लेनी चाहिए । नाट्ये-पाठ करने वाले सूत्रधार, स्थापक तथा पारिपाश्विक ये तीन होते हैं ॥ [१] १५५ ॥

अथ 'ध्रुवा' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र १८१]—[पात्रोंके] प्रवेश, निष्क्रमण, [रसान्तरके] आक्षेप, [प्रस्तुत रसके] उज्ज्वलीकरण और [नटोंके किसी छिद्र अर्थात्] त्रुटि [को छिपानेके लिए इन सबके साथ सम्बद्ध जो पद [रूपक] गाए जाते हैं वे 'ध्रुवा' कहलाते हैं और वह [पूर्वोक्त प्रवेश निष्क्रमण आदि पाँचके साथ सम्बद्ध होनेसे] 'कविध्रुवा' पाँच प्रकारकी होती है । [२] १५५ ।

[कारिकामें] 'रूपक कविध्रुवा' इस प्रकारका ग्रन्थ्य करना चाहिए । [रूपक अर्थात् मेय पदोंकी ध्रुवा कहते हैं यह अभिप्राय है] । उसका प्रयोजन पात्रोंका प्रवेश निष्क्रमण आदि पाँच प्रकारका होता है इसलिये ध्रुवा भी पाँच प्रकारकी कही गई है । उनमेंसे पहले पात्रोंके प्रवेशसे सम्बद्ध प्रावेशिकी ध्रुवा दिसलताते हैं] आगे प्रविष्ट होने वाले पात्रके रस, भाव, प्रकृति, अवस्था आदिको यहाँ 'प्रवेश' शब्दसे कहा गया है । उसके अनुसार श्लेष समासोक्ति आदिके द्वारा जिस [रूपक अर्थात्] मेय पदका गान किया जाता है वह प्रवेश जिसका प्रयोजन है इस अर्थमें [आचार्य हेमचन्द्रकृत ध्याकरणके अनुसार] 'ईकण् प्रत्यय करने पर' प्रावेशिकी [पद सिद्ध होता है] ।

(१) प्रावेशिकी ध्रुवा—

[प्रवेशिकी ध्रुवाका उदाहरण] जैसे अनर्घराघवे—

(क) सूर्यदेवका करण समुदाय जो कमल-कलिकाश्रीकी गोवमे भीरोंका पाकचंल करनेमें विदाय है, समस्त जीवलोककेलिए कुछ प्रपूय आनन्ददायक है ।

[दिनकरकिरणोत्कर. प्रियाकर. कोऽपि जीवलोत्सव ।

कमलमुकुलांकपालीकृतमधुकरकर्पणविदग्ध ॥ इति संस्कृतम् ॥”

इयं स्वाश्रमरक्षणार्थं रामाकर्पणायामच्छतो विरवामित्रस्य आदित्योदय-
वर्णनव्याजेन प्रवेशसूचिका ।

(ख) यथा वा देवीचन्द्रगुप्ते पञ्चमेऽङ्के—

“मसो सियकरविस्तरप्रणासियासेसवेरितिमिरोहो ।

नियविह्वरेण चन्दो गत्यगं गहं लंघितं विसइ ॥

[एष सितकरविस्तरप्रणाशिताशेषवैरितिमिरोध ।

निजविभयवरेण चन्द्रो गगनं गहं लंघयितुं विशति ॥इति संस्कृतम् ॥”

इयं स्थापायशंकिनः कृतकोन्मत्तस्य कुमारचन्द्रगुप्तस्य चन्द्रोदयवर्णनेन प्रवेश-
प्रतिपादिकेति ।

(२) अङ्कान्ते अङ्कमध्ये वा सनिमित्त रङ्गात् पात्रस्य बहिर्नि सरणं निष्क्रम ।
तत्प्रयोजना । अनुशतिकादेराकृतिगणत्वाद् ‘इकणि’ उभयपदवृद्धौ
नैष्कामिकी ।

यथा देवीचन्द्रगुप्ते पञ्चमांकांते—

“बहुविह्व-कब्जविसेसं अडगूढं निह्ववेइ मयणादो ।

निक्पलइ खुद्धचिचउ रत्ताहुत्तं मणो रिउणो ॥

[बहुविधकार्यविशेषमतिगूढं निह्वुते मदनात् ।

निष्कलति खुद्धचित्तो रत्ताक्षितमना रिपो ॥

इति संस्कृतम् ॥”

यह सूर्योदय-वर्णनके बहाने से अपने आश्रमकी रक्षाके लिए रामचन्द्रको सिखा जानेके
उद्देशसे अपनेबाने विरवामित्रके प्रवेशकी सूचिका [प्रवेशकी ध्रुवा] है ।

(ख) अथवा जंसे देवी चन्द्रगुप्तके पञ्चम अङ्कमें—

अपनी शुभ किरणोंके विस्तारद्वारा शत्रु रूप समस्त अन्धकार-समुदायको नाश कर
देने वाला चन्द्रमा अपने प्रचुर [ज्योत्स्ना रूप] बंधवसे [अनिष्ट] पहोका उत्तथन करनेके
लिए आकाशमे प्रविष्ट हो रहा है ।

यह चन्द्रोदयके वर्णनके बहानेसे अपने विनाशकी क्षमा करनेवाले बनावटी रूपसे
उत्पन्न बने हुए कुमार चन्द्रगुप्त के प्रवेशकी सूचिका [प्रवेशकी ध्रुवा] है ।

(२) नैष्कामिकी ध्रुवा—

(२) अङ्कके अन्तमे अथवा अङ्कके बीचमे कारणवश पात्रका रगते बाहर जाना
निष्क्रमण कहलाता है । यह जिसका प्रयोजन हो, यह [नैष्कामिकी ध्रुवा] होती है । यह
नैष्कामिकी पद] अनुशतिकादिगणको अकृतिगण मानकर [हेमचन्द्र व्याकरणके अनुसार]
ईकण प्रत्यय करनेपर तथा उभयपद-वृद्धि करके ‘नैष्कामिकी’ [पद सिद्ध होता है] ।

जंसे देवीचन्द्रगुप्तके पञ्चम अङ्कके अन्तमें—

नाना प्रकारके अत्यन्त गुप्त विधेय कार्योंको कामके आयेगसे छिपाना चाहता है और
शत्रुके रक्तपानके लिए उत्सुक क्षुब्धचित्तवाला [कुमार चन्द्रगुप्त रङ्गभुजिते] बाहर जाता है ।

इयमुन्मत्तस्य चन्द्रग्रहस्य मदनविकारगोपनपरस्य मनाक् शत्रुभीतस्य राजकुल-
गमनार्थं निष्क्रमसूचिकेति ।

(३) प्रस्तुतरसोर्लघनेन रसान्तरोद्भावनेनमाक्षेपः । तत्प्रयोजना आक्षेपिकी ।
ययोदात्तरापवे रामस्य प्रस्तुतशृङ्गारोर्लघनेन—

“अरे रे तापस ! स्थिरीभव, क्वेदानीं गम्यते ?

स्वसुर्मम पराभवप्रमय एकदत्तव्यथ ।

ररप्रभृतिवान्धयोदलनघातसन्धुक्षितः ।

नवेह विदलीभवत्तनुसमुच्छलच्छोणित-

च्छटाच्छुरितवक्षम प्रशममेतु कौपानलः ॥”

इत्यादि नेपथ्यवाक्याकार्णनेन धीररसाक्षेपः ।

(४) प्रस्तुतस्य रसस्य विभावोन्मीलनेन निर्मलीकरणं ‘प्रसादः’ । प्रविष्टपात्रस्य
अन्तर्गतचित्तप्रवृत्तेः सामाजिकान् प्रति प्रथनं वा ‘प्रसादः’ । प्रसादप्रयोजना ‘प्रासादिकी’ ।
इयं च प्रावेशिकी आक्षेपिक्यनन्तरमवश्यं प्रयोज्येति वृद्धसम्प्रदायः ।

(५) ‘अन्तरं’ छिद्रं, तत्र भवा ‘आन्तरी’ । अनुकर्तुर्यथा अनारांकित एव घन-
विषातादिना विघात, उद्धतप्रयोगाश्रयाद्वा मूर्च्छा-भ्रमादिमम्भावना, वस्त्राभरणदेवो

यह मदन-विकारको छिपानेकेलिए उगमत् और कुछ शत्रुसे भयभीत राजकुलके राम-
मनमें जानेकेलिए [रङ्गमञ्चसे] निष्क्रमणकी सूचिका है ।

(३) आक्षेपिकी ध्रुवा—

प्रस्तुत रसको हटाकर अन्य रसका उत्पन्न करना ‘आक्षेप’ कहलाता है । वह जिसका
प्रयोजन है वह ‘आक्षेपिकी’ हुई । जैसे ‘उदात्तराघव’मे—रामचन्द्रके प्रस्तुत शृङ्गाररसको
हटाकर [निम्न श्लोक द्वारा धीररसका आक्षेप कराया गया है]—

अरे दुष्ट तापस ! ठहर जा, खड़ा रह, भव जाता कहाँ है ?

मेरी बहिन [शूर्पणखा] के अपमानमे उत्पन्न, एक [प्रसह्य अपूर्व] क्लेशको देनेवाला
धर-द्रूपण आदि बन्धुओंके विनाश रूप वायुसे प्रज्वलित किया हुआ क्रोधानल घाज धूलें
किए जाते हुए तेरे शरीरसे निकलनेवाले रक्तप्रवाहसे जिसका वक्ष स्थित व्याप्त हो रहा है इस
प्रकारका घनकर हो शांत होगा ।

इत्यादि नेपथ्यगत [रावणके] वाक्यको सुननेसे धीररसका आक्षेप होता है ।

(४) प्रासादिकी ध्रुवा—

विभावोंके उन्मीलन द्वारा प्रस्तुत रसका निर्मलीकरण ‘प्रसाद’ कहलाता है । अपवा
प्रविष्ट हुए पात्रको चित्तवृत्तिको सामाजिकोंके सामने प्रकाशित करना ‘प्रसाद’ माना जाता है ।
‘प्रसाद’ जिसका प्रयोजन है वह ‘प्रासादिकी’ [ध्रुवा] हुई । ‘प्रावेशिकी’ और ‘आक्षेपिकी’ ध्रुवाओंके
बाद इस [प्रासादिकी ध्रुवा] का प्रयोग अवश्य करना चाहिए यह वृद्धजनोंकी परम्परा है ।

(५) आन्तरी ध्रुवा—

अन्तर अर्थात् वृष्टि [छिद्र] । उस [छिद्र या वृष्टि] के होनेपर प्रयुक्तकी जाने वाली
[ध्रुवा] ‘आन्तरी’ [ध्रुवा कहलाती] है । [इसका अभिप्राय यह है कि] जब अनुकरण करने
वाले [नट] को (१) जिसकी दाका भी नहीं हो सकती थी इस प्रकारके आकास्मिक घन-

प्रच्युतिः, तदा तत्संवरणावकाशदित्सया इयं गीयते । अस्यां च प्राक्तनं भावि वा रस-
स्वरूपमनुवर्त्यम् । छिद्राच्छादनमात्रप्रयोजनत्वाच्चास्या न सार्थकपदन्यसनमुपयोगीति
शुष्काक्षराण्येवास्यां निवध्यन्ते ।

‘संगतं’ प्रवेशाद्यनुरूपार्थम् । ‘चित्रो’ नानाप्रकारः, सरः-काननादि-दिवस-रात्रि-
सन्ध्यादिः, उत्तम-मध्यमाधमप्रकृतिः गज-याजि-सिंहादिर्भावो रत्यादिकरचार्यो यत्र ।
अर्थश्च तथा निबन्धनीयो यथा ‘उपश्रुति-शकुनन्यायेन’ प्रत्ययेन प्रस्तुतोपयोगी भवति ।
‘रूपकं’ नियतमात्राक्षरं छन्दः । ‘गेयं’ स्वरतालैर्गानार्हम् । पञ्चधा प्रवेशादिभिः

विनाश आदिके कारण आघात लगता है तब, अथवा (२) किसी उद्धत प्रयोगके कारण
मूर्च्छा या चक्कर आने लगनेकी सम्भावना होनेपर, अथवा (३) वस्त्र, आभरण आदिके
गिर जानेपर उस [त्रुटि, अन्तर या छिद्र] के छिपानेकेलिए अबसर प्रदान करनेकी दृष्टिसे
इस [आन्तरी ध्रुवा] का गान किया जाता है । [जिससे प्रेक्षकोंका ध्यान उस गानकी ओर
खला जाता है और नटको उस त्रुटिको पूरा करने और संभल जानेका अबसर मिल जाता
है] । इसमें पूर्ववर्ती अथवा आगे आनेवाले रसके स्वरूपका अनुगमन आवश्यक होता है ।
केवल छिद्रोंका आच्छादन करना ही इसका प्रयोजन होता है इसलिए इसमें सार्थक पदके
पाठ आदि ही उपयोगी नहीं है [और सार्थक गेय पद इस समय अकस्मात् घनाए
भी नहीं जा सकते हैं] इसलिए केवल [सार्थक या निरर्थक जैसे भी बन जावें] शुष्क
अक्षरमात्रका इसमें जोड़-तोड़ किया जाता है । [उन्हींके गानसे सामाजिकोका चित्त बँटाकर
नटकी अपनी त्रुटिको छिपाने तथा संभलनेका अबसर मिल जाता है] ।

[प्रवेश, निष्क्रम, आक्षेप, प्रसाद और अन्तर इन पाँचोंके साथ] ‘संगत’ अर्थात् प्रवेश
आदि [पाँचों] के अनुरूप [जो गेय पद वह ‘ध्रुवा’ कहलाता है] । चित्र अर्थात् नाना
प्रकारका [अर्थात्] तालाव, बन आदि अथवा दिन, रात व संध्यादि अथवा उत्तम, मध्यम व
अधम प्रकृति अथवा हाथी, घोडा, सिंह आदि पदार्थ और रत्यादि रूप अर्थ जिस [गेय पद]
में हों [वह ‘चित्रार्थ’ गेय पद ‘ध्रुवा’ कहलाता है] । इस अर्थकी रचना इस ढंगसे करनी
चाहिए कि जिससे वह ‘उपश्रुति-शकुन-न्याय’ से अपने [अवलम्बक] ज्ञानमात्रसे प्रकृतमें
उपयोगी हो सके ।

इसमें ‘उपश्रुति-शकुन-न्याय’ शब्दका प्रयोग किया गया है । इसका अभिप्राय यह है
कि परम्परागत सङ्कारोंके अनुसार यात्रापर जाते समय यदि नीलकण्ठ आदि किसी विशेष
पक्षीका दर्शन या उसकी ध्वनिका श्रवण अथवा जससे भरे घट आदिका दर्शन हो जाय तो
वह कार्यसिद्धिके लिए शुभ शकुन माना जाता है । यद्यपि जलभरे घटको ले जानेवालेका,
अथवा पक्षीके शब्द करनेका प्रयोजन यात्रा करनेवालेकेलिए शकुन करना नहीं होता है ।
उसका प्रयोजन कुछ और ही होता है । किन्तु इन पदार्थोंके दर्शन अथवा शब्दके श्रवणमात्र
से भगल होता है । इसी प्रकार इन ध्रुवाओंके पदोंका अर्थ चाहे कछ भी हो किन्तु उनके
श्रवणमात्र अथवा ज्ञानमात्रसे उनका प्रकृतमें उपयोग हो सके । यह ‘उपश्रुतिशकुन-न्याय’
का अभिप्राय है ।

नियत मात्रा और नियत अक्षरों वाला छन्द यहाँ ‘रूपक’ [पद्यसे अभिप्रेत] है । स्वर
और तालसे गाने योग्य ‘गेय’ कहलाता है । [ध्रुवा] पाँच प्रकारकी अर्थात् प्रवेश [प्रवेश

पञ्चप्रकारा। उपयोगग्राह्यत्वापेक्ष चैतत् । अपरे च ध्रुवाप्रकारा सन्ति, अल्पोपयोगित्वान्वा तु न लक्षिता । 'कविध्रुवा' इति कजे प्रबन्धकर्तुरिय पञ्चविधा ध्रुवा । अनेन रङ्गमध्य वर्तिनीना ध्रुवाणा रङ्गविध्यनन्तरं नाट्याचार्यकल्पिताना गानध्रुवाणा च व्युदास इति ॥२॥१५५॥

अथ नाट्यपात्राणा प्रकृतिभेदानाह—

[सूत्र २३२]—उत्तमा मध्यमा नीचा प्रकृतिर्नृस्त्रियोस्त्रिधा ।

एकैकापि त्रिधा स्व-स्वगुणाना तारतम्यतः ॥

॥ [३] १५६ ॥

'उत्' इत्यव्यय उत्कृष्टेऽर्थे । तत् प्रकृष्टार्थे 'तमपि' उत्तमा । प्रकृष्टेण क्रियन्ते वाह्यारक्षेष्टा अत्या इति । प्रकृतिर्जन्ममहभुवं शुभाशुभं शीलम् । 'त्रिधेति' तिस्रोऽपि प्रकृतय स्वस्थाने उत्तमा मध्यमा नीचारचेति । 'गुणा' प्रत्येकं प्रकृतिपु वक्ष्यमाणा । प्रकृष्टम्य किञ्चिदाधिक्य बहुत्वभाविनोस्तरप् तमप्-प्रत्यययोरनुवृत्तिन्तर-तमौ इति । तयोर्भावा 'तारतम्यम्' । मामान्य-किञ्चिदाधिक्य-सानिशयाधिम्यलक्षणान्स्थानत्रययो गित्यमिति ॥ [३] १५६ ॥

निष्कर्म, आक्षेप, प्रसाद और अन्तर] आदिसे पाँच प्रकारकी होती है । [इन पाँच प्रकारोंके] उपयोगके बाहुल्यकी दृष्टिसे यह [पाँच भेदोंका] कहा गया है । [बंसे तो इन पाँचके अतिरिक्त] और भी ध्रुवाके प्रकार हैं किन्तु उनका उपयोग बहुत कम होनेसे उनके लक्षण नहीं किए हैं । [कारिकामें इन पाँचोंको 'कविध्रुवा' कहा है इसका अभिप्राय यह है कि कविध्रुवाओंके अतिरिक्त अन्य ध्रुवाएँ भी होती हैं । इसलिये] 'कविध्रुवा' इस पदके द्वारा कवि अर्थात् प्रयक्तार्थकी [अर्थात् प्रयक्तार्थके] द्वारा प्रयुक्त] ये पाँच प्रकारकी 'ध्रुवा' होती हैं । इससे पूर्व रङ्गके मध्यमे होनेवाली और पूर्ववर्गविधिके बाद नाट्याचार्य द्वारा कल्पित गानकी ध्रुवाओंका निराकरण किया गया है । [अर्थात् ये पाँच प्रकार केवल 'कविध्रुवा' के होते हैं । अन्य ध्रुवाओंसे इन भेदोंका कोई सम्बन्ध नहीं है] ॥ [२] १५५ ॥

अथ नाट्यके पात्रोंकी प्रकृतिभेदोंको बतलाते हैं—

[सूत्र २३२]—[नाट्यके] स्त्री और पुरुष [पात्रों] की उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकारकी प्रकृति होती है । और अपने अपने गुणोंके तारतम्यसे उनमेंसे प्रत्येक [प्रकृति] के फिर तीन तीन भेद हो सकते हैं । [३] १५६ ।

[उत्तम पदका निर्वाचन करते हैं । इस उत्तम पदमें] 'उत्' यह अव्यय उत्कृष्ट अर्थमें है । उससे प्रकृष्ट अर्थमें तमप् पराग्य होकर 'उत्तमा' [पद बनता है । इसका अभिप्राय यह है कि] जिसकी बाह्य चेष्टाएँ उत्तम रूपसे की जाती हैं [यह उत्तम प्रकृति कहलाती है] जन्मसे प्राप्त होनेवाले भले धरे स्वभावको प्रकृति कहते हैं । [एकैकापि त्रिधा] इस स्थलपर दुबारा प्रयुक्त हुए] त्रिधा' इससे [यह सूचित किया जाता है कि पहली बार जो उत्तम मध्यम व अधम तीन प्रकारकी प्रकृति बही गई थीं वे] तीनों प्रकारकी प्रकृतियाँ अपने स्थानमें भी उत्तम, मध्यम तथा नीच [भेदसे] तीन प्रकारकी हो सकती हैं । [स्व स्वगुणानां तारतम्यतः] के बड़े हुए] 'गुण' प्रत्येक [उत्तम, मध्यम व अधम आदि] प्रकृतियोंमें आगे बड़े जाने वाले हैं ।

अधोत्तमप्रकृतेः पुंसो गुणानाह—

[सूत्र २३३]—शरण्यो बक्षिरास्त्यागी लोक-शास्त्रविचक्षणः ।

गम्भीर्य-धैर्य-शौण्डीर्य-न्यायवानुत्तमः पुमान् ॥

॥ [४] १५७ ॥

शरणमापद्गतत्राणम् । तत्र साधुः । 'दक्षिणोऽनुकूल' । 'लोक'-शब्देनात्र लोकव्यवहार उच्यते । तत्र 'विचक्षणः' । एवमादयोऽन्येऽप्युत्तमपुरुषगुणा द्रष्टव्या इति ॥ [४] १५७ ॥

अथ मध्यमप्रकृति—

[सूत्र २३४]—मध्यो मध्यगुणः ।

'मध्या' नाप्युत्कृष्टा नाप्यपकृष्टा 'गुणा' लोकव्यवहार-चातुर्य-कला-विचक्षण-त्वाद्यो धर्मा अस्येति ।

अथ नीचप्रकृतिः—

[सूत्र २३५]—नीचः पापीयान् पिशुनोऽलसः ।

कृतघ्नः कलही वलीबः स्त्रीलीलो वृक्षवाग् जडः ॥

[५] १५८ ॥

[आगे 'तारतम्य' शब्दका अर्थ करते हैं] 'प्रकृष्ट' [पद] से कुछ प्राधिक्य और बहुत अर्थमे होनेवाले 'तार-तमप' दोनो प्रत्ययोंके अनुकरण रूपमे 'तार-तम' [प्रत्यास] हैं । उन [तार-तम] का भाव 'तारतम्य' हुआ । [उसका अर्थ यह है कि] सामान्य, उससे कुछ अधिक और उससे भी वितोष अधिक रूप तीन भवत्वाद्योति युक्त [भाव 'तारतम्य' कहलाता है] ॥ [३] १५६ ॥

अब आगे उत्तम प्रकृतिवाले पुरुषके गुणोंको कहते हैं—

[सूत्र २३३]—शरणागतोंके रक्षणमे साधु, अनुकूल, त्यागी, लोकव्यवहार तथा शास्त्रों मे निपुण, गम्भीरता, धीरता, पराक्रम और न्याय-विचारसे युक्त पुरुष 'उत्तम' पुरुष कहलाता है । [४] १५७ ।

शरण अर्थात् विपत्तिमे पड़े हुएकी रक्षा करना । उसमे साधु [धर्मिक 'शरण्य' कहलाता है] । 'दक्षिण' अर्थात् [सयके] अनुकूल । 'लोक' शब्दसे यहा लोकव्यवहारका कथन किया गया है । उत्तमं निपुण । इसी प्रकारके अन्य भी गुण उत्तम प्रकृतिवाले पुरुषोंमे होते हैं ॥ [४] १५७ ॥

अब आगे मध्यम प्रकृति [के पुरुषके गुणोंको कहते हैं]—

[सूत्र २३४]—मध्यम गुणोंवाला [पुरुष] मध्यम प्रकृति कहलाता है ।

'मध्यम' अर्थात् न तो अधिक उत्कृष्ट और न ही अधिक निकृष्ट 'गुण' अर्थात् लोक-व्यवहारकी निपुणता, कला, विद्वत्ता आदि धर्म जिसके हो [वह मध्यम प्रकृतिका पुरुष कहलाता है] ।

अब आगे नीच प्रकृति [पुरुषके गुणोंको कहते हैं]—

[सूत्र २३५]—नीच प्रकृतिवाला पुरुष अत्यन्त पाप करने वाला, चुकलघोर, घाससो, कृतघ्न, भ्रमशामू, पराक्रम-विहीन, स्त्री-निरत और बस मोसनेवाला होता है ॥ [५] १५८ ॥

'पिशुनः' कर्णेजपः । 'कलीत्रो' हीनसत्त्व इति ॥ [५] १५८ ॥

अथोत्तमां स्त्रियमाह—

[सूत्र २३६]—लज्जावती मृदुर्धारा गम्भीरा स्मितहासिनी ।

विनीता कुलजा दक्षा वत्सला योपिदुत्तमा ॥

॥ [६] १५९ ॥

वत्सला स्नेहलेति ॥ [६] १५९ ॥

अथ मध्यमा-नीचे—

[सूत्र २३७]—नरवन्मध्यमा-नीचे—

मध्यम-नीचपुरुषवन्मध्यमा-नीचे स्त्रियो बोद्धव्ये । एषा नृ-स्त्रियोस्त्रिया प्रकृति-
रुत्तरूपा विरूपा रूपानुरूपिणी चेति पुनस्त्रिप्रकारा । तत्रानुरूपा पुंसः पौंस, स्त्रियाम्नु
श्रेणी वयोऽवस्थाऽनुरूपो भावः । विरूपा तु बालोचितभावस्य स्थविरेण, स्थविरोचि-
तस्य तु बालेन दर्शनम् । रूपानुरूपिणी पुरुषोऽपि स्त्रीरूपेण भूत्वा, स्त्रिया पुरुषया च
स्त्री-पुंसभावदर्शनमिति ॥

'पिशुन' अर्थात् चुगलखोर । 'कलीव' अर्थात् शक्ति रहित ॥ [५] १५८ ॥

अथ प्रागे उत्तम स्त्री [के गुणों] को कहते हैं—

[सूत्र २३६]—लज्जावती, मृदु, धीर, गम्भीर, मन्द मुस्कानेवाली, मध्र, उच्च-
कुलोत्पन्न, चतुर और सहनशील स्त्री उत्तम स्त्री कहलाती है ॥ [६] १५९ ॥

'वत्सला' अर्थात् स्नेह करने वाली ॥ [६] १५९ ॥

इस प्रकार यहाँ तक उत्तम, मध्यम व अथम तीनों प्रकारकी प्रकृतिवाले पुरुषा तथा
वीनो प्रकृतिकी स्त्रियोंके गुण बहे गए हैं ।

अथ प्रागे मध्यमा तथा नीचा [स्त्रियोंके लक्षण कहते हैं]—

[सूत्र २३७]—[मध्यम तथा नीच] पुरुषके समान मध्यमा तथा नीच स्त्रियाँ [हीनो हैं] ।

मध्यम तथा नीच पुरुषोंके समान [प्रकृतिवालो] मध्यमा तथा नीचा स्त्रियोंको
समझना चाहिए । पुरुष तथा स्त्रियोंकी यह [उत्तम, मध्यम तथा अथम रूप] तीन प्रकारकी
प्रकृति (१) अनुरूपा, (२) विरूपा तथा (३) रूपानुरूपिणी भेदसे फिर तीन-तीन प्रकारकी
होती है । उनमेंसे पुरुषका पुरुषके अनुरूप और स्त्रीका स्त्रीके अनुरूप प्रायु और वना प्रादि
के अनुकूल भाव 'अनुरूपा' [प्रकृति] कहलाता है । और बालोचित भावका वृद्धकेद्वारा अथवा
वृद्धोचित भावका बालके द्वारा प्रदर्शन 'विरूपा' प्रकृति [कहलाता] है । जहाँ पुरुष भी स्त्री
बनकर अथवा स्त्री भी पुरुष बनकर [कमरा] स्त्रीभाव तथा पुरुषभावको प्रदर्शन करते हैं
वह 'रूपानुरूपिणी' प्रकृति कहलाती है ।

इस प्रकार यहाँ तक उत्तम, मध्यम तथा अथम प्रकृतिके पुरुष तथा स्त्रियोंके लक्षण
दिललाकर प्रागे मध्यम तथा अथम प्रकृतिके पार्श्वोंको भी नाट्यमे नायक बनाया जा सकता
है इस बातको लिखते हैं । प्रथम विवेकमे केवल उत्तम प्रकृति वाले नायकोंके बनावे जानेका
विधान किया था । उससे अथवाद रूपमे यहाँ मध्यम तथा नीच प्रकृतिके नायकोंके बनावेका
भी विधान किया जा रहा है ।

अथ प्रवन्द्रेषु नीचप्रकृतिकमपि नायकमाह—

[सूत्र २३८]—नीचोऽपीशः कथावशात् ।

कथा वृत्तं, तस्या वशः सामर्थ्यं ह्यनीयत्वादि तस्माद् भाण-प्रहसनयोः, कन्या-
ञ्चिद् वीथ्यां च नीचोऽपि नायकः । प्रथमविवेके मध्यमोत्तमयोर्नायकत्वमुक्तं तद-
पवादोऽयमिति ।

अथ सर्वरूपकेषु मुख्यनायकं लक्षयति—

[सूत्र २३९]—प्रधानफलसम्पन्नोऽव्यसनी मुख्यनायकः ॥ [७] १६० ॥

व्यसनं स्वध्यायासक्तिः, विपद्वा ॥ [७] १६० ॥

अथास्य गुणानुद्दिशति—

[सूत्र २४०]—तेजो विलासो माधुर्यं शोभा स्थैर्यं गभीरता ।

श्रौदार्यं ललितं चाष्टौ गुणा नेतरि सत्त्वजाः ॥

॥ [८] १६१ ॥

‘अष्टौ’ इत्युक्तपरिगणनम् । न तु संन्यानियमोऽन्येषामपि सम्भवान् । सत्त्वं
विपुलाशयत्वम् ॥ [८] १६१ ॥

अथैषां प्रत्येकशो लक्षणम्—

अब आगे प्रचल्पकाध्योमें नीच प्रकृतिवाले नायकों [के हो सकने] का भी प्रतिपादन
करते हैं—

[सूत्र २३८]—कथाके अनुसार कहीं नीच भी नायक हो सकता है ।

कथा अर्थात् आख्यान-वस्तु । उसके वशसे अर्थात् सामर्थ्यसे अर्थात् हसनीयत्व आदि
की दृष्टिसे । इसलिए ‘भाण’ और ‘प्रहसन’में तथा किसी ‘वीथी’में नीच भी नायक हो सकता
है । प्रथम विवेकमें [केवल] मध्यम तथा उत्तमके नायकत्वका कथन किया था यह उसका
अपवाद है ।

अब आगे समस्त रूपकोके मुख्य नायकका लक्षण करते हैं—

[सूत्र २३९]—[रूपकेके] प्रधान फलकी प्राप्त करनेवाला [विपदासक्ति अथवा प्राण-
हानि रूप विपत्ति] व्यसनसे रहित मुख्य नायक होता है ॥ [७] १६० ॥

व्यसनका अर्थ स्त्री आदिके प्रति आसक्ति अथवा [प्राणहानि आदि रूप] विपत्ति
है ॥ [७] १६० ॥

[सूत्र २४०]—अब इस [मुख्य नायक] के गुणों की गिनाते हैं—

मुख्य नायकमें उनके सत्त्वसे उत्पन्न १. तेज, २ विलास, ३. माधुर्य, ४ शोभा,
५. स्थिरता, ६. गम्भीरता, ७. उदारता, ८. ललितय ये आठ गुण रहते हैं ॥ [८] १६१ ॥

‘अष्टौ’ इस पदसे [कारिकामें] कहे हुए [आठ गुणों] की गणना बिललाई है । यह
संख्याका नियम नहीं है [अर्थात् आठ ही गुण मुख्य नायकमें होते हैं यह इस ‘अष्टौ’ पदका
अभिप्राय नहीं है । क्योंकि इनके अतिरिक्त] अन्य गुण भी नायकमें हो सकते हैं । [‘सत्त्व-
सम्भवात्’ पदमें] ‘सत्त्व’ शब्दसे विपुलाशयत्वका प्रहण होता है ॥ [८] १६१ ॥

(१) अब आगे इन [आठ गुणों] मेंसे प्रत्येकके अलग-अलग लक्षण कहते हैं—

[सूत्र २४१]—क्षेपादेरसहिष्णुत्वं तेजः प्राणात्ययेऽपि च ।

क्षेपस्तिरस्कार । आदिशब्दाद् वैन्यात्रज्ञादिप्रद्व । 'प्राणान्ययेऽपि च' इति प्राणात्ययमप्युपगम्येत्यर्थः । तेनामहिष्णुत्वमचमा । न तु देशमालावस्थायपेक्षया नीत्या महनपूर्वकं निर्यातनमिति ।

(२) अथ विलास —

[सूत्र २४२]—विलासो वृशवद् यानं धीरा दृक् सस्मितं वचः ।

[६] १६२ ॥

'वृषो' महोच्च । धीरत्वमुदात्तत्वमिति ॥ [६] १६० ॥

(३) अथ माधुर्यम—

[सूत्र २४३]—माधुर्यं विकृतिः स्तुत्या क्षोभहेतो महत्यपि ।

प्रस्तुताद् रूपाद् रूपान्तरं 'विकृति' । 'मनुन्या' रोमाच्च-परिकरवन्ध-ग्मश्रु-केशसमारचन-शम्भ्रावलीरनादिकान् । 'क्षोभ' मत्त्रचलनमिति ।

(४) अथ शोभा—

[सूत्र २४४]—शोभा चिह्नं घृणा-स्पर्द्धा-दाक्ष्य-शौर्योद्यमोन्नये ॥

[१०] १६३ ॥

[सूत्र २४१]—प्राणनाशके सकटको स्वीकार करके भी अपमान आदिको सहन न करना 'तेज' कहलाता है ।

'क्षेप' अर्थात् तिरस्कार । आदि शब्दसे दंग्य और अवज्ञा आदिका ग्रहण होता है । 'प्राणात्ययेऽपि च' इसका अपने प्राणोके विनाशको भी स्वीकार करके यह धमिप्राय है । इसलिये 'प्रसहिष्णुत्व' का अर्थ सहन न करना क्षमा न करना है । देश, काल, अवस्था आदि की अपेक्षासे उस समय सहन करके बादमें उसका बदला लेना [निर्यातन, असहिष्णुत्व शब्द का अर्थ] नहीं है ।

(२) अथ विलास [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४२]—वृषके समान गति, घोर दृष्टि और मुस्कराते हुए बात करना यह 'विलास' गुणका लक्षण है । [६] १६२ ।

वृष अर्थात् साड । धीरत्वका अर्थ उदात्तत्व है ॥ [६] १६२ ॥

(३) अथ अथे माधुर्य [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४३]—कोप आनेका महान् कारण उपस्थित होनेपर भी हलकी सी विकृति माधुर्य [गुण कहलाती] है ।

प्रस्तुत वर्तमान रूपसे भिन्न रूपकी प्राप्ति 'विकृति' कहलाती है । हलके-से [स्तुत्या अर्थात्] रोमाच्च, कमर कसना, मूछोंपर ताव देना और शम्भ्रकी घोर देखना आदिसे [हलकी-सी विकृतिका प्रकाशना माधुर्य गुण कहलाता है] । 'क्षोभ' अर्थात् सत्त्वने विचलित हो जाना ।

(४) अथ 'शोभा' [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४४]—घृणा, स्पर्द्धा, दासता, शौर्य तथा उद्यमक विद्यमान होनेके अनुमान करनेका चिह्न शोभा [गुण] कहलाता है ॥ [१०] १६३ ॥

‘चिह्न’ घृणादेः सत्तानिश्चयहेतुः शरीरविकारः । ‘घृणा’ नीचार्थजुगुप्सन्तम् । ‘स्पृष्टा’ अधिकेन सह साम्याधिक्याभिलाषः । ‘उद्यम’ उत्साहः । एषामुन्नयः सत्तानिश्चय इति ॥ [१०] १६३ ॥

(५) अथ स्थैर्यम्—

[सूत्र २४५]—विघ्नेऽप्यचलनं स्थैर्यं प्रारब्धादशुभादपि ।

‘विघ्नः’ प्रत्यूहः । ‘अचलनं’ द्वाढ्यंम् । अशुभमिदं परलोकानुचितमिति ॥

(६) अथ गाम्भीर्यम्—

[सूत्र २४६]—गाम्भीर्यं सहजा मूर्तिः कोप-हर्षादिगोपिनी ॥

[११] १६४ ॥

‘सहजा’ मुरतराग-दृष्टविकारादिरहिता । ‘मूर्तिः’ देहस्वभावः । ‘आदि’ शब्दाद् भय-शोकादिग्रहः । ‘गोपनी’ प्रच्छादिकेति ॥ [११] [१६४] ॥

(७) अथौदार्यम्—

[सूत्र २४७]—औदार्यं शत्रु-मित्राणां प्राणितेनाप्युपग्रहः ।

वहुवचनान्मध्यस्थानां ग्रहः । ‘प्राणित’-शब्देन स्वजीवितव्याय दानमुच्यते ।

‘अपि’-शब्देन दान-प्रियभाषणादिग्रहः । ‘उपग्रह’ उपकार इति ।

‘चिह्न’ अर्थात् घृणा, आदिकी विद्यमानताका निश्चायक हेतुभूत शारीरिक विकार । नीच अर्थकी निन्दा ‘घृणा’ है । अधिक गुण वालेकी बराबरी करना या उससे अधिक बनने की इच्छा ‘स्पृष्टा’ [कहलाती] है । ‘उद्यम’ का अर्थ उत्साह है । इनका ‘उन्नयन’ अर्थात् सत्ता का निश्चय [जिस चिह्नके द्वारा होता है उसको ‘शोभा’ गुण कहते हैं] ॥ [१०] १६३ ॥

(५) अब घ्राणे स्थैर्यं [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४५]—विघ्नोके उपस्थित होने पर भी और अशुभ प्रारम्भसे भी [अपने निश्चयकी न छोडना स्थैर्यं कहलाता है] ।

विघ्न’ अर्थात् प्रत्यूह याघा । ‘अचलन’ अर्थात् हड़ रहना । ‘अशुभ’ का अर्थ यहाँ परलोकके अयोग्य [कर्म आदि] है ।

(६) अब घ्राणे गाम्भीर्यं [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४६]—कोप और हर्ष आदिको प्रकट न होने देनेवाली स्वाभाविक देह-स्थिति का नाम गाम्भीर्यं है ॥ [११] १६४ ॥

सहजा अर्थात् [जोधादिके अनेपर भी] भुलकी लालिमा और हृष्टिके विकार आदि से रहित । ‘मूर्ति’ अर्थात् देहका स्वभाव । ‘आदि’ शब्दसे [कोप और हर्षके साथ] भय-शोकादिका भी ग्रहण होता है । ‘गोपनी’ अर्थात् प्राच्छादन करने वाली [प्रकट न होने देने वाली] ॥ [११] १६४ ॥

(७) अब घ्राणे औदार्यं [गुणका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २४७]—अपने प्राण देकर भी शत्रु या मित्रका उपकार करना ‘औदार्य’ [साता है] ।

वहुवचनसे [शत्रु और मित्रके साथ] मध्यस्थोका भी ग्रहण होता है । ‘प्राणित’

(८) अथ ललितम्—

[सूत्र २४८]—शृङ्गारिचेष्टा ललितं निर्विकाराः स्वभावजाः ॥

[१२] १६५ ॥

‘शृङ्गारिण्य’ शृङ्गारजनिता । चेष्टा ‘तिर्यग्गल्लोकन-वक्रोक्तिभाषण-शरीर-
संस्कारादिका । ‘निर्विकारा.’ गद्दरहित । ‘स्वभावजा’ अयुद्धिपूर्वका इति ॥ [१०] १६५ ॥

अथ मुरयनेतारमुक्त्वा गौणमाह—

[सूत्र २४९]—अमुख्यो नायकः किञ्चिद्ब्रूवन्वृत्तोऽग्रचनायकात् ।

‘अमुख्यत्व’ प्रधानश्लोपेक्षयाऽवान्तरफलभाजनत्वान् । ‘नायकत्वं’ बहुतर-
वृत्तन्यापकत्वात् मुख्यनेतृमहायभूतत्वाच्च । ‘किञ्चिद्ब्रूवन्’ स्वल्पन्यूनं वृत्त शौर्य-स्याग-
बुद्ध आदिकं यन्म । अथ च पताकाप्रकरीरूपो नायको द्रष्टव्य इति ॥

अथ प्रतिनायकमाह—

[सूत्र २५०]—लोभी धोरोद्धतः पापो, व्यसनी प्रतिनायकः ॥

[१३] १६६ ॥

मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायक ‘प्रतिनायक’ । यथा राम-युधिष्ठिरयो-
ः पापण-दुर्योधनौ इति ॥ [१३] १६६ ॥

शब्दसे अपने जीवनको दे डालनेका अभिप्राय है । ‘अपि’ शब्दसे दान और प्रियभाषण आदि
का प्रहण होता है । उपग्रह’ अर्थात् उपकार ।

(८) अब ललित [गुणका लक्षण आगे करते हैं]—

[सूत्र २४८]—[निन्दित] विकारोसे रहित स्वाभाविक शृंगार चेष्टाः ललित
कहलाती हैं । [१२] १६५ ।

‘शृंगारिणी’ अर्थात् शृंगारसे उत्पन्न होने वाली । चेष्टा’ अर्थात् तिरछी नजरसे
देखना वक्रोक्तिपोसे भाषण, तथा शरीरको सजाना आदि । ‘निर्विकार’ अर्थात् समु-
दरतासे रहित । ‘स्वभावजा’ अर्थात् बिना सोच कर की हुई ॥ [१२] १६५ ॥

मुख्य नायकका वर्णन करनेके बाद अब आगे गौण नायकको कहते हैं—

[सूत्र २४९]—मुख्य नायककी अपेक्षा कुछ कम वृत्त [कम कथाभाग] वाला अमुख्य
नायक कहलाता है ।

प्रधान फलकी अपेक्षा अवान्तर अमुख्य फलका प्राप्त होनेसे इसको ‘अमुख्य’ कहा
गया है । और बहुत बड़ कथाभागसे व्यापक होने तथा नायकके सहायक रूपमें होनेसे उसका
‘नायकत्व’ होता है । जिसका वृत्त अर्थात् शौर्य त्याग और बुद्धि आदिका [मुख्य नायककी
अपेक्षा] ‘किञ्चिद्ब्रूवन्’ अर्थात् कम है । और यह [अमुख्य नायक] कारिका २६ तथा ३२ म
प्रथम विवेकमें कहे हुए] पताका’ तथा प्रकरी’ नायक समझने चाहिए ।

अब आगे प्रतिनायकका लक्षण करते हैं—

[सूत्र २५०]—प्रतिनायक लोभी, धोरोद्धत, पापी और व्यसनी होता है । [१३] १६६ ।

मुख्य नायकका विरोधी नायक ‘प्रतिनायक’ कहलाता है । जैसे राम और युधिष्ठिरके
विरोधी रावण और दुर्योधन आदि ॥ [१३] १६६ ॥

अथ विदूषकादीनां प्रकृति केषाञ्चिल्लक्षणं चाह—

[सूत्र २५१]—नीचा विदूषक-पत्नीव-शकार-विट-किङ्कराः ।

हास्याप्राप्तौ नृपे श्यालः शकारस्त्वेकविद् विटः ॥

[१४] १६७ ॥

'क्लीवो' नपुंसक । एषां नीचत्वं नैसर्गिकम् । स्वामिचित्तानुरोधादीपाधिकं तु मध्यमत्यमपि । तत्राद्यो विदूषको हास्यनिमित्तं भवति । हास्यं चास्य अंग-नेपथ्य-वचो-विकारान् त्रेधा । तत्रांगहास्यं सलति-रञ्ज-दन्तुर-विकृताननत्वादिना । नेपथ्यहास्य-मत्यायताम्वरत्वोल्लोकित-विलोकित-गमनादिना । वचोहास्यमसम्बद्धानर्थकारलील-भाषणादिना भवति । 'नृपे' नृपस्य सम्बन्धी 'श्याल' पत्नीभ्राता । नीचत्वादेव चायं हीनजाति । 'हास्याय' इति अत्रापि सम्बन्धान्न सर्वो राजपुत्रादिर्नपश्याल शकार, किन्तिर्हि विकृतहास्यहेतु परिचारक एव । एकं राजोपयोगि किञ्चिद् गीतादिषु मध्ये वेत्ति इति एकविद्, विटो ज्ञेय इति ॥ [१४] १६७ ॥

अथ धीरोद्धतादीनां नेतृणां प्रत्येकं विभिन्नान् विदूषकानाह—

[सूत्र २५२]—स्निग्धा धीरोद्धतादीनां यथौचित्यं वियोगिनाम् ।

लिंगी द्विजो राजजीवो शिष्यश्चेते विदूषकाः ॥

[१५] १६८ ॥

अथ प्रागे विदूषक आदिकी प्रकृति धीर उनमेसे किंहीके लक्षण कहते हैं—

[सूत्र १६६]—विदूषक नपुंसक शकार विट धीर भृत्य आदि नीच [पात्र होते हैं] उनमेसे पहला [अर्थात् विदूषक] हास्यके [उत्पन्न करने] केलिए होता है । राजाका [नीच जातीय] साला 'शकार' कहलाता है । [राजाके उपयोगी मुख्य गोतादि] किसी एक बातको जानने वाला 'विट' कहलाता है । [१४] १६७ ।

'क्लीव' अर्थात् नपुंसक । इनका नीचत्व स्वाभाविक होता है । किन्तु स्वामीके वित्तके अनुसार शोषाधिक रूपसे मध्यमत्व भी हो सकता है । उनमेसे पहला अर्थात् विदूषक [सबके लिए] हास्यजनक होता है । इसका हास्य (१) अंग, (२) वेष भूषा तथा (३) वचनोत्ते [उत्पन्न] तीन प्रकारका होता है । जैसे गजापन, लगडापन, बाहर निकलते हुए या ऊपर बैठे हुए बातों धीर विकृत मुख आदिसे अङ्ग-हास्य होता है । अत्यन्त लम्बे-चौड़े अस्तोसे ऊपर ताकने, उधर उधर देखने और गमन आदिके द्वारा नेपथ्यहास्य होता है । धीर असबद्ध अर्थक तथा अतीव्ल भाषण आदिके द्वारा वचनमूलक हास्य उत्पन्न होता है । 'नृपे' अर्थात् राजाका सम्बन्धी । 'श्याल' अर्थात् पत्नीका भाई । नीच [पात्रोमे परिगणित] होनेके कारण ही वह नीच जातिका होता है । 'हास्याय' इस पदका यहाँ [श्यालके साथ] भी सबध होनेसे राजाके राजपुत्र आदि [उत्तमजातीय] सारे साले 'शकार' नहीं होते हैं अपितु विकृति हास्यके कारणभूत [नीचजातीय] परिचारक [रूपसाला] ही 'शकार' कहलाता है । विटके लक्षणमे आए हुए 'एकविद्' पदका अर्थ करते हैं] गोतादिमेसे राजाके उपयोगी किसी एक को जानता है इसलिए 'एकविद्' विट कहलाता है ॥ [१४] १६७ ॥

अथ प्रागे धीरोद्धत आदि नायकोमेसे प्रत्येकके अलग अलग विदूषकों [के लक्षणोंको

'निग्धाः' मुद्गः । 'आदि' शब्दाद् धीरोदात्त-धीरललित-धीरप्रशान्ता गृह्यन्ते । एषां 'विद्योगिनां' विप्रलम्भशृङ्गारवतां औचित्यानतिप्रमेण लिग्यादयो यथासंभवं सन्धिं विप्रहेण, विप्रहं सन्धिना च विशेषेण दृष्यन्ति विनाशयन्ति, विप्रलम्भं तु विनोददानेन विस्मारयन्ति इति 'विदूषकाः' । उचितश्च लिगी देवतानां, ब्राह्मणस्य शिष्यः, राज्ञां तु शिष्यवर्जस्त्रयः । एवं वशिगादेरपीति ॥ [१५] १६८ ॥

अथैषामेव धीरोद्धतादीनां महायानाद्—

[सूत्र २५३]—युवराज-चमूनाथ-पुरोधः-सचिवालयः ।

सहाया एतदायत्तकर्मैव ललितः पुनः ॥ [१६] १६९ ॥

'आदि' शब्दाद् आटविक-सामन्तादयन्तापमादयश्च गृह्यन्ते । एते च केचिदर्थ-कामयोः महायाः । केचिद् धर्ममहायाः । तथा सहायायत्तसिद्धिरेव धीरललितः । सहायव्यापारश्च नायकव्यापारं पृथक्, एतावद् दृष्टवान्नायकस्य । धीरोद्धतादयस्तु स्व-अन्य-उभयसिद्धयः इति ॥ [१६] १६९ ॥

कृते ह्ये—

[सूत्र २५२]—धीरोद्धत आदि नायकोंके [निग्धाः अर्थात्] मित्रं श्रीर विद्योगियोंके औचित्यके अनुसारं लिगी [अर्थात् ब्रह्मचारी या संग्याती आदि] ब्राह्मण राजकीयी तथा शिष्य आदि विदूषक होते हैं । [१५] १६८ ।

'सिग्ध' अर्थात् मित्र । [धीरोद्धत पदके साथ जुड़े हुए] 'आदि' शब्दसे धीरोदात्त, धीरललित तथा धीरप्रशान्त नायकोंका भी ग्रहण होता है । इनके 'विद्योगी' अर्थात् विप्रलम्भ-शृङ्गारयुक्त होनेपर यथासंभव लिगी आदि [विदूषक] औचित्यके अनुसार होते हैं । [आगे विदूषक शब्दका निबंधन दिखलाने हैं] सन्धिको विप्रहोत्पादनके द्वारा तथा विप्रहको सन्धिजनन द्वारा विशेष रूपसे दूषित अर्थात् विनष्ट करते हैं और विप्रलम्भको मनोरंजन प्रदान करनेके द्वारा विनष्ट करते हैं इसलिए 'विदूषक' कहलाते हैं । देवताओंके लिए [लिगी अर्थात्] ब्रह्मचारी [या संग्याती], ब्राह्मणके लिए शिष्य, और राजाके लिए शिष्यको छोड़कर शेष तीनों विदूषक उचित हैं । इसी प्रकार वणिग् आदि भी [औचित्यानुसार विदूषक समझ-लेने चाहिए] ॥ [१६] १६८ ॥

अथ आगे किन्हीं धीरोद्धत आदि [नायकों] के सहायकोंका वर्णन करते हैं—

[सूत्र २५३]—युवराज, सेनापति, पुरोहित और सचिव आदि [इन धीरोद्धत आदि नायकोंके] सहायक होते हैं । और धीरललित [नायक] तो इन [सहायकों] के आयत्त-सिद्धि वाला ही होता है । [अर्थात् स्वयं कार्य नहीं करता है] । सहायकोंके द्वारा ही धीरललित नायकके सारे कार्योंका सम्पादन होता है । [१७] १६९ ।

'आदि' शब्दसे धनाध्यक्ष [आटविक] तथा सामन्त और तापस आदिका ग्रहण होता है । इसमेंसे कुछ अर्थ तथा काम [को सिद्धि] में सहायक होते हैं । कुछ धर्म [को सिद्धि] में सहायक होते हैं और धीरललित [नायक] सहायत्तसिद्धि ही होता है । सहायकोंका व्यापार नायकका ही व्यापार माना जाता है । क्योंकि [धीरललित] नायक इसी [सहायत्तसिद्धि] के रूपमें होता है । [सहायत्तसिद्धि धीरललित नायकको छोड़कर] धीरोद्धत आदि [शेष तीन प्रकारके नायक] तो (१) स्वायत्तसिद्धि, (२) अन्यायत्तसिद्धि और (३) उभयायत्तसिद्धि

अथ शुद्धान्तोचितं परिवारमाह—

[सू० २५४]—शुद्धान्ते कारुको द्वाःस्थः कंचुकी शुभकर्मणि ।
वर्षवरस्तु रक्षायां, निर्मुण्डः प्रेषणे स्त्रियाः ॥
कार्यास्थाने प्रतीहारी, रक्षा-स्वस्त्योर्महत्तरा ।
पूर्वस्थितविधौ वृद्धा, चित्रादौ शिल्पकारिका ॥

[१७] १७० ॥ [१८] १७१ ॥

शुद्धान्तमन्त्र.पुरं, तग्मिन्नाचारवान् आर्यो ह्रीनसत्त्वः पुमान् 'कारुः' । स द्वारपालो दक्षो नपुंसकः । 'कंचुकी' अद्ध्यजातिः स्त्रीग्वभावः । तुच्छसत्त्वो विनीतश्च 'वर्षवरः' । अतिनि.सत्त्वोऽकर्मकरश्च निर्मुण्डः । स च म्नीशां दास्यादीनां प्रेषणकारकः । 'रक्षा' भूत्यादिकर्म । 'स्वस्ति'र्मङ्गलवाचनम् । 'चित्र' पत्र-वृत्तलयादि । 'आदि'शब्दाद् गन्ध-पुष्प-शिल्प-शय्या आम्न-च्छत्र-भण्डन संवाहन-आक्रीड वज्र-नादिग्रह इति ॥ [१७-१८] १७०-१७१ ॥

अथ नायिकां लक्षयति—

[सू० २५५]—नायिका कुलजा दिव्या क्षत्रिया पण्यकामिनी ।
अन्तिमा ललितोदात्ता पूर्वोदात्ता त्रिधा परे ॥

[१६] १७२ ॥

[तीन प्रकारके] होते हैं ॥ [१७] १६६ ॥

अथ आये जतःपुरके उपयोगी परिवारक-वर्ग का वर्णन करते हैं—

[सूत्र २५४]—अन्तःपुरमे (१) कारुक, द्वारपाल, कंचुकी शुभकाममे, (२) रक्षामे वर्षवर, (३) द्विप्रयोके प्रेषण आदिमे निर्मुण्ड, [ये कार्यकर्ता होते हैं पुरुष] । [१७] १७० ।
कार्यको सूचना देनेमें प्रतीहारी, भभूत आदि देने और स्वस्तिवाचनमे मेहतरानी, पूर्व-परम्परा विधिके पालनमें वृद्धा और विभ्रादि रचनामे शिल्पकारिका [ये स्त्रियां कार्यकर्त्री होती हैं] ॥ [१६] १७१ ॥

शुद्धान्तका अर्थ अन्तःपुर है । उक्तमें सवाचारी, श्रेष्ठ और पौरुषहीन पुरुष 'कारुक' [विशेष कार्यकर्ता] होना चाहिए । द्वारपाल चतुर नपुंसक होना चाहिए । उत्तम जाति का और स्त्रीस्वभाव वाला [पुत्र्य] कंचुकी होना चाहिए । न्यून पौरुष वाला और विनीत [पुरुष] वर्षवर [अन्तःपुर-रक्षक] होना चाहिए । अत्यन्त पौरुषहीन और अकर्मण्य निर्मुण्ड [होता है] । वह वासी आदि द्विप्रयोके इधर-उधर भेजनेवाला होता है । [कारिकाके रक्षा-स्वस्त्योर्महत्तरा भाग मे प्रयुक्त] 'रक्षा' पद भभूत आदि देनेके अर्थमे प्रयुक्त है । स्वस्ति अर्थात् मंगल वाचन । चित्र अर्थात् पत्रवृत्ती आदि [की रचना] । आदि शब्दसे गन्ध पुष्प, शिल्प-शय्या आसन छत्र, भण्डन संवाहन, खिलौना और पत्ते आदिका ग्रहण होता है ॥ १७०-१७१ ॥

अथ आये नायिकाके लक्षणको कहते हैं—

[सूत्र २५५] कुलजा दिव्या क्षत्रिया और वेद्या [चार प्रकारकी] नायिका होती है । उनमेसे अन्तिम [अर्थात् वेद्या नायिका] ललितोदात्त [ही] होती है । और पहली [अर्थात्

'कुलजा' रिप्र-ग्रहिणादिकुलसम्भूता । 'श्रान्तमा' इति पत्यकामिनी ललितो-
दात्ता रूपकेषु वर्णनीया कामार्थप्रधानत्वात् । 'पूर्वा' कुलजा पुनश्चात्ता, नय-विनय-
गुणमीन्यादिवत्त्वत्वात् । 'परे' द्वाभ्यामन्ये । त्रिधा धैर्य-लालित्य-उदात्तत्वेन त्रिप्रकारे ।
दिव्योक्तमजानित्वाभ्यां, कामार्थनिष्ठत्वान्च । शान्तत्वप्रकारानु भोगभूमिजत्वेन
दिव्याना दिव्यासाहाचर्येणोपात्तत्वाच्च क्षत्रियाणां नैव गृह्यते इति ॥ [१६] १७० ॥

अथामां विशेषमाह—

[सूत्र २५६]—रागिण्येवाप्रहसने नृपे दिव्ये च न प्रभौ ।

गणिका यवापि दिव्या तु भवेदेवा महोभुजः ॥

[२०] १७३ ॥

प्रहसनवर्जिते रूपके गणिका नायिका रागिण्येव विधेया । यथा मृच्छकटि-
कायां चारुदत्तस्य वसन्तसेना । प्रहसने तु ह्यभ्यनिमित्तं श्रवतापि । नृप-दिव्यनाय-
कयोश्च गणिका न नायिका नियन्धनीया । यथा गणिका यदि दिव्या भवति, तदा राज्ञः
'यवापि' इति, प्रत्तानुरोपान्नायिकारथेन भवति । यथोर्वशी पुरुरथस । 'नृपे दिव्ये च
न प्रभौ' इत्यभ्यापवादोऽयमिति ॥ [२०] १७३ ॥

कुलजा नायिका] उदात्त होती है । दोष दोनों दिव्या और क्षत्रिया [धीरा, ललिता और उदात्ता]
तीन प्रकारकी होती हैं । [१६] १७२ ।

कुलजा अर्थात् ब्राह्मण या यगिक् आदिके कुलने उत्पन्न हुई । [क्षत्रिया नायिका
प्रसंग गिनाई है इसलिए कुलजाकी व्याख्यामे क्षत्रियाका प्रहण न करने ब्राह्मण या वैश्य
कुलोत्पन्नाका ही वर्णन किया है] । श्रान्तमा अर्थात् [पश्यकामिनी] वैश्या नायिका त्वर्कोमें
ललितोदात्ता ही वर्णन करनी चाहिए । पूर्वा अर्थात् पहिली कुलजा नायिका नीति विनय
और गुणों [माता पिता आदि] से भयसे युक्त होनेके कारण उदात्ता ही [वर्णनीय होती
है] 'परे' अर्थात् [वैश्या तथा कुलजा] इन दोनोंसे भिन्न [दिव्या तथा क्षत्रिया रूप] दोष दोनों
[प्रकारकी नायिकाएँ] धीरा, ललिता तथा उदात्ता रूप होनेसे तीन प्रकारकी होती है । दिव्य
तथा उत्तम जातिवाली होनेसे और काम तथा अर्थनिष्ठ होनेसे [दिव्य तथा क्षत्रिया
नायिकाएँ धीरा, ललिता तथा उदात्ता] तीन प्रकारकी होती हैं । दिव्य नायिकाओंके भोग-
भूमिमें उत्पन्न होनेके कारण और क्षत्रिया नायिकाओंके दिव्योंके साहचर्यसे प्राप्त होनेके कारण
धीरशाप्त वाला चौथे प्रकारका नहीं लिया जाता है । [अर्थात् धीर प्रशान्त नायिकके समान
धीरशाप्त नायिका वर्णनीय नहीं होती है] ॥ [१६] १७२ ॥

[सूत्र २५६] अब इन [नायिकाओं] के विशेष भेदको कहते हैं—

प्रहसनसे भिन्न रूपकोमे गणिका नायिका अनुरागिणी ही निबद्ध करनी चाहिए ।
[प्रहसनमे अनुराग रहित गणिका नायिका भी हो सकती है] । राजा और दिव्य नायिकोंके
साथ गणिका नायिकाका वर्णन नहीं करना चाहिए । कहीं-कहीं यह गणिका नायिका यदि
दिव्य हो तो उसका राजाके साथ सम्बन्ध वर्णन हो सकता है । [२०] १७३ ।

प्रहसनसे भिन्न रूपकोमे गणिका नायिका अनुरागिणी ही लिखनी चाहिए । उसे
मृच्छकटिकमें चारुदत्तकी वसन्तसेना [अनुरागिणी नायिका है] । प्रहसनसे तो हार्य [जनन]

अथासां त्रैविध्यमाह—

[सूत्र २५७]—मुग्धा मध्या प्रगल्भेति त्रिविधाः स्युरिमाः पुनः ।

इमाः कुलजादय इति ।

अथ मुग्धा—

[सूत्र २५८]—मुग्धा वामा रते स्वल्पमाना रोहद्वयः-स्मरा ॥

[२१] १७४ ॥

रतं सुरतं, तत्र विपरीता अनभिज्ञत्वान् । अत एवपदीर्घ्या-कोपा । रोहत प्रवर्ध-
मानं वयो यौवनं स्मररच यम्या इति ॥ [२१] १७४ ॥

अथ मध्या—

[सूत्र २५९]—मध्या मध्यवयः-काम-माना मूर्च्छान्तमोहना ।

मध्या अनभिहृदप्रीढवयः-काम-माना यस्याः । मूर्च्छान्तं अर्चैतन्यपर्यवसायि
मोहनं सुरतं किंचिदभिज्ञत्वाद्दस्याः । एषा च धीरा अधीरा धीराधीरा चेति त्रिधा ।
तत्र धीरा कृतागसि प्रिये सोत्प्रांसवक्रोक्तिपरा । अधीरा साश्रुपरुषभापिणी । धीराधीरा
साश्रुत्प्रांसं परुषवक्रोक्तिवादिनीति ।

के कारण अनुरागहीन [गणिका नायिका] भी हो सकती है । राजा और दिव्य नायकों
के साथ गणिका नायिकाका वर्णन नहीं करना चाहिए । किन्तु वह गणिका यदि दिव्य
हो तो 'वयापि' इस कथन से कथावस्तुके अनुरोधसे कभी राजाकी नायिका भी हो सकती है ।
जैसे उर्वशी पुरुवरवाकी [नायिका है] । 'दृषे दिव्ये च न प्रभो' राजा और दिव्य नायकके साथ
गणिकाका वर्णन नहीं करना चाहिए' इस [पूर्वोक्त नियम] का यह अपवाद है जिसमें दिव्य
गणिकाको राजाकी नायिका रूपमें वर्णन करनेकी अनुमति दी गई है ॥ [२०] १७३ ॥

अथ इन [नायिकाओं] के तीन भेद बतलाते हैं—

[सूत्र २५७]—[कुलजा दिव्या क्षत्रिया और गर्लिका] ये [चारो नायिकाएँ] फिर मुग्धा
मध्या और प्रगल्भा [भेदसे] तीन प्रकारकी होती है ।

ये अर्थात् कुलजा धावि [चारो नायिकाएँ इनमेसे प्रत्येकके तीन-तीन भेद होते हैं ।
कुल मिलाकर बारह भेद हो जाते हैं] ।

अथ मुग्धा [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २५८]—'यौवन और कामके उठावपर स्थित' स्वल्प मान वाली तथा सुरत-
व्यापारमे प्रतिकूल नायिका 'मुग्धा' नायिका कहलाती है [२१] १७४ ।

अथ आगे मध्या [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २५९]—मध्यम आयु, मध्यम काम और मध्यम मान वाली तथा सुरतकालमे
[घानम्दातिरेकसे] मूर्च्छा पर्यन्त पहुँच जानेवाली मध्या नायिका होती है ।

मध्यम अर्थात् अश्रीढ, नितकी आयु, काम तथा मान [अश्रीढ] होते हैं [वह मध्या
नायिका कहलाती है] मूर्च्छान्त अर्थात् अर्चैतन्य पर्यन्त जिसका 'मोहन' अर्थात् सुरत-व्यापार
होता है । क्योंकि वह [सुरतानन्दसे] कुछ परिचित हो चुकी है । और वह धीरा, अधीरा तथा
धीराधीरा भेदसे तीन प्रकारकी होती है । उनमेसे प्रियके [अ-यहप्रो-सम्बन्धरूप] अक्षर-युक्त

अथ प्रगल्भा—

[सूत्र २६०]—प्रगल्भेद्वयो-मन्यु-कामा स्पर्शोऽप्यचेतना ॥

[२२] १७५ ॥

इद्धा दीप्ता वयो-मन्यु-कामा यस्याः । प्रियेषु स्पृष्टापि प्रकृष्टकामत्वादेया चैतन्यं सुचरि । ण्पापि मध्यायन् त्रिप्रकारा । तत्र धीरा कृतागति प्रिये सावद्वित्यादरा कृतागामान्या च रते । अधीरा मन्त्रजैन-नाडनपरा । धीराधीरा सोत्पामत्रकोन्ति-परेति ॥ [२२] १७५ ॥

अथ प्रकारान्तरेण नायिकानां प्रसिद्धान् भेदानाह—

[सूत्र २६१]—कार्यतः प्रोषिते पत्यावभूया प्रोषितप्रिया ।

कार्यं धनार्जन-राजप्रयोजनादि, तस्माद् देशान्तरं गते प्रिये, अभूया केश-मम्मार्जनादिभूपारहितेति ।

अथ विप्रलब्धा—

[सूत्र २६२]—विप्रलब्धा ससंकेते प्रेष्य द्रुतीमनागते ॥ [२३] १७६ ॥

होनेपर व्यंग्यपूर्णं ताने देने वाली होती है । अधीरा रोते हुए कठोर वचन कहने वाली होती है । धीर धीराधीरा रोते हुए व्याय धीर कठोर ताने सुनाती है ।

अथ आगे प्रगल्भा [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६०]—पूर्वा रूपते दीप्त प्रायु काम तथा मान वाली धीर [प्रियके] स्पर्श-मात्रमे [प्राग्नातिरेक से] मूर्च्छित हो जाने वाली [नायिका] प्रगल्भा नायिका कहलाती है । [२२] १७५ ।

इह अर्थात् दीप्त प्रायु, मान तथा काम जिसके हैं वह [इद्वयो मन्यु-काम हुई] । अत्यन्त उग्र काम-वासनासे युक्त होनेके कारण यह [प्रगल्भा नायिका] प्रियतमके स्पर्शमात्रसे भी होश-हवास भूल जाती है । यह भी मध्याकी तरह [धीरा-अधीरा धीर धीराधीरा भेदसे] तीन प्रकारकी होती है । उनमेंसे धीरा प्रियके अपराधी होनेपर अपने आकारको छिपाते हुए [प्रियके प्रति] आदर प्रदर्शित करती है, किन्तु सुरत-व्यापारमें उदासीन हो जाती है । अधीरा [प्रियको] डाँट-फटकार करती धीर मार तक लगती है । धीराधीरा व्यंग्यपूर्णं ताने सुनाती है [२२] ॥ १७५ ॥

अथ आगे नायिकाओंके अन्य प्रकारसे प्रसिद्ध भेदोंको कहते हैं—

[सूत्र २६१]—कार्येषु प्रियके बाहर चले जानेपर शरीरकी सजावट न करनेवाली प्रोषितपतिका नायिका कहलाती है ।

कार्यं अर्थात् धनोपार्जन अथवा राजाका प्रयोजन आदि, उसके कारण प्रियके देशांतर को चले जानेपर भूपारहित अर्थात् केशप्रसाधन आदि रूप भूषासे रहित [नायिका 'प्रोषितपतिका' कहलाती है] ।

अथ आगे विप्रलब्धा [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६२]—[नायिकाके साथ मिलनेका] संकेत करके धीर द्रुतीको भेज कर भी [प्रियके] न जानेपर [नायिका] 'विप्रलब्धा-नायिका' कहलाती है ॥ [२३] १७६ ॥

पत्यावात् सर्वेषु स्त्रीभेदेषु स्मरणीयम् । तेन कार्यतः कृतसंकेते दूती वा प्रेष्यानागते पत्यौ 'विप्रलब्धा'इति सम्वन्धः ॥ [२३] १७६ ॥

अथ खण्डिता—

[सूत्र २६३]—खण्डिता खण्डयत्यन्यासवत्या वासकमीप्यिता ।

अपरस्त्र्यभिष्वंगादुचितं वासकर्म कुर्वाण्ये प्रिये असूयावती खण्डिता । विप्रलब्धायां नान्यस्त्र्यासक्तिरित्यस्या भेदः इति ।

अथ कलहान्तरिता—

[सूत्र २६४]—ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्ते कलहान्तरितातिभाक् ॥

[२४] १७७ ॥

ईर्ष्याकलहेन तत्समीपान्निष्क्रान्ते तत्त्वविधमनागच्छति प्रिये पीडावती कलहान्तरितेति । अत्रेर्ष्याया कलहपूर्वकं परस्परमसंयोगाभिलाषः । पूर्वत्र तु नायिका समागमार्थिनी कलहाभावात्, किन्तु अन्यासंगिनि प्रिये ईर्ष्यामात्रवतीति विशेष इति ॥ [२४] १७७ ॥

अथ विरहोत्कण्ठिता—

[सूत्र २६५]—विलम्बयत्यदोषेऽपि विरहोत्कण्ठितोत्सुका ।

'पत्यौ' यह पद सब स्त्रियों [अर्थात् सब नायिकाओं] के साथ सम्भू लेना चाहिए । इसलिये कार्यवश मिलनेका संकेत करके और दूतोंकी भेज करके भी कार्यवश पतिके न था सकनेपर विप्रलब्धा नायिका होती है यह सम्बन्ध है ॥ [२३] १७६ ॥

प्रथम धामे खण्डिता [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६३]—खण्डिता नायिका [पतिको] अग्न्य स्त्रीके प्रति आसक्तिके कारण ईर्ष्यायुक्त होकर [अग्न्य स्त्रीके पास जाते समय उसके] वस्त्रों को खण्डित कर देती है ।

अग्न्य स्त्रीके प्रति आसक्तिके कारण सुन्दर वस्त्र आदिको धारण करते समय पतिके प्रति असूयावती नायिका 'खण्डिता' कहलाती है । विप्रलब्धा नायिका] में [उमके पतिके दूतारे] स्त्रीके प्रति आसक्ति नहीं होती है यह [खण्डिता तथा विप्रलब्धा का] भेद है ।

प्रथम धामे कलहान्तरिता [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६४]—ईर्ष्याकलहके कारण पतिके बाहर घुलने जानेपर दुःखी होने वाली 'कलहान्तरिता' नायिका कहलाती है । [२४] १७७ ॥

ईर्ष्याकलहके कारण उस [स्त्री] के पाससे प्रियके निकल जाने और समीपसे न जाने पर पीडा अनुभव करने वाली नायिका कलहान्तरिता' होता है । इसमें ईर्ष्या के कारण प्राप्त में मिलने की इच्छा नहीं होती है । पहिली [खण्डिता] नायिका तो कलह न होने के कारण समागम के लिए इच्छुष है, किन्तु अग्न्य के साथ सम्बन्ध रखने जाने प्रिय के विषय में केवल ईर्ष्या वाली है यह भेद है । [२४] १७७ ॥

प्रथम धामे विरहोत्कण्ठिता [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६५]—अपना कोई अचराय न होनेपर भी [अग्न्य स्त्रीके प्रति आसक्तिके कारण पास जानेमें] विलम्ब करनेपर उत्सुका [नायिका] विरहोत्कण्ठिता कहलाती है ।

अन्यनारीव्यासंगादिना प्रस्तुतस्त्रोक्तनापराधाभावेऽपि तत्रागन्तुकामेऽपि विलम्बं
वृथाणै पत्यां नायकोत्सुका सती विरहोत्कण्ठिता । अत्र प्रियागमनमचिरादवश्य-
न्भावि, परस्परं कलहश्च नास्तीति मर्याभ्यां भिन्नेयमिति ।

अथ वासकसज्जा—

[सूत्र २६६]—हृष्टा वासकसज्जात्मान्यलंकृतिपरंप्रियति ॥

[२५] १७८ ॥

प्रियेण सह रात्र्यादिवसनं वामकः । तत्रोचिते उद्यमपरा । 'एष्यति' विवक्षित-
कालागमनयति प्रिये स्वमण्डनवती नायिका वासकसज्जा । पृथोसु सर्वासु विप्रलम्भ-
शृङ्गारो ऽत्र तु मम्भोगशृङ्गार इति भेदः ॥ [२५] १७८ ॥

अथ स्वाधीनभर्तृका—

[सूत्र २६७]—सुभगम्मानिनी वश्यासन्ने स्वाधीनभर्तृका ।

सुभगमात्मानं मन्यते या नायिका सा वश्ये आसन्ने च पत्यां पतन्दीयरूप-
योयनाशास्त्रिणहृदयत्वान् स्वाधीनभर्तृका । आसन्नेवर्तिप्रियतमत्वेन पूर्वास्या भिन्नेय-
मिति ॥

प्रस्तुत स्त्रीका अपराध न होनेपर भी उस [अपनी] स्त्रीके प्रति आनेकी इच्छा
रखते हुए भी दूसरी स्त्रीके पास होने आदिके कारण पतिके विलम्ब करनेपर नायकमे
मिलनेके लिए उत्सुक नायिका 'विरहोत्कण्ठिता नायिका' कहलाती है । उसमे प्रियका प्रागमन
शीघ्र हो अवश्य होने वाला और परस्पर कलह नहीं है इसलिए यह पूर्वकी सब नायिकाओं
से भिन्न है ।

अथ आने वासकसज्जा [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६६]—पतिके आनेकी आशा होनेपर प्रसन्न होकर अपनेको सजानेमे लगी
हुई नायिका 'वासकसज्जा' कहलाती है । [२५] १७८ ।

रात्रि आदिको प्रियके साथ रहना 'वासक' है । उसके योग्य ध्यापारमे लगी हुई [वासक-
सज्जा कहलाती है] । 'एष्यति' अर्थात् प्रियके विवक्षित कालपर प्रागमन करनेकी आशा
होनेपर अपनेको सजानेमे लगी हुई नायिका 'वासकसज्जा' कहलाती है । पहले कही हुई
[प्रोत्पत्तिका से लेकर 'विरहोत्कण्ठिता' तक पाँच] सब नायिकाओंमे विप्रलम्भ शृंगार है ।
इस [छठी वासकसज्जा] मे सम्भोग शृंगार है यह इसका अर्थ सब नायिकाओंसे भेद है ॥
[२५] १७८ ॥

अथ आने स्वाधीनभर्तृका [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६७]—[पतिके] अपने वशमे और सदा समीपवर्ती होनेपर अपनेको सुन्दर
समझने वाली नायिका 'स्वाधीनभर्तृका' कहलाती है ।

जो नायिका अपनेको सुन्दर समझती है वह पतिके अपने वशमे और समीपवर्ती
होनेपर उसके हृदय धोवन आदिसे हृदयके बनीभूत हो जानेसे स्वाधीनभर्तृका कहलाती है ।
प्रियके समीप उपस्थित होनेके कारण यह विद्वानो [अर्थात् वासकसज्जा नायिका] से
भिन्न है ।

अथाभिसारिका—

[सूत्र २६८]—सरन्ती सारयन्ती वा रिरंसुरभिसारिका ॥

[२६] १७६॥

सरन्ती स्वयं तस्य पार्श्वे, सारयन्ती वा तं प्रियमात्मसमीपे । रिरंसुः सुरतार्थिनी नायिका अभिसारिका । अत्र नायिकाया प्रियसन्निधौ गमनमिति भेदः इति ॥ [२६] १७६ ॥

अथ स्त्रीणां यौवनस्थान् धर्मानाह—

[सूत्र २६९]—भावाद्या यौवने स्त्रीणामलङ्कारास्त्रयोऽङ्गजाः ।

दश स्वाभाविकाश्चैते क्रियारूपास्त्रयोदश ॥ [२७] १८० ॥

सति भोगे गुणाः सप्तायत्नजाश्च स्वभावजाः ।

नावश्यम्भाविनोऽर्थेया, विशतिः स्त्रीषु मुख्यतः ॥ [२८] १८१ ॥

१८१ ॥

यौवने उत्तमप्रकृतीनां च, वनितानां च भाव-हावादयोऽलंकाराः कटक-केयूरा-दिवद् वपुर्विभूपाहेतवः प्रादुर्भवन्ति । बाल्येऽपि किञ्चिदुन्मीलन्ति । वार्धके तु प्राचुर्येण नश्यन्ति । एते च यौवने स्त्रीणां प्राधान्यतोऽलंकाराः । पुंसां तूत्साहादयो मुख्यतो

अथ प्रागे 'अभिसारिका' [नायिकाका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २६८]—रमण करनेकी इच्छासे स्वयं [प्रियके पास] जाने वाली अथवा प्रिय को अपने पास बुलाने वाली नायिका अभिसारिका कहलाती है । [२६] १७६ ।

'सरन्ती' अर्थात् स्वयं उसके पास जाती हुई अथवा 'सारयन्ती' अर्थात् उस प्रियको अपने पास बुलाने वाली । रिरंसु अर्थात् सुरताभिलाषिणी नायिका अभिसारिका कहलाती है । इसमें नायिका स्वयं प्रियके पास जाती है [और स्वाधीनभर्तृकामे प्रिय नायिका के पास उपस्थित रहता है] यह [स्वाधीनभर्तृकासे इसका] भेद है ॥ [२६] १७६ ॥

अथ प्रागे स्त्रियोके [अर्थात् नायिकाओंके] यौवनमे होने वाले धर्मोंको कहते हैं—

[सूत्र २६९]—यौवनकालमे स्त्रियोके भाव आदि तीन आंगिक और दस स्वाभाविक अलंकार होते हैं । ये तैरहों [अलङ्कार इत्य रूप न होकर] त्रिया-रूप होते हैं । [२७] १८० ।

[प्रियका] सम्भोग होनेपर बिना प्रयत्नके उत्पन्न होने वाले सात स्वाभाविक गुण होने हैं जो अवश्यम्भावो नहीं होते हैं । ये भीस [१३+७=२०] गुण मुख्य रूपसे स्त्रियोमे रहते हैं । [२८] १८१ ।

यौवनमें उत्तम प्रकृति वाले [पुरुषों] और स्त्रियोमे भाव-हाव आदि अलङ्कार कटक-केयूर आदिसे समान शरीरकी शोभाके जनक उत्पन्न हो जाते हैं । वात्पावसर्पमें भी बुद्ध-बुद्ध उचित होते हैं, और वृद्धावस्थामे अधिकांश प्रायः नष्ट हो जाते हैं । यौवामें ये स्त्रियोके मुख्य रूपसे अलङ्कार होते हैं । पुरुषोंके तो उत्साहादि मुख्य रूपसे अलङ्कार होते हैं । इमीतिष् उदतादि नायकोंके साथ धीरत्व विशेषण कहा गया है । पुरुषोंमे भावादि

उलंकाराः । तेन नायकभेदेपृथक्तादिषु धीरत्वं विशेषणमुक्तम् । भावाद्यस्तु पुन्याणां उत्साहाद्याच्छादिता एव भवन्तीति ते गौणा । भावादीनां च विशतिसंख्यात्वमत्रोद्दिष्टभेदापेक्षया, अपरथा यौवने वनितार्लकाराणामनन्तसंख्यात्वमेव । तत्र प्रथमे त्रयोश्रंगान्, यौवनोद्बोधशालिनः प्रियदृष्टि-वस्त्र-माल्यादिबाह्यनिमित्तरहिताद् गात्रमात्राञ्जयन्ते । तेभ्यः परे दश स्वस्माद् रतिलक्षणाद् भावान् प्रियोपभोगानुपभोगयोजयन्ते । एते च दश एक-द्वि-त्रयादिविकल्पेन भावान्नावश्यम्भाविनः । अथागजा स्वाभाविकारच क्रियारूपा स्त्रीचेष्टात्मकाः । मिलिताश्च त्रयोदशसंख्या । ततः परे सप्त यत्नं अन्तःपरिस्पन्दं विना देहधर्मरूपाः पुन्योपभोगे सति भवन्ति । पूर्वे तु चेष्टात्मका । इच्छातो यत्नस्ततो देहचेष्टेति यत्नजा इति ॥ [२७-२८] १८०-१८१ ॥

(१) अथ भावादीनां प्रत्येकशो लक्षणमाह—

[सूत्र २७०]—भावो वागादिवैशिष्ट्यं चिह्नं रत्युत्तमत्वयोः ।

वाचां, आदिशब्दान् कर-पादादीनां वैशिष्ट्यं ह्यसौ विकारः अंतर्गत-रतिभावस्य पामरनायिकावैलक्षण्येन उत्तमप्रकृतित्वस्य च निश्चयहेतुर्भावः । भवति हि तथाभूतं वागादिवैशिष्ट्यमुपलभ्य उद्युद्बोधोऽयमन्तः कामप्रदीपोग्या इति, उत्तमप्रकृतिश्च नायिकेयमिति सहृदयस्य निश्चय इति ॥

[अलङ्कार] उत्साहादि [पुरुषोचित अलङ्कारो] से आच्छादित ही होते हैं इसलिए [पुरुषोचित] उनको गौण कहा गया है । भाव आदिको बीस सख्या यहाँ गिनाए गए [बीस] भावोंकी दृष्टिसे ही है । जैसे तो यौवनमे स्त्रियोंके अलङ्कारोंकी संख्या अनन्त होती है । उन [बीस अलङ्कारों] मेसे [भाव-हाथ और हेला ये] पहले तीन यौवनोदयसे युक्त शरीरमे प्रियके देखने अपवा वस्त्र-माल्य आदिके बिना बाह्य साधनोंके बिना केवल शरीरमात्रसे उत्पन्न होते हैं [इसलिए इनको अगज कहा गया है] । और उनमे अगले दस स्वयं अपने रतिरूप भावसे प्रियका उपभोग होने या न होनेपर उत्पन्न होते हैं । ये दस [अलङ्कार] कहीं एक, कहीं दो, या कहीं तीन आदि रूपसे भी उत्पन्न हो सकते हैं । इसलिए ये प्रवश्यम्भावी नहीं होते हैं । और अंगज तथा स्वाभाविक सभी अलङ्कार क्रियारूप अर्थात् स्त्रियोंके चेष्टात्मक होते हैं । [अगज तथा स्वाभाविक दोनों प्रकारके अलङ्कारोंको] मिलाकर तेरह सख्या होती है । उनके बाद सात [अलङ्कार] पुरुषका उपभोग हो जानेके बाद [स्त्रियोंके भीतर] यत्न अर्थात् भीतरी व्यापारके बिना ही देह धर्मके रूपमे प्रकट होते हैं । पहले [तिरह] तो चेष्टात्मक होते हैं । [पर ये सात चेष्टात्मक नहीं अपितु देह धर्मरूप होते हैं यह इनका भेद है] । इच्छासे यत्न होता है । यत्नसे देह-चेष्टा होती है । इसलिए [देह-चेष्टात्मक पहले तेरह अलङ्कार] यत्न [और अन्तिम सात अलङ्कार अपत्य] होते हैं ॥ [२७-२८] १८०-१८१ ॥

अथ आगे भाव आदिके अलग-अलग संक्षण करते हैं—

रति और उत्तमत्वकी सूचक वाली आदिको विशेषताको 'भाव' कहते हैं ।

[सूत्र २७०]—वाणीका और आदि शब्दसे हाथ-पंर आदिका वैशिष्ट्य अर्थात् मनोहर विकार, भीतर रहने वाले रति-भावका और पामर नायिकासे भिन्न उत्तम प्रकृतित्वके निरवधारक विद्, 'भाव' कहलाता है । उस प्रकारके वाली आदिके वैशिष्ट्यको देखकर इसके भीतर काम-प्रदीप प्रखलित हो गया है इस प्रकारका और यह नायिका उत्तम

(२) अथ हावः —

[सूत्र २७१]—नेत्रादिविकृतं हावः सशृङ्गारमसन्ततम् ॥

[२६] १८२ ॥

नेत्रयोः, आदिशब्दाद् भ्रू-चिबुक-ग्रीवादेश्च सातिशयो विकारः शृङ्गारोचित उद्भिद्योद्भिद्य विश्रान्तिमत्त्वेनासन्ततो हाव इति ॥ [२६] १८२ ॥

(३) अथ हेला—

[सूत्र २७२]—तदेव सन्ततं हेला, तारुण्योद्बोधशालिनी ।

तदेव सातिशयं नेत्रादिविकृतं सन्ततं प्रसरणशीलं सशृङ्गारं समुचितविभाव-विशेषोपग्रहविरहादनियतविषयं प्रबुद्धरतिभावसमन्वितं हेला । अस्यां च तारुण्यस्य प्रकर्षगमनम् । एते च त्रयोऽङ्गजाः परस्परसमुत्थिता अपि भवन्ति । तथा हि कुमारी-शरीरे प्रौढतमकुमारगत-हाव-भाव-हेलादर्शन-श्रवणाभ्यां भावादयोऽनुरूपा विरूपारच भवन्ति । किन्तुत्तरानपेक्ष्य एव भावः । हावस्तु भावापेक्षः । हावापेक्षिणी च हेला । पूर्वपूर्वोत्कर्षरूपत्वादनयोरिति ।

प्रकृतिको है इस प्रकारका निश्चय सहृदयोको ही जाता है [इसीलिए भावको रति तथा उत्तमत्वका चिह्न कहा गया है] ।

अथ प्रागे 'हाव' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७१]—शृङ्गारयुक्त किन्तु निरन्तर न रहनेवाला नेत्रादिका विकार 'हाव' कहलाता है । [२६] १८२ ।

दोनों नेत्रोंका, और आदि शब्दसे भौंह, ठोड़ी, गर्दन आदिका शृंगारके अनुरूप विशेष प्रकारका [विकार] उठ-उठकर विधांत हो जानेके कारण निरन्तर न विद्यमान रहने वाला विकार 'हाव' कहलाता है ॥ [२६] १८२ ॥

अथ प्रागे 'हेला' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७२]—यौवनोत्कर्षपर उदित और निरन्तर रहनेवाला वही [नेत्रादिका विशेष प्रकारका विकार] 'हेला' कहलाता है ।

शृंगारके अनुरूप और निरन्तर विद्यमान रहनेवाला नेत्र आदिका, वही विशेष प्रकार का विकार किसी विशेष कारण [विभाव] के सम्बन्धके बिना, अनियत-विषय [अर्थात् किसी व्यक्ति-विशेषके सम्बन्ध न होनेवाला] प्रबुद्ध सामान्य रतिभावके समन्वित [वही नेत्रादि का विशेष प्रकारका विकार] 'हेला' कहलाता है । इस [हेला] में यौवनोद्बोध प्रकर्षको प्राप्त हो जाता है । [भाव, हाव और हेला] ये तीनों प्रागिक विकार एक-दूसरेसे भी उदित होते हैं । जैसे कि कुमारीके शरीरमें प्रौढतम कुमारके भाव हाव हेलाको देखने या सुननेसे [उस कुमारके प्रति रुचि या प्ररुचि होनेके कारण] अनुत्पन्न या विरूप भावादि उत्पन्न होते हैं । [ये परस्पर सम्बन्ध भायादि होते हैं] किन्तु इनमेंसे भाव उत्तरवर्ती [हावादि] की प्रपेक्षा नहीं रखता और हाव [प्रपेक्षा पूर्ववर्ती] भावकी प्रपेक्षा करता है [भावके बिना हाव उत्पन्न नहीं हो सकता है । और हावके बाद उत्पन्न होनेवाली] हेला हावकी प्रपेक्षा करती है [हाव के बिना उत्पन्न नहीं होती है] इन [हाव तथा हेला] दोनोंके पूर्व-पूर्वके जाक्यं रूप हीनेसे ।

अथ स्वभावजेषु प्रथमं विभ्रममाह—

[सूत्र २७३]—रागादिना विपर्यासः क्रियाणामथ विभ्रमः ॥

॥ [३०] १८३ ॥

अथेति आगिकानन्तर्यार्थः । रागः प्रियतमं प्रत्येव बहुमान । आदिशब्दान्मद-
हर्षादिग्रहः । मदो मद्यकृतश्चित्तोल्लास । हर्षः सौभाग्यगर्व । अन्यथा वक्तव्येऽन्यथा-
वचनं, हृष्टेनादातव्ये पादेनादानं, कटीयोग्यस्य कण्ठे निवेशनं, इत्यादिकञ्चेष्टाविपर्यासो
विभ्रमः । विशिष्टविभावलाभे रतिप्रकर्षाद् देहविकारा म्वाभाविकाः । अगजाम्तु
विशिष्टविभावमन्तरेणेति विशेषः ॥ [३०] १८३ ॥

अथ विलास —

[सूत्र २७४]—विलासः प्रियदृष्ट्यादौ चारुत्वं गात्रकर्मणोः ।

आदिशब्दान् सम्भाषणादिग्रहः । चारुत्वं तारुकात्मिक मातिशयो विशेषः ।
कर्मभ्यानासन-नासन-निरीक्षणविचेष्टेति ।

अथ विच्छिन्ति —

अर्थात् अपने पूर्ववर्ती भावके उत्कर्षं रूप होनेसे हाव, भावकी अपेक्षा करता है और अपने
पूर्ववर्ती हावके उत्कर्ष-रूप होनेसे हेला हावकी अपेक्षा करती है ।

[इस प्रकार तीन प्रकारके आंगिक धर्मोंको कह चुकनेके बाद] अब आगे स्वाभाविक
[दस धर्मों] मेंसे पहले 'विभ्रम' को कहते हैं—

[सूत्र २७३]—रागादिके कारण क्रिया उत्पन्न-पुलट हो जाना 'विभ्रम' कहलाता
है ॥ [३०] १८३ ॥

'अथ' इस शब्दका अर्थ आंगिक [धर्मोंके वर्णन] के बाद यह है । राग अर्थात् प्रियतम
के प्रति ही अत्यन्त आदर । आदि शब्दसे मद, हर्ष आदिका ग्रहण होता है । मद अर्थात्
मद्यपानके कारण उत्पन्न चित्तकी प्रसन्नता । हर्ष अर्थात् अपने सौभाग्यका गर्व । कुछ और
कहनेके स्थान पर कुछ और कह जाना, हाथसे पकड़ने योग्यको पंरसे पकड़ना, बमरमे
पहिनने योग्यको गलेमें डाल लेना [यह सब 'क्रियाणां विपर्यय' 'विभ्रम' कहलाता है ।
विशिष्ट कारण [विभाव] के प्राप्त होनेपर रतिके प्रकर्षसे देहमें विकार होनेका स्वाभाविक
है [इसलिये इनको स्वाभाविक धर्म कहा गया है] और आंगिक विकार तो विशेष कारणके
बिना [शरीरमात्रसे उत्पन्न] होते हैं यह [इन दोनों प्रकारके धर्मोंका भेद है] ॥ [३०] १८३ ॥

अब आगे 'विलास' [का सफल करते हैं]—

[सूत्र २७४]—प्रियके दर्शन आदिसे शरीर और कर्मोंमें विशेष मुहुंमारता 'विलास'
कहलाता है ।

आदि शब्दसे सम्भाषण आदिका ग्रहण होता है । चारुत्वं अर्थात् उस समय उत्पन्न
होनेवाला विशेष प्रकारका सौन्दर्य । कर्म अर्थात् खड़ा होना, बंठना, चलना और बैठना आदि
चेष्टाएँ ।

अब आगे 'विच्छिन्ति' [का सफल करते हैं]—

[सूत्र २७५]—वेपाल्पतैव विच्छित्तिः परां शोभां वितन्वती ॥

॥ [३१] १८४ ॥

स्वल्पाप्याकल्पपरचना प्रकृतिसौभाग्यादिगुणयुक्त्वात् परा शोभा स्त्रिया वितन्वती विच्छित्तिरिति ॥ [३१] १८४ ॥

अथ लीला—

[सूत्र २७६]—लीला दयितवागादेः स्वे न्यासो बहुमानतः ।

आदिशब्दाद् वेप-न्यापारादिग्रहः । प्रियतमप्रीत्यतिशयेन दयितवागादेः सशृङ्गारं स्वस्मिन् न्यास मन्थक् करणं लीलेति ।

अथ विव्योक—

[सूत्र २७७]—विव्योकोऽनादरो मान-दर्पादिष्टेऽपि वस्तुनि ॥

॥ [३२] १८५ ॥

मानश्चित्तममुन्नति । दर्पं सौभाग्यगर्वं । इष्टं वक्ष्यमाल्यालंकारादीति ।

॥ [३२] १८५ ॥

अथ विद्वतम्—

[सूत्र २७८]—विद्वत् जल्पकालेऽपि मौनं ह्री-व्याज-मौग्ध्यतः ।

जल्पकालो भाषणत्योचित समय । मौनमभाषणम् । व्याज छद्म । उपलक्षण-

[सूत्र २७५]—अत्यधिक सौन्दर्यको प्रदर्शित करनेवाला स्वल्प वेप पारण ही विच्छित्ति कहलाती है । [३१] १८४ ।

स्त्रियोंके भीतर उनके प्रकृत सौभाग्यादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त सौन्दर्यको प्रकाशित करनेवाला थोड़ासा भी वेप-विव्यास 'विच्छित्ति' कहलाती है ॥ [३१] १८४ ॥

अथ आगे 'लीला' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७६]—प्रियके वचन आदिको अत्यन्त आदरपूर्वक अपने भीतर रखना लीला कहलाती है ।

आदि शब्दसे वेप और न्यापार आदिका ग्रहण होता है । प्रियतमके प्रति अत्यधिक प्रेम होनेके कारण प्रियतमकी वाली आदिको शृङ्गाराभिव्यक्तिपूर्वक अपनेमे लगाना अर्थात् यथार्थ बनाना 'लीला' कहलाती है ।

अथ आगे 'विव्योक' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७७]—मान अथवा दर्पके कारण इष्ट वस्तुके प्रति भी अनारदर बिलताना 'विव्योक' कहलाता है । [३२] १८५ ।

मान अर्थात् वित्तका चढ़ा होना । हर्ष अर्थात् सौभाग्यका गर्व । इष्ट अर्थात् अत्यन्त माना, अत्यन्त आदि ॥ [३२] १८५ ॥

अथ आगे 'विद्वत्' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७८]—सज्जता अथवा किसी बटाले अथवा मुग्धताके कारण बोलने के उचित समयपर भी न बोलना 'विद्वत्' कहलाता है ।

त्वावनायत्तत्त्व-वाल्यादयोऽपि गृह्यन्ते । आत्मनो ह्यथादिप्रकाशननिमित्तं समयेऽप्य-
भाषणं विहितमित्यर्थः ।

अथ ललितम्—

[सूत्र २७६]—ललितं गात्रसंचारः सुकुमारो निरर्थकः ॥[३३]१८६॥

गात्रस्य नेत्रदृस्तादे, संचारो व्यापार । सुकुमारोऽतिमनोहरो, द्रष्टव्यं विना
दृष्टिद्वेषो, प्राह्यमृते दृस्तादिव्यापृतिरित्येवं निष्प्रयोजनो ललितम् । सप्रयोजनस्तु व्यापारो
विलास, इत्यनयोर्भेद इति ॥ [३३] १८६ ॥

अथ कुट्टमितम्—

[सूत्र २८०]—कचौष्ठादिग्रहे कोपो मृषा कुट्टमितं भुवि ।

आदिशब्दान् स्तन-करादिग्रह । प्रियतमेन कचादिषु गृह्यमाणाया अन्त-
प्रमोदेऽपि व्यलीककोपकरणं कुट्टमितमिति ।

अथ मोट्टायितम्—

[सूत्र २८१]—मोट्टायितं प्रियेक्षादौ रागतो गात्रमोटनम् ॥[३४]१८७॥

प्रियस्य दर्शन-अवणानुकरणादिषु तद्भावभावनालम्करागवशाद्वर्गमर्दनपर्यन्तं
योपितरचेष्टितमिति ॥ [३४] १८७ ॥

जल्पकास अर्थात् भाषणके उचित समय । मीन अर्थात् चुप रहना । व्याज अर्थात्
यहाना । इसके उपलक्षण रूप होनेसे परवशता धीर भाव्य आदिका ग्रहण होता है । अर्पण
सञ्जा आदिके प्रकाशनके लिए बोलनेके अवसरपर भी न बोलना 'विहित' कहलाता है यह
अभिप्राय है ।

प्रागे 'ललित'का [लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २७६]—व्यर्थं ही मञ्जाकतके साथ अर्गोका चलाना 'ललित' कहलाता है ।

गात्र अथवा नेत्र और हाथ आदिका, संचार अर्थात् संचालन-व्यापार । सुकुमार
अर्थात् अश्वन्त मनोहर । [जैसे] द्रष्टव्य विषयके न होनेपर भी दृष्टि बौझना, पकड़ने योग्य
किसी वस्तुके न होनेपर भी हाथ आदिका चलाना । इस प्रकारका निष्प्रयोजन व्यापार
'ललित' कहलाता है ; और सप्रयोजन व्यापार 'विलास' कहलाता है ; यह इन दोनोंका भेद
है ॥ [३३] १८६ ॥

अथ प्रागे 'कुट्टमित' [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८०]—[प्रियतम द्वारा] केश, घोष्ठ आदि पकड़े जानेपर [हृदयके भीतर लो
प्रसन्नताके होनेपर भी [बाहर] मिथ्या क्रोध विखलाना 'कुट्टमित' कहलाता है ।

आदि शब्दसे स्तन, कर आदिका ग्रहण होता है । प्रियतमके द्वारा केश आदिके
पकड़े जानेपर भी भीतर प्रसन्नता होनेपर भी झूठमूठ नाराज्य होता 'कुट्टमित' कहलाता है ।

अथ प्रागे मोट्टायित [का लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८१]—प्रियतमके दर्शन आदिके होनेपर अर्गोका मरोडना 'मोट्टायित' कह
है ॥ [३४] १८७ ॥

प्रियतमके दर्शन, अवण, अनुकरणादिके होनेपर लग्नमता रूप रागके कारण
[विशिष्ट] अर्गोके मर्दन पर्यन्त स्त्रीका व्यापार 'मोट्टायित' कहलाता है ॥ [३४] १८७ ॥

अथ किलकिञ्चितम्—

[सूत्र २८२]—मुहु. स्मिताऽश्रुकम्पादेः संकरः किलकिञ्चितम् ।

आदिशब्दाद् भय-हसित-श्रम-रोप-गर्भ-दुःखाभिलाषादिग्रह । गर्वाद् वारं वारं स्मितादीनां सकीर्णतया योषिता यत्करणं तन् किलकिञ्चितम् । एते दश स्वाभाविका भुक्त्यामभुक्ताया च योषिति रतिभावोद्बोधोद्भवन्तीति ।

यथायत्नजेषु सप्तसु शोभा प्रथमं लक्ष्यते—

[सूत्र २८३]—श्रौज्ज्वल्यं यौवनादीनामथ शोभोपभोगतः । [३५] १८८ ।

यौवनस्य, आदिशब्दाद् रूप-लावण्यादीनां च पुरेष्योपभुज्यमानानां यदौज्ज्वल्यं छायाविशेषः सा शोभा । अथेति स्वाभाविकानन्तर्यार्थं इति ॥ [३५] १८८ ॥

अथ कान्ति-दीप्ती—

[सूत्र २८४]—सा कान्तिः पूर्णसम्भोगा दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।

शोभैव रागावतारघना कान्तिः । कान्तरेव चातिविस्तीर्णा दीप्तिः । यौवनादीनां मौज्ज्वल्यस्य मन्द-मध्य-तीव्रावस्था क्रमेण शोभा-कान्ति-दीप्तय इत्यर्थः इति ।

प्रथमं प्रागे 'किलकिञ्चित' [का लक्षणं करते हैं]—

[सूत्र २८२]—वार-वारं हंसने, रोने और कम्पन आदिका सम्मिश्रण 'किलकिञ्चित' कहलाता है ।

प्रादि शब्दसे भय, हास्य, श्रम, रोप, गर्भ, दुःख और अभिलाष आदिका ग्रहण होता है । गर्भके कारण स्त्रियोंके द्वारा हंसने, रोने आदिका जो वार-वार सकीर्ण रूपसे किया जाता है वह 'किलकिञ्चित' कहलाता है [यह अभिप्राय है । भुक्ता तथा अभुक्ता दोनों प्रकार की स्त्रियोंमें रतिभावका उदय होनेपर ये दश स्वाभाविक घर्भ उदय होते हैं ।

प्रथम प्रागे बिना यत्नके उत्पन्न होने वाले सात घर्भमेंसे पहले 'शोभा' का लक्षण करते हैं—

[सूत्र २८३]—उपभोगके बाद यौवन आदिकी उज्ज्वलता 'शोभा' कहलाती है । [३५] १८८ ।

श्रु०—यौवनका प्रारंभ आदि शब्दसे रूप लावण्यादिकी पुरुषके द्वारा भोगे जाने पर जो उज्ज्वलता अर्थात् सौन्दर्यातिशय उसको 'शोभा' कहते हैं [यह अभिप्राय है] । ['प्रथमोपभोगोपगत, मे प्रयुक्त] 'प्रथम' शब्द स्वाभाविक आनन्दार्थं प्रथमका बोधक है । [प्रथमि पहले निरूपण किए वस्तु स्वाभाविक घर्भके बाद शोभाका लक्षण किया जा रहा है] ॥ [३५] १८८ ॥

प्रथम प्रागे 'कान्ति' और 'दीप्ति' [दोनोंका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८४]—पूर्ण विस्तारकी प्राप्ति हो जानेपर वह शोभा ही 'कान्ति' कहलाती है । और 'कान्ति' का भी विशेष विस्तार 'दीप्ति' कहलाता है ।

आपत्तं अनुरागातिशयके कारण घनताकी प्राप्ति शोभा ही 'कान्ति' कहलाती है और आपत्त विस्तारकी प्राप्ति हो जाने वाली 'कान्ति' ही 'दीप्ति' कहलाती है । अर्थात् यौवन आदिकी उज्ज्वलताकी मन्द, मध्य और तीव्र अवस्थाएँ ही क्रमशः शोभा, कान्ति और दीप्ति कहलाती हैं यह अभिप्राय है ॥

अथ माधुर्यौदार्ये—

[सूत्र २८५]—सौम्यं तापेऽपि माधुर्यम्, औदार्यमुचिताच्युतिः ॥

[३६] १८६ ॥

शोक-क्रोध-भय-श्रमर्ष-ईर्ष्यादिज मन्तापस्ताप । अपि शब्दाद् घ्रीटा-रत्या-
दिजे अम्बास्थये ऽपीति । तापे ऽपि सन्नुचितस्य विनयाद्विकस्य अच्युतिरपरित्यजनं
औदार्यम् । माधुर्यं आकाराविकृति इत्यनयोर्विशेष इति ॥ [३६] १८६ ॥

अथ धैर्य-प्रागल्भ्ये—

[सूत्र २८६]—चेतोऽविकत्थनं धैर्यं प्रागल्भ्यं कौशलं रते ।

अविकत्थनं आत्मश्लाघा-चापलाभ्यां रहितं चेतो धैर्यमिति । कौशलं वैशारथ्यं,
रते मुरतक्रियायां यत् तन् प्रागल्भ्यम् । एते यत्नमन्तरेण पुरुषोपभोगनिष्पन्ना स्त्रीणां
सप्त गुणा इति ।

अथ एवंविधालङ्कारवतीना स्त्रीणां नायकेषु विनियोगमाह—

[सूत्र २८७]—यथौचित्यं च नेतृणां नायिकाः, कुलजादयः ॥ [३७] १६०

औचित्यं प्रकृति अवस्था आचार-देशकालाद्यविरोध । तदनतिरुन्नेण धीरोद्ध-
तादीनां नायकानां कुलजादयो नायिका नाटकेषु निबन्धनीया इति ॥ [३७] १६० ॥

अथ प्रागे 'माधुर्यं' और 'औदार्यं' [दोनोंके लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८५]—तापके होनेपर भी सौम्यता माधुर्यं कहलाता है । और उचित मापसे
पतित न होना 'औदार्यं' कहलाता है । [३६] १८६ ।

शोक, क्रोध, भय, श्रमर्ष और ईर्ष्यादिसे उत्पन्न होने वाला सन्ताप यहाँ 'ताप' [माना
गया] है । 'धैर्य' शब्दसे लज्जा और रत्यादिसे उत्पन्न अवस्थताका भी ग्रहण होता है । इस
तापके होनेपर भी [सौम्यताका बना रहना 'माधुर्यं' कहलाता है] । और तापके होनेपर भी
विनय आदि रूप उचित बातोंका परित्याग न करना 'औदार्यं' कहलाता है । आकारसे विकार
का उत्पन्न न होना माधुर्यं है [और मनमें विकारका उत्पन्न न होना औदार्यं है] यह इन
दोनोंका भेद है ॥ [३६] १८६ ॥

अथ प्रागे 'धैर्यं' तथा 'प्रागल्भता' [दोनोंका लक्षण करते हैं]—

[सूत्र २८६]—[आत्मश्लाघा और अपसतासे रहित विज्ञावस्थाका नाम 'धैर्यं' है और
मुरत-व्यापारमें निपुणताको प्राप्ति 'प्रागल्भता' कही जाती है ।

अविकत्थन अर्थात् आत्मश्लाघा और अपसतासे रहित विज्ञावस्थाका नाम 'धैर्यं' है ।
और 'रते' अर्थात् मुरत-व्यापारमें जो कौशल अर्थात् निपुणता वह 'प्रागल्भ्यं' कहलाता है । ये
सात गुण पुरुषोपभोगके द्वारा स्थिर्योमें विना यत्नके स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं ।

अथ इस प्रकारके [१० + ७ = १७] अलंकारोंसे युक्त नायिकाओंका नायकोंके साथ
सम्बन्ध दिलाताते हैं—

[सूत्र २८७]—औचित्यके अनुसार कुलजा आदि नायिकाएँ नायकोंके साथ विनि-
युक्त करनी चाहिए । [३७] १६० ।

औचित्य अर्थात् प्रकृति, अवस्था, आचार, देश, काल, आदिके साथ अविरोध । उक्त

अथासा नायिकाना सहायिन्य उच्यन्ते—

[सूत्र २८८]—सहायिन्यस्तु धात्रेयी-लिंगिनी-प्रातिवेशिकाः ।

शिल्पिनी चेटिका-सख्यो गुप्ता दक्षा मृदु-स्थिरा ॥

[३८] १६१ ॥

धात्रेयी स्तन्यदायिनी । लिंगिनी परिव्राजिकादिलिगवती । प्रातिवेशिका निकटा वसथा । शिल्पिनी चित्रादिशिल्पकारिका । चेटिका दासी । सखी समानगुणा मैत्र्यमुपगता । एवमादिका प्रियघटने सहायिन्य । एताश्च 'गुप्ता' रहस्यधारणसमर्था । इच्छा देश-काल-समयादिविद । मृदु-यो अनहङ्गता । स्थिराश्चापलवर्जिता । एवमन्येऽपि गुणा द्रष्टव्या इति ॥ [३८] १६१ ॥

अथ सामान्येन भाषाविधानमुच्यते—

[सूत्र २८९]—देवानीचनृणा पाठः संस्कृतेनाथ जातुचित् ।

महिषी-मन्त्रिजाया-पण्यस्त्रीणामव्यार्जलिगिनाम् ॥

[३९] १६२ ॥

[श्रोत्रित्य] का उल्लङ्घन किए बिना धोरोद्धत आदि नायकोके साथ कुलजा आदि नायिकाओं का नाटकादिने धरान करना चाहिए ॥ [३७] १६० ॥

अथ इन नायिकाओंकी सहायिकाओंको कहते हैं—

[सूत्र २८८]—घाय, परिव्राजिका, पडोसिन, शिल्पिनी, दासी और सखी जो [गुप्ता अर्थात्] रहस्यको धारण करनेमें समर्थ, धतुर, अहंकाररहित और चपलतारहित हो इनकी सहायिकाएँ होती हैं । [३८] १६१ ।

धात्रेयी अर्थात् दूध पिलाने वाली घाय । लिंगिनी अर्थात् परिव्राजिका आदिके चिह्नों की धारण करने वाली । प्रातिवेशिका अर्थात् समीप रहने वाली पडोसिनी । शिल्पिनी अर्थात् चित्रादि शिल्पकी रचना करने वाली । चेटिका अर्थात् दासी । सखी अर्थात् समान गुण वाली और मित्रताको प्राप्त स्त्री । इस प्रकार की स्त्रियाँ प्रियके साथ मिलन करनेमें सहायिका होती हैं । ये सब गुप्ता अर्थात् रहस्यको छिपा सकनेमें समर्थ, दक्षा अर्थात् देश, काल, भाचार आदिकी समझने वाली, मृदु अर्थात् अहंकाररहित और स्थिरा अर्थात् चपलतारहित होने चाहिए । इसी प्रकारके अन्य गुण भी [सहायिकाओंमें] समझने चाहिए ॥ [३८] १६१ ॥

अथ सामान्य रूपसे भाषाविधानको कहते हैं—

[सूत्र २८९]—देवताओं और नीचोंकी छोड़कर अर्थात् उत्तम तथा मध्यम पुरवोके पाठ संस्कृतमें [होना चाहिए] । और कभी-कभी पटरानी, मन्त्रि पत्नीदेवताओंका तथा [लिंगिनी पदमें लिंगिनश्च लिंगिनश्च अर्थात् पुरुष तथा स्त्री रूप दोनों प्रकारके लिंगियोंमेंसे एक दोष हो जानेसे] पुरुष तथा स्त्री रूप दोनों प्रकारके परिव्राजकों दम्भ-रहित [अर्थात् मुनि, बौद्ध, भिक्षु धोत्रिय आदि] द्वारा [भी संस्कृत का प्रयोग किया जाना चाहिए] । [३९] १६२ ॥

देवशब्देन सुरा सुर्यश्चैकशेषाद् गृह्यन्ते । एषा च नीचवजितानामुत्तम-मध्यम नराणां च । स्त्रीणां प्राकृतस्यैव विधानान्त् पुष्पाणामेव संस्कृता भाषा । कदाचित् पुन कार्यवशत कृताभिषेकाया राज्या मन्त्रिजा-पत्यस्त्रियोलिंगिना च एकरूपेण पु-स्त्रीरूपाणां परिव्राड्-मुनि-शाक्य-श्रोत्रियादीनां संस्कृत द्रष्टव्यम् । लिंगिनश्च दम्भं विना ये गृहीतव्रतास्तेषां संस्कृतम् । सामर्थ्यान्च व्याजलिंगिना प्राकृतमिति लभ्यते । स्वगोपनार्थमेतैर्भाषान्यथात्वस्य करणात् । तत्र महिष्या संधि-विग्रहचिंतादिना, मन्त्रि-जाया न्यायप्रवृत्त्यादिना वैश्याया वैदग्ध्यादिना, लिंगिना च सर्वविद्याकौशलख्या-पनादिना कार्येण संस्कृत, अन्यत्र तु प्राकृतमवगतव्यम् । 'योपिताम्' इति महिष्यादीनां प्राकृतस्यैव प्राप्तौ 'देवानीचनृणां' इति च लिंगिना संस्कृतस्यैव प्रसङ्गे 'जातुचिन्' इत्यप्राप्त्यर्थं प्राप्तनिषेधार्थं चोपात्तम् । तेन लिंगिना बाहुल्येन प्राकृतं भवतीति ॥ [३६] १६० ॥

अथ प्राकृत पाठ्यमाह—

[सूत्र २६०]—बाल-पण्ड-प्रहृष्ट-मत्त-स्त्रीरूप-योपिताम् ।

प्राकृतेनोत्तमस्यापि दारिद्र्यशय्यमोहिनः ॥

[४०] १६३ ॥

देव' शब्दसे एक शेषसे देव और देवी दोनोंका ग्रहण होता है । इनमे और नीचोंकी छोड़कर शेष पुरुषोंकी भाषा संस्कृत होनी चाहिए । स्त्रियोंके लिए प्राकृतका ही विधान होने से [स्त्रियोंकी प्राकृत भाषाही होनी चाहिए] । कभी कभी कार्यवश पटरानी अथि पत्नी वेदया तथा लिंगियोंमे एक शेष द्वारा स्त्री पुरुष रूप दोनों प्रकारके सन्यासियों मुनियों बौद्ध तथा ब्राह्मण श्रोत्रियादिकी संस्कृत भाषा समझनी चाहिए । लिंगसे जिहोंने दम्भ रहित होकर व्रत लिया है उनको संस्कृतका प्रयोग कराना चाहिए । इस बचनकी सामर्थ्यसे बनावटी परिव्राजक आदिके द्वारा प्राकृतका प्रयोग करना चाहिए यह अर्थ निकलता है । क्योंकि ये अपनेको दिवानेके लिए भाषाको बदल भी लेते हैं । उनमेसे अथि विग्रह आदिकी चिंतासे प्रवृत्तपर राजनीतिके [द्वारा संस्कृत भाषण करना चाहिए] न्याय विचार आदिके समय [मन्त्रिजाया प्रयात्] मन्त्रीकी पत्नीके द्वारा [संस्कृत भाषण कराना चाहिए] । वैदग्ध्यादि [प्रदत्त] के लिए बंध्या द्वारा और सब विद्याधर्मोंमें प्रवीणतासे सिद्ध करनेके लिए परिव्राजिका आदिके द्वारा कार्याविशेषके कारण संस्कृतका प्रयोग करना चाहिए । और साधारण रूपसे प्राय जगह प्राकृतका ही प्रयोग समझना चाहिए । 'योपिताम्' इस पदसे महिषी आदिमें प्राकृत [का प्रयोग] प्राप्त होनेसे और 'देवानीचनृणां' पदसे परिव्राजक आदिमें संस्कृत [के प्रयोगसे] से ही प्राप्त होनेपर 'जातुचिन्' इस पदकी [प्राप्तकी] अप्राप्तिके लिए अर्थात् प्राप्तसे निषेध करनेके लिए ग्रहण किया गया है । इसलिए परिव्राजक आदिमें अपिबत्तर प्राकृतका प्रयोग होता है ॥ [३६] १६२ ॥

अथ आगे प्राकृत पाठ्यको कहते हैं—

[सूत्र २६०]—बालकों, नपु लर्षों प्रहृष्टत, मत्त स्त्रीप्रवृत्ति जाने और स्त्रियोंका प्राकृतका ही प्रयोग कराना चाहिए । और दारिद्र्य अथवा ऐश्वर्यादि मोहित उत्तम पुरुषके द्वारा भी [प्राकृत भाषाका ही प्रयोग कराना चाहिए] । [३६] १६३ ।

ग्रहैः शनैश्चरादिभिः, कदाग्रहैर्वा ग्रस्ता दूषिता ग्रहग्रस्ताः । स्त्रीरूपाः स्त्रीप्रकृतयः पुरुषाः । बालादीनामद्भत्व-नीचप्रकृतिरुत्व-सुच्छ्रस्वभावत्वादेः प्राकृतेन पाठः । तथोत्तमप्रकृतेरपि धीरोदात्तादे-दौरिद्यैश्वर्याभ्यां उपलक्षणाद् धनभ्रंशादिना च मूढमनसः प्राकृत पाठ इति ॥ [४०] १६३ ॥

अपरमपि वाक्प्रकारमाह—

[सूत्र २६१]—अत्यन्तनीच-भूतादौ पंशाची भागधी च वाक् ।

शौरसेनी तु नीचस्य देशोद्देशे स्वदेशगीः ॥ [४१] १६४ ॥

अत्यन्तनीचः प्रकृष्टाधमप्रकृतिः । आदिशब्दान् पिशाचादिग्रहः । एषु पंशाची भागधी च सांकर्येण भाषा भवति । नीचमात्रप्रकृतः पुनः शौरसेनी । देशस्य बुरु-मगधादेशु देशः प्रकृतत्वं तस्मिन् सति स्व-स्वदेश सम्बन्धिनी भाषा नियन्धनीयेति ॥ [४१] १६४ ॥

प्रकारान्तरमप्याह—

[सूत्र २६२]—तिर्यग्जात्यन्तरादीनामानुरूप्येण संकथा ।

तिर्यग्व्यः पशवो पक्षिणश्च । जात्यन्तराणि वणिग्-विप्र-चाण्डालादीनि । एतानि

ग्रहों अर्थात् शनैश्चर आदिके अथवा कुतिसत आग्रहोंसे जो दूषित हैं वे ग्रहप्रस्त हूप [उनके द्वारा प्राकृत भाषाका प्रयोग कराना चाहिए] । स्त्रीरूप अर्थात् स्त्रियों-जैसे स्वभाव-वाले पुरुष [उनके द्वारा भी प्राकृतका ही प्रयोग कराना चाहिए] । बालकों आदिके मूल, अज्ञानी, नीच प्रकृति वाले तथा शुद्ध स्वभाववाले होने आदिके कारण प्राकृत भाषाका पाठ कराया जाता है । और [कभी] उत्तम प्रकृति वाले अर्थात् धीरोदात्त आदिके [स्वभाव वाले पुरुषके] भी दरिद्रता अथवा ऐश्वर्यातिशयसे मोहित हो जानेपर और इनके उपलक्षण रूप होनेसे धननाश आदिसे भी विमूढमनस्क हो जानेपर प्राकृत ही बोलवाना चाहिए ॥ [४०] १६३ ॥

अथ बोलनेके विषयमें अन्य प्रकारोंका भी वर्णन करते हैं—

[सूत्र २६१]—अत्यन्त नीच भूतादि [के भाषण] में 'पंशाची' तथा भागधी [मंकीण] भाषा प्रयुक्त होती है । नीच [वाक्प्रके भाषण] में 'शौरसेनी' [प्राकृत भाषा] होती है । और किसी देश-विशेषका उल्लेख होनेपर अपने-अपने देशकी भाषाका ही प्रयोग करना चाहिए । [४१] १६४ ।

अत्यन्त नीच अर्थात् अत्यधिक अधम प्रकृति वाला । [भूतादि पदमें प्रयुक्त] आदि शब्दसे पिशाचादिका ग्रहण होता है । इसमें पंशाची और भागधी दोनों भाषाओंका संकीर्ण रूपसे प्रयोग होता है । और केवल सामान्य रूपसे नीच प्रकृति वाले वाक्प्रमें शौरसेनी भाषाका प्रयोग कराना चाहिए ॥ [४१] १६४ ॥

अथ आगे [भाषाके विषय] अन्य प्रकार भी बतलाते हैं—

[सूत्र २६२]—पशु-पक्षी आदि और विभिन्न जातियोंमें औचित्यके अनुसार [भाषा का व्यवसायन करके] बातचीत होनी चाहिए ।

तिर्यक् अर्थात् पशु और पक्षी । अन्य जातियों अर्थात् वणिक्, विप्र, चाण्डाल आदि । ये सब एक ही स्थानपर भी हो सकते हैं । 'आदि' शब्दसे प्रथममें रहनेवाले नगर निवासी

चैकस्मिन्नपि देशे भवन्ति । आदिशब्दाद् प्राग्य-नागरक-आरण्यक-विट्-देवकुलिकादि-
 ष्टह- । एवंविधपात्राणामानुरूप्येण यस्य तिर्यंगादेर्यो भणित्तिरीति- प्रसिद्धा सा सा
 तस्य सम्यग् वर्णनीया । येन स एवायं तिर्यंगादिरिति ताद्रूप्यावगमो भवति । इयं च
 देशागीश्वच प्रायो अपभ्रंशे निपततीति ॥

अथ भाषादेरन्यथात्वमपि भवतीत्याह—

[सूत्र २६३]—भाषा-प्रकृति-वृत्तादेः कार्यतः क्वापि लंघनम् ॥

[४२] १६५ ॥

भाषाया संस्कृत-प्राकृतादेर्वाच । प्रकृतेरुत्तम-मध्यमाद्यमरूपायाः । वृत्तस्य
 आचारस्य, इतिवृत्तस्य वा । आदिशब्दाद् धीरोद्धतवादिधर्माणां नेपथ्यादेर्वा केनचित्
 प्रयोजनेन लंघनमिति क्रमो विधेयः । एतच्च यथायथं क्वचित् क्वचित् प्रदर्शितमेव ।
 म्ययं वाभ्यूहमिति ॥ [४२] १६५ ॥

अथ रूपकेषु यो येन नाम्ना व्यवहर्तव्यस्तस्य तदाह—

[सूत्र २६४]—आर्योति शब्दाले पत्नी लिङ्गिनी ब्राह्मणी द्विजैः ।

अम्वापि जननी-वृद्धे पूज्या तु भवतीत्यपि ॥

[४३] १६६ ॥

घोर वनेमे रहने वाले तथा विट्, देवकुलिका आदिका पहलू होता है । इस प्रकारके पात्रोंकी
 भाषा आनुसूचित्ये अनुसार अर्थात् जिस तिर्यंगादिकी जो भाषा लोकमें प्रसिद्ध है उसकी उसके
 साथ भली प्रकारसे प्रयोग करना चाहिए जिससे यह वही तिर्यंगादि है यह बात ठीक तरह
 से प्रतीत हो सके । यह [तिर्यंगादिकी भाषा] घोर देश भाषा दोनों प्राय अपभ्रंशमे
 पाती हैं ।

अथ प्रागे भाषा प्रादिमें परिवर्तन भी हो सकती है यह बात दिखताते हैं—

[सूत्र २६३]—भाषा, प्रकृति, वृत्त अर्थात् आचार या कथावस्तु आदिका कार्यवश कहीं
 उत्थापन भी किया जा सकता है । [४२] १६५ ।

भाषा अर्थात् संस्कृत घोर प्राकृत आदि बालीका । प्रकृति अर्थात् उत्तम, मध्यम,
 अधम रूप प्रकृतिका । वृत्त अर्थात् आधरलका अथवा कथावस्तुका । आदि शब्दमे धीरोदात्त-
 त्वादि यमोंका अथवा वेप-भूषादिका जिसी विधेय प्रयोजनसे लक्षण किया जा सकता है इस
 प्रकारका [क्रम अर्थात्] धारण करना चाहिए । इस बातका कहीं कहीं कुछ वर्णन किया जा
 चुका है । अथवा स्वयं समझ लेना चाहिए ॥ [४२] १६५ ॥

अथ रूपकेमे जिसकी जिन नामसे पुकारा जाता चाहिए उसके उस नाम आदिकी
 बतलाने हैं—

[सूत्र २६४]—ब्राह्मणोंके द्वारा पत्नी, परिवारिका घोर ब्राह्मणों 'आर्या' इस नामसे
 कही जाती हैं । माता घोर वृद्ध स्त्री [आर्या शब्दसे तो कही ही जाती है किन्तु उसके
 अनिर्दिक्त] 'अम्बा' भी कही जाती है । वृद्धा स्त्री [भी आर्या तो कही ही जाती है उसके
 अनिर्दिक्त] 'भवती' इस पदसे भी कही जाती है । [४३] १६६ ।

भ्रात्राग्रजो ऽधमैमन्त्री नटी-सूत्रभृतौ मिथः ।

पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां य पत्नी पत्न्या जरन् पतिः

॥ [४४] १६७ ॥

‘आर्यशब्द’ इत्यन्तो अविवाहितलिंग-संख्या-कारकः शक्तिस्वरूपमात्रेण ग्रहणार्थमुपात्तः । तेन नानालिंग-संख्या-कारकेषु प्रयुज्यते । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । पत्नी सधर्मचारिणी । अम्बापीति न केवल ‘आर्या’ शब्देन किंतु ‘अम्बा’ शब्देनापि जननी-वृद्धे उच्येते । पूज्या मान्या । सा चात्रेपद् वृद्धा सती, ‘भवति’ इति शब्देन ‘आर्या’ शब्देन च वाच्या ।

भ्रात्रा अनुजेन अग्रजो ज्येष्ठो भ्राता, अधमैर्हिनैः मंत्रो राक्ष सचिवो नटी-सूत्रधारो मिथः परस्परं नट्या सूत्रधारः सूत्रधारेण च नटी, पुरोधः-सार्थवाहाभ्या कर्तृभ्यां पत्नी, पत्न्या च कर्त्या वृद्धः पतिः ‘आर्य’ इति शब्दते इति संबंधः । ‘आर्येति शब्दते पत्नी’ इत्यनेनैव सिद्धेऽपि ‘पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां पत्नी’ इति यौवनेऽपि ‘आर्या’ इति वा निबंधनार्थम् ॥ [४३-४४] १६६-१६७ ॥

[छोटे भाईके द्वारा] बड़े भाईको [आर्य शब्दसे भी कहा जाता है और उसके प्रतिरिक्त] भ्राता [भी कहा जाता है] नीच पात्रोंके द्वारा मन्त्रीको [को आर्य] धीर नटी तथा सूत्रधार परस्पर एक-दूसरेको [आर्यं तथा आर्यां] धीर पुरोहित तथा सार्थवाहके साथ [यौवनस्थामें] पत्नी [आर्या] तथा पत्नीके द्वारा वृद्ध पति [आर्य शब्द कहा जाता है] । [४४] १६७ ।

[आर्येति इस कारिकाभागमें] इति शब्द जिसके अन्तमें दिया गया है इस प्रकारका आर्य शब्द लिंग, संख्या, कारक आदिके रहित शक्तिके स्वरूपमात्रसे ग्रहण किया गया है । इसलिये विभिन्न लिंग, संख्या तथा कारकोमें उसका प्रयोग माना जाता है । इसी प्रकार अन्य शब्दोंके विषयमें भी समझना चाहिए । [अर्थात् अम्बा, भवती आदि शब्द भी नियत संख्या, नियत कारक आदिके ग्राहक न होकर सामान्य रूपसे ही पढ़े गए हैं] । पत्नीवा अर्थ सहधर्मचारिणी है । ‘अम्बापि’ इसमें जननी तथा वृद्धाके न केवल ‘आर्या’ शब्दसे ही नहीं अपितु ‘अम्बा’ शब्दसे भी कही जाती है । पूज्या अर्थात् मान्य । यह कुछ छोटे वृद्धा होनेपर ‘भवती’ इस शब्दके द्वारा तथा ‘आर्या’ शब्दके द्वारा सम्बोधित की जाती हैं ।

भाई अर्थात् छोटे भाई द्वारा बड़े भाईको [आर्य शब्दसे], तथा नीच पात्रोंके द्वारा मन्त्री अर्थात् राजाके सचिवको [आर्यं कहा जाता है] तथा नटी धीर सूत्रधार एक-दूसरेको परस्पर अर्थात् नटीकेद्वारा सूत्रधारको [आर्यं] तथा सूत्रधारकेद्वारा नटीको [आर्या सम्बोधन किया जाता है] । पुरोहित तथा सार्थवाह रूप प्रयोगकर्ताओंके द्वारा पत्नी [आर्यां कही जाती है] धीर पत्नीके द्वारा वृद्ध पति [आर्यं रूप पदसे सम्बोधित किया जाता है] । ‘आर्येति शब्दसे पत्नी’ इति १६६वाँ कारिकाके प्रारम्भिक भाग से ही [पत्नीके लिए आर्या शब्दके प्रयोगके] सिद्ध होनेपर भी ‘पुरोधः-सार्थवाहाभ्यां पत्नी’ इसमें [जो पत्नीको आर्या पदसे सम्बोधित किए जानेकी बात बुझाया कही गई है] यह [पुरोहित तथा सार्थवाहकेद्वारा] यौवनावस्थामें भी पत्नीको ‘आर्या’ कहकर ही सम्बोधित करना चाहिए इस बातको सूचित करनेकेलिए कही गई है ॥ [४३-४४] १६६-१६७ ॥

अन्यदप्याह—

[सूत्र २६५]—महाराजो नृपः सर्वस्वार्थपुत्रेति योवने ।

पुंसा भद्रेति भोक्तव्या प्रियेति दयितायवा ।

॥ [४५] १६८ ॥

पिता-पुत्राभिधायोर्गमुंख्या देव्यपि राजभिः ।

विदूषकेण भवती राज्ञी-चेत्स्यौ नृपस्त्रियः ॥

॥ [४६] १६९ ॥

भट्टिनी स्वामिनो देवीत्येवं सर्वाः परिच्छदंः ।

वेश्या ऽञ्जुकेति वृद्धा तु साऽस्ता तुल्या स्त्रिया हला ॥

॥ [४७] २०० ॥

‘पत्न्या’ इति ‘जरन्’ इति चानुवर्तते । पत्न्या जरन्तूपो ‘महाराज’ इति । सर्व-
म्भु नृपोऽन्यश्च पतिर्योगने वर्तमान ‘आर्यपुत्र’ इति पत्न्या कीर्त्यते । आर्यपुत्र इति
हि श्वशुरेण व्यपदेशो यौवनस्य शृङ्गारोचितत्वग्व्यापनार्थः । यौवनादन्यत्र तु ‘आर्य

[इसी विषयमें आगे] और भी कहते हैं—

[सूत्र २६५]—[पत्नीके द्वारा वृद्ध] राजाको महाराज [बहकर सम्बोधन करना चाहिए] तब राजा और अन्य [सामान्य रूपसे राजा तथा] पति को पत्नी के द्वारा यौवन कालमें आर्यपुत्र [नामसे सम्बोधित किया जाता है] । भोक्तव्या स्त्रीको पुष्य [प्रथम परिचयके साथ] भद्रा [कहकर], और दयिता अर्थात् भाषाँची या प्रिय, [बहकर सम्बोधन करें] । [४५] १६८।

अथवा [दयिता अर्थात् अपनी पत्नीको उसके] पिता या पुत्रोंके नामको जोड़कर [रामचन्द्रकी माता अथवा सोमशर्माकी पुत्री इस रूपसे सम्बोधन किया जाता है] । राजाओं के द्वारा मुख्य अर्थात् पटरानीको [प्रियाके अतिरिक्त] देवी भी [कहा जाता है] । विदूषकके द्वारा रानी और चेटा [बोनीको भवती पदसे सम्बोधित किया जाना चाहिए] । [४६] १६९।

सारी रामियोंको परिजनोंके द्वारा भट्टिनी, स्वामिनो, देवी इम प्रकार सम्बोधन किया जाना चाहिए [इसमें ‘नृपस्त्रिय’ पद १६९वें श्लोकके अन्तमें आया है उसका अन्वय इस २००वें श्लोकमें होता है] । [योवनवती] वेश्याको [उसके सेवकवर्ग] ‘अञ्जुका’ [बहकर सम्बोधन करते हैं] और उसी [वेश्या] के वृद्ध होनेपर ‘भद्रा’ पदसे उसको सम्बोधित किया जाता है । और बराबर बाली स्त्रियाँ एव-भूतरेको ‘हला’ बहकर सम्बोधन करती हैं । [४७] २०० ।

‘पत्न्या’ और ‘जरन्’ ये शब्दों पर [१६७ सम्पादाकी आरिक्तामें] अनुवृत्ति द्वारा आते हैं । इसलिये पत्नीके द्वारा वृद्ध राजाको महाराज [बहकर सम्बोधित किया जाता है] यह अभिप्राय है । सामान्य रूपसे सारे राजाओंको [महाराजके अतिरिक्त] आर्यपुत्र [भी कहा जाता है] यौवनावस्थामें वर्तमान पतिको [पत्नी] आर्यपुत्र पदसे कहती हैं । ‘आर्यपुत्र’ यह नाम श्वशुरके सम्बन्धमें बना है । [और यौवनकालमें इस अवस्था प्रयोग] यौवनके शृङ्गारो-

इत्येवं कीर्त्यते । भोक्तव्या भोक्तुमभिलषिता प्रथमपरिचये पुरुषेण स्त्री 'भद्रा' इति, दयिता भार्या पुनर्यौवने 'प्रिया' इति कीर्त्यते । अथवा दयिता पिता-पुत्रयोर्यौवमिधान तद्योगैस्तेन युज्यमानैः शब्दैः 'माठरपुत्रि' 'सोमशर्मजननि' इत्येवमादिभिः पुरुषेणाभाष्या । मुख्या कृताभिषेका दयिता पुनर्देवीति, अपिशब्दान् प्रियेति च राजभिर्वहुवचनादन्यैश्च पुम्भिः । तथा विदूषकेण राज्ञी राजपत्नी चेटी च 'भवति' इति वाच्या । तथा सर्वा अपि नृपस्त्रियो राजपत्न्य परिजनेन भट्टिनी स्वामिनी देवी इति शब्दैः शक्यन्ते । वेश्या पण्यस्त्री यौवनवती द्रष्टव्या, वृद्धाया नामान्तरविधानान् । परिजनेन 'अञ्जुका' इति । सा इति वेश्या । वृद्धा पुन 'अत्ता' इति । तुल्या समानकुल-शीलवयो स्वस्थादिका वनिता च समानया स्त्रिया 'हला' इति वाच्या इति ॥ [४५-४७] १६८-२०० ॥

अन्यदप्याह—

[सूत्र २६६]—हंजे त्वनुत्तमा-प्रेष्ये भगवदिति देवता ।

तपःस्था चार्च्य-देवपि-बहुविद्याः सयोपितः ॥

[४८] २०१ ॥

चित होनेकी सूचना देनेवाला है । यौवनकालको छोड़ अन्य समयमें केवल 'प्रायं' पदसे [पत्नी पतिको सम्बोधित करती है] । भोक्तव्य अर्थात् जिसके साथ पुरुष भोग करना चाहता है उस स्त्रीको प्रथम परिचयके समय पुरुष 'भद्रे' कहकर सम्बोधित करता है । और दयिता अर्थात् अपनी भार्याको यौवनकालमें 'प्रिया' पदसे सम्बोधित करता है । अथवा दयिता अर्थात् पत्नीको [उसका पति प्रियाके अतिरिक्त उसके] पिता और पुत्रके जो नाम हो उनके साथ जोड़कर माठरकी पुत्री, सोमशर्मकी माता आदि इस प्रकारके शब्दोंसे सम्बोधित करता है । मुल्या अर्थात् अभिषिक्ता पत्नीको राजा लोग देवी भी कहते हैं । अपि शब्दसे प्रिया भी राजाओंके द्वारा कहा जाता है । बहुवचनसे अन्य पुरुषोंके द्वारा भी [कृताभिषेका रानीको देवी कहा जाता है] । तथा विदूषकके द्वारा राजपत्नी अर्थात् रानी और चेटी दोनोंको 'भवती' पदसे सम्बोधित किया जाता है । और राजाओंकी सभी पत्नियों अर्थात् रानियोंको परिजनवर्ग भट्टिनी, स्वामिनी तथा देवी शब्दोंसे सम्बोधित करते हैं । वेश्या पदसे यौवनावस्थावाली बाजाह स्त्रीका ग्रहण करना चाहिए । क्योंकि वृद्धा वेश्याओंके लिए [अत्ता इस] द्वारे नाम का विधान किया गया है । [उस यौवनवती वेश्याको] परिजनवर्ग 'अञ्जुका' इस नामसे कहते हैं । 'सा' अर्थात् वही वेश्या वृद्धा हो तो 'अत्ता' पदसे कही जाती है । तुल्या अर्थात् समान कुल, शील, आयु और वंश आदि वाली बराबरवाली स्त्रीको बराबरवाली दूमरी स्त्री 'हला' कहकर सम्बोधित करती है ॥ [४५-४७] १६८-२०० ॥

[इसी विषयमें आगे] और भी कहते हैं—

[सूत्र २६६]—उत्तम प्रकृतितसे रहित [त एव अप्रेष्या अर्थात् दूती आदिसे रूपसे प्रिये पास न भेजने योग्य] और प्रेष्या दोनोंको 'हंजे' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है । [तस्त्वती आदि] देवता और तपस्विनी स्त्रीको 'भगवती' शब्दसे कहा जाता है । पुण्य और बहुभूत पुरुषों और उनकी पत्नियों दोनोंको भी भगवन् शब्दसे सम्बोधित करना चाहिए ।

[४८] २०१ ।

किञ्च—

[सूत्र २६७]—मित्राख्याभिर्विदू राज्ञा कुमारो भर्तृदारकः ।

मुनि-शाक्यौ भदन्तेति स्वप्रसिद्धचाऽपरो व्रती ॥

[५०] ३०३ ॥

सूत्री भावोऽनुगेनासौ तेन मार्यः समः सखा ।

शिष्यात्मजानुजाः पुत्र-वत्सौ तातो जरन्नपि ॥

[५१] २०४ ॥

सौम्यो भद्रमुखश्चेति नीचो हण्डे तु पामरैः ।

येन कर्मादिना यस्तु ख्यातः स तदुपाधिकः ॥

[५२] २०५ ॥

वयस्य-सखीत्यादयो मित्राख्या । ताभिर्विदूषको राज्ञा सम्बोध्य । सूत्रस्वान्त्य 'विदू' इत्येकदेशनिर्देशो न विरोधी । कुमारो युवराज कौमारो वयसि वर्तमानोऽन्यो वा एष भर्तृदारक इति, भर्तृदारको वा 'कुमार' इत्यभिधातव्य । एवं कुमार्यपि पत्नीके द्वारा राजाको 'वयस्य' कहकर और अपि शब्दसे 'राजन्' इस पदसे भी सम्बोधित किया जा सकता है । अथमों अर्थात् नीच प्रकृति वालोके द्वारा राजाको 'भट्टी' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है । उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृतिके सामान्य लोगोंके द्वारा राजाको 'वैय' कहकर सम्बोधित किया जाता है ॥ [४८-४९] २०१ २०२ ॥

और भी [इसी विषयमें प्रागे कहते हैं]—

[सूत्र २६७]—राजा विदूषकको मित्र-वाचक पदसे सम्बोधित करता है । स्वामीके पुत्रको कुमार पदसे कहा जाता है । जैन तथा बौद्ध-भिद्यु 'भदन्त' पदसे सम्बोधित होते हैं । अन्य व्रती [सपत्नी] लोग अपने अपने सम्प्रदायमें प्रसिद्ध नामोंसे सम्बोधित होते हैं । [५०] २०३ ।

सूत्रधारको उसका अनुचर 'भाव' शब्दसे पुकारता है । और वह अर्थात् सूत्रधार उस [अनुचर]को 'मार्य' कहकर सम्बोधित करता है । बराबर वालेको 'सखा' कहकर और शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाईको क्रमशः पुत्र, वत्स तथा तात कहकर सम्बोधित किया जाता है । तात शब्दसे बृद्ध जनको भी सम्बोधित किया जाता है । [५१] २०४ ।

नीच पुण्यको [मध्यम तथा उत्तम पुण्यके द्वारा] सौम्य भद्रमुख कहकर और नीचोके द्वारा [नीचको ही] हंडे कहकर सम्बोधित किया जाता है । और जिम वार्यके द्वारा जिसकी प्रतिष्ठि है उस वार्यको करने वाला उस उस पदसे सम्बोधित किया जाना चाहिए । [५२] २०५ ।

वयस्य, सखा इत्यादि मित्र-वाचक पद हैं । उनके द्वारा राजा विदूषकको सम्बोधित करता है । [इन कारिकाओंके] सूत्ररूप होनेसे इसमें [विदूषक इस पदसे स्वानपर] 'विदू' इस [प्राथे] पदके प्रयोगमें कोई विरोध नहीं आता है । कुमार अर्थात् कौमारावस्थामें वर्तमान युवराज । अथवा स्वामीके अथ पुत्र को 'भर्तृदारक' कहा जाता है । अथवा स्वामी

द्रष्टव्या । मुनिनिर्ग्रन्थक, शास्त्र्यः मौगतः, एतौ भदतेति । अपरः पाशुपतादिघ्नती
रसमयप्रसिद्धनामभिर्वाच्यः । यथा पाशुपतस्य भाष्यं 'भामर्षज्ञ' इत्यादि सम्भाषणम् ।

तथा सूत्री सूत्रवारो अनुगेन अनुचरेण कर्ता 'भाव'-शब्देन सम्भाष्यः । असौ
इत्यनुगः सूत्रधारात् किञ्चिन्व्यूनगुणः । तेन सूत्रधारेण 'मार्ष' इत्यभिधातव्यः । तथा
समो वयो ऽवस्था-गुणादिना तुल्य, समेनैव 'समा' इति वाच्यः । मित्राभिधायिना
शब्देन सम्भाष्य इत्यर्थः । अनेन च विधानेन समस्य प्रसिद्धम्यनाम्ना सम्भाषणं न
निषिध्यते । असम्भवायोगयोर्व्यवच्छेदफलत्वात् सर्वस्यापि नामविधानस्य । तेन
आर्यादिनामविधानेऽपि नान्यशब्देन कीर्तननिषेधः ।

'शिष्यात्मजानुजा' इति शिष्यो दीहितोऽध्यापितो वा । आत्मजः पुत्रः । अथुजो
लघीयान भ्राता । एते गुरु-जनन-ज्येष्ठभ्रातृभिः यथामर्ग्यं पुत्रशब्देन वत्सशब्देन च
सम्भाष्याः । तातशब्देन पुनर्जनन्, अपि-शब्दात् शिष्यात्मजानुजारच कीर्तनीयाः ।

तथा नीचप्रकृतिमथ्यमोत्तमाभ्यां 'सौम्य' इति 'भद्रमुत्र' इति च शब्दाने ।
पामरैर्नीचैः पुनर्नीच एव 'हृष्टे'-शब्देन, उपलक्षणाद् 'अरे', 'हृष्टो' इत्यादिना च

के पुत्र 'भर्तृ'कारक' को 'कुमार' कहा जाता है । इसी प्रकार कुमारीके लिए भी [भर्तृ'कारिका
पदवा प्रयोग] समझना चाहिए । मुनि अर्थात् विगम्बर, जैन और शक्त्य अर्थात् बौद्ध-भिक्षु ।
इन दोनोंको 'भदन्त' इस पदसे सम्बोधित किया जाता है । पाशुपतादि अथ सम्प्रदायोंके साथ
घपने-घपने सम्प्रदायमें प्रतिष्ठ नामोंसे सम्बोधित होते हैं । जैसे पाशुपत साधुकेलिए भा-शब्द
को पहले लगाकर 'भा-मर्षत' आदि सम्बोधन किया जाता है ।

और दूसरी अर्थात् सूत्रधारको अनुग अर्थात् उसके किञ्चित् ग्यून गुण वाले
अनुषरके द्वारा 'भाव' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है । और 'घर्षी' अर्थात् अनुषरको जोकि
सूत्रधारसे किञ्चित् ग्यूनगुण वाला होता है सूत्रधार द्वारा 'मार्ष' शब्दसे सम्बोधित किया
जाता है । और बराबर वाले अर्थात् साधु, शशा और गुणारिमें घपने समान व्यक्ति को
बराबर वाला व्यक्ति 'समा' कहकर अर्थात् मित्र-वाचक पदोंसे सम्बोधित करता है । इस
विधानके द्वारा बराबर वालेको उसके प्रतिष्ठ नामसे सम्बोधित करनेका निषेध नहीं किया
जा रहा है । इन सारे सम्बोधन-प्रकारोंके विधानका प्रयोजन असाभय [अर्थात् अयोग्यतायोग]
और अयोग-व्यवच्छेद करना ही है, इसलिये 'मार्ष' आदि नामोंके विधानमें भी अथ शब्दोंके
द्वारा सम्बोधित करनेका निषेध नहीं है ।

'शिष्यात्मजानुजा' इसमें शिष्य अर्थात् जिसको दीक्षा दी हो अथवा पढ़ाया हो ।
आत्मज अर्थात् पुत्र । और अथुज अर्थात् दोटा भाई । इनको [कर्म] गुरु, पिता और बड़े
भाईके द्वारा 'पुत्र' शब्दसे और 'वत्स' शब्दसे सम्बोधित किया जाता है । 'तात' शब्दसे
[शिष्य, पुत्र और छोटे भाईको तो सम्बोधित किया ही जाता है किन्तु इनके प्रतिरिचन] बृद्ध
जनोंको भी सम्बोधित किया जाता है । 'अरे' शब्दसे शिष्य, पुत्र तथा छोटे भाईको भी 'तात'
शब्दसे सम्बोधित किया जाता है ।

और बीच प्रकृति वालेको उत्तम तथा मध्यम लोग 'सौम्य', और भद्रमुत्र
कहकर पुकारते हैं । पामरों अर्थात् नीचोंके द्वारा बीच पुरखको ही 'हृष्टे' शब्दसे और इनके
उत्तमशक्त्यमें रूप होतेसे 'अरे', 'हृष्टो' आदि शब्दोंसे भी पुकारते हैं । 'मेन' अर्थात् जिस कर्म

वाच्य । येनेति कर्म वाणिज्य-कृषि पशुपाल्य-गीत-नृत्य-वाद्यवादन-चित्र-राजसेवा-
शस्त्र-श्रमादिव्यापारः । आदिशब्दात् जाति कुलादिग्रहः । येन केनचित् कर्मादिना य-
कञ्चित् प्रसिद्धः स तेन कर्मादिनोपाधिना शब्दप्रवृत्तिनिमित्तेन संकीर्तनीय । यथा
गाधिरुः ताम्बूलिक, कृषीवल, पशुपालो, गोपालो, गान्धर्वचित्रकर, सेवरु, वैद्य,
चित्रियो, ब्राह्मण इत्यादि । तथा स्वयं वा यत् कल्प्यते तदपि कर्माद्यनुरूप्येणैवेति ॥
[४०-४२] २०२-२०५ ॥

अथ कल्पनीयनाम्नां कल्पनाप्रकारमाह—

[सूत्र २६८]—शूरे विक्रमसंसूचि कल्प्यं नामाथ वाणिजे ।

दत्तान्तं प्रायशो विप्रे गोत्रकर्मानुरूप्यतः ॥

[५३] २०६ ॥

नृपस्त्रियां शुभं दत्ता-सेनान्तं परायोषिति ।

पुष्पादिवाचकं चेट्यां चेटे मङ्गलकीर्तनम् ॥

[५४] २०७ ॥

शूरे सत्त्वप्रधाने पुरुषे विग्रमस्य शौर्यस्य संसूचकं नाम कल्पनीयम् । यथा

अर्थात् वाणिज्य, कृषि, पशु पालन, गीत, नृत्य वाद्य-वादन, चित्ररचना, राजसेवा, शस्त्र और
श्रमादि व्यापारसे [जो प्रसिद्ध हो उसको उस उपाधिके द्वारा सम्बोधित किया जाता है]
भादि शब्दसे जाति, कुल आदिका ग्रहण होता है । जिस किसी कर्म आदिसे जो कोई
प्रसिद्ध हो उसको उस कर्म सूचक उपाधि आदिके द्वारा अर्थात् उस उपाधिको नाम शब्दका
प्रवृत्ति-निमित्त मानकर सम्बोधित करना चाहिए । जैसे [इतर, कुलेल आदिका ध्यापार करने
वालेको] गाधिरु, [पान बंचने वालेको] ताम्बूलिक, [सेतो करनेवालेको] कितान, [शुत्ते पालने
वालेको] शुपाल [गायिका पालन करने वालेको] गोपाल [सगीतसे जीविकीपार्जन करने वाले
को] गान्धर्व, [चित्ररचनाका कार्य करने वालेको], चित्रकर [नौकरीपेशाको] सेवरु, वैद्य,
क्षत्रिय, ब्राह्मण इत्यादि [ये सब कर्म-निमित्तक सम्बोधन-पद कहलाते हैं] । और जिन नामोंकी
स्वयं कल्पना की जाए वे भी कर्म आदिके अनुरूप ही होने चाहिए ॥ [४०-४२]
२०३-२०५ ॥

जब आगे कल्पित किए जाने वाले नामोंकी कल्पना करनेके प्रकारको करते हैं—

[सूत्र २६८]—शूर-वीरके लिए पराक्रम सूचक नामकी कल्पना करनी चाहिए ।

श्लिष्का नाम ऐसा रखना चाहिए जिसके अन्तमे दत्त आता हो और ब्राह्मणका नाम गोत्र
एव कर्मके अनुरूप रखना चाहिए । [५३] २०६ ।

राजाकी रानीका शुभ-सूचक नाम कल्पित करना चाहिए । देव्याशोके नाम ऐसे
मानने चाहिए जिनके अन्तमे 'दत्ता' या 'सेना' पद आते हों । चेटोके नाम फल आदिसे ऊपर
रखने चाहिए । और चेटका नाम किसी मंगल-वस्तुका सूचक कल्पित करना चाहिए ।
[५४] २०७ ।

शूर अर्थात् पराक्रम-प्रधान पुरुषकेलिए विग्रम अर्थात् पराक्रमके संसूचक नामकी
कल्पना करनी चाहिए । जैसे भोमपराक्रम अरिमर्दन आदि । यज्ञियोके लिए प्राय अर्थात्

भीमपराक्रमाऽरिमर्देन इत्यादि । वाणिजे, पुनः प्रायशो बाहुल्येन दत्तशब्दान्तं नाम विधेयम् । यथा समुद्रदत्तः सागरदत्त इत्यादि । प्रायोवचनाद् धनपतिरित्याद्यपि । विप्रे तु गोत्र-कर्मणोरानुरूप्येण नाम कल्पनीयम् । यथा शांडिल्यो गार्ग्यायण इत्यादि । आथर्वणिकः सामको अग्निहोत्रिय इत्यादि । प्रायोवचनादग्निशर्मा सोमशर्मा इत्यपि ।

तथा नृपस्त्रियां शुभं शुभसंसूचकं नाम कर्तव्यं । यथा मुलक्षणा विजयवती इत्यादि । पण्योपिति वेश्यायां पुनर्दत्ताशब्दान्तं सेनाशब्दान्तं च नाम करणीयम् । यथा देवदत्ता, वसन्तसेना । प्रायोग्रहणाद् विदग्धमित्रा वसन्तश्रीरित्याद्यपि । तथा चेट्यां प्रेष्यायां योपिति मालिनी मल्लिका इत्यादीनि पुष्पवाचकानि, आदिशब्दान् चूलतिका प्रियंगुमजरी इत्यादीनि च नामानि कल्पनीयानि । चेटं प्रेषणीयपुरुषे पुनः मंगलं मंगलकारणं वस्तु कीर्त्यते शक्यते येन नाम्ना तन् मिथ्यार्थक्यादि सिद्धिं नेयम् । एवमन्यदप्यत्र उत्तम-मध्यम-अधमपात्राणां प्रयोजनानुसारतो नाम रूपकेषु कीर्तनीयमिति ॥ २०६-२०७ ॥

तदेवं नाटकदीनि वीथ्यंतानि द्वादश रूपाणि सप्रपञ्चं लक्ष्णानि ॥

अन्यान्यपि रूपाणि दृश्यन्ते । यदाहुः—

अधिकतर 'दत्त' शब्द जिसके अंतमें हो इस प्रकारके नामको कल्पना करनी चाहिए । जैसे समुद्रदत्त, सागरदत्त इत्यादि । प्रायः शब्दका ग्रहण होनेसे [दत्तान्त नामोंको छोड़कर अन्य प्रकारके नामभी बनियेके रहे जा सकते हैं] जैसे धनपति इत्यादि । बाह्यणोंके नाम, गोत्र और कर्मके अनुसृत्य कल्पित करने चाहिए । जैसे शाण्डिल्य, गार्ग्यायण [ये दोनों नाम गोत्र-परक हैं] और प्रायर्बालिक, सामक, अग्निहोत्रिय इत्यादि [ये तीनों नाम कर्मके आधारपर बनाए गए हैं] ।

राजाकी स्त्रीके लिए शुभ अर्थात् मंगलका सूचक नाम कल्पित करना चाहिए । जैसे मुलक्षणा या विजयवती इत्यादि । पण्योपित अर्थात् वेश्याके लिए दत्ता शब्द या सेना शब्द जिसके अंतमें इस प्रकारके नामकी कल्पना करनी चाहिए । जैसे देवदत्ता, वसन्तसेना इत्यादि । प्रायः शब्दके ग्रहणमें [दत्तान्त तथा सेनान्त नामोंको छोड़कर] विदग्धमित्रा वसन्तभी इत्यादि [नाम भी वेश्याओंके रहे जा सकते हैं] । चेटो अर्थात् जिसको [प्रियके पास दूतो आदिके रूपमें सम्बन्ध देखकर] भेजा जा सके इस प्रकारकी [विदग्धस्तसेविद्या] स्त्रीके लिए मालिनी, मल्लिका इत्यादि पुष्पवाचक, और घादि शब्दसे चूलतिका, प्रियंगुमजरी इत्यादि नामोंकी भी कल्पना की जा सकती है । और चेट अर्थात् भेजे जा सकने योग्य पुरुषके लिए मंगल अर्थात् मंगलजनक वस्तुका जिस शब्दसे कथन सूचित हो इस प्रकारका नाम कल्पित करना चाहिए । जैसे मिथ्यार्थक घादि नाम बनाने चाहिए । इसी प्रकार चट्टी रूपकोमें प्रयोजनके अनुसार उत्तम, मध्यम तथा अधम पात्रोंके नाम रखने चाहिए । [१६-१४] २०६-२०७ ॥

इस प्रकार नाटकसे लेकर बीघो-पर्यन्त बारह प्रकारके रूपकोंका विस्तारपुञ्ज विवेचन चर्चा तक कर दिया गया है ।

[इन बारह प्रकारके रूपकोंके प्रतिरिक्त] प्रायः रूपक भी पाए जाते हैं । जैसा कि प्रागे कहते हैं—

[सूत्र २६६-१]—विष्कम्भक-प्रवेशकरहितो यस्त्वेकभाषया भवति ।
अप्राकृत-संस्कृतया स सट्टको नाटिका ॥५५॥

[२]—श्रीरिच दानवशत्रोर्यस्मिन् कुलांगना पत्युः ।
वर्णयति शौर्य-धैर्यप्रभृति गुणानघतः सख्याः ॥
पत्या च विप्रलब्धा गातव्ये तं क्रमादुपालभते ।
'श्रीगदित'मिति मनीषिभिरुदाहृतोऽसौ पदाभिनयः ॥
॥५६॥

[१] सट्टक—

विष्कम्भय तथा प्रवेशकरे रहित, प्राकृत-रहित केवल एक भाषामें [अर्थात् सट्टक
भाषा वासा प्राकृतसे रहित और प्राकृत वासा मस्कृतसे रहित] बनाया गया, नाटिकासे
सट्टक रूपक 'सट्टक' नामसे कहा जाता है ॥ १ ॥

साहित्य-दर्पणकारने सट्टकका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

सट्टकं प्राकृतारोपपाठ्यं स्यादप्रवेशकम् ।

न च विष्कम्भो ऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः ॥ २७६ ॥

अंका जयनिकान्याः स्युः स्यादन्यत्राटिकासनम् ।

यथा कपूर्वमंजरी ।

साहित्यदर्पणकारने अनुसार सट्टकमे सारा पाठ्य भाग केवल प्राकृत भाषामे लिखा
जाता है, किन्तु नाट्यदर्पणकारके अनुसार सस्कृत या प्राकृत किसी भी एक भाषामे लिखा जा
सकता है । जो मस्कृत प्राकृत भाषामे लिखा जाए वह संस्कृत भाषामे रहित हो और जो
सस्कृतमे लिखा जाए वह प्राकृत भाषामे रहित हो । यह नाट्यदर्पणकारने अप्राकृत-संस्कृतया
एकभाषया भवति' का अभिप्राय प्रतीत होता है ।

[२] श्रीगदित—

इसमे भी जहाँ दानवशत्रु अर्थात् विष्णुकी पत्नी लक्ष्मीके समान कोई कुलांगना अपने
पतिके शौर्य, धैर्य आदि गुणोंका सलीके सामने बखान करती है ।

और पतिके द्वारा ठगी जानेपर किसी गीतमे उसको उपालम्भ देती है उसको विज्ञानोने
'श्रीगदित' कहा है । और वह [पदार्थोंका अभिनय न होकर केवल] पदाभिनयानक
होता है ॥ ५६ ॥

साहित्यदर्पणकारने 'श्रीगदित' का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

प्रख्यातवृत्तमेकाकं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।

प्रसिद्धनायिकं गर्भ-विमर्शाभ्यां विवर्जितम् ॥ २६३ ॥

भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन संकुलम् ।

मत्तं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपरूपकम् ॥ २६४ ॥

श्रीरासीना श्रीगदिते गायन् किञ्चिन् पठेदपि ।

एकाको भारतीप्राय इति केचिन् प्रचक्षते ॥ २६५ ॥

[३]—चौर्यरत्नप्रतिभेदं धूनोरनुरागवर्णनं चापि ।
यत्र ग्राम्यकथाभिः कुण्ठे किल दूतिका रहसि ॥
मन्त्रयति च तद्विषयं न्यग्जातित्वेन याचते च वसु ।
लब्ध्वापि लब्धुमिच्छति 'दुर्मलिता' नाम सा भवति ॥५७॥

[४]—प्रथमानुराग-मान-प्रवास-शृङ्गारसश्रयं यत् स्यात् ।
प्रावृद्ध-वसन्तवर्णनपरमन्यद् वापि सौत्कण्ठम् ॥
अन्ते वीररसाद्यनिबद्धमेतच्चतुर्भिरपसारैः ।
प्रस्थानमिति युचते प्रवासमुपलक्षयत् सुधियः ॥५८॥
नृत्यन्दिङ्गनानि खण्डान्यपमारा ॥ ५८ ॥ २११ ॥

[३] दुर्मलिता—

जिसमें कोई दूती एकान्तमें ग्राम्य [ग्रहलील] कथाओं द्वारा युवक और युवतियोंके प्रेमका वर्णन और उनके चौर्यरत्नका प्रकाशन करती है । उसके विषयमें सत्ताह करती है नीच जातिकी होनेसे घन मांगती है । घनके मिल जानेपर भी और अधिक घन चाहती है उसको 'दुर्मलित' नामक रूपक कहा जाता है ॥ ५७ ॥

साहित्यदपणकारने 'दुर्मलिता' के स्थानपर दुर्मलिका आदि नामावा प्रयोग किया गया है और उनका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

दुर्मल्ली चतुरंका स्यात् कैशिकी भारतीयुता ।
अगर्भा नागर-नरा न्यूननायकभूयिता ॥ ३०३ ॥
त्रिनालि प्रथमोऽङ्गोऽन्या विटव्रीडामयो भवेत् ।
पंचनालिद्वितीयोऽङ्गो विदृषकत्रिलासवान् ॥ ३०४ ॥
पण्डालिकम्बुतीयस्तु पीठमर्दत्रिलासवान् ।
चतुर्थो दशनालि स्यादेव व्रीडितनागर ॥ ३०५ ॥

[४] प्रस्थान—

प्रथम अनुराग मान, प्रवास, शृंगाररससे युक्त वर्णन और वस तबे वर्णन, अथवा और भी उल्लेख्य प्रदर्शक सामग्रीसे परिपूर्ण, अन्तमें वीररत्न द्वारा निबद्ध किया गया और चार अपसार [अर्थात् नृप द्वारा दिग्ग होनेवाले लण्डों] के विरचित [उपलक्ष्यभेदको] विद्वान् लोग प्रवासके सूचक 'प्रस्थान' इस नाम से कहते हैं ॥ ५८ ॥

नृत्यके द्वारा दिग्ग होनेवाले [रूपके] लण्डोंको अपसार कहते हैं ।

'प्रस्थान' का लक्षण साहित्यदपणकारने निम्न प्रकार किया है—

प्रस्थाने नायको दामो ह्येन स्यादुपनायक ।
दामी च नायिका वृत्ति कैशिकी भारतीयथा ॥ २८० ॥
सुरापानममायोगादुद्दिष्टार्थम्व महति ।
अर्धो द्वौ लयतालाद्विलामो बहुलमथा ॥ २८१ ॥

[५]—गोष्ठे यत्र विहरतश्चेष्टितमिह कैटभद्वयः किञ्चित् ।

रिष्टासुरप्रमथनप्रभृति तदिच्छन्ति गोष्ठीति ॥ ५६ ॥

[६]—यन्मण्डलेन नृत्तं स्त्रीणां हल्लीसकं तु तत् प्राहुः ।

तत्रैको नेता स्याद् गोपस्त्रीणामिव मुरारिः ॥ ६० ॥

[७]—यस्य पदार्थाभिनयं ललितलयं सदसि नर्तकी कुरुते ।

तन्नर्तकं शम्या लास्यच्छलितद्विपद्यादि ॥ ६१ ॥

किन्नरविषयं लास्यं नृत्तं शम्या । शृङ्गाररसप्रधानं लास्यम् । शृङ्गार-वीर-रौद्रा-दिप्रधानं छलितम् । द्विपद्यादयः छन्दोभेदाः ॥

[८]—रथ्या-समाज-चत्वर-मुरालयादौ प्रवर्त्यन्ते बहुभिः ।

पात्रविशेषयन्तु तत् प्रेक्षणकं कामदहनादि ॥ ६२ ॥

[५] गोष्ठी—

जिसमे गोष्ठमे विहार करनेवाले कृष्णके रिष्टासुरबभ प्रादि जैसे किसी व्यापारका प्रदर्शन किया जाय उसको 'गोष्ठी' कहते हैं ॥ ५६ ॥

साहित्यदर्पणकारने 'गोष्ठी'का लक्षण निम्न प्रकार किया है—

प्राकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलंकृता ।

नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी ॥ २७४ ॥

हीना गर्भ-विमर्शाभ्यां पंच-पङ्क्त् योपिदन्विता ।

काम-शृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता ॥ २७५ ॥

[६] हल्लीसक—

स्त्रियोंका जो मण्डलाकार बनाकर नाचना है उसको 'हल्लीसक' कहते हैं । गोपियोंके बीच कृष्णके समान उसमे एक नायक होता है ॥ ६० ॥

साहित्यदर्पणकारने हल्लीसकका लक्षण निम्न प्रकार किया है—

हल्लीसक एक एवांक सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः ।

वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरुज्वला ॥

मुख्यान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः ॥ ३०७ ॥

[७] शम्या—

सभामे नर्तकी ललित लयके साथ जिसके पदार्थोंका अभिनय करती है उस नृत्यको शम्या, लास्य, छलित, द्विपदी प्रादि नामोंसे कहते हैं ॥ ६१ ॥

किन्नरोंके नाचको 'शम्या' कहते हैं । शृङ्गाररस प्रधान नृत्त 'लास्य' कहलाता है । शृङ्गार, वीर और रौद्रादि प्रधान नृत्तको 'छलित' कहते हैं । 'द्विपदी' प्रादि [उन नृत्तोंमे गाए जानेवाले] छन्दोंके भेद होते हैं ।

[८] प्रेक्षणक—

गलीमे, समाजमे, चौराहेपर अथवा मद्यशाला प्रादिमे बहुतसे विशेष प्रकारके पात्रों के द्वारा जिसका प्रदर्शन किया जाय उस [नृत्यविशेष] को 'प्रेक्षणक' कहते हैं । जैसे काम-दहन प्रादि [प्रेक्षणकके उदाहरण हैं] ॥ ६२ ॥

- [६]—षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन् नृत्यन्ति नायिका, ।
 पिण्डीवन्धादिविन्यासः रासकं तदुदाहृतम् ॥
 पिण्डनात् तु भवेत् पिण्डी गुम्फनाच्छ्रद्धला भवेत् ।
 भेदनाद् भेद्यको जातो, लताजालापनोदतः ॥६३॥
- [१०]—कामिनीभिर्भुंक्तो भर्तुश्चेष्टितं यत् तु नृत्यते ।
 रागाद् वसन्तमासाद्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ॥६४॥

साहित्यदर्पणकारने 'प्रेक्षणाकम्' के स्थानपर 'प्रेक्षणम्' नामका प्रयोग किया है और उसका सहाय निम्न प्रकार किया है—

गर्भावमशरहितं प्रेक्षणं हीननायकम् ।
 असूत्रधारमेकाकमविष्कम्भ - प्रवेशकम् ॥ २८६ ॥
 नियुद्धसम्प्रेत्युत सर्ववृत्तिममाश्रितम् ।
 नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना ॥ २८७ ॥

[६] रासक—

जितमें सोलह, बारह या धाठ स्त्रियाँ [नायिकाएँ] पिण्डीवन्ध आदिकी रचना द्वारा नाचती हैं उसको 'रासक' कहा जाता है ।

[नाचने वालियोंके] एक साथ इकट्ठे हो जानेको पिण्डी कहते हैं । एक-दूसरेसे गुंफ-कर [नाचन] श्रुतला कहलाती है । [पूर्व गुम्फत] लताजालको तोड़कर अलग हो जानेको भेद्यक कहते हैं ॥ ६३ ॥

साहित्यदर्पणकारने 'रासक'का सहाय निम्न प्रकार किया है—

रासकं पंचपात्रं स्यात् मुख्यनिर्वहणान्वितम् ।
 भाषा-विभाषाभूषिष्ठं भारतीयैशिकीयुतम् ॥ २८८ ॥
 अमूत्रधारमेकाकं सरीथ्यंगं कलान्वितम् ।
 विलष्टनान्दीयुतं व्यातनायिकं मूर्धनायकम् ॥ २८९ ॥
 उदात्तभावविन्यामश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।
 इह प्रतिमुखमन्धिमपि कैचिन् प्रवचने ॥ २९० ॥

[१०] नाट्य-रासक—

वसन्त आदि [उम्मारक] श्रुतियोंके आनेपर स्त्रियोंके द्वारा रागादिके आवेदोंको राजाओं के चरित्रका नृत्य द्वारा प्रदर्शन किया जाता है उसको 'नाट्य-रासक' कहा जाता है ॥ ६४ ॥

साहित्यदर्पणकारने नाट्यरासकका सहाय निम्न प्रकार किया है—

नाट्यरासकमेकाकं यदुत्थाललयम्यिति ॥ २८७ ॥
 उदात्तनायकं तद्वर्त्याटमर्दोपनायकम् ।
 हास्योद्गम्यत्र मश्टद्वागे नारी यामरुमग्जिजा ॥ २८८ ॥
 मुख्यनिर्वहणे मन्थी लाम्यांगानि दशाऽपि च ।
 कैचित् प्रतिमुखं मन्थिमिह मेन्दन्ति कैथलम् ॥ २८९ ॥

- [११]—श्राक्षिप्तिकाथ वरुणो मात्राध्रुवकोऽप्यभग्नतालश्च ।
- पद्धतिका छन्दनिका यत्र स्युस्तदिह काव्यमिति ॥६५॥
- [१२]—हरि-हर-भानु-भवानी-स्कन्द-प्रमथाधिपस्तुतिनिबद्धः ।
उद्धत-करणप्रायः स्त्रीवर्जो वरुणायुक्तः ॥
यदि चंच शुद्धवाचा शुद्धः संकीर्णया च संकीर्णः ।
सर्वाभिर्भाषाभिचित्रैश्च विचेष्टितैश्चित्रः ॥
अयमुद्धतोऽथ ललितो भाणो ललितोद्धतश्च सम्भवति ।
अर्थानामौद्धत्याल्लालित्यादुभयसत्त्वाच्च ॥६३॥
- [१३]—यद् दुष्करमभिनेयं चित्रं चात्युद्धृतं च सम्भवति ।
तद् भाणके ऽभिनेयं युतमनुतालैर्वितालैश्च ॥
प्रायो हरिचरितयुतः स्त्रीकृतगाथादिवर्णमाश्रय ।
सुकुमारतः प्रयोगाद् भाणो ऽपि हि भाणिका भवति ॥६३॥

इत्यादीनि ॥ ६३ ॥

[११] काव्य—

जिसमें श्राक्षिप्तिका, वरुण, मात्रा, ध्रुव और न दूटनेवाला ताल, पद्धतिका और छन्दनिका जिसमें हो उसको 'काव्य' कहते हैं ॥ ६५ ॥

[१२] भाण—

विष्णु, महादेव, सूर्य, पार्वती, स्कन्द और प्रमथाधिपको स्तुतिमें निबद्ध किया गया, उद्धत करणोंसे युक्त, स्त्री पात्रोंसे रहित, यदि शुद्ध संस्कृत वाणी द्वारा वरुणायुक्त हो तो शुद्ध और यदि [संस्कृत तथा प्राकृतके] संकर [द्वारा किए गए वर्णन] से युक्त हो तो संकीर्ण [भाण कहलानेवाला] सब प्रकारकी भाषाओं और नाना प्रकारके व्यापारोंसे विचित्र यह भाण उद्धत [उत्तममें वर्णित] विषयोंके उद्धत ललित तथा उभयात्मक होनेसे उद्धत, ललित तथा ललितोद्धत [भेदसे तीन प्रकारका हो सकता है] और उस भाणमें अभिनेय वस्तु अनुताल तथा वितारोंसे युक्त होता है ॥ ६३ ॥

[१३] भाणिका—

अधिकतर विष्णुके चरितसे युक्त स्त्रियों द्वारा गाया [छन्द], वरुण और मात्राओंकी रचना जिसमें की जाय इस प्रकारका भाण भी सुकुमारताके प्रयोग के [दिल्लतानेके कारण] भाणिका कहलाता है ॥ ६३ ॥

साहित्यदर्पणकारने भाण तथा भाणिकाके लक्षण निम्न प्रकार किए हैं—

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुख-निर्वहणान्विता ।

कैशिकी-भारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिर्मिता ॥ ३०८ ॥

उदात्तनायिका मन्दपुरुपात्राङ्गसत्तरुम् ।

उपन्यासोऽथ विन्यासो विबोधः साध्यसं तथा ॥ ३०९ ॥

प्लानि च स्वल्पमात्रजनानिमित्तत्वाद्, वृद्धैरनभिहितत्वाच्च वृत्तावेव कीर्तितानीति ।

शब्द प्रमाण साहित्य छन्दोलक्ष्मविधायिनाम् ।
 श्रीहेमचन्द्रपादना प्रमादाय नमो नम ॥ १ ॥
 परोपनीतशब्दार्था, न्यनाम्ना कृतरीतय ।
 नियद्धारोऽधुना तन, को नौ क्लेशमवेप्यति ॥ २ ॥
 न सूत्र वृत्त्योराधिक्य न हीनत्व न कुण्ठता ।
 यावदर्थो गिर सन्ति स्वय मन्तो विवेचताम् ॥ ३ ॥
 शब्दलक्ष्म-प्रमालक्ष्म-काव्यलक्ष्म-वृत्तश्रम ।
 नाग्निलासरित्रमार्गो नौ प्रगाह्य इव जाल ज ॥ ४ ॥
 रूपस्वरूप विज्ञातुं यदीच्छत यथाम्थितम् ।
 सन्तस्तदानीं गृहीत निर्मल नाट्यदर्पणम् ॥ ५ ॥

समर्पण निवृत्तिरथ संहार इति सप्तम ।
 उपन्यास प्रसंगेन भवेत् कार्यस्य कीर्तनम् ॥ ३१० ॥
 निर्बेदवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति स स्मृत ।
 भ्रान्तिनाशो विद्वेष न्यान्मिथ्याख्यानं तु माध्वसम् ॥ ३११ ॥
 सोपालम्भश्च कोपपीडयेद्द समर्पणम् ।
 निदर्शनस्योपन्यासो निवृत्तिरिति कथ्यते ॥ ३१२ ॥
 संहार इति च प्राहुर्यन् कार्यस्य समापनम् ॥

इनके स्वल्प मात्रामें ही मनोरञ्जक होने तथा भरतमुनि [वृद्ध] के द्वारा न कहे जानेक कारण [इनको हमने मूल प्रथमें न दिखलाकर यहाँ] वृत्तिभागमें ही दिखलाया है ।

व्याकरण न्याय, साहित्य तथा छन्दशास्त्रके सफल प्रयोगकी रचना करनेवाले श्री प्रथम प्राचार्य हेमचन्द्रजीकी प्रसंगताके लिए हम उनको नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

आजकल [के प्रथकार प्राय] दूसरोंके शब्दों और अर्थोंको लेकर अपने नाममें [प्रथ रचना दिखलाकर] कीर्तना उपार्जन करते हैं [इसी दशासे इस प्रथ को रचानामें उठाए हुए] हमारे श्लोकको कोन समझता है ॥ २ ॥

[हमारे इस प्रथमें] न सूत्रका आधिक्य है और न वृत्तिभागका । न किसी भागमें कमी है और न [कुण्ठता अर्थात्] अल्पपटता है । विद्वान् लोग स्वय ही देख लें कि इसमें जितना प्रथ करना है उतने ही शब्दोंका प्रयोग किया गया है । [प्रनावचनक बुद्धिभी नहीं सिला गया है और न अपेक्षित बातको छोड़ा ही गया है] ॥ ३ ॥

व्याकरणशास्त्र, न्यायशास्त्र और साहित्यशास्त्रमें अमकी प्रशंगित करनेवाला हम दोनोंकी बालीका प्रवाह गंगाकी धाराके समान तीन धाराओं वाला है ॥ ४ ॥

हे सज्जन पुरुषों यदि प्राय उपकोक वास्तविक स्वल्पको देखना चाहते हो तो इस निर्मल नाट्यदर्पणकी पहलु कीर्तिए । [इस निर्मल नाट्यदर्पणमें ही उपकोक स्वल्पको यथायं रूपमें ही देखेगा ।]

इति श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्रविरचितायां स्वोपह्वानाट्यदर्पणाविवृत्तौ
सर्वरूपकसाधारणलक्षणनिर्णयो नाम चतुर्थो विवेक

श्री रामचन्द्र-गुणचन्द्र विरचित स्वनिमित्त नाट्यदर्पणकी विवृत्तिमे
सब रूपकोके समान विषयोका प्रतिपादन करनेवाला
चतुर्थ विवेक समाप्त हुआ ॥

उत्तरप्रदेशस्थ 'पोलीभीत' मण्डलान्तर्गत 'मकतुल' ग्रामनिवासिना
श्री शिवलाल-बखशी-महोदयानां-तनुजनुया
वृन्दावनस्थ गृहकुलविश्वविद्यालयाधिगतविद्येन, तत्रऽप्याचार्यपदमधितिष्ठता,
एम० ए० इत्युपपदधारिणा 'विद्यामार्तण्डेन' धोमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना
विरचिता 'नाट्यदर्पणदीपिका' हिन्दोव्याख्या समाप्ता ।
समाप्तश्चाय एवम् ।

* समाप्त *

परिशिष्ट [१]

रामचन्द्र गुणचन्द्रसूत्रित

नाट्यदर्पणम्

(मूलम्)

* * *

१

अथ नाटकनिर्णय प्रथमो विवेक

चतुर्वर्गफला नित्य, जंभी वाचमुपास्महे ।
रूपैर्द्वादशभिविद्व यया न्याय्ये धृत पथि ॥ १ ॥
अग्निनेयस्य काव्यस्य, भूरिभेदभूत कियत् ।
कियत्तोऽपि प्रसिद्धस्य दृष्ट लक्ष्म प्रचक्ष्महे ॥ २ ॥
नाटक प्रकरणे च, नाटिका प्रकरण्यथ ।
व्यायोग समवकार भाण प्रहसन डिम ॥ ३ ॥
घट्ट ईहाभुगो वीषो चत्वार सबदुत्तया ।
त्रिवृत्तय परे स्वप्ती कौशिकी परिवर्जनात् ॥ ४ ॥
ख्याताधराजचरित, धम कामार्थसफलम् ।
साङ्ख्योपाय-दशा सधि, दिव्याङ्ग तथ नाटकम् ॥ ५ ॥
उद्धतोदात्त-ललित शाता धीर विशेषणा ।
षण्ढा स्वभावाश्चरधार नेतृणा मध्यमोत्तमा ॥ ६ ॥
देवा धीरोद्धता धीरोदात्ता सैयेग मन्त्रिण ।
धीरशाता वणिग विप्रा, राजानस्तु षतुविधा ॥ ७ ॥
धीरोद्धतश्चलश्चण्ड दर्षी दम्भी विकल्पन ।
धीरोदात्तोऽतिगम्भीर यायी सत्वी क्षमी स्थिर ॥ ८ ॥
शृङ्गारी धीरललित, कलासक्त मुनी मृदु ।
धीरशातोऽजहङ्कार कृपाशुविनयी नयी ॥ ९ ॥
मुख्यमिष्टफल वृत्तम् धृङ्ग प्राप्तिक क्वचित् ।
सूच्य प्रयोग्यमग्रहम्, उपेक्ष्य तत्त्वतुविषम् ॥ १० ॥

नीरसानुचित सूक्ष्म, प्रयोज्य तद्विपर्यय ।
 ऊर्ध्वं तदविनाभूतम्, उपेक्ष्य तु सुष्ठुप्सितम् ॥ ११ ॥
 प्रयासं शाप्यमन्धेषा, स्वगत स्वहृदि स्थितम् ।
 परावृत्त्य रहस्यास्याऽन्यस्मै तदपवारितम् ॥ १२ ॥
 त्रिपतावान्तरोऽन्येन, जल्पो यस्तज्जनान्तिषम् ।
 भाषाशोक्तिः स्वयम्प्रदन प्रत्युत्तरमपात्रकम् ॥ १३ ॥
 स्वल्पपद्य लघुगद्य, दिलप्टावान्तरवस्तुकम् ।
 सिन्धु-सूर्ये-दु-कालादि-वर्णनाधिषमयजितम् ॥ १४ ॥
 एवाङ्गिरसमन्याङ्गम्, भद्भुतान्त रसोमिभिः ।
 धलङ्घितमलङ्कार-वधा-ऽङ्गैरगतद् रसम् ॥ १५ ॥
 उत्तत्वाद् वक्ष्यमाणत्वाद्, भूय.वायाद् यदुच्यते ।
 तत् वर्णं ध्याययेद् येन, न याति पुनरुक्तताम् ॥ १६ ॥
 गोपुच्छ-केश-वल्पानि, नाट्यवस्तूनि कल्पयेत् ।
 उदात्ता रञ्जका भावा, स्थापनीयाः पुरः पुर ॥ १७ ॥
 अयुक्तं च विरुद्धं च, नायकस्य रसस्य वा ।
 वृत्तं यत् तत् परित्याज्य, प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा ॥ १८ ॥
 अवस्थाया समाप्तिर्वा, छेदो वा कार्ययोगतः ।
 अद्भुतं सविन्दुहंश्यायं, चतुर्थांशो मुहूर्ततः ॥ १९ ॥
 आवक्ष्यवाविरोध्यर्थः, स्वल्पपात्र सनिर्गम ।
 पञ्चसङ्ख्योऽपकर्षेण, दशसङ्ख्य. प्रकर्षतः ॥ २० ॥
 अभिघात प्रघानस्य, नेतुर्ग्रन्थो न कुत्रचित् ।
 बन्ध पलायन सन्धि, योज्यो वा फललिप्सया ॥ २१ ॥
 दूराव्वयानं पुरोधः, राज्य देशादि विप्लव ।
 रत मृत्युः समीकादि, वर्ण्यं विष्कम्भकादिभिः ॥ २२ ॥
 अद्भुतहंस्य वृत्तस्य, त्रिकालस्यानुरञ्जिना ।
 सङ्क्षिप्य सस्कृतेनोक्ति, अद्भुतादी मध्यमैर्जनै ॥ २३ ॥
 सुद्धो विष्कम्भकस्तत्र, सङ्कीर्णो नीच मध्यमैः ।
 अद्भुतसन्धायक. शक्य सन्धानातीतकालवान् ॥ २४ ॥
 एव प्रवेशको नीचं, परार्थं. प्राकृतादिना ।
 एतौ प्रभूतकार्यत्वात्, नाटकादिबलुष्टये ॥ २५ ॥
 अद्भुतस्यमन्तपात्रेण, द्विधाद्भुतमुल्लयोजनम् ।
 वस्तुनः सूचनं चूला, पात्रैर्नैपथ्यसस्थितैः ॥ २६ ॥

सोऽङ्गावतारो यत्-पानैः, अङ्गान्तरमसूचनम् ।
 आद्यौ सूच्ये बहावग्ये, क्रमादल्पे तरे तमे ॥ २७ ॥
 बीजं पताका प्रकरी, बिन्दुः कार्यं यथाशुचि ।
 फलस्य हेतवः पञ्च, चेतनाचेतनात्मकाः ॥ २८ ॥
 स्तोकोद्दिष्टः फलप्रान्तः, हेतुबीजं प्ररोहणात् ।
 भाविमर्शं पताका चेत्, चेतनः स परमं बृहत् ॥ २९ ॥
 विन्विताद्यां परप्राप्तिः, वृत्ते यत्रोपकारिणी ।
 पताकास्थानकं सत् तु, चतुर्धा मण्डनं भवचित् ॥ ३० ॥
 सहस्रेष्टार्यं लामश्च, श्लिष्टसातिशया च वाग् ।
 द्वधर्या चाप्रकटे श्लिष्ट-स्पष्टप्रत्यभिधाऽपि च ॥ ३१ ॥
 प्रकरी चेत् भवचिद् भावी, चेतनोऽन्यथयोजनः ।
 हेतोश्छेदेऽनुसन्धानं, बहूना बिन्दुराफलात् ॥ ३२ ॥
 साध्ये बीजसहकारी, कार्यं कार्येस्तु मुख्यता ।
 पताकायाः प्रधानत्वेऽनुसन्धिः सूचनाऽऽदिभिः ॥ ३३ ॥
 आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाः ।
 नेतुवृत्ते प्रधाने स्युः, पञ्चावस्था ध्रुवं क्रमात् ॥ ३४ ॥
 फलायीत्सुखमारम्भः, प्रयत्नो व्यापृती त्वरा ।
 फलसम्भावना किञ्चित्, प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः ॥ ३५ ॥
 नियताप्तिरुपयामाना, सावल्यात् कार्यनिराण्यः ।
 साशादिष्टार्यसम्भूतिः, नायकस्य फलागमः ॥ ३६ ॥
 मुखं प्रतिमुखं गर्भमर्शं-निर्वहणान्यभी ।
 सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः, पञ्चावस्थाऽनुगाः क्रमात् ॥ ३७ ॥
 मुखं प्रधानवृत्ताशः, बीजोत्पत्ति-रसाश्रयः ।
 प्रतिमुखं कियल्लक्ष्य-बीजोद्घाट-समन्वितः ॥ ३८ ॥
 बीजस्योऽमुख्यवान् गर्भं, लामालाम-गवेपर्णः ।
 उद्भिन्नसाध्य-विघ्नात्मा, विमर्शो व्यसनादिभिः ॥ ३९ ॥
 सबीजविकृतावस्था, नाना-भावा मुस्तादयः ।
 फलसंयोगिनो यस्मिन्, असौ निर्वहणो ध्रुवम् ॥ ४० ॥
 उपक्षेपः परिकरः, परिन्यासः समाहितः ।
 उद्भेदः करणं चैतान्यत्रैवाथ विसोभनम् ॥ ४१ ॥
 जेदनं प्रापणं युक्तिः, विधानं परिभावना ।
 सर्वसन्धिष्वमूनि स्युः, द्वादशाङ्गं मुखं प्रधुवम् ॥ ४२ ॥

बीजस्योप्तिरूपक्षेपः स्वल्पव्यासः परिक्रिया ।
 विनिश्चयः परिग्यासः, पुनर्ग्यासः समाहितः ॥ ४३ ॥
 स्वल्पप्ररोह उद्भेदः, करणं प्रस्तुतक्रिया ।
 विलोभनं स्तुतेर्गाध्यं, भेदनं पात्रनिर्गमः ॥ ४४ ॥
 प्रापणं सुखसम्प्राप्तिः, युक्तिः कृत्यविचारणा ।
 विधानं सुख-दुःखाप्तिः, विस्मयः परिभावना ॥ ४५ ॥
 विलासो घूननं रोषः, सान्त्वनं वरणसंहतिः ।
 नमं नमंचुतिस्तापः, स्युरेतानि यथाश्चि ॥ ४६ ॥
 पुष्पं प्रगमनं वज्रम्, उपन्यासोपसर्पणम् ।
 पञ्चावश्यमप्यङ्गानि, प्रतिमुखे त्रयोदश ॥ ४७ ॥
 विलासो नू-स्त्रयोरीहा, घूननं साम्म्यनादरः ।
 रोधोऽतिः सान्त्वनं साम, पात्रोघो वरणसंहतिः ॥ ४८ ॥
 क्रीडायै हसनं नमं दोषावृत्ती तु तदच्युतिः ।
 अषायदर्शनम् तापः, पुष्पं वाच्यं विशेषवत् ॥ ४९ ॥
 प्रगमः प्रतिबोक्-श्रेणिः, वज्रं प्रत्यक्षकर्कशम् ।
 उपपत्तिरुपन्यासः, नष्टेऽप्येहाऽनुसर्पणम् ॥ ५० ॥
 सङ्ग्रहो रूपमनुमा, प्रार्थनोदाहृतिः क्रमः ।
 उद्भेगो विद्रवश्चैतद्, गुणतः कार्यमष्टकम् ॥ ५१ ॥
 आक्षेपोऽधिबल मार्गोऽसत्याहरण-तोटकै ।
 पंचैतानि प्रधानानि, गर्भोऽङ्गानि त्रयोदश ॥ ५२ ॥
 सङ्ग्रहः साम-दानादिः, रूपं नानार्थसंशयः ।
 अनुमा निश्चयो लिङ्गात्, प्रार्थना भावयाचनम् ॥ ५३ ॥
 उदाहृतिः समुत्कर्षः, क्रमो भावस्य निर्णयः ।
 उद्भेगो भीर्द्रवः शङ्काऽऽक्षेपो बीजप्रकाशनम् ॥ ५४ ॥
 अधिबलं बलाधिक्यं, मार्गस्तत्त्वार्थसंशनम् ।
 असत्याहरणं छय, तोटकं गर्भितं वचः ॥ ५५ ॥
 द्रवः प्रसङ्गः सम्फेटोऽपवादाश्छादनं च्युतिः ।
 ह्येदो विरोधः संरम्भः भवेद्युगणतो नव ॥ ५६ ॥
 शक्ति-प्ररोचनाऽऽदान-व्यवमायास्तु मुख्यतः ।
 त्रयोदशाङ्गान्यामर्गो, द्रवः पूज्यव्यतिक्रमः ॥ ५७ ॥
 प्रसङ्गो महता कीर्तिः, सम्फेटः क्रोधजं वचः ।
 अपवादः परीषादः, छादनं मन्थुमार्जनम् ॥ ५८ ॥

तिरस्कारो घृति खेदः, श्रमः काय-मनो भवः ।
 विरोधः प्रस्तुतज्यानि, सरस्मः शक्तिकीर्तनम् ॥ ५९ ॥
 ऋद्धप्रसादन शक्ति भाविसिद्धि प्ररोचना ।
 फनसामीप्यमादान, व्यवसायोऽप्यंहेतुयुक् ॥ ६० ॥
 सन्धिनिरोधो श्रयण निर्णय परिभाषणम् ।
 उपास्ति कृतिरानन्द, समय परिगृहणम् ॥ ६१ ॥
 भाषण काव्यसंहार-पूर्वभाव प्रशस्तया ।
 चतुर्दशाङ्गो निर्वाह, सन्धिर्वीज फलागम ॥ ६२ ॥
 निरोधः कार्यभोगात्ता, श्रयण कार्यदर्शनम् ।
 निर्णयोऽनुभवव्याप्तिः, परिभाषा स्वनिन्दनम् ॥ ६३ ॥
 सेवोपास्ति कृति क्षेमम् श्रानन्दो वाञ्छितागम ।
 समयो दु सन्धिर्वीजोऽनुत्ताप्ति परिगृहणम् ॥ ६४ ॥
 भाषणं साम दानोक्तिः, प्राग्भाव कृत्यदर्शनम् ।
 वरेच्छा काव्यसंहार प्रशस्ति शुभाशना ॥ ६५ ॥

इति श्रीरामचन्द्र गुणचन्द्रविरचिते नाट्यदर्पणसूत्रे नाटकनिर्णयो नाम
 प्रथमो विवेकः ॥ १ ॥

. २ .

अथः प्रकरणाद्येकादशरूपनिर्णयो द्वितीयो विवेकः

प्रकरणं वशिष्णु विप्र सचिव-स्वाम्यसवरात् ।
 मन्दगोत्राङ्गन दिव्यानाश्रित मध्यचेष्टितम् ॥ १ ॥
 दास श्रेष्ठि विटैर्मुक्त, क्लेशाडय तच्च सप्तधा ।
 पल्पेन फन वस्तूनाम्, एक द्वि त्रि विधानत ॥ २ ॥
 कुलस्त्री गृहवार्तायां पण्यस्त्री तु विषयंये ।
 विटे पत्यो द्वय तस्माद् एकविंशतिधाऽप्यद ॥ ३ ॥
 भयावलय्य पुरा क्लृप्त पद्माऽनार्यमसद्गुणम् ।
 शेष नाटकवत् सर्वे, कैशिकीपूर्णता विना ॥ ४ ॥
 चतुरङ्गा बहुस्त्रीका, नृपेसा स्त्री भद्रोपना ।
 कल्प्यार्था कैशिकी मुख्या, पूर्वरूपद्वयोत्थिता ॥ ५ ॥
 गह्वराति स्थापित बन्धा-देव्योर्ताटी चतुर्विधा ।
 अत्र मुख्याकृतो योग, पर्यन्ते नेतुरथया ॥ ६ ॥

प्रेमाद्रो वतंतेऽयस्या, नेता मुख्याभिदाङ्कितः ।
 देवी दक्षाऽपरा मुग्धा, समा घर्मा द्वयो पुनः ॥ ७ ॥
 क्रोध प्रसाद-प्रत्यूह-रति-च्छसादि भूरिषा ।
 एव प्रकरणी कि तु, नेता प्रकरणोदित ॥ ८ ॥
 एकाहचरितैकाङ्को, यर्भविर्शंविर्बजितः ।
 मस्योनिमित्तसङ्ग्रामो, नियुद्ध-स्पर्धनोद्धत ॥ ९ ॥
 स्वल्पयोपिजजनः स्यात्-वस्तुर्दीप्तारसाश्रयः ।
 मदिव्यभूपतिस्वामी, व्यायोगो नायिका विना ॥ १० ॥
 विज्ञेय समदकार, स्याताथो निदिमर्शकः ।
 उदात्तदेव-दैत्येशो, धीम्यङ्गी वीर रौद्रवान् ॥ ११ ॥
 मत्र द्वादश नेतार, फल तेषा पृथक् पृथक् ।
 मङ्कलस्त्रयस्त्रिशृङ्गारा, त्रिकपटास्त्रिविद्रवा ॥ १२ ॥
 पद्मगर्भकमुहूर्ता स्युः, निष्टितार्था स्वकार्यतः ।
 महावाक्ये च सम्बद्धा, क्रमाद् द्वयकैकसन्धय ॥ १३ ॥
 शृङ्गारस्त्रिविधो घर्म-कामार्थफलहेतुकः ।
 वञ्च्य वञ्च्यक दैवेभ्य, सम्भवी कपटस्त्रिधा ॥ १४ ॥
 जीवाजीवीभपोत्य स्याद्, विद्रवस्त्रिरमीषु तु ।
 प्रत्येकमङ्कल्वेकैक, पद्य च स्रग्धराऽऽदिकम् ॥ १५ ॥
 माणः प्रधानशृङ्गार-वीरो मुखनिर्वाहवान् ।
 एकाङ्को दशलास्याङ्ग, प्रायो लोकानुरञ्जक ॥ १६ ॥
 एको विटो वा धूर्तोवा, वेद्याऽऽदे स्वस्य वा स्थितिम् ।
 व्योमोक्त्या वर्यायेदत्र, वृत्तिमुह्या च भारती ॥ १७ ॥
 वैमुह्यकार्यं धीम्यङ्गि, स्यात्कीर्त्तन दम्भवत् ।
 हास्याङ्गि भाण सच्छङ्क कृत्ति प्रहसन द्विधा ॥ १८ ॥
 निन्द-पाखण्डि विप्रादे, मस्त्रीलाऽऽम्य-वर्जितम् ।
 परिहासवच-प्राय, शुद्धमेकस्य चेष्टितम् ॥ १९ ॥
 सङ्कीर्णमुद्धताकल्प-भाषाऽऽचार परिच्छदम् ।
 बहूना व-मकी चेत वेद्याऽऽदीना विचेष्टितम् ॥ २० ॥
 मशान्त हास्य शृङ्गार विमर्शं स्यात्तवस्तुकः ।
 रौद्रमुख्यदचतुरङ्क, सेन्द्रजाल रणो डिम ॥ २१ ॥
 मत्रोल्कापात निर्घाता, चन्द्र सूर्योपरक्तयः ।
 सुरामुर पिशाचाद्या, प्राय षोडश नायका ॥ २२ ॥

उत्सृष्टिकाङ्क्षः पुंस्वामी, स्यात्तद्युद्धोत्सवृत्तवान् ।
 माणोक्तसन्धि वृत्त्यङ्क, चाग्युद्ध कथणाङ्गिक ॥ २३ ॥
 निर्वेदवाचो भूम्नाऽत्र, योपिता परिदेवितम् ।
 नरा निवृत्तसङ्ग्रामा, चेष्टाश्चित्रा विसृष्टुलाः ॥ २४ ॥
 ईहामृगः सवीर्यङ्गः, दिव्येक्षो हृत्तमानवः ।
 एकाङ्क्षदक्षतुरङ्को वा स्यातात्स्यातेतिवृत्तवान् ॥ २५ ॥
 दिव्यस्त्रीहेतुसङ्ग्रामः, निविश्वासः सविश्वरः ।
 स्वपहार-भेद दण्डः, प्रायो द्वादशनायकः ॥ २६ ॥
 व्याजेनात्र रणामावः, वधासन्ने शरीरिणि ।
 स्यायोगोक्ता रसा सन्धि वृत्तयोऽनुचिता रतिः ॥ २७ ॥
 सर्वस्वामिरसा वीथी, त्वेकाङ्क्षा द्वयैकपात्रिका ।
 मुखनिर्वाहसन्धिः स्यात्, सर्वरूपोपयोगिनी ॥ २८ ॥
 व्याहारोऽधिबल गण्डः, प्रपञ्चस्त्रिगत छलम् ।
 अघत्प्रलापो वाक्केली, नालिका मुदव भतम् ॥ २९ ॥
 उद्घात्यकावलगिते, अथावस्पन्दित स्मृतम् ।
 भारतीवृत्तिवर्त्तानि, वीर्यङ्गानि त्रयोदश ॥ ३० ॥
 अन्वार्थं भाविदृष्टिर्वा, व्याहारो हास्यलेसगीः ।
 मिथो जल्पे स्वपक्षस्य, स्थापनाऽधिबल बलात् ॥ ३१ ॥
 गण्डोऽकस्माद् यदन्यार्थं, प्रस्तुतानुगत वचः ।
 प्रपञ्च सस्तव हास्य, मिथो मिथ्यैकलाभकृत् ॥ ३२ ॥
 त्रिगत शब्दसाम्येन, मित्रस्वार्थस्य योजनम् ।
 वचोऽन्यार्थं छल हास्य-वञ्चना-रोपकारणम् ॥ ३३ ॥
 अघत्प्रलासतत्त्वेन, हित यन्नावगम्यते ।
 प्रस्तोत्तर तु वाक्केली, हास्या वाक् प्रतिवागपि ॥ ३४ ॥
 हास्याय वञ्चना वाली, व्यत्ययो गुण दोषयोः ।
 मुदव परस्पर स्याद्, उद्घात्य गूढ भाषणम् ॥ ३५ ॥
 तन्त्रावलगित सिद्धिः, कार्यस्यान्यमित्येण या ।
 स्वैच्छोक्तस्यान्यथाऽऽख्यान, यदवस्पन्दित तु तत् ॥ ३६ ॥
 स्त्री स्वा र्थोपिकी हित्वा, सन्धि-वृत्त्यादिका स्थितिम् ।
 सामान्या नाटकस्यान्या, विज्ञेया रूपान्तरे ॥ ३७ ॥

इति श्रीरामचन्द्र गुणचन्द्रविरचिते नाट्यदर्पणे प्रवरणाद्येकादशरूपनिर्णयो नाम
द्वितीयो विवेकः समाप्तः ॥ २ ॥

अथः वृत्ति-रस-भावभिनय-विचारः तृतीयो विवेकः

- भारती सात्वती कैशिवयारभती च वृत्तयः ।
 रस-भावाभिनयगाः, चतस्रो नाट्य-पातरः ॥ १ ॥
- सर्वरूपकगामिन्यामुख-प्ररोचनोत्थिता ।
 प्रायः संस्कृतनिःशेष-रसादृषा वाचि भारती ॥ २ ॥
- विद्रूपक-नटी-मार्यैः, प्रस्तुताद्येषि भाषणम् ।
 सूत्रधारस्य वक्रोक्त-स्पष्टोक्तयैः तदामुखम् ॥ ३ ॥
- वाक्पार्थ-समयाह्वानैः, भावोक्तैः पात्रसङ्क्रमः ।
 पूर्वैरङ्गे गुणस्तुत्या, सम्बोध्युक्तं प्ररोचना ॥ ४ ॥
- सात्वती सत्त्व-वामङ्गाभिनयं कर्म मानसम् ।
 साजंवाधये-मुदधयं-रोद्र-वीर-सामाद्भुतम् ॥ ५ ॥
- कैशिकी हास्य-शृङ्गार-नाट्य-धर्मभिदात्मिका ।
 भारभट्टमनुव-द्वन्द्व-छन्द-दीप्तरसान्विता ॥ ६ ॥
- स्थायी भावः श्रितोत्कर्षः, विभाव-व्यभिचारिभिः ।
 स्पष्टानुभावनश्चेयः, सुख-दुःखात्मको रसः ॥ ७ ॥
- कार्यहेतुः सहचारी, स्थाय्यादेः कार्यवर्तमनि ।
 अनुभावो विभावश्च, व्यभिचारी च कीर्त्यते ॥ ८ ॥
- शृङ्गार-हास्य-कण्ठाः, रोद्र-वीर-भयानकाः ।
 वीभत्साङ्गुत-शान्ताश्च, रसाः सद्भिर्नैव स्मृताः ॥ ९ ॥
- सम्भोग-विप्रलम्भात्मा, शृङ्गारः प्रथमो बह्व ।
 मान-प्रवास-शापेच्छा-विरहैः पञ्चधाऽपरः ॥ १० ॥
- स्त्री-पुंस-काव्य-गीततु-माल्य-व्येष्टकेलिजः ।
 अभिनेयः स चोत्साह-चाटु-तापाश्रु-मन्युभिः ॥ ११ ॥
- विकृताचार-जल्प-झाकल्प-विस्मापनोद्भवः ।
 हास्योऽस्याभिनयो नासा-स्पन्दायु-जठर-ग्रहैः ॥ १२ ॥
- मृत्यु-बन्ध-घनभ्रंश-शाप-व्यसन-सम्भवः ।
 कच्छोऽभिनयस्तस्य, वाष्प-वैवर्ण्य-निन्दनैः ॥ १४ ॥
- प्रहारासत्त्व-भारसयं-द्रोह-वर्षापनीतिजः ।
 रोद्रः स चाभिनेतव्यः, घात-दन्तीष्ट-पीडनैः ॥ १५ ॥

पराक्रम-बल-न्याय-यदास्तस्वविनिश्चयैः ।
 वीरोऽभिनयनं तस्य, धैर्यं-रोमाञ्च-दानतः ॥ १६ ॥
 पताका-कीर्ति-रोद्राजि-शून्य-तस्करदोषजः ।
 भयानकोऽभिनेतव्यः, स्तम्भ-रोमाञ्च-वम्पनैः ॥ १७ ॥
 जुगुप्सनीयरूपादि-भरदलाघा-समुद्भवः ।
 वीभत्सोऽभिनयश्चास्य, निष्ठेवोद्वेग-निन्दनैः ॥ १८ ॥
 दिव्येन्द्रजाल-रम्यार्थ-दर्शनाभीष्टसिद्धितः ।
 भद्र-तः सोऽभिनेतव्यः, श्लाघा-रोमाञ्च-हृषंतः ॥ १९ ॥
 संसारमय-वैराग्य-सत्त्व-शास्त्रविमर्शनेः ।
 शान्तोऽभिनयनं तस्य, क्षमा-ध्यानीपकारतः ॥ २० ॥
 अर्थ-शब्द-यपुः काव्यं, रसैः प्राणैर्विसर्पति ।
 भङ्गमा तेन सौहार्दं, रसेषु कविमानिनाम् ॥ २१ ॥
 न तयाऽर्थ-शब्दोत्प्रेक्षाः, श्लाघ्याः काव्ये यथा रसः ।
 विषाककम्रमप्याम्रम्, उद्वेजयति नौरसम् ॥ २२ ॥
 एकत्र स्वैरिणोस्तुल्य-शक्तयोर्योगे विरद्धता ।
 दोषोऽनीचिरयमङ्गीप्रथमं, प्रपोषोऽप्युक्तिरङ्गिभित् ॥ २३ ॥
 रतिर्हसिश्च छोक्रश्च, क्रोधोऽसाहो भयं तया ।
 जुगुप्सा-विस्मय-शमाः, रसानां स्थायिनः क्रमात् ॥ २४ ॥
 निर्वेद-श्लान्यपस्मार-शङ्काऽमूया-मद-श्रमाः ।
 चिन्ता चापलमावेगः, मतिध्याधिः स्मृतिर्धृतिः ॥ २५ ॥
 अमर्यो मरणां मोहः, निद्रा-सुप्तोपग्रह-हृष्टयः ।
 विषादोन्माद-दैन्यानि, व्रीडा प्राप्ते वितर्कणम् ॥ २६ ॥
 गवोऽसुवभावहिंस्यानि, जाह्यासस्य-विवोधनम् ।
 त्रयस्त्रिंशद् यथायोगं, रसाना व्यभिचारिणः ॥ २७ ॥
 निर्वेदस्वस्वधी-वनेशः, वैरस्यं श्वास-तापकृत् ।
 श्लानिः पीडा जराऽऽयासैः, अशक्तिः कास्यै-कम्प-भाक् ॥ २८ ॥
 वैकल्पं ग्रहदोषेभ्योऽपस्मारो निःश्लेषितः ।
 शङ्का स्वभर-दौरात्याद्, दौलन श्यामताऽऽदियुक् ॥ २९ ॥
 द्वेषादेः सद्गुणाक्षान्तिः, अमूया दोषदर्शनी ।
 ज्येष्ठोऽथो मु-मदो मञ्जात्, निद्राहास्याथुङ्क्त् क्षमान् ॥ ३० ॥
 श्रमो रतादिभिः साद, स्वेद-श्वामादि कारणम् ।
 प्राप्तिश्चिन्ता प्रियादाप्तेः, शून्यता-श्वास-वासर्थयुक् ॥ ३१ ॥

वापलं साहसं राग-द्वेषादेः स्वरिताऽऽदिमत् ।
 धावेगः सम्भ्रमोऽन्यथाकर्षाद्, विकर्ताङ्ग-मनो-गिराम् ॥ ३२ ॥
 प्रतिमानं मतिः द्वास्त्र-तर्काद् भ्रान्तिच्छिदादिकृत् ।
 दोषेभ्योऽङ्ग-मनः-श्लेषः, ध्याधिः स्तनित-कम्पवान् ॥ ३३ ॥
 दृष्टाभासः स्मृतिस्तुल्य-दृष्टधादेर्भू प्रतिप्रिया ।
 धृतिर्जानेष्टलाभादेः, सन्तुष्टिर्देहपुष्टिकृत् ॥ ३४ ॥
 क्षोपादेः प्रतिकारेऽद्वाऽमर्षोऽस्मिन् कम्पनादयः ।
 ध्याध्यादेर्भूत्युसङ्कल्पः महणं विकलेन्द्रियम् ॥ ३५ ॥
 भ्रूतन्यं प्रहारदेः मोहोऽत्राधूर्तनादयः ।
 इन्द्रियाव्यापृतिनिद्रा, खेदादेर्भूषकम्पनी ॥ ३६ ॥
 सुप्तं निद्राप्रकर्षोऽत्र, स्वप्नायित-समोहने ।
 दुष्टेऽपराधान्नेधुंष्यम्, औग्र्यं बन्ध-वधादिभिः ॥ ३७ ॥
 हर्षः प्रसन्निरिष्टाप्तेः, भ्रू स्वेषाश्च-गद्गदाः ।
 विपादस्तान्तिरिष्टस्यानाप्लेनिःश्वास-चिन्तनैः ॥ ३८ ॥
 मनोविप्लुतिरुन्मादः, ग्रह-दोषैरयुक्तकृत् ।
 आपदः स्वान्तनीचरत्वं, दैव्यं काष्ण्याव्युण्ठनैः ॥ ३९ ॥
 श्रीढाऽनुताप-गुवादेः, अध्याष्ट्यं गात्रगोपकम् ।
 धोराच्चकितता त्रासः, कायसङ्कोच-कम्पितैः ॥ ४० ॥
 एकसम्भावनं तर्कः, वादादेरङ्गनर्तकः ।
 धात्मन्याधिषयधीर्गर्वः, विद्याऽऽदेरन्यरीढया ॥ ४१ ॥
 दृष्टाभिमुख्यमोत्सुक्यं, स्मरणाद्यात् त्वराऽऽदिभिः ।
 धाष्ट्वादेर्विक्रियारोघोऽवहित्याऽत्र क्रियान्तरम् ॥ ४२ ॥
 जाह्नवमिष्टादितः कार्पाजानं भौनानिमेषणैः ।
 कर्मोनुत्साह भालस्ये, श्रमाद्याज्जुम्भितादिभिः ॥ ४३ ॥
 निद्राच्छेदो विबोधश्च, शब्दादेरङ्गमङ्गवान् ।
 केषांचित् तु रसादीनाम्, अन्योन्यं हेतु-कार्यता ॥ ४४ ॥
 वेपथु-स्तम्भ-रोमाञ्जाः, स्वरभेदोऽथु मूर्च्छनम् ।
 स्वेदो वैषण्यमित्याद्याः, अनुभावारसादिजाः ॥ ४५ ॥
 भवादेर्वेपथुर्गात्र-स्पन्दो वागादिविक्रियः ।
 यत्नेऽप्यङ्गाक्रिया स्तम्भः हृषदिर्हा ! विपादवाग् ॥ ४६ ॥
 रोमाञ्जः प्रियदृष्टधादेः, रोमहर्षोऽङ्गमार्जनैः ।
 स्वरभेदः स्वरान्पातं मदादेर्हर्ष-हास्यकृत् ॥ ४७ ॥

अथु नेत्राम्बु दौकाद्यैः, नासास्पन्दाक्षिरुदाणैः ।
 सूक्ष्मं धात-कोपाद्यैः, सग्लानिभूर्मिपातवृत् ॥ ४५ ॥
 स्वेदो रोमजलस्रावः, श्रमादेर्व्यञ्जनग्रहैः ।
 छायादिकारो वैवर्ण्यं, क्षपादेर्दिग्निरीक्षणैः ॥ ४६ ॥
 वाचिकोऽभिनयो वाचा, यथाभावमनुक्रिया ।
 फर्मणोऽङ्गं स्पाङ्गदच, साक्षाद् भावनमाङ्गिकः ॥ ५० ॥
 सात्त्विकः स्वरभेदादेः, अनुभावस्य दर्शनम् ।
 वर्णाद्यनुक्रियाऽऽहार्यैः, बाह्यवस्तुनिमित्तकः ॥ ५१ ॥

इति श्रीरामचन्द्र-गुणचन्द्रविनिमित्ते नाट्यदर्पणसूत्रे वृत्ति-रम-भावमिदय-
 विचारस्तुनीयो विवेकः ॥ ३ ॥

: ४ :

अथ सर्वरूपक-साधारण-लक्षणनिर्णयः चतुर्थोविवेकः

देव-भूप-सभा-भर्तृ-मुख्यानां मङ्गलाभिधा ।
 नित्या रूपमुखे नान्दी, पर्दः पद्भिरयाष्टभि ॥ १ ॥
 प्रवेश-निष्क्रमाक्षेप-प्रसादान्तरसङ्गतम् ।
 विप्रार्थं रूपकं गेय पञ्चधा स्यात् कविध्रुवा ॥ २ ॥
 उत्तमा मध्यमा नीचा, प्रकृतिर्नृ-स्त्रियोस्त्रिया ।
 एकैकापि त्रिधा स्व-स्व-गुणाना तारतम्यतः ॥ ३ ॥
 तारण्यो दक्षिणस्त्यागी, लोकशास्त्रविचक्षणः ।
 गाम्भीर्यं-धैर्यं-शीघ्रदोयं-न्यायवान् उत्तमः पुमान् ॥ ४ ॥
 मध्यो मध्यगुणो नीचः, पापीयान् विमुनोऽनसः ।
 कृतघ्न कलही बलौव, स्त्रीलोलो ह्यदावाग् जडः ॥ ५ ॥
 लज्जावती भुदुर्धारा, गम्भीरा स्मितहासिनी ।
 विनीता मुलजा दक्षा, वत्सला योपिदुत्तमा ॥ ६ ॥
 नरवन्मध्यमा नीचे, नीचोऽपीशः कथावपात् ।
 प्रधानफलसम्पन्नोऽध्यसनी मुख्यनायक ॥ ७ ॥
 तेजो विलासो माधुर्यं, शोभा स्वैर्यं गभीरता ।
 भौदीर्यं ललित धाष्टी, गुणा नेतरि सत्वजाः ॥ ८ ॥

क्षेपादेरसहिष्णुत्वं, तेजः प्राणायाम्येऽपि च ।
 विलासो वृषवद् यानं, धीरा दृक् सस्मितं वचः ॥ ९ ॥
 माधुर्यं विकृतिः स्तुत्या, क्षोभहेतो महत्यपि ।
 शोभा चिह्नं पूणा-स्पर्द्धा-दाक्ष्य-शौर्योद्यमोदये ॥ १० ॥
 विघ्नेऽप्यचलनं स्वयं प्रारब्धादनुभादपि ।
 गाम्भीर्यं सहजा भूतिः, कोप-हृषादि-गोपनी ॥ ११ ॥
 भौदार्यं शत्रु-मित्राणां, प्राणितेनाप्युपग्रहः ।
 शृङ्गारिचेष्टा सलितं, निर्विकाराः स्वभावजाः ॥ १२ ॥
 प्रमुह्यो नायकः किञ्चिद्गूढवृत्तोऽप्रघनायकात् ।
 लोभी धीरोद्धतः पापी, व्यसनी प्रतिनायकः ॥ १३ ॥
 नीचा विदूषक-बलीब-शकार-विट-किङ्कराः ।
 हास्यापाचो नृपे श्यालः, घकारस्त्वेकविद् विटः ॥ १४ ॥
 स्निग्धा धीरोद्धतादीनां, यथौचित्यं वियोगिनाम् ।
 लिङ्गी द्विजो राजजीवी, शिष्याश्चंते विदूषकाः ॥ १५ ॥
 युवराज-चमूनाथ-पुरोधः-सचिवालयः ।
 सहाया एतदायत्त-कर्मव सलितः पुनः ॥ १६ ॥
 शुद्धागते कारुको द्वाःस्यः, कञ्चुकी शुभकर्मणि ।
 वर्षव्वरस्तु रक्षायां, निर्मुण्डः प्रेपरणे स्त्रियाः ॥ १७ ॥
 कार्यास्थाने प्रतीहारी, रक्षा स्वत्योर्मेहतरा ।
 पूर्वास्तिपतिविधौ वृद्धा, चित्रादी शिल्पकारिका ॥ १८ ॥
 नायिका कुलजा दिव्या, क्षत्रिया पण्यकामिनी ।
 भन्तिमा सलितोदात्ता, पूर्वोदात्ता त्रिधा परे ॥ १९ ॥
 रागिण्येवाप्रहसने, नृपे दिव्ये च न प्रभो ।
 गणिका क्वापि दिव्या तु, भवेदेषा महीभुजः ॥ २० ॥
 मुग्धा मध्या प्रगल्भेति, त्रिविधाः स्युरिमाः पुनः ।
 मुग्धा वामा रते स्वल्प-माना रोहद्-वयः-स्मरा ॥ २१ ॥
 मध्या मध्य-वयः-काम-माना मूढान्तं-मोहना ।
 प्रगल्भेद्-वयो-मन्यु-कामा स्पर्द्धोऽप्यचेतना ॥ २२ ॥
 कार्यतः प्रोपिते पत्यावभूया प्रोपितप्रिया ।
 विप्रलब्धा ससङ्केते, प्रेप्य दूतीमनागते ॥ २३ ॥
 खण्डिता खण्डयत्यन्यासक्त्या वासकमोध्यता ।
 ईर्ष्या-कलह-निष्क्रान्ते, कलहान्तरिताऽऽतिभाक् ॥ २४ ॥

विलम्बपत्यदोषेऽपि, विरहोत्कण्ठितोत्सुका ।
 हृष्टा वासकसञ्जाऽऽम यत्कृतिपरंप्यति ॥ २५ ॥
 मुमग्मानिनी वश्यासन्ने स्वाधीनभर्तृका ।
 सरन्ती सारयन्ती वा रिरसुरभिसारिका ॥ २ ॥
 भावाद्या योवने स्त्रीणाम्, अलङ्कारास्त्रयोऽङ्गजाः ।
 दश स्वाभाविकाश्चैते क्रियारूपास्तयोदश ॥ २७ ॥
 सति भोगे गुणा सप्तायत्नजाश्च स्वभावजा ।
 नावश्यम्भाविनोऽर्षया, विनति स्त्रीषु मुख्यत ॥ २८ ॥
 भावो वागादिर्विद्विष्य, चिह्नं रत्युत्तमत्वयो ।
 नेत्रादिचिह्नत हावः सभृङ्गारमसन्ततम् ॥ २९ ॥
 लदेव सन्तत हेला, तादृष्योद्बोधशालिनी ।
 रागादिना विपर्यास, क्रियाणामथ विभ्रम ॥ ३० ॥
 विलास प्रियदृष्टयादौ, चास्त्व गात्र कर्मणो ।
 वेपारूपतैव विच्छिन्ति, परा शोभा विसन्वती ॥ ३१ ॥
 लीला दधित्वागादे, स्वे न्यासो बहुमानत ।
 विब्वीकोऽनादरो मान दर्पादिदृष्टेऽपि वस्तुनि ॥ ३२ ॥
 विहृत जल्पकालेऽपि, मीन ह्री ध्याज-मोघ्यत ।
 ललित गात्रसञ्चार, सुकुमारो निरर्थक ॥ ३३ ॥
 कचोष्ठादिप्रहे कोपः मूषा कुट्टुमित मुदि ।
 मोट्टायित प्रियेक्षादौ, रागतो गात्रमोटनम् ॥ ३४ ॥
 मुहु स्मितश्रु-कम्पादे सङ्कर किलि (ल) किञ्चितम् ।
 शोऽज्वल्य योवनादीनाम् अथ शोभोपभोगत ॥ ३५ ॥
 सा कान्ति पूरुषसम्भोगा, दीप्ति का तेस्तु विस्तर ।
 सौम्य तापेऽपि माधुर्यम्, शोदायंमुचिताच्छ्रुति ॥ ३६ ॥
 चेतोऽविकल्पन धर्म्यं प्रागत्त्य कौशल रते ।
 यथोचित्य च नेतृणा, नायिका कुञ्जजादय ॥ ३७ ॥
 सहायि-यस्तु धात्रेयी लिङ्गिनी प्रातिवेशिका ।
 शिल्पिनी चेटिका सख्य, गुप्ता दक्षा मृदु स्थिरा ॥ ३८ ॥
 देवानीचतुर्णां पाठ, सस्कुतेनाथ जातुचित्त ।
 महिषी मन्त्रिजा-पण्यस्त्रीणामव्याजलिङ्गिनाम् ॥ ३९ ॥
 बाल पण्ड प्रहृषस्त मत्त स्त्रीरूप-योपिताम् ।
 प्राकृतेनोत्तमस्यापि, दारिद्र्यं श्वयंमोहितः ॥ ४० ॥

अत्यन्तनीचभूतादौ, पैताची मागधी प वाक् ।
 शौरसेनी तु नीचस्य, देशोद्देशो स्वदेशगोः ॥ ४१ ॥
 तिर्यग्-जात्यन्तरादीनाम्, भ्रानुरूप्येण सङ्ख्या ।
 भाषा-प्रकृति-वृत्तादेः, कार्यतः यवापि सङ्ख्यनम् ॥ ४२ ॥
 धार्येति शक्यते पत्नी, लिङ्गिनी ब्राह्मणी द्विजः(जैः) ।
 अम्बाऽपि जननी-वृद्धे, पूज्या तु भवतीत्यपि ॥ ४३ ॥
 भ्रात्राऽप्रजोऽधर्ममन्त्री, नटी-सूत्रभ्रती मिथः ।
 पुरोधः-सार्थदाहाम्यां, पत्नी पत्न्या जरन् पतिः ॥ ४४ ॥
 महाराजो नृपः सर्वस्त्वार्यपुत्रेति यौवने ।
 पुंसां भद्रेति भोक्तव्या, प्रियेति दयिताऽपवा ॥ ४५ ॥
 पिता पुत्राभिघायोर्गुह्या देव्यपि राजभिः ।
 विद्रूपकेण भवती, राज्ञीचेष्ट्यौ नृपस्त्रियः ॥ ४६ ॥
 भट्टिनी स्वामिनी देवीत्येवं सर्वाः परिच्छदः ।
 वेश्याऽञ्जुकेति वृद्धा तु, साऽस्ता तुल्या स्त्रिया हला ॥ ४७ ॥
 हरुजे त्वनुत्तमा-प्रेष्ये, भगवदिति देवता ।
 तपःस्था चार्च्य-देवपि-बहुविद्याः सयोपितः ॥ ४८ ॥
 मान्यो नामान्तरं राजा, लिङ्गिनाऽथ विद्रूपकैः ।
 वयस्योऽप्यधर्ममंष्ट्री, लोकदेवेति भूपतिः ॥ ४९ ॥
 मित्राख्याभिर्विद्रु राज्ञा, कुमारोभर्तुंदारकः ।
 मुनि-शाक्यो भदन्तेति, स्वप्रसिद्धघाऽपरो व्रती ॥ ५० ॥
 सूत्री भावोऽनुगेनासौ, तेन मार्थः समः सखा ।
 शिष्यात्मजानुजाः, पुत्र-वत्सो तातो जरन्नपि ॥ ५१ ॥
 सौम्यो भद्रमुखश्चेति, नीचो हृष्टे तु पामरैः ।
 येन, कर्मदिनः यस्तु, स्थलः यः तदुपर्यथः ॥ ५२ ॥
 दूरे विक्रमसंसूचि, कल्प्यं नामाथ वाणिजे ।
 दत्तान्तं प्रायशो विभ्रे, गोत्र-कर्मनिरूप्यतः ॥ ५३ ॥
 नृपस्त्रियां शुभं दत्ता-सेनाऽन्तं पण्योषिति ।
 पुष्पादिवाचकं चेट्यां, चेटे मङ्गलकीर्तनम् ॥ ५४ ॥

इति श्री रामचन्द्रगुणचन्द्रनिमित्ते नाट्यदर्पणसूत्रे सर्वरूपकसाधारणलक्षणनिरणयो नाम
 चतुर्थो विवेकः समाप्तः ॥५॥

परिशिष्टम् [२]

नाट्यदर्पणविवरणनिर्दिष्ट-ग्रन्थकृतप्रामसूची ।

[वर्णक्रमेण]

ग्रन्थकृतप्राम

अभिनवगुप्तः	(नाट्यशास्त्रस्य अभिनवभारतीवृत्तिकार)	२३
इन्दुराजभट्ट	(क्षीरस्वामिगुरु)	२८४
कोहल	(सट्टकादिलदमप्रणेतार)	१४, २४१
क्षीरस्वामी	(भट्टेन्दुराजशिष्योऽभिनवरायवनाटककार)	२८४
भरतमुनि	(नाट्यशास्त्र निर्माता)	२७, २१२
भवनुतचूडा भट्ट	(कौशलिकानाटिकाकार)	३०
भवभूति	(मालतीमाधवकर्ता)	२१२
भासः	(स्वप्नवासवदत्तकर्ता)	१४८
भौमट	(मनोरमा-वत्सराजकर्ता)	२५६
भौमदेव	(वसुनाग जनक)	१६७
भेज्जल	(राधाविप्रलम्भरचयिता)	१६७
मम्मटः	(काव्यप्रकाशकारः)	३३२
धुनि (भरतमुनि)	(नाट्यशास्त्रकर्ता)	२७, २१२
वसुनाग	(भौमदेवमूलु , प्रतिमाऽनिरुद्धप्रणेतार)	१६७
विशाखदेव	(देवीचन्द्रगुप्तरचयिता)	२०७
वीरनाग	(कृदमालाकर्ता)	८१
शङ्कर	(समास्य चित्रोत्पलावलम्बितव्यप्रकरणकार)	२४१ १५२,
शुक्तिवासकुमारि	(मनञ्जसेना हरिनिन्दप्रकरणकार)	१६५
शुद्रक	(मृच्छकटिकारकार)	८१
हेमचन्द्र	(शब्द प्रमाण-साहित्य-स्य-क्षे-त्तदमविधाता, नाट्यदर्पणवृद्ध-गुरु)	४०६

परिशिष्टम् [३]

नाट्यदर्पणविवरणनिदिष्ट-नाट्यादिग्रन्थनाम-सूची ।

[वसंक्रमेण]

नाट्यादिग्रन्थनाम

(१)	अनङ्गवती नाटिका	२८०
(२)	अनङ्गसेना-हरिनन्दिप्रकरणम् (शुक्तिवासकुमाररचितम्)	१६५
(३)	अनघ्येराधवम् (मुरारिरचितं नाटकम्)	३६५
(४)	अभिज्ञानशाकुन्तलम् (महाकविकालिदासकृतं नाटकम्)	१२४, २८२
(५)	अभिनवराधवम् (भट्टेश्वराजशिष्यक्षीरस्वामिरचितं नाटकम्)	२८४
(६)	अर्जुनचरितम् (आनन्दवर्धनरचितं महाकाव्यम्)	३२०
(७)	आचाराङ्गम् (अर्हद-गणधरप्रथितं सूत्रम्)	१०
(८)	इन्दुलेखानाटिका	१६४
(९)	इन्दुलेखावीथी	२५७
(१०)	उत्तरचरितम् उत्तररामचरितम् (भवभूतिरचितं नाटकम्)	१७३, २४९, २६२
(११)	उदयनचरितम्	२८६
(१२)	उदात्तराधवम् (भाग्यराजविरचितं नाटकम्)	११६
(१३)	फादम्बरी (बाणभट्टप्रणीता कथा)	३०८
(१४)	कुन्दमाला (वीरनागनिबद्धा) नाटकम्	८१
(१५)	कुमारसम्भवम् (महाकविकालिदासकृतं महाकाव्यम्)	३२५, ३२८
(१६)	कृत्यारावणम् (नाटकम्) १४२, १४३, १४७, १५०, १५४, १६७, १६८, १६९, १७३, १७४, १६३, १९५, २४७, २६७	
(१७)	कौमुदी-मित्राणन्दं प्रकरणम् (स्वोपज्ञम्)	१२५
(१८)	कौतुहलिका नाटिका (भट्टश्रीभवभूतचूडविरचिता)	३०
(१९)	चित्रोत्पलावलम्बितकं प्रकरणम् (अभारथशाङ्कुकविरचितम्)	१५२
(२०)	छतितरामम् (नाटकम्)	१६६, १७६, २६८, २६९, २८२
(२१)	जामदग्न्यजयः (व्यायोगः)	२२०
(२२)	सरङ्गदत्तम् (प्रकरणम्)	२०६, २१२
(२३)	सापसवत्सराजम् [नरेन्द्रवर्धनमुतानङ्गहर्षापरनामश्रीमात्रराजश्चित नाटकम्]	४२, ६७, ७६, १०४, १८२, १८३
(२४)	दरिद्रचारुदत्तं रूपकम् (भासरचितम्)	९३
(२५)	दृष्टिवादः (अर्हद-गणधर-प्रथितः सिद्धान्तः)	१०
(२६)	देवीचन्द्रगुप्तम् (विद्याधरकृतं) नाटकम्	१२८, १४६, १५१, २०७, २५५

(२७)	द्रौपदीस्वयंवरम्	३५७
(२८)	नलविलास नाटकम् (स्वोपज्ञम्)	४२, ७२, ८५, ८७, ८८, १२५, २३४, १४१, १८२, २४६, २६४, २६५, २८५
(२९)	नागानन्दम् (श्रीहर्षनिमित्त नाटकम्)	१२२ १७७, २८०, २८८
(३०)	निर्भयभीमव्यायोगः (स्वोपज्ञ)	१२१
(३१)	पयोधिमघनम्	२२४
(३२)	पाण्डवानन्दम्	२६७
(३३)	पार्थविजयम् (त्रिलोचनकृत नाटकम्)	२२७, १३६, १३७, १४४
(३४)	पुष्पद्रुपित्तक प्रकरणम्	१६४, १७७, १८१
(३५)	प्रतिमाग्निरुद्धम् (भीमदेवसूनुवसुनागकृत नाटकम्)	१९७
(३६)	प्रयोगाम्बुदयम्	२५३
(३७)	वालिबावञ्चितकम् (नाटकम्)	२५०, २६३
(३८)	बृहत्कथा (शुण्डघरचिन्ता)	२११, २२१
(३९)	भारतम् (व्यासप्रवित वाच्यम्)	
(४०)	मनोरमा वत्सराजम् (श्रीमद्विरचित नाटकम्)	२५९
(४१)	महिलबा-मकरन्द प्रकरणम् (स्वोपज्ञम्)	३१९
(४२)	मायापुरुषकम् (नाटकम्)	६६, ८२
(४३)	मालतीमाघवम् (भवभूतिनिमित्त प्रकरणम्)	१५९, २८८
(४४)	मालति (वि) काग्निमिश्रम् [कविकालिदासनिमित्त नाटकम्]	१२०
(४५)	मुद्राराक्षसम् (विद्यालदेवनिमित्त नाटकम्)	६७, ७५, १५८, १८४, १९२
(४६)	मुच्छकटिका प्रकरणम् (दूत्रकविरचितम्)	१९०
(४७)	यादवाभ्युदय नाटकम् (स्वोपज्ञम्)	६५, ११४, १४९, १६३, १८१, १९२, १९४, १९६, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६११, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३, ७३४, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६६, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७५, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७८९, ७९०, ७९१, ७९२, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०९, ८१०, ८११, ८१२, ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२१, ८२२, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८२८, ८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४४, ८४५, ८४६, ८४७, ८४८, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५, ८५६, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८६९, ८७०, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९, ८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९१, ८९२, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९००, ९०१, ९०२, ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९११, ९१२, ९१३, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९१८, ९१९, ९२०, ९२१, ९२२, ९२३, ९२४, ९२५, ९२६, ९२७, ९२८, ९२९, ९३०, ९३१, ९३२, ९३३, ९३४, ९३५, ९३६, ९३७, ९३८, ९३९, ९४०, ९४१, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४७, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९८२, ९८३, ९८४, ९८५, ९८६, ९८७, ९८८, ९८९, ९९०, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, ९९९, १०००
(४८)	रघुविलास नाटकम् (स्वोपज्ञम्)	१००, १४२, १४४, १४६, १५०, १५९, १६०, १६५, १६८, १८३, १८८, २४७, २६०, २८५
(४९)	रत्नमाली [श्रीहर्षरचिता नाटिका]	५९, ६०, ६३, ८७, ९५, १०८, १२३, १३१, १३५, १३६, १४५, १४८, १५१, १५२, १५३, १५६, १५७, १६५, १७०, १७२, १७८, १७९, १८५, १८६, १८९, २४४, २४२, २६२
(५०)	राजवाभ्युदय नाटकम् (स्वोपज्ञम्)	७८, ८३, ९०, ९२, १०९, ११३, १८२
(५१)	राधाविप्रलम्भ रासबाहु रूपकम् (भेम्जसविरचितम्)	१९७
(५२)	रामाभ्युदयम् [पद्मोवर्मविरचित नाटकम्]	७३ १००, १३०, १६०, १६६, १७६, १८८, २५८
(५३)	रोहिणी मृगाशु प्रकरणम् (स्वोपज्ञम्)	११०, १२३
(५४)	धनमाला नाटिका (स्वोपज्ञा)	३१९
(५५)	विक्रमोर्वशी नाटकम् [कविकालिदासकृतम्]	१६७, २५७
(५६)	विधिविलसितम् (नाटकम्)	१०१
(५७)	विलसादुर्घोषनम् (नाटकम्)	१३८

उन्मत्तप्रेमसंरम्भाद्	११०	रोहिणी-मृगाङ्के प्र० १
एकस्मिन् शयने	३०७	प्रमदशतके २३
एकं श्रीणि नवाष्ट	२६०	[दशरूपकावलोकके प्र० ३ उद्धृतम्]
एतत् ते हृदयं स्पृशामि	१३६	विलक्षणदुर्घोषने
एतेनापि सुरा जिताः	२८६	कृत्यारावणे
एतौ तौ प्रतिहस्येते	१८१	पुष्पदूषितके
एषा वधूर्भरतराज	१३७	पार्ष्विजये
एसो सियकरवित्पर- (प्रा०)	३६६	देवीचन्द्रगुप्ते
कंसांमभित्तिमदमर्दन	१६४	यादवाम्युदये प्र० ७
कण्ठे किन्नरकण्ठ	१४६	देवीचन्द्रगुप्ते प्र० ४
कथमपि न निषिद्धो	१४२	वेणीसंहारे
कपोले पशाली	३१८	[प्रमदशतके ८१]
कर्णो-दुःशासनवधात्	१६३	वेणीसंहारे
कर्ता क्षूतच्छनानां	८६	"
कलत्रमपि रक्षितुं	७८	राघवाम्युदये प्र० ५
कल्याणं भूभुवः स्वः	१६६	यादवाम्युदये
कविः काव्ये रामः	२८५	नलविज्ञासे
कस्तव न होइ रोसो (प्रा०)	२५८	[प्रभिनवभा० १८, ६१ उ]
का भूषा बलिनां	२६७	[ध्वन्यालोके उ० १ उद्धृतम्]
		पाण्डवानन्दे
		प्रभिज्ञानशकुन्तले
कामं प्रिया न सुलभा	१२४	
कामिनीभिर्भुवो भक्तुः	४०७	[नाट्यशास्त्रे प्र० ५]
काव्यवस्तुर्घषादचापि	३६४	उत्तररामचरिते
किमपि किमपि मन्दं	३०७	इन्दुलेखायाम्
किं नु कलहंसनादो	२५७	वेणीसंहारे
किं नो व्याप्तदिशां	१४०	रत्नावल्याम्
किं पचस्य रुचं	१५६	उदात्तराघवे
किं लोभेन विलङ्घितः	११६	
कुरबक ! कुचाघात-	३२१	[काव्यमीमांसायां पृ० ७३ उ०]
कुसुमसुकुमारमूर्ति-	१२१	रत्नावल्याम्
कृष्टा केशेषु कृष्णा	१५७	वेणीसंहारे प्र० ५
कृष्टा येन शिरोरुहेषु	८८	" प्र० ३
कृष्टा येनासि राज्ञां	१८५	"
कैकेयी क्व पतिव्रता	६६	मायापुष्पके
कोऽपि सिंहासनस्याधः	२६८	छलितरामे
कोऽयं द्वारि, हरिः	२६१	[शृंगारप्रकाशे १२ उ]

कीर्णाम्बो भम हस्त एव	२५६	मनोरमावत्सराजे
यवाकार्यं शशान्वदमण	३२३	[विक्रमोर्ध्वंश्याम्]
क्षिप्तो हस्तावलम्ब	३२२	[भ्रमरुगतके २]
सुद्राम्नेरभुतोऽपि	७९	तापसवत्सराजे भ० २
खण्डय न्यायतेजोभिः	१६५	रघुविलासे भ० ७
गिरिरयममरेन्द्रेणाद्य	१५७	कृत्यारावणे
गुप्तः साक्षात् महानल्प	२६५	वेणीसहारे
गेयपद स्थितपाठ्यम्	२२६	[नि०सा०नाट्यशास्त्रे भ० १८, १८३; १६, ११६]
गोष्ठे यत् सु विहरतः	४०६	[है०का० धल० ८ उ]
चञ्चदभुजभ्रमित—	११०	वेणीसहारे
चूर्णिताक्षेपकीरव्यः	१७१	„ भ० ५
चौर्यरत्नप्रतिभेद	४०५	
जो अन्नो पमूमो (प्रा०)	२५०	वालिकावञ्चितके
तपनीमोज्ज्वलकरक	२६३	„
तल्लावण्यमनन्यवृत्ति	३१६	राषवाम्बुदये
तवास्मि नीतिरागेण	२८२	अभिज्ञानशकुन्तले
तवैव क्षिराम्बुभि	१३०	रामाम्बुदये भ० २
तस्मिन् कीरव पार्थयोः	१६६	वेणीसहारे भ० ६
ताण नमो निगुण (प्रा०)	२६६	सुधाकलसो
तिक्ताहुद्विजते मृदो	१५८	मुद्राराक्षसे
तीण भीष्ममहोदधौ	१०२	वेणीसहारे भ० ६
त्यजत मानमल	३२४	[रघुवसे ६, ४७]
त्यजन् हेम्नो लभ	१२६	सत्यहरिश्चन्द्रे
त्यजामि देवी	२५५	देवीचन्द्रगुप्ते भ० २
त्रातो धोपधुवा	१९४	यादवाम्बुदये
त्वददु खड्यापनेतु सा	१२८	देवीचन्द्रगुप्ते
त्वदयान य	१९०	मूच्छकट्याम्
त्वय्युपारोपितप्रेम्णा	२५६	देवीचन्द्रगुप्ते भ० २
त्व जीवित त्वमसि मे	२६२	उत्तर [राम] चरिते
दत्त्वा शोथेन	१५५	वेणीसहारे
दन्तसप्तानि करजैश्च	३२१	[ध्वन्यालोके उ० ३ उद्धृतम्]
दाराणा शक्तिना च	१३०	रामाम्बुदये भ० २
दिणयरकिरणुक्तेरो (प्रा०)	३६२	अनर्घ्यराषवे
दिष्ट्या भो ।	१८७	मूच्छकट्याम्
दुर्गं भूमिरमात्य	८२	मायापुष्पके

दुल्लहजणगुराओ (प्रा०)	१३५	रत्नावल्याम्
दतो लेखस्तथा स्वप्न	१६८	[नाट्यशास्त्रे अ० १९, १०३]
दूरादुत्सुकभागते	३२८	[अमरुदातके ४६]
दृष्टि प्रेममरालसा	१२१	तापसवत्सराजे
दृष्टि कथ जरठ—	३१६	वनमालायाम्
देवीवियोगदुःखाता—	२५६	देवीचन्द्रगुप्ते अ० २
द्रव्यन्ति न चिरात्	१७२	वेणीसहारे
द्वीपादन्यस्मादपि	६४, १०८	रत्नावल्याम्
धिग मा भ्रूणविधातिन	२५१	सत्यहरिश्चद्रे
धूमव्रात वितानी—	१८८	रामाम्युदये
नदीना मेघविषमे	२६१	[अग्निवभा० अ० १८ उ]
न नाम स्यु स्वर्ण—	१३६	सत्यहरिश्चद्रे
न प्रेम निहित चित्ते	१८२	मलविलासे
नमोऽस्तु सर्वदेवभ्यो	३६४	[नाट्यशास्त्रे अ० ५, १०५]
नाकीर्णा दशकन्धरी	१००	रघुविलासे अ० ६
नागाना रक्षिता भाति	१७७	नागान-दे
निरीतय प्रजा सन्तु	१६६	कृत्यारावणे
निर्वाणधैरदहना	२८१	[वेणीसहारे अ० १]
निहत्य दशकन्धर	६०	राघवाम्युदये अ० ६
नून तेनाथ वीरेण	१७२, १७८	वेणीसहारे
पञ्चाना मयसेऽस्माक	१६३	"
पत्या च विप्रलम्भा	४०४	
पत्यु शिरश्च द्रकलामनेन	२८७	[कुमारसम्भवे ७ १६]
परार्थानुष्ठाने जडयति	१५८	मुद्राराक्षसे
परिग्रहोऽप्राहोषाद्	२६८	कृत्यारावणे
परिपदियमृषीणामेष	१३२	वीरचरिते अ० ३
परिहरति रति मति लुनीते	३२६	[काव्यप्रकाशे ७, ३२६ उ०]
पादाक्रान्तानि पुष्पाणि	१४६	स्वप्नवासवदत्ते
पिण्डनात् तु भवेत् पिण्डी	४०७	
पुण्यप्रागल्भ्यलभ्याय	२८७	सत्यहरिश्चद्रे
पूयता सलिलेन	१७५	वेणीसहारे
प्रणयविषदां दृष्टि	१४८	रत्नावल्याम्
प्रत्यप्रयौवनविभूषण	२५५	देवीचन्द्रगुप्ते अ० २
प्रत्याख्यानरूप कृत	१००	रामाम्युदये अ० ५
प्रथमानुराग—	४०५	
प्रवृत्तचक्रेणाक्रान्त	४९	[वीटलीयेऽप्यशास्त्रे अधि० ७, अ० ३]

प्रवृद्ध यद् वर	१०६	वेणीसंहारे
प्राणान् यद्विहृष्यह	१८३	रघुविलासे
प्राप्तावेकरधास्वी	१५३	वेणीसंहारे अ० ५
प्रायोहरिचरितयुतः	४०८	
प्रेमावनद्धृदयः	१४७	रघुविलासे
बहुनाञ्ज किमुक्तेन ?	७३	रामाम्बुदये अ० २
बहुविहकञ्जविसेस (प्रा०)	३६६	देवीचन्द्रगुप्ते अ० ५
बीभत्सा विषया	३२७	
ब्रह्मोत्तर तर्कवास्तु	३६४	[नाट्यशास्त्रे अ० ५, १०६]
भर्ता तवाहमिति	१७७	पुष्पद्रूपितके
भूमौ क्षिप्त्वा क्षीर	९२	वेणीसंहारे अ० ६
भूय परिभवक्षान्ति	११३	"
मध्नामि कोरवदात	११८	"
मद्येऽम्भोधि बभूव	१८८	रघुविलासे
मन प्रवृत्त्यै च ल	१५१	रत्नावल्याम्
मन्त्रयति च तद्विषय	४०५	
मन्दोऽप्यमन्दता याति	२४३	मालविकाऽग्निमित्रे
मा गारित्थं पुनर्ब्रज	१६७	कृत्यारावणे
मार्गा कण्टकिनः	१६८	"
मित्र दर्शनमात्रतोऽपि	८३	राघवाम्बुदये
यच्च पदार्थाभिनय	४०६	
यत् सत्यव्रतमङ्गभीरुमनसा	१११	वेणीसंहारे
यथातथा घृतप्राण	१८२	तापसवत्सराजे
यथाऽय मम सम्पूर्णः	१६५	कृत्यारावणे
यदि चेप शुद्धवाचा	४०८	
यद् दुष्करमभिनेय	४०८	
यद् भग्न विपिन	१५०	रघुविलासे
यद् विस्मयस्तिमित	१२०	मालतीमाधवे
यन्मण्डलेन नृत्त	४०६	[अभिनवमा० उ अ. ४, पृ० १८१]
यस्तातेन निगृह्य बालक इव	२८६	कृत्यारावणे
यते द्वारवती तदा	३०७	[वक्रोक्तिजीविते २, ५६ उ०]
यायावरेण किमनेन	१४६	रघुविलासे
युष्यैव क्षत्रबन्धो	२५६	रामाम्बुदये अ० २
युद्धधाढभय	१४२	रघुविलासे
येनावृत्त्य मुद्यानि	१७०	छसितरामे
रसोबीरा हृदोर.-	१६०	रामाम्बुदये अ० ४

रडा चडा दिविलदा (प्रा०)	२५३	[कपूरमञ्जर्याम्]
रथाइ सचरन्त (प्रा०)	३०८	सुधाकलणे
रथ्या-समाज-चत्वर-	४०६	
रम्या चारतिकारिणी	१५१	देवीचन्द्रगुप्ते प्र० ६
रागस्यास्त्रदमित्यवैमि	३२४	नागानन्दे
राज्ञो मानघनस्य	६८	वेणीसहारे
रामेण प्रलयेनेव	१७३	कृत्यारावणे प्र० ७
राष्ट्र प्रवर्धता चैव	१६४	[नाटपशास्त्रे प्र० ५, १०७]
रिष्टस्तावदुदम-	२५०	बालिकावञ्चितके
लङ्केश्वरे त्रिदशदर्पहरे	१५६	रघुविलासे प्र० ४
लञ्छी मिहीण भूता (प्रा०)	२६५	सुधाकलणे
लोकप्रयक्षयोद्बुद्ध-	१३१	रामाभ्युदये प्र० २
लोकोत्तराणि चरितानि	३४८	[बामनगुप्तस्य प्र० भा० ६, ४५]
वक्त्र पीतचर्चिवंचासि	१२५	कौमुदीमित्राण्डे प्र० ३
वक्त्राणि हे ! हसत	१६१	रघुविलासे प्र० ४
वक्त्रे-दु स्मितभातनोद-	२६४	नलविलासे
वाकप्रपञ्चैकसारेण	२६८	कृत्यारावणे
वातांसिपि नैव यदिहास्ति	१०१	विधिविलसिते प्र० ५
विक्रमेण मया लोका	१४२	कृत्यारावणे प्र० २
विना वाहन-पीताभ्या	१६३	मुद्राराक्षसे
विग्यस्याभिनवोदये	४२	नलविलासे
विरोधो विधान्त.	१७३	उत्तर [राम] चरिते
विष्कम्भक-प्रवेशक	४०४	[हि० काव्या० उ० प्र० ८]
बुद्धोक्षस्य नृपस्य	१६३	यादवाभ्युदये प्र० ७
वेदेहीं हृतवास्तदेव	६२, १८२	राघवाभ्युदये
शशिन इव कला	१६६	कृत्यारावणे प्र० ७
पीताशुमु खमुत्पले	१५६	रत्नावल्याम्
शूरास्तु वीर-रोद्रेषु	२२८	[हिमकाव्या विवेके प्र० ८, ३२६ उ०]
शोक स्त्रीव नयनसलिले	१७१	वेणीसहारे
श्रीरिव दानवशत्रो	४०४	
श्रीरेया पाणिरप्यस्या.	१३२	रत्नावल्याम्
इलाभ्या धीघिपणस्य	१८४	वापसनात्तराजे
पोडस द्वादशाष्टो वा	४०७	
सकलरिपुजयाशा	१७१	वेणीसहारे प्र० ५
स कीचकनिपूदनो	१६२	„ प्र० ६
सखसा मधुरगिरि	२६६	„

महर्षिऋषिभूतीनां	६४,२८१	सत्यहरिदचन्द्रे
सन्तः सञ्चरितोदय	२६६	[दशमस्कन्धाव० प्र० ३ उ०]
मन्थिसन्ध्यङ्गघटनं	१२७	[ध्वन्यालोके उ० ३,१२]
ममृष्टियते घनुष्वेनो	३२१	घर्जुनचरिते
सर्वंक्षितिभूतां नाथ !	२५७	विक्रमोर्वंदयाम्
मर्वेया कथय ब्रह्मन् !	१६६	वेणीमहारे प्र० ६
मर्वंदायोऽतविजयो	२६०	मनोरमावत्सराजे
सर्वेषामपि सन्ति	२६५	नमविभासे
सव्याजैः शपथैः	१७३	रत्नावल्याम्
साम भेदन्तद्या दण्डो	१६८	[नाट्यशास्त्रे प्र० १९,१०१]
सा स्वर्गलोकलनना-	१२३	रोहिणी-मृगाङ्गे प्र० ५
माहस्य स भयं शिव	१६८	[नाट्यशास्त्रे प्र० १६,१०२]
सीतां काननतो जहार	२८४	रघुदिनामे
सीताया बदनं	१७६	राघवाम्बुदये प्र० ७
स्निग्धं वीक्षितमग्यतो-	१२५	घमिनानगकुन्तने
स्वप्नोऽयं नहि विघ्नमः	१८९	पृथ्वीपित्रके प्र० ५
स्वर्गस्त्री यदि तन्	१२२	नागानन्दे
स्वमुर्मम परामव-	३६७	उदातराषवे
हृतः पुत्रो हतो भ्राता	१६४	पृथ्वीपित्रके प्र० ५
हरि-हर-मानु-भवानी-	४०८	
हस्तादृष्टविमोच-	२६४	
हं गङ्गा म नितो	१६८	केणीमहारे २
ह्रिय मर्वस्यामो	१५२	रघुदिभासे प्र०
		रत्नावल्याम्